

Barcode - 99999990076933
Title - Soor Ki Bhasha
Subject - Literature
Author - Tandan, Dr. Premnarayan
Language - hindi
Pages - 625
Publication Year - 1957
Creator - Fast DLI Downloader
<https://github.com/cancerian0684/dli-downloader>
Barcode EAN.UCC-13


DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

सूर की भाषा

[लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत ग्रंथ]

डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०
हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

नवम्बर, १९५७ .

प्रकाशक : हिंदी साहित्य भंडार,
गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ

मुद्रक : नव भारत प्रेस, लखनऊ

मूल्य : बीस रुपए

**डॉ. दीनदयालु गुप्त को
सादर, सविनय**

निवेदन

हिंदी के कृष्णभक्त कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ हैं और हिंदी के समस्त कवियों में केवल गोस्वामी तुलसीदास ही उनके समकक्ष माने जाते हैं। इन्हीं महाकवि सूरदास की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत प्रबंध में किया गया है। यद्यपि पिछले लगभग पंद्रह वर्षों में सूर-साहित्य पर कई आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं तथापि उनके काव्य के अनेक पक्षों को विस्तार से लिखने की आवश्यकता अभी बनी ही हुई है। प्रस्तुत प्रबंध सूरदास की भाषा के अध्ययन की दिशा में एक प्रयास है। सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम प्रतिष्ठित कवि हैं—ऐसी स्थिति में उनकी भाषा के अध्ययन की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है।

यह प्रबंध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश के रूप में है। इसमें ब्रजभाषा और सूरदास की भाषा के अध्ययन के इतिहास की रूपरेखा दी गयी है। इसके आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज के पूर्व सूरदास की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन नहीं किया गया था और इस दिशा में प्रस्तुत प्रबंध सर्वथा मौलिक प्रयास है। इस प्रकार का अध्ययन न किये जाने के कारणों पर संक्षेप में विचार करने के पश्चात्, प्रथम अध्याय में ही, प्रस्तुत प्रबंध का क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय से ग्रंथ का मुख्य भाग आरंभ होता है। यह अध्याय दो भागों में विभाजित है। प्रथम में ब्रज और ब्रजभाषा का संक्षिप्त परिचय, ब्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार और साहित्य में उसके प्रयोग का आरंभ आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में सूरदास के पूर्ववर्ती हिंदी कवियों की कृतियों में प्राप्त ब्रजभाषा-रूप की चर्चा है। इसके पश्चात्, सूरदास और ब्रजभाषा के संबंध पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय भी दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में ब्रजभाषा के ध्वनि-समूह और सूरदास के तत्संबंधी प्रयोग दिये गये हैं। इसके अंतर्गत स्वरों के सामान्य, अनुच्चरित, सानुनासिक और संयुक्त प्रयोगों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार व्यंजनों के भी सामान्य और संयुक्त रूपों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में सूरदास के शब्द-समूह का वर्गीकरण करते हुए पूर्ववर्ती भाषाओं, 'सम-कालीन' बोलियों और विभाषाओं एवं देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों के साथ-साथ देशज और अनुकरणात्मक शब्दों की भी चर्चा की गयी है। सूरदास के तत्सम शब्द-प्रयोग के अध्ययन की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व का है; क्योंकि प्रबंध के

अगले अध्यायो में सूरदास के अर्द्धतत्सम और तद्भव प्रयोगों की ही चर्चा विशेष रूप से की गयी है।

चतुर्थ अध्याय ने प्रबन्ध का सबसे अधिक भाग घेर लिया है। इसमें सूरदास की भाषा का व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। कवि के सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय-प्रयोगों की विशेषताओं के साथ साथ उसकी वाक्य-विन्यास-पद्धति पर भी इसमें विचार किया गया है। इस भाग के सबध में इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि विभिन्न शब्द-भेदों-उपभेदों के उदाहरणार्थ संकलित अनेक रूप इसमें ऐसे दिये गये हैं जिनकी चर्चा अभी तक ब्रजभाषा-व्याकरणों में भी नहीं की गयी है।

पंचम अध्याय पुनः दो भागों में विभाजित है। प्रथम में सूरदास की भाषा के व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय में शास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम के अन्तर्गत विषय, पात्र और मनोभावा के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूपों तथा विभिन्न पात्र-पात्रियों के संवादों और प्रसंगों एवं सूक्तियों की भाषा की विवेचना है। द्वितीय भाग में सूर-काव्य में प्रयुक्त विभिन्न छंद, शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति और रस-भेदों के अनुसार भाषा-रूपों की समीक्षा की गयी है। इस अध्याय के अंत में शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से सूरदास की भाषा के खटवनेवाले प्रयोगों के भी कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में सांस्कृतिक दृष्टि से सूरदास की भाषा का अध्ययन है। इसमें सूर-साहित्य की मुख्यतः ऐसी शब्दावली का अध्ययन किया गया है जो तत्कालीन जन-जीवन और सांस्कृतिक विचारों का परिचय कराने में सहायक हो सकती है। भौगोलिक पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण की जानकारी तो इस शब्दावली से होती ही है, तत्कालीन खानपान, वस्त्राभूषण, व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ, खेल-व्यायाम, वाणिज्य-व्यवसाय आदि का संक्षिप्त परिचय भी उसमें मिलता है। साथ साथ कवि के समकालीन जनसमुदाय के सामाजिक, पौराणिक और धार्मिक विदवातों, पर्वोत्सवों, संस्कारों आदि पर भी इस अध्याय से प्रकाश पड़ता है।

सप्तम अध्याय 'उपसंहार' के रूप में है जिसमें समकालीन और परवर्ती ब्रजभाषा-कवियों से सूरदास की भाषा की संक्षेप में तुलना की गयी है और अंत में ब्रजभाषा की समृद्धि में सूरदास के योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

प्रबन्ध के अन्त में प्रथम परिशिष्ट के अन्तर्गत सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की सख्या पर विचार किया गया है। सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—इनमें से सर्वनाम और क्रिया-रूप-कवि-विशेष की भाषा का अध्ययन करते समय अपेक्षाकृत अधिक महत्व के समझे जाते हैं। अतएव इस परिशिष्ट में भी सूरदास की भाषा में प्रयुक्त सज्ञा, विशेषण और अव्यय शब्दों की सख्या सामूहिक रूप से बताना ही पर्याप्त समझा गया है; और सर्वनाम एवं क्रिया-रूपों की निश्चित सख्या देने का प्रयास किया गया है। सर्वनाम के मूल और विवृत रूपों की गणना चौथे अध्याय के आधार पर की गयी है और क्रिया-

रूपों की संख्या पर विचार करने के पश्चात् सूर के लगभग एक हजार ऐसे क्रिया-शब्दों की सूची दी गयी है जिनके विकृत रूपों का प्रयोग सूर-काव्य में निस्संकोच किया गया है । द्वितीय परिशिष्ट में सूर-साहित्य और उसकी संपादन-समस्या की चर्चा है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सूर-काव्य से लगभग नौ हजार उदाहरण दिये गये हैं । प्रायः प्रत्येक स्थल पर उदाहरणों की संख्या विशेष उद्देश्य से घटायी-बढ़ायी गयी है । जिस शब्द-रूप के साथ चार या अधिक उदाहरण दिये गये हैं, उसका प्रयोग सूरदास के समस्त काव्य में समझना चाहिए और जिसके तीन उदाहरण दिये गये हैं, वह रूप सर्वत्र नो नहीं मिलता, फिर भी उसका प्रयोग बहुत अधिक किया गया है । दो उदाहरण ऐसे शब्दों के साथ दिये गये हैं जिनका प्रयोग सूरदास ने अधिक नहीं किया है और एक उदाहरण बहुत कम अथवा अपवादस्वरूप प्रयुक्त होनेवाले रूपों के साथ दिया गया है । इस प्रकार उदाहरणों की संख्या में ही परोक्ष रूप में पता चल जाता है कि कवि का वह विशिष्ट प्रयोग है या सामान्य, उसके काव्य में वह अधिक प्रयुक्त हुआ है या कम अथवा अपवादस्वरूप ही । इन पत्तियों के लेखक का निश्चित मत है कि ऐसा करने से प्रबन्ध के कलेवर की थोड़ी-बढ़ि भले ही हुई हो, परन्तु इसमें अनेक उपयोगी सूचनाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं । प्रबन्ध का कलेवर अवाञ्छनीय रूप से बढ़ने न देने के लिए उदाहरणों का उतना ही अंश सर्वत्र उद्धृत किया गया है जितना स्थल-विशेष पर विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक है । यही कारण है कि अधिकांश स्थलों पर पूरा-पूरा पद या चरण न देकर केवल एक शब्द, वाक्यांश या उपवाक्य का ही उद्धृत करना पर्याप्त समझा गया है । भाषा-विज्ञान, व्याकरण अथवा साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ भी अनावश्यक समझकर प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं दी गयी है ।

उदाहरणों के संकलन के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ एक से अधिक चरण या पद उद्धृत किये गये हैं वहाँ प्रायः सदैव इसका ध्यान रखा गया है कि वे सभी, एक ही स्कन्ध के न होकर विभिन्न स्कन्धों से दिये जायें । यदि कारणवश कहीं एक ही स्कन्ध के उदाहरण देने पड़े हैं, तब उनका संकलन विभिन्न प्रसंगों से किया गया है । 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध . पूर्वाह्न से संकलित उदाहरण, इस पद्धति को अपनाने के कारण बहुत रोचक और उपयोगी हो गये हैं । प्रबन्ध के समस्त उदाहरणों को व्यवस्थित क्रम से ही देने का सर्वत्र प्रयत्न किया गया है । अधिकांश स्थलों पर तो अकारादि क्रम का निर्वाह किया गया है, परन्तु जहाँ यह क्रम नहीं निभ सका है, वहाँ स्कन्ध और पद-संख्या के क्रम का ध्यान रखा गया है । ऐसा करने में लेखक को कुछ समय अवश्य अधिक देना पड़ा, परन्तु इससे उदाहरण ढूँढने में निश्चय ही विशेष सुविधा होगी ।

'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर-सारावली' की प्रामाणिकता यद्यपि अभी सर्वमान्य नहीं है, तथापि प्रस्तुत प्रबन्ध में यत्र-तत्र उनकी भी भाषा की चर्चा की गयी है; क्योंकि विद्वानों का एक वर्ग इन दोनों को सूरदास की ही रचनाएँ मानता है । 'सूर-सागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के जिन संस्करणों को लेखक ने अध्ययन का

आधार बनाया है वे क्रमशः नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; और पुस्तकभण्डार, लहरियामराय से प्रकाशित हैं। अन्य स्थानों से प्रकाशित इन ग्रंथों के दूसरे संस्करणों से भी कहीं कहीं उदाहरण दिये गये हैं, परन्तु ऐसा प्रायः उन्हीं स्थलों पर किया गया है जहाँ पाठ में पूर्वनिर्दिष्ट संस्करणों से कुछ भिन्नता या विरोधता दिखाने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

प्रस्तुत अध्ययन में यह तात्पर्य भी नहीं समझना चाहिए कि सूरदास के समकालीन और परवर्ती, अष्टछाप-संप्रदाय और अन्य ब्रजभाषा-कवियों की भाषा-मेवा का महत्व लेखक की दृष्टि में कम है। वस्तुतः किसी भी साहित्यिक भाषा का निर्माण दस-दोस वर्षों में नहीं होता और न यह कार्य किसी एक व्यक्ति के लिए सम्भव ही है, चाहे वह कितना भी बड़ा लेखक या कवि क्यों न हो। अतएव सूरदास के समकालीन और परवर्ती सभी ब्रजभाषा-कवियों के सम्मिलित उद्योग से ही इस भाषा की समृद्धि-वृद्धि होना मानना युक्तिमत्त है। सूरदास का इसमें विशेष योग यही था कि उनकी रचना ने ब्रजभाषा की व्यापकता और उसके परिष्कार को द्रुत गति प्रदान की। ब्रजभाषा के प्रति भक्तों, गायकों और काव्य-प्रेमियों की आकर्षणवृत्ति को स्नेह और सम्मानपूर्ण बनाने में भी सूरदास की सफलता अद्वितीय है, यद्यपि इसके लिए भूमि तैयार करने के कार्य-अपादन में दूसरों का योग भी कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अतः मैं लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति हृदय से कृतज्ञ है जिन्होंने समय समय पर उसकी सहायता की है। विशेष रूप से लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर दीनदयालु गुप्त का लेखक श्रद्धापूर्वक आभार मानता है जिनके कृपापूर्ण स्नेह का वह पिछले बारह वर्षों से पात्र रहा है और जिनके कृपापूर्ण निर्देशन और सौहार्दपूर्ण प्रोत्साहन से ही यह प्रबंध इस रूप में प्रस्तुत किया जा सका है। प्रसिद्ध विद्वान और साहित्यप्रेमी डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डाक्टर भवानीशंकर याज्ञिक, लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के रीटर डाक्टर भगीरथ मिश्र एवं सहयोगी अध्यापक श्री रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल का भी लेखक बहुत कृतज्ञ है। इन महानुभावों ने प्रबंध की विषय-सूची अथवा पांडुलिपि देखकर बहुमूल्य सुझाव दिये थे। जिन विद्वानों के ग्रंथों से इस प्रबंध में सहायता ली गयी है, उनके, विशेषकर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। प्रबंध की 'नामानुक्रमणिका' प्रस्तुत करने का श्रेय, लखनऊ विश्वविद्यालय की रिसर्च स्वालर सुश्री मायारानी टंडन, एम० ए०, तथा मेरी पुत्री कृष्णा टंडन को है जिसके लिए मैं उन्हें सस्नेह आशीर्वाद देता हूँ।

विषय-सूची

१. व्रजभाषा और सूर की भाषा के अध्ययन का इतिहास.....पृष्ठ १७-२९

विषयप्रवेश—१७, हिंदी भाषा के इतिहास और व्रजभाषा के व्याकरण—१८।

‘तुहफतुल हिंद’ (व्रजभाषा-व्याकरण), हिंदुस्तानी व्याकरण, व्रजभाषा-व्याकरण—
१८; ‘कंपरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज आव इंडिया’, ‘ग्रैमर आव
दि हिंदी लैंग्वेज’, ‘ग्रैमर आव दि ईस्टर्न हिंदी’, ‘सेबिन ग्रैमर्स आव बिहारो लैंग्वेज’,
प्राचीन भारतीय लिपिमाला—१९; ‘लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया’, हिंदी व्याकरण,
‘ओरिजन ऐंड डेवलपमेंट आव दि बँगाली लैंग्वेज’, हिंदी भाषा और साहित्य, हिंदी
भाषा और साहित्य का विकास, ‘इवोल्यूशन आव अवधो’—२०; हिंदी भाषा का
इतिहास, ‘ला ऐंदो एरियन’, ‘ला लैंग व्रज’, भाषा रहस्य (प्रथम भाग), व्रजभाषा-
व्याकरण, व्रजभाषा का व्याकरण—२१; व्रजभाषा २२।

भूमिका-सहित सूर-काव्य के स्फुट सकलन—२३, सूर-साहित्य के आलो-
चनात्मक अध्ययन—२४।

सूरदास, सूर : एक अध्ययन, भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास, सूरदास, सूर-सौरभ
सूर-जीवनी और ग्रंथ—२५; सूर-साहित्य की भूमिका, सूर-साहित्य, अष्टछाप और
बल्लभ-संप्रदाय, सूरदास—२६; सूर-निर्णय, महाकवि सूरदास, सूर-समीक्षा,
सूरदास, सूर-समीक्षा, सूर और उनका साहित्य—२७।

सूर की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन न होने के कारण—२८, प्रस्तुत ग्रंथ का
उद्देश्य और क्षेत्र—२९।

२. व्रजभाषा-विकास और सूर का भाषा-ज्ञान ... पृष्ठ ३०—६१

व्रजभाषा-विकास—३०, व्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार—३३, व्रजभाषा का
साहित्य में प्रयोग—३५, सूर के पूर्ववर्ती कवि और व्रजभाषा—३८, सूर और
व्रजभाषा का संबंध—४६, सूर की जन्मभूमि—४७, सूर के अन्य वासस्थान—
४८, व्रजभाषा सूर की मातृभाषा थी—४९, सूर की शिक्षा-दीक्षा—५०, सूर
का ज्ञान और पांडित्य—५७।

कवि-रूप—५७, संजीतज्ञ-रूप, सांप्रदायिक सिद्धांत-व्याख्याता-रूप—५८।

३. सूर की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन पृष्ठ ६२—१३७

(क) व्रजभाषा का ध्वनि-समूह और सूर के प्रयोग

व्रजभाषा का ध्वनि-समूह—६२।

स्वर और सूर के प्रयोग—६२। स्वरों के अनुच्चरित और लघुच्चरित प्रयोग—६३,

स्वरो के सानुनासिक प्रयोग—६७, व्यंजन और सूर के प्रयोग—७२, संयुक्ताक्षर—७७ ।

(ख) सूर का शब्द-समूह और उसका वर्गीकरण

पूर्वोदित और नवोदित भाषाएँ—८२, सूरदास का शब्द-भंडार—८३, पूर्ववर्ती भाषाओं के शब्द—८४ ।

संस्कृत के शब्द—८४, तत्सम शब्द—८४, व्यावहारिक तत्सम शब्द—८७, पारिभाषिक तत्सम शब्द—८३, भाषा समृद्धि-द्योतक तत्सम शब्द—९४, विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करना—९४, भाषा-शृंगार के लिए प्रयुक्त तत्सम शब्द—१००, तत्सम संधि प्रयोग, तत्सम सामासिक शब्द—१०१, तत्सम सहचर पद, उच्चारण की दृष्टि से तत्सम शब्दों का वर्गीकरण—१०३, अर्द्धतत्सम शब्द—१०४, तद्भव शब्द—१०७, अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित संधि-प्रयोग, अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित समास—११०, अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित सहचर पद—१११, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा के उदाहरण—११२, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द—११५ ।

हिंदी बोलियों के शब्द—११६ ।

अवधी के शब्द—११६, छडीबोली के शब्द—११८, कन्नौजी और बुन्देलखंडी के शब्द—१२१ ।

देशी भाषाओं के शब्द, विदेशी भाषाओं के शब्द—१२१ ।

अरबी के शब्द—१२२, अरबी के तत्सम शब्द—१२३, अरबी के अर्द्धतत्सम शब्द—१२४, फारसी के शब्द—१२६, फारसी के तत्सम शब्द—१२६; फारसी के अर्द्धतत्सम शब्द—१२७, तुर्की के शब्द—१२९ ।

देशज और अनुकरणात्मक शब्द—१३२ ।

देशज शब्द—१३३, अनुकरणात्मक शब्द—१३४ ।

सूर के मिश्रित प्रयोग—१३६, सारांश—१३७ ।

४. सूर की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन पृ० १३८—३७१ ।

संज्ञाएँ और सूर के प्रयोग—१३९ ।

स्वरात् संज्ञा शब्द—१३९, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ—१४२, जातिवाचक संज्ञाएँ—१४४, नाववाचक संज्ञा-शब्दों का निर्माण—१४५, संज्ञा और विशेषण शब्दों से निर्माण—१४५, क्रिया शब्दों से निर्माण—सर्वनाम शब्दों से निर्माण १४६, भाववाचक संज्ञाओं से पुनः निर्माण—१४७ ।

शब्दों के लिंग और सूर के प्रयोग—१४८,

पुंलिंग-स्त्रीलिंग रूप-निर्माण के नियम—१४८, नियमों के अपवाद, लिंग-संबंधी विशेष नियम, लिंग निर्णय से स्वतंत्रता—१४९ ।

वचन और सूर के प्रयोग—१५० ।

एकवचन का बहुवचनवत् प्रयोग—१५०, बहुवचन धनाने के नियम—१५१, सहचर शब्दों के वचन—१५४, वचन-संबंधी खटकनेवाले कुछ प्रयोग—१५५ ।

संज्ञाओं के कारकीय प्रयोग—१५५ ।

कर्त्ताकारक—१५६, कर्मकारक—१५७, विभक्तिरहित प्रयोग, विभक्तिसहित प्रयोग, विभक्ति-आभास युक्त प्रयोग—१५७, द्विकर्मक प्रयोग में विभक्ति का संयोग, कर्मकारक में प्रयुक्त अन्य विभक्तियाँ—१५९, करणकारक—१६०, विभक्तिरहित प्रयोग—१६०, विभक्तिसहित प्रयोग—१६१, सविभक्ति विवृत रूप—१६२, संप्रदान कारक—१६२, विभक्तिरहित प्रयोग, विभक्तिसहित प्रयोग—१६२; अपादान कारक—१६२, विभक्तिरहित प्रयोग, विभक्तिसहित प्रयोग—१६२; संबध कारक—१६३, विभक्तिरहित प्रयोग, विभक्तिसहित प्रयोग—१६३, अधिकरणकारक—१६६, विभक्तिरहित प्रयोग—१६६, विभक्ति-आभासयुक्त प्रयोग, विभक्तियुक्त प्रयोग—१६७, संबोधन कारक—१७०, संबोधन चिह्नरहित प्रयोग, विवृत संबोधन रूप, संबोधन चिह्न-युक्त प्रयोग—१७१ । विभक्ति-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—१७३, मुख्य अव्यय शब्द—१७३, सामान्य अव्यय शब्द—१७४ ।

सर्वनामों के कारकीय प्रयोग—१७५ ।

पुरुषवाचक सर्वनामों के भेद, उत्तम पुरुष सर्वनाम—१७६; एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—१७६, बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—१८७; मध्यम पुरुष सर्वनाम—१९३, एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—१९४, बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२०५, पुरुषवाचक अन्य पुरुष और निश्चयवाचक दूरधर्ती सर्वनाम—२०७, एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२०८, बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२२२; निश्चयवाचक निकटधर्ती सर्वनाम—२२९, एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२२९, बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२३६, संबंधवाचक सर्वनाम—२४०, एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२४०, बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२४५; नित्यसंबंधी सर्वनाम—२४८, एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२४८, बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—२५२, प्रश्नवाचक सर्वनाम—२५४; प्रश्नवाचक रूपों के कारकीय प्रयोग—२५५, अनिश्चयवाचक सर्वनाम—२६०, चेतन वर्गीय रूपों के कारकीय प्रयोग—२६०, अचेतन वर्गीय रूपों के कारकीय प्रयोग—२६०, निजवाचक सर्वनाम—२७०, आदरवाचक सर्वनाम—२७०, सर्वनाम-संबंधी अन्य बातें—२७४, दोहरे सर्वनामों के प्रयोग, दोहरी विभक्तियों के प्रयोग—२७५; विभक्ति-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—२७६ ।

विशेषण और सूर के प्रयोग—२७८ ।

विशेषण का रूपांतर—२७९, मुख्य रूप—२७९, गौण रूप—२८०, अनुस्वारान्त रूप—२८२; विशेषण का रूप-निर्माण—२८२, सज्ञामूलक विशेषण—२८३, विशेषण-मूलक विशेषण—२८४, कृतमूलक विशेषण—२८४, धातु से बने विशेषण, क्रियार्थक

सज्ञा से बने विशेषण, विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पद—२८४, स्वनिमित्त विशेषण, अन्य विशेषण—२८६, विशेषण का वर्गीकरण—२८६, सार्वनामिक विशेषण—२८६, पुरुषवाचक, सबधवाचक, नित्यसबधी, निश्चयवाचक निकटवर्ती, निश्चयवाचक दूरवर्ती, अनिश्चयवाचक, प्रश्नवाचक—२८७, गुणवाचक विशेषण—२८७, कालवाचक—२८७, स्थानवाचक, आकारवाचक, रंगसूचक, दशा य, स्थितिसूचक, गुणसूचक—२८८, अवगुणसूचक, अवस्थासूचक—२८९, सख्यावाचक विशेषण—२८९, निश्चित सख्यावाचक, गणनावाचक, पूर्णांकवाचक—२८९, अपूर्णांकबोधक, क्रमवाचक—२९०, आवृत्तिवाचक समुदायवाचक—२९१, निश्चित सख्यावाचक, अनिश्चित सख्यावाचक रूप—२९२ अनिश्चितवन् प्रयुक्त निश्चित सख्यावाचक रूप—२९३, अनिश्चयवाचक सामान्य पूर्णांक, अनिश्चयबोधक 'एक'-युक्त पूर्णांक, अनिश्चयबोधक दाहरे पूर्णांक—२९४ परिणामबोधक—२९४, विशेषण शब्दों के सामान्य प्रयोग—२९६, वाक्य में विशेषण का क्रम, उद्देश्यात्मक प्रयोग २९६, विधेयात्मक प्रयोग, विशेषण का तुलनात्मक प्रयोग, 'दा' की तुलना, अनेक की तुलना—२९७, विशेष प्रयोग—२९८, सज्ञा शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग, सर्वनाम के विशेषण-रूप में प्रयोग, विशेषण के विशेषण रूप प्रयोग—२९८, विशेषण का सज्ञावत् प्रयोग—२९९, विशेषण का सर्वनामवत् प्रयोग, संयुक्त सर्वनाम-विशेषण-प्रयोग, विशेषण के विकृत रूप प्रयोग, वलात्मक प्रयोग—३००, विशेषण के सूची-रूप में प्रयोग—३०१ ।

क्रिया और सूर के प्रयोग—३०२ ।

धातु—३०३, सस्कृत से प्रभावित रूप, अपभ्रंश से प्रभावित रूप ३००, जनभाषा से प्रभावित रूप, प्रेरणार्थक धातु - ३०४, नाम धातु—३०५, सज्ञा से बने रूप, विशेषण से बने रूप—३०६, अनुकरण धातु—३०७, कृदन्त, विकारी कृदन्त—३०८, त्रियार्थक सज्ञा—३०७, कर्तृवाचक सज्ञा—३०९, वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त—३१०, अविकारी कृदन्त—३१२, पूर्वकालिक कृदन्त ३१२, तात्कालिक कृदन्त, अपूर्ण त्रियाद्योतक कृदन्त, पूर्ण त्रियाद्योतक कृदन्त ३१३, वाच्य—३१४, कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य—३१४, भाववाच्य—३१५, काल-रचना ३१५, सामान्य वर्तमान—३१८, पूर्ण वर्तमानकाल—३२१, सामान्य भूतकाल—३२२, अपूर्णभूतकाल—३२८, पूर्ण भूतकाल, सामान्य भविष्यत् काल—३२९; सभाव्य भविष्यत् काल—३३४, प्रत्यक्ष विधिकाल—३३६, परोक्ष विधिकाल—३३७, सामान्य सकेतार्थकाल—३३८, संयुक्त क्रिया—३३८, त्रियार्थक सज्ञाओं से बने रूप—३३८, वर्तमानकालिक कृदन्तों से बने रूप, भूतकालिक कृदन्तों से बने रूप, पूर्वकालिक कृदन्तों से बने रूप—३३९, अपूर्ण त्रियाद्योतक कृदन्तों से बने रूप, पूर्ण त्रियाद्यातक कृदन्तों से बने रूप, पुनरुक्त संयुक्त त्रियाङ्गों—३४०, दा से अधिक त्रियाङ्गों से बने रूप, क्रिया के विशेष प्रयोग—३४१ ।

अव्यय और सूर के प्रयोग—३४१ ।

क्रियाविशेषण—३४१, स्थानवाचक—३४२, स्थितिवाचक—३४२, दिशावाचक—
३४४, कालवाचक—३४५; समयवाचक—३४५, अवधिवाचक—३४७, पौनःपुन्य-
वाचक—३४९; परिमाणवाचक—३५०, अधिकताबोधक, न्यूनताबोधक, तुलनावाचक,
श्रेणीवाचक—३५०; रीतिवाचक—३५०, प्रकारवाचक—३५०, कारणवाचक—३५१,
निषेधवाचक, अन्य रीतिवाचक क्रियाविशेषण—३५२; सम्बन्धसूचक अव्यय—३५३,
संबद्ध संबंधसूचक, अनुबद्ध सम्बन्धसूचक—३५३; समुच्चयबोधक—३५३, समानाधिकरण
—३५३, संयोजक, विभाजक, विरोधसूचक—३५४, परिणामसूचक—३५५;
व्यधिकरण—३५५, उद्देश्यसूचक, संकेतसूचक—३५५, स्वरूपवाचक—३५६;
विस्मयादिबोधक अव्यय ३५६ ।

वाक्य-विन्यास—३५७ ।

वाक्य में शब्दों का क्रम और उनका पारस्परिक सम्बन्ध—३५७, क्रिया का कर्ता या
मुख्य उद्देश्य—३५७, विशेषण ३६०, क्रिया—३६१, अव्यय—३६३; सरल और
जटिल वाक्य-रचना—३६५, सरलवाक्य—३६५, जटिल वाक्य—३६६, प्रधान
उपवाक्य—३६७, प्रधान का सामानाधिकरण, सज्ञा उपवाक्य, विशेषण उपवाक्य—
३६८; क्रियाविशेषण उपवाक्य—३६९, समानाधिकरण उपवाक्य—३७० ।

५. सूर की भाषा का व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष.....पृष्ठ ३७२—५३३
काव्यभाषा का दावित्व—३७२, भाषा के व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष; सूर का
सत्संबंधी दृष्टिकोण—३७३ ।

(क) व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

विषय के अनुसार भाषा-रूप—३७७ ।

विनयपद और स्तुतियाँ—३७७, पौराणिक कथाएँ—३८३, इतिधृतात्मक कथा-
वर्णन—३९१, बाल-लीला-वर्णन—३९३, रूप-वर्णन—३९५, संयोगभृगार-वर्णन—
४००, मुरली के प्रति उपालंभ—४०३, नेत्रों के प्रति उपालंभ—४०५, पर्वोत्सव
और ऋतु-चित्रण—४०८, वियोगवर्णन और भ्रमरगीत—४१०, स्फुट विषय—४१५,
कूट पद—४१७, पर्यायवाची प्रणाली, प्रहेलिका प्रणाली—४१८; पुनरावृत्ति प्रणाली,
गणित प्रणाली—४१९, क्रम-प्रणाली, विपर्यय प्रणाली, सम्मिलित प्रणाली—४२०;
सारांश—४२२, पात्र के अनुसार भाषा-रूप—४२३, पौराणिक पात्रों की भाषा—
४२३. गोकुल-वृंदावन-वासियों की भाषा—४२४, मथुरा-द्वारका-वासियों की
भाषा—४२६; मनोभावों के अनुसार भाषा-रूप—४४८, आश्चर्ययुक्त स्थलों की
भाषा—४४०, प्रोत्साहनयुक्त स्थलों की भाषा—४४१, उपालंभयुक्त स्थलों की
भाषा—४४३, क्रोधयुक्त स्थलों की भाषा—४४४; पश्चात्तापयुक्त स्थलों की
भाषा—४४६, वीरावेशयुक्त स्थलों की भाषा—४४७, व्यंग्य और विनोदपूर्ण स्थलों
की भाषा—४४९; संवादों की भाषा—४५४, श्रीकृष्ण-दुर्योधन-संवाद—४५४,
दुर्योधन-भीष्म-संवाद, हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-संवाद—४५६; हनुमान-राम-संवाद,
निशिचरी-जानकी-संवाद—४५७; नागिनि-कृष्ण संवाद—४५८, यशोदा-राधा-

सवाद—४६०, श्रीकृष्ण गोपी-सवाद—४६१, दूतों-राधा सवाद—४६३, उद्धव-गोपी सवाद—४६६, कृष्ण-उद्धव-सवाद—४६८, सूक्तियों की भाषा—४७०, मुहावरो के प्रयोग—४७२, 'सारावली' के मुहावरे—४७३, 'साहित्यलहरी' के मुहावरे, 'सूरसागर' के मुहावरे, प्रथम से नवम स्कंध तम के मुहावरे—४७४, दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के मुहावरे—४७६, दशम स्कंध : उत्तरार्द्ध एकादश और द्वादश स्कंध के मुहावरे—४८१, कहावतों के प्रयोग—४८३ ।

(ख) शास्त्रीय दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

सूर के छंद और उनकी भाषा—४८४, शब्दशक्ति और सूर की भाषा—४८८, अनिधाशक्ति और सूर काव्य—४८८, लक्षणाशक्ति और सूर-काव्य—४९१, लक्षणलक्षणा—४९५, उपादानलक्षणा गोपी सारापा लक्षणा—४९६, गौणी साध्यवमाना लक्षणा—४९७, शुद्धा साध्यवमाना लक्षणा—४९८, व्यजनाशक्ति—४९८, अभिधामूला शाब्दी व्यजना—४९९, नयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ—५००, प्रकरण, लिंग, अन्य सतिधि, सामर्थ्य, औचित्य, देग—५०१, लक्षणामूला शाब्दी व्यजना, वाच्यमभवा आर्थी व्यजना, लक्ष्यमभवा आर्थी व्यजना—५०२, व्यर्थमभवा आर्थी व्यजना—५०३ ।

ध्वनि—५०४ ।

लक्षणामूला ध्वनि, अभिधामूला ध्वनि—५०४, अर्थानिरसकमिन्न वाच्य, अत्यंत तिरस्कृत वाच्य, अपलक्ष्यमभवा ध्वनि—५०४, सलक्ष्यमभवा ध्वनि—५०४ ।

अलकार—५०६ ।

अनुप्रास—५०७, छेवानुप्रास—५०७, वृत्त्यनुप्रास—५०८, श्रुत्यनुप्रास—५०९, ध्वन्यनुप्रास—५१०, पुनरुक्तिप्रकाश—५११, यमक—५१२, वीप्सा इलेप—५१३ ।

गुण, वृत्ति और रीति—५१४ ।

गुण, वृत्ति, रीति—५१४, माधुर्यगुण, मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति—५१६, ओज गुण, परपा वृत्ति और गौणी रीति—५१५, प्रसाद गुण, कामना वृत्ति और पाचाली रीति—५१७ ।

रसभेद और भाषा-रूप—५१८ ।

रस और भाषा का संबंध—५१९ । मूर-काव्य और शृंगार, करण तथा शांत रसों की भाषा—५१९, वीर, वीमत्स और रौद्र रसों की भाषा—५२१; हास्य, अद्भुत और भयानक रसों की भाषा—५२२ ।

सूर की भाषा के कुछ दोष—५२३ ।

भुतिवद्, च्युत-सत्कार—५२४, लिंग-दाप—५२४, वचन-दाप, कारक-दाप—५२५; समास-दाप, मवि-दाप, प्रत्यय-दाप—५२६, असमर्थ, निरर्थक—५२६; ग्राम्य, क्लिष्टत्व—५२७; अनुचितार्थ और विरुद्धमतिकृत, वाक्य-दाप—५२८; आवृत्ति-दाप—५२७, संबोधनों में मर्यादोत्तघन—५३०, तुक्-दाप, विकृत-रूप—५३१;

तुकांत के लिए विकृत रूप, अनुप्रास, पाद-पूर्ति आदि के लिए विकृत रूप—५३२;
अशुद्ध प्रयोग—५३२ ।

६. सांस्कृतिक दृष्टि से सूर की भाषा का महत्त्व.....५३४—५७३ ।

सूर और समकालीन समाज, वातावरण-परिचायक शब्द—५३४ ।

भौगोलिक वातावरण-परिचायक शब्द—५३५, कीट-पतंग तथा क्षुद्र-जंतु, जलचर, पक्षी—५३५, पशु, पेड़-पौधे, फल—५३६, फूल—५३७, पारिवारिक वातावरण-परिचायक शब्द—५३८, सामाजिक वातावरण-परिचायक शब्द, राजनीतिक वातावरण परिचायक शब्द—५४० ।

सामान्य जीवन-चर्या-संबंधी शब्द—५४१ ।

खानपान-संबंधी शब्द—५४२, वस्त्र—५४२, दोपहर का भोजन, बियारी—५४३; वस्त्र—५४४, आभूषण—५४५, व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ—५४६, सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ—५४६, शासकों के उपयोग की वस्तुएँ, पात्र, धानु और यनिज पदार्थ, रत्न—५४७, रंग, सुगंधित पदार्थ, वाहन, अस्त्र शस्त्र—५४८; खेल और व्यायाम—५४९, वाणिज्य-व्यवसाय; सामान्य लोक-व्यवहार—५५०; शिष्टाचार—५५०, स्वागत-सत्कार—५५१ ।

सांस्कृतिक जीवनचर्या-संबंधी शब्द—५५२ ।

सामाजिक विश्वास—५५२, पौराणिक विश्वास - ५५३, धार्मिक विश्वास - ५५५, पूजा—५५६, व्रत, स्नान—५५८, दान, तीर्थयात्रा, तप - ५५९, अन्य विश्वास—५६०, सामान्य विश्वास—५६०, शकुन-अशकुन—५६०, स्वप्न—५६३, कवि-प्रसिद्धि; कुछ अन्य विश्वास—५६४, पर्वोत्सव—५६५, पर्व—५६६, उत्सव—५६७, सत्कार—५६७, पुत्रजन्म—५६७, छडी, नामकरण, अन्नप्राशन—५६९; वर्षगांठ, कनछेदन, यज्ञोपवीत, विवाह—५७०, अंत्येष्टि—५७१; कला-कौशल—५७१, प्रमुख रागों के नाम—५७२, बाजे—५७३ ।

७. उपसंहार ५७४—५८३ ।

समकालीन और परवर्ती ब्रजभाषा-कवियों से सूर की भाषा की तुलना एवं अध्ययन का सारांश—५७४ ।

सूर के समकालीन ब्रजभाषा कवि—५७४, समकालीन अष्टछापी कवि—५७४, समकालीन अन्य कवि—५७५; सूर के परवर्ती ब्रजभाषा कवि—५७६, रीति-परंपरा के कवि—५७६, अन्य परवर्ती कवि—५७७, समीक्षा का सारांश—५७८, ।

परिशिष्ट ५८४—६१७ ।

१. सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या—५८४ ।

२. सूर-काव्य और उसकी संपादन-समस्या—५९१ ।

हस्तलिखित साहित्य, प्रामाणिक संस्करण की समस्या—५९१; संपादकों की

कठिनाई—५९२, संपादकों का दृष्टिकोण और कार्य; उचित दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता—५९४; सूर-काव्य के पाठ की समस्या—५९५, लिखित पाठ, कंठस्थ पाठ, भक्तों का कंठस्थ पाठ, गायकों का कंठस्थ पाठ; सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ—५९७, सूरसागर की प्रतियाँ—५९७, सूर-नारावली की प्रतियाँ, साहित्य लहरी की प्रतियाँ—६०१; सूर के दृष्टिकूट अथवा सूर-शतक सटीक, सूर-पदावली गूढार्थ—६०२; सूर के नाम से प्राप्त अन्य ग्रंथ ६०२, एकादशी माहात्म्य—६०२, कबीर, गोबर्द्धन-लीला, दशमस्कंध, दशम स्कंध टीका, नलदमपंती, नागलीला—६०३; पद-संग्रह, प्राणप्यारी, भागवन-भाषा, भैरवगीत, मानसागर—६०४; राम-जन्म, हविमणी-विवाह, विष्णुपद, व्याहृतो—६०५; सुदामा-चरित्र, सूर-पञ्चीमी, सूर-पदावली, सूर-भागर-मार, सेवाफन—६०६, हरिवंश टीका—६०७; सूर-काव्य के प्रकाशित संस्करण—६०७, सूरसागर—६०८, सूर-नारावली—६११, साहित्य-लहरी—६१२, सूरदास के प्रामाणिक ग्रंथ—५१३, सूर-कृत ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करणों की आवश्यकता अब भी है—६१४।

नामानुक्रमणिका

६१८—६२४

संकेत-सूची

ना० प्र० सभा :	नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ।
लहरी० :	'साहित्यलहरी', लहरियामराय ।
सा० :	'सूरसागर', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
भागर :	'सूरसागर', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
सा० नवि० :	'सूरसागर', नवलविशोर प्रेस, लखनऊ ।
सा० वै० :	'सूरसागर', वैकुण्ठेश्वर प्रेस, बबई ।
सा० वे० :	'अक्षिप्त सूरसागर', डा० वेनीप्रसाद ।
मारा० :	'सूरसागर-नारावली', नवलविशोर प्रेस और वैकुण्ठेश्वर प्रेस के आरंभ में प्रकाशित ।

संकेत-चिह्न

—	: व. ह्रस्व रूप ।
—	: स. अनुच्चरित रूप ।
>	: पूर्वरूप से पररूप में परिवर्तन-सूचक ।
<	: पररूप से पूर्वरूप में परिवर्तन-सूचक ।

१. ब्रजभाषा और सूर की भाषा के अध्ययन का इतिहास

विषयप्रवेश—

प्रामाणिक पाठ के अभाव में प्राचीन कवियों की कृतियों के विधिवत् अध्ययन में कठिनाई पड़ती है। स्थूल रूप से यह अभाव उन सभी बातों की जानकारी में बाधक सिद्ध होता है जिनका संबंध अंतःसाक्ष्य से है। पाठ की अप्रामाणिकता के दो रूप होते हैं। एक, पाठ का अशुद्ध रूप और दूसरा, प्रक्षिप्त अंश। कवि के दृष्टिकोण, उद्देश्य, आदर्श, पांडित्य आदि से अवगत विज्ञ आलोचक को किसी ग्रंथ के प्रक्षिप्त अथवा अप्रामाणिक भागों का पता लगाने में अधिक कठिनाई नहीं होती। अतएव सदेहात्मक अंशों को निकाल देने के बाद शेष भाग में केवल पाठ की अशुद्धता का दोष रह जाता है, जिसके बने रहने पर भी भाषा-अध्ययन-कार्य किसी सीमा तक किया जा सकता है। भाषा के अध्ययन के प्रमुख पक्ष, उसका इतिहास, तत्कालीन स्थिति का प्रभाव, शब्द-भांडार, साहित्यिक और आन्तरिक विशेषताएँ, वाक्य-विन्यास, व्याकरण के नियमों का निर्वाह आदि हैं। इनमें से प्रथम पाँच विषयों का अध्येता, प्रामाणिक पाठ के अभाव में भी, किसी न किसी प्रकार अपना काम चला लेता है, परन्तु अंतिम अर्थात् व्याकरण-विषयक अध्ययन के कुछ पक्षों के सूक्ष्म अध्ययन में, वैसी स्थिति में, कुछ बाधा अवश्य पड़ती है। आज से लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व तक, सूर-काव्य का सर्वमान्य प्रामाणिक पाठ सुलभ न होने के कारण उनकी भाषा का अध्ययन उचित रीति से नहीं हो सका। फिर भी, हिंदी के विद्वानों ने इस दिशा में जो कार्य किया, उसका मूल्यांकन करने के पूर्व उक्त कठिनाई को ध्यान में रखना आवश्यक है।

सूर-साहित्य के आलोचकों ने उनकी काव्य-कला के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते समय भाषा के संबंध में, प्रसंगवश ही विचार किया है। स्वतंत्र रूप से और विस्तार के साथ सूरदास की भाषा के विषय में किसी भी विद्वान ने अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं। ब्रजभाषा और उसके व्याकरण की विवेचना एवं सूरदास और उनके काव्य की आलोचना के रूप में जो सामग्री आज तक प्रकाश में आयी है, स्थूल रूप से उसे तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

क. हिंदी भाषा के इतिहास और ब्रजभाषा के व्याकरण।

ख. सूर-काव्य के भूमिका-सहित स्फुट संकलन।

ग. मूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन ।

क. हिन्दी भाषा के इतिहास और व्रजभाषा के व्याकरण—

किसी भाषा का इतिहास और उसका व्याकरण, दो स्वतंत्र विषय हैं। परन्तु हिन्दी में प्रकाशित तत्संबंधी अधिकांश ग्रंथों में सामान्यतया दोनों पर सम्मिलित या मिश्रित रूप में विचार किया गया है। आरंभ में, हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषाओं से भी संबंधित इस प्रकार के ग्रंथ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये, परन्तु कुछ समय पश्चात् भारतीय लेखकों का भी ध्यान इधर गया। हिन्दी के साहित्यिकों ने उन्नीसवीं शताब्दी में ता, संभवतः साधनहीनता के कारण इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया परन्तु बीसवीं शताब्दी में कुछ सतापजनक कार्य अवश्य हुआ। हिन्दी भाषा और उसके व्याकरण पर प्रत्यक्ष रूप से और व्रजभाषा विज्ञान तथा उसके व्याकरण पर परोक्ष रूप से जिन हिन्दी-अहिन्दी ग्रंथों में विचार किया गया है, काल-क्रमानुसार उनमें से प्रमुख का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. तुहफतुल 'हिन्द' (व्रजभाषा व्याकरण) — मिर्जा खाँ-नृत यह प्राचीन व्याकरण औरंगजेब के समय में फारसी भाषा में लिखा गया था। इसकी सूचना सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने सन् १७८४ में दी थी^१। डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १६७५ से कुछ पूर्व होता चाहिए^२। इस ग्रंथ का एक संस्करण मार्च १९३५ में शांतिनिकेतन के श्री एम. जियाउद्दीन ने 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' के नाम से प्रकाशित किया था। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, इसका 'व्रजभाषा व्याकरण' नाम ही भ्रामक है, क्योंकि प्राचीन व्रजभाषा का ठीक ज्ञान कराने में यह ग्रंथ बिल्कुल भी सहायक नहीं होता^३। फिर भी, हमारी सम्मति में, यदि इनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो जाय, तो प्राचीन हिन्दी भाषा-रूपों से सम्बन्धित कुछ विषयों की जानकारी में इससे अवश्य सहायता मिलेगी।

२. हिन्दुस्तानी व्याकरण — जैकब जोशुआ केंटलेयर की यह पुस्तक सन् १७१५ के लगभग लिखी गयी थी। डेविड मिलिअस ने सन् १७४३ में इसका प्रकाशन किया था^४। डा० चटर्जी के अनुसार यह 'लेडेन' से प्रकाशित की गयी थी^५। व्रजभाषा से सम्बन्धित सामग्री इसमें नगण्य ही है और पुस्तक भी अब अप्राप्य है।

३. व्रजभाषा व्याकरण — सन् १८११ में प्रकाशित सल्लूलाल के इस ग्रंथ का नाम,

१. 'एशियाटिक रिसर्च' में प्रकाशित 'आन दि म्युजिकल मोड्स आव दि हिंदूज' शीर्षक लेख, जिल्द ३, पृ० १।

२. शांतिनिकेतन से प्रकाशित 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ९।

३. 'व्रजभाषा व्याकरण' का 'द्वैतव्य', पृ० २।

४. 'व्रजभारती', धर्म ९, अंक १, पृ० ५।

५. 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० vi।

डा० प्रियर्सन के अनुसार 'मसादिरे भाषा' था^१ । डा० धीरेन्द्र वर्मा ने, संभवतः विषय के अनुसार, इसे 'ब्रजभाषा व्याकरण' कहा है^२ । श्री कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' में लल्लूलाल के नाम से 'कवायद हिन्दी' नामक व्याकरण की चर्चा की गयी है । ये दोनों ग्रंथ सम्भवतः एक ही हैं । यह पुस्तक अब अप्राप्य है ।

४. 'कंपैरेटिव प्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज आव इण्डिया'—श्री जॉन बीम्स-कृत यह ग्रंथ तीन भागों में प्रकाशित हुआ था—'ध्वनि' शीर्षक प्रथम भाग सन् १८७२ में, 'सज्ञा और सर्वनाम' शीर्षक द्वितीय भाग सन् १८७५ में और 'क्रिया' शीर्षक तृतीय भाग सन् १८७९ में । ग्रंथ के आरम्भ में लगभग सवा सौ पृष्ठों की भूमिका भी है । इस ग्रंथ का दूसरा सशोधित संस्करण आज तक नहीं प्रकाशित हो सका है और न किसी अन्य लेखक ने ही इस ग्रंथ की तरह का हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती मराठी उडिया तथा बंगाली भाषाओं का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन ही प्रस्तुत किया है । अतएव इस ग्रंथ का मान आज भी पूर्ववत् है, यद्यपि ब्रजभाषा-विषयक सामग्री इसमें अपेक्षाकृत बहुत कम है ।

५. 'प्रैमर आव दि हिन्दी लैंग्वेज'—भारतीय आर्यभाषाओं में केवल हिन्दी से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो सन् १८७६ में प्रकाशित हुआ था । इसके लेखक श्री कैलाश थे । इस ग्रंथ में खड़ीबोली के तत्कालीन नवविकसित साहित्यिक रूप के साथ-साथ ब्रजभाषा और अवधी का तो तुलनात्मक व्याकरणिक अध्ययन है ही; राजस्थानी बिहारी और मध्य पहाड़ी भाषाओं के नियम भी स्थान-स्थान पर दिये हुए हैं । प्रत्येक अध्याय के अन्त में दिया गया व्याकरण-रूपों का विकास भी इसकी एक विशेषता है । सन् १९३८ में इसका सशोधित-परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ । हिन्दी व्याकरण का विधिवत् अध्ययन करनेवालों के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रंथ है ।

६. 'प्रैमर आव दि ईस्टर्न हिन्दी'—श्री रुडल्फ हार्नली-कृत यह ग्रंथ सन् १८८० में प्रकाशित हुआ था । यद्यपि विद्वान लेखक इसमें पूर्वी हिन्दी अर्थात् बिहारी और हिन्दी के व्याकरण की ही विस्तृत विवेचना करना चाहता था, तथापि प्रसंगवश अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित विचार भी यत्र-तत्र इसमें प्रकट किये गये हैं । यही इस ग्रंथ के महत्व का कारण है ।

७. 'सेविन प्रैमर्स आव बिहारी लैंग्वेजेज'—सन् १८८३ से १८८७ तक प्रकाशित सर जार्ज अब्राहम प्रियर्सन के इस ग्रंथ में यद्यपि बिहारी भाषा के ही व्याकरण की चर्चा मुख्य रूप से है तथापि यत्र-तत्र कुछ उदाहरण हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के भी मिल जाते हैं ।

८. प्राचीन भारतीय लिपिमाला—म म गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत यह महत्वपूर्ण ग्रंथ सन् १८९४ में पहली बार प्रकाशित हुआ था । इसका दूसरा संस्करण चार

१. 'ब्रजभारती', वर्ष ९, अंक १, पृ० ५ ।

२. 'ब्रजभाषा व्याकरण' का 'व्यवस्थ', पृ० १ ।

वष बाद छपा था। दवनागरी लिपि और अका क इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत महत्व का है, परन्तु इसमें भाषा की चर्चा नहीं क बराबर है।

६. 'लिगिस्टिक सर्वे श्राव इण्डिया'—सर जाज अब्राहम ग्रियसन ने सन् १८९४ में सन् १९२७ तक अर्थात् लगभग तैंतीस वर्षों के परिश्रम में यह ग्रंथ ग्यारह बड़ी-बड़ी जिल्दों में तैयार किया था। इसकी पहली जिल्द के प्रथम भाग में ग्रंथ की विस्तृत भूमिका है, छठी जिल्द में पूर्वी हिन्दी और नवी जिल्द के पहल भाग में पश्चिमी हिन्दी की सादाहरण विवेचना है। इसमें वृहत् ग्रंथ में हिन्दी की प्रमुख भाषाओं के ही नहीं, उत्तरी भारत की प्रायः समस्त भाषाओं विभाषाओं और मुख्य-मुख्य बालिया क भी व्याकरण की रूपरेखा उदाहरण-सहित प्रस्तुत की गयी है। प्रमुख भाषाओं विभाषाओं क क्षेत्र-सम्बन्धी नवश प्रत्येक जिल्द में दिये हुए हैं जिनके कारण ग्रंथ का मूल्य बहुत बढ़ गया है। आधुनिक भारतीय आय भाषाओं क वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इस समय भी यह ग्रंथ प्रामाणिक माना जाता है।

१०. हिन्दी व्याकरण—सन् १९२० में प्रकाशित श्री कामताप्रसाद गुरु का यह ग्रंथ खड़ी बोली के साहित्यिक रूप का व्याकरण है। इसमें ब्रजभाषा, अवधी आदि की चर्चा प्रसंगवश ही कहीं-कहीं पर है।

११. 'ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट श्राव डि बेंगाली लैंग्वेज'—सन् १९२६ में प्रकाशित डा० सुनीति कुमार चटर्जी का यह ग्रंथ बंगाली भाषा के सवध में हान पर भी प्रायः सभी आय भाषाओं क अध्ययनों की रूपरेखा तैयार करने के विषय में उपयोगी रहा है। इसमें प्रकाशित आधुनिक भारतीय आय भाषाओं का, जिनमें हिन्दी भी है इतिहास प्रायः सभी भाषा अध्ययनों क काम का है।

१२. हिन्दी भाषा और साहित्य—सन् १९३० में प्रकाशित बा० श्यामसुंदर दास के इस ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में हिन्दी भाषा का जा विकास दिया हुआ था, वह सन् १९२५ में प्रकाशित बाबू जी क 'भाषा विज्ञान' नामक ग्रंथ का अंतिम अध्याय था। इस भाग के लिखन में तद्विषयक प्रायः सभी सामग्री का उपयोग ता अवश्य किया गया था, परन्तु विषय क प्रतिपादन में एक प्रकार से मौलिकता थी और इस रूप में अपने ढंग का हिन्दी में यह सवप्रथम प्रयास था।

१३. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—प० अयाध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के इस ग्रंथ के आरम्भ में हिन्दी भाषा का विकास दिया हुआ है। विषय के प्रतिपादन में स्पष्टता और ब्रजभाषा विकास की स्वतंत्र चर्चा हान पर भी आज यह ग्रंथ सामान्य मूल्य का ही है।

१४. 'इवाल्यूशन श्राव अप्रधी'—डा० बाबूराम सक्सेना का यह ग्रंथ सन् १९३१ में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी लिट की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। सन् १९३८ में यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। हिन्दी की किसी एक साहित्यिक भाषा के विकास पर यह सवप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था जिसमें वैज्ञानिक, साहित्यिक,

ऐतिहासिक और व्याकरणिक दृष्टियों से अवधी भाषा का विस्तृत विवेचन है। व्रज-भाषा और खड़ी बोली के अध्ययनों के लिए भी यह ग्रंथ उपयोगी है।

१५. हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा के इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण सन् १९३३ में, द्वितीय सन् १९४० में और तृतीय सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ। पूर्व प्रकाशित सभी प्रामाणिक सामग्री का अध्ययन और मनन करने के पश्चात् विद्वान लेखक ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया था। साथ ही, लेखक के निजी अन्वेषण का परिचय भी इसमें मिलता है। आधुनिक साहित्यिक खड़ी बोली के ही व्याकरण और स्वरूप की विवेचना यद्यपि इसमें प्रधान रूप से की गयी है, तथापि व्रज और अवधी से संबंधित ऐतिहासिक सामग्री का भी इसमें सर्वथा अभाव नहीं है। प्रस्तुत प्रबंध के लिए यही इसकी उपयोगिता है।

१६. 'ला पेंदो एरियन'—जून ब्लॉक-कृत यह ग्रंथ सन् १९३४ में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ था। भारतीय आर्यभाषाओं के संबंध में उपलब्ध सामग्री का पूर्ण उपयोग किये जाने के कारण यह ग्रंथ छोटा होने पर भी काम का है।

१७. 'ला लाग व्रज'—डा० धीरेन्द्र वर्मा का यह ग्रंथ फ्रेंच भाषा में सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। इसी पर डा० वर्मा को पेरिस विश्वविद्यालय से डॉ. लिट्. की उपाधि मिली थी। डा० सक्सेना के 'अवधी के विकास' की तरह व्रजभाषा-संबंधी यह प्रथम वैज्ञानिक विवेचन था जो प्रस्तुत प्रबंध-जैसे व्रजभाषा-विषयक ग्रंथों के लिए आदर्श रूप है।

१८. भाषा रहस्य (प्रथम भाग)—वा. श्याम सुंदर दास और श्री पद्म नारायण आचार्य-कृत यह ग्रंथ सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ। इसमें 'ध्वनि' का विस्तृत विवेचन है। प्राचीन भारतीय विद्वानों के साथ साथ पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों के मतों का भी समावेश इसमें किया गया है।

१९. व्रजभाषा व्याकरण—डा० धीरेन्द्र वर्मा की यह पुस्तक सन् १९३७ में छपी थी। साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण की दृष्टि से यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था। इसका दूसरा संस्करण भी छप चुका है।

२०. व्रजभाषा का व्याकरण—प० किशोरीदाम बाजपेयी की यह पुस्तक सन् १९४३ में प्रकाशित हुई थी। इसको लेखक ने 'विवेचनात्मक पद्धति पर एक मौलिक रचना' कहा है। व्रजभाषा-व्याकरण-संबंधी काम की कुछ बातें इसमें अवश्य हैं, परंतु पूर्व प्रकाशित तद्विषयक मनो के खंडन और अपने विचारों के मंडन के लिए लेखक ने ऐसी भाषा-शैली का प्रयोग किया है कि प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसकी एक प्रकार से उपेक्षा ही की है। इस ग्रंथ में एक खटकनेवाली बात यह है कि अधिकांश रथलों पर लेखक ने अपने वाक्य गड़कर विषय का विवेचन किया है। इससे अपना मत तो वे अवश्य दे सके हैं; परंतु विविष्ट कवियों के प्रयोगों में उनकी पुष्टि नहीं हो सकी है। फिर भी इसमें कई बातें उपयोगी हैं।

२१. ब्रजभाषा—डा० धीरेन्द्र वर्मा की फ्रेंच में प्रकाशित थीसिस 'ला लाग ब्रज' का यह हिन्दी रूपांतर सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ में विद्वान लेखक के लगभग पंद्रह वर्षों के ब्रजभाषा-विषयक अध्ययन का नार संगृहीत है। मध्य-कालीन साहित्यिक ब्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से भी यह ग्रंथ बहुत महत्व का है।

ऊपर केवल ऐसे ग्रंथों के ही नाम दिये गये हैं जिनके लेखक प्रतिष्ठित विद्वान हैं, जिनका उल्लेख महत्वपूर्ण ग्रंथों में हुआ है अथवा जिनमें हिन्दी के लेखकों ने तद्विषयक ग्रंथ-रचना की प्रेरणा ली है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे महत्वपूर्ण स्फुट लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं—यथा डा० प्रियमन का 'आधुनिक भारतीय भाषाओं में बलात्मक स्वराधान'¹ और श्री टनर का 'गुजराती ध्वनि समूह'²—जिनसे हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक-लेखकों ने बराबर सहायता ली है। यहाँ हिन्दी के उन छोटे-मोटे व्याकरणों की चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा गया है जो पिछले सौ वर्षों में समय समय पर, मुख्यतः विद्यार्थियों के लिए, प्रकाशित होते रहे हैं और आज जिनमें से अधिकांश अप्राप्य हैं।

उक्त ग्रंथों के आधार पर हिन्दी भाषा का विस्तृत इतिहास और ब्रजभाषा-व्याकरण का तो अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु सूरदास की ब्रजभाषा के अध्ययन और विवेचन में इनमें से अधिकांश ग्रंथों से कोई सहायता नहीं मिलती। इसके कई कारण हैं। सबसे पहले तो दो-एक ग्रंथों को छोड़कर सबमें ब्रजभाषा की कम, हिन्दी के इतिहास और उसके खड़ीबोली-रूप की विवेचना अधिक की गयी है। दूसरे, सन् १९३० के पहले तक साहित्यिक ब्रजभाषा पर स्वतन्त्र वैज्ञानिक विवेचनात्मक ग्रंथ लिखने की ओर लेखकों का ध्यान ही नहीं गया था और जिन लेखकों ने उसकी चर्चा की भी उनमें से अधिकांश ने उन प्रकाशित और प्राप्त, परन्तु पाठ-गुद्धता की दृष्टि से अनपादिन, ग्रंथों के आधार पर अपने विचार प्रकट किये जो मत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे गये थे। तीसरी बात यह कि सूरदास की काव्य-भाषा का विवेचन उस परिस्थिति में संभव था भी नहीं, क्योंकि कवि विशेष की भाषा का विस्तृत अध्ययन करने की परिपाटी का तब तक प्रचलन ही नहीं हुआ था। अनएव यदि किसी लेखक ने सूर की भाषा पर विचार भी किया तो बहुत चलताऊ ढंग में और जो भी बहुत प्रचलित पदों को ध्यान में रखकर। यह ठीक है कि सन् १८६५ के पदचान् 'सूरमागर' मुलभ था और यदि कोई उसकी भाषा का अध्ययन करना चाहता तो उसे विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु कोई लेखक इस प्रकार के अध्ययन की ओर इस कारण प्रवृत्त न हुआ कि केवल भाषा-अध्ययन को इतना महत्व देने के लिए उस समय के साहित्यिक प्रस्तुत नहीं थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भी इस प्रकार के

१. 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', सन् १८९५, पृ० १०९।

२. 'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', सन् १९२१, पृ० ३२९ और ५०५।

अध्ययन की प्रगति नहीं हो सकी, क्योंकि उस युग में स्वातन्त्र्य-सुखाय साहित्य-सेवा में संलग्न रहनेवाले इने-गिने प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ-साथ वे लोग प्रवृत्त होते थे जिनका संबंध अच्छे विद्यालयों में था। हिन्दी को उस समय तक विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में स्थान नहीं मिला था। अतएव सामूहिक रूप में हिन्दी भाषा का इतिहास लिखने का तो कुछ विद्वानों ने प्रयास भी किया, जो आज की दृष्टि में बहुत साधारण है, परन्तु हिन्दी भाषा के तीन प्रमुख साहित्यिक स्वरों में से किसी एक के प्रतिष्ठित कवि की भाषा के विस्तृत और सांगोपाग अध्ययन की ओर किसी का ध्यान न जा सका। अतएव उक्त ग्रंथों में विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के साथ-साथ ब्रजभाषा के वैज्ञानिक, व्याकरणिक और ऐतिहासिक अध्ययन की जो रूपरेखा दी हुई है, उससे सूरदास की काव्यभाषा के विवेचन की संकेत-मूर्ची मात्र बनाने में सहायता मिल सकती है, उसकी संपूर्ण प्रामाणिक विवेचना किसी भी प्रसन्न प्रबन्ध-जैसे ग्रंथ-लेखक को निजी ढंग पर ही करनी पड़ेगी।

ख. भूमिका सहित सूर-काव्य के स्फुट संकलन—

पिछले लगभग चालीस वर्षों में सूर-साहित्य के छोटे-बड़े अनेक संकलन ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिनमें संपादकों ने आरम्भ में कवि और उसके काव्य के संबंध में भी विचार प्रकट किये हैं। ऐसे कुछ प्राप्त संकलनों के नाम अकार-क्रम में नीचे दिये जाते हैं—

क्रम संख्या	संकलन का नाम	संपादक का नाम	भूमिका की पृष्ठ संख्या
१.	भ्रमरगीत-माला	पं० रामचन्द्र शुक्ल	७८
२.	संक्षिप्त सूरसागर	श्री विद्योती हरि	...
३.	संक्षिप्त सूरसागर	डा० बेनी प्रसाद	३९
४.	सूर-कृत गोपी-विरह और भँवरगीत	प्रेमनारायण टंडन	८०
५.	सूर-पंचरत्न	डा० भगवान दीन	१६४
६.	सूर-प्रभा	डा० दीनदयालु गुप्त	४०
७.	सूर-रामायण	प्रेमनारायण टंडन	१२
८.	सूर-विनयपदावली	श्री प्रभुदयाल भीतल	३६
९.	सूर-शतक	भारतेंदु हरिश्चंद्र	अज्ञात ^१
१०.	सूर-शतक	श्री श्रीनाथ पांडेय	१०
११.	सूर-सुषमा	पं० नंददुलारे वाजपेयी	१९

^१ 'सूर-पंचरत्न' की भूमिका को छोड़कर प्रायः इन सभी संकलनों में सूर की जीवनी

१. क. 'सूरसागर', (बेकलेइवर प्रेस) की भूमिका, पृ० ९।

ख. 'साहित्यलहरी', लङ्गविलास प्रेस, पृ० १६५।

और उनकी काव्य-कला पर ही मुख्यतः विचार किया गया है। 'भ्रमर-गीत-मार्' की भूमिका में भाषा-संबंधी कुछ उपयोगी सामग्री अवश्य दी गयी है, परन्तु इसके विद्वान् संपादक का ध्यान सूरदास की भाव-व्यजना-विषयक विशेषताओं के मोटाहरण विवेचन की ओर जितना रहा है उतना कवि की भाषा का आलोचनात्मक परिचय देने की ओर नहीं। 'गोपी-विरह और भँवरगीत' की भूमिका में इन पत्तियों के लेखक ने 'सूरदास की भाषा' शीर्षक पाँच-सात पृष्ठों की एक टिप्पणी दी है, पर उसमें भी तद्विषयक मोटी-मोटी विशेषताएँ ही बतायी गयी हैं, कोई मौलिक बात नहीं है। डा० दीनदयालु गुप्त की 'सूर प्रभा' के आरम्भ में 'काव्य-परिचय' के अंतर्गत, भाषा-संबंधी विचार प्रकट किये गये हैं जो इस दृष्टि में तो महत्वपूर्ण हैं कि किन्हीं कारणों से उनके बृहत्कार महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अष्टादश और वल्लभ-मप्रदाय' में सूर की काव्य-कला और भाषा की विस्तृत विवेचना नहीं है परन्तु उपयुक्त स्थान न होने के कारण विद्वान् लेखक को तीन-चार पृष्ठ लिखकर ही मतोष करना पड़ा है। वस्तुतः उक्त प्रायः सभी ग्रंथ विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर समय-समय पर प्रस्तुत किये गये हैं और उनकी भूमिकाओं में कवि और काव्य-संबंधी के ही बातें बतायी गयी हैं जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हों और जिनमें उनमें सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने की रुचि जाग्रत हो।

केवल 'सूर-पंचरत्न' के संपादक लाला भगवानदीन ने, अन्य सक्लन-कर्ताओं के सीमित दृष्टिकोण से ऊपर उठकर, अपने सक्लन की भूमिका में, ब्रजभाषा की उत्पत्ति और विकास, उसकी पहचान और उपयोगिता पर, संक्षेप में प्रकाश डालने के उपरान्त सूरदास की भाषा-शैली की परिचयात्मक आलोचना की है। यद्यपि ब्रजभाषा-उत्पत्ति की कहानी के रूप में उन्होंने हिन्दी भाषा के जन्म की गाथा ही दी है और 'ब्रजभाषा की पहचान'-संबंधी नियम पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'बुद्धचरित' की भूमिका के आधार पर लिखे हैं तथा सूरदास की भाषा का विवेचन बहुत संक्षेप में किया है, तथापि आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व जब यह सक्लन प्रकाशित हुआ था, तब निश्चय ही उसके संपादक के ब्रजभाषा-अध्ययन पर हिन्दी-संसार मुग्ध हो गया होगा। अतएव स्पष्ट है कि 'सूर-पंचरत्न' के अतिरिक्त अन्य किसी सक्लन की भूमिका सूरदास की भाषा के अध्ययन में, किसी भी रूप में सहायक नहीं हो सकती।

ग. सूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन—

नवल किशोर प्रेस, लखनऊ और बेंकटेश्वर प्रेस, बंबई के 'सूरसागर' प्रकाशित हो जाने के पश्चात् सूरदास के काव्य की आलोचना का कार्य आरम्भ हो गया था। बाबू राधाकृष्ण दास ने 'सूरसागर' के आरम्भ में कवि के जीवन-चरित् और काव्य-परिचय-रूप में जो विचार प्रकट किये थे, वस्तुतः उन्हीं से इस विषय का सूत्रपात समझना चाहिए। डा० जनार्दन मिश्र ने जब सूर-काव्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया,

तब अन्य विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया । फलस्वरूप सूरदास और उनके काव्य के सम्बन्ध में जो ग्रंथ अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें से प्रमुख का जिनका परिचय प्रकाशन-क्रम से यहाँ दिया जाता है —

१. सूरदास—अंग्रेजी में प्रकाशित डा० जनार्दन मिश्र की यह पुस्तक सूर-साहित्य की समालोचना का संभवतः प्रथम मौलिक और स्वतंत्र प्रयास था । कवि के जीवन चरित्, उसकी रचनाओं और वल्लभाचार्य तथा सूरदास के धार्मिक सिद्धांतों, की परिध्यात्मक विवेचना इस ग्रंथ में विशेष रूप से की गयी है, परन्तु सूरदास की भाषा के सबंध में सामान्य रूप से ही विचार किया गया है ।

२. सूर : एक अध्ययन—सन् १९३८ में प्रकाशित श्री शिखरचंद जैन की इस पुस्तक में सूर-साहित्य की सामान्य आलोचना है । इसमें दो-तीन पृष्ठों में ही कवि की भाषा का परिचय दिया गया है ।

३. भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास—श्री नलिनीमोहन सान्याल की यह पुस्तक सन् १९३८ में प्रकाशित हुई थी । इस में कवि के जीवन-चरित् के साथ-साथ वात्सल्य-चित्रण, माखन-चोरी, मयोग-लीला, राम-लीला, भ्रमरगीत आदि सूर-साहित्य के अंगों का सामान्य परिचय दिया गया है । भाषा-संबंधी विस्तृत विवेचना सान्याल जी का ध्येय नहीं है ।

४. सूरदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस ग्रंथ का संपादन प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सन् १९४३ में किया था । पाँच वर्ष बाद इसका तृतीय संशोधित परिवर्द्धित संस्करण भी प्रकाश में आया । भक्ति का विकास, श्री वल्लभाचार्य, सूरदास का जीवनवृत्त और उनके काव्य की आलोचना, इस ग्रंथ के प्रमुख विषय हैं । अंतिम के अंतर्गत कवि की भाषा की आलोचना भी है ; परन्तु यह अश एक प्रकार 'भ्रमरगीत-सार' के संशोधित संस्करण की भूमिका के रूप में प्रकाशित है और इसमें भाषा-संबंधी कोई नयी बात नहीं दी गयी है ।

५. सूर-सौरभ—श्री (अब डाक्टर) मुंशीराम शर्मा की इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १९४३ में और तृतीय १९४९ में प्रकाशित हुआ था । सूरदास और उनके काव्य की, उक्त सभी ग्रंथों से अधिक विस्तृत समीक्षा इसमें मिलती है । कवि की जीवनी और उसके ग्रंथों की प्रामाणिकता पर तो इसमें बहुत विस्तार से विचार किया गया है, परन्तु भाषा की चर्चा बहुत संक्षेप में की गयी है जिसमें उसकी सामान्य विशेषताओं पर ही प्रकाश डाला गया है । इधर शर्मा जी ने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' नामक गवेषणात्मक प्रबंध प्रकाशित कराया है । विषय की भिन्नता के कारण इसमें भी सूर की भाषा का विवेचन नहीं-सा है ।

६. सूर : जीवनी और ग्रंथ—यह छोटी सी पुस्तक इन शक्तियों के लेखक ने सन् १९४३ में लिखी थी । जैमा नाम से स्पष्ट है, इस पुस्तक में सूरदास की भाषा-समीक्षा,

लेखक का अभीष्ट नहीं था, केवल 'परिशिष्ट' के छह-सात पृष्ठों में कवि की भाषा का सामान्य परिचय दिया गया है ।

७. सूर-साहित्य की भूमिका—श्री रामरतन भटनागर और वाचस्पति पाठक की इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १९४५ में प्रकाश में आया था । कवि की भाषा-संबंधी जो परिचयात्मक आलोचना इस पुस्तक में दी गयी है, वह सशोधित-परिवर्द्धित रूप में भटनागर जी की सन् १९५२ में प्रकाशित 'सूर-समीक्षा' नामक ग्रंथ में मिल जाती है । अतएव 'भूमिका' की भाषा-विषयक चर्चा का कोई महत्व नहीं रह जाता ।

८. सूर साहित्य—पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह पुस्तक सन् १९४६ में प्रकाशित हुई थी । सूरदास का परिचय और उनके काव्य का महत्व, इसका वर्ण्य विषय है, परन्तु भाषा के संबंध में सागोपाग विवेचन इसमें भी नहीं है ।

९. अष्टछाप और चतुर्भ-संप्रदाय—सन् १९४७ में प्रकाशित डा० दीनदयालु गुप्त के इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में सूरदास के अनिरक्त अष्टछाप के अन्य सात कवियों के जीवन चरित्र, ग्रंथ, और दार्शनिक विचारों के गवेषणात्मक विस्तृत परिचय के साथ-साथ विद्वतापूर्ण समीक्षा भी दी गयी है । सूरदास के जीवन-चरित्र और उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता पर विशेष विस्तार में विचार किये जाने पर भी विशेष कारणों से सूर-काव्य की समीक्षा इसमें नहीं की गयी है । सूरदास की भाषा के साथ सूरदास की भाषा पर कुछ प्रकाश अवश्य डाला गया है ।

१०. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा के इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण सन् १९५० में प्रकाशित हुआ था । वस्तुतः सूर-साहित्य के सागोपाग अध्ययन के विचार में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है । कवि की भाषा-समीक्षा की दृष्टि से द्वितीय संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें 'सारावली' और 'साहित्य-जहरी' की भाषाओं का भी वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन जोड़ा गया है^१ । 'भाषा-जहरी और छंद' शीर्षक इसका एक परिच्छेद पतालीस पृष्ठों का है जिसमें केवल भाषा की चर्चा लगभग एक चौथाई भाग में है । सूर-साहित्य के किसी भी समीक्षात्मक ग्रंथ में कवि की भाषा के संबंध में यद्यपि इतने विस्तार में विचार नहीं किया गया है और डा० वर्मा के ग्रंथ की विषय-सूची के अनुसार, अनुपात के विचार से भी, यह विस्तार उपयुक्त ही समझा जायगा, तथापि संभवतः स्थान-संकोच और काव्य के अनेक अंगों में से केवल एक हिस्से के कारण भाषा और उसमें संबंधित विषयों को, एक प्रकार से, छू भर लिया गया है, व्रजभाषा की उत्पत्ति और विकास, सूर की व्रजभाषा को देने, सूर का व्याकरणिक दृष्टिकोण आदि आवश्यक प्रश्नों पर प्रकाश डालने का लेखक को अवकाश नहीं मिल सका है । संभवतः उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गये प्रबंध की निर्दिष्ट सीमाएँ ही इसका कारण हैं ।

११. **सूर-निर्णय**—श्री द्वारका दास पारिव और श्री प्रभुदयाल मौतल के सन् १९४९ में प्रकाशित इस ग्रंथ में सूरदास के जीवन, ग्रंथ, सिद्धांत और काव्य की निर्णयात्मक समीक्षा देने का उल्लेख लेखक द्वय ने मुखपृष्ठ पर ही किया है। जीवन चरित्र और ग्रंथ-संबंधी समीक्षा के लिए तो 'निर्णयात्मक' विशेषण किसी सीमा तक सार्थक मानने की लेखकों की स्वतंत्रता हो सकती है, परन्तु सिद्धांत और काव्य की संक्षिप्त विवेचना को 'निर्णयात्मक' कहने का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। जो हो, 'काव्य-निर्णय' शीर्षक परिच्छेद के अंतर्गत केवल तीन-चार पृष्ठों में ही सूर-काव्य की भाषा पर इस ग्रंथ में विचार किया गया है और उसमें भी कवि का व्रजभाषा संबंधी कोई उदाहरण न देकर केवल उसकी खड़ीबोली-मिश्रित भाषा का एक लंबा उद्धरण दिया गया है जिसकी प्रामाणिकता ही सदिग्ध है।

१२. **महाकवि-सूरदास**—सन् १९५२ में प्रकाशित ए० नददुलारे वाजपेयी के इस ग्रंथ में, सूरदास के काव्य, जीवन, भक्ति-सिद्धान्त आदि का अंतरंग विवेचन है; परन्तु भाषा के संबंध में विचार इसमें भी नहीं किया गया है।

१३. **सूर-समीक्षा**—डा० रामरत्न भटनागर का यह ग्रंथ भी सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ था। इसमें सूर की भाषा-शैली का परिचय आठ पृष्ठों में दिया गया है। 'सूरसागर' के पदों में कवि की भाषा के कितने रूप मिलते हैं, संक्षेप में यही दिखाना लेखक का उद्देश्य है और उसने कोई नयी बात नहीं दी है।

१४. **सूरदास**—डा० पीताम्बर दत्त बड़धवाल की इस छोटी सी पुस्तक का संपादन उनके स्वर्गवास के पश्चात् डा० भगीरथ मिश्र ने किया था। सूरदास का केवल जीवन-चरित्र ही इसमें दिया हुआ है।

१५. **सूर-समीक्षा**—डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' की यह पुस्तक सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थी। इसमें सूर-काव्य की कुछ विशेषताओं पर तो गंभीरता से विचार किया गया है, परन्तु भाषा के संबंध में सामान्य बातें ही दी गयी हैं।

१६. **सूर और उनका साहित्य**—डा० हरवश शर्मा का यह ग्रंथ सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ था। इसमें भी सूरदास की भाषा की चर्चा पंद्रह-सोलह पृष्ठों में ही है और कोई नयी बात नहीं दी गयी है।

उक्त प्रायः सभी ग्रंथ सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने के लिए तो उपयोगी है, परन्तु कवि की भाषा का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने में सहायक नहीं हैं। कवि सूर की जीवनी और ग्रंथों की प्रामाणिकता की समस्या ने इनमें से अधिकांश ग्रंथों का इतना अधिक भाग घेर लिया है कि काव्य के सभी अंगों पर पर्याप्त विस्तार से विचार नहीं किया जा सका है। अतएव सूर-काव्य की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन करने में उक्त ग्रंथों से विशेष महायता नहीं मिल सकती।

सूरदास की व्रजभाषा के अध्ययन की रूपरेखा का जो परिचय ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि इस महाकवि की भाषा का अध्ययन जिस विस्तार से होना चाहिए था,

अभी तक नहीं हो सका है। काव्य-भाषा का अध्ययन ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्याकरणिक, व्यावहारिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से किया जाना चाहिए। इनमें से कुछ पक्षों पर ही हमारे आलोचकों ने बहुत संक्षेप में विचार किया है। अतएव उक्त सभी दृष्टियों से मूरदास की व्रजभाषा के विस्तृत और सागोपाग अध्ययन का कार्य अभी शेष है।

सूर की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन न होने के कारण—

यहाँ स्वभावतः प्रश्न होता है कि जब सूर-साहित्य का सम्मान साहित्य-प्रेमियों में दिनो-दिन बढ़ता जाता है और पिछले लगभग पचीस वर्षों में उनकी काव्य-कला के विभिन्न पक्षों पर अनुसंधानपूर्ण प्रबोध और ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, तब व्रजभाषा के इस सर्वप्रथम अभिनन्दनीय कवि की भाषा का सर्वांगीण और विस्तृत अध्ययन क्यों नहीं किया गया? प्रस्तुत प्रबोध के लेखकों की सम्मति में इसके निम्नलिखित पाँच प्रमुख कारण हो सकते हैं—

क.—सूर-काव्य का बहुत समय तक कोई अच्छा संस्करण सुलभ नहीं रहा। लखनऊ और बम्बई में 'सूरसागर' और 'सारावली' के जो संस्करण प्रकाशित हुए थे वे भी अधिक समय तक सर्वसुलभ नहीं रहे।

ख.—सूर-काव्य के प्रामाणिक पाठ का अभाव आरम्भ से ही बना रहा। भाषा के अध्ययन का कार्य तभी प्रारम्भ होता है जब कवि-विशेष की रचनाओं का प्रामाणिक पाठ उपलब्ध हो। अतएव उक्त 'सूरसागरो' के प्रकाशित संस्करणों के समाप्त हो जाने के पश्चात् सूर-काव्य के समालोचक बहुत समय तक उनकी रचनाओं के प्रामाणिक पाठ की प्रतीक्षा में रहे।

ग.—डा० बाबूराम सक्सेना-कृत 'अवधी भाषा का विकास' नामक विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी ग्रंथ के प्रकाशित होने के पश्चात् भी व्रजभाषा का कोई बृहत् इतिहास सुलभ न था जो समालोचकों को सूर-काव्य की भाषा का विस्तृत अध्ययन करने की प्रेरणा देता। डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'ला लांग व्रज' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रंथ फ्रेंच भाषा में होने के कारण एक प्रकार से अप्राप्त ही रहा।

घ.—व्रजभाषा का कोई संपूर्ण व्याकरण भी सुलभ न था जो मूरदास की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन करने के लिए समालोचकों को प्रोत्साहित करता।

च.—सबसे प्रधान बात यह थी कि हिन्दी के अधिकांश समालोचकों की मनोवृत्ति प्रारम्भ से ही कवियों की भाव-व्यञ्जना-विषयक विशेषताओं का सोदाहरण परिचय देने की ओर जितनी रही, उतनी भाषा के सर्वांगीण विवेचन की ओर नहीं। यही कारण है कि किसी भी प्रतिष्ठित कवि की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। यही मनोवृत्ति मूरदास की भाषा के सागोपाग विवेचन में बाधक रही है।

१. डा० देवकी नन्दन श्रीवास्तव ने 'तुलसी की भाषा' पर प्रबोध लिखकर लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. उपाधि पायी है। यह प्रबोध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है—लेखक।

प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य और क्षेत्र—

महाकवि सूरदास की भाषा के विस्तृत और सर्वांगीण अध्ययन का जो कार्य हिन्दी में अभी तक नहीं हो सका है, उसकी पूर्ति का एक प्रयास करना प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य है । साहित्यिक या काव्य-भाषा-सम्बन्धी विवेचन के जितने पक्ष हो सकते हैं—यथा ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्याकरणिक, शास्त्रीय, व्यावहारिक और सांस्कृतिक—उन सभी को लेकर इस प्रकार के कार्य को संपन्न करने की आवश्यकता तो निर्विवाद है ही, परन्तु सूर-साहित्य का सर्वमान्य प्रामाणिक संस्करण मुलभ न होने के कारण लेखक का दायित्व बहुत बढ जाता है । 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' की प्राचीन प्रतियों की तो अभी खोज नहीं हुई है, 'सूरसागर' की छोटी-बड़ी हस्तलिखित प्रतियों की संख्या ही तीन दर्जन से ऊपर है जो विभिन्न विद्वानों के पास और अनेक साहित्यिक संस्थाओं तथा पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं । इनके पाठों को मिलाकर प्रामाणिक पाठ तक पहुँचना, एक व्यक्ति का नहीं, कई अध्येताओं की समिति का कार्य है । अतएव लखनऊ, बम्बई और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'सूरसागरो' का पाठ बहुत सामान्य दृष्टि से मिलाते हुए ही सूरदास की भाषा का यह अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१. व्रजभाषा-विकास और सूर का भाषा-ज्ञान

व्रज और व्रजभाषा---

हिंदी के व्रज शब्द का तत्सम रूप व्रज' है जा व्रज् (= जाना) धातु से बना है। मध्यदेश और उमकी भाषा का विग्रह अध्ययन करके डा० धीरेन्द्र वर्मा इस निष्कर्ष^१ पर पहुँचे हैं कि व्रज शब्द का पहली बार प्रयोग ऋग्वेद-महिता' में मिलता है^२, किन्तु यहाँ यह शब्द ढारा क चरागाह या बाड अथवा पशु-मूह के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ-कुछ इनमें मिलता जुलता अथ मस्कृत की एक प्राचीन उक्ति—व्रजति गावो यस्मिन्नित व्रज—का भी है जिसके अनुसार व्रज' उस स्थान का कहा गया है जहाँ नित्य गाएँ चरती या चरती हा^३। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, 'हरिवंश आदि पौराणिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग मथुरा के निकटस्थ नद के व्रज अर्थात् गाछ-विशेष के अर्थ में ही हुआ है^४। कालांतर में मथुरा का चतुर्दिक प्रदेश व्रज या व्रजमंडल के नाम से प्रसिद्ध हो गया जिसके अन्तर्गत बारह वन^५ और चौबीस

१. 'नाम-माहात्म्य' का 'श्रीव्रजाक', अगस्त १९४० में 'व्रजभाषा' शीर्षक लेख और 'व्रजभाषा-व्याकरण' की भूमिका, पृ० ९।

२. जैसे ऋग्वेद म० २, सू० ३८, म० ८, म० ५, सू० ३५, म० ४; म० १०, सू० ४, म० २ इत्यादि—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९।

३. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ५।

४. जैसे—तद् व्रजस्थानमधिकम् शुशुमे काननावृतम् (हरिवंश, विष्णुपर्व, अ० ९, श्लो० ३०) और कस्मान्मुकुदो भगवान् पितुर्गोहाद्व्रज गत (भागवत, स्क० १०, अ० १, श्लो० ९९)।

—'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९ की पादटिप्पणी स० २।

५. क व्रज के बारह वन—मधु, ताल, कुमुद, बहुला, काम, खदिर, बृन्दा, नद, माढौर, बेत, लोह और महावन।

—'मथुरा मेम्बायर', (घाडज), पृ० ८०-८१।

ख. 'सूरसागर-सारावली' में नौ वनों के नाम दिये गये हैं—

यहि बिधि क्रीडत गोकुल में हरि निज बृन्दावन धाम।

मधुवन और कुमुदवन सुंदर बहुलावन अभिराम।

नदग्राम सकेत खदिरवन और कामवन धाम।

लोहवन माठ बेतवन सुंदर नद बृहद गन ग्राम ॥

—'सारावली', छंद १०८८-८९, पृ० ९८।

उपवन^१ कहे गये है तथा जिसकी परिधि चौरासी कोस की मानी गयी है^२ । इनका विस्तृत विवरण डा० गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' नामक ग्रंथ में दिया है^३ ।

हिंदी-साहित्य में व्रज या व्रज शब्द सबसे पहले मथुरा के निकटवर्ती प्रदेश अर्थात् व्रज-मंडल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है^४ । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हिंदी भाषा और साहित्य के प्रथम दो विकास-कालों में यहाँ की भाषा को 'व्रजभाषा' सना नहीं दी गयी । परंतु इतना निश्चित है कि कम से कम मस्कृत से, जन-भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए, किसी न किसी शब्द का प्रयोग अवश्य किया जाता होगा और वह शब्द है 'भाषा' । हिंदी के प्राचीन कवियों ने जब-जब भाषा-विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग किया, तब-तब उनका आशय जन-साधारण में प्रचलित उस बोली या विभाषा में रहा जो साहित्यिक भाषा की विशेषताओं से युक्त हो चुकी थी, जिसमें साहित्य-रचना भी होती थी और जो मस्कृत से भिन्न थी^५ । अतएव दसवीं शताब्दी से लेकर आज तक

१. व्रज के चौबीस उपवन — गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नंदगाँव, संकेत, परममंद, अरौंग, शेषशायी, माट, जंजागाँव, खेलवन, श्रीकुंड, गधर्ववन, परसीली, बिलछू, बखवन, आदिबद्री, करहला, अजनोख, पिसापोवन, कोकिलावन, दधिबन, कोटवन, और रायलवन ।
— 'मथुरा मेम्वायर', (प्राइज), पृ० ८०-८१ ।

२. व्रजमंडल के विस्तार के संबंध में ये दो कथन विशेष प्रसिद्ध हैं—

क. इत बरहद इत सोननद, उत सूरसेन को गाँव ।

व्रज चौरासी कोस में मथुरा मंडल माँह ॥

ख. पूर्व हास्यवन नोय पश्चिमस्योपहारिक ।

दक्षिणे जल्लुसंज्ञाक भुवनाख्यं तथोत्तरे ।

३. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ७ ।

४. क. सो एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु अडेल ते व्रज को पाव धारे ।

— 'चौरासी वैष्णव की वार्ता', पृ० १७२ ।

ख. एक समय गोविंददास अंतरी ग्राम से व्रज को आये ।

— '२५२ वैष्णव की वार्ता', पृ० १ ।

५. डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रसंग में लिखा है— 'बहुत समय तक वैदिक संस्कृत से भेद करने के लिए लौकिक संस्कृत 'भाषा' कहलाती थी । बाद की लौकिक संस्कृत से भेद करने के लिए प्राकृत तथा अपभ्रंश और फिर प्राकृत तथा अपभ्रंश से भेद दिखलाने के लिए आधुनिक आर्यभाषाएँ 'भाषा' नाम से पुकारी गयीं । 'भाषा' शब्द वास्तव में समकालीन बोली जानेवाली भाषा के अर्थ में बराबर प्रयुक्त हुआ है— 'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० १० और ११, पादटिप्पणी २ । मेरी सम्मति में हिंदी की उत्पत्ति और उसके विकास पर प्रकाश डालते समय आधुनिक विद्वानों ने मले ही 'भाषा' शब्द का प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश से भेद दिखाने के लिए किया हो, परंतु कबीर, तुलसी, केशव आदि का 'भाषा' शब्द से आशय केवल संस्कृत से ही उसका अंतर सूचित करना रहा होगा, प्राकृत और अपभ्रंश से नहीं—लेखक ।

जिस स्थान और जिस समय में जो भाषा जन-साधारण में प्रचलित रही, उसी के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया । गोस्वामी तुलसीदास जब 'का भाषा का सस्कृत'^१ कहते हैं, तब उनका आशय सामान्य जन-भाषा से है, परंतु 'रामचरितमानस', के संबंध में 'भाषा भनिति भोरि मति भोरी'^२ कहते समय 'भाषा' में उनका तात्पर्य अवधी से है, यद्यपि उनके अनेक ग्रंथ ब्रजभाषा में भी हैं । इसी प्रकार नंददास 'ताही ते यह क्या जयामति भाषा कीनी'^३ और केशवदास के—

उपज्यो तेहि कुल मदमति मठ कवि केशवदास ।
रामवद्र को चद्रिका भाषा करी प्रकाश ॥^४

+ + + +

भाषा बालि न जानही जिनके कुल के दास ।
भाषा कवि भो मदमति तेहि कुल केशवदास ॥^५

कथनों में 'भाषा' शब्द में आशय ब्रजभाषा से है । इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के सस्कृतज्ञ पंडित जब आधुनिक हिंदी को 'भाषा' कहते हैं, तब वे इसके द्वारा खड़ीबोली-रूप की ओर ही संकेत करते हैं ।

ब्रज-मंडल या प्रदेश की साहित्यिक भाषा के अर्थ में 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग कदाचित् सबसे पहले भिखारीदास (कविता-काल सन् १७२५ से १७५०) कृत 'काव्य-निर्णय' में हुआ है—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ ।
मिलै सस्कृत पारसीहू, पै अति प्रगट जु होइ ॥^६

इसी के साथ-साथ अपने उक्त ग्रंथ में भिखारीदास ने अवधी के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग किया गया है—

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि ।
सहज पारसीहू मिलै, पट विधि कवित बखानि ॥

इन दोनों अवतरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि ब्रजभाषा के संबंध में उन्होंने एक बात और भी लक्ष्य की थी । वह यह कि ब्रजभाषा, कम से कम उनके समय में, अपने शुद्ध रूप में प्रचलित नहीं थी और उसमें अनेक भाषाओं के शब्द मिल गये थे जिन्हें

१. 'दोहाबली', दोहा ५७२ ।
२. 'रामचरितमानस', 'बालकांड', दोहा ९ ।
३. 'रासपंचाध्यायी', अ. १, पृ० ४० ।
४. 'रामचद्रिका', पहला 'प्रकाश', दोहा ५ ।
५. 'कविप्रिया', पृ० २१, छं० ७ ।
६. 'भिखारीदास', 'काव्य-निर्णय', पृ० ६ ।
७. भिखारीदास, 'काव्य-निर्णय', पृ० ६ ।

उत्तरे आत्मसात् कर लिया था। भिवारीदास के पञ्चान् व्रज-प्रदेश की बोली का यह नामकरण साहित्य-जगत् में स्वीकृत हो गया और आज उसका यह नाम उत्तरी भारत में सर्वत्र व्यवहृत होता है।

व्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार—

मथुरा नगर एक प्रकार से व्रजमण्डल का केन्द्र स्थान है। इसके आसपास का भू-भाग प्राचीनकाल से श्रीकृष्ण के पितामह शूरसेन के नाम पर 'शूरसेन प्रदेश' कहलाता रहा है। इतिहासकारों के अनुसार, मथुरा नगरी इस प्रदेश की राजधानी थी^१। पातली घाताब्दी तक इस प्रदेश का विस्तार बहुत बढ़ गया था और पश्चिम में सिंधु नदी तथा दक्षिण में नरवर और निवपुरी तक इसकी सीमाएँ पहुँच गयी थी। उस समय भरतपुर, बरोली, धौलपुर, ग्वालियर आदि भी इसी के अंतर्गत थे^२। मिर्जापुरी के 'तुहफतुल हिंद' नामक व्रजभाषा व्याकरण में ग्वालियर के अतिरिक्त चंदवार^३ भी व्रजभाषी प्रदेश में ही माना गया है^४।

डा० दीनदयालु गुप्त ने धार्मिक दृष्टि से आधुनिक व्रजमण्डल की सीमाओं के संबंध में विचार करके, वनमात ज्ञात स्थानों और वनों के आधार पर, उसकी रूपरेखा इस प्रकार दी है—'उत्तर में गुड़गांव जिले की हद पर स्थित भुवनेश्वर और कोटवन, पश्चिम में भरतपुर राज्य के कामवन और चरण पहाड़ी, पूर्व में अलीगढ़ के बरहद और हास्यवन (वर्तमान हसाइन) तथा दक्षिण की हद आगरे के निकट तक'^५। इसी प्रसंग में उनका कथन है कि यदि मथुरा को केन्द्र मानकर उक्त स्थानों को स्पर्श करता हुआ एक गोला खींचा जाय तो व्रज की प्रसिद्ध चौरासी कोस की यात्रा की परिधि का मंडल बनता है और उसके अंतर्गत व्रज के सभी मुख्य स्थान आ जाते हैं^६। उक्त मंडल के अंतर्गत डॉक्टर गुप्त द्वारा जो स्थान लाये गये हैं, उनको भाषा या बोली की दृष्टि से नहीं; प्रत्युत श्रीकृष्ण की सगुण लीलाओं का ध्यान में रखकर और प्रसिद्ध तीर्थ या धाम के रूप में प्रख्यात मान कर, यात्रा की सुविधा के उद्देश्य से, एक मंडलाकार परिधि द्वारा संबंधित कर दिया गया है जिसका महत्त्व धार्मिक अधिक है। साधारणतया इस मंडल

१. श्री नंदलाल डे-कृत 'श्री ज्योग्रेफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्डेंट एंड मेडियल इंडिया' सन् १८९९—'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' में उद्धृत, पृ० ३।

२. 'हिंदी की प्रादेशिक भाषाएँ', सन् १९४९, पृ० २७।

३. चंदवार, छंश्वार या जनवार जिला आगरे से पचीस मील पूर्व मथुरा से इटावा के मार्ग पर जमुना नदी के किनारे है जिसमें अधिकांशतः चौहानों की वस्ती है।

—'आइने अकबरी', जैरेट, पृ १८३।

४. श्री जिजाउद्दीन, 'ए ग्रैमर ऑफ व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ७।

५. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

६. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

में अठवेंती प्रदेश में तो ब्रजभाषा बोली हो जाती है, उसका क्षेत्र-विस्तार इस परिधि के बाहर भी है। वस्तुतः ब्रजभाषा का विगुद्ध रूप मधुरा, भगना, एटा, जलौगढ़, पीलपुर आदि स्थानों में पाया जाता है।

ब्रजमंडल के चारों ओर अर्थात् गंगा-यमुना के मध्यवर्ती^१ और यमुना के दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेश में बोली जानेवाली भाषा भी ब्रज की बोली ही है यद्यपि म्यान के व्यवधान के फलस्वरूप उनपर थोड़ा-बहुत अन्य भाषाओं का प्रभाव भी पड़ने लगता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार गुडगांव भगतपुर करौली तथा ग्याल्दिर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी तथा बदेनी की कुछ-कुछ झलक आने लगती है। बुन्दगढ़, बदायूं और नैनीताल की तराई में खड़ीबोली का प्रभाव शुरू हो जाता है तथा एटा, मैनपुरी और बरेली जिलों में कुछ कन्नौजीपन आने लगता है। वास्तव में पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कन्नौजी की अपक्षा ब्रजभाषा के अधिक निकट है^२। वस्तुतः ब्रजभाषा ने अपने क्षेत्र की व्यापक बनाने के लिए निवृट्टवर्ती सभी प्रमुख बोलियों और विभाषाओं की उन मुरद-भुरद विशेषताओं को अपना लिया जो उनको अधिक सौष्ठव अथवा काव्यभाषोक्ति गुण प्रदान करने में सहायक हो सकती थीं। साहित्यिक भाषा के लिए इन प्रकार की ग्रहण-शीलता अनिवार्य होती है इसी में उनमें जीवन-शक्ति बढ़ती है और तभी वह जीवित भाषा कहलाने की अधिकारिणी बनती है। परन्तु इसका एक परिणाम यह भी होता है कि विगुद्ध बोली में उनका मरध क्रमशः कम होता जाता है। ब्रजमंडल की विगुद्ध बोली और साहित्यिक ब्रजभाषा में विभिन्न प्रकार अंतर होना आरम्भ हुआ, यह बात सूरदास के समय में ही स्पष्ट होने लगती है। ब्रजभाषा-भाषी होने और जीवन भर उसी क्षेत्र में रहकर रचना करने के कारण सूरदास ने उनके प्रवृत्त स्वरूप की रक्षा अवश्य की, फिर भी उनकी भाषा सर्वत्र ठेठ बोली की विगुद्धता से मुक्त नहीं है। और उनके परवर्ती कवियों ने तो विभिन्न स्थानगत विशेषताओं का उनमें समावेश करके ब्रजभाषा की व्यञ्जना-शक्ति बढ़ाने का जो प्रयत्न सोलहवीं शताब्दी ने आरम्भ किया, उनकी निरंतरता का क्रम लगभग तीन सौ वर्ष तक अनवरत गति में चलता रहा। इसी कारण वह सूरदास की भाषा से, आगे चलकर, बहुत सी बातों में भिन्न हो गयी। फिर भी साहित्यिक ब्रजभाषा का मूलधार ब्रजप्रदेश की सामान्य बोली ही रही और अन्य विभाषाओं तथा भाषाओं की विशेषताओं का समावेश उनमें इतनी सहज गति में किया गया कि सामान्य पाठक को प्रथम और अंतिम विज्ञान-कालों के भाषा-रूपों में अदृष्टापन नहीं जान पड़ता।

ब्रजभाषा में केवल ब्रजप्रदेशीय कवियों ने ही रचनाएँ की हो, सो बात भी नहीं है। सूरदास और उनके समकालीन कुछ कवि अद्वय ब्रजभाषी थे, धीरे-धीरे

१. मिर्जाखा के 'तुहफतुल हिंद' नामक व्याकरण में भी गंगा-यमुना के बीच के प्रदेश को 'ब्रजभाषा-प्रांत' कहा गया है। देखिए—हम्किदा, विश्वभारती संस्करण, १ सन् १९३५, पृ० ७।

२. 'हिंदी भाषा का इतिहास', भूमिशा, पृ० ६५।

समीपवर्ती प्रदेशों के साथ-साथ व्रजभाषा में रचना करनेवाले दूरस्थ क्षेत्रीय कवियों की संख्या भी बढ़ने लगी। इनमें से अधिकांश कवियों ने व्रजभूमि में रहकर नहीं, उनके साहित्यिक रूप का अध्ययन करके ही व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त किया था और तदनंतर वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे। उनकी इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ही सन् १७४६ में भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' में लिखा था कि व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्रज-वास की आवश्यकता नहीं है, केवल उसके कवियों की वाणी का विधिवत् अध्ययन कर लेने से ही काम चल सकता है—

व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानो,
ऐसे - ऐसे कविन्ह की बानीहूँ से जानिए।

बात यह थी कि व्रजभाषा का प्रचार उस समय तक पूर्व बिहार में पश्चिम में उदयपुर तक और उत्तर में कमायूं-गढ़वाल से दक्षिण में महाराष्ट्र तक हो गया था। इस विस्तृत भू-भाग में अनेक बोलियाँ, विभाषाएँ और प्रांतीय भाषाएँ थी, परन्तु पाठकों के बहुत व्यापक समुदाय से आदर पाने का लोभ नत्कालीन कवियों को व्रजभाषा में ही रचना करने को प्रवृत्त करता था। जो कवि व्रजप्रदेश के आदिवासी नहीं थे, उनकी मातृभाषा निश्चय ही भिन्न थी। कन्नौजी, बुन्देली आदि बोलनेवाले तो मातृभाषा को व्रजभाषा से किसी सीमा तक मिलता-जुलता मान भी सकते थे, परन्तु दिल्ली, गढ़वाल, बनारस, रीवाँ, उदयपुर, गुजरात आदि स्थानों में और उनके समीपवर्ती प्रदेशों में बसनेवाले कवियों की मातृभाषा और व्रजभाषा में पर्याप्त अंतर था। फिर भी व्रजभाषा में सफलतापूर्वक रचना करके इन्होंने सिद्ध कर दिया कि उनके समय तक यह उत्तरी भारत की सबसे व्यापक काव्यभाषा थी और इसकी पुष्टि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है।

व्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग—

किसी भाषा का निर्माण दो-चार वर्षों में नहीं होता, सामान्य बोल-चाल की विभाषा से साहित्यिक भाषा बनने में दो-तीन शताब्दियाँ तक लग जाती हैं। इस व्यवधान में जो रचनाएँ होती हैं, प्रायः उनकी भाषा में दोनों रूपों का मिश्रण रहता है। आरम्भ में पूर्व प्रचलित साहित्यिक भाषा के साथ-साथ विकासोन्मुख नवभाषा के थोड़े प्रयोग ही

१. भिखारीदास के छंद की प्रारंभिक पंक्तियाँ ये हैं—

सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामनि, सतिराम, भूपन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए।
आलम, रहोम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति गए, कहीं लौं बखानिए।

—'काव्य-निर्णय', पृ० ६।

मिलते हैं, परन्तु धीरे-धीरे इनकी तरंग बढ़ती जाती है और उन में अनुराग का क्रम बदल कर नवीन भाषा, काव्य या साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। व्रजभाषा के विकास का क्रम भी यही है। परन्तु इन विषय में प्रामाणिक रूप में दिक्कार करने के नाथन आज इस कारण उपलब्ध नहीं हैं कि अपभ्रंश साहित्य की ओर हमारे विद्वानों का ध्यान पिछले पचीस-तीस वर्षों में ही गया है और अभी तक उसके इने-गिने ग्रंथों का ही प्रकाशन सम्भव हो सका है। भारत की नयी आधुनिक भाषाएँ जब अपभ्रंश से ही विकसित हुई हैं तब इनके प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित हो जाने पर ही हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और उसके व्रजभाषा आदि रूपों के विकास के नबध से नयी बातों का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा^१।

अपभ्रंश साहित्य में हिन्दी भाषा के प्राचीन रूप किस अंग तक मिलते हैं, यह खिलाने का सर्वप्रथम प्रयास कदाचित् स्वर्गीय पं० श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने किया था और उन्होंने 'पुरानी हिन्दी शीर्षक एक लेखनाला भी प्रकाशित की थी^२। इनके लिए उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के ग्रंथों से ऐसे उदाहरण सङ्कलित किये थे जिनमें हिन्दी-रूपों के बीज विद्यमान हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है 'इस पुरानी हिन्दी (१२वीं से १४वीं शताब्दी) में, प्राकृत तथा अपभ्रंशपन की मात्रा पर्याप्त है। इनके अनिरुद्ध आधुनिकता का जो थोड़ा पुट इस भाषा में मिलता है वह राजस्थानी-गुजराती भाषाओं के प्राचीन रूप की ओर संकेत करता है जैसे 'न' अविष्य का प्रयोग, मूर्द्धन्य वर्णों के प्रयोग की ओर लुकाव आदि। व्रजभाषा अथवा वास्तविक हिन्दी का प्राचीन रूप हमें करोड़-करोड़ बिलकुल भी नहीं मिलता'^३। वस्तुतः उन उदाहरणों में व्रजभाषा के दो-चार प्रयोग ही यत्र-तत्र दिखायी देते हैं और वे भी अपने शुद्ध रूप में नहीं, केवल ऐसे रूप में जो इस बात के द्योतक हैं कि उन शब्दों की प्रकृति अपभ्रंशत्व की छाँटकर व्रजभाषात्व को अपनाने की ओर झुक रही है। दो-एक उदाहरण यहाँ कथन की पुष्टि में उद्धृत हैं^४—

अ अम्मणिओ संद्रेमडओ तारय वन्ह कहिज्ज ।

जग दालिहिह डुब्बिउँ बलिबधणह मुहिज्ज^५ ॥

आ जेह आमावरि देहा दिन्दउ । सुत्थिर डाहरज्जा लिन्दउ^६ ।

१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'श्री महावीर स्मृति ग्रंथ' में प्रकाशित जैन विद्या-संबंधी लेख', शीर्षक निबंध, पृ० १७३।

२. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेखनाला, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २।

३. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० २९।

४. पं० रामचंद्र शुक्ल के 'बुद्ध-चरित' में उद्धृत, पृ० २-३।

५. भावार्थ—'हमारा सदेमा नारक (तारनेवाने) की कहता। जग दारिद्र्य में डूबा है, बलि के बंधन छोड़ दोजिए।

६. भावार्थ—'जिसने आमावरि देहा दिया, सुत्थिर डाहर राज्य लिया।

इ. जब यह रावण जाइयउ दहसुह इक्कु सरीर^१ ।

ई. झाली तुट्टी कि न मुउ कि न हुयउ छार पुज ।

हिंडइ दोरी बंवीयउ जिम मक्कड निम मुज^२ ।

ये उद्धरण सन् ११८४ में श्री सोमप्रभाचार्य-कृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध' और सन् १३०४ में जैनाचार्य मेहनुग-कृत 'प्रबोध-चिन्तामणि' नामक ग्रंथों के हैं। इनमें प्रयुक्त सँदेसडओ (सँदेसडो), डुब्बिड (डूब्यो), दिन्हउ (दीन्हो), लिन्हउ (लान्हो), जाइयउ (जायो), हुयउ (हुआ), बंवीअउ (बँध्यो) आदि रूप इस बात के द्योतक हैं कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में ही प्राचीन ढंग की कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगा था, जो व्रजभाषा के, किसी सीमा तक, आदि रूप माने जा सकते हैं। धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ती हो गयी। क्योंकि बोलचाल के सामान्य व्यवहार में तो इनका प्रयोग होता ही होगा, मौखिक गीत-परंपरा में भी इनकी प्रधानता रही होगी। अस्तु ।

हिंदी साहित्य का आरंभ सिद्धों और योगियों^३ तथा जैनाचार्यों की रचनाओं से होता है। इन वर्गों की नवीं-दसवीं शताब्दियों में लिखी गयी रचनाओं की भाषा जैसे इस बात की द्योतक है कि अपभ्रंश नाम से प्रचलित साहित्यिक भाषा में तो रचना होती ही थी; साथ-साथ जनसाधारण की तत्कालीन बोली भी व्यजना-शक्ति का अर्जन करके साहित्य-रचना के योग्य बनने में लगी हुई थी। सिद्धों की भाषा को 'संघ्या भाषा' कहा गया है जिसका सकेत है कि जिस भाषा में उनकी रचनाएँ हैं वह मध्याह्न और अपराह्न का विकास-काल देखने के पश्चात् अब अवस्था के संघ्या काल में पहुँच चुकी है। बिहार प्रदेश में बहुत काल तक रहने के कारण जिस प्रकार सिद्धों की भाषा में अर्द्धमागधी अपभ्रंश में विकसित मगही के कुछ शब्द अधिक मिलते हैं, वैसे ही गुजरात प्रांत से संबंधित होने के कारण अधिकांश जैनाचार्यों की भाषा में नागर अपभ्रंश से विकसित हुई तत्कालीन प्रांतीय भाषा का आदिकालीन रूप स्पष्ट दिखायी देता है, तथापि सामूहिक रूप से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के लेखकों और कवियों की भाषा एक प्रकार से वही थी जिसका प्रचार पश्चिम में गुजरात और

१. भावार्थ—जब यह दसमुंह और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ ।

२. भावार्थ—टूट पड़ी हुई आग से क्यों न भरा, छार पुंज क्यों न हो गया जैसे डोरी में चेंपा चंदर, वैसे घूमता है मंजु ।

३. सिद्धों और योगियों के साहित्य की ओर हिंदी-जगत का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने का श्रेय डा० पीतांबर दत्त बड़श्याल [क.नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९३०, भाग ११, अंक ४, में प्रकाशित, 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक लेख । ख. सन् १९४२ में प्रकाशित 'गीरत्वबानी' नामक ग्रंथ] और श्री राहुल सांकृत्यायन [क. 'पुरातत्त्व निबंधावली', सन् १९३७ और ख 'हिंदी काव्यधारा', सन् १९४५] को है—लेखक ।

राजस्थान में लेकर पूर्व में बिहार तक था। ब्रजभाषा अपने स्वतंत्र रूप में इस समय तक इतनी विकसित नहीं हो सकी थी कि उनमें काव्य-रचना की जा सकती। यह दूसरी बात है कि ब्रजदेश में मौखिक पद और गीत उनमें गाये जाते रहे हों, परन्तु एक तो उनका कोई उदाहरण आज उपलब्ध नहीं है और दूसरे, उनका स्वरूप भी प्राचीन प्रभाव में युक्त रहा होगा जिनके प्रमाण निटो, योगिनी और जैनाचार्यों की रचनाओं में यत्र-तत्र मिलते हैं।

सुर के पूर्ववर्ती कवि और ब्रजभाषा—

‘वीरगाथाकाल’ में राजस्थान दिल्ली कलौज और महोबा साहित्य-रचना के प्रमुख केंद्र थे। साहित्यकारों में एक वर्ग चारणों का था और दूसरे में अन्य सभी कवियों का सम्मेलन चाहिए जा केवल पुरस्कार-प्राप्ति के लिए साहित्य या काव्य-रचना नहीं करते थे। प्रथम वर्ग के कवियों अर्थात् चारणों का साहित्य ‘डिगल भाषा’^१ में है जो राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी जिसमें पूर्व प्रचलित अवभ्रश का भी मेल था और जो तत्कालीन वातावरण के अनुरूप वीररस की रचनाओं के लिए उपयुक्त समझी जाती थी। वीरगाथाकाल की अधिकांश महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी भाषा में मिलती हैं। नरपति नाल्ह-कृत ‘वीरसतदेव रासो’^२ ‘चंद्रवरदायी-कृत ‘पृथ्वीराज रासो’, जगतिक-कृत ‘आल्हाखंड’ आदि जो काव्य इस युग में रचे गये, उनमें ब्रजभाषा के इतने अधिक शब्द-रूप मिलते हैं कि उनकी भाषा को इतिहासज्ञों में बहुत बाद की माना है। ‘वीरसतदेव रासो’ के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है^३।

१. डिगल भाषा के सम्बन्ध में मुंशी देवी प्रसाद का यह कथन है — मारवाड़ी भाषा में ‘गल्ल’ का अर्थ बात या बोली है। ‘डोण’ लम्बे और ऊँचे को और ‘पांगला’ पगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मंद स्वरों में पढ़ी जाती है। इसीलिए डिगल और पिगल सजा हो गयी जिसको दूसरे शब्दों में ऊँचो-नीचो बोली की कविता कह सकते हैं—‘चांद’, नवम्बर १९२९ में प्रकाशित ‘नाट और चारणों का हिंदी भाषा सम्बन्धी काम’ शीर्षक लेख, पृ. २०५।
२. श्री नरोत्तम स्वामी के अनुसार इस ग्रंथ का ठीक नाम ‘वीरसतदे-रास’ है। देखिए—‘वीरसतदे-रास’ शीर्षक उनके लेख, ‘कल्पना’, सितम्बर १९५३, पृ. ७०७।
३. लाला सीताराम और श्री नरोत्तम स्वामी (त्रैमासिक ‘आलोचना’ वर्ष २, अंक २ जनवरी १९५३ में प्रकाशित ‘राजस्थानी भाषा और साहित्य’ शीर्षक लेख, पृ. ११०) स० १२७२ (सन् १२१५); मिश्रब्रह्म स. १२२०, सत्यजीवन वर्मा, इंदराम-सुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल स. १२१२; गजराज ओझा (नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक १, पृ. ९९) और डा० रामकुमार वर्मा (‘आलोचनात्मक इतिहास’, पृ. २१०) स० १०७३, ‘वीरसतदेव रासो’ का रचनाकाल मानते हैं। श्रीअगरचन्द नाहटा ने इसे तेरहवीं शताब्दी की रचना कहा है (‘राजस्थानी’, भाग

श्रीमदयजीवन वर्मा ने जिस प्रति के आधार पर इसका संपादन किया था, वह संवत् १९५९ की थी^१; परन्तु इसकी सबसे प्राचीन प्रति संवत् १६६९ की लिखी मिलती है^२। श्री नरोत्तमस्वामी ने इस काव्य की संवत् १६३३ की एक प्रति फूलचंद झावक संग्रह (कलीधी) में होने का उल्लेख किया है^३। इस ग्रंथ की भाषा को श्री मदन-जीवन वर्मा ने खड़ीबोली की नानी-दादी कहा है, क्योंकि इसमें उन्हें खड़ीबोली की प्रमुख विशेषताएँ मिलती हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने इस काव्य में कहीं-कहीं पर ब्रजभाषा और खड़ीबोली को मिलाने का प्रयत्न किया जाना लिखा है^४। उनका यह कथन इस दृष्टि से ही ठीक माना जा सकता है कि गेय होने के कारण इस काव्य की भाषा में बराबर परिवर्तन होता गया। वस्तुतः इस ग्रंथ की भाषा राजस्थानी है और प्रारंभिक प्रतियों में इसका प्राचीन रूप सुरक्षित है।

‘पृथ्वीराजरसो’ के रचनाकाल के संबंध में भी इसी प्रकार विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस ग्रंथ की प्राचीनतम प्रति संवत् १६४२ की लिखी मिलती है^५। प्रो० रमाकांत त्रिपाठी ने चंदबरदायी के वंशधर नानूराम के पास संवत् १४५५ की लिखी एक प्रति होने की बात आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व कही थी^६। परन्तु वह प्रति न अभी तक प्रकाश में आयी है और न उसकी परीक्षा ही की जा सकी है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने ‘रासो’ की नौ प्राचीन प्रतियों के देखने का उल्लेख किया है,^७ परन्तु उनमें केवल एक संवत् १७६० की है, शेष का लिपिकाल या तो अज्ञात है या इसके बाद का है। ‘रासो’ की कुछ अन्य प्रतियों का उल्लेख श्रीनरोत्तम-

३, अंक ३, पृ. २२)। श्री गौरी शंकर होराचंद ओझा ने बीसलदेव का समय संवत् १०३० से १०५६ माना है (हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृ. ३५८); परन्तु ‘बीसलदेव रासो’ की रचना वे हम्मीरदेव के समय में होना मानते हैं (‘राज-पूताने का इतिहास’, सूमिका, पृ. १९)। यदि इस काव्य में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रियाओं के आधार पर नरपति नाल्ह को बीसलदेव का समकालीन स्वीकार कर लिया जाय तो संवत् १०७३ तिथि ही किसी सीमा तक ठीक हो सकती है—लेखक।

१. ‘बीसलदेव रासो’ का नागरी-प्रचारिणी सभा से संवत् १९८१ में प्रकाशित संस्करण।
२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ‘ब्रजभाषा-व्याकरण’, पृ. २७।
३. मासिक ‘कल्पना’, सितम्बर १९५३ में प्रकाशित ‘बीसलदे-रास’ शीर्षक उनका लेख, पृ. ७०९।
४. ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’, पृ. ४४।
५. डा. धीरेन्द्र वर्मा, ‘ब्रजभाषा-व्याकरण’, पृ. २७।
६. ‘चंद’ के ‘मारवाड़ी अंक’, वर्ष ८, खंड १, नवम्बर १९२९ में प्रकाशित उनका ‘महाकवि चंद के वंशधर शीर्षक लेख’, पृ. १४९।
७. श्री मोतीलाल मेनारिया द्वारा संपादित ‘राजस्थान में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज’, प्रथम भाग, पृ. ५५-७०।

स्वामी ने बृहत्, मध्यम, लघु और लघुतम रूपांतर के नाम से किया है; उनमें भी सबसे प्राचीन प्रति सवत् १७२३ की हो ! है^१ । श्री उदय सिंह भटनागर ने भी इस महाकाव्य की चारप्रतियों के मिलने की बात लिखी है जिनमें से एक अपूर्ण प्रति का लिपिकाल अनुमान के आधार पर उन्होंने सवत् १४०० माना है, दूसरी सवत् १७६१ की लिखी हुई है और शेष दोनों इसके बाद की हैं^२ । इनमें से प्रथम अपूर्ण प्रति महत्व की जान पड़ती है, परन्तु सुलभ न होने के कारण उसके सवध में कुछ कहना अभी कठिन है । 'रासो' में दिये हुए विवरण और उसकी भाषा आदि देखकर श्री गोरीशकर हीराचंद ओझा इसका रचनाकाल सवत् १५१७ और १७७७ के बीच में मानते हैं^३ । अन्य विद्वानों में से अधिकांश ने ओझा जी के मत का ही समर्थन किया है । परन्तु मिश्रबधु और बाबू श्यामसुंदरदास का मत इनसे भिन्न है और उनका कहना है कि इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में प्रक्षिप्त अस वित्तना भी हो, है यह अवश्य प्रामाणिक ग्रंथ । जो हो, इतना निश्चित है कि 'रासो' की वर्तमान प्राप्त प्रतियों में व्रजभाषा शब्दों की ही अधिकता है^४ ।

जगन्नि-कृत 'आल्हाखंड' के सवध में प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं कि इसका जो संस्करण आज प्राप्त है, वह बहुत बाद का, लगभग विलकुल आधुनिक ही, है और इसके आधार पर उसके मूल रूप के सवध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

यह सब होने पर भी इस युग के ग्रंथों की प्राप्त प्रतियाँ देखकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि राजस्थानी के साहित्यिक रूप डिगल में काव्य-रचना करनेवाले कवि भी व्रजभाषा के प्राचीन रूप में परिचित अवश्य थे और कभी कभी उसके शब्द और प्रयोग अपनाने में सकोच नहीं करते थे । 'डिगल' की ध्वनि पर उत्तरप्रदेशीय तत्कालीन काव्यभाषा—प्रारंभिक व्रजभाषा—का 'पिंगल'^५ नामकरण भी राजपूताने में ही इसी युग में हुआ और यह भी उक्त कथन की पुष्टि करता है । राजस्थान के चारणेश्वर साहित्यिक प्रायः पिंगल में काव्य-रचना भी करते थे ।

इस समय की व्रजभाषा के प्रारंभिक उदाहरण अमीर खुसरो (मन् १०५३—१३२४) की कुछ रचनाओं के रूप में ही आज उपलब्ध है^६ जिन्हें देखकर

१. 'राजस्थान-भारती', भाग १, अंक १, अप्रैल १९४६ ।

२. 'राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की सूची',—तृतीय भाग, पृ. ९०—१०१ ।

३. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १० में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक लेख, पृ. ६२ ।

४. जर्नल आव दि बेंगल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १८७३ में प्रकाशित वीम्म का 'रासो की भाषा' सम्बन्धी लेख, भाग १, पृ. १६५ ।

५. 'पिंगल दि नेम गिवेन इन राजपूताना टु दि व्रजभाषा डायलेक्ट आव वेस्टर्न हिंदी'—श्री एफ. ई. के.—'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर', पृ. ३ ।

६. श्री वजरत्न दास का 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक लेख, 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अंक ३ ।

डा० कादरी जैसे विद्वानों ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि इनकी जवान ब्रजभाषा से मिलती-जुलती है^१। डा० रामकुमार वर्मा ने खुसरो के गीतों - दोहों की भाषा में शब्द ब्रजभाषा के माने हैं तथा क्रिया और कारकचिह्न खड़ीबोली के। इसी कारण वे उसे ब्रजभाषा न कहकर खड़ीबोली मानना ही अधिक समीचीन समझते हैं^२। डा० धीरेंद्र वर्मा का भी मत है कि एक तो खुसरो की रचनाएँ जिस रूप में आज मिलती हैं, वह बहुत आधुनिक हैं, पुराना नहीं, और दूसरे, उनकी अधिकांश रचनाएँ ब्रजभाषा में न होकर खड़ीबोली में हैं^३। इन दोनों बातों से संभवतः सभी विद्वान सहमत होंगे। दिल्ली के ग्यारह बादशाहों का उत्थान-पतन देखनेवाले इस कवि के लिए दिल्ली-मेरठ की जन-भाषा में रचना करना तो स्वाभाविक भी था; परंतु ब्रजभाषा से वह सर्वथा अपरिचित रहा हो, सो बात भी नहीं हो सकती। अरबी, फारसी और हिंदी में कोश-रचना करनेवाला ब्रजभाषा के, साहित्यिक न मही, सामान्य प्रचलित रूप से भी अपरिचित रहा हो, यह बात जरा अटपटी जान पड़ती है। अतएव, इन पक्तियों के लेखक की सम्मति में, खुसरो की हिंदी - रचनाओं को स्थूल रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है—उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ और दोसखुने दिल्ली-मेरठ की खड़ीबोली में हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते हैं तथा दोहों और पदों की भाषा मिश्रित ब्रजभाषा है, यद्यपि शुक्ल जी ने इसे 'बिलकुल ब्रजभाषा अर्थात् मुख-प्रचलित काव्यभाषा' कहा है^४। इस दूसरे रूप को शुद्ध ब्रजभाषा भले ही न कहा जाय, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसमें खड़ीबोली के खडेपन को कम करने के लिए ही ब्रजभाषा के मधुर शब्दों और प्रयोगों को निसकोच अपनाया गया है।

ऊपर अपभ्रंश रचनाओं के जो उद्धरण दिये गये हैं, उनमें भी ब्रजभाषा-रूपों के बीज विद्यमान हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन साहित्यकारों का परिचय इस विकासोन्मुख जन-भाषा से अवश्य था। यह भाषा यद्यपि, 'उनकी दृष्टि में, रचना के योग्य नहीं बन पायी थी, तथापि मौखिक गीतों और सामान्य सूक्तियों की रचना के लिए उसका प्रयोग अवश्य किया जाता होगा। यही कारण है कि खुसरो ने भी अपनी तत्संबंधी रचनाएँ मिश्रित ब्रजभाषा में की। उनके लगभग डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् की ब्रजभाषा-रचनाओं के नमूने भी आज प्राप्त नहीं हैं^५। परन्तु सोलहवीं

१. डा. सैयद महीउद्दीन कादरी, 'उर्दू शहपारे', जिल्द अख्स, मकतबए इब्राहीमिया, हैदराबाद, दारन), पृ. १०।

२. 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० १८०-८१।

३. 'ब्रजभाषा-व्याकरण', पृ. २९।

४. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. ६९।

५. गोरखनाथ और विद्यापति की जो रचनाएँ आज प्राप्त हैं उनमें ब्रजभाषा के दो-चार प्रयोग भले ही मिलते हों; परन्तु यह सर्वमान्य है कि इन दोनों की रचनाएँ किसी भी रूप में ब्रजभाषा की नहीं हैं—लेखक।

शताब्दी की जो ब्रजभाषा-कविता आज मिलती है उसके आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस व्यवधान-काल में यह नवदिव्यमणि भाषा अपनी नींव दृढ़ करके लोकप्रिय हो गयी और क्षेत्र की व्यापकता के साथ साथ उसकी व्यञ्जना-शक्ति भी बढ़ती गयी। ब्रजभाषा में इन नव विशेषताओं का समावेश करके उसे सर्वमान्य काव्यभाषा के प्रतिष्ठित पद पर असीन करने का श्रेय उन अज्ञातनामा कवियों को है न तो जिनका कुछ विवरण ही आज ज्ञात है और न जिनकी रचनाओं में ही हम परिचित हैं।

भक्ति-आंदोलन के पुनःप्रचलन के साथ ब्रजभाषा का भाग्य भी चमक उठा^१। भक्त-कवियों में सबसे पहले महाराष्ट्र के नामदेव का उल्लेख करना है जिनका जन्म संवत् १३२७^२ (सन् १२७०) और देहान्त संवत् १४०७^३ (सन् १३५०) में हुआ। इनकी कविता मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में मिलती है। हिंदी कविता में ब्रजभाषा और खड़ीबोली, दोनों ही रूप मिलते हैं जिनका देखकर शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो ब्रज या परंपरागत काव्य-भाषा है, पर 'निर्गुन कानी' की भाषा नाथपथियों द्वारा गृहीत खड़ीबोली या सघुक्कड़ी भाषा^४।

उक्त परंपरा के दूसरे कवि प्रसिद्ध मत कबीर (सन् १३९८-१४९४)^५ हैं जिनके पद प्रायः ब्रजभाषा में मिलते हैं यद्यपि काशी की स्थानीय बोली का भी उन्होंने स्वभावतः व्यवहार किया है। उनके कुछ पदों की भाषा तो सूरदास की सामान्य भाषा से मिलती जुलती है^६। संभवतः इसी भाषा-साम्य के कारण प्राचीन भाषा-संग्रहों में कबीर के

१. डा. धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि ब्रजभाषा से संबंध रखनेवाली पंद्रहवीं शताब्दी तक की प्रकाशित ग्रामाणिक सामग्रियों में शून्य के बराबर है ('ब्रजभाषा व्याकरण' पृ. ३१)। अतएव अमीर खुसरो, कबीर आदि की जो रचनाएँ आज प्रकाशित हैं उनकी भाषा बहुत-कुछ आधुनिक है। हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासकार और प्राचीन ग्रंथों के संपादक इस कथन से बहुत-कुछ सहमत तो हैं; परन्तु किसी प्राचीन प्रति की प्राप्ति न होने से उन्होंने उपलब्ध संस्करणों की भाषा की ही अलोचना की है और वैसे ही प्रस्तुत प्रबंध में करने की इन पंक्तियों का लेखक भी विवश है—लेखक।

२. सर आर. जी. नडारकर, 'बेणविजय, शंखविजय ऐंड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स', पृ. ९२।

३. श्री एम. ए. मेकलिफ, 'द सिविल रिलीजस', भाग ६, पृ. ३४।

४. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी 'साहित्य का इतिहास', पृ. ८५।

५. डॉ० रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ. ३५४।

६. ऐसा एक पद देखिए—

हो बलियाँ सब देखींगी तोहि।

अहं निसि आनुर दरसन करन, ऐसी ध्यापं मोहि॥

नाम से उद्धृत है 'हरि भजन को परवान'^१ से आरम्भ होनेवाला पद 'सूरसागर' में पहुँचकर^२ सूरदास के नाम से प्रचलित हो गया अथवा यह भी संभव है कि मूल पद सूरदास का हो और बाद में कबीर के नाम से प्रचलित हो गया हो। डा० श्यामसुन्दरदास ने 'कबीर-ग्रंथावली' का संपादन जिस प्रति के आधार पर किया था वह संवत् १५६१ (सन् १५०४) की लिखी कही गयी है^३। इस ग्रंथावली में भोजपुरी रूपों को देख कर डा० राम कुमार वर्मा की धारणा है कि कबीर की अधिकांश मूल रचना भोजपुरी में होगी, क्योंकि शिक्षित न होने के कारण अन्य किसी भाषा में रचना करना उनके लिए संभव न था और कालांतर में केवल भोजपुरी शब्दों के रूप बदलकर उनका ब्रजभाषा और सड़ीबोली में अनुवाद कर लिया गया जिसके फलस्वरूप ही पश्चिमी पंजाब से बंगाल और हिमालय से गुजरात-मालवा तक उनकी रचना का प्रचार हो सका था^४। इस प्रसंग में, किसी विवाद में न पड़ कर, इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह भूत यदि पूर्ण सत्य मान लिया जाय तो भी कबीर की रचनाओं का ब्रजभाषा में अनुवाद-कार्य उनके जीवन-काल अथवा उनके कुछ समय पश्चात् ही हो जाना चाहिए, क्योंकि उनकी रचनाएँ सोलहवीं शताब्दी का आरम्भ होने तक सारे उत्तरी भारत में प्रचलित हो गयी थी^५। अतएव कबीर की रमैणियों, शब्दों अथवा पदों की ब्रजभाषा के आधार पर इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह भाषा उस समय तक भोजपुरी क्षेत्र के बाहर पूर्णतः प्रचलित हो गयी थी, और उसमें साहित्य-रचना भी की जाने लगी थी यद्यपि किसी प्रतिभासम्पन्न कवि ने उसे लगन से अपनाकर सर्वमान्य साहित्यिक भाषा का रूप नहीं दिया था।

कबीर के पश्चात् सत-कवियों में केवल गुरु नानक की चर्चा और करना है, क्योंकि उनका समय सूरदास से पहले पड़ता है। गुरुनानक (सन् १४६९-१५३९) की कुछ

नैन हमारे तुम्हकुं चाहैं, रती न मानै हारि ।
 विरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु विचारि ॥
 सुनहु हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु अधीर ।
 तुम्ह धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काचै भाई नीर ॥
 बहुत दिनन के बिछुरे माधी, मन नहिं बाँधे धीर ।
 देह छतौ तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर ॥

—'कबीर-ग्रंथावली' (संवत् २००८) पदावली भाग' पद सं० ३०५, पृ० ११०।

१. 'कबीर-ग्रंथावली' (संवत् २००८), पद सं० ३०, पृ. १९०।
२. 'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद २३५।
३. 'कबीर-ग्रंथावली', संवत् २००८, भूमिका, पृ० १।
४. 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ३७२।
५. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का 'हिंदी साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव' शीर्षक लेख, त्रैमासिक 'आलोचना', वर्ष २, अंक २, जनवरी १९५३, पृ० ५३।

रचनाएँ सिखों के प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथ, 'ग्रंथ-साहब' में मिलती हैं। इस ग्रंथ का सन्तन सन् १६६१ (सन् १६०४) में हुआ था। ब्रजभाषा और खड़ीबोली, ये दोनों भाषाएँ, अपने विगुद्ध रूप में, उस समय के पूर्व पंजाब प्रदेश में नहीं फैली थी और न संगृहीत रचनाओं के पर्यटन-प्रिय कर्त्ताओं की दृष्टि में ही भाषा की विगुद्धता का बहुत अधिक मूल्य था। अतएव खड़ीबोली, ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी आदि का मिश्रित रूप ही 'ग्रंथ-साहब' की अधिकांश रचनाओं में मिलता है। गुरु नानक की मिश्रित ब्रजभाषा-रचनाएँ भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि उनके आधार पर पंद्रहवीं शताब्दी में पंजाब में ब्रजभाषा का थाड़ा-बहुत प्रचार हो जाता सहज ही सिद्ध हो जाता है और यह भी स्पष्ट होता है कि वहाँ की जनता इस भाषा की अवश्य समझ लेती थी। कबीर की तरह गुरु नानक का अपठ जाना भी इसी बात की पुष्टि करना है कि ब्रजभाषा का ज्ञान उन्हें सम्यक् अध्ययन द्वारा नहीं, भक्ता की मौखिक वाणियों से ही, हुआ था। पंजाब-निवासी हान के कारण, पंजाबी और खड़ीबोली प्रयोगों के रहते हुए भी, उनकी ब्रजभाषा कबीर से अधिक सीधी-सादी है।

उक्त कवियों के अतिरिक्त ब्रजभाषा में रचना करनेवाले मूरदाम के पूर्ववर्ती दो अन्य कवियों का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने किया है। एक हैं मुल्ता दाउद^१ जिनका आविर्भाव-काल डा० बड़ध्वान द्वारा निर्धारित सन् १४४०^२ न होकर मिश्रवधुओं द्वारा निर्णीत सन् १३८४^३ जाना चाहिए। इस कवि की 'चदावन' या 'चन्दावन' नामक रचना अभी तक अप्राप्य है। अतएव उसकी भाषा के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। दूसरा कवि लालचदाम हलवाई है जिसकी 'भाषा भागवत' अथवा 'हरिचरित्र'^४ नामक रचना दोहे चौपाइयों में है। कुछ विद्वानों ने

१. पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास', पृ० १४७।

२. डा० पीतावरदत्त बड़ध्वान, 'द्वि निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोएट्री', पृ० १०।

३. 'मिश्रवधु-विनोद', प्रथम भाग, पृ० १५५।

४. नागरी-प्रचारिणी सभा की त्रैमासिक सोज रिपोर्ट, सन् १९०६-७-८, सहा १८९ में लालचदाम कवि के नाम से 'हरिचरित्र' नामक ग्रंथ का उल्लेख हुआ है और 'मिश्रवधु-विनोद', भाग १, पृ० २८९, पर 'नागवत भाषा' नामक ग्रंथ का। परंतु दोनों नामों से प्राप्त प्रतियों का मिलान करके डा० दीनदयालु गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक ग्रंथ के ही उक्त दो नाम हैं ('अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय', पृ० २१)। सभा के उक्त विवरण में कवि की विद्यमानता का सबत् १५९५ दिया गया है। 'विनोद' में ग्रंथ का रचनाकाल सबत् १५८७ बताया गया है और डा० गुप्त ने एश प्रति में रचना-काल सबत् १५०० लिखा रहना बताया है। सबतों का यह अंतर विचारणीय है—लेखक।

इसकी भाषा ब्रज बताया है^१ और कुछ ने अवधी^२। काव्य-कला और भाषा, दोनों दृष्टियों से यह बहुत ही साधारण रचना है। तात्पर्य यह कि अमीर खुसरो, नामदेव, कबीर और नानक की ही कुछ रचनाओं में सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। इन कवियों की भाषा ब्रजप्रदेश की शुद्ध बोली न होकर सामान्य और परंपरागत काव्य-भाषा थी जो उत्तरी भारत में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से प्रचलित थी, परन्तु जिसका कोई रूप उस समय तक निश्चित नहीं हुआ था। वास्तव में सत-कवियों का पर्यटन-प्रेम और उनमें से अधिकांश में शिक्षा का अभाव उक्त प्रचलित भाषा को शुद्ध ब्रजप्रदेशीय तो बना ही नहीं सका, उसे साहित्यिक रूप देने में भी सर्वथा असमर्थ रहा। फिर भी उनकी रचनाओं से एक बड़े महत्व की बात यह मालूम होती है कि सूरदास के पूर्व ही ब्रजभाषा केवल अपने प्रदेश की ही भाषा नहीं थी, प्रत्युत पंजाब, राजपूताना महाराष्ट्र और पश्चिमी विहार के कवि भी उससे परिचित थे और अपनी-अपनी प्रांतीय भाषा के साथ-साथ मिश्रित ब्रजभाषा में भी रचना किया करते थे, यद्यपि उनकी भाषा स्वभावतः स्थानीय प्रभावों से युक्त थी और ऐसा होना तत्कालीन परिस्थिति में सर्वथा स्वाभाविक भी था।

सारांश यह है कि सूरदास ही हिन्दी के पहले प्रतिष्ठित कवि थे जिन्होंने ब्रजप्रदेशीय होने और अधना के कारण किसी अन्य भाषा का समुचित ज्ञान न रहने से ब्रजभाषा को ही काव्य-रचना के लिए अपनाया। डा० धीरेन्द्र वर्मा के मत से, 'ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग वास्तव में वल्लभ-संप्रदाय के प्रभाव के कारण आरम्भ हुआ। इलाहाबाद के निकट मुख्य केन्द्र अरौल (अडौल) के अतिरिक्त जिस समय श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य को ब्रज जाकर गोकुल तथा गोवर्द्धन को अपना द्वितीय केन्द्र बनाने की प्रेरणा हुई, उसी

य से ब्रज की प्रादेशिक बोली के भाग्य पलटे। संवत् १५५६ वैशाख सुदी ३ आदित्यवार को गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी के विशाल मंदिर की नींव रखी गयी थी। यही तिथि साहित्यिक ब्रजभाषा के शिलान्यास की तिथि भी मानी जा सकती है'^३। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से भेंट होने के पूर्व ही सूरदास अनेक वितय-पदों की रचना कर चुके थे और आचार्य जी से भेंट होने पर उन्होंने 'हरि ही सब पतितनि को नायक'^४ और 'प्रभु, हौं सब पतितनि को टीकौ'^५ से आरम्भ होनेवाले पद गाये भी थे यद्यपि वह रचना सामान्य ब्रजभाषा में थी^६।

१. क. श्री झारिकादास पारोख और श्री प्रमोदपाल मोतल, द्वारा लिखित

'सूर - निर्णय', पृ० २८०।

ख. श्री मिश्रब्रंधु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० २५६-५७।

२. पं० रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० २४०।

३. 'ब्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ११।

४. पूरा पद देखिए—'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद १४६, पृ० ४८।

५. पूरा पद देखिए—'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद १३८, पृ० ४५।

६. 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', संवत् १९८५, पृ० २७३-७४।

वल्लभ-संप्रदाय में सूरदास के दीक्षित हान का समय डा दीनदयालु गुप्त के अनुसार सवत् १५६६ (सन् १५०९) होना चाहिए^१। इसी समय के आसपास पूरणमल खत्री के दान से निर्मित उक्त अपूर्ण मंदिर में श्रीनाथ जी का पाटात्मव हुआ और सूरदास का कीर्तन-सवा सौंपी गयी^२ यद्यपि मंदिर पूर्ण हुआ दस वर्ष बाद सवत् १५७६ (सन् १५१९) में। अतएव सवत् १५६६ के पश्चात् में सूरदास श्रीकृष्ण-लीला के नित्य नये पद बनाने लगे। अष्टछापों के कवि सूरदास का देहान्त अब तक हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास लेखक ने सवत् १६२० के पूर्व नहीं माना है^३। अतएव इस बात में सभी सहमत होंगे कि सूरदास लगभग पचास वर्ष तक निरन्तर काव्य-साधना में लगे रहे। महाप्रभु द्वारा कवि का सौंपा हुआ नित्य कीर्तन का कार्य तो उन्हें इसके लिए बराबर प्रेरित करता ही रहा, उनकी अधता भी अन्य स्थानीय विभिन्न आयोजनाओं और यात्राओं में साधारणतया बाधक होकर इष्टदिवस की लीला-गान द्वारा मरस्वती-साधना की निरन्तरता का क्रम अटूट रखने के लिए ही उन्हें सदैव उत्साहित करती रही।

सूर और ब्रजभाषा का संबंध—

शौरमनी अपभ्रंस से विकसित होने के कारण उसकी उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को उसका व्यापक क्षेत्र तथा मित्र ही उनकी कुछ विशेषताएँ सहज ही प्राप्त हो गयीं। सूरदास के विनय पदा में ब्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप मिलता है और श्रीकृष्ण के रूप वर्णन, तथा सयोग विद्याग शृंगार आदि सबंधी पदा में कवि प्रदत्त प्रौढ़ रूप जिसके आधार पर सुगमता में अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा के विकास में उनका क्या योग रहा तथा उसका मजाने-मवारने और उसकी व्यञ्जना शक्ति बढ़ाने में उन्होंने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया। ब्रजभाषा का संस्कार करन में भी उन्होंने सदैव कवि-जनचित उदारता में काम लिया तथा विषय के क्षेत्र में रामकथा के साथ-साथ अन्य अवतारों की गाथा का अपनाकर उन्होंने अपने स्वभाव की जिस असंकीर्णता-जनित सहिष्णुता का परिचय दिया था भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने उसका बराबर बनाये रखा। उनके पदा की भाषा ब्रजजनपदीय होत हुए भी साहित्यिक है और साहित्यिक होते

१. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २१३।

२. 'पाँच आचार्य जी आपु कहें, जो सूर, तुमको पुष्टि मारग सिद्धात फलित नदी है, तासों अब तुम योगोवर्धन के यहाँ समय समय के कीर्तन करो—'अष्टछाप' (काँकरोली), पृ० १९।

३. प. रामचंद्र शुक्ल सवत् १६२० के आसपास ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १९५), डा० दीनदयालु गुप्त सवत् १६३८-३९ में ('अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २१९) और डा० रामकुमार वर्मा सवत् १६४१ में ('हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० ७४८) सूरदास की मृत्यु होना अनुमान करते हैं। अन्य प्रायः सभी इतिहासकारों ने इन्हीं तिथियों में से एक का समयन किया है—लेखक।

हुए भी ब्रजजनपदीय । किसी एक रूप को दृढ़ता से पकड़े रहने का अनुदार दुराग्रह उनकी भाषा में कहीं नहीं दिखायी देता ।

अब प्रश्न यह है कि सूरदास ने ब्रजभाषा पर इतना अधिकार किस प्रकार प्राप्त किया । सामान्यतः उम्मी भाषा पर किसी लेखक या कवि का पूर्ण रचनात्मक अधिकार हो पाता है, नियमित शिक्षा द्वारा जिसका उमने विधिवत् अध्ययन किया हो । यद्यपि अपेक्षित व्यक्तियों ने भी समय-समय पर पर्याप्त रचना की है और विशेष प्रतिभाजनित होने के कारण वह अभीष्ट प्रभावशालिनी भी हुई है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषा-सौष्ठव, व्याकरण-सम्मतता और विन्यास-व्यवस्था की दृष्टि से उसमें कुछ न कुछ खटकने वाली बातें भी रहती हैं । इस कथन की पुष्टि कबीर-जैसे सत-कवियों की भाषा से होती है । इसी प्रकार यों तो यह भी सत्य है कि अध्यवसायपूर्वक और लगन के साथ यदि कार्य किया जाय तो किसी अपरिचित या नयी भाषा में लिखने की कुशलता प्राप्त कर ली जाती है, परन्तु जिस भाषा में लिखने की योग्यता लाने का प्रयत्न किया जा रहा हो वह अपनी मातृभाषा या उससे संबंध रखनेवाली अथवा उसकी प्रकृति से मेल खानेवाली भी हो तब यह कार्य अधिक सुगम हो जाता है एवं दक्षता व्यापक और ठोस होती है, यद्यपि अध्ययन और अभ्यास इसके लिए भी अपेक्षित है । आशय यह है कि किसी भाषा में लिखने का अधिकारी बनने के लिए उसकी कृतियों का विधिवत् अध्ययन प्रत्येक दशा में आवश्यक होता है, चाहे वह मातृभाषा हो अथवा सर्वथा नयी भाषा । जैसा पीछे कहा जा चुका है, ब्रजभाषा में तत्संबन्धी योग्यता प्राप्त करने के लिए भिखारीदास ने भी ब्रजप्रदेश में जाकर बसने पर जोर नहीं दिया था, प्रत्युत प्राप्त कवियों की वाणी के नियमित अध्ययन को उसका प्रमुख साधन बताया था^१ । वस्तुतः उनका तात्पर्य उन व्यक्तियों से था जो ब्रजमंडल के निवासी नहीं थे और इसलिए ब्रजभाषा जिनकी मातृभाषा नहीं थी । परन्तु जन्म से ही किसी भाषा के क्षेत्र में बसनेवाले, मातृभाषा के रूप में उससे परिचित रहनेवाले भी निरन्तर अभ्यास के अभाव में उसमें रचना करने में पूर्ण कुशल नहीं हो पाते । इसी से कवि की भाषा-विषयक सफलता के लिए प्रतिभा के साथ अभ्यास को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है । अतएव, सूरदास की जन्म-भूमि, उनके वासस्थान, उनके अध्ययन, अभ्यास और दृष्टिकोण आदि के संबंध में भी यही विचार कर लेना आवश्यक है ।

सूर की जन्मभूमि—

सूरदास के जन्मस्थान के संबंध में एक प्राचीन उल्लेख श्री हरिराय-वृत्त 'चौरासी वृष्णवन की वार्ता' के 'भावप्रकाश' में सीही ग्राम के पक्ष में मिलता है^२ । इस ग्राम को

१. ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानों,
ऐसे-ऐ कवि की बानी हूँ जो जानिए ।

—'काव्य-निर्णय', पृ० ६ ।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३ ।

उन्होंने दिल्ली में चार कोस ब्रज की ओर स्थित कहा है^१। कुछ विद्वान पहले आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर स्थित 'रनक्ता' नामक स्थान को उनकी जन्मभूमि मानते थे,^२ परन्तु डा० दीनदयालु गुप्त की खोज के पश्चात् सबने अपना मत बदल दिया और सूर-साहित्य के सभी विद्वान आज भीही ग्राम का ही सूरदाम का जन्मस्थान मानते हैं। 'साहित्यलहरी' के वंश-विवरण वाले पद में रचयिता के पिता का नाम-स्थान आगरे का निकटवर्ती 'गोपाचल' नामक स्थान कहा गया है—आगरे रहि गोपचल में, रह्यो ता मुन बीर^३। इस गोपाचल का सूर-साहित्य के कुछ आलोचकों ने भ्रम में गऊघाट मान लिया है^४, परन्तु एक तो उक्त पद की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह है और दूसरे, 'साहित्यलहरी' के कथन में यह भी नहीं सिद्ध होता कि सूरदाम का जन्म भी उसी समय हुआ था जब उनके पिता गोपाचल^५ में रहते थे।

सूर के अन्य वासस्थान—

श्री हरिराय-कृत उक्त वार्ता के 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूरदास जी छ वर्ष की अवस्था तक सीही ग्राम में रह और उसके बाद इससे चार कोस दूर एक तानाव के किनारे अठारह वर्ष की अवस्था तक^६। तदनंतर वैराग्य होने पर एक दिन वे ब्रजप्रदेश की ओर चल दिये और यमुना के किनारे, आगरा-मथुरा के बीच स्थित गऊघाट नामक स्थान पर आकर रहने लगे^७। यहाँ से एक मील दूर रेणुका नामक स्थान है, जहाँ वे कभी-कभी जाया करते थे। गऊघाट पर वे महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के समय तक रहे। यह घटना लगभग सवत् १५६६ की है^८। इस समय सूरदास की आयु ३१-३२ वर्ष की थी।

वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् सूरदास जी को श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा का कार्य सौंपा गया। तब से वे गोवर्द्धन पर रहने लगे और आजीवन वहीं रहे जिसकी पुष्टि उनकी इन पक्तियों में होती है—

१. 'दिल्ली के पास चार कोस उरें में एक सीही ग्राम है'—'चौरासी वंष्णवन की वार्ता' में 'अष्टसखान की वार्ता', पृ० २।
२. प० रामचंद्र शुक्ल और बाबू श्यामसुंदरदास, दोनों ने पहले अपने इतिहासों में रनक्ता को ही सूरदास का जन्मस्थान लिखा था; परन्तु बाद को बाबू श्यामसुंदरदास ने अपने ग्रंथ के नये संस्करण में सीही ग्राम को स्वीकार कर लिया ('हिंदी साहित्य', पृ० २८२) और शुक्ल जी ने परिशुद्धित संस्करण में स्थान का उल्लेख ही नहीं किया है—लेखक।
३. 'साहित्यलहरी', पद ११८, पृ० १३८।
४. डा० भुशीराम शर्मा, 'सूर-सौरभ', प्रथम भाग, पृ० १८-१९।
५. 'गोपाचल' से तात्पर्य गोवर्द्धन या ग्वालियर से हो सकता है—लेखक।
६. 'अष्टछाप' (काँकरीली), पृ० ९।
७. 'अष्टछाप' (काँकरीली), पृ० १०।
८. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २१३।

(नंदजू) मेरे मन आनंद भयो, मैं गोवर्धन तैं आयौ ।
तुम्हारे पुत्र भयो, ही सुनि कै, अति आतुर उठि धायौ ॥

X

X

X

X

ही तो तेरे घर की ढाढ़ी, सूरदास मोहि नाऊँ^१॥

बीच-बीच में, श्रीकृष्ण के विविध लीलोत्सवों में, वे मथुरा और गोकुल तक आते-जाते रहे, किसी अन्य स्थान पर उनके जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता । सम्राट अकबर से उनकी भेंट भी मथुरा में ही होना लिखा गया है^२ । 'सूरसागर' के अनेक पदों में वृन्दावन के श्रद्धापूर्ण वर्णन से यह ज्ञात होता है कि वे वृन्दावन भी गये थे । वस्तुतः वृन्दावन बल्लभ-संप्रदाय का केन्द्र नहीं है । इस संप्रदाय का न वहाँ कोई मंदिर है, न कोई गद्दी । वहाँ तो निंबार्क, माध्व, चैतन्य, हरिदासी और राधा-वल्लभीय संप्रदायों के मन्दिर और गद्दियाँ हैं । सूरदास के समय में भी बल्लभ-संप्रदाय का वहाँ कोई प्रचार-स्थान नहीं था; वैसे सभी भक्तजन वृन्दावन आते-जाते रहते थे । अतएव सूरदास का वहाँ जाना तो संभव हो सकता है, परन्तु वहाँ अधिक समय तक वे रहे हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इष्टदेव के अनन्य भक्त और भक्ति-उपासना में ही जीवन का सर्वोपरि आनन्द और उसकी सार्थकता माननेवाले परम उपासक के लिए उन्हीं के समीप रहकर कौर्तन-सेवा में लगे रहना स्वाभाविक भी जान पड़ता है । उनका देहात गोवर्धन के निकट ही परामौली—'परम रासस्थली'—नामक स्थान पर हुआ, जहाँ प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण ने रामलीला की थी ।

ब्रजभाषा सूर की मातृभाषा थी---

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूरदास का जन्म ब्रजभाषा-प्रदेश में हुआ और उनका समस्त जीवन भी ब्रज-क्षेत्र में बीता । इसलिए ब्रजभाषा उनकी मातृ-भाषा थी जिसकी पुष्टि उनकी रचनाओं से भी होती है,^३ और आजीवन वे उसी को बोलते भी रहे । बल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व का जीवन अर्थात् आयु के प्रारम्भिक तीस-बत्तीस वर्ष उन्होंने ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में बिताये जिनमें से कुछ तो ब्रजप्रदेश के निवासी होने के कारण ठेठ ब्रजभाषा-भाषी थे, कुछ ब्रजभाषा के अनिरिक्त अन्य भाषा-भाषी साधु थे । तदनंतर उनका संबंध ऐसे व्यक्तियों से बढ़ा जो संस्कृत भाषा के विद्वान् थे, उसके ग्रंथों का नियमित रूप में पारायण करते थे और भक्तों-उपासकों के लिए कथा-वार्ता, टीका-व्याख्या आदि में पर्याप्त समय दिया करते थे । कुछ समय के बाद वे अष्टछाप के उन कवियों से भी घिरे रहने लगे जो उन्हीं की तरह श्रीकृष्ण-लीलाओं का गान किया करते थे और चर्मचक्षुओं से युक्त रहने के कारण शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन, अध्ययन-पारायण आदि से लाभ उठाने का भी जिनको सूरदास की अपेक्षा कहीं अधिक अवसर था ।

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ३५ ।

२. 'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० २४ ।

३. डा० जनार्दन मिश्र, 'सूरदास', पृ० ३२ ।

सूर की शिक्षा-दीक्षा—

किसी कवि के ज्ञान और पांडित्य का परिचय उसकी रचनाओं से होता है। परचान, जिज्ञासु पाठक उनके मूल स्रोत का पता लगाना चाहता है। सूरदास के सबंध में इस प्रकार की छान-बीन का विशेष अवसर ही नहीं रह जाता, क्योंकि जब तक उनके जन्माध होने के विवाद का अंत नहीं हो जाता तब तक निश्चित रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें किस प्रकार की और कितनी शिक्षा नियमित रूप में मिली थी तथा पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन उन्होंने किस प्रकार और कितना किया था। सूरदास की अधता के सबंध में यहाँ तक तो सभी विद्वान एकमत हैं कि आयु का बहुत अधिक भाग उन्होंने अंधे रहकर ही बिताया। विवाद का विषय केवल यह है कि वे जन्माध थे अथवा बाद में अंधे हुए। सूर-काव्य की निम्नलिखित पक्तियाँ उनकी अधता की ओर संकेत करती हैं—

१. सूरदास सो कहा निहोरी, नैननि हूँ की हानि^१ ।
२. सूर कूर आँधरी, मैं द्वार पर्यो गाऊँ^२ ।
३. काटो न फद मो अध के, अब बिलब कारन कवन^३ ।
४. सूरजदास अध अपराधी सो काहे बिसरायो^४ ।
५. सूर कहा कहै दुबिधि आँधरी, बिना मोल को चेरी^५ ।
६. इहै माँगों बार-बार प्रभु सूर के नयन द्वै रहैं, नर द्वेह पाऊँ^६ ।
७. द्वै लोचन साबित नहि तेऊ ।

बिनु देखे कल परत नही छिनु, एते पर कीन्ही यह टऊ^७ ।

वह साक्ष्यों में भी दो वर्ग है—किसी ने सूरदास को केवल नेत्रविहीन लिखा है, यद्यपि उसमें आशय कवि के जन्मान्ध होने से ही जान पड़ता है और किसी ने स्पष्ट ही उनकी जन्माधता का उल्लेख कर दिया है। वह साक्ष्यों में निम्नलिखित उल्लेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

१. जन्माधो सूरदासोऽभूत^८ ।
२. बाहर नैन विहीन सो भीतर नैन बिसाल ।
निन्है न जग कछु देखिबौ, लखि हरि-रूप निहान^९ ।
३. प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरि-लीला भासी ।
जनम करम गुन रूप सर्व रसना परवासी^{१०} ।

१. सा. १-१३५ । २. सा. १-१६६ । ३. सा. १-१८० । ४. सा. १-१९० ।

५. सा. १-१६६ । ६. सा. १६२४ ।

७. 'सूरसागर', पद २४६८ ।

८. श्रीनाथ भट्ट-कृत 'संस्कृत मणिमाला', श्लोक १ ।

९. श्रीप्राणनाथ कवि-कृत 'अष्टसखाभूत' ।

१०. भक्तप्रवर नामादास जी ।

४. जन्महि ते है नैन बिहीना । दिव्य दृष्टि देखहि मुख भीना^१ ।

५. जन्म अंध दृग ज्योनि बिहीना^२ ।

६. क. सो सूरदास जी के जन्मन ही सो नैन नाही है और नेत्रन को आकार गढ़ेला कछु नाही । ऊपर भोंह मात्र है^३ ।

ख. जन्मे पाछे नैन जायँ निनको आँधरो कहिये, सूर न कहिये और ये सो सूर है^४ ।

सारांश यह कि अत और बहि साक्ष्य सूरदास की अंधता के सबंध में तो एकमत है ही, उनकी जन्माधता की ओर भी उनमें प्रायः मकेत किया गया है। परंतु सूर-साहित्य के आधुनिक आलोचक, जिनमें सर्वश्री मिश्रबधु^५, श्याममुन्दरदाम^६, डा० बेनीप्रसाद^७, जनार्दन मिश्र^८, डा० दीनदयालु गुप्त,^९ नंददुलारे वाजपेयी^{१०}, व्रजेश्वर वर्मा,^{११} रामरतन भटनागर^{१२} आदि मुख्य हैं, उनके काव्य में विविध रसों के अनुरूप मानवीय हाव-भाव, प्राकृतिक दृश्यों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रतया विभिन्न रंगों के वर्णन देखकर अनुमान करते हैं कि वे जन्मांध नहीं हो सकते, ^{१३} अवस्था पाकर ही अंधे हुए होंगे। इस तर्क का उत्तर भी कुछ आलोचकों^{१४} ने यह कहकर दिया है कि सूरदास सामान्य व्यक्ति नहीं थे कि लौकिक जगत के सामान्य दृश्य देखने के लिए उन्हें चर्म-चक्षुओं की आवश्यकता पड़ती। वे दिव्यदृष्टि-संपन्न उच्च कोटि के महात्मा थे जिनके ज्ञान-चक्षुओं में बहिः और अंतर्जगत के क्रिया-कलाप देखने की भी सामर्थ्य थी। परब्रह्म की अनुकंपा से

१. महाराज रघुराज सिंह-कृत 'रामरसिकावली' ।
२. मिराँसिंह-कृत 'भक्त-विनोद' ।
३. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग (श्रीहरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश'), कांकरौली, पृ० ४ ।
४. —'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग (श्री हरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश'), कांकरौली, पृ० ५ ।
५. 'हिंदी-नवरत्न', पृ० २३० ।
६. 'हिंदी-साहित्य', पृ० १८५ ।
७. 'संक्षिप्त सूरसागर', भूमिका, पृ० ६ ।
८. 'सूरदास' (अंगरेजी) भूमिका, पृ० २७ ।
९. 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय' प्रथम भाग, पृ० ८२ और २०२ ।]
१०. 'सूर-संदर्भ', भूमिका, पृ० ३४ ।
११. 'सूरदास', पृ० ३१ ।
१२. 'सूर-साहित्य की भूमिका', पृ० १३ ।
१३. डा० पीतांबर दत्त बड़म्हाल ने अपने 'सूरदास' में पहले तो लिखा है—'अवश्य ही वे जन्मांध नहीं थे' और दूसरे ही पृष्ठ में इसका विरोध-सा किया है—'अधिक संभव यही जान पड़ता है कि वे जन्मांध थे'—पृ० १० और ११ ।
१४. डा० मुंशीराम शर्मा, 'सूर-संदर्भ', प्रथम भाग, पृ० २४ ।

कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की अलौकिक दिव्य दृष्टि प्राप्त कर सकता है। इसकी पुष्टि स्वयं सूरदास के कुछ कथनों से होती है—

१. चरन कमल बदी हरि राई ।

जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अघे को मव कुछ दरसाई^१ ।

२ हरि जू तुम तै कहा न होई ।

बोलै गुंग पगु गिरि लघै अरु आवै अघो जग जाई^२ ।

वस्तुतः ब्रह्म की कृपा से सच्चा भक्त स्वयं प्रकाश हो जाता है और तब उसे चर्म-चक्षुओं की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु दिव्य दृष्टि-सम्पन्नता की यह अलौकिक महिमा सर्वमाधारण के अनुभव की वान नहीं है और न साहित्यिक तथ्यों के नीरस और शुष्क अनुसंधान में सलग्न व्यक्ति का सामान्यतः इन पर विश्वास ही जमता है। वह तो कारण-कार्य के प्रत्यक्ष और सर्वसिद्ध उन तथ्यपूर्ण कथना में विश्वास करता है जो सर्वानुकूल हो और जिनके कारण किसी सत्यान्वेषक पर यह आरोप भी न लगाया जा सके कि वह आपं वात्रयो या आपं निष्कर्षों अथवा सच्चे साधु-संतों की अलौकिक क्षमता के प्रति अविश्वस्त है।

अतएव समस्त अंतः और बाह्य प्रमाणों पर विचार करके प्रस्तुत पत्तियों का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि सूरदास जन्माघ ही थे। यदि वे वाद में अघे हुए होते तो इस सबंध में कोई न कोई उल्लेख या संकेत स्वयं उन्हीं के काव्य में, और चर्चा अथवा विवादों में समकालीन अथवा परवर्ती बाह्य साक्ष्यों में अवश्य मिलती। कारण, कवि के जीवन की यह इतनी महत्वपूर्ण घटना होती कि सासरिकता से कितना भी विरक्त होने पर वह इनसे अप्रभावित न रह पाता और बहुत संभव है कि उसने कवि की जीवन-धारा को ही परिवर्तित कर दिया होता और तब निश्चित है कि बाह्य साक्ष्य भी इस सबंध में मौन नहीं रह सकते थे। नेत्रहीनता सामान्य ही नहीं, विशिष्ट व्यक्ति के लिए भी, विधि का भयंकर अभिज्ञाप है जिसकी वेदना को बिलख-बिलख कर कहने पर ही वह थोड़े संतोष का लाभ कर सकता है। जन्म से ही नेत्रहीन प्राणी से वही अधिक मर्मांतक छटपटाहट का अनुभव इस सर्वोत्तम इन्द्रिय की वाद में खोनेवाला करता है। अतएव यदि सूरदास वाद में अघे हुए होते तो इस शाप या वरदान को—शाप इस कारण कि वह नेत्रेन्द्रिय-सुख से वंचित रहा और वरदान इसलिए कि आँखें न होने से ही वह अनेक लौकिक प्रलोभनों और व्यसनो से सहज ही बचा रह सका—कवि ने मूक रहकर ही न ग्रहण कर लिया होता, प्रत्युत अंगरेजी कवि मिल्टन की भांति उसने उस वान की चर्चा अवश्य की होती। हमारे आलोचक सूरदास के काव्य में विविध वर्णों, प्राकृतिक दृश्यों, मानवीय हाव-भावों आदि का चित्रण देखकर उनके जन्माघ न होने के पक्ष में यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जन्म से नेत्रहीन कवि को इन सबका ज्ञान कैसे हुआ होगा। इस विषय में निवेदन है कि

प्रतिभासंपन्न कवि के संबंध में इस प्रकार की शका नहीं की जा सकती, विशेषकर उस समय जब कवि ऐसे वातावरण में जीवन भर रहा जिसमें हर पहर कथा-वार्ता, कीर्तन-चर्चा, पूजा-पाठ आदि सबका एक ही विषय हो, कवियों, संगीतज्ञों और गायकों की गोष्ठी उसी के वर्णन में रत हो, ज्ञानी-योगी उसी के ध्यान में संलग्न हो तथा कथावाचकों, टीका-व्याख्याकारों, विद्वानों और अध्येताओं का समय उसी के अध्ययन, मनन और विश्लेषण में व्यतीत होता हो ।

सूर-साहित्य के सभी मर्मज्ञ इस विषय में एकमत हैं कि उसके रचयिता का ज्ञान और अनुभव बहुत गभीर और विस्तृत था, परंतु यह सब सहज देवी प्रतिभा तथा अध्यवसाय की देन थी अथवा नियमित अध्ययन और विधिवत् शिक्षा का फल, निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता । उनके कुछ आलोचकों का मत है कि सूरदास को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपेक्षित अवसर मिला होगा^१ । और एक महाशय ने तो यह भी लिख दिया है कि सूरदास काव्यशास्त्र के पंडित थे और उन्होंने पुराणों का अच्छा अध्ययन किया था^२ । परंतु न तो उन्होंने इसका कोई प्रमाण दिया है और न उनके समकालीन अथवा परवर्ती किसी भक्त या लेखक ने ही इस संबंध में कोई उल्लेख किया है । हरिराय जी ने सूरदास के पद बनाने^३—और गान-विद्या में बहुत चतुर होने^४—की बात कही है, परंतु इनका ज्ञान उन्हें कैसे हुआ, किससे उन्होंने पद बनाना सीखा, संगीत का कैसे अभ्यास किया अथवा सामान्य शिक्षा कितनी पायी, इस संबंध में वे भी मौन हैं । मियांसिंह-वृत्त 'भक्त-चिंतोद' में माता-पिता के साथ बालक सूरदास का व्रज-यात्रा को जाना और वहां वैष्णवों के साथ ही रहने लगना, लिखा है, परंतु डा० दीनदयालु गुप्त-जैसे विद्वान उसे प्रामाणिक नहीं मानते^५ । ऐसी स्थिति में यही जान पड़ता है कि छोटी ही अवस्था में गृह त्याग कर, सीही ग्राम से चार कोस दूर, तालाब के किनारे सूरदास बस गये और जन्माध होने के कारण ससार के आकर्षणों, प्रलोभनों और व्यसनो से दूर रहकर स्वन सरस्वती की साधना में प्रवृत्त हुए । तालाब के किनारे विश्राम लेनेवाले किसी साधु, महात्मा या गायक ने कभी उनको संगीत संबंधी कोई निर्देश दे दिया हो तो दूसरी बात, अन्यथा यह उनकी निजी लगन और साधना थी जिसने उन्हें इतनी सफलता प्रदान की । हरिराय जी ने उनके कंठ की कोमलता की सराहना भी की है—'सूर को कंठ बहुत कोमल हतो'^६ । इस देवी कृपा में भी चर्म-चक्षुविहीन उस युवक को बहुत

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, 'सूरदास', पृ० १५ ।

२. पं० रामनरेश त्रिपाठी, 'कविता कोमुदी', पहला भाग, (सं० १९१०), पृ० १७६ ।

३. 'अष्टछाप', कांकरौली, पृ० ९ ।

४. 'अष्टछाप', कांकरौली, पृ० १० ।

५. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० १२४ ।

६. 'अष्टछाप', कांकरौली, पृ० १० ।

उत्साह मिला होगा। तभी, वैराग्य होने पर, जब वह अपना समस्त लौकिक ऐश्वर्य और सुख-साधन त्याग कर गऊघाट पर आ बसा, उसकी काव्य और संगीत-साधना के लिए पहले से भी अधिक अवकाश मिलने लगा। अपनी प्रतिभा का आभास उस मिल चुका था, अब आवश्यकता उसके नियमित और निरंतर विकास की थी जिसमें वह तीस-बत्तीस वर्ष की आयु तक निरंतर लगा रहा।

सारांश यह है कि किसी पाठशाला में अथवा गुरु के समीप रहकर सूरदास को नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। अपने मर्क में आनेवाले मामान्य और विशिष्ट जन-समुदाय के वार्तालाप से ही उन्होंने किसी भीमा तक ज्ञानार्जन किया। साधु-संतों के समय-समय पर समागम ने उनको विभूष प्रेरणा प्रदान की। प्रसिद्ध संत कबीरदास ने भी सत्संग के आधार पर ही ज्ञान-वृद्धि की थी, परन्तु स्थिति के अन्तर ने दोनों के स्वभावों और मार्गों को समान न रहन दिया। कबीरदास की शारीरिक पूर्णता ने उन्हें पर्यटन प्रिय के साथ-साथ अक्खड बनाकर जहाँ उनकी ज्ञान विषयक सचय-वृत्ति को खडतात्मक रूप भी दिया, वहाँ सूरदास की शारीरिक अपूर्णता ने उन्हें निरीहावस्था में डालकर एक ही स्थान पर पर्याप्त समय तक तटस्थ और अविरोधो रूप से काल-यापन करते हुए उपयोगी तत्वों के चयन के लिए सदैव सतर्क रहने को प्रेरित किया। फलस्वरूप विस्तृत जन-समुदाय के बीच रहनेवाले कबीरदास की सडन-मडनात्मक और समाज-सुधारक वृत्ति प्रसर हुई, तो सूरदास एकांत जीवन में ब्रह्म के लोकरजनात्मक रूप का अन्तर्दृष्टि से दर्शन करते हुए, कभी अपनी अविचनता का गान करके उसे द्रवित करने में लगे और कभी उनकी मनोरम लीलाओं के वर्णन द्वारा अंतः सुख-वृद्धि में।

आयु के लगभग एक चौथाई भाग तक एकांत साधना में लग रहने के पश्चात् सूरदास की भेंट बल्लभाचार्य जी से हुई। लौकिक सुख-साधनों में विरक्त इस युवक की विनम्रता से सन्तुष्ट होकर महाप्रभु ने उसे अपनी शरण में लिया और दीक्षा दी। हरिराय जी के अनुसार, आचार्य जी ने सबसे पहले 'श्रीमद्भागवत' की स्वरचित 'सुबोधिनी टीका' का ज्ञान कराया^१ और अपने संप्रदाय का रहस्य भी समझाया^२। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में एक स्थान पर श्री गोसाईं जी का संस्कृत भाषा में एक पालना रचकर सूरदास जी को सिखाने का उल्लेख मिलता है^३। इसमें यह नहीं समझना चाहिए

१. "सो सगरी 'श्रीसुबोधिनी' जी को ज्ञान श्री आचार्य जी ने सूरदास के हृदय में स्थापन कियो तब भगवत्सोला-जस वर्णन करिबे को सामर्थ्य भयो"

—'चौरासी वार्ता', हरिराय-कृत 'भावप्रकाश', 'अष्टधाप' (कांकरीली), पृ० १३।

२. श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायो सोला भेद बतायों।

—'सूर-सारावली' (बैकटेश्वर प्रेस), छब ११०२, पृ० ३८।

३. 'श्री गोसाईं जी ने एक पालना संस्कृत में कीयो सो पालना सूरदास जी को सिखायो। सो पालना सूरदास जी ने श्री नवनीत प्रिया जी झूलत हुते ता समय गायो। सो पद—राग रामकली—'प्रेम पर्यं क शयन'। यह पद सूरदास जी ने संपूर्ण करिके

कि सूरदास जी को संस्कृत भाषा का भी ज्ञान था । इसका संकेत केवल इतना ही हो सकता है कि वे बहुत तीक्ष्ण बुद्धि-सम्पन्न थे और इसी से संस्कृत के पद का उन्होंने साराश स्वयं समझ लिया जैसा ऐसे वातावरण में रहनेवाले के लिए कठिन नहीं होता; तथा उसी का आधार लेकर तद्विषयक रचना भी प्रस्तुत कर दी ।

हरिराय जी ने सूरदास को, 'सगुन बताइवे मे चतुर' लिखा है^१ । 'सूरसागर' की कुछ पक्तियों से^२ ज्ञात होता है कि ज्योतिष विद्या में उनकी गति अवश्य थी; परन्तु इसका भी उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया होगा, ऐसा नहीं जान पड़ता । उस विद्या के किसी जानकार के सत्संग से उन्होंने उसका कुछ परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा, यही तत्कालीन स्थिति में संभव था । चर्मचक्षुओं के अभाव में अन्य इन्द्रियों की शक्ति सामान्यतया बहुत विकसित हो जाती है और समय-साधना के फलस्वरूप उनकी आत्मिक क्षमता का विशेषरूप से वृद्धि पा जाना भी संभव है । अतएव अधावस्था में जनसाधारण को आकर्षित और प्रभावित करने के लिए पद गाने और शकुन बतलाने में उन्होंने ख्याति प्राप्त करके उक्त दैवी अभिशाप-जन्य न्यूनता की यथामाध्य पूर्ति का मानवोचित प्रयत्न ही किया ।

वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर सूरदास को ऐसा काव्यमय वातावरण प्राप्त हुआ कि उससे उनकी कवि-वृत्ति को प्रस्फुटित और विकसित होने की निरंतर प्रेरणा मिलने लगी । अष्टछाप के आठों कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और वे 'पुष्टि मार्ग के जहाज'^३ के रूप में प्रतिष्ठित थे । परन्तु इस बात का उन्हें अभिमान न था और अन्य सत्ताओं^४ से उन्हें बड़ा स्नेह था । मंदिर के उत्सवों के अतिरिक्त भी

गाय सुनायो श्री नवनीतप्रिय जी को । पाछे या पद के भाव के अनुसार बहुत पद कीये ।

—'चौरासी घंणवन की घाती', पृ० २८३ ।

१. 'अष्टछाप' (कांकरौली), पृ० १० ।

२. (नंद जू) आदि जोतिषी तुम्हरे घर को पुत्र-जन्म सुनि आयौ ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिके, चाहत तुमहि सुनायो ।

—'सूरसागर', १०-८६ ।

३. 'प्राचीन घाती-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३२ ।

४. 'श्री मद्भागवत' में श्रीकृष्ण ने अपने सत्ताओं को संबोधित करते हुए उनके से नाम बताये हैं —

हे कृष्ण स्तोक, हे अंशो, श्रीदामन् सुवलार्जुन ।

विशालवर्म तेजस्विन् देवप्रसन्न बरुषप ॥

दशम् स्कंध (पूर्वार्द्ध), अध्याय २२, श्लोक ३१, पृ० २७३ ।

इनमें से प्रथम आठ कृष्ण के ऋषय तक के रूप में अष्टछाप के आठों कवि संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं । सूरदास इनमें मुख्य थे और उन्हें कृष्ण कहा गया है—लेखक ।

सूरदास इन सखाआ म मिलन-जुलन और धर्म तथा काव्य-चर्चा किया करते थे । अष्टछाप में कई वैष्णवों के साथ सूरदास जी का परमानन्ददास के घर जाना लिखा गया है^१ जो उक्त कथन का एक प्रमाण माना जा सकता है । इसी प्रकार नन्ददास का छह मास तक परासीली में सूरदास जी के साथ रहने का भी उल्लेख मिलता है^२ । 'वार्ता' के अनुसार सूरदास जी ने कृष्णदास अधिकारी को एक बार इस लिए टोका भी था कि इनकी रचना में उनके भावों की छाया आ जानी है । कृष्णदास ने इस पर एक ऐसा पद रचन का निश्चय किया जिसमें उनकी छाया न आ सके और वह ऐसे विषय का हो जो सूरदास ने छुआ न हो^३ । यह प्रसंग भी भकेत करता है कि अष्टछापी कवि एक दूसरे में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रेरणा लिया करते थे ।

आशय यह है कि महाप्रभु बल्लभाचार्य में भेंट हान में पूर्व सूरदास काव्य-रचना अवश्य करते थे । स्व-दैर्घ्य-प्रकाशन मात्र उनका ध्येय होने के कारण उस समय की कविता काव्य बला के समस्त आडवरो से रहित होती थी । अपने मरन और अनावरित रूप में, शांत रस की दृष्टि से भक्तों का सर्वस्व होने पर भी इस काल की रचना में रसात्मक लालित्य, काव्यात्मक चमत्कार और भाषा की प्राजलता की एक प्रकार से कमी ही माननी चाहिए । श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा का सौभाग्य प्राप्त करने के पश्चात् इन अभावों को दूर करने में सूरदास इस कारण भी सफल हो सके कि अब वे साहित्यिक वातावरण के मध्य में थे जहाँ प्रतिदिन कवियों और संगीताचार्यों के समक्ष अपनी अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए सभी का प्रस्तुत रहना पड़ता था । सूर-साहित्य में रचना-शैली की विविधता भी इस बात का प्रमाण है कि सूरदास इस प्रकार की गोष्ठियाँ में समूची भाग लेने का मदैव प्रस्तुत रहते थे ।

विनय पदों की रचना में सूरदास की प्रतिभा का पर्याप्त निखार परिमित विषय की एकरसता के कारण भी न हो सका । श्रीकृष्ण-लीला-गान का निर्देश पाने के पश्चात् जो मरम विषय उन्हें प्राप्त हो गया, उसमें उनकी पूर्ण तल्लीनता हो गयी । जीवन के एकाकीपन में सामाजिक मधुर्य और क्रिया-कलाप में तटस्थ, आत्मनिवेदन में मलग्न कवि, महाप्रभु द्वारा जीवात्मा रूपिणी गोपियों को स्व-माह्वय से अपार आनन्द देनेवाले रमिकप्रवर श्रीकृष्ण का आश्रय लेने की प्रेरणा पा, भटकते हुए-से जैसे राजमार्ग पर आ गया । लीलावतांगी की भक्तवत्सलता की महिमा गाते-गाते

१. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरीली), द्वितीय भाग, पृ० ८९ ।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरीली), द्वितीय भाग, पृ० ३४० ।

३. 'एक दिन सूरदास जी ने कृष्णदास से कहा जो कृष्णदास तुमने जितने पद किये तामे मेरी छाया आवत है । तब कृष्णदास ने कहा जो अब के ऐसी पद कहें सो तामे तिहारी छाया न आवे । पाछे कृष्णदास एकांत में बैठि कं विचार किये एकाग्र मन करि कं, जो सूरदास जो वस्तु न गाये होय सो गावतों यह विचार' ।

—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरीली), द्वितीय भाग, पृ० २०५-६ ।

तन्मय हो जाने पर सूरदास की अंतरात्मा की वीणा से जो संगीतमय ध्वनि निस्सृत हुई उससे हृदय की असीम सुगंधता थी। यह ऐसा आकर्षक विषय था जिमने परिवार के समस्त सुखों का सोलगास अनुभव कवि को करा दिया। सुख-दुःखमय जीवन की विविध परिस्थितियों की अनेकहरना ने कवि को उन पर एक से अधिक दृष्टिकोणों से विचार करने का अवसर दिया। कनस्वरूप नवोन्मेपञ्चालिनी प्रतिभा के बल पर कवि ने एक प्रसंग पर अनेकानेक उक्तियाँ प्रस्तुत कर दी जिमके लिए विविध शैलियों के उपयुक्त भाषा-रूपों को अपनाने में कवि समर्थ हो सका।

सूरदास के प्रादुर्भाव के समय उत्तरी भारत के गिने-चुने स्थान ही भारतीय भक्ति-उपासना के प्रमुख केंद्र रह गये थे। व्रज और उमका समीपवर्ती प्रदेश कृष्णभक्ति का सर्वोपरि स्थान था। राधावल्लभी, हरिदामी आदि अनेक संप्रदायों के भक्त और उपासक दूर-दूर प्रदेशों से समय-समय पर वहाँ आते रहते थे और कुछ तो वहाँ सदा बने रहते थे। संभव है, सूरदास को प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा इन संप्रदायों के भी भक्तों से मिली हो। परन्तु उनकी वृत्ति केवल अनुकरणात्मक नहीं थी। चर्मचक्षुओं का अभाव होते हुए भी प्रत्येक विषय को मौलिक कोण से देखने की पैंती अनर्दृष्टि उनके पास थी जिमके आश्रय में हर प्रसंग और भाव को सर्वथा नवीन रूप देने में वे पूर्ण सफल हो सके।

सूर का ज्ञान और पांडित्य—

सूरदास की शिक्षा-दीक्षा भले ही व्यवस्थित न रही हो और नियमित अध्ययन का भी अवसर उन्हें चाहे न मिला हो, परन्तु निरंतर अध्यवसायपूर्ण अभ्यास और विस्तृत अनुभव के आधार पर जो काव्य उन्होंने रचा उससे उनके अगाध ज्ञान और प्रकांड पांडित्य का स्पष्ट परिचय मिलता है। सूरदास व्यावहारिक ज्ञान-संपन्न थे, साथ-साथ 'सूरसागर' में हमें उनके तीन रूप प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं—कवि, संगीतकार और सांप्रदायिक सिद्धान्त-व्याख्याता रूप। इन तीनों क्षेत्रों में इस अध कवि की कुशलता आज के पाठक को चमत्कृत करती है और चकित भी।

अ. कवि-रूप—काव्यकार के लिए भावुकता के अतिरिक्त वर्ण्य विषय तथा जड़ और चेतन प्रकृति के सभी तत्वों का पूर्ण परिज्ञान अपेक्षित है। सूरदास उच्च कोटि के कवि, प्रकृति के पुजारी एवं मानव स्वभाव के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों के ज्ञाता थे। काव्य के विविध प्रकारों के अनेक सुंदर उदाहरण उनके साहित्य में उपलब्ध हैं। अलंकार, रस, वृत्ति, गुण आदि काव्यगत आवश्यक तत्वों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन विषयों की यद्यपि शास्त्रीय व्याख्या उन्होंने नहीं की, तथापि उनके काव्य में इनका समावेश इस बात का स्पष्टतः परिचायक है कि वे उनके मर्मज्ञ थे। व्रजभाषा ही नहीं, उनके निकटवर्ती प्रदेशों में प्रचलित देशी-विदेशी अन्य भाषाओं की भी उनको सामान्य जानकारी थी और सभी के उपयुक्त तथा काव्योपयोगी प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलते हैं। इससे भी उनकी पर्यवेक्षक प्रकृति और ग्रहणशीलता का परिचय मिलना प्राप्त होता है।

आ. संगीतज्ञ-रूप—संगीत पर सूरदास का अद्भुत अधिकार था। महाप्रभु बल्लभाचार्य में भेंट होने के पूर्व ही वे संगीत-कुशलता के लिए विख्यात हो गये थे। उनके पद सुनकर आचार्य जी का उनको दीक्षा देने के लिए मुगमता से प्रस्तुत हो जाना भी परोक्ष रूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि वे उनके कण्ठ-माधुर्य और संगीत-कुशल पर मुग्ध हो गये थे। आगे चलकर महाप्रभु का श्रीनाथ जी के मंदिर की कीर्तन-सेवा सूरदास जी को सौंपना भी इस कथन की पुष्टि करता है। संगीत के शास्त्रीय ग्रंथों में उनके पदों का सादर संगृहीत किया जाना तथा समकालीन और परवर्ती कुशल और प्रतिष्ठित गायकों का उनसे पद गाने के लिए कठम्य करना भी इस बात का प्रमाण है कि भावपूर्णता के गुण से युक्त होने के माय-माय वे शास्त्रीय नियमों की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष हैं। संगीत शास्त्र में वर्णित प्रायः सभी राग-रागिनियों के पद तो 'सूरसागर' में मिलने ही हैं, विषय और वातावरण के उपयुक्त राग का चयन भी उनके तद्विषयक ज्ञान का परिचायक है।

इ. सांप्रदायिक सिद्धांत-व्याख्याता-रूप—वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व रचे गये सूरदास के विनय-पदों से पता चलता है कि जीवन की क्षणभंगुरता तथा लौकिक सुख-साधनों की निस्तारता से वे परिचित हो चुके थे। सीही ग्राम से निकलकर अठारह वर्ष की अवस्था में स्वामी^१ बन जाने और बहुत-सा वैभव एकत्र कर लेने के पश्चात् उनको वैराग्य होना और कुछ सेवकों के साथ मथुरा की ओर उनका चल देना^२ सिद्ध करता है कि दूसरों के ज्ञानोपदेश से नहीं, प्रत्युत परिवारवालों की निर्धनता और निर्ममता^३, मनुष्य जाति की स्वार्थाधिता, पाप-लिप्सा और अर्थ-परायणता तथा समस्त दृश्य जगत की अनित्यता एवं नश्वरता देखकर अतः प्रेरणा से उन्होंने वैराग्य लिया था। ऐसे व्यक्ति की विचारधारा में पूर्वामक्ति के प्रति पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से सम्बन्ध रखनेवाली दार्शनिकता की पुट से युक्त विरक्ति का भाव मिलना सर्वथा स्वाभाविक है और यही बात हम उनके विनय-पदों में देखने हैं।

१. 'सो सूरदास स्वामी कहवाये, बहुत मनुष्य इनके सेवक भये। जाके कंठी बांधनी होय सो सूरदास को सेवक होये,—।

—श्रीहरिराय-कृत 'भावप्रकाश' ('अष्टछाप', कांकरौली), पृ० ९।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), दूसरा भाग, पृ० १०।

३. सूरदास के पिता की निर्धनता और निर्ममता की पुष्टि श्री हरिराय-कृत 'भावप्रकाश' के इस अवतरण से होती है—'जो देखो एक तो विधाता ने हमको निष्कचन कियो और दूसरे घर में ऐसी (नेत्र-आकार होन) पुत्र जन्मयो। जो अब याकी कीन तो टहल करंगो और कीन याकी लाठी पकरंगो ? सो या प्रकार ब्राह्मण ने अपने मन में बहुत दुख पायो'।

—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ५।

महाप्रभु वल्लभाचार्य प्रथम ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे जिन्हें सूरदास ने आदर और श्रद्धा का दृष्टि से देखा । आचार्य जी ने अष्टाक्षर मंत्र — श्रीकृष्ण शरण मम — सुनाकर उनसे समर्पण कराया^१ । पश्चात् सगुण भक्ति और भगवल्लीला का महत्व, अपने संप्रदाय की उपासना-विधि का तत्व और रहस्य समझाने के लिए आचार्य जी ने सूरदास को 'श्रीमदभागवत्' के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका तथा स्व-रचित 'सुबोधिनी टीका' सुनायी^२ । इन ग्रंथों के पारायण से सूरदास जी सगुण ब्रह्म की लीलाओं का अनुभव हृदय में करने लगे और उसका वर्णन करने की क्षमता भी सहज ही उन्हें प्राप्त हो गयी^३ ।

१. दीक्षा के दो रूप वल्लभ-संप्रदाय में प्रचलित हैं — प्रथम, नाम-दीक्षा जिसमें अष्टाक्षर मंत्र — श्रीकृष्णः शरणं मम — कान में तीन बार सुनाया जाता है और द्वितीय, समर्पण-दीक्षा जिसमें व्यक्ति स्त्री, पुत्र, परिवार, धन-धान्य अर्थात् लौकिक संबंधियों और ऐश्वर्यों से व्यवत अपने सर्वस्व के साथ शरीर और आत्मा को भी श्रीकृष्ण को समर्पित करके दास-भाव स्वीकार करता है । सूरदास की रचनाओं में दोनों प्रकार की दीक्षाओं के संकेत मिलते हैं —

क. नाम-दीक्षा की ओर संकेत —

अजहूँ सावधान किन होहि ।
माया बिषम भुजगिनि की बिष उतर्यो नाहिनि तोहि ।
कृष्ण सुमंत्रजियावन मूरी, जिन जन भरत जियायो ।
बारंबार निकट स्तवननि ह्वै, गुरु गारुड़ो सुनायो ॥—सा० २-३२ ।

ख. समर्पण-दीक्षा की ओर संकेत —

हहि बिधि कहा घटंगी तेरी ।
नंदनंदन करि घर को ठाकुर, आपुन हवै रहु चरी ॥
कहा भयो जो संपति वाड़ी कियो बहुत घर घेरी ।
.....

जो बनिता-सुत जूथ सकेले हय-गय बिभव घनेरी ।

सबै समपौँ सूर स्याम कौँ, यह साँची मत मेरी ॥ सा० १-२६६ ।

२. 'अष्टाक्षर मंत्र सुनायो तासों सूरदास के सगरे जन्म के दोष मिटाये और सात भक्ति भई । पाछे ब्रह्म संबंध करवायो, तासों सात भक्ति और नवधा भक्ति की सिद्धि भई । सो रही प्रेमलक्षणा, सो दसम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाये । तब संपूर्ण पुरुषोत्तम की लीला सूरदास के हृदय में स्थापन भई, सो प्रेमलक्षणा भक्ति सिद्धि भई' — 'भाव-प्रकाश' (प्राचीन वार्ता-रहस्य, द्वितीय भाग), पृ० १३ ।

३. "सो सगरी 'श्रीसुबोधिनी' जो को ज्ञान श्रीआचार्य जी ने सूरदास के हृदय में स्थापन कियो । तब भगवल्लीला-जस वर्णन करिबे को सामर्थ्य भयो । तब अनुक्रमणिका तें सगरी लीला हृदय में स्फुरी ।"

— 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरीली), द्वितीय भाग, पृ० १४ ।

उक्त बाता से उनकी बुद्धि की कुशाग्रता और विषय की हृदयगमशीलता पर तो प्रकाश पड़ता ही है, यह भी स्पष्ट होता है कि तीस-वत्तीस वर्ष की अवस्था तक विरक्त जीवन बिताने के कारण उनका हृदय इष्टदेव के प्रति निष्ठा के भाव को सजग करने में समर्थ हो गया था तथा अनन्य भक्त का आदर्श और समर्पणमय जीवन बिताने की योग्यता भी उनमें आ गयी थी। इसी समय में स्वयं का महाप्रभु के चरणों में डालने में ही उन्होंने जीवन की चरम साधकता समझी और शय जायु आचार्य जी के निर्देशानुसार बितान का निश्चय किया। पश्चात्, उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' के लीला-मन्वन्ती विषयों का ध्यान रखते हुए हजारों पद बनाये। 'श्रीमद्भागवत' भक्ति विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है, इसी प्रकार सूरदास के काव्य का भी सांप्रदायिक भक्ता में बड़ा मान रहा है। 'वार्ता'-कार ने तो उसे ज्ञान-वैराग्य विषयक भक्ति-भेदों में युक्त माना है^१ और हरिराय जी ने उनके मन रे, माधव सा करि प्रीति^२ वाले पद के सुप्रभाव की ओर संकेत करते हुए एक अच्छा खासा प्रमाण-पत्र दे डाला है—सा यह पद कैसा है, जाया पद का मुमिरन रहै तब भगवत् अनुग्रह होय और मन कू बाध हाय और ससार मा वैराग्य होय श्रीभगवान् के चरणारविंद में मन लगै। तब दुसग में भय हाय, सत्सग में मन लगै। सा देहादिक में ते स्नेह घटै लौकिक आसक्ति छूटै। जो भगवान् का प्रेम है सा अलौकिक है, ताके ऊपर प्रीति बढ़ै^३।

सूर-साहित्य का अध्ययन करके हम बल्लभ-संप्रदाय के धार्मिक और दार्शनिक नियमों और सिद्धांतों की रूपरेखा की स्पष्ट जानकारी पा सकते हैं। परन्तु सूरदास भावुक भक्त और कवि थे, दार्शनिक विवेचक नहीं। उन्होंने हृदय में सांप्रदायिक सिद्धांतों का समझा था, मस्तिष्क द्वारा उनका विधिवत् मनन और चिन्तन नहीं किया था। अतएव उनका काव्य इस बात का तो परिचायक है कि जिस संप्रदाय में वे दीक्षित थे उसके सिद्धांतों का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान उन्होंने अवश्य प्राप्त कर लिया था और पूरी निष्ठा से उनको आचरित करने को भी वे सदैव प्रस्तुत रहते थे, अपना समय में प्रचलित विविध मत-पथों के साधारण सिद्धांतों में भी वे परिचित थे। परन्तु उनकी शारीरिक स्थिति जहाँ उन्हें सांप्रदायिक नियमों-सिद्धांतों के 'प्रचारक' बनने का लाभ संवरण करने का विवश कर रही थी, वहाँ महाप्रभु द्वारा मौंपा हुआ कीर्तन और लीला-वर्णन का सेवा-कार्य इसी दायित्व के शक्ति भर निर्वाह के लिए उत्साहित कर रहा था। दार्शनिक और सैद्धान्तिक विवेचन को उन्होंने एक प्रकार से अनधिकार पूर्ण चेष्टा समझा और उनका भावुक हृदय उनके पारिभाषिक प्रतिपादन की गम्भीरता और शुष्कता में दूर रह कर ही संतुष्ट

-
१. 'सूरदास ने सहस्र विधि पद किये हैं। तामे ज्ञान-वैराग्य के न्यारे न्यारे भक्ति-भेद अनेक भगवद् अवतार, सो तिन सबन की लीला को बरनन कियो है'।
—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरोली), द्वितीय भाग, पृ० २३।
 २. सा० १-३२५। यह लम्बा पद 'सूर-पञ्चोत्ती' नाम से प्रसिद्ध है।
 ३. 'भाव-प्रकाश', 'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग, पृ० २५।

रहा; क्योंकि उस स्थिति में उन्होंने अत्यन्त सरस और कोमल भावपूर्ण रचना द्वारा सांप्रदायिक भक्तों और उपासकों को ही नहीं, मानव मात्र को अपने इष्टदेव के प्रति सहज ही आकर्षित करके, उनकी मनोरम और हृदय-मुग्धकारी लीलाओं का प्रशंसक और गायक बना दिया। इस दृष्टि से सैद्धांतिक और दार्शनिक विवेचना न करने पर भी सूरदास का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसका प्रभाव भी अधिक व्यापक और स्थायी है।

३. सूर की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन

(क) व्रजभाषा का ध्वनि-समूह और सूर के प्रयोग

व्रजभाषा का ध्वनि समूह—

व्रजभाषा की सामान्य ध्वनियाँ, जो हिन्दी की अन्य बोलियों की ध्वनियों से मिलती जुलती हैं, इस प्रकार हैं—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ए ओ औ ए=अए औ=अऔ।

उप्यंजन—कठ्य क् ख् ग् घ्

तालव्य च् छ् ज् झ्

मूढन्य ट् ठ् ड् ढ्

दंत्य त् थ् द् ध्

ओष्ठ्य प् फ् ब् भ्

अनुनासिक (ङ्) (ञ्) (ण्) न् (न्ह) म् (म्ह) और
अनुस्वर = ँ ।

अतस्थ य् र् (रह) ल् (ल्ह) व्

ऊष्म (श्) (ष्) म् ह और विभर्ग : ।

नयी ध्वनियाँ ड् ढ्

उक्त ध्वनि-समूह में कोष्ठक में लिखे लिपि-चिह्न अप्रधान हैं और शेष प्रधान । अप्रधान चिह्नों की स्थिति तो स्पष्ट करने की आवश्यकता है ही, प्रधान वर्णों में से भी कुछ के विषय में विशेष व्याख्या अपेक्षित है ।

स्वर और सूरदास के प्रयोग—

‘ऋ’ व्रजभाषा का अप्रधान स्वर है । इसके स्थान पर सूरदास तथा व्रजभाषा के अन्य कवियों ने ‘रि’ अथवा ‘इर्’ का प्रयोग किया है । यदि सर्वत्र ऐसा किया गया होता और ‘ऋ’ की मात्रा (२) का भी प्रयोग न किया जाता तब तो व्रजभाषा के ध्वनि-समूह से ‘ऋ’ को सर्वथा बहिष्कृत किया जा सकता था, परंतु ऐसा हुआ नहीं है और अनेक शब्दों में ‘ऋ’ की मात्रा तो सुरक्षित है ही, उसका भी प्रयोग हुआ है । सभा के ही ‘सूरमागर’ में यद्यपि ‘ऋचा’ और ‘ऋतु’ के स्थान पर ‘रिचा’^१ और ‘रितु’^२ दिये

गये है; तथापि 'ऋतु',^१ 'ऋन',^२ 'ऋषिनि'^३ आदि में 'ऋ' भी सुरक्षित है और 'सूरसागर' के पुराने संस्करणों में तो उक्त शब्दों के अतिरिक्त 'ऋच्छ'^४ जैसे अनेकानेक कम प्रचलित शब्दों में भी 'ऋ' दिखायी देती है। इसी प्रकार कृन^५, कृपा^६, गृह^७, तृया^८, दृढ़^९, भृगु^{१०} मृत्क^{११} आदि अनेक शब्दों में उसकी मात्रा भी मिलती है। यह हो सकता है कि 'ऋ' का प्रयोग व्रजभाषा की प्रकृति न समझनेवाले लिपिकारों ने किया हो, परंतु उसकी मात्रा के संबंध में यह बात निश्चित है कि स्वयं कवियों ने अनेक तत्सम शब्दों को उनके मूल रूप में ही अपना लिया जिनमें 'ऋ' की मात्रा सुरक्षित है, यद्यपि इसका उच्चारण 'रि' या 'इर्' से मिलना-जुलना ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'ऋ' के प्रयोग को यदि लिपिकारों आदि को सामान्य भूल ही मान लिया जाय, तो भी उसकी मात्रा के ही प्रयोग-बाहुल्य के आधार पर इसे व्रजभाषा के स्वरों में गौण स्थान की अधिकारिणी अवश्य मानना चाहिए।

स्वरों के अनुच्चरित और लघुच्चरित प्रयोग—'सूरसागर' के अनेक पदों में चरण की मात्रा पूर्ति हो जाने पर गणना की दृष्टि से, 'अ' के अनुच्चरित प्रयोग मिलते हैं; जैसे—कपिलज्वतार^{१२}, कुटुंबज्वगाहे^{१३}, क्योऽब^{१४}, देहऽभिमान^{१५}, प्रतापऽधिकार^{१६}, बिमुखऽह^{१७}, भागवतऽनुमार^{१८}। इनके अतिरिक्त सूर-काव्य में कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमें लघुमात्रिक व्यंजन का भी, जिसमें 'अ' समुक्त रहा है, मात्रा की दृष्टि से, उच्चारण नहीं किया जाता। ऐसे प्रयोग में अनुच्चरित व्यंजन अर्द्धाक्षर माना जाता है। जैसे—नृप कह्यो मंत्र जंत्र कछु आहि^{१९}, अनि विपरीत तृनावत्त^{२०} आयो^{२१}। सूरदास प्रभु तुम्हारे गहत ही एक एक तैं होत बियो^{२२}। आपु बंधावत भक्तनि छोरत वेद बिदित भई बानी^{२३}।

अ की तरह अनुच्चरित इ और उ के उदाहरण समस्त सूर-काव्य में बहुत कम मिलेंगे; जैसे—इनहि स्वाद जो लुब्ध सूर सोइ जानत चाखनहारो^{२४}। परंतु साथ-साथ प्रयुक्त

दो अनुच्चरित 'इ' का 'सूरसागर' में एक बहुत रोचक उदाहरण मिलना है—

वा भय तैं मोहिं इनहि उवार्यो^{२५}।

'सूरसागर' में ऊँ के लघुच्चरित रूप के प्रयोग बहुत कम मिलते हैं, शेष स्वरों के कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

१. सा. ३४६९। २. सा. १-१९६। ३. सा. १-३४१। ४. सा. वै. ९-१०४।
 ५. सा. ७-२। ६. सा. १-१। ७. सा. १-९। ८. सा. १-१-९।
 ९. सा. १०-१६४। १०. सा. १-३। ११. सा. ७-२। १२. सा. ३-१२।
 १३. सा. ३-१३। १४. सा. ३६६। १५. सा. ३-१३। १६. सा. १-२२९।
 १७. सा. १-१२६। १८. सा. ३-१२। १९. सा. ७-२। २०. सा. १०-७७।
 २१. सा. १०-१४३। २२. सा. १०-३४३। २३. सा. १०-१३५। २४. सा. ६-४।

१. आ के लघुन्चरित प्रयोग—कहा कभी जाके राम धनो^१ । बडे पतिन पासगहु नाही अजामिल कौन बिचारो^२ । मर्य भक्ताहि तारिबे कौ लोला बिम्बारो^३ । कहा जानै कैं वां मुवो (रे) ऐसे कुमति कुमीच^४ । राजा इक पडिन पौरि तुम्हारी^५ ।

२. ई के लघुन्चरित प्रयोग—निनकी माखि देखि हिरनाकुम-रावन-कुटुंब मई ख्वारी^६ । अब आज तैं आप आगें दुई लै आइए चराइ^७ । माया-माह-नाम कै लौन्है जारो न बू दावन रजधानी^८ । मातु पिता-भैया मिले (रे) नई रुचि नई पहिचानि^९ ।

३. ए के लघुन्चरित प्रयोग—प्रभु तेरी बचन भरासो सांची^{१०} । दर-दर नाम लागि लिए डोलति नाना स्वांग बनावै^{११} । किते दिन हरि-मुमिरन बिनु खोए^{१२} । नहि रुचि पथ पदादि डरनि छकि पच एकादस ठानै^{१३} ।

४. ऐ के लघुन्चरित प्रयोग—इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर धपुरे की कहा गती^{१४} । और को है तारिबैं कौं कही कृपा ताता^{१५} । और हैं आजकाल के राजा में तिनमें सुलतान^{१६} ।

५. ओ के लघुन्चरित प्रयोग—अर्थ काम दोउ रहें दुवारें धर्म-मोक्ष मिर नावैं^{१७} । जो कोउ प्रीति करै पद-अंगुज उर मंडत निरमोलक हार^{१८} । पाप उग्रीर कह्यो सोइ मान्यो धर्म-सुधन लुट्यो^{१९} । कपट लोभ बाके दोउ भैया ते घर के अधिकारी^{२०} ।

६. औ के लघुन्चरित प्रयोग—अंबरीष कौ साप देन गयो बहुरि पठायो ताको^{२१} । मरियत साज पांच पतितनि में ही अब कडो घटि कर्त^{२२} । तो कही कहीं

१. सा. १-३९ । २. सा. १-१३१ । ३. सा. १-१७६ । ४. सा. १-३३५ ।

५. सा. ८-१४ । ६. सा. १-३४ । ७. सा. १-५१ । ८. सा. १-१४९ ।

९. सा. १-३२५ । १०. सा. १-३२ । ११. सा. १-४२ । १२. सा. १-५२ ।

१३. सा. १-६० । १४. सा. १-३९ । १५. सा. १-१२३ । १६. सा. १-१४५ ।

१७. सा. १-४० । १८. सा. १-४१ । १९. सा. १-६४ । २०. सा. १-१७३ ।

२१. सा. १-११३ । २२. सा. १-१३७ ।

जाद कहनामय कृपित करम को मारो^१ । महा कुबुधि कुटिल अपराधी अंगुत भरि
लियौ भारी ।^२ हरि जू सौँ अब मे कहा कहौ^३ ।

दीर्घ वर्णों का लघु रूप में उच्चरित होना कवि की भाषा का एक दोष कहा जा सकता है । मूरदास के बहुत कम पदों में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, परन्तु बिल्कुल न हो, सो बात भी नहीं है । जिन पंक्तियों में इस प्रकार के प्रयोग है, उनमें से अधिकांश ऐसी हैं जिनमें एक या दो दीर्घ स्वर लघु रूप में पाये जाते हैं । परन्तु खोज करने पर कुछ ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जिनमें चार में मान तक लघूच्चरित दीर्घाक्षर मिल जाते हैं, जैसे—

ननकहि तनक जु सूर निकट आवं ननक कृपा कं दीजै ननकहि सरन^४ ।
ननकहि तनक तनक करि आवं सूर, ननक कृपा कं दीजै तनक मग्न^५ । मेरे माई
स्याम मनोहर जीवन^६ । जोइ जाँइ भावै मेरे प्यारे । सोइ सोइ तोहि देहु
बना रे^७ ।

मूरदास के कुछ पदों में इस प्रकार के प्रयोगों के रह जाने का कारण एक तो यह हो सकता है कि ये पद उन्होंने स्वयं लिपिबद्ध नहीं किये और दूसरा यह कि इनका सहायक भी वे नहीं कर पाये । कुछ लिपिकारों की कृपा का भी यह फल हो सकता है । फिर भी सतोष की बात यह है कि मूर के 'सागर' में ऐसे प्रयोग बूंद में अधिक नहीं हैं जो काव्य-प्रेमी पाठक को खटकते हों ।

स्वरों के सानुनासिक प्रयोग—

व्रजभाषा के प्रायः सभी स्वरों के अनुनासिक रूप भी मूर-काव्य में बराबर प्रयुक्त हुए हैं । 'सूरसागर' में ए के लघूच्चरित सानुनासिक रूप (ऐं) के उदाहरण अधिक नहीं मिलते; शेष में से प्रत्येक के कुछ प्रयोग यहाँ संकलित हैं । स्थानाभाव से दीर्घ स्वरों के लघूच्चरित प्रयोगों के लिए तो पद का पूरा चरण उद्धृत किया गया है, क्योंकि इसके न देने से उच्चारण का रूप स्पष्ट नहीं हो सकता; शेष के साथ केवल शब्द देना ही पर्याप्त समझा गया है—

अ—आनंद^८, बिलंब^९, संग^{१०}, सँताप^{११}, सँपूरन^{१२}, हँकारघो^{१३} ।

आ—आँखि^{१४}, उहाँ^{१५}, जाँघ^{१६}, दधिकान्दी^{१७}, बतियाँ^{१८}, माँगि^{१९} ।

१. सा. १-१५७ ।

२. सा. १-२१८ ।

३. सा. ३-२ ।

४. सा. १०-१५० ।

५. सा. १०-१५२ ।

६. सा. १०-१५४ ।

७. सा. १०-१८३ ।

८. सा. १०-३६ ।

९. सा. सा. ४-५ ।

१०. सा. २-२४ ।

११. सा. ३-१३ ।

१२. सा. ३-१३ ।

१३. सा. ४-६ ।

१४. सा. ४-५ ।

१५. सा. ३-१३ ।

१६. सा. ४-११ ।

१७. सा. १०-४० ।

१८. सा. २-२५ ।

१९. सा. ४-९ ।

ई—उहि^१, गोबिदाहि^२, चीतोति^३, देहि^४, माहि^५, सिहासन^६ ।

ई—उपजी^७, गवनी^८, तिही^९, नाई^{१०}, नितही^{११}, लगाई^{१२} ।

उ—कुटुंब^{१३}, कुंवर^{१४}, गाउ^{१५}, जाउ^{१६}, तिनहु^{१७}, पहुँच्यो^{१८} ।

ऊ—अजहूँ^{१९}, जिवाऊँ^{२०}, डूँदन^{२१}, मूँदि^{२२}, सुनाऊँ^{२३} सूधि^{२४} ।

एँ—जँवत^{२५}, वँचि^{२६}, भँट^{२७}, रँग^{२८}, सँतो^{२९} सँदुर^{३०} ।

ऐ—आगै^{३१}, तातै^{३२}, मुऐ^{३३}, सहरै^{३४}, खवै^{३५}, हिरदै^{३६} ।

ऐ—ब्रज बधु कहै बार बार धन्य रे गडैया^{३७} । पुनि मुरचि कै चग्ननि पर्यो^{३८} ।

कृष्ण-जन्म मु प्रेम-मागर औडै मव ब्रज ले ग^{३९} । निमि भएँ रानी पँ फिरि

आवै^{४०} । तव उपदेस में हरि कौ घ्यायो^{४१} । साँचैहि सुत भयो नँदनायक

कै हैं नाही बोरावति^{४२} ।

ओ^{४३}—कीन्हो^{४४}, गोडे^{४५}, ज्यो ज्यो त्यो त्यो^{४६}, दीन्हो^{४७}, दीनो^{४८}, पोछति^{४९},
भोको^{५०} ।

ओँ—गूँगी वातन यो अनुरागति भँवर गुजरत कमल में बदाहि^{५१} ।

ओँ—तीनों^{५२}, घों^{५३}, पसारों^{५४}, भजों^{५५}, मोसों^{५६}, लँहो^{५७} ।

१. सा. ४-५ । २. सा. २-१३ । ३. सा. १०-३२ । ४. सा. ५-३ ।

५. सा. ३-११ । ६. सा. ६-५ । ७. सा. ४-४ । ८. सा. १०-३२ ।

९. सा. ८-११ । १०. सा. ५-३ । ११. सा. ३-६ । १२. सा. ५-२ ।

१३. सा. ३-१३ । १४. सा. ४-९ । १५. सा. ४-९ । १६. सा. १०-४६ ।

१७. सा. २-३० । १८. सा. ३-११ । १९. सा. ४-९ । २०. सा. ८-८ ।

२१. सा. ५-३ । २२. सा. १०-४३ । २३. सा. ३-१३ । २४. सा. २-२६ ।

२५. सा. १०-१६८ । २६. सा. ४-५ । २७. सा. ४-११ । २८. सा. १०-७६ ।

२९. सा. ९-१७४ । ३०. सा. १०-२४ । ३१. सा. ३-४ । ३२. सा. २-२२ ।

३३. सा. ४-५ । ३४. सा. ४-३ । ३५. सा. १०-३० । ३६. सा. ४-५ ।

३७. सा. १०-४१ । ३८. सा. ४-९ । ३९. सा. १०-२६ । ४०. सा. ४-१२ ।

४१. सा. ४-९ । ४२. सा. १०-२३ ।

४३. ओँ और उसके ह्रस्व रूप के उदाहरण 'सना' के 'सूरसागर' में नहीं हैं; क्योंकि उसमें इनके स्थान पर ओँ और ओँ का सर्वत्र प्रयोग किया गया है । 'सूरसागर' के

पूर्व प्रकाशित सत्करणों में अवश्य यो की भरमार है—लेखक ।

४४. सा. वेनी. ८०८ । ४५. सा. वेनी. १०८० । ४६. सा. वेनी. ११०६ ।

४७. सा. वेनी. ८०८ । ४८. सा. वेनी. ९४५ । ४९. सा. १०-९४ ।

५०. सा. वेनी. ९४४ । ५१. सा. १०-१०७ । ५२. सा. ३-१३ । ५३. सा. २-१५ ।

५४. सा. १०-३७ । ५५. सा. ६-५ । ५६. सा. ५-४ । ५७. सा. ३-१ ।

औं— कहीं हरि कया सुनी चित लाइ^१ । लाख टका अरु झूमका देहु मारी दाइ कौ
नेग^२ । इहि सराप सौ मुक्ति ज्यों होइ^३ ।

स्वरों के संयुक्त प्रयोग—

हिन्दी की अन्य बोलियों या विभाषाओं की तरह व्रजभाषा में भी कई स्वरों के संयुक्त रूपों का व्यवहार किया जाता है । मूर-काव्य में भी साथ-साथ आनेवाले स्वरों के अनेक प्रयोग मिलते हैं । इनमें सबसे अधिक संख्या दो स्वरों के संयुक्त प्रयोगों की है । यों तो व्रजभाषा के प्रधान और अप्रधान, सब स्वरों के परस्पर संयोग से अनेक युग्म बन सकते हैं, परन्तु यहाँ मुख्यतः वे ही संयुक्त प्रयोग दिये जाते हैं जिनके पर्याप्त उदाहरण मूर-काव्य में सरलता से मिल जाते हैं—

अइ—इकइस,^४ भइ,^५ भइ,^६ लइ^७ ।

अई—अनुसरई,^८ करई^९, टरई^{१०}, दई^{११}, नई^{१२}, पुरई^{१३}, बई,^{१४} बाढ़ई^{१५},
भई^{१६}, मुई^{१७}, यहई^{१८}, सरई^{१९} ।

अई—वृथा होहु बर बचन हमारी कैकई जीव कलेस सहो^{२०} हो । यह अनरीति सुनी
नहि सबननि अब नई कहा करो^{२१} । ज्यों बिट पर तिय सग बस्यो रे भोर
भए भई भीति^{२२} ।

अउ—अनउतर^{२३}, जउ^{२४} ।

अऊ—कलऊ^{२५}, तऊ^{२६} ।

अए—जए^{२७}, ठए^{२८}, तए^{२९}, दए^{३०}, नए^{३१} पठए^{३२}, बए^{३३} भए^{३४}, लए^{३५} ।

१. सा. ३-१ । २. सा. १०-४० । ३. सा. ६-७ ।

४. सा. ९-१३ । ५. सा. १०-६७ । ६. सा. ६-२ । ७. सा. ३८०३ ।

८. सा. १-४८ । ९. सा. १-४८ । १०. सा. १०-४ । ११. सा. ४-४ ।

१२. सा. १-१८५ । १३. सा. १-२६ । १४. सा. १-१८५ । १५. सा. १०-४७ ।

१६. सा. १०-३८ । १७. सा. ४-४ । १८. सा. १-६९ । १९. सा. १०-४ ।

२०. सा. ९-३३ । २१. सा. ९-९८ । २२. सा. १-३२५ । २३. सा. १०-३०७ ।

२४. सा. १-९३ । २५. सा. ९-१२३ । २६. सा. १-५८ । २७. सा. ३-८ ।

२८. सा. १०-८ । २९. सा. १-२८४ । ३०. सा. १-११ । ३१. १-२८६ ।

३२. सा. ९-४९ । ३३. सा. १०-१७३ । ३४. सा. १-७ । ३५. सा. १०-११४ ।

अए—सोजत जुग गए वीति नाल की अत न पायो^१ । इतनी जन्म अकारण सोनी
स्याम विकुर भए सुन^२ ।

अए—स्वायभुव मनु सुन भाए दाइ^३

आइ—उताइली,^४ चढाइ^५ जाइ^६ दाइज,^७ धाइ,^८ पाइ^९ वगदाइ^{१०}
राइ,^{११} लगाइ^{१२} समाइ^{१३} ।

आई—बराई,^{१४} ठकुराई^{१५} दुहाई^{१६} बवाई^{१७} भरमाई,^{१८} नजाई,^{१९} नगिकाई,^{२०}
तरनाई,^{२१} हरहाई^{२२} ।

आउ—आउज,^{२३} कनाउ^{२४} चबाउ,^{२५} चाउ,^{२६} जाउ,^{२७} पखाउज,^{२८} भाउ,^{२९}
मढाउ,^{३०} राउर,^{३१} त्याउ^{३२} ।

आउ—बटाऊ^{३३}, बनदाऊ^{३४} ।

आए—अघाए,^{३५} आए,^{३६} उपजाए,^{३७} छाए^{३८} जित्ताए,^{३९} घाए,^{४०} पुराए,^{४१}
मुकराए^{४२} ल्वाए^{४३} ।

आई—सूर स्याम बिनु कोन छुडावँ चले जाव भाई पोइसि^{४४} । कमल नयन की
कपट किए भाई इहि ब्रज आवँ जोइ^{४५} ।

उअ—बतिअनि,^{४६} जिअनि,^{४७} कविअनि^{४८}, बिटनिअनि^{४९} ।

इआ—खिसिआनी,^{५०} पतिआरी^{५१} ।

इए—किए,^{५२} जिए,^{५३} दिए,^{५४} पिए,^{५५} लिए,^{५६} हिए^{५७} ।

-
१. सा. २-३६ । २. सा. १-३२२ । ३. सा. ३-१२ । ४. सा. २०३१ ।
५. सा. १०-३९ । ६. सा. १-११ । ७. सा. ९-२७ । ८. मा. १-१६ ।
९. सा. १-३५ । १०. सा. १-६० । ११. सा. १०-४ । १२. सा. १-५२ ।
१३. सा. १०-१४ । १४. सा. १-६ । १५. सा. १-१९ । १६. सा. १-२४ ।
१७. सा. १०-१२ । १८. सा. १०-५१ । १९. सा. १-४० । २०. सा. १०-४ ।
२१. सा. १-२७ । २२. सा. १-५१ । २३. सा. १-७५ । २४. सा. १०-४१ ।
२५. सा. १-६० । २६. सा. १-७८ । २७. सा. १-२७४ । २८. सा. १-७५ ।
२९. सा. ९-१२१ । ३०. सा. १०-४१ । ३१. सा. १०-२४८ । ३२. सा. १०-४० ।
३३. सा. ९-४५ । ३४. सा. बेनी-११५० । ३५. सा. १-१३ । ३६. सा. १०-४ ।
३७. सा. १-२६ । ३८. सा. १०-३० । ३९. सा. १-२४ । ४०. सा. १-७ ।
४१. सा. १-७ । ४२. मा. १-१७१ । ४३. सा. १०-१३ । ४४. सा. १-१३३ ।
४५. सा. १०-५६ । ४६. सा. ४०१६ । ४७. सा. ४०६९ । ४८. सा. ३०६६ ।
४९. सा. १७११ । ५०. सा. १-१९६ । ५१. सा. ४२०० । ५२. सा. १-१३ ।
५३. सा. १०-९९ । ५४. सा. १-१८ । ५५. सा. १०-९९ । ५६. मा. १-११ ।
५७. सा. १०-८८ ।

इए—सूरदास स्वामी घनि तप किए, बड़े भाग जमुदा अह नंदहि १। आदर सहि

स्याम मुख नद अनद रूप लिए कनियो २।

इए—अवरेसिए, ३ आइए, ४ कीजिए, ५ देखिए, ६ बोइए, ७ बरनिए, ८ भजिए, ९ मधिए, १० मरिए, ११ लुनिए, १२ महिए १३।

इए—सूरदास प्रभु की यों राखी ज्यों राखिए गज मत्त जकरि कं १४।

उअ—आँमुअनि, १५ गरुअ १६, चुअत १७, चेटुअनि, १८ वधुअनि, १९ महुअरि २०।

उअ—गरुआई, २१ गभुआरे, २२ दुआदस, २३ दुआरी, २४ भुआल, २५ मालपुआ २६।

उइ—दुइगानो २७।

उई—मुई २८।

एए—मुए २९।

एइ—जेइ-तेइ, ३० देइ, ३१ भेइ, ३२ लेइ, ३३ सेइ ३४।

एई—एई, ३५ सेई, ३६ येई ३७।

एउ—ऐमेउ, ३८ छेउ-तेउ, ३९ देउ, ४० पारेउ, ४१ लेउगे ४२।

एऊ—कलेऊ, ४३ येऊ ४४।

एए—मेए ४५।

एए—द्वादस वर्ष सेए निसिबासर तब संकर भापी है लैन ४६।

ऐए—जंए ४७।

ऐऐ—सकुचंऐ ४८।

१. सा. १०-१०७। २. सा. १०-१०६। ३. सा. १०-३०७।
 ४. सा. १-५१। ५. सा. १-२८। ६. सा. १०-३०७। ७. सा. १-६१।
 ८. सा. १-४४। ९. सा. १-६८। १०. सा. १०-३३। ११. सा. १-४४।
 १२. सा. १-६१। १३. सा. १०-३४२। १४. सा. १०-३१। १५. सा. ४०७४।
 १६. सा. २१३३। १७. सा. ४१०८। १८. सा. ७-२। १९. सा. ३६५१।
 २०. सा. १४८७। २१. सा. ३५३९। २२. सा. १०-१३४। २३. सा. ३६२७।
 २४. सा. १०-१३५। २५. सा. बेनी. १११२। २६. सा. १०-१८३।
 २७. सा. बेनी- ११६६। २८. सा. ९-७७। २९. सा. ९-१४। ३०. सा. ३७२२।
 ३१. सा. ९-१७४। ३२. सा. १-२००। ३३. सा. ९-११५। ३४. सा. १-२००।
 ३५. सा. बेनी. ११८२। ३६. सा. ९-४२। ३७. सा. १०-८५।
 ३८. सा. बेनी. ११०१। ३९. सा. ३६९१। ४०. सा. ३-१३। ४१. सा. १-२५५।
 ४२. सा. १०-२७९। ४३. सा. १०-१६३। ४४. सा. ९-९५। ४५. सा. १-८२।
 ४६. सा. ९-१२। ४७. सा. बेनी.-१०९३। ४८. सा. ४-५।

ओइ—कोइ^१ कोइरा,^२ जसोइ,^३ चोइ,^४ दोइ,^५ धोइ,^६ पोइ^७ बिगोइ,^८ भरोइ,^९
रोइ,^{१०} लोइ,^{११} सँजोइ,^{१२} सोइ,^{१३} होइ^{१४}।

ओई—कोई,^{१५} खोई,^{१६} गोई,^{१७} ग्गोई,^{१८} मोई,^{१९} होई^{२०}।

ओउ—दोउ,^{२१} तोउ^{२२}।

ओउ—कोऊ,^{२३} गोऊ,^{२४} तोऊ,^{२५} दोऊ,^{२६} रोऊ,^{२७} वोऊ,^{२८} सोऊ^{२९}।

ओए—सूरदास प्रभु मोए बन्हैया हलगवनि मन्हगवनि है^{३०}।

ओइ—कव मेरो अँचरा गहि माहन जउ मोइ कहि मोनों जगरै^{३१}। दधिहि

विने उ नद माखन रातराँ मिथी नानि चटावै नँदलान^{३२}।

आउ—ऊँउ जुवनी आई वँउ आवनि । कौउ उठि चलनि नुननि मुख पावनि^{३३}।

बदरिवासरम दोउ मिलि आइ^{३४}।

ओआ—नोआ^{३५}।

ओई—तिरानोई^{३६}।

दो स्वरों के उक्त सयोगात्मक प्रयोगों के अतिरिक्त बोलचाल की सामान्य भाषा में कुछ और भी वैसे रूप प्रचलित हैं जैसे अओ अओ, आए (=आप), आओ आओ,

(=आव), इअ, इआ, ईई, ईआ उओ, उओ, ऊई ऊए, ऊओ, एआ, एओ, ओअ आदि । प्रचलन करने पर इनमें से कुछ के दो-एक उदाहरण सूर-काव्य में मिल सकते हैं, परन्तु माधारणतः ये रूप काव्य-भाषा में कम ही आते हैं ।

दो स्वरों के उक्त समुक्त रूपों की तरह ही व्रजभाषा में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनमें तीन स्वरों का संयोग दमने में आता है । व्रजभाषा में स्वरों की अधिकता के कारण एक दसजन न अधिक त्रिस्वर सयोगात्मक रूप बन सकते हैं यथा अइया अइओ

- १ मा १-२३० । २ सा ३-८४३ । ३. सा. १०-५६ ।
४. सा. १-२=६ । ५ मा. १-२४५ । ६ सा १-२६२ । ७ सा. १०-१४= ।
८ सा. १०-५६ । ९. सा. १०-५६ । १० सा. १-२६२ । ११. सा ३-१३ ।
१२. सा १०-२६ । १३ सा १-३५ । १४. सा. १-२३० । १५. मा. १०-३ ।
१६ मा ३-१३ । १७ सा १०-३२२ । १८ सा १०-५७ । १९. सा १-११७ ।
२०. सा १-१० । २१ सा १-२६ । २२ सा. बेनी. ११५३ । २३. सा १-३५ ।
२४. सा बेनी ११५९ । २५ सा. बेनी ११५९ । २६. सा. १-४० ।
२७ सा १-१=६ । २८ सा बेनी. ११५९ । २९. मा. १-१=६ ।
३०. सा १०-७३ । ३१. मा १०-७६ । ३२. सा १०-८४ ३३. सा. १०-७०.१
३४. सा ३-२ । ३५ सा १०-१८० । ३६ सा १-७३ ।

अउआ, आइउ, आइए, आइओ, आएउ, इअउ, इआई, इआऊ, इएउ, उइआ, एइआ, ऐएउ, ओआए, ओएउ, ओइआ आदि । इनमें से अधिकांश रूप सामान्य बोलचाल

में ही अधिक प्रयुक्त होते हैं, यथा ओआए—जैसे सोआए,^१ एइए—जैसे मेइए^२ । इन उदाहरणों की संख्या बढ़ सकती है यदि 'ये' और 'यै' को क्रमशः 'ए' और 'ऐ' का रूप मान लिया जाय; जैसे जइयै, पइयै, करइयै, बिछइयै, अइयै, मंगइयै, दुरइयै, छकइयै, अधिकइयै, बढ़इयै आदि प्रथम स्कंध के २३९वें पद में आनेवाले सभी गब्द 'अइऐ' के ओर गाइयै, पाइयै^३ आदि 'आइऐ' के उदाहरण बन सकते हैं ।

सामान्य स्वरों की तरह इन संयुक्त स्वरों के भी सानुनासिक रूप होते हैं । तीन स्वरों से बननेवाले मूल रूपों की तरह उनके सानुनासिक प्रयोगों की संख्या भी सूर-काव्य में नहीं के बराबर है । ही, दो स्वरों के प्रयोग उसमें बहुत मिलने हैं । ऐमे रूपों में कही एक स्वर सानुनासिक है, कही दोनों: यथा—

अऐँ—भऐँ^४

अऐँ—भऐँ अपमान उहाँ तू मरिहै^५ ।

आँउ—इहाँउ^६ ।

आईँ—गुसाईँ,^७ छाईँ-ताईँ^८ नाईँ-बनाईँ^९ ।

आँउँ—अगाँउँ-छाँउँ,^{१०} ठाँउँ,^{११} उराँउँ^{१२} नाँउँ-निभाँउँ,^{१३} पाँउँ,^{१४} बिकाँउँ-लजाँउँ, सुहाँउँ ।^{१५}

आँऊँ—कहाँऊँ-गाँऊँ,^{१६} चलाँऊँ,^{१७} दुहाँऊँ-घाँऊँ-हाँऊँ-पहिराँऊँ,^{१८} पाँऊँ,^{१९} बँधाँऊँ,^{२०} बुलाँऊँ,^{२१} लाँऊँ ।^{२२}

आऐँ—अन्हआऐँ,^{२३} आऐँ,^{२४} कराऐँ,^{२५} खाऐँ,^{२६} गाऐँ,^{२७} चुगाऐँ-हवाऐँ,^{२८} न्हाऐँ-लाऐँ ।^{२९}

इऐँ—दिऐँ ।^{३०}

ईऐँ—कीऐँ-ओऐँ^{३१} ।

५. उँअ—कुँअर ।^{३२}

-
- | | | |
|-----------------|--------------------|-----------------|
| १. सा. १०-८ । | २. सा. बं. १-१४५ । | ३. सा. ३-११ । |
| ४. सा. २-२२ । | ५. सा. ४-५ । | ६. सा. ३-२ । |
| ७. सा. १-४४ । | ८. सा. १-१४७ । | ९. सा. १-१६४ । |
| १०. सा. १-१२८ । | ११. सा. १-१२८ । | १२. सा. १-१२८ । |
| १३. सा. १-१२८ । | १४. सा. १-२० । | १५. सा. १-१२८ । |
| १६. सा. १-१६६ । | १७. सा. १-१४६ । | १८. सा. १-१६६ । |
| १९. सा. १-१४६ । | २०. सा. १-१६६ । | २१. सा. १-१४६ । |
| २२. सा. १-१४६ । | २३. सा. १-३३२ । | २४. सा. १-२५६ । |
| २५. सा. १-३३२ । | २६. सा. २-३२ । | २७. सा. २-६ । |
| २८. सा. १-३३२ । | २९. सा. २-६ । | ३०. सा. २-६ । |
| ३१. सा. ३७०० । | ३२. सा. ४०९४ । | |

उअँ—भुअँग^१ ।

उएँ—हुरएँ^२ ।

एउँ—देउँ^३ ।

ओऊँ—सोऊँ^४ ।

व्यंजन और स्वर के प्रयोग—

जिन व्यंजनों को—यथा क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द ध न प फ ब भ म म ह और ङ—ब्रजभाषा-वर्णमाला में देवनागरी के समान ही स्थान मिला हुआ है, उनकी चर्चा यहाँ न करके केवल उन्हीं के मध्य में विचार करना है जिनमें कुछ अंतर है या जिनका प्रयोग उसमें विशेष रूप में किया जाता है ।

ङ—शब्दों के आदि या अंत में पूर्ण अक्षर की तरह 'ङ' का प्रयोग हिंदी और ब्रजभाषा में नहीं होता, हिंदी में शब्दों के बीच में अवश्य, संस्कृत के तत्सम शब्दों में विशेष रूप से अथवा नये शब्दों में इन्हीं के अनुकरण पर, यह वर्ण व वर्ग के चार अक्षरों—क ख ग घ—के पूर्व प्रयुक्त होता है, परन्तु ऐसा प्रयोग प्रायः उन्हीं लेखकों और कवियों ने अधिक किया है जो संस्कृत के विद्वान हैं अथवा उसकी शुद्धता को हिंदी में लाने के पक्षपाती रहे हैं । 'सूरसागर' के प्रायः सभी नये संस्करणों में 'ङ' के स्थान पर अनुस्वार में काम चलाया गया है, यथा गगा,^५ पतग,^६ भुवग,^७ रक्व,^८ नक्वपति,^९ संक्व,^{१०} सका,^{११} सग^{१२} आदि ।

ज-य—ब्रजभाषा वर्णमाला में ज को खड़ीबोली से अधिक आदर का स्थान प्राप्त है और य को उसी अनुपात में कम । संस्कृत और हिंदी शब्दों के ज का निश्चित स्थान तो ब्रजभाषा में अक्षुण्ण है ही, अधिकांश तत्सम प्रयोगों में, शब्दों के मध्य में तो कम, परन्तु आदि में लगभग सर्वत्र य के स्थान पर ज का ही प्रयोग इसमें किया जाता है । सूरदास ने भी शब्दों के आदि में आनेवाले य को प्रायः सर्वत्र ज में बदल दिया है, जैसे यत्र—जत्र^{१३}, यज्ञ—जग^{१४} या जग्य^{१५} या जाग^{१६}, याचक—जाचक^{१७}, यातना—जातना^{१८} यादव—जादव^{१९}, याम—जाम^{२०}, यामिनी—जामिनी^{२१}, यावक—जावक^{२२}, युक्त-जुक्त^{२३}, युक्ति—जुक्ति^{२४}, युग—जुग^{२५}, युगल—जुगल^{२६}, या जुगल^{२७}, यूथ—जूथ^{२८}, युवनी—जुवनी^{२९}, योग-जोग^{३०}, जोड़ा—जोड़ा^{३१}, यौवन

- | | | | |
|-----------------|--------------------|-----------------|-----------------|
| १. सा. ३७७५ । | २. सा. १०-२५७ । | ३. सा. ३-१३ । | ४. सा. १-५१ । |
| ५. सा. १-२७० । | ६. सा. १-५५ । | ७. सा. १-३९ । | ८. सा. १-३५ । |
| ९. सा. १-२५५ । | १०. सा. १-२६८ । | ११. सा. १-२८६ । | १२. सा. १-२६४ । |
| १३. सा. १-२६२ । | १४. सा. ८-१४ । | १५. सा. ४८७ । | १६. सा. ९-२ । |
| १७. सा. १०-३२ । | १८. सा. १-२८९ । | १९. सा. १-२८६ । | २०. सा. ९-३३ । |
| २१. सा. ९-१७२ । | २२. सा. घं. २७५८ । | २३. सा. १०-८६ । | २४. सा. २-२२ । |
| २५. सा. १-६० । | २६. सा. १-९० । | २७. सा. १०-५२ । | २८. सा. १-१०६ । |
| २९. सा. १-१०४ । | ३०. सा. १०-४० । | ३१. सा. १-२४ । | |

—जोवन^१, या जीवन^२ आदि । भभा के 'सूरसागर' में दो-एक शब्दों के आदि में य अपरिवर्तित रूप में मिलता है, जैसे यमुमति^३, युवति^४, परंतु ऐसे शब्दों को संपादन की भूल ही मानना चाहिए ।

शब्द के बीच में आनेवाला य सूरसागर में कभी ज में बदला गया है—जैसे दुर्योधन—दुरजोधन^५, सयम—सजम^६, सयोग—सजोग^७, कभी नहीं भी बदला गया है; जैसे 'वियोग' के स्थान पर 'विजोग' कही नहीं मिलता । इसी प्रकार शब्द के अंत में आनेवाला य बोलचाल की भाषा में ज से चाहे सर्वत्र बदल दिया जाता हो, परंतु 'सूरसागर' में ऐसे शब्दों का य कही-कही ही बदला हुआ मिलता है, जैसे आर्य—आरज^८, कार्य—कारज^९ ।

व्य—व्रजभाषा में 'ङ्' की तरह 'व्य' का प्रयोग भी नहीं होता, और व्रजभाषा कवियों ने इसके लिए प्रायः सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग किया है । 'नाञ्ज' (नाय = नहीं), माञ्ज (= मायें = मझाटे की ध्वनि-विशेष) जैसे बोलचाल के शब्दों में 'ज्' की ध्वनि सुनायी पड़ने पर भी इसको वर्णमाला में स्थान नहीं मिल सका । सूर-काव्य में भी इसके लिए अनुस्वार का प्रयोग मिलता है, जैसे अजलि^{१०}, गुजा^{११}, जजार^{१२}, पुरजन^{१३}, बिरचि^{१४} आदि ।

ण—यह अनुनासिक व्यंजन, यद्यपि 'ङ्' और 'ज्' की तरह अपने वर्गीय अक्षरों के पूर्व उच्चरित होने पर ही, मस्कृत व्याकरण से परिचितों अथवा उनका अनुकरण करनेवालों द्वारा प्रयुक्त होता है, तथापि उन अनुनासिकों से इसका प्रयोग इस कारण अपेक्षाकृत अधिक है कि अनेक तत्सम शब्दों के आदि में तो नहीं, बीच और अंत में पूर्ण व्यंजन के रूप में यह आता रहता है । व्रजभाषा-कवियों ने इसके स्थान पर प्रायः 'न' का ही प्रयोग किया है, यद्यपि कही कही 'ण' भी दिखायी देता है । 'सूरसागर' के कुछ संस्करणों में भी कही कही शब्दों के बीच या अंत में 'ण' के दर्शन हो जाते हैं, जैसे कारण^{१५}, किंकिणी^{१६}, कृष्ण^{१७}, गुण^{१८}, चरण^{१९}, तृण^{२०}, पूरण^{२१}, प्राणपति^{२२}, मणि^{२३}, रणभूमि^{२४}, श्रवणनि^{२५} आदि । अन्यत्र व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप 'ण' के स्थान पर सर्वत्र 'न' का प्रयोग किया गया है, जैसे गणिका—गनिका^{२६}, दर्पण—दर्पन^{२७}, पुराण—पुरान^{२८}, प्राणायाम—प्रानायाम^{२९}, शरणागत—सरना-

- | | | | |
|-------------------|-----------------------------|----------------|----------------------|
| १. सा. ९-१७४ । | २. सा. २-२३ । | ३. सा. ८१० । | ४. सा. ७६२ । |
| ५. सा. १-२४४ । | ६. सा. ३७०९ । | ७. स. १-२८४ । | ८. सा. १२४८ । |
| ९. सा. १०-५८ । | १०. सा. १-१४७ । | ११. सा. १-६८ । | १२. सा. ४-१२ । |
| १३. सा. ७-४ । | १४. सा. ७-४ । | १५. सा. ३६५ । | १६. सां. वेनी. ७४६ । |
| १७. स. ३९१३ । | १८. सा. १-१५७ । | १९. सा. ३३३३ । | २०. सा. ३१५७ । |
| २१. सा. वे. ९-२ । | २२. सा. नकि० मयुरालीला ४८ । | २३. सा. ८०९ । | |
| २४. सा. ४१९८ । | २५. सा. वेनी ७३४ । | २६. सा. २-३० । | २७. सा. २-२५ । |
| २८. सा. २-२९ । | २९. सा. २-२१ । | | |

गत^१ आदि । पूर्ण 'ण' के समान हलत 'णु' का प्रयोग भी 'संक्षिप्त सूरमागर', लखनऊ नया वेंकेटेश्वर प्रेस के संपूर्ण 'सूरसागरो' में कहीं-कहीं मिलता है, परंतु 'सभा' के मस्वरण में इसके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करने की ही नीति अपनायी गयी है, जैसे कठ^२, कुडल^३, खड-गडकि^४, पडिन^५, पाडव^६ आदि ।

य और द—देवनागरी वर्णमाला में य यद्यपि प्राचीन ध्वनि के रूप में स्वीकृत है, तथापि य की ध्वनि के अपश्चाकृत सरल होने के कारण ब्रजभाषा-कवियों ने शब्दों के आदि के य को प्रायः सर्वत्र और मध्य या अंत में आनेवाले यों विशेष अवसरों पर य लिखा है । सूरदास भी शब्दारम्भ के य का प्रायः सदैव य ही लिखने के पक्ष में हैं, जैसे वचन-वचन^७ विधाता-विधाना^८ विनोद-विनोद^९, विबुध-विबुध^{१०}, वृद्ध-वृद्ध^{११}, वृष्टि-वृष्टि^{१२} आदि । शब्दों के मध्य में प्रयुक्त य को गोवर्द्धन—गोवर्धन^{१३}, जैसे दो-एक शब्दों को छोड़कर प्रायः तभी वे य से बदलते हैं जब उपसर्ग जोड़कर अथवा समास-द्वारा नया रूप गढ़ा गया हो, जैसे ब्रज-वासी—ग्रजवासी^{१४}, अथवा उसके पूर्व का य भी य में बदला गया हो, जैसे विविध-विविध^{१५}, । इसी प्रकार शब्दांत के य को य में तब परिवर्तित किया गया है जब उसके पूर्व की अन्य ध्वनि को भी सरल रूप में लिखा गया हो, जैसे पूर्व—पूरव^{१६} । कुछ शब्दों में य के स्थान पर उ, जैसे ज्वर-जुर^{१७}, कुछ में ओ, जैसे गवन-गोन^{१८}, यादव-जादो^{१९}, यादव-कुल—जादो-कुल^{२०}, पवन-पीन^{२१}, और कुछ में म, जैसे यवन-जमन^{२२} भी 'सूरसागर' में मिलता है । साथ ही अनेक शब्द ऐसे भी पाये जाते हैं जिनका य कवि ने सुरक्षित रखा है, जैसे कुतवाल^{२३}, गँवायो^{२४}, जीव^{२५}, जुवा^{२६}, ज्व ला^{२७}, पावक^{२८}, पावन^{२९}, भगवत^{३०}, भव^{३१}, भागवत^{३२}, भाव^{३३}, सावक^{३४}, सुवा^{३५}, स्व^{३६}, स्वान^{३७}, स्वारथ^{३८} आदि ।

र और ल—यद्यपि इन दोनों व्यंजनों का उच्चारण-स्थान एक ही है और ल का उच्चारण र से सरल भी होता है, तथापि ब्रजभाषा में शब्दांत के ल को कभी-कभी र में बदल दिया जाता है । सूर-काव्य में भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं; जैसे—केला-

१. सा. २-२० ।	२. सा. ४-९ ।	३. सा. ३-१३ ।	४. सा. ५-३ ।
५. सा. ८-१४ ।	६. सा. १-२५ ।	७. सा. १०-११ ।	८. सा. १०-२३ ।
९. सा. १०-४ ।	१०. सा. ३९३९ ।	११. सा. १०-२१ ।	१२. सा. १०-११ ।
१३. सा. १०-३७ ।	१४. सा. १०-३६ ।	१५. सा. १०-८४ ।	१६. सा. १०-८ ।
१७. सा. वे. १४३३ ।	१८. सा. ३६९३ ।	१९. सा. १-२८८ ।	२०. सा. १०-३४ ।
२१. सा. ३६९० ।	२२. सा. ९-११ ।	२३. सा. १-६४ ।	२४. सा. १-७९ ।
२५. सा. १-५४ ।	२६. सा. १-१०१ ।	२७. सा. १-४६ ।	२८. सा. १-५५ ।
२९. सा. १-९० ।	३०. सा. १-२ ।	३१. सा. १-७६ ।	३२. सा. १-६५ ।
३३. सा. १-६५ ।	३४. सा. १-१०६ ।	३५. सा. १-८९ ।	३६. सा. १-५० ।
३७. सा. १-९८ ।	३८. सा. १-५३ ।		

केरा^१, चटसाल—चटपार^२, छर—छर^३, जजाल—जंजार^४, जाल—जार^५, नालो—नारो^६, पुतलो—पुतरो^७, बादल—बादर^८, बिकराल—बिकरार^९ । कही-कही शब्द के मध्य का ल भी र में बदला गया है; जैसे गालियाँ—गारियाँ^{१०}, परन्तु ऐसा बहुत कम शब्दों में किया गया है । कुछ शब्दों में र का लोप भी मिलता है; जैसे—प्रिय—पिय^{११}, परन्तु ऐसा अधिक नहीं होता, यहाँ तक कि 'प्रिय' के स्त्रीलिंग रूप 'प्रिया'^{१२} का 'पिया' नहीं लिखा जाता । इसी प्रकार प्रीतम^{१३}, प्रीति^{१४}, प्रेम^{१५} आदि शब्द भी मूल रूप में ही 'सूरसागर' में मिलते हैं ।

श, प और म—ब्रजभाषा को श और प से स की मधुर ध्वनि अधिक प्रिय है । यद्यपि 'सूरसागर' के कुछ सस्करणों में अनेक शब्दों को 'श' से ही लिखा गया है तथा कुशल^{१६}, वलेश^{१७}, दशन^{१८}, दशमी^{१९}, दिशि^{२०}, निशान^{२१}, प्रसहि^{२२}, शीश^{२३}, शूल^{२४}, शोभित^{२५} आदि; तथापि ब्रजभाषा में इसके स्थान पर प्रायः सर्वत्र स ही लिखा जाता है । 'सूरसागर' के नये सस्करण में भी श के स्थान पर प्रायः सर्वत्र स ही मिलता है; जैसे अश—अस^{२६}, कुशल—कुसल^{२७}, जगदीश—जगदीस^{२८}, त्रिशूल—त्रिसूल^{२९}, दर्शन—दरसन^{३०}, द्वादश—द्वादस^{३१}, निशाचर—निसाचर^{३२}, शरणागत—सरनागत^{३३}, शास्त्र—सस्त्र^{३४}, सदेश—सदेस^{३५} आदि । श को स में परिवर्तित करने के इस नियम का निर्वाह सूरदास ने जितनी कटुता में किया है, प को स से बदलने में वह दृढ़ता नहीं दिखायी देती जिसके फलस्वरूप अनेक शब्दों में प ज्यों का त्यों वर्तमान है । जैसे आकरषण^{३६}, त्रिदोष^{३७}, निर्दोष^{३८}, पुरुष^{३९}, पुरयारथ^{४०}, पुरुषोत्तम^{४१}, पोष^{४२}, वरप^{४३}, वषा^{४४}, विषम-विषाद^{४५}, विष्णु^{४६}, वृषभ^{४७}, वेप^{४८}, भाष्यो^{४९}, भेषज^{५०},

१. सा. ३८६३ ।	२. सा. ७-२ ।	३. सा. २४५५ ।
४. सा. ७-२ ।	५. सा. २-४ ।	६. - १-२०९ ।
७. सा. ६-५ ।	८. सा. १-३१९ ।	९. सा. १-२७६ ।
११. सा. २४५९ ।	१२. सा. २६०१ ।	१३. सा. ३२३१ ।
१४. सा. २०१८ ।	१५. सा. ३५९७ ।	१६. सा. ३८७ ।
१७. सा. ४०९७ ।	१८. सा. वेना, १४६५ ।	१९. सा. वे ९-४ ।
२०. सा. न. कि. रासलीला ९७ ।	२१. सा. ३८१९ ।	२२. सा. ३६६९ ।
२३. सा. वे ९-२ ।	२४. सा. न. कि. यमलार्जुन लीला, ३० ।	२५. सा. वेनी, १६८१ ।
२६. सा. ६-५ ।	२७. सा. १-२३८ ।	२८. सा. १०-८९ ।
२९. सा. ६-५ ।	३०. सा. ९-८७ ।	३१. सा. ४-९ ।
३२. सा. ९-८४ ।	३३. सा. १-२६८ ।	३४. सा. ६-५ ।
३५. सा. १-२८६ ।	३६. सा. ९-२ ।	३७. सा. ४१४७ ।
३८. सा. १-२१५ ।	३९. सा. ९-२ ।	४०. सा. १-२८७ ।
४१. सा. १-२६९ ।	४२. सा. ९-५ ।	४३. सा. ९-२ ।
४४. सा. १-२८६ ।	४५. सा. ९-७ ।	४६. सा. ९-१२ ।
४७. सा. १-२८६ ।	४८. सा. १-१३६ ।	४९. सा. ८-१६ ।
५०. सा. ४१४७ ।		

भर्षंत^१, रिषिनि^२ द्विपद^३, मतोप^४, हरपवत्^५ हरपि^६ आदि । सब शब्दों का 'प' सुरक्षित रहा ही, सो बात भी नहीं है, कुछ में इनके स्थान पर स भी मिलता है, जैसे अवगेष—अवसेम^७, विगेष—विमेप^८, गेषनाग—मेसनाग^९ । इसी प्रकार शब्द के आदि का श यदि अर्द्धाक्षर के रूप में है और उसके आगे 'र' है तो कभी-कभी उसको नहीं बदला गया है, जैसे श्री^{१०}, श्रुति^{११}, शृंगी^{१२}, यद्यपि त्वम^{१३}, भवतनि^{१४}, श्रुति^{१५} आदि शब्द इनके अपवाद भी हैं ।

व्रजभाषा-काव्य के कुछ मस्वरण। म प के स्थान पर कहीं-कहीं ग्य और ग्य के स्थान पर प लिखा मिलता है । मन् १९४९ म छपी हुई 'साहित्यलहरी' में खण्डित, खरक, दुस्त, दुस्तिन, दखैहैं, वखाने, भख, मुख, लख, नखिन आदि शब्द षडित परक, दुप, दुपित, देप है वपाने, मप, मुप, लप, नपिन रूप में लिखे मिलते हैं^{१६} । बेंकेन्द्रवर प्रेस के 'मूरसागर' में भी मत्त के स्थान में मप^{१७}—जैसे एकाध प्रयोगों में ग्य के स्थान प मिल जाना है । ममा के सस्वरण में यह परिवर्तन नहीं मिलता ।

ड़—देवनागरी वर्णमाला की यह एक नयी ध्वनि है जिसको व्रजभाषा ने कुछ शब्दों में तो अपना लिया है, परन्तु कुछ में इसके स्थान पर 'र' लिखना उसे प्रिय है । मूरदास ने भी कुछ शब्दों में तो इस परिवर्तन को स्वीकार किया है ; जैसे ककडो, क्रीडा, खडाऊँ, घोडा, छडीदार, जोडी, पकडी, पडना, बेडी, लकडी, लडाईं आदि शब्द उन्होंने 'र' में लिखे हैं—ककरी^{१८}, कीरत^{१९} खराऊँ^{२०}, घोरा^{२१}, छरीदार^{२२}, जोरी^{२३}, पकरी^{२४}, परतो^{२५}, बेरो^{२६}, लराई^{२७}, लकरी^{२८}; परन्तु उडन^{२९}, उडाइ^{३०}, उडि^{३१}, उडिबे^{३२}, उडिबी^{३३}, उडैहै^{३४}, गडे^{३५}, गाहडी^{३६}, छांडे^{३७}, छांडि^{३८}, छांडोगी^{३९}, छाड्यो^{४०}, डांडी^{४१}, लाड^{४२}, लाडिली^{४३} आदि शब्दों में 'ड़' को ही स्थान दिया गया है । जड^{४४}, जडनाई^{४५}, जडाई^{४६}, जडित^{४७} आदि शब्द 'मूरसागर'

१. सा. १-२१५ ।

२. सा. ८-१६ ।

३. सा. ४१६० ।

४. सा. १-२१५ ।

५. सा. १०-८९ ।

६. सा. १०-४५ ।

७. सा. ४०७८ ।

८. सा. ४०७८ ।

९. सा. १-२१५ ।

१०. सा. ७-२ ।

११. सा. १-२८४ ।

१२. सा. ३८१२ ।

१३. सा. १-६९ ।

१४. सा. १-७२ ।

१५. सा. १-९१ ।

१६ 'साहित्यलहरी' लहरियासराय, पद सत्या क्रमशः २८, १४, ३३, १६,

२२, ३, १३, ८, ६ और ७ । १७. सा. वे. १२४१ ।

१८. सा. ३९८८ । १९. सा. १२०० । २०. सा. वे. ३४७७ । २१. सा. ९-९ ।

२२. सा. १-४० । २३. सा. ७६१ । २४. सा. ३९८८ । २५. सा. १-२९७ ।

२६. सा. ३९९४ । २७. सा. ३-९ । २८. सा. ३९८९ । २९. सा. १०-६५ ।

३०. सा. १२-२ । ३१. १० उ०. ३१ । ३२. सा. ३६६ । ३३. सा. १-३३८ ।

३४. सा. १-८६ । ३५. सा. ४०७८ । ३६. सा. ७५६ । ३७. सा. ९-८३

३८. स. १-२८६ । ३९. सा. १५११ । ४०. सा. ९-९६ । ४१. २-२८ ।

४२. सा. २-३० । ४३. सा. ७५९ । ४४. सा. ५-३ । ४५. सा. १-१८७ ।

४६. सा. ७९९ । ४७. सा. ७४७३ ।

में 'ड़' से लिखे भी मिलते हैं और ये तथा इनसे मिलते-जुलते शब्द, 'र' से भी; जैसे जर-जड़^१, जराइ-जडाइ^२, जराड-जडाऊ^३, जरि-जड़ि^४, जरिया-जड़िया^५ आदि ।

न्ह, म्ह, र्ह और ल्ह^६—इन ध्वनियों को देवनागरी वर्णमाला में स्थान नहीं मिला है, यद्यपि इन्हें, तुम्हें आदि शब्दों में इनमें से प्रथम दो का प्रयोग किया जाता है । व्रजभाषा कवियों ने और सूरदास ने भी इनमें से अन्तिम दो का प्रयोग तो बहुत कम किया है परंतु प्रथम दो का अधिक, यथा —

न्ह—कन्हैया^७, कन्ह^८, कीन्हो^९, दीन्हो^{१०} न्हाउ^{११}, लीन्हो^{१२} ।

म्ह—तुम्हरी^{१३}, मम्हागति^{१४} ।

ल्ह काल्हि^{१५} ।

संयुक्ताक्षर—हिंदी में जिन संयुक्ताक्षरों का प्रयोग होता है उनमें क्त, क्ष, ज्ञ, य, न्म, ङ्ग, झ, ढ, प्त, प्ठ, ह्ण, ह्ण, ह्ण, ह्ण, ह्ण मुख्य हैं । व्रजभाषा में इनका प्रयोग बहुत कम किया जाता है और जिन तत्सम शब्दों में ये प्रयुक्त होते हैं उनमें अर्द्धाक्षरों को पूर्ण करके अद्वंद्वतत्सम रूप प्रायः बना लिये जाते हैं । जहाँ ऐसा करने का अवसर नहीं मिलता वहाँ पूरे संयुक्ताक्षर के लिए ही सरल ध्वनिवाले मिलते-जुलते एकाक्षर या अक्षरों का प्रयोग किया जाता है । सूरदास ने भी कुछ संयुक्ताक्षरों के अर्द्धाक्षरों को पूर्ण रूप में लिखा है, जैसे पद्म—पदुम^{१६}, प्रह्लाद—प्रह्लाद^{१७}, प्राप्त—प्रापत^{१८}, मुक्ति—मुकुति^{१९}, कुछ में उसे दूसरे अक्षरों से बदल दिया है, जैसे—

क्ष—छ—अक्षत—अछत^{२०}, अक्षम—अछम^{२१}, क्षणभंगुर—छतभंगुर^{२२}, क्षमा—छमा^{२३}, क्षमी—छमी^{२४} ।

क्ष—वृक्ष—अक्षर—अवृक्ष^{२५}, अभक्ष्य—अभवृक्ष^{२६}, वृक्ष—वृवृक्ष^{२७}, परीक्षित—परीवृक्षित^{२८}, रक्षा—रवृक्ष^{२९}, लक्षण—लवृक्ष^{३०}, लक्ष्मी—लवृक्षमी^{३१}, साक्षात्—

१. सा. ९६३ । २. सा. १०-१३३ । ३. सा. १०-४१ । ४. सा. १०-४१ ।
 ५. सा. १०-८८ । ६. डा० बाबूराम सक्तेना ने इन रूपों को स्वतंत्र व्यंजनो के समान मान लिया है—'इथोत्पूशन आव अवधी,' अनु० ६१, ६२ और ७२ ।
 ७. सा. १०-१२५ । ८. सा. १०-१५३ । ९. सा. १-१९० । १०. सा. १-२११ ।
 ११. सा. १०-१८६ । १२. सा. १-१७७ । १३. सा. १-२०४ । १४. सा. १०-२३ ।
 १५. सा. ३८०८ । १६. सा. १-९४ । १७. सा. ७-२ । १८. सा. ४-७ ।
 १९. सा. ३७३५ । २०. सा. ३७३२ । २१. सा. १-१२१ । २२. सा. १-८४ ।
 २३. सा. १-२९० । २४. सा. १-३०९ । २५. सा. ४-९ । २६. सा. १-५६ ।
 २७. सा. ६-५ । २८. सा. १-२८ । २९. सा. १-११२ । ३०. सा. ३-१३ ।
 ३१. सा. ७-२ ।

भाच्छान^१, गिज्ञा—विच्छा^२।

ज्ञ—ज—ज्ञानशिरोमणि—ज्ञाननिरोमणि^३।

ज—ग—यज्ञ—जाग^४।

ज्ञ—ग्य—अज्ञान—अग्यान^५।

उक्त समुत्ताक्षरो मे क्ष विनेष कणकटु है . इसलिए इनके प्रयोग 'मूरसागर' के पुराने सस्वरणो मे बहुत कम हुए हैं . परन्तु विनष्टुन न हुए हो सो बात भी नही है, जैसे—
क्षत्रिजा^६, क्षीरोदक^७, क्षुद्रमति^८, मोक्ष^९, रक्षा^{१०} आदि । अन्य समुत्ताक्षरो मे मे अक्षि-
काश का प्रयोग मूरदान ने किया है । इनमे मे प्रमुख के कुछ उदाहरण यहाँ सवर्णित है—
क्ष—अनुरक्ति^{११}, अमक्त^{१२} जूनि^{१३}, मुक्त^{१४} मुक्ति^{१५}, साक्त^{१६}।

क्ष—अज्ञान^{१७}, आज्ञा^{१८} आत्मज्ञान^{१९} परनिष्ठा^{२०} सरवज्ञ^{२१}, सर्वज्ञ^{२२}।

त्र—गात्र^{२३}, त्रिविध^{२४} त्रैलोक्याय^{२५} दत्तात्रेय^{२६}, धात्र-मात्र-मात्र^{२७}, मित्राई^{२८},
भद्र^{२९}।

त्न—पत्नी^{३०}।

द्ध—उद्धार^{३१}, जुद्ध^{३२}, विरुद्ध^{३३} बुद्धि^{३४} वृद्ध^{३५} निद्धि^{३६}, नुद्धानुद्ध^{३७}।

द्य—पद्य^{३८}।

द्य—अविद्या^{३९}, उद्यम^{४०}, उद्योग^{४१}, जद्यपि^{४२}, तद्यपि^{४३}, द्याऊँ^{४४}, द्याल = दयालु^{४५},
द्युति^{४६}, द्योत^{४७}, द्योतनि^{४८}, विद्यमान^{४९}, वसुधो^{५०}।

द्व—द्वद^{५१}, द्वादस^{५२}, द्विज^{५३}, द्वै^{५४}, द्विरेफ^{५५}।

म—अलिप्त^{५६}, गुप्तहि^{५७}, तृप्ति^{५८}।

१. सा. २८४। २. सा. ३-११। ३. सा. १-८। ४. सा. ८-१४।
५. सा. १-१५४। ६. सा. १० उ. १५१। ७. सा. वे. १६८९।
८. सा. वे. ९४४। ९. सा. १-४०। १०. सा. ४३०९। ११. सा. ३-१३।
१२. सा. १-१०२। १३. सा. १-६०। १४. सा. ३-१२। १५. सा. ३-१६।
१६. ३-१२। १७. सा. ३-१२। १८. सा. ३-१३। १९. सा. ३-१३।
२०. सा. १-३८। २१. सा. १-१२१। २२. सा. १-२८९। २३. सा. १-२१६।
२४. सा. २-१३। २५. सा. १०-१४६। २६. सा. ४-३। २७. सा. १-२१६।
२८. सा. १-२८९। २९. सा. ३-९। ३०. सा. ४-६। ३१. सा. १-२०७।
३२. सा. ३-११। ३३. सा. १-८२। ३४. सा. १-४३। ३५. सा. १-११८।
३६. सा. ५-२। ३७. सा. १-२१६। ३८. सा. ४०७८। ३९. सा. ४-१२।
४०. सा. ३-१३। ४१. सा. ३९९३। ४२. सा. ४-५। ४३. सा. ६-४।
४४. सा. ४-९। ४५. सा. ४-१०। ४६. सा. ८६९। ४७. सा. १-२८६।
४८. सा. ४२२२१। ४९. सा. १-१००। ५०. सा. ४१८६। ५१. सा. ३-१३।
५२. सा. १-६०। ५३. सा. १-८२। ५४. सा. ८-११। ५५. सा. ३९१७।
५६. सा. ३-१३। ५७. सा. ३७४६। ५८. सा. १-१०३।

- पृ—अरिष्ट^१, अष्ट^२, अष्टम^३, त्वष्टा^४, दृष्टि^५, दुष्ट^६, मिष्टान्न^७, मुष्टिका^८, मृष्टि^९ ।
 ष—वसिष्ठ, सिष्ठ^{१०} ।
 ह—चिह्न^{११}, चिह्नानि^{१२} ।
 झ—ब्रह्म^{१३}, ब्रह्मादिक^{१४} ।
 ञ—कह्यो^{१५}, गह्यो^{१६}, निब्रह्मो^{१७}, पूछह्यो^{१८} ।
 ट—बिह्वल^{१९}, ह्वं^{२०} ।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सयुक्ताक्षरों का प्रयोग भी सूर-काव्य में हुआ है; परन्तु वे बहुत सामान्य हैं और हिंदी में भी वे बराबर प्रयुक्त होते हैं। अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

अन्य परिवर्तन—स्वर और व्यजन-सम्बन्धी मूरदास के उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ शब्दों में अन्य अक्षरों का भी परिवर्तन मूरदास ने किया है, जैसे —

- ग—ई—लोग-लौइ^{२१} ।
 म—उ—नाम-नाउ^{२२} ।
 न—इ—आयु-आइ^{२३}, उपाय-उपाइ^{२४}, न्याय-न्याइ^{२५} ।
 व—इ—चाव-चाइ^{२६}, भाव-भाइ^{२७} ।
 घ—उ—घाव-घाउ^{२८}, दावें-दाउं^{२९} ।
 व—औ—अवसर-औसर^{३०}, सवन-सौन^{३१} ।

परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों की संख्या इतनी कम है कि इनके आधार पर तद्विषयक नियम नहीं निश्चित किये जा सकते। फिर भी उक्त विवेचन से इनका तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्रजभाषा की प्रकृति आरम्भ से ही व्यजनों से अधिक स्वरों को अपनाने की ओर रही। मूरदास ने भी इस रहस्य को पूर्णतया हृदयगम कर लिया था। यही कारण है कि कुछेक नत्सम शब्दों को छोड़कर वे प्रायः सर्वत्र क्ष, ऊ, ञ, ण और श के प्रयोग से तो बचे ही न, य, व, ष और इ पर भी जैसे प्रतिबंध लगाते रहे, कम से कम शब्दार्म्भ में तो उन्होंने इनको नहीं ही जाने दिया। इस प्रकार मूल व्यजनों की संख्या में जहाँ उन्होंने लगभग पंचमाश की कमी कर दी, वहाँ स्वरों में एक तिहाई बढ़ाकर और उनके

-
१. सा. १.१२१ । २. सा. १.४० । ३. सा. ३.१३ । ४. सा. ६.४ ।
 ५. सा. १.४४ । ६. सा. १.१०२ । ७. सा. १०.२१२ । ८. सा. १.१२३ ।
 ९. सा. ३.८ । १०. सा. ३.८ । ११. सा. २७१७ । १२. सा. २५४९ ।
 १३. सा. ५.२ । १४. सा. १.५२ । १५. सा. ३.५ । १६. सा. ६.४ ।
 १७. सा. १.९६ । १८. सा. ४.१३ । १९. सा. ८.५ । २०. सा. ८.१० ।
 २१. सा. २.५ । २२. सा. ६.३ । २३. सा. ७.२ । २४. सा. ३.३ ।
 २५. सा. ३७३६ । २६. सा. ३.३ । २७. सा. ३-५ । २८. सा. ६.५ ।
 २९. सा. ३.११ । ३०. सा. ६.५ । ३१. सा. ४.१३ ।

अनेकानेक नये संयुक्त रूप गढ़कर वे व्रजभाषा को जन्मजात कोमलता-मधुरता की मह्य ही वृद्धि कर सके।

(ख) सूर का शब्द-समूह और उसका वर्गीकरण

किसी जनप्रदेश की बोली में जब साहित्य-रचना होने लगती है, तब स्वभावतः उसे पूर्ववर्ती और समकालीन भाषाओं के शब्द अपनाकर अपना भांडार भरना पड़ता है। ऐसा करने से उसकी व्यञ्जना-शक्ति विकसित होती है और धीरे धीरे वह सन्दर्भ भाषा बनती है। सूरदास के पूर्ववर्ती कवि भी व्रजभाषा का शब्द-कोष बढ़ाने में प्रयत्न-शील रहे थे और उनकी लगन का यह सुफल था कि पन्द्रवी शताब्दी तक शक्ति-संचय करने के उपरान्त अपने सीमित क्षेत्र से ऊपर उठकर, वह साहित्यिक भाषा के प्रतिष्ठित पद पर आसीन हो सकी थी। परन्तु उनमें से अधिकांश कवि सामान्य कोटि के ही थे। परिस्थिति का अनुकूल न होना इसका कारण हो, चाहे प्रतिभा का अभाव, तब्य यही है जिसका प्रमाण चौदहवीं शताब्दी अथवा उनके पूर्व के किसी भी व्रजभाषा कवि की रचनाओं का लोकप्रिय न होना माना जा सकता है। व्रजभाषा को वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न बनाने वाले सर्वप्रथम विख्यात कवि सूरदास ही हैं जिनकी अतर्दृष्टि ने जड़ और चेतन प्रकृति की नैसर्गिक सुंदरता, मनोहर क्रिया-कलाप और मर्मभेदिनी अनुभूतियों को नश्य किया और जिनके सत्प्रयत्न से व्रजभाषा इनके स्पष्ट चित्रण में समर्थ हो सकी। सूरदास का इसमें महत्वपूर्ण योग यह था कि उन्होंने व्रजभाषा को मूल प्रवृत्ति की सूक्ष्मताओं को समझा और पूर्ववर्ती तथा समकालीन देशी-विदेशी भाषाओं के शब्द एवं प्रयोग अपनाने की रीति को व्यवस्थित और नियमित किया। अतएव दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनाने की जो रीति सूरदास ने निर्धारित की, उसी का अनुसरण उनके समकालीन और पश्चात् व्रजभाषा कवियों को करते देखकर अध्येता का इन अग्र कवि की अद्भुत प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

सूर-साहित्य के सभी समालोचकों ने कृष्ण-काव्य-परंपरा के इस सर्वश्रेष्ठ व्रजभाषा कवि की भावुकता, अनुभूतियों की व्यापकता, वाक्-विदग्धता और भवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की सराहना की है। इन गुणों या विशेषताओं के मूल में किसी सीमा तक रूढ़ी देन थी। परन्तु व्रजभाषा को व्यञ्जना की क्षमता प्रदान करने का सारा श्रेय उनकी लगन, संचय-वृत्ति, व्यावहारिक दूरदर्शिता और अम्यास की अनवरतता को ही है जो उन्हें की सी साधना वाले व्यक्ति के लिए संभव थी। कारण यह है कि सूरदास के हाथ में पड़कर व्रजभाषा सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो गयी और उसकी शाब्दिक समृद्धि किसी भी साहित्यिक भाषा के उपरान्त मानी जाने लगी। यही नहीं, निम्नवर्ती विभिन्न भाषाओं के शब्दों और प्रयोगों को अपनाने की नीति भी उन्होंने निश्चित कर दी, उदाहरण-स्वरूप मार्ग-प्रदर्शन कर दिया जिसने नदा के लिए सपनों की धनिष्ठता बढ़ने रहने की आशा होने लगी। साथ-साथ जन-बोली में अपनी भाषा का सम्बन्ध विच्छेद करना भी उन्हें नहीं दया और उसी ने साहित्यिक व्रजभाषा को पुष्ट करने का लक्ष्य उन्होंने सदैव अपने सामने रखा। इस प्रकार भाषा का रूप रिपर करने एवं

उसकी नीति और गतिविधि निश्चित करने का महत्वपूर्ण कार्य लगभग माठ वर्ष तक निरंतर काव्य-मृज्ज में लगे रहनेवाले इस अध कवि के द्वारा सम्पन्न हुआ ।

पूर्ववर्ती और नवोदित भाषाएँ—

हिंदी के जन्म से पूर्व संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भारतीय भाषाओं में पर्याप्त साहित्य रचा जा चुका था । इसके पठन-पाठन का क्रम पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक चलता रहा । विधिवत् और नियमित शिक्षा न होने के कारण सूरदास प्रत्यक्ष रूप से इससे कोई लाभ न उठा सके । वीतराग-जन प्रायः साधु-मन्तों के सत्संग-समागम द्वारा तथा कथावाचकों और धर्मोपदेशकों के व्याख्यानो और प्रवचनों में भाषा-मयवी ज्ञान प्राप्त करने हैं । तीस-वत्तीस वर्ष की आयु तक तो सूरदास को इसके लिए कम अवकाश मिला, परन्तु वल्लभ-मप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उनके लिए ऐसे अवसरों की संख्या यहाँ तक बढ़ी कि दिन-रात वे विद्वानों और पण्डितों के ही मध्य में रहने लगे । कीर्तन-मेवा का जो कार्य सूरदास को सौंपा गया था, उसने उनकी प्रसिद्धि बढ़ाने में बड़ा योग दिया और मगीत की कुशलता ने उनकी लोकप्रियता की वृद्धि की । वल्लभ-मप्रदाय में दीक्षित अनेक उपासक और भक्त कवि साहित्य-रचना के कार्य में उस समय बराबर लगे हुए थे । सूरदास ने इनसे प्रेरणा तो ली ही, परोक्ष रूप से वह वातावरण उनकी भाषा-समृद्धि बढ़ाने में भी सहायक हुआ ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्रमुख पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त खड़ीबोली, अवधी, बुंदेलखड़ी, कन्नौजी, राजस्थानी आदि बोलियों तथा विभाषाओं के व्रजप्रदेश में प्रचलित शब्दों और प्रयोगों में भी सूरदास सामान्य रूप से परिचित थे । उन्होंने स्वयं इन भाषाओं के क्षेत्रों की यात्राएँ नहीं की थीं । परन्तु समय-समय पर कुछ ऐसे व्यक्तियों से उनका सम्पर्क अवश्य रहा था, उक्त बोलियों या भाषाओं में से एक न एक जिनकी मानृभाषा थी । साथ ही, व्रजप्रदेश की तीर्थ-यात्रा के लिए आनेवाले भक्तों-उपासकों से भी उनका सम्पर्क हुआ और उनके साथ वार्तालाप करके सूरदास ने व्रजभाषा की प्रवृत्ति से मेल रखनेवाले उपयोगी शब्दों और प्रयोगों को अपना लिया । प्रसिद्ध मंगीतज्ञ सूरदास के निकट सम्पर्क में रहने का लोभ इन बोलियों के गायकों और कलाकारों को रहा हो और उन्होंने इनसे इनकी बोलियों के लोकगीत तथा गेय पद सुने हों, यह बात भी स्वाभाविक जान पड़ती है । सूरदास की रचना में इन बोलियों के शब्द और प्रयोग मिलने के ये ही सम्भव कारण हो सकते हैं ।

अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्द ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से ही इस देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश में प्रचलित हो गये थे । संभवतः इसी से डा० केलॉग ने लिखा था कि हिंदी अपने जन्म से ही विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती रही है^१ ।

1. Almost from its very origin Hindi has been subjected to foreign influence.—Rev. S. H. Kellogg, 'A Grammar of the Hindi Language', Chapter III, P. 36.

सूरदास के प्रादुर्भाव-काल तक व्रजभाषा में ही नहीं, सामान्य काव्य-भाषा में भी अनेक विदेशी शब्दों को स्थान मिल चुका था। खुरो की मितो-जुली भाषा में स्फुट रचनाएँ जनसाधारण को प्रिय थी और उनका अनुकरण करनेवाले साधारण तुक्कन्दीकारों की कमी कभी नहीं रही। सूरदास ने इन विदेशी भाषाओं— मुख्यतः अरबी-फारसी—के अनेक शब्दों और प्रयोगों को उदारतापूर्वक अपनाया जो इस बात का द्योतक है कि वे जन-भाषा की गति-विधि परखने में कुशल थे और अपने को सामान्य वर्ग से ऊपर समझने की अहंकारपूर्ण भनावृत्ति का उनमें सर्वथा अभाव था। इन विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द और प्रयोग जनता की बोली में धुलमिल कर उसका अभिन्न अंग हो गये थे। अतएव सूरदास ने भी उन्हें उसी रूप से अंगीकार किया जिस रूप में जन समुदाय उन्हें अपनाये था। इस दिशा में उनका सबसे महत्वपूर्वक कार्य यह था कि उन्होंने विदेशी भाषाओं के प्रयोग व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप बना कर, इसी के व्याकरण से उन्हें शासित करके, एक ऐसी नियमित व्यवस्था की जिसका समकालीन और परवर्ती कवियों ने भी अनुकरण किया। अनेक अरबी-फारसी शब्दों, अथवा उनके मूल रूपों, को लेकर उन्होंने नये रूप गढ़ने की प्रणाली का भी श्रीगणेश किया जिसने व्रजभाषा की व्यञ्जना-शक्ति की वृद्धि की, जो उसकी लोकप्रियता बढ़ान में भी सहायक हुई और जिससे भाषा के क्षेत्र में अमहिष्णुता-जन्य विरोध भी बहुत कम हो गया।

सूर-साहित्य में कवि के भाषा-विषयक दृष्टिकोण अथवा आदर्श की व्याख्या करने वाले वैसे कथन नहीं मिलते जैसा गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में उपलब्ध हैं¹। केवल एक पद में उन्होंने 'भाषा' रचना करने का उल्लेख भर किया है -

श्रीमुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा कौ ममुझाइ ।
ब्रह्मा नारद मीं कह, नारद व्यास सुनाइ ।
व्यास कहें मुकदेव मीं द्वादस स्कंध बनाइ ।
सूरदास सोई कहें पद भाषा करि गाड^२ ।

१. क. स्वातः सुखाय तुलसो रधुनाय गाथा भाषा निबधमतिमजुतमातनोति ।

—'मानस', बालकांड, श्लोक ७ ।

स. भाषा मतिरि मोरि मनि मोरो । हंसिबे जोग हसे नहि खोरो ॥

—'मानस', बालकाड, दोहा ९।

ग. कीरति ननिति नूति नति सोई । सुरसरि सम सब वहे हित होई ।

$\times$ λ $\times$ $\times$

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहि सुजान ।

सहज बयर बिसराइ रिषु जो सुनि करहि बखान ॥

—'मानस', बालकांड, दोहा १४ क ।

घ नाथा बद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ।

—‘मानस’, उत्तरकाण्ड, अंतिम श्लोक १ ।

२. 'सुरसागर, प्रथम स्कंध, पद २२५ ।

इससे अनुमान होता है कि न तो उन्हें गोस्वामी जी की तरह संस्कृतज्ञ पंडितों के विरोध का प्रत्यक्ष सामना करना पड़ा और न केशवदास की तरह भाषा से रचना करने का लज्जामय सकोच^१ ही उन्हें था। प्रारंभिक विनय-पदों में उसके रचयिता के दैन्य और अकिंचनत्व को देखकर एक अंध कवि का विरोध करने की निष्ठुरता और हृदयहीनता हो ही किस विद्वान में समनी थी ? ऐसी स्थिति से देशी-विदेशी बोलियों, विभाषाओं और भाषाओं के, सूर-काव्य में प्राप्त, प्रयोगों के आधार पर ही उनके तद्विषयक आदर्श पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

सूरदास का शब्द-भांडार—

साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य के भाव और कला पक्षों में द्वितीय को अप्रधान माना है और भाषा की गणना इसी के अतर्गत की है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि प्रथम अर्थात् मुख्य पक्ष की प्रधानता जिस कवि की रचना में रहती है, उपयुक्त और समर्थ भाषा पर उसका अपेक्षित अधिकार सहज ही हो जाता है। वास्तव में भाव या हृदयपक्ष के समावेश के लिए, देवी देव के रूप में, तद्विषयक स्वभावगत विशेषता, विषयानुकूल शब्द-चयन की योग्यता, स्वतः प्रदान कर देती है। कवि यदि शिक्षित और स्वाध्यायी हो तो यह योग्यता इतनी अलक्षित गति से आती है कि उसे अपने प्रयत्न का आभास भी नहीं मिल पाता। परन्तु यदि कारणवश वह अध्ययन की सुविधा से वंचित रहा हो और आगे भी नेत्रेन्द्रिय का उपयोग करने की निसर्ग-मुलभ क्षमता उसमें न हो तो उसका कार्य कठिन ही नहीं, विशेष श्रम-माध्य और प्रतिभा-माध्य भी हो जाता है। अतएव जब हम देखते हैं कि बाल्यकाल में अध्ययन की सुविधा से वंचित और जीवन भर नेत्रेन्द्रिय से हीन रहने के अनंतर भी सूरदास का शब्द-भांडार बहुत विस्तृत और पूर्ण है, उनका शब्द-चयन बहुत उपयुक्त और विषयानुकूल है तथा उनकी भाषा में काव्य-भाषा के सभी साहित्यिक गुण विद्यमान हैं, तब हमें कवि की प्रतिभा, उसकी ग्रहणशक्ति और नाद तथा संगीत-विषयक उसके परिज्ञान का महत्व ज्ञात होता है।

जैसा पीछे कहा जा चुका है, इस अंध कवि ने भाषा का शास्त्रीय रीति से अध्ययन तो नहीं किया होगा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नेत्रों की सारी शक्ति श्रवणों के द्वारा जैसे उसके मस्तिष्क को मिल गयी थी जिसमें कवि की स्मरण-शक्ति असाधारण हो गयी। एक ही विषय का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन करने के लिए प्रयुक्त शब्दों के केवल पर्यायों से ही कवि ने काम नहीं निकाला है, प्रत्युत सर्वथा नवीन प्रयोग करके पूर्ववर्णित विषय को सर्वथा नूतन-सा रोचक बना देने में कवि की सफलता अद्वितीय है। एक ही विषय को अनेक

१. क. भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल को दास ।

भाषा कवि भी मंदमति तो कवि केशवदास ।

—‘कविप्रिया’, पृ. २१, छंद ७ ।

ख. उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठ कवि केशवदास ।

रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास ॥

—‘रामचंद्रिका’, पहिला प्रकाश, छंद ३ ।

आवृत्तियाँ होने पर भी नये शब्दों और प्रयोगों की चयनशीलता-सबधी क्षमता के बल पर ही कवि ने विषय को अरोचक और नीरस होने में बचा लिया है। साराग यह कि मूरदान ने अपने शब्द-भांडार की पूर्ति के लिए बड़ी उदारता से काम लिया। मूलतः उनकी भाषा व्रजप्रदेशीय बोली है जिसको सपन बनाने के लिए उन्होंने पूर्ववर्ती और समकालीन देशी विदेशी भाषा, विभाषा या बोली, सभी के शब्दों और प्रयोगों को लगन और सम्मान से अपनाया। उनके शब्द-समूह का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

- क. पूर्ववर्ती भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश - के शब्द।
- ख. समकालीन देशी भाषाओं—पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी—के शब्द।
- ग. समकालीन विभाषाओं और बोलियों—खड़ीबोलों, जवर्धी, कन्नौजी और बुन्देल-खड़ी के शब्द।
- घ. विदेशी भाषाओं—उर्दू, फारसी और तुर्की—के शब्द।
- ङ. अन्य प्रयोग—देशज और अनुकरण-आत्मक अथवा ध्वन्यात्मक शब्द।

अ. पूर्ववर्ती भाषाओं के शब्द—

वैदिक धर्म और भारतीय सस्कृति के प्रारम्भिक विकास-काल से ही संस्कृत भाषा का उनसे घनिष्ठतम संबंध रहा। ईसा के लगभग ५०० वर्ष पूर्व जैन और बौद्ध धर्मों के जन्म के पश्चात् चारह-तेरह सौ वर्ष तक इन क्षेत्रों में यद्यपि पाली और प्राकृत ने भी अपना अधिकार जमाया, तथापि इसके अनंतर बौद्ध धर्म की भारत में समाप्ति और जैन धर्म का क्षेत्र सीमित हो जाने के कारण वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ जिसके फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन ही नहीं, निर्माण भी द्रुत गति में होने लगा। इस समय तक विकसित तत्कालीन जन-भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव पड़ना स्वभाविक ही था।

आधुनिक आर्य-भाषाओं के प्रादुर्भाव के समय, लगभग सन् १००० के आसपास, तो हिंदी में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश के भी शब्द और प्रयोग पर्याप्त मर्यादा में अपनाये गये थे, परन्तु कालान्तर में इस प्रणाली में परिवर्तन हो गया और कवियों की रुचि संस्कृत के आधार पर भाषा के समृद्धि-वर्द्धन के प्रति हो गयी। शुक्ल जी ने इसी को लक्ष्य करके हिंदी काव्य-भाषा-विकास के दो मुख्य काल-भेद—प्राकृत-काल और संस्कृत-काल—किये हैं^१। इस रुचि-परिवर्तन का कारण सम्भवतः उस गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति की सजगता थी जो विदेशी इस्लामी विजेताओं की कट्टरता की प्रतिक्रिया बनी जा सकती है। जो हो, मूरदान की भाषा में पाली के शब्दों का अभाव है, एवं प्राकृत और अपभ्रंश के वे ही शब्द और प्रयोग मिलते हैं जो व्रजभाषा की प्रकृति से मेल खाते थे और जिनका प्रचलन आगे भी कान्यभाषा में बना रहा।

संस्कृत के शब्द—

हिंदी की विभिन्न भाषाओं में प्राप्त संस्कृत शब्दों को तीन वर्गों में विभाजित किया

१. पंडित रामचंद्र शुक्ल, 'बुद्ध-चरित्', नूमिका, पृ० १२।

जा सकता है—तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव । सूरदास की भाषा में भी ये तीनों रूप मिलते हैं । इनके संबंध में इन्हीं उपशीर्षकों के अंतर्गत विचार करना उपयुक्त होगा ।

तत्सम शब्द —

सूरदास के प्रादुर्भाव के पूर्व नवोदित भारतीय भाषाओं में प्राकृत और अपभ्रंश के कुछ शब्दों को अपनाने की प्रवृत्ति बड़ी हुई थी । वैष्णव धर्म के उत्थान और प्रचार-प्रसार के साथ इस मनोवृत्ति में परिवर्तन होने लगा । जन-साधारण में बढते हुए इमलामी प्रभाव को रोकने और वैष्णव-विरोधी विभिन्न साम्प्रदायिक आंदोलनों का मूलोच्छेदन करने के लिए शास्त्रार्थी और प्रवचनों का इतना अधिक आश्रय लिया गया कि अशिक्षित हिंदुओं में ही नहीं, उन मुसलमानों में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचार हो गया जिनका बान्धकाल इसी देश में बीता था और जिनका पालन-पोषण यहीं हुआ था । सत और सूझी कवियों की रचनाओं में भी अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की विद्यमानता इस बात का प्रमाण है कि सर्व-साधारण की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का उनके समय में अच्छा प्रचार था ।

सूरदास और उनके समकालीन कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को विशेष रुचि और सम्मान से अपनी भाषा में स्थान दिया । इसके चार प्रमुख कारण थे । प्रथम तो यह कि जिस वातावरण में वे पोषित और शिक्षित हुए थे उसमें संस्कृत भाषा का पठन-पाठन प्रचलित था और प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के नियमित पारायण के साथ-साथ उनकी टीका-व्याख्या भी की जाती थी । कृष्ण भक्ति के मूल ग्रंथ—‘गीता’, ‘नारद-भक्ति-सूत्र’, ‘भागवत’, ‘ब्रह्म वैवर्तपुराण’ आदि—संस्कृत के ही प्रसिद्ध ग्रंथ हैं । सूरदास ने विभिन्न उत्सवों आदि के अवसर पर इनकी व्याख्याएँ अवश्य सुनी थीं । अतएव संस्कृत शब्दावली के प्रति सूरदास के झुकाव का यह एक प्रमुख कारण है ।

दूसरे, स्वधर्म और स्वसंस्कृति के प्रति उनकी आस्था ने उनमें घनिष्ठतम रूप से संबंधित इस प्राचीन आर्य-भाषा के प्रति उन कवियों में विशेष सत्कार और आत्मीयता की भावना जाग्रत और पल्लवित कर दी । वस्तुतः हमारी आस्था जिस सनातन धर्म के और हमारी श्रद्धा जिस आर्य संस्कृति के प्रति है, उन दोनों से संबंधित प्रामाणिक आर्पण ग्रंथ आदिकाल से संस्कृत में ही उपलब्ध रहे हैं । आर्य-जीवन के संस्कारों में से अधिकांश संस्कृत के आचार्यों और पंडितों द्वारा ही कराये जाते हैं । विद्यारंभ, उपनयन, विवाह आदि प्रमुख संस्कारों के मंत्र और श्लोक हिंदू जाति प्राचीन काल में संस्कृत में ही सुनती आयी है । इनमें प्रयुक्त अधिकांश शब्दों से शिक्षित ही नहीं, अशिक्षित ग्रामीण भी परिचित हो जाता है, भले ही वह उनका शुद्ध उच्चारण न कर सके । आशय यह है कि धर्म और संस्कृति-संबंधी हमारी दैनिक चर्चा और चर्चा संस्कृत भाषा के बिना संपन्न ही नहीं हो पाती । अतएव प्रारंभ में ही हिंदी भाषा और उसकी प्रमुख विभाषाएँ देववाणी संस्कृत के शब्दों से संपन्न होनी आयी है; यह दूसरी बात है कि समय समय पर, सुविधानुसार उनका उच्चारण कुछ परिवर्तित कर लिया गया हो, परंतु यह परिवर्तन ऐसा भी नहीं होता कि शब्द के मूल रूप का पता न चल सके ।

तीसरे, संस्कृत भाषा का ज्ञान, उसकी सृष्टियों का उद्धरण, उसके तत्त्व और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विद्वता या पांडित्य का परिचायक समझा जाता था, जैसे बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में किसी रचना में अंगरेजी अवतरण और प्रयोग लेखक को विद्वान सिद्ध करने में सहायक होते थे।

अंतिम कारण यह था कि सूरदास के कुछ समय पूर्व ही प्राकृत और अपभ्रंस के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी की ब्रजभाषा और अवधी जैसी विभाषाएँ साहित्यिक भाषा बनने का प्रयत्न करती दिखायी देती हैं। इनके सामने प्रश्न था कि परंपरागत संपत्तिके रूप में प्राप्त शब्दकोश में संतुष्ट रहकर, ठेठ प्रयोगों के माधुर्य की रक्षा करते हुए अपने सीमित क्षेत्र की संकुचित परिधि में ही विचरती रहें, अपना पूर्ववर्तिनी प्रतिष्ठित भाषाओं का अनुकरण करके उनमें और समकालीन समकक्ष विभाषाओं के उपयोगी तथा अपनी प्रकृति के अनुकूल शब्दों और प्रयोगों को अपनाने की उदारता का परिचय देकर निजी व्यञ्जना-शक्ति का विकास करें तथा अपने क्षेत्र-विस्तार की नींव डालें। ब्रजभाषा के समर्थकों और प्रेमियों ने द्वितीय मार्ग की सामयिक समझा और उनकी दूरदर्शिता ने उन्हीं को ग्रहण करने की प्रेरणा उन्हें दी। फलस्वरूप, संस्कृत के सैकड़ों शब्द तत्त्वम रूप में अपनाये गये। इन सब में सूरदास के काव्य का महत्व इस बात में है कि ब्रजभाषा में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में लगभग अन्ती प्रतिशत को अपनाकर सर्वप्रथम उन्होंने ही अपनी दूरदर्शिणी बुद्धि का परिचय दिया था। उनके परवर्ती ब्रजभाषा कवियों ने पंद्रह-बीस प्रतिशत से अधिक नये तत्त्वम शब्द नहीं ग्रहण किये और उनमें भी अधिकांश ब्रजभाषा आत्मनाम् नहीं कर सकी।

सूरदास के समस्त काव्य में आदि से अंत तक तत्त्वम शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इन प्रयोगों के आधार पर, स्थूल रूप से, तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक, वे ऐसे वातावरण में रह कर साहित्य-रचना करते थे जिसमें संस्कृत भाषा का पढ़न-पाठन और प्रचार था। दूसरे, उनकी दूरदर्शिणी बुद्धि ने समझ लिया कि भाषा की व्यञ्जना-शक्ति की वृद्धि संस्कृत शब्दों के प्रयोग में ही हो सकती है और अविष्य में यही नीति कल्याणप्रद होगी। तीसरे, सूरदास केवल उपयोगी और आवश्यक प्रयोग अपनाने के ही पक्ष में रहे; केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए तत्त्वम शब्दों को अपना लेने के पक्ष में नहीं; क्योंकि ऐसा करने से अपना सहज माधुर्य और नैसर्गिक आकर्षण खोकर ब्रजभाषा के बांझ हो जाने और उसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचाने की आशंका थी।

इसमें संदेह नहीं कि ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने तत्त्वम शब्दों का प्रयोग कभी केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए किया है। यह दोष साधारणतः दो प्रकार से आता है—एक तो पारिभाषिक शब्दों की अधिकता से जो, उपयुक्त वातावरण के अभाव में, टाट में रेशम की बखिया-में, अन्य ही चमकते और अपनी अनुपयुक्तता की ओर सरलता से ध्यान आकर्षित कर लेते हैं और दूसरे, भाव-गामोर्ष के अभाव में जहाँ वे बरबस घनीले

जाकर निष्प्राण-मे लगते है। वस्तुतः यह मतोष की बात है कि अपने साहित्यिक जीवन के आदि से अंत तक सूरदास पांडित्य-प्रदर्शन की मानवीय दुर्बलता पर कठोर नियंत्रण रखकर अपने इष्टदेव की प्रिय जन्मभूमि की प्रियतर बोली की मधुरता, सरलता और स्वाभाविकता की रक्षा करने में समर्थ एवं उनकी लोकप्रियता के वर्द्धन और प्रचार-प्रसार में सहायक हो सके।

'सूरसागर', 'साहित्य-लहरी' और 'सारावली'—तीनों ग्रंथों में स्थूल-विशेष पर ही तत्सम शब्दों की अधिकता नहीं है, प्रत्युत आदि से अंत तक उनका प्रयोग किया गया है। अतएव यह है कि साधारण विषयों की चर्चा में वे यत्र-तत्र ही प्रयुक्त हुए हैं और भावपूर्वक या रुचिकर स्थानों पर कवि ने अपने समृद्ध शब्द-कोश का मुक्तहस्त से उपयोग किया है, यद्यपि व्रजभाषा की प्रकृति का पूर्ण ध्यान उन्हे सर्वदा बना रहा है।

सूरदास ने जिन तत्सम शब्दों का प्रयोग किया, स्थूल रूप से, उनको निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—व्यावहारिक, पारिभाषिक और भाषा-समृद्धि-द्योतक तत्सम शब्द।

व्यावहारिक तत्सम शब्द—प्रत्येक भाषा में भूख-प्यास, वेश-भूषा आदि की वस्तुओं, शरीर के अंगों, निकटतम पारिवारिक और सामाजिक मध्यमों आदि के लिए बहुत से साधारण शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार मानव जीवन और प्रकृति के नैतिक-नैमित्तिक कार्य-व्यापार और स्थिति-सूचक अनेक शब्द भी प्रचलित रहते हैं। सस्कृत-जैसी प्रसिद्धित साहित्यिक भाषा में इनके लिए संकड़ों सरल और सीधे-सादे शब्द प्रयुक्त होते हैं। चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी से, विदेशी सस्कृति की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप, भारतीय सस्कृति को सहज अपनाने की भावना-वृद्धि के साथ-साथ, सस्कृत भाषा के प्रति हिन्दी कवियों और लेखकों की श्रद्धा इतनी बढ़ी कि सामान्य व्यवहार में साधारण प्रचलित शब्दों के स्थान पर सस्कृत शब्दों को ही आश्रय दिया जाने लगा। यह प्रवृत्ति केवल व्रजभाषा के ही नहीं, हिन्दी की अन्य बोलियों के साथ साथ उत्तरी भारत की अन्य नवोदित आर्य भाषाओं के भी साहित्यकारों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। अतएव व्रजभाषी कवि सूरदास की प्रवृत्ति भी स्वभावतः ऐसे तत्सम शब्द अपनाने की ओर रही जैसा कि उक्त विषयों में संबंधित तत्सम शब्दों के निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट होता है—

१. भूख प्यास, भोजन या खानपान-संबंधी तत्सम शब्द—

१. सकल सृति दधि मथत पायो इतौई घृत-मार ।^१

२. मनु पथ-निधि सुर मथत फेन फटि दयो दिखाई चद ।^२

३. मधु मेवा पकवान मिठाई अपने हाथ जेवावत ।^३

४. अह हेममि मरम सँवारी । अति स्वाद परम सुखकारी ।^४

५. अरु मेवा बहु भांति भांति हैं पटरन के मिष्टान्न ।^१
२. रहन-सहन, वेश-भूषा, वस्त्रालंकार आदि से संबंधित तत्त्वम शब्द—
१. बैसर-तिलक-रेख अति सोहै ।
मृगमद-विदा तामें राजै ।
नोर मुकुट पीतांबर सोहै ।^२
२. बदन सरोज तिलक गोरोचन लट लटकनि मधुकर गति डोलनि ।^३
३. किंकिन नूपुर पाट पटवर भारी लिये किरैं घर-वार ।^४
४. पाटंबर अंबर तजि गूदरि पहिराऊ ।^५
५. कुतल कुटिल मर-कुण्डल भ्रुव नैन विनोदनि बव ।
सोभित सुमन मयूर-चंद्रिका नीच नलिनि तनु स्याम ।^६
६. मुक्ता-घट्टुम नील-पीत मनि लटकन लटकन भाल रो ।^७
७. जहै जहै जात तहै तहै नासन जन्म, लकुट, पद आन ।^८
८. हरि नख उर अति राजहो, नननि दुख मोचन ।^९
३. शरीर के तत्वों और अंगों से संबंधित तत्त्वम शब्द —
१. आभिर रुधिर अम्बि अंग जोनी, नीलों कोमल चाम ।^{१०}
२. दस इन्द्रिय दानी सों नेह ।^{११}
३. बनावास बिनु उद्यम कीन्हें अजगर उदर भरै ।^{१२}
४. पहुँची बरनि पदिक उर हरि-नख कठुला कठ मजु गजमनियाँ ।
कुटिल भृकुटि मुख की निधि आनन बल कपोल की छवि न उपनियाँ ।^{१३}
५. माना अछत छोर बिनु सुत भरै अजा-कंठ-कुच सेइ ।^{१४}
६. कटि किंकिनि बर हार श्राव पर रुचिर दाहु भूपन पहिराए ।
सुभग चिबुक द्विज अवर नामिका लवन ऊँचल मोहि सुठि नाए ।^{१५}
७. चरन चिकुर कर नख दए (रे) नयन नामिका वान ।^{१६}
८. तन पुर जेध पुरजन राव । कुमति तानु रानी की नांव ।
आंखि नाक मुख मूल दुवार । मूत्र लोन, नवपुर की द्वार ।
लिंग-देह नृप की निज गेह ।^{१७}
९. ज्यों मृग-नाभि कमल निज अनुदिन निवट रहत नहि जानत ।^{१८}
१०. बहुजक जन्म पुरीष-परायन सूकर-स्वान भयो ।^{१९}
११. वैंसी आपदा तैं राख्यो, तोष्यो, जिय दयो,

१. सा. १०-२१२ । २. सा. ३-१३ । ३. सा. १०-१२१ । ४. सा. १-४१ ।
५. सा. १-१६६ । ६. सा. १०-१५४ । ७. सा. १०-१४० ।
८. सा. १-१०३ । ९. सा. १०-११६ । १०. सा. १-७६ ।
११. सा. ४-१२ । १२. सा. १-१०५ । १३. सा. १०-१०६ ।
१४. सा. १-२०० । १५. सा. १०-१०४ । १६. सा. १-३२५ । १७. सा. ४-१२ ।
१८. सा. १-४९ । १९. सा. १-७८ ।

मुख-नासिका-नयन-श्रोत-गद-पाणि ।^१

१२. रसना द्विज दलि दुखित होति बहु तउ रिस कहा करै ।^२

१३. तरिवन सवन रतन मनि भूपित सिर सीमंत मँवारि ।^३

४. पारिवारिक-सामाजिक संबंध और स्थिति के द्योतक तत्सम शब्द—

१. रावन अरि को अनुज बिभीषन ताको मिले भरत की नाई ।^४

२. तुम लायक भोजन नहि गृह मे अरु नाही गृह-स्वामी ।^५

३. गृह दीपक धन तैल, तूल तिय सुत ज्वाला अति जोर ।^६

४. जगतपिता जगदीश जगतगुरु निज भक्तनि को सहत ठिठाई ।^७

५. गीष्मौ दुष्ट हेम तस्कर ज्यों अति आतुर मति मद ।^८

६. मेरे मात पिता पति बधू एकै टेक हरी ।^९

७. रंक चलै सिर छत्र धराइ ।^{१०}

८. राखी लाज समाज माहि जब, नाथ नाथ द्रौपदी पुकारी ।

तीनि लोक के ताप निवारन सूर स्याम सेवक सुखकारी ।^{११}

९. पचि पचि रहै सिद्ध साधक मुनि तऊ न बढै-घटै ।^{१२}

१०. सुत कलत्र को अपनी जानै ।^{१३}

११. सुत-संतान-स्वजन बनिता रति घन समान उनई ।^{१४}

१२. सूरदास स्वामी करुणामय बार बार बढौ तिहि पाई ।^{१५}

५. मानवीय स्थिति, गुण, कार्य-व्यापार, मनोदशा, संस्कार आदि ।
संबंधित तत्सम शब्द—

१. अनुभवो जानही बिना अनुभव कहा, प्रिया जाको नही चित्त चोरै ।^{१६}

२. त अरुता होइ गोसाई चलन न दुखहि मिती ।^{१७}

३. काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-वस अतिहि किये अब भारे ।^{१८}

४. यह गति-मति जानै नहि कोऊ किहि रस रसिक ठरै ।^{१९}

५. जड़-स्वरूप सौं जहै तहँ फिरै ।^{२०}

६. पांडव को दूतत्व कियो पुनि उग्रसेन को राज दयो ।

दुखित जान दोउ सुत कुबेर के नारद साप निवृत्त कियो ।^{२१}

७. धन-मद कुल-मद सहनी कै मद, भय-मद हरि बिसरायो ।^{२२}

८. राजा निरखि प्रफुल्लित भयो । मानो भृतक बहुरि जिय लह्यो ।^{२३}

१. सा. १-७७ ।

२. सा. १-११७ ।

३. सा. २११८ ।

४. सा. १-३ ।

५. सा. १-२४१ ।

६. सा. १-४६ ।

७. सा. १-३ ।

८. सा. १-१०२ ।

९. सा. १-२५४ ।

१०. सा. १-१ ।

११. सा. १-३० ।

१२. सा. १-२६३ ।

१३. सा. ३-१३ ।

१४. सा. १-५० ।

१५. सा. १-१ ।

१६. सा. १-२२२ ।

१७. सा. ११-१ ।

१८. सा. १-२७ ।

१९. सा. १-३५ ।

२०. सा. ५-३ ।

२१. सा. १-२६ ।

२२. सा. १-५८ ।

२३. सा. १-२ ।

९ भ्रम-मद-मत्त, काम-तृप्ता-रस-वेग न भ्रमै गह्यो ।^१

१०. अरु तिनहीं ममत्व बहु ठानै ।^२

११. हिंसा-मद-मक्ता-रम भूल्यो आनाही लपटानो ।^३

चेतन प्रवृत्ति के सर्व प्रमुख अंग—मानव वर्ग—में सबधित उक्त शब्दों की तरह के, मूरदास द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों की सूची बहुत लंबी है, परंतु उद्धृत उदाहरणों से ही कवि के तद्विषयक दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार अन्य चेतन प्राणियों—पशु-पक्षियों—में सबधित अनेक तत्सम शब्द मूर-काव्य में मिलते हैं। पक्षियों की अपेक्षा मानव-वर्ग का पशुओं में अधिक निकट संबंध रहा है, अतएव पहले उन्हीं के नाम-योग्य कुछ तत्सम शब्द यहाँ उद्धृत हैं—

१ तै जड नारिकेल कसि-कर ज्यों पायो नाहि पयो ।^४

२ कामवेनु छांडि कहा अज लं दुहाऊँ ।^५

३ हा करनामय कुंजर टेरघो, रह्यो नही वन थाक्यो ।^६

४ खर कौ कहा अरगजा लेपन मर्मट (मरकट) भूपन अग ।^७

५ वनक-कामिनी मों मन बाँध्यो ह्वै गज चत्थो स्थान की चालहि ।^८

६ बबहुँक चढौ तुरंग महा गज बबहुँक भार वहाँ ।^९

७ गिरा रहित वृक प्रमित अजा लो अतक आनि गह्यो ।^{१०}

८ रोवै वृषभ-तुरग अर नाग ।^{११}

९ खग-मृग-पीत-पतंग लो में सोधे सब ठौर ।^{१२}

१० हय-गयंद उतरि कहा गर्दभ चडि घ्याऊँ ।^{१३}

पशुओं की तरह पक्षियों का उत्तम धनिष्ठ संबंध मानव वर्ग में भेजे ही न रहा हो, परंतु उपयोगिता और मीदर्य में ये पशुओं में कम भी नहीं हैं। मूर-काव्य में इनके लिए भी अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा—

१. रवि की किरनि उत्तुरु न मानन ।^{१४}

२. दुरि गए कीर कपोत मधुप पिऊ मारग मुधि दिमरी ।^{१५}

३. ये जु मनोहर बदन-इंद्र के मारद कुमुद चक्रौर ।

परम तृषा-रत सजल स्वाम-घन-नन के चातक मोर ।

मधुप मराल जु पद-पकज के गति-विमान-जव भीन ।

चक्रयाक दुनि मनि दिनकर के मृग मुग्गो आधीन ।^{१६}

४. जैमे म्रान कुताल के पाछै धावै ।^{१७}

५. केरुं, कोरु-रपोल और नग वग्न कुनाहन भारी ।^{१८}

६. गजन है उडि जात छिनक में प्रीतम जही तही ।^{१९}

१. सा. १-४९ ।

२. सा. ३-१२ ।

३. सा. १-४७ ।

४. सा. १-७८ ।

५. सा. १-१६६ ।

६. सा. १-११३ ।

७. सा. १-३३२ ।

८. सा. १-७४ ।

९. सा. १-१६१ ।

१०. सा. १-२०१ ।

११. सा. २-२८६ ।

१२. सा. १-३०५ ।

१३. सा. १-१६६ ।

१४. सा. १-१७४ ।

१५. सा. ६५९ ।

१६. सा. ३५६९ ।

१७. सा. २-९ ।

१८. सा. २-५३ ।

१९. सा. ३५७१ ।

७. सैमर-फूल सुरँग अति निरखन मुदित होन म्वग-भूष ।^१

८. तजि कै गरुड़ चले अति आतुर नरु चक्र करि मारयो ।^२

थल और नभचारी अन्य जीव-जंतुओं और कीट पतंगों से भी मानव-समाज आरंभ से परिचित रहा है। मूर-काव्य में यत्र-तत्र इनके लिए भी तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनमें से अधिकांश शब्द 'भ्रमर' के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

१. ते अलि अब ये ज्ञान सलाकै क्यों सहि सकति निहारी ।^३
२. जनु खद्योत चमक चलि सकत न, निसिगत निमिर हिराने ।^४
३. बिकसत कमलावली चले प्रपुज चंदरी क गुजत कन कोमल धुनि त्यागि कज न्यारे ।^५
४. लाभ-हानि कछु समुझन नाही ज्यों पतंग तन दीन्हो ।^६
५. सब सौ बात कहत जनपुर की गज विरीलिका लों ।^७
६. कहा होत पय पान कराएँ बिष नहि तजत भुजंग ।^८
७. कहि चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत भ्रमर नहीं उडि जान ।^९
८. स्याम बियोग सुनीं हो मधुकर अँखियाँ उपमा जोग नहीं ।^{१०}
९. जदपि मधुर तुम नदनदन को निपटहि निकट कहन ।^{११}
१०. कहू पट्पट कैसें खैयतु है हाथिनि कै सँग गाँडे ।^{१२}

मानवेतर प्राणियों में एक वर्ग जलचारी जीव-जंतुओं का भी है जिनमें से कुछ को काव्य में स्थान मिलता रहा है। मूर-काव्य में जिन जल-जीवों के लिए तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से कुछ ये हैं—

१. लिए जात अगाध जल को गहे ग्राह अतम ।^{१३}
२. तजि कै गरुड़ चले अति आतुर नरु चक्र करि मारयो ।^{१४}
३. नैन-मौन मकराकृत कुडल भुज सरि सुभग भुजाग ।^{१५}

थल, नभ और जल के चेतन प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति का दूसरा बड़ा वर्ग जड़ पदार्थों का है जिसमें वन, पर्वत, सागर, मरिचा, पेड़-पौधे, फल-फूल, सभी आ जाते हैं। मानव से इसका संबंध बहुत घनिष्ठ इसलिए है कि जन्म से ही वह इनके मध्य में पलता है और जीवन-धारण के लिए उसे बहुत-कुछ इन्हीं पर निर्भर रहना पड़ता है। कवि को इस प्राकृतिक अंग के कार्य-व्यापार से सदैव प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है। अतएव उसके विविध रूपों का सभी देशों के कवियों ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है। मूर-काव्य में प्राकृतिक चित्रण की विवेचना तो यहाँ विषयांतर होगी; अतएव यहाँ

- | | | |
|----------------|-----------------|----------------|
| १. सा. १-१०२ । | २. सा. १-१०९ । | ३. सा. ३५७० । |
| ४. सा. २६०१ । | ५. सा. १०-२०५ । | ६. सा. १-४५ । |
| ७. सा. १-१५१ । | ८. सा. १-१५१ । | ९. सा. ३५७२ । |
| १०. सा. ३५७१ । | ११. सा. ३५७१ । | १२. सा. १-९९ । |
| १३. १०९ । | १४. १०९ । | १५. १०९ । |

केवल उन तत्सम शब्दों की एक संक्षिप्त सूची ही दी जा रही है जो सूर-काव्य में यत्र तत्र प्रकृति के विविध अंगों के लिए प्रयुक्त हुए हैं—

१ जिहि मधुकर अंजुन रम चाख्यो क्यों करौल फल भाव ।^१

२ मगन हों भव अनुनिधि में, कृपासिंधु मुरारि ।^२

X X X X

नीर अति गभीर माया लोभ लहरि तरंग ।

X X X X

स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै मूर ब्रज के कूल ।

३ भय छद्मधि जमलाक दरम निपट ही अंधियार ।^३

४ कीर कमान मीन विक सारंग केहरि रुदली-छवि विदली ।^४

५ चरन-रमन बंदो हरिराई ।

जाकी कृपा पगु गिरि लवै, अवे को सब कछु दरमाई ।^५

६ परसत चाच तूल उधरत मुख परत दुख के कूप ।^६

७ सूरदाम ब्रत यहै कृपन भजि, भव जलनिधि उतरत ।^७

८ पुनर माल उतार हृदय ते दीनी सुदर स्याम ।^८

९ सज्जा पृथ्वी करी विस्तार । गृह गिरि-कंदर करे अपार ।^९

१० ज्योम, घर, नद सैल नानन इते चरि न अघाइ ।^{१०}

११ ज्यों गयद अन्हाइ सरिता बहुरि वहै सुभाइ ।^{११}

१२ सलिन लो सब रग तजि के एक रग मिलाइ ।^{१२}

सूरदाम द्वारा प्रयुक्त उक्त तत्सम शब्दों के साथ उद्धृत पद के पूरे चरण की भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश स्थलों पर कवि ने साधारण पदों के बीच में ही दो-एक तत्सम शब्द इन प्रकार दिये हैं कि वे उसी में घुल-मिल गये हैं और सामान्य प्रचलित भाषा के शब्दों से भिन्न नहीं जान पड़ते। वस्तुतः कवि उनको ब्रजभाषा की ही संपत्ति समझता है और ठेठ या ठड्डव शब्दों से किसी प्रकार का अधिक सम्मान या महत्व उनको नहीं देना चाहता। ये व्यावहारिक तत्सम शब्द स्थान-विशेष पर ही नहीं, समस्त सूर-काव्य में—यहां तक कि उन पदों में भी जो काव्य की दृष्टि में बहुत साधारण हैं—बिखरे मिलते हैं। ऐसे कुछ शब्द यहाँ और दिये जाते हैं।

अज्ञान^{१३}, अवस्था^{१४}, अविद्या^{१५}, आजीविका^{१६}, उत्साह^{१७}, उद्धार^{१८}, उद्यम^{१९},

१. सा. १-१६८ ।	२. सा. १-९९ ।	३. सा. १-८८ ।	४. सा. ७३९ ।
५. सा. फा. १-१ ।	६. सा. १-१०२ ।	७. सा. १-५५ ।	८. सारा ५५४ ।
९. सा. २-२० ।	१०. सा. १-५६ ।	११. सा. १-४५ ।	१२. सा. १-७० ।
१३. सा. ४-५ ।	१४. सा. ४-६ ।	१५. सा. ४-१२ ।	१६. सा. ४-११ ।
१७. सा. ४-१२ ।	१८. सहरी. ३० ।	१९. सा. ४-१२ ।	

वैद्यान^१, उपचार^२, उल्लास^३, कल्पना^४, किंजल्क^५, जीविका^६, प्रास^७, विदोष^८, पद्मग^९, पुष्प^{१०}, पुष्कर^{११}, प्रकोप^{१२}, प्रतिविम्ब^{१३}, प्रतिभा^{१४}, प्रतिष्ठा^{१५}, प्रवाह^{१६}, प्रस्वेद^{१७}, प्रतिहार^{१८}, भेषज^{१९}, महत्^{२०}, महिमा^{२१}, मुक्ता-हल^{२२}, ललाट^{२३}, व्यवहार^{२४}, समाधान^{२५}, सुमन^{२६}, सुषमा^{२७}, सौरभ^{२८} आदि ।

पारिभाषिक तत्सम शब्द—मरस और भावपूर्ण कथा-प्रसंगों के वर्णन अथवा भाषिक और सुंदर दृश्यों के चित्रण के अतिरिक्त कवि जब शास्त्रीय तत्वों के विवेचन में प्रवृत्त होता है तब उसे स्वभावतः पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है । हिंदी के प्रायः सभी भक्त-कवियों ने पारिभाषिक विवेचन से बचने का प्रयत्न किया है; परंतु बल्लभ-संप्रदाय में मान्य 'भागवत' आदि गद्यों में वर्णित पौराणिक प्रसंगों को अपनाने के कारण, ब्रह्म, माया, ज्ञान, भक्ति आदि की कुछ शास्त्रीय परिभाषाओं का सारांश सूर-काव्य में मिल ही जाता है । ऐसे ही स्थलों पर उन्होंने पारिभाषिक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ, ब्रह्म के लिए प्रयुक्त कुछ तत्सम शब्द यहाँ संकलित हैं—

१. सदा एक रस एक अलंछित आदि अनादि अनूप ।
प्रकृति-पुरुष श्रीपति नारायण सब है अश गुपाल^{२९} ।
२. अमल अकल अज भेद-विचर्जित सुनि विधि बिमल बिबेक^{३०} ।
३. अविगत आदि अनंत अनूपम अलख पुष्प अविनाशी^{३१} ।
४. आदि निरंजन निराकार कोउ हुती न दूसर^{३२} ।
५. ब्रह्म अगोचर मन बानी तँ अगम अनंत प्रभाव^{३३} ।

उक्त उदाहरणों में जो तत्सम शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं वे सामान्य रूप से प्रायः सभी भक्त-कवियों ने लिखे हैं । सूरदास ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण को परब्रह्म ही माना है; परंतु उनके सगुण रूप के लिए कुछ अन्य तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है, यथा अखिल अधिकारी^{३४}, अखिल लोकनायक^{३५}, अजित^{३६}, कृपानिधान^{३७}, कृपानिधि^{३८}, कृपासागर^{३९}, गोपाल^{४०}, दयानिधि^{४१}, दामोदर^{४२}, परमानंद^{४३}, मुकुंद^{४४},

- | | | |
|-----------------|--------------------|-----------------|
| १. सा. ४-१२ । | २. सा. ३८०९ । | ३. लहरी ६८ । |
| ४. सा. २४९२ । | ५. सा. १-३३९ । | ६. सा. ४-११ । |
| ७. लहरी २६ । | ८. सा. ४१४७ । | ९. लहरी २५ । |
| १०. सारा ३०५ । | ११. सारा ५५४ । | १२. सा. ३७८० । |
| १३. सा. २-३६ । | १४. सा. २८२६ । | १५. सा. २५४४ । |
| १६. सा. ३०९ । | १७. सा. ३८०९ । | १८. सा. ४-१२ । |
| १९. सा. ४१४७ । | २०. सा. ४०४६ । | २१. सा. ४-५ । |
| २२. सा. ४१४७ । | २३. सा. ४-५ । | २४. सारा. ९१९ । |
| २५. सारा. ३०१ । | २६. सा. ४१६६ । | २७. लहरी. ३९ । |
| २८. सा. २-२६ । | २९. सारा, पृ. ३८ । | ३०. सा. २-३८ । |
| ३१. सा. २-३६ । | ३२. सा. २-३६ । | ३३. सा. ३-३४ । |
| ३४. सा. १-२१२ । | ३५. सा. १-१७७ । | ३६. सा. १-१८१ । |
| ३७. सा. १-१०९ । | ३८. सा. १-१२७ । | ३९. सा. १-२५३ । |
| ४०. सा. १-११४ । | ४१. सा. १-११७ । | ४२. सा. १-१०९ । |
| ४३. सा. १-१६३ । | ४४. सा. १-२४८ । | |

लाभपति^१, श्रीनाथ^२, आदि ।

ब्रह्म के अतिरिक्त भाषा, ज्ञान, भक्ति, महत्तत्व आदि की जहाँ व्याख्या सूरदान न की है, वहाँ भी कुछ पारिभाषिक तत्त्वम रूपों का प्रयोग मिलता है, यथा—उपाधि^३, विगता^४, प्रत्याहार^५, मन्वनर^६, महत्तत्व^७, मिथ्यावाद^८, विज्ञान^९, व्यष्टि^{१०}, नमष्टि^{११}, समाधि^{१२} आदि ।

भाषा-समृद्धि-श्रोतक तत्त्वम शब्द—तत्त्वम शब्दों के उक्त दोनों रूपों—व्यावहारिक और पारिभाषिक—के समावेग से किसी कवि की भाषा के संबंध में यह तो भूने ही कह लिया जाय कि उसको मस्तुत भाषा का ज्ञान था अथवा उसकी भाषा में शिष्टता की छाया है, परन्तु निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि उनकी भाषा साहित्यिक गुणा में युक्त है अथवा उसकी भाषा की सुदरता या व्यञ्जना शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से उनका प्रयोग किया है । इस निष्कर्ष तक तो सभी पहुँचा जा सकता है जब कुछ पदों की प्रयोग या विषयानुकूल पक्तियों में तत्त्वमता प्रधान शब्द-व्यञ्जना द्वारा वैसा वातावरण उपस्थित कर दिया जाय कि पाठक भी भाव को हृदयगम करने के लिए सामान्य भाषा ज्ञान से काम न लेकर विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करने का बाध्य हो जाय । दूसरे शब्दों में, जिस सरस और भावपूर्ण पद-योजना का संपूर्ण अर्थ साधारण पाठकों के लिए शब्दाध्ययन करने पर भी बोधगम्य नहीं होता, परन्तु व्युत्पन्नमति, कलामर्मज्ञ, सहृदय पाठकों ही जिसके पूर्ण रसास्वादन में सफल होते हैं, स्थूल रूप से, उसी की वस्तुतः साहित्यिक और सार्यक तत्त्वमता प्रधान समझना चाहिए । सूरदान के काव्य का अधिकांश ऐसी ही विशिष्टता से युक्त है । ऐसे स्थलों पर तत्त्वम शब्दों का प्रयोग कवि ने प्रायः दो उद्देश्यों से किया है— विषयानुसार वातावरण उपस्थित करने के लिए और भाषा-शृंगार के लिए ।

१. विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करना । श्रीकृष्ण और राधा के प्रति सूरदान का वह सामान्य भाव नहीं है जो रीतिवालीन कवियों ने अपने काव्य के सांकेतिक नायक नायिकाओं, प्रेमी प्रेमिकाओं अथवा उक्त युगल मूर्ति के ही प्रति प्रदर्शित किया है । वास्तव में वे उन्हें अपना ही आराध्य नहीं, प्रत्युत सचराचर जगत और ब्रह्मांड के मूर्ष्टा, निष्कला, पालक परम-पुरुष और परम शक्ति के रूप में देखते थे । इनकी मनन और मनोरम सामान्य लीलाओं का वर्णन करते समय तो नहीं, परन्तु वात्सल्याधिक्य, रूप शृंगार, प्रेमासक्ति मुरली-वादन आदि की चर्चा होते ही कवि अपना पाठकों का भी उसी उच्चतम भाव-भूमि तक पहुँचा देता है जिससे प्रेरित होकर वह स्वयं उक्त कार्य में प्रवृत्त हुआ था । निम्नलिखित पदों की भाषा में तत्त्वम शब्दों की अधिकता का यही उद्देश्य है—

-
- १ सा १-१८१ । २ सा १-२४८ । ३ २-११ और ३-१३ । ४ सा ४२८९ ।
 ५ सा २-२१ । ६ सा ७-२ । ७ सा २-३६ । ८ सा २-१३ ।
 ९ सा २-३८ । १०. सा २-३८ । ११ सा २-३८ । १२. सा २-२१ ।

१. जागिए गोपाल लाल आनँदनिधि, नदबाल जसुमनि कहै बारवार भोर भयो प्यारे ।
 नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति बापिका मराल मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे ,
 उगत अरुन बिगत सयँरी, मसांक किरनहीन, दीपक सु मलीन छीनहुति समूह-तारे ।
 मानो ज्ञान-घन प्रकास बीते सब भव-बिलास आस-त्रास-तिमिर तोप-नरनि-तेज जारे ।
 बोलत खग-निकर मुखर मधुर होइ प्रीति सुनो, परम प्राण जीवन धन मेरे तुम वारे ।
 मनी वेद बदीजन सूतवृन्द मागधगन बिरद बद्ध जै जै जै जैति कँटभारे ।
 बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक गुजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे ।
 मानो बैराग पाइ, सकल लोक गृह बिहाइ, प्रेम-मत्त फिरत भृत्य गुनत गुन तिहारे ।
 सुनत वचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल, भागे जजाल-जाल, दुख-कदंब टारे ।
 त्यागे भ्रम फद द्वंद निरखि कै मुखारविंद, सूरदास अति अनंद मेटे मइ भारे^१ ।

२. मुख छवि देखि हो नद-धरनि ।

सरद निसि कौ असु अगनित इंदु-आभा हरनि ।

ललित श्री गोपाल लोचन लोल आँसू ढरनि ।

^ ^ X X

कनक मनिमय जटित कुंडल जोति जगमग करनि ।

मित्रमोचन मनहुँ आए तरल गति द्वै तरनि ।

कुटिल कुंतल, मधुप्रमिलि मनु कियो चाहत लरनि ।

बदन कांति विलोकि सोभा सकै सूर न बरनि^२ ।

३. पीतबसन चदन निलक मोरमुकुट कुंडल झलक स्यामघन सुरंग छलक यह छवि तन लिए ।

तनु त्रिभंग सुभग अंग निरखि लजत अति अनंग ग्वाल बाल लिए सग प्रसूदित सब हिए ।

सूर स्याम अति मुजान मुरली धुनि करत गान ब्रज जन मन कौ महान मरु सुख दिए^३ ।

४. नैदनंदन मुख देखी माई ।

अंग अंग छवि मनहुँ उये रवि सति अह समर लजाई ।

खंजन मीन भृंग वारिज मृग पर दृग अति रुचि पाई ।

सुति मंडल कुंडल मकराकृत, बिलसत मदन सदाई ।

नामा कीर कपोत प्रीत छवि दाड़िम दसन चुराई ।

द्वै सारंग बाहन पर मुरली आई देत दुहाई ।

मोहे धिर चर बिटप विहंगम व्योम बिमान थकाई ।

कुमुमांजलि बरमत मुर ऊपर, सूरदास बलि जाई^४ ।

५. मुरली अति गर्व काहुँ वदति नाहि आजु ।

हरि कै सुख-कमल-देस पायो मुख-राजु ।

बैठति कर पीठि ढीठि अवर छत्र छाहि ।

राजति अति चँवर चिबुर, सरद सभा माँहि ।
 जमुना के जलहि नाँहि जलधि जान देति ।
 सुरपुर तँ सुर विमान यह बुलाई लेति ,
 स्थावर चर जंगम जड़ करत जीति जीति ।
 विधि की विधि मेटि करत अपनी नई रीति ।
 बसी-बस सकल सूर सुर - नर - मुनि नाग ।
 श्रीपति हूँ की सुधि विसारी याही अनुराग^१ ॥

इस प्रकार के पदों में संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या अन्य विषयों के पदों में बहुत अधिक है । इसका कारण यह है कि प्रसंग-विशेष का वर्णन करते समय कवि विषय-लीनता के उच्च स्तर तक पाठकों की बोध-वृत्ति को उठाना चाहता है और इस उद्देश्य की सिद्धि में, अपेक्षाकृत गंभीर वातावरण प्रस्तुत करने में, तत्सम शब्दों से पर्याप्त सहायता मिलती है । साथ ही, इनके सहारे वह सहज ही भाषा को अनुप्रासमयी भी बना लेता है । उक्त पदों में यद्यपि उपमा, रूपक आदि अलंकारों का समावेश और निर्वाह वह अत्यंत स्वाभाविक रीति से कर सका है, जो सहृदयों को विशेष रुचिकर प्रतीत होता है, तथापि जिन स्थलों पर कवि ने रूपकों, उत्प्रेक्षाओं आदि की झड़ी सी लगा दी है, वहाँ की भाषा और भी तत्समता-प्रधान हो गयी है, यथा—

१. देखि री देखि आनँदकंद ।

चित्त-चातक, प्रेम-घन लोचन-चकोरनि चंद ।
 चलित कुडल गंड मंडल झलक ललित कपोल ।
 सुधा-सरजनु मकर क्रीडत इंदु डह-डह डोल ।
 सुभग कर आनन समीप मुरलिका इहि भाइ ।
 मनु उभै अंभोज-भाजन लेत सुधा भराइ ।
 स्याम देह दुकूल दुति-मिलि लसति तुलसी माल ।
 तडित घन सजोग मानी, सेनिका मुक-जाल ।
 अलक अविरल चारु हास मिलास भृकुटी भग ।
 सूर हरि की निरखि सोभा भई मनसा पग^२ ॥

२. प्रिया-मुग देखौ स्याम निहारि ।

कहि न जाइ आनन की शोभा रही विचारि विचारि ।
 छोरादक धूँधट हाता करि सन्मुख दियो उधारि ।
 मनो सुधाकर दुग्ध सिरु तँ कढचा केनक पत्थारि ।
 मुक्ता माँग सीम पर माभित, राजति इहि आकारि ।
 मानो उडगन जानि नयन ममि आए करन जुहारि ।

भाल लाल सिंदूर बिंदु पर, मृग-मद दियो सुषारि ।
 मनो बंधूक कुमुम ऊपर अलि बँह्यो पंख पसारि ।
 चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत जुग खंजन अनुहारि ।
 मनो परस्पर करत लराई कीर बचाई रारि ।
 बैसरि के मुक्ता में झाँई बरन बिराजति चारि ।
 मानो सुरगुरु सक भौम सनि चमकत चंद भँझारि ।
 अघर विच बिच दियो बिधाता रूप सीव निहवारि ।
 तरिवन सवन रतन मनि भूषित सिर सीमंत सँवारि ।
 जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए भयो द्विधा सम हारि ।
 लाल भाल कुच बीच बिराजति, सखियनि गुही सिंगारि ।
 मनहुँ घुई निर्धूम अग्नि पर तप बैठे त्रिपुरारि ।
 सन्मुख दृष्टि परे मनमोहन लज्जित भई सुकुमारि ।
 लोन्ही उमंगि उठाई अंक भरि सूरदास बलिहारि^१ ॥

इसी प्रकार प्रकृति के मनोरम रूपों, यमुनातटवर्ती कुजों, ऋतुओं के नेत्राकर्षक दृश्यों, विविध उत्सवों और पर्वों का चित्रण करते समय भी कवि इतना तन्मय हो गया है कि सामान्य भाषा से उसका काम नहीं चलता और स्वभावतः उसके मुख से प्रसंग और वातावरण के उपयुक्त तत्समता-प्रधान शब्दावली की सरस धारा निःसृत होने लगती है। इन विषयों को लेकर सूरदास ने पूरे पद बहुत कम लिखे हैं। अतएव पदार्शों द्वारा ही उक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है—

१. जागिए ब्रजराज कुँवर कमल कुमुम फूले ।
 कुमुद बृंद सकुचित भए भृंग लता भूले^२ ।
२. प्रगट्यो भानु मंद भयो उडुमति फूले तरुन तमाल^३ ।
३. इहि अंतर भिनुसार भयो ।
 तारागन सब गगन छपाने अरुन उदित अंधकार गयो^४ ।
४. जागिये गोपाल लाल, प्रगट भई अंसु माल, मिट्यो अवकाल उठो जननी
 सुखदाई ।
 मुकुलित भए कमल-जाल कुमुद-बृंद-वन-बिहाल, भेटहु जंगल-जाल त्रिविध ताप
 तन नसाई^५ ।
५. गगन बहराइ जुरी घटा कारी ।
 पवन झकझोरि चपला चमक चहुँ और सवन-तन चित नंद डरत भारी^६ ।
६. नये कुंज, अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिनोरी^७ ।

१. सा. २११८ । २. सा. १०-२०२ । ३. सा. १०-२०६ । ४. सा. ५७० ।

५. सा. ६१९ । ६. सा. ६८४ । ७. सा. ६८५ ।

७. चपला चमकि चक्चौषति, करति शब्द आघात ।

अधाधुध पवनवर्तक घन करत फिरत उत्पात ।

निसि सम गगन भयी आन्ध्रादित बरपि बरपि सर इद^१ ।

८. सरद निसि देखि हरि हरप पायो ।

विपिन वृंदा रमन सुभग फूने सुमन रास रुचि स्याम के मनहि आयो ।

परम उज्जवल रैनि छिटकि रही भूमि पर सद्य फल तरनि प्रति
लटक लागे ।

तैसोई परम रमनीक जमुना पुलिन त्रिविध बहै पवन आनंद जागे^२ ।

तत्सम शब्दा की दृष्टि में उद्धृत अवतरणा की भाषा मामान्य रूप-वर्णन-विषयक पदों से मिलती-जुलती है। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक दृश्या का चित्रा करना कवि का प्रधान उद्देश्य कभी नहीं रहा, प्रमगवग ही उसने तद्विषयक कुछ विचार लिख दिये हैं जिनमें कहीं कहीं तो एक ही शब्दावली मिलती है। इनके विपरीत, यद्यपि नृत्य लीलाओं, उत्सवों, पर्वों आदि के विस्तृत वर्णन छोड़े ही पदों में मिलने हैं, तथापि उनमें कवि की वृत्ति लीन हुई है और ऐसी स्थला पर तत्सम प्रधान भाषा का जैसे स्वतः प्रयोग हो गया है।

सूरदास ने परपरागत रूप से जिस ब्रजभाषा को प्राप्त किया था, वह उन समय तक सूक्ष्म भावों की व्यञ्जना में समर्थ नहीं बन पायी थी। परन्तु अपने गेय बान्ध की सफलता के लिए उन्हें ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो कठोर और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रकार के भावा को सुगमता में व्यक्त करने की क्षमता रखती हो। ब्रजभाषा में यह गुण लाने के लिए सूरदास ने कभी कभी तत्सम शब्दों का ही सहारा लिया है। अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय वृत्तियों और आन्तरिक हृदयोद्गारा तक उन्होंने अपनी पहुँच दिखायी—ऐसा वे उक्त भाषा-रूप को वाछनीय समर्थता प्रदान करने के पश्चात् ही कर सके। अपनी उच्च कोटि की कल्पना का चमत्कार-प्रदर्शन करने में भी तत्सम शब्दों से उन्हें बड़ा सहारा मिला। भाव-व्यञ्जना में सहायक तत्समना प्रधान शब्द-योजना के ऐसे उदाहरण प्रायः साधारण रूपों और अन्योक्तियों में भी मिलते हैं, यथा—

१. चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग ।

जहाँ भ्रम निता होत नहि कबहूँ सोइ साधर मुख जोग ।

जहाँ सनक मिव हंस, भीन मुनि, नख रनि प्रभ, प्रकाम ।

प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुजत निगम सुवान ।

जिहि सुर सुभग मुक्ति मुक्ताफल मुहूर्त अमृत रस पीज ।

सो सर छाँडि कुनुद्धि बिहगम इहाँ कहां रहि बीज ।

लछमी सहित होनि निन झोडा सोभित सूरजदास ।

अब न मुहान विषय-रम-छीनर वा नमुद की जाम^३ ।

२. भृंगी री, भजि स्याम कमल-पद् जहाँ न निसि को नास ।
जहाँ बिधु-भानु समान, एकरम, सो वारिज मुखरास ।
जहाँ किजल्क भक्ति नव लच्छन, काम-ज्ञान-रस एक ।
निगम सनक सुक नारद सारद मुनिजन भृंग अनेक ।
सिव बिरचि खंजन मन-रंजन छिन छिन करत प्रबेस ।
अखिल कोष तहँ भर्यो मुकृत जल प्रगटित स्याम-दिनेस ।
सुनि मधुकर, भ्रम तजि कुमुदनि को, राजिवबर की आस ।
सूरज प्रेम-सिधु मे पुलकित तहँ चलि करै प्रकास^१ ।

३. देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे ।

मानो मत्त मदन के हृदियनि बल करि बधन तोरे ।
स्याम सुभग तनु चुवत गंडमद् वरपत थोरे थोरे ।
रक्त न पवन महावत हूँ पै, मुरत न अकुन मोरे ।
मनो निकसि बग पंक्ति दंत उर अचधि सरोवर फोरे ।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल कुच कंचुकि बंद बोरे^२ ।

इष्टदेव की दयालुता, स्वभाव की कोमलता, भक्त-वत्सलता आदि का स्मरण करते समय भाव-विभोर होकर, थट्ठापूर्वक हृदयोद्गारों की व्यञ्जना के लिए, जिस शब्दावली का मूरदास ने प्रयोग किया है, कभी-कभी वह भी तत्समता से युक्त हो गयी है । निम्नलिखित उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि होती है—

१. अद्भुत राम-नाम के अंक ।

धर्म-अंकुर के पावन द्वै दल मुक्ति-वधू ताटंक ।
मुनि-मन-हंस-पच्छ जुग, जाके बल उड़ि ऊरध जात ।
जनम-मरन-काटन कौं कर्तारि तीछन बहु विख्यात ।
अंधकार अज्ञान हरन कौं रवि मसि जुगल प्रकास ।
बासर-निसि दोउ करै प्रकासित मझ कुमग अनयाम ।
दुहँ लोक सुखकरन हरन दुख वेद पुराननि साखि ।
भक्ति-ज्ञान के पथ सूर ये प्रेम निरंतर भाखि^३ ।

२. ऐसी कव करिहौ गोपाल ।

मनसानाथ मनोरथदाता हौ प्रभु दीनदयाल ।
चरनन चित्त निरन्तर अनुरत रसना चरित रसाल ।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन गर अंचल कर माल^४ ।

३. हरि जू की आरती बनी ।

अति बिचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी ।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँड़ी सहसफनी ।

मही सराव, सप्त सागर घृत वाती सैल घनी ।
 रवि ससि ज्योति जगत परिपूरन हरति तिभिर रजनी ।
 उडत फूल उडगन नभ अंतर अंजन घटा घनी ।
 नारदादि सननादि प्रजापति सुर नर अमुर जनी ।
 धाल वर्म गुन ओर बत नहि प्रभु-इच्छा रचनी ।
 यह प्रताप दीपक नु निरन्तर लोक नमल भजनी ।
 सूरदास सब प्रगट ध्यान में, अति विचित्र सजनी^१ ।

४. नमो नमो हे कृपानिधान ।

चित्रवत कृश-कटाक्ष तुम्हारे, मिटि गयो तम अज्ञान ।
 मोह-निशा को लेस रह्यो नहि भयो विवेक बिहान ।
 आत्म रूप समल घट दरख्यो, उदय कियो रवि ज्ञान^२ ।

२ भाषा शृंगार के लिए—भाषा को आलंकारिता-वृद्धि में वही कवि सफल और सफल होता है जो सर्वत्र इस दिशा में प्रवृत्त हो और जिसके पास सार्वत्रिक और उपयुक्त शब्दों का अक्षय भांडार हो । सूरदास ने यद्यपि अनेक स्थलों पर उत्तम शब्दों का प्रयोग करके भाषा को अलंकृत किया है, तथापि सम्प्रदाय भाषा-शृंगार में उन्होंने सर्वत्र रुचि नहीं दिखायी । उदाहरणार्थ, उनका निम्नलिखित पद, जिसमें उत्तम शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया गया है, उद्धृत किया जाता है—

यहई मन आनद अग्रधि सब ।

निरखि सरूप विवेक नयन भरि या मुख तैं नहि और बधू अब ।
 चित चकोर गति करि अतिसय रति, सजि सम सयन बिषय लोभा ।
 चिति चरन मृदु चारु चद नख चलन चिन्ह चहुँ दिसि मोना ।
 जानु सुजपन करम कर आकृति बटि प्रदेश विविनि राव ।
 हृद बिच नाभि उदर त्रिपत्ती बर अवलोकन भय भय नाव ।
 उरग इंद्र जनमान सुभग भुज पानि पदुम आयुध राव ।
 फनक बल्लभ मुद्रिका मोदप्रद, सदा सुभग सदनि नाव ।
 उर बनमाल विचित्र विमोहन, भृगु भँवरी भ्रम को नाव ।
 तडित-चसन घनस्याम सदृश तन, तेज पुंज तम को नाव ।
 परम स्वरि मनि कंठ किरनिगन, कुंडल-मुकुट-श्रमा न्याव ।
 विष्टु मुख मृदु मुखकानि अमृत सम सकल लोक लोचन प्याव ।
 सत्य सौत संपन्न सुमूर्खति, सुर-नर-मुनि-वृत्तनि नाव ।
 अंग-अंग-प्रति-छवि-उरंग-गाति सूरदास क्यों कहि नाव ।^३

उक्त पद सूरदास की आलंकारिक भाषा का सुंदर उदाहरण है । अनुप्रासमयी शब्द-योजना के ऐसे उदाहरण 'सूरसागर' के प्रथम से नवम सर्ग तक बहुत पाँडे हैं, दसवें

स्कंध में भी जिन प्रसंगों के पद ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं, उनको यदि छोड़ दिया जाय तो अन्यत्र उनकी संख्या अधिक नहीं है। इस प्रकार की भाषा के संबध में ध्यान रखने की विशेष बात यह है कि नेत्र-दृष्टि से वचित होने के कारण कवि स्वयं अपने पदों को लिख नहीं सकता था जिससे भाषा को अलंकृत करने के लोभ का उसे सवरण करना पड़ा। सूरदास के सीधे-साधे वाक्य-विन्यास से भी इस कथन की पुष्टि होती है। वस्तुतः वह युग ही भाषा के शृंगार का नहीं था; सफल और सुबोध भाव-व्यंजना का ध्येय लेकर ही उस समय के कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होते थे। यही लक्ष्य सूरदास का भी था और इसमें उन्हें अभीष्ट सफलता भी प्राप्त हुई।

तत्सम संधि-प्रयोग—संस्कृत की भाँति संधि-योजना ब्रजभाषा की प्रवृत्ति नहीं है। इसमें जो संधियुक्त तत्सम शब्द मिलते हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो यौगिक रूप में ही संस्कृत से ग्रहण कर लिये गये हैं। सूर-काव्य में प्राप्त ऐसे संधि-प्रयोगों के कुछ उदाहरण यहाँ संगृहीत हैं जो संस्कृत व्याकरण के नियमों से बाधित हैं—

अघरामृत^१, इन्द्रादिक^२, कमलासन^३, कर्मादिक^४, कुसुमाञ्जलि^५, कुसुमाकर^६, कुसुमावलि^७, गर्जेंद्र^८, गोपागता^९, जठरातुर^{१०}, ज्ञानेंद्रिय^{११}, त्रिसिरासुर^{१२}, दैत्यारि^{१३}, नीलावर^{१४}, परमानन्द^{१५}, पादोदक^{१६}, पीतांबर^{१७}, पुष्पोत्तम^{१८}, प्रथमारभ^{१९}, प्रेमाकुर^{२०}, ब्रह्मादिक^{२१}, भारतादि^{२२}, भीमादिक^{२३}, महोत्सव^{२४}, मिष्टान्न^{२५}, मुखारविन्द^{२६}, रुद्रादिक^{२७}, लोभातुर^{२८}, सतोपादि^{२९} आदि।

ऊपर दिये गये उदाहरण स्वर-संधि के हैं। इसके नियमों में जटिलता न होने से सूर-काव्य में ऐसे लगभग पाँच सौ प्रयोग मिलते हैं। व्यंजन-संधि के उदाहरण सूर-काव्य में अपवाद-स्वरूप ही मिलते हैं; विसर्ग-संधि के अधिकांश उदाहरण भी ऐसे शब्दों में ही मिलते हैं जो यौगिक रूप में ही अपनाये गये हैं, जैसे दुर्जन^{३०}, निरुत्तर^{३१}, निर्दोष^{३२}, निर्मल^{३३}, निस्सदेह^{३४}, आदि। ये सब संधि-प्रयोग भाषा के प्रसादगुणत्व में योग देनेवाले ही हैं। अतएव, स्पष्ट है कि सूरदास ने अपनी भाषा को क्लिष्ट संधियों से दूर रखा; जिससे पक्वता या जटिलता के दोष से वे उसको बचाने में सहज ही सफल हो सके।

सामासिक शब्द—सामासिक शब्दों के प्रयोग से, भाषा को संगठित करने में, प्रायः सहायता मिलती है। सूरदास ने इनके प्रयोग से भी लाभ उठाया है। उनके

- | | | | |
|----------------|-----------------------|----------------|-----------------------|
| १. सा. ३६६६। | २. सा. २-२३। | ३. सा. ३८८४। | ४. सा. ४-१२ |
| ५. सा. ६२६। | ६. सा. ३९४७। | ७. सा. २८२६। | ८. सा. ८-२। |
| ९. सा. १०-११३। | १०. सा. ३२१९। | ११. सा. ४०६। | १२. सा. ९८१। |
| १३. सा. ३०२४। | १४. सा. २५०८। | १५. सा. १-१६३। | १६. सा. ९-१२। |
| १७. सा. ५७२। | १८. सारा०न०कि०पृ० १९। | १९. सा. १४८०। | २०. सा. १७४४। |
| २१. सा. १-३२४। | २२. सा. १-२३८। | २३. सा. १-२८८। | २४. सारा०न०कि०पृ० २८। |
| २५. सा. १०५५। | २६. सा. १०-२०५। | २७. सा. १-३२४। | २८. सा. १-२९५। |
| २९. सा. ४-१२। | ३०. सा. ४-६। | ३१. सा. ११-४। | ३२. सा. १-२१५। |
| ३३. सा. १-३३८। | ३४. सा. १-३४२। | | |

अधिकाम सामासिक पद दो-तीन शब्दों से हो बने हैं, यथा—जनि-मुत^१, वचनपुर-रति^२, कमल-नयन^३, कुमुद-वधु^४ गुरु-हत्या^५, गोकुल-नायक^६, जन-मुत^७, दार-आत^८, दासी-मुत^९, दीनदयाल^{१०}, दीनवधु^{११}, दुष्ट-नभा^{१२}, नद-नदन^{१३}, पांडव-दल^{१४}, पांडु-कुमार^{१५}, भक्त-वल्लल^{१६}, भक्त-वल्ललता^{१७}, भगवत्-भजन^{१८}, मति-नद^{१९}, मन-कामना^{२०}, मुक्ति-क्षेत्र^{२१}, रघुनदन^{२२}, रत्न-लपट^{२३}, राम-रस^{२४}, सत-नमागन^{२५}, साधु-समागम^{२६}, सुरमरि-मुवन^{२७}, हरि-कथा^{२८}, हेम-मुता-रति^{२९} आदि । यद्यपि 'सूर-सागर' के कुछ पदों में अधर-मधु-पान-मत्त^{३०}, अहिपति-मुता-मुवन-सन्मुख^{३१}, वाम-कोश-मद-लोभ-मोह-वस^{३२}, गोपी-ग्वाल-नाय-गोनृत-हित^{३३}, सुन-मृगान स्वजन-वनिता-रति^{३४} जैसे कुछ बड़े ममान भी मिलने हैं तथापि वे भी पूर्ण स्पष्ट हैं और इनकी सख्या भी अधिक नहीं है । सामासिक पद-प्रधान भाषा की दृष्टि में सूरदास के निम्नलिखित पद प्रतिनिधि माने जा सकने हैं—

१. गिरिधर, वज्रधर, मुरलीधर, धरनीधर, नाथी पीतांबरधर ।
संत-चक्र-धर, गदा-पद्म-धर, सीत-मुकुट-धर, अधर-मुधा-धर ।
कंबु-कंठ-धर, कौस्तुभ-मनि-धर, वनमाला-धर, मुक्त-भाल-धर ।
सूरदास प्रभु गोप-वेष-धर, काली - फन पर चरन कमल - धर^{३५} ।
२. रघु-दूखन - त्रिसिरामुर - खंडन । चरन - चिन्ह - दंडक-भुज - मंडन ।
वकी-दवन वक्र-पदन - निदारन । वरुन - निराद - नंद - निस्तारन ।
रिपि-भय - भान ताड़का - तारक । वन बसि तात - वचन-प्रतिपालक ।
काली - दवन केसि-कर - पातन । अध-अरिष्ट - धेनुक - अनुघातन ।
रघुपति प्रवल-पिताक-निभंजन । जग - हित जनक-मुता - मन-रंजन ।
गोकुल-पति गिरिधर गुन-सागर । गोपी - रवन - रास - रति - नागर ।
करुणामय कपि-कुल - हितकारी । बालि - विरोधि कष्ट मृग - हारी ।
गुप्त-गोप - कन्या - व्रत - पूरन । द्विज-नारी-दरसन-दुख - चूरन^{३६} ।

तत्सम शब्दों के आधार पर निर्भन, उक्त उद्धरणों में प्रयुक्त, सब सामासिक पदों की विद्यमानता में भी सूर की भाषा का प्रसाद-गुण अक्षुण्ण है और अर्थ-बोध में किसी

- | | | |
|-----------------|--------------------|-----------------|
| १. सा. ३९०६ । | २. सा. ४२४१ । | ३. सा. १-२४० - |
| ४. सा. ३९१५ । | ५. सा. १-२६१ । | ६. सा. ३७४९ । |
| ७. सा. ४२०७ । | ८. सा. १-२४२ । | ९. सा. ३७४० । |
| १०. सा. १-२४३ । | ११. सा. २-४९ । | १२. सा. १-२४४ । |
| १३. सा. ३२१० । | १४. सा. १-२६९ । | १५. सा. १-२४८ । |
| १६. सा. ३७२१ । | १७. सा. १-२६७ । | १८. सा. १-२६३ । |
| १९. सा. ३७७५ । | २०. सा. २-१९ । | २१. सा. १-३४० । |
| २२. सा. १-१२४ । | २३. सा. सा. २-२५ । | २४. सा. ४१०५ । |
| २५. सा. १-२३३ । | २६. सा. १-२९२ । | २७. सा. १-२७१ । |
| २८. सा. १-२६६ । | २९. सा. ४२४१ । | ३०. सा. ३४८१ । |
| ३१. सा. १-२९ । | ३२. सा. १-२७ । | ३३. सा. १-१७ । |
| ३४. सा. १-५० । | ३५. सा. ५७२ । | ३६. सा. ९८१ । |

प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इसके विपरीत, सूरदास के 'साहित्यलहरी' नामक ग्रंथ में इसी प्रकार के जो सामासिक प्रयोग मिलते हैं, उनमें अभीष्ट अर्थ तक पहुँचना साधारण पाठक के लिए ही नहीं, विद्वानों के लिए कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। इस ग्रंथ में तो प्रायः प्रत्येक पद एक जटिल पहेली बना हुआ है। इसके उदाहरण दृष्टकूट शीर्षक के अंतर्गत आगे दिये जायेंगे।

तत्सम सहचर पद—द्वंद्व समास से बने सहचर या सहयोगी पदों का प्रयोग कवि की भाषा-समृद्धिका द्योतक है। साथ ही, इनका न्यूनाधिक प्रयोग प्रायः उसी अनुपात में जन-साधारण की भाषा से कवि या लेखक के सवध की ओर भी संकेत करता है। सूरदास का संपर्क जन-भाषा से बहुत घनिष्ठ था, अतएव उन्होंने तत्सम सहचर शब्दों का प्रयोग भी बराबर किया है। कुछ पद यहाँ संकलित हैं—

अगम-अगोचर^१, अन्न-जल^२, अन्न-वस्त्र^३, गिरि-कंदर^४, ज्ञान-ध्यान^५, तेज-तप^६, दान-मान^७, दारा-मुत^८, देवी-देव^९, धन-दारा^{१०}, निगम-आगम^{११}, पुत्र-कलत्र^{१२}, माला-तिलक^{१३}, मित्र-बधु^{१४}, रंग-रूप^{१५}, राग-द्वेष^{१६}, रुदन-विलाप^{१७}, लाभ-अलाभ^{१८}, सभा-ममिति^{१९}, साधु-असाधु^{२०}, सुत-कलत्र^{२१}, सुर-असुर^{२२} आदि।

उच्चारण की दृष्टि से तत्सम शब्दों का वर्गीकरण—उच्चारण की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त उक्त तथा अन्यान्य तत्सम शब्दों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम में वे तत्सम शब्द रखे जा सकते हैं जो दो, तीन या चार अक्षरों से मिलकर बने हैं, उच्चारण में किसी प्रकार की कठिनता न होने के कारण जो प्रायः प्रचलित रहे हैं और अपनी सरलता के कारण हिंदी की प्रायः सभी बोलियों और विभाषाओं में जो सहज ही अपना लिये गये हैं। इनमें से अधिकांश शब्द व्रजभाषा के निजी प्रयोगों और तत्सम शब्दों से निर्मित तद्भवों की भाँति ही कोमल, मधुर और सरल हैं। सूरदास के काव्य में प्रयुक्त समस्त तत्सम शब्दों में एक-दो प्रतिशत को छोड़ कर शेष प्रायः इसी प्रकार के हैं। इनको अपनाने से व्रजभाषा को लोकप्रिय बनाने और उसका क्षेत्र बढ़ाने में पर्याप्त सहायता मिली है। कोमल और सरल ध्वनिवाले ये शब्द गौतिकाव्योपयोगी भाषा में सहज ही घुल-मिल गये। ऐसे अनेक शब्द ऊपर उद्धृत उदाहरणों में मिल जायेंगे, कुछ अन्य^{२३} यहाँ संकलित हैं—अग, अतपुर, अतर्गत, अति, अधम, अनुभव, अनुभवी, अपमान, अभिमानो, अभिराम, अवस्था, अविद्या, अमत्कार, असाधु, अस्थिर, अहभाव, आज्ञाकारी, आडंबर, आहुति, इद्रिय, उत्साह, उद्यम, उद्यान,

१. सा. ३८७४। २. सा. १-३४१। ३. सा. १०-३६। ४. सा. २-२०।
 ५. सा. ३८७४। ६. सा. ६-५। ७. सा. १०-३८। ८. सा. १-३१७।
 ९. सा. १-८६। १०. सा. १-३१९। ११. सा. १-३०८। १२. सा. ६-४।
 १३. सा. ६-६। १४. सा. १-२०३। १५. सा. १-८६। १६. सा. १-२४२।
 १७. सा. १-३१९। १८. सा. १-२६२। १९. सा. ३८७४। २०. सा. १-२१७।
 २१. सा. २-२०। २२. सा. १-२०१।

२३. ये और ऐसे ही तत्सम शब्द सूरदास ही नहीं, सभी व्रजभाषा कवियों द्वारा अपनाये गये हैं; अतएव इनके साथ पद-संख्या देने की आवश्यकता नहीं है। —लेखक

उन्मत्त, उपकार, उपचार, उपराग, वच, वपट, कुजर, कुड, कूल, क्रीडा, गति, गृह, चारु, जिह्वा, जीविका, दुर्जन, दृढ, दोष, द्रुम, धूम, निगड, निर्दोष, निस्तार, नृप, नीरस, पय, पति, परस्पर, परिपाटी, पारावार, प्रकोप, प्रतिबिम्ब, प्रतिहार, प्रथम, प्रपच, प्रसन्न, प्रसाद, प्रसिद्ध, प्रारम्भ, प्रेम, भेषज, मधुर, मनोरथ, महत्त्व, महानुभाव, महिमा, मात्र, मुक्ता, मुक्ति, मुखर, मुख्य, मुदा, मृतक, रति, राजनीति, सलाह, सलिल, लुब्धक, विद्यमान, विसर्जन, व्यापक, सक्ल, सवार, सताप, सत्तार, सबल, सत्कार, सप्तम, सबल, समाधान, सर्वज्ञ, सावधान, सुकुमार, सुखर, सुधाकर, सुमन, सौरभ, स्वरूप, स्वल्प, स्वाद, हृदय आदि ।

दूसरे प्रकार के तत्सम शब्दों की ध्वनि इतनी सरल न होकर कुछ क्लिष्ट है । फलस्वरूप, उनका प्रयोग सामान्य ब्रजभाषा-भाषियों में कम रहा और सामान्य बोलियों के काव्य में भी जो अपने तत्सम रूप से सरलता से प्रवेश नहीं पा सके । कोमल और सुकुमार भावों की व्यञ्जना में इनके प्रयोग से कभी-कभी बाधा ही पहुँचती है । ऐसे शब्दों का प्रयोग सूरदास ने कम ही किया है और जो शब्द उनके काव्य में प्रयुक्त भी हुए हैं वे भाषा की सरलता और सुकुमारता का विशेष ध्यान रखनेवाले कवियों द्वारा सहर्ष नहीं अङ्गीकार किये गये । सूरदास स्वयं इस तथ्य से अवगत जान पड़ते हैं, संभवतः इसी से इनमें से अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने बार-बार नहीं दोहराया है । ऐसे शब्दों में कुछ ये हैं—आजीविका^१, आविर्भाव^२, आस्वादिनि^३, विजलक^४, कवासि^५, गह्वर^६, दूतत्व^७, निमित्त^८, न्याय^९, प्रस्वेद^{१०}, ममत्व^{११}, विद्याचारि^{१२}, विद्युत्तुद^{१३}, व्युत्पन्न^{१४}, सत्वर^{१५}, सात्त्विकी^{१६} आदि ।

सारांश यह है कि ब्रजभाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिए सूरदास ने ऐसे तत्सम शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया है जो काव्यभाषा को शाब्दिक और आर्थिक श्री-अपन्नता प्रदान करने में सहायक हो सकें । ये प्रयोग भावों के धारा प्रवाह में थपेड़े सावर भी जटिल कर रहनेवाले पत्थर के भारी-भरकम ढाकों की तरह नहीं, वेग में और तीव्रता लाकर एक प्रकार का नाद-सौंदर्य उत्पन्न करनेवाली चिक्की और सुडील बटियों की तरह हैं जिनकी छटा, धारा के साथ तो दर्शक की मूर्छ करती ही है, उससे विलग हो जान के पश्चात् भी कलामर्मज्ञा की भक्तों की भाँति विस्मय विमुग्ध कर देती है । तत्सम शब्दों के ऐसे प्रयोगों की मुख्य विशेषता यह है कि भाव-व्यञ्जना में सहायता देने के लिए वेगार में पकड़े गये, किसी भार से दबे हुआ की तरह नहीं, स्वच्छदत्तायुक्त हँसी बिखेरते, सहकारिता और दायित्व निर्वाह की भावना निवेदित आकर, ये विषय और माध्यम, दोनों की शोभा-वृद्धि करते और आनन्द की गौरव प्रदान करते हैं । कवि ने

- | | | | |
|---------------|---------------|---------------|---------------|
| १. सा ४-११ । | २. सा ९-१५ । | ३. सा ३६६६ । | ४. सा १-३३९ । |
| ५. सा २४५२ । | ६. सा ३५८३ । | ७. सा १-२६ । | ८. सा ४-५ । |
| ९. सा ४१६९ । | १०. सा ३८०० । | ११. सा ३-१३ । | १२. सा २७०८ । |
| १३. सा २६०१ । | १४. सा ११४४ । | १५. सा ३७८९ । | १६. सा ३-१३ । |

मस्तिष्क को कुरेद-कुरेद कर सप्रयास इनकी पकड़ का आयोजन नहीं किया; प्रत्युत विषय, भावना और रस के अनुकूल तत्सम शब्द, भावावेश के साथ ही, शालीन सेवकों के समान, स्वतः सामने आ जाते हैं। यही कारण है कि कृत्रिमता और आडंबर की छाया का सेश भी अधिकांश तत्सम प्रयोगों में नहीं मिलता और वर्ण-मैत्री तथा भाषा की संगीतात्मकता में सहायक शब्द-चयन से भाषा की शोभा भी बहुत बढ़ी हुई है।

सूरदास के विभिन्न ग्रंथों में तत्सम शब्दों की सख्या विषय, भाव और वातावरण की गुहता - गभीरता तथा कवि-रुचि के विषयानुकूल रही है। सामान्य कथा-प्रसंगों में व्यावहारिक तत्सम शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग हो मिलता है; क्योंकि ऐसे स्थलों पर कवि का उद्देश्य विषय को पद्य-बद्ध करना मात्र जान पड़ता है, न उसने इनमें विशेष रुचि दिखायी है और न अपनी काव्य-प्रतिभा का ही उसने उपयोग किया है। इसके विपरीत, जिन भावोत्कर्षक मार्मिक प्रसंगों के वर्णन एवं दृश्यों के चित्रण में कवि स्वयं तल्लीन हो गया है, उसकी कल्पना-शक्ति उपयुक्त संयोग पाकर खिल उठी है और अतीत के दिव्य दृश्यों का दर्शन पाठक को कगाने में प्रवृत्त हो गयी है, उसकी सूक्ष्मदर्शिणी दृष्टि स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़कर चित्र का मागोपाग आलेखन करने लगी है, उन सबको अपनाते ही सूरदास की भाषा का स्तर भी सहज ही ऊपर उठ जाता है एवं उसके माध्यम से पाठक भी ऐसे साहित्यिक और भावुकतापूर्ण वातावरण में पहुँच जाता है, जहाँ रस-सिक्त और आनन्द-विभोर होकर क्षण भर के लिए वह अपने को भूल जाता है। ऐसे स्थलों के तत्सम प्रयोग भाषा के शृंगार और सौष्ठव की वृद्धि करते हैं तथा सूक्ष्माति सूक्ष्म भावों की सफल व्यञ्जना में सहायक होकर उसकी समृद्धि और शक्ति बढ़ाते हैं।

अर्द्धतत्सम शब्द—अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग साधारणतः उच्चारण की सुविधा-सरलता के लिए किया जाता है। सूरदास की भाषा में प्रयुक्त अर्द्धतत्सम रूपों को देखने से स्पष्ट भी होता है कि जिन तत्सम शब्दों के उच्चारण में किसी प्रकार की कठिनता थी, अथवा जिनकी ध्वनि में कुछ कर्कशता या कठोरता जान पड़ती थी, कवि ने उन्हें ही सरल रूप देने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्हें काव्य-भाषा के लिए उपयुक्त बना लिया है। कभी कभी चरण की मात्रा-पूर्ति के लिए भी तत्सम शब्दों के कुछ अर्द्धाक्षरों को उन्हें स-स्वर करना पड़ा है। वस्तुतः किसी शब्द का रूप विकृत करने का उद्देश्य यदि उसकी उपयोगिता बढ़ाना हो तो कवि की प्रशंसा ही करनी चाहिए। सूरदास के सामने, अर्द्धतत्समों का निर्माण करते समय प्रायः यही उद्देश्य रहा है। अतएव उनके इस प्रयत्न ने व्रजभाषा का निजी शब्द-कोश बढ़ाने में विशेष सहायता दी, क्योंकि ये नवनिर्मित शब्द उनकी ही संपत्ति हैं और उन्हीं के व्याकरण में शामिल होते हैं। दूसरी बात यह है कि अर्द्धतत्समों का प्रयोग साधारणतः ऐसे स्थलों पर होना चाहिए जहाँ भाव के प्रवाह में मग्न और विषय में लीन पाठक को उनकी उपस्थिति सगत जान पड़े। सतोष की बात है कि सूरदास ने इसका भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है और प्रसंग एवं वातावरण के उपयुक्त अर्द्धतत्समों का ही प्रायः चुनाव किया है। उनकी रचनाओं में सबसे अधिक सख्या अर्द्धतत्सम शब्दों की ही है। निम्नलिखित उदाहरणों से उनकी अर्द्धतत्सम-रूप-निर्माण की प्रवृत्ति का पता लग सकता है—

अग्निनि < अग्नि ^१ ,	अनुसासन < अनुशामन ^२ ,	अभरण < आभरण ^३ ,
अमृत < अमृत ^४ ,	अरघ < अद्ध ^५ ,	अस्तुति < स्तुति ^६ ,
अस्थान < स्थान ^७ ,	अस्मर < स्मर ^८ ,	अच्छादित < आच्छादित ^९ ,
आसरम < आश्रम ^{१०} ,	ईस्वरता < ईश्वरता ^{११} ,	उच्छद < उच्छद ^{१२} ,
उनमत्त < उमत्त ^{१३} ,	करनार < कनृ ^{१४} ,	किरपा < कृपा ^{१५} ,
कुदरसन < कुदगन ^{१६} ,	कृतधन < कृतधन ^{१७} ,	गाहक < ग्राहक ^{१८} ,
चतुरभुज < चतुभुज ^{१९} ,	जनम < जम ^{२०} ,	तृन < तृण ^{२१} ,
तृप्ता < तृष्णा ^{२२} ,	घान < स्थान ^{२३} ,	थिनि < स्थिति ^{२४} ,
दरपन < दपण ^{२५} ,	दुआदम < द्वादना ^{२६} ,	दुरबुद्धि < दुर्बुद्धि ^{२७} ,
दुरमति < दुमति ^{२८} ,	धरम < धम ^{२९} ,	नगन < नग्न ^{३०} ,
निरधन < निधन ^{३१} ,	निश्चै < निश्चय ^{३२} ,	निह्वाम < निष्काम ^{३३} ,
निह्वै < निश्चय ^{३४} ,	पदारथ < पदाथ ^{३५} ,	परकार < प्रकार ^{३६} ,
परजत < पय त ^{३७} ,	परजा < प्रजा ^{३८} ,	परताप < प्रताप ^{३९} ,
परतिना < प्रतिज्ञा ^{४०} ,	परतीति < प्रतीति ^{४१} ,	परवत < पवत ^{४२} ,
परवीन < प्रवीण ^{४३} ,	परमान < प्रमाण ^{४४} ,	परससा < प्रशमा ^{४५} ,
परसन < प्रसन्न ^{४६} ,	परावरम < पराक्रम ^{४७} ,	वितत < व्यतीत ^{४८} ,
विदमान < विद्यमान ^{४९} ,	विपाक < विपाक ^{५०} ,	विरति < विरक्ति ^{५१} ,
विलम < विलव ^{५२} ,	वैद < वैद्य ^{५३} ,	भीपन < भीषण ^{५४} ,
मरजादा < मर्यादा ^{५५} ,	भरम < भम ^{५६} ,	भारग < भाग ^{५७} ,
रतन < रत्न ^{५८} ,	रिधि < कृद्धि ^{५९} ,	लक्ष्मी < नक्ष्मी ^{६०} ,

१ सा १-३१२ ।	२ सा १-१९७ ।	३ सा ३६८२ ।	४ सा १-२४१ ।
५ सा १-१२९ ।	६ सा १-२९९ ।	७ सा ४८ ।	८ सा ३०६० ।
९ सा ८८३ ।	१० सा ३१३ ।	११ सा १-३९३ ।	१२ सा १-१०४ ।
१३ सा ४१२ ।	१४ सा ४-३ ।	१५ सा ४-११ ।	१६ सा १-१२५ ।
१७ सा १७७ ।	१८ सा ३५४३ ।	१९ सा ३१३ ।	२० सा १-२९४ ।
२१ सा २६ ।	२२ सा २-१३ ।	२३ सा ३०२१ ।	२४ सा ३५३० ।
२५ सा २-२६ ।	२६ सा ३६२ ।	२७ सा ४५ ।	२८ सा १-२५८ ।
२९ सा १२४८ ।	३० सा १-२५४ ।	३१ सा १२४२ ।	३२ सा १-२५७ ।
३३ सा ३५८९ ।	३४ सा ३०९० ।	३५ सा ३६ ।	३६ सा २-३७ ।
३७ सा १-१० ।	३८ सा १-२९० ।	३९ सा १-२३५ ।	४० सा १-२६७ ।
४१ सा ३३७४ ।	४२ सा १-२३४ ।	४३ सा ३५३७ ।	४४ सा १-२२९ ।
४५ सा ३५३४ ।	४६ सा ९१४ ।	४७ सा ३०७७ ।	४८ सा १-२८९ ।
४९ सा ३५२७ ।	५० सा ३-२ ।	५१ सा १३०० ।	५२ सा ४४३ ।
५३ सा ३५२९ ।	५४ सा १२५२ ।	५५ सा ३२७० ।	५६ सा ४५ ।
५७ सा ११८७ ।	५८ सा १-२३५ ।	५९ सा १३२७ ।	६० सा १-३३७ ।

सनात < स्नात^१, सरवज < सर्वज^२, सराध < श्राद्ध^३, सवाद < स्वाद^४,
साच्छात < साक्षात्^५, सुभाइ < स्वभाव^६ सुम्रित < स्मृति^७ आदि ।

इन अर्द्धतत्सम रूपों से स्पष्ट होता है कि इनका निर्माण कही तो 'स्वरभक्ति' के आधार पर किया गया है, जैसे-नग्न-नगन, पदार्थ-पदारथ आदि, कही 'अग्रागम' के, जैसे-स्थान-अस्थान, स्मर-अस्मर आदि, कही व्रजभाषा की प्रकृति का ध्यान करके, जैसे-तृष्णा-तृष्णा, विपाक-बिपाक; और कही शब्द-विशेष के उच्चारण की सुगमता या स्पष्टता के लिए जैसे-अमृत-अम्रित, ऋद्धि-रिधि, स्मृति-सुम्रित आदि । अर्द्धतत्सम रूप बनाने की यह पद्धति सदैव ही प्रचलित रहती है, एक भाषा में दूसरी के अनेक शब्द इसी प्रकार अपनाये जाते हैं । अतएव सूरदास का तत्समबधी प्रयत्न भी भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुकूल और भाषा-प्रकृति की दृष्टि से नितात स्वाभाविक समझा जाना चाहिए ।

परन्तु किसी शब्द के अर्द्धतत्सम रूप का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि नवनिर्मित रूप अर्थ की दृष्टि से कही भ्रामक न हो जाय । उदाहरणार्थ 'कर्म' से 'करम' और 'असत्' से 'असत' शब्द साधारणतः बनाये और प्रयोग में लाये जाते हैं । इसी प्रकार यदि 'क्रम' से 'करम' और 'अस्त' से 'असत' बना लिये जायें तो इन नये शब्दों से पूर्वार्थ-सूचक रूपों का भ्रम हो सकता है । फिर भी कवि ऐसे भ्रामक प्रयोग किया ही करते हैं । सूर-काव्य में भी ऐसे दो-एक उदाहरण मिल जाते हैं, — जैसे 'स्मर' के लिए 'समर' लिखना, क्योंकि इससे भिन्नार्थ 'युद्ध' का भ्रम हो जाता है — अंग-अंग छवि मनहुँ उये-रदि ससि अरु समर लजाई^८ ।

तद्भव शब्द — संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों के अतिरिक्त सूरदास की भाषा में बहुत अधिक संख्या में तद्भव शब्द मिलते हैं । इनसे आशय उन शब्द-रूपों से है जो मूलतः तो संस्कृत के थे, परन्तु मध्यकालीन भाषाओं — पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि — की प्रकृतियों के अनुसार परिवर्तित होते होते नये रूप में हिंदी तक पहुँचे थे । वस्तुतः किसी भाषा की निजी संपत्ति ये तद्भव रूप ही होते हैं, क्योंकि इनका निर्माण सर्वथा जनभाषा की प्रकृति के अनुरूप और बहुत स्वाभाविक रीति से होता है । सूरदास के काव्य में प्रयुक्त तद्भव शब्दों की सूची बहुत लंबी है । अतएव यहाँ चुने हुए कुछ उदाहरण ही संकलित हैं —

अंगुष्ठ > अगुट्ट > अँगूठा, अँगुठा^१ । अधिकार > अँधआर > अँधियार, अँध्यारी^२ ।
आम्र > अँव > अँव, अँवु^३ । अभ्रु > अस्मु > औसू^४ । आकार्यार्थ > अकारियर्थ >
अकार्य^५ । अक्षवाट > अक्खआड > अखड़ा, अखारा^६ । आश्चर्य > अच्चरिय-
> अचरज^७ ।

१. सा. २-१७ । २. सा. १-१२१ । ३. सा. १-२९० ।
४. सा. ३-१० । ५. सा. ३-११ । ६. सा. १-८ । ७. सा. १-१८७ ।
८. सा. ६२६ । ९. सा. १०-६२ । १०. सा. ५०५ । ११. लहरी० उ. ३८ ।
१२. सा. सा. ३४९ । १३. सा. १-१०७ । १४. सा. ९-४ । १५. लहरी० ४५ ।

अद्य>अज्ज>आज^१, आजु^२ । अष्टादन>अट्टारन>अठारह^३ । अद्ध>अद्ध या
अद्धो>अध^४ । आक्ख>आक्खन>अक्खना, अक्खना, अक्खनि^५ । अन्+अक्ष>
अनस्स>अनस्स^६, अनस्सयत्त^७, अनस्सोही^८ । अन्यत्त>अन्यत्त>अनत्त^९ । अपुण्ड>
अपुण्डु>अपूठा, अपूठी^{१०} । अवरुधन>ओरुज्जन>अरुज्जना, अरुज्जन^{११} । अहिवाद्य>
अहिवाद>अहिदान^{१२} । अक्षि>अक्खि>आंख, आंखि^{१३} । वाद्य>वज्ज>आउज =
एक दाजा^{१४} । जक्क>जक्क>आक्^{१५} । अक्षर>अक्खर>आक्खर^{१६} । अक्षय>अक्खय>
आखा, आखो^{१७} = कुल, समस्त । अग्नि>अग्नि>आग^{१८} ।

उत्तथन>उक्कथन>उधटना, उधट^{१९}, उधट्थो^{२०} । उत्तग>उच्छग>
उच्छग^{२१} । उत्ताह>उच्छाह>उछाह, उछाहु^{२२} । उद्गार>उग्गात्त>
उगाल, उगार, उगार^{२३} । उद्गिलन>उग्गिलन>उगलना, उगिली^{२४} ।
उद्वत्तन>उव्वटन>उवटन^{२५}, उवटनी^{२६} । उट्ट>उट्ट>ऊट^{२७} ।
उद्ग्रहण>उग्गहन>उगाहना, उगाहु^{२८} । उद्घाटन>उग्घाटन>उघटना,
उघरना, उघरी^{२९}, उघरे^{३०} । अवतरण>उत्तरण>उतरना, उतरात्त^{३१}, उतरानी^{३२} ।
अनुसार>अनुहार>उनहार^{३३}, उनिहारी^{३४} । ऋद्ध>उद्ध>उरद^{३५} ।
आवर्तन>आवट्टन>ओटना, ओटाई^{३६}, ओटि^{३७} ।

क्कौटक्क>क्ककोटक्क>क्कोडा, क्कोरा^{३८} । कर्त्तन>कट्टन>काटना, कट्टे^{३९} ।
क्कण>क्कण्ह>क्कण्है^{४०}, क्कण्हैया^{४१}, क्कण्ह, क्कण्हर^{४२},
क्कण्है^{४३} । कक्ष>क्कच्छ>क्कच्छ, क्कच्छ^{४४}, क्कच्छनी^{४५} । काय्य>क्कज्ज>काज^{४६} ।
काण्ड>काट्ट>काठ^{४७} । कम्म>क्कम्म>काम^{४८} । कंक्कत्त>क्केवट्ट>क्केवट^{४९} ।
कुक्षि>कुक्खि>कोख^{५०}, कोखि^{५१} । कपडिका>क्कड्डिका>कौडी^{५२} ।
गुह्य>गुज्जक्क>गूत्ता^{५३} । ग्रय>गत्थ>गय^{५४}, गयु^{५५} । गज्जेद्व>गज्जिद>गयद^{५६} ।

१. सा. १-५१ । २. सा. वे. ११३४ । ३. सा. २-१९ । ४. सा. वे. ३३०४ ।
५. सा. वे. २०६९ । ६. सा. ३८४ । ७. सा. वे. २१४६ । ८. सा. १२४८ ।
९. सा. १-१८ । १०. सा. ९-८७ । ११. सा. वे. पू. ३३३ । १२. सा. ५७७ ।
१३. सा. वे. २३७७ । १४. सा. ९-७५ । १५. सा. वे. पू. ३३३ । १६. सा. १०-४० ।
१७. सा. वे. ३०२१ । १८. सा. ९-२ । १९. सा. ४४८ । २०. सा. १-२०५ ।
२१. सा. ९-१६२ । २२. सा. वे. २८३६ । २३. सा. वे. १८२७ । २४. सा. १०-२५४ ।
२५. सा. १०-१८३ । २६. सा. १०-१८५ । २७. सा. २-१४ । २८. सा. वे. ११७४ ।
२९. सा. वे. ३३४६ । ३०. सा. १०-२५४ । ३१. सा. ५५२ । ३२. सा. १०-३३७ ।
३३. सा. वे. ३०३७ । ३४. सा. ४९२ । ३५. सा. ३९६ । ३६. सा. १-६३ ।
३७. सा. १०-२२७ । ३८. सा. वे. २३२१ । ३९. सा. १-१८० । ४०. सा. ५२७ ।
४१. सा. ४५१ । ४२. सा. १०-७५ । ४३. सा. १०-१८३ । ४४. सा. वे. २३५० ।
४५. सा. १-३०७ । ४६. सा. १०-२६० । ४७. सारा. ४१८ । ४८. सा. १०-२४० ।
४९. सा. १-३०८ । ५०. सारा. ३९ । ५१. सारा. ४४ । ५२. सा. वे. २७११ ।
५३. सा. वे. १८२२ । ५४. सा. १-१८५ । ५५. सा. ११-१ । ५६. सा. १५५३ ।

ग्रीष्म > गठि > गाँठ, गाँठि^१, गाँठी^२ । गर्जन > गज्जन > गाजना, गाजन^३
गाजनु^४ । गर्त > गड्ड < गाड = गड्ढा, गाडे^५ । गुह्यक > गुज्जा > गूझा^६
गोझा^७ । घात > घात्र < घाव^८ । घृत > घीअ > घी, घिय, घीव^९ ।

चिविट > चिविड > चिउडा, चिउरा^{१०} । चीत्वार > चिक्कार > चिकार^{११} ।
चतुष्क > चउक्क < चौक^{१२} । चतुर्थी > चउत्थि > चउथि, चौथ^{१३} ।
छव > छत्त > छाता^{१४} । जिह्व > जिम्भ > जीभ^{१५} । जुष्ठ > जुट्ट > जूठा, जूठो, जूठो^{१६} ।
अयुक्त > अजुत्त < झूठ^{१७} । दृष्टि > दिट्ठि > डिट्ठि > डीठ, डीठि^{१८}, दीठि^{१९} ।
शिथिल > सिठिल < डीला, डीली^{२०} । तप्त > तत्त > ताना, ताती^{२१} ।
तुण्ड > तुड्ड < नूठना, तूठे^{२२} । दप > दप्प > दाप^{२३} । दुर्लभ > दुल्लाभन > दुलार,
दुनारी^{२४}, दुलारो-दुलारो^{२५} । दुर्लभ > दुल्लह > दूल्ह^{२६} ।
नाति > नाति > नात^{२७}, नातो^{२८} । नि-निकट > निनिअड > निनरा, निनरे, निनारे^{२९} ।

पश्चालु > पक्खाडु > पखेरु^{३०} । पदक > पअक, पक > पग^{३१} । पत्री > पत्ती >
पाती^{३२} = पत्र । पाद > पाय > पाव, पांउ^{३३} । प्रावृष > पाउस > पावस^{३४} । पाषाण >
पाहाण > पाहन^{३५} । पुष्किनी > पुडइनी > पुरइन^{३६} । प्रोता > पोता > पोत = ^{३७}
कांच की गुरिया का दाना । प्रनोली > पओली > पीरी, पीरि^{३८} ।
वत्स > वच्छ > वच्छ^{३९} । अवसृष्ट > अवसिट्टु > बसीठ^{४०} । विद्युत > बिज्जु > बीजु^{४१} ।
वचन > वयन > वैन^{४२} । भक्ष > भक्ख > भख^{४३} । मौक्तिक > मोत्तिय > मोती^{४४} ।
मूल्य > मुल्ल > मोल्ल^{४५} । राजिका > राइआ > राई^{४६} । यष्टि > लट्ठि > लड़ी,
लड़, लर^{४७} । स्वस्तिक > सत्थियअ > सथिया^{४८} । शुक > सूअ > सूआ, सुआ या सुवा^{४९} ।
हरित > हरिअ > हरा, हरी^{५०} । हृदय > हिअ > हिय^{५१} ।

१. सा. ९-१६४ । २. सा. वे. ८८० । ३. सा. ६२२ । ४. सा. वे. २८७२ ।
५. सा. १-१२४ । ६. सा. १०-१८३ । ७. सा. वे. २३२१ । ८. सा. वे. २८२६ ।
९. सा. ३९६ । १०. सा. १०-२११ । ११. सा. १० उ०-२ । १२. सारा. २३९ ।
१३. सा. ३-१३ । १४. सा. १-२३ । १५. सा. १-१८८ ।
१६. सा. ४६८ । १७. सा. १-१३७ । १८. सा. १०-६९ ।
१९. सा. १-२७४ । २०. सा. १०-२९९ । २१. सा. १-२३ । २२. सा. १-१७७ ।
२३. सा. ४-५ । २४. सा. ७०८ । २५. सा. १०-१५ । २६. सा. वे. २९५९ ।
२७. सा. ३१६१ । २८. सा. ३९ ३३ । २९. सा. ३७५८ । ३०. सा. २२७२ ।
३१. सा. १-२४२ । ३२. सा. ३४४३ । ३३. सा. ९-४४ । ३४. सा. ४११७ ।
३५. सा. १-३३२ । ३६. सा. १०४९ । ३७. सा. ३६९० । ३८. सा. ८-१४ ।
३९. सा. ४३६ । ४०. सा. ४०२४ । ४१. सा. ६२३ । ४२. सा. १०-१०३ ।
४३. सहरो. ३१ । ४४. सा. १०-८४ । ४५. सा. ३८७० । ४६. सा. ४१९९ ।
४७. सा. १८७१ । ४८. सा. १०-३२ । ४९. सा. १-३४० । ५०. सा. ९-१६४ ।
५१. सा. ९-८४ ।

कुछ शब्दों के अर्द्धतत्सम और तद्भव, दोनों रूप प्रचलित रहते हैं, जैसे वत्स, अर्द्ध० वच्छ, तद्० वच्चा । यदि ये दोनों रूप नबोदित काव्यभाषा के योग्य और उसकी प्रकृति के अनुरूप होते हैं, तो आवश्यकतानुसार दोनों को काव्य-रचनाओं में स्थान दिया जाना है । सूर काव्य में भी कुछ शब्दों के अर्द्धतत्सम और तद्भव, दोनों रूप मिलते हैं, यथा—स० अग्नि, अर्द्ध० अगिन,^१ अगिनि^२, तद्० आग ।^३ स० कायं, अर्द्ध० कारज^४, तद्, काज^५ ।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित संधि-प्रयोग—

अर्द्धतत्सम, तद्भव और सरल तत्सम शब्दों को सूरदास ने प्रायः एक ही वर्ग में रखा है और अपने काव्य में इन्हें बिना किसी भेद-भाव के, निमकोच समान अधिकार दिया है । यही कारण है कि दिनम^६, बदरिकासरम^७ जैसे इन गिन संधि-प्रयोग केवल अर्द्धतत्समों या तद्भवों के आधार पर बने मिलते हैं, अन्यथा उन्होंने मिश्रित शब्द-रूपों की स्वतंत्रतापूर्वक संधियाँ की हैं, यथा—कुमासन^८, चरनावुज^९, चरनोदक^{१०}, सुपनातर^{११} आदि । सूरदास प्रायः तीन-चार अक्षरों से अधिक के शब्दों का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं जान पड़ते । पाँच-छह अक्षरोंवाले बहुत ही थोड़े शब्द उनके काव्य में मिलते हैं और उनमें भी अधिकांश पारिभाषिक या व्यक्तिवाचक ही हैं, यद्यपि कवि की रुचि अवसर मिलते ही उनको भी संक्षिप्त करने की ओर रही है । इसी कारण एक ता संधि-प्रयोगों की संख्या ही उनके काव्य में कम है और दूसरे, इस प्रकार निर्मित जा शब्द मिलते भी हैं उनमें से अधिकांश सरल स्वर-संधि के ही उदाहरण हैं ।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित समास—

संधि प्रयोगों की अपेक्षा अर्द्धतत्सम और तद्भव सामासिक पदों की संख्या सूर-काव्य में अधिक है । जिन पदों में कवि ने इन शब्दों का प्रयोग अधिक किया है, वहाँ तो ऐसे समास मिलते ही हैं, साथ ही तत्सम शब्दावली-प्रधान भाषा के बीच में भी उसमें इन्हें निस्मकोच स्थान दिया है । इसका कारण यही है कि कवि तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों में अधिक महत्व का पद तत्सम शब्दों को नहीं देना चाहता, जैसे -करम फॉम^{१२}, नल - प्रकाम^{१३}, वान-वरपा^{१४}, विषय विकार^{१५}, ब्रजचंद^{१६}, ब्रजवामी^{१७}, भुज-सम^{१८} आदि ।

अर्द्धतत्सम या तद्भव और संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधार पर बने हुए

१ सा वे १० उ० ४६ ।	२ सा १-९१ ।	३ सा ९-२ ।
४ सा ४-११ ।	५ सा १०-१४६ ।	६ सा १-३३९ ●
७ सा ३-४ ।	८ सा १-३४१ ।	९ सा. ४२८७ ।
१० सा १-२३९ ।	११ सा ८४० ।	१२ सा १-२६३ ।
१३ सा १-४८ ।	१४ सा १-२७१ ।	१५ सा ४१०३ ।
१६ सा १-१५ ।	१७ सा ३७७५ ।	१८ सा ३७३२ ।

सामासिक पदों की सख्या भी सूर-काव्य में बहुत अधिक है। 'सारावली' में ऐसे प्रयोग कम मिलते हैं; परन्तु 'सूरसागर' में कवि ने इनका आदि से अंत तक निःसंकोच प्रयोग किया है और 'साहित्यलहरी' के तो प्रायः प्रत्येक पद में इनके पाँच-सात उदाहरण तक मिल जाते हैं। 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' सामासिक पदों के प्रयोग की दृष्टि से सूरदास की भाषा के दो अति-प्रधान रूप हैं, अतएव मध्य-वर्तिनी भाषा 'सूरसागर' की ही समझनी चाहिए। इसी काव्य से सकलित कुछ उदाहरणों से सूरदास की तद्विषयक मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय मिल सकता है, यथा — कटि-वसन^१, कहना-सिधु^२, कुस-आसन^३, गोपी-जन-वल्लभ^४, छपद^५, जगदीस-भजन^६, जदुकुल^७, जलविहार^८, जादवकुल-दीपक^९, जीवन-प्राप्त^{१०}, तन-दसा^{११}, धन-जोवन-मद-माते^{१२}, पमु-पालक^{१३}, प्रेम-मगन^{१४}, बाल-सँघाती^{१५}, रत-भूमि^{१६}, रूप-रतन^{१७}, समु-मुत^{१८}, सिव-रिपु^{१९}, सुख-सेज्या^{२०}, हरि-भख^{२१} आदि। अर्द्धतरसम, तद्भव और मिश्रित सहचर-पद—

तत्सम सहचर-पदों से लगभग चौगुने अर्द्धतरसम, तद्भव और मिश्रित पद सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—अहनिमि^{२२}, उच्च-अनुच^{२३}, ऊँच-नीच^{२४}, कूकर-सूकर^{२५}, खर-कूकर^{२६}, खाटो-खारो^{२७}, गाइ-वच्छ^{२८}, गुन-अवगुन^{२९}, घाट-वाट^{३०}, जनम-मरन^{३१}, जोग-जुगति^{३२}, ताल-पखावज^{३३}, तीरथ-व्रत^{३४}, दिन-राती^{३५}, दुख-संताप^{३६}, देस-विदेस^{३७}, घर-अंबर^{३८}, नख-सिख^{३९}, नभ-धरनि^{४०}, नान्हे-नून्हे^{४१}, निसि-बासर^{४२}, नेम-व्रत^{४३}, पहर-घरी^{४४}, पमु-पक्षी^{४५}, पाखंड-चतुराई^{४६}, पाप-पुन्य^{४७}, फूल-फल^{४८}, बन-उपवन^{४९}, बाद-विवाद^{५०}, भडार-भूमि^{५१}, भले-बुरे^{५२}, भाजी-साक^{५३}, भाव-भगनि^{५४}, भूख-नौद^{५५}, मत्र-जत्र^{५६},

- | | | |
|----------------|----------------|-------------------------------|
| १. सा. १-२४६। | २. सा. ३-११। | ३. सा. १-३४१। |
| ४. सा. ३-२१०। | ५. सा. ४१५२। | ६. सा. १-२३३। ७. सा. १-२४२। |
| ८. सा. ११६१। | ९. सा. ३-२१०। | १०. सा. ३४८२। ११. सा. १-२४०। |
| १२. सा. ३७४८। | १३. सा. ३७४१। | १४. सा. १-२४०। १५. सा. ४१०५। |
| १६. सा. १-२६१। | १७. सा. ३७२१। | १८. सा. ४२४१। १९. सा. ४००४। |
| २०. सा. १-२६८। | २१. सा. ४००७। | २२. सा. ४-१२। २३. सा. १-२०३। |
| २४. सा. १-१३०। | २५. सा. २-१४। | २६. सा. १-१०३। २७. सा. १-१५२। |
| २८. सा. १०-२६। | २९. सा. १-१११। | ३०. सा. २-८८३। ३१. सा. १-३१५। |
| ३२. सा. १-१२७। | ३३. सा. १-१५१। | ३४. सा. १०-१६। ३५. सा. १-३२५। |
| ३६. सा. ९-९०। | ३७. सा. १-२०३। | ३८. सा. ९-१०४। ३९. सा. १-१७७। |
| ४०. सा. ७-२। | ४१. सा. १-९६। | ४२. सा. १-१४१। ४३. सा. १-१६७। |
| ४४. सा. १-१३०। | ४५. सा. ९-४६। | ४६. सा. १-३१७। ४७. सा. १-१५१। |
| ४८. सा. ९-५९। | ४९. सा. ९-७५। | ५०. सा. १-२३३। ५१. सा. १-२४७। |
| ५२. सा. १-१७०। | ५३. सा. १-२३९। | ५४. सा. १-१४९। ५५. सा. ९-२। |
| ५६. सा. ७-२। | | |

मया-मोह^१, मान-परेखी^२, रक्-निखारी^३, सुपदा-आपदा^४, सर-अवसर^५, लीठ-उज्ज^६, सूर-सुनट^७, नेमर-डाक^८, स्वर्ग-पतान^९, हय-नाय^{१०}, हर्ष-भोक्^{११} ।

अर्द्धतत्त्वम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा के उदाहरण —

सूर-काव्य से तत्त्वमता-प्रधान भाषा के आदर्श-रूप उदाहरणों को चयन करने में तो पाठक को कुछ समय लगता है, परन्तु अर्द्धतत्त्वम और तद्भव शब्द प्रधान भाषा तो उनके सभी ग्रंथों में केवल रूप और दृश्य-चित्रण के स्थलों को छोड़कर, प्रायः आदि में अतः तक मिलती हैं । इसका कारण यह है कि कवि ने ब्रजभाषा की स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए उन प्रयामपूर्ण शब्द-योजना की कृत्रिमता से सर्वत्र बचाया है । श्रीकृष्ण और राधा के रूप वर्णन और विशिष्ट भाव-चित्रण के पदों के अतिरिक्त सभी मार्मिक और हृदयस्पर्शी प्रयोगों की व्यञ्जना कवि ने जिन भाषा में की है उनमें अर्द्धतत्त्वम और तद्भव शब्दों की ही अधिकता है । ऐसे पदों में संस्कृत के छोटे-छोटे तत्त्वम शब्द भी कवि ने निस्संकोच अपनाये हैं और यह इसलिए कि कवि ने उन्हें सभी दृष्टियों में अर्द्धतत्त्वमों और तद्भवों के समकक्ष समझा है । सूर-काव्य के विभिन्न स्थलों से इस प्रकार की भाषा के कुछ उदाहरण उक्त चयन की पृष्ठि में यहाँ संकलित हैं । इन पदों में बड़े छोटे शब्द तत्त्वम हैं और शेष प्रायः सभी, केवल विदेशी शब्दों को छोड़कर, अर्द्धतत्त्वम अथवा तद्भव हैं—

१. जा दिन मन पछो उडि जैहै ।

ता दिन तेरे तन तस्वर के, सब पान क्षरि जैहै ॥
 या देही को गरव न कगिए स्मर काग विष खैहै ।
 तोननि मे तन कृमि, कै विष्टा, कै ह्वै खाव उटैहै ॥
 कहै वह नार कहाँ वह सोना, कहै रँगा-रंग दिखैहै ।
 जिन लोगनि सौ नेह करत है, तेई देखि भिनैहै ॥
 घर के कहत सबारे काडी, भूत होइ घरि खैहै ।
 जिन पुत्रनिहि बहूनि प्रतिपारपी, देवी - देव मनैहै ॥
 तेई लै सोपरी बांस दै, नील फोरि बितरैहै ।
 अजहूँ मूढ करी सतसंगनि, सतनि में बछु पँहै ॥
 नर बपु धारि नाहि जन हरि को, जम को मार सौ खैहै ।
 सूरदास भगवन भजन बिनु, ब्रया सु-जनम गर्वैहै^{१२} ॥

२. रामाहि रामी बोज जाइ ।

जब लगि भरत अजोष्या आवै, कहत कोनिना माइ ।

१. सा ५३१ ।

२. सा ३९७५ ।

३. सा १-१७० ।

४. सा १-२६५ ।

५. सा १-१५८ ।

६. सा १-११७ ।

७. सा ९-९७ ।

८. सा. ९-४२ ।

९. सा. ९-७४ ।

१०. सा १-३१७ ।

११. सा ५-४१-

१२. सा १-८६ ।

पठवौ दूत भरन को ल्यावन बचन कह्यो बिलखाइ ।
 दंसरथ-बचन राम बन-गवने यह कहियो अरथाइ ।
 आए भरत दीन ह्वै बोले, कहा कियो कैकइ माइ ।
 हम सेवक वै त्रिभुवनपति, कत स्वान मिह बलि ख इ ।
 आजु अजोष्या जल नहि अँचवों मुख नहि देखी माइ ।
 सूरदास राघव बिछुरन तँ मरन भली दय लाइ^१ ।

३. यह न होइ जैसे माखन-चोरी ।

तब वह मुख पहिचानि, मानि सुख, देती जान, हानि हति थोरी ।
 तब तिन दिननि कुमार कान्ह तुम, हमहुँ हुती अपन जिय भोरी ।
 तुम ब्रजराज बड़े के ढोटा, गोरस कारन बानि न तोरी ।
 अब भए कुसल किसोर कान्ह तुम, हौं भइ सजग समा र किसोरी ।
 जात कहाँ बलि बाँह छुड़ाए मूसे मन-सपति सब भोरी ।
 नख-सिख लौं चित-चोर सकल अँग चीन्हे पर कत करत मरोरी ।
 इक मुनि सूर हरचौ मेरी सरबस, ओ उलटी डोलति सँग डोरी^२ ।

४. (ऊघी) इन बतियनि कैसे मन दीजै ।

बिनु देखे वा स्याम सुंदर के पल-पल ही तन छीजै ।
 जो करि आनि हमारै दीनों सो अपन कर लीजै ।
 बाँचि सुनावहु लिख्यो कहा है, हम बाँचत यह भीजै ।
 बडौ मतो है जोग तिहारे, सो हमरै कह कीजै ।
 अन्धर चारिक आनि सुनावहु तिनहि आस करि जीजै ।
 उर को सूल तव भल निकसै नैन बान जी कीजै ।
 सूरदास प्रभु प्रान तजति हौं मोहन मिलै तो जीजै^३ ।

५. कैसे करि आवत स्याम इती ।

मन-क्रम-बचन और नहि मेरै पद-रज त्यागि हिनी ।
 अतरजामी यही न जानत जो मो उरहि बिती ।
 ज्यों जुवारि रस-बोधि, हारि गथ, मोचत पटक चिती ।
 रहत अथज्ञा होइ गोसाई चलत न दुखहि मिती ।
 क्यों बिस्वास करहिगो कौरी, मुनि प्रभु कठिन कृती ।
 इतर नृपति जिहि उचित निकट करि देति न मूठि रिती ।
 छुटत न असु नितहि कृपन कै, प्रीति न सूर रिती^४ ।

उक्त उदाहरण 'सूरसागर' के विभिन्न स्कंधों और प्रसंगों से संकलित हैं । इनमें अर्द्धतत्सम और तद्ध्रस्व शब्दों की संख्या तो रेखांकित तत्सम शब्दों से अधिक है ही, साथ ही सभी पद भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी हैं । 'सारवली' में भी इस प्रकार

की भाषा के अनक उदाहरण मिलते हैं यद्यपि उसका कोई सुसपादित सस्वरण न हाने से नवलविशोर और बेंकटेस्वर प्रेसों के 'सूरसागर' के आरम्भ में प्रकाशित 'सारावली' से ही काम चलाना पड़ता है जिनमें अनक अर्द्धतत्समों का असावधानी से तत्सम रूप में लिखा गया है। फिर भी 'सारावली' के निम्नलिखित अवतरणों की भाषा^१, किसी सीमा तक, 'सूरसागर' से उद्धृत उक्त पदा की भाषा से मिलती-जुलती है।

१. जमुमति माय धाय उर लीन्हा राई-लान उतारा ।
लत बलाय राहनी नीकै सुदर रूप निहारी ।
बबहुक कर करताल बजावत नाना भांति नचावत ।
बबहुक दधि-माखन के वारन आछी आर मचावन^२ ।

२. गापिनि सा बिनती करि कहियो नित प्रति मन मुघ करिया ,
बिरह बिधा बाढै जब तन मे तब तब मोहि चित धरिया ।
पानी निखी आप कर मोहल बन्दासी सब लोग ।
मात जसादा पिता नद जू बाढया बिरह बियोग ।
घोरी धूमर कारी बाजर मन मजीठी गाय ।
ताको बहुत राखियो नीकै उन पोप्या पं प्याय ।
वन में सित्र हमारो इक हैं हम ही सा है रूप ।
कमल नैन घनस्याम मनोहर सब गोधन को भूप ।
ताको पूज बहुत सिर नइयो अरु कीजो परनाम ।
उन हमरो ब्रज सर्वाहि बचायो सब विधि पूरे काम^३ ।

३. भोर भये उठि चले भजन को हरि कछु इनहि न दीनों ।
ताको हरप साक निज मन मे मुनियर कछु न बीना ।
भली भई हरि दरसन पायो तन को ताप नमाया ।
दुर्बल विप्र कुचील सुदामा ताको कठ लगायो ।
धन्य धन्य प्रभु को प्रभुताई भोपे बरनि न जाई ।
सेप सहम मुरख पार न पावत निगम नेति कहि गाई^४ ।

'सूरसागर' के उक्त पूरे पद अथवा 'सारावली' के एक ही प्रसंग के कुछ अंश जैसे उद्धृत कर दिये गये हैं, 'साहित्यलहरी' की भाषा के अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान जैसे पूर्ण उद्धरण देना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि इसके दृष्टिकूटों में थाड़े से तत्सम शब्दों की अनेक आवृत्तियों से ही कवि ने नये नये अर्थ निकालन का प्रयत्न किया है और

१ 'सारावली' के उक्त तीनों अवतरणों के मूल पाठ में दिये गये यमुमति, व्रज, यशोदा, धूप, शेष शब्द यहाँ किंचित् परिवर्तन के साथ दिये गये हैं—लेखक ।

२. सारा. न०. कि.पृ. १७ । ३. सारा न० कि.पृ. २१ । ४ सारा. न. कि.पृ. २७ ।

वे अर्थ भी सरलता से नहीं खुलते । अतएव उक्त अवतरणों से मिलती-जुलती भाषा के उदाहरण 'साहित्यलहरी' के कुछ पदों की प्रायः प्रारम्भिक पक्तियों में ही मिलते हैं; यथा—

१. आज अकेली कुंजभवन में बैठी बाल विस्रस्त ।^१
२. आज सखिनि संग सुरुच सांवरी करत रही जल केलि ।
आइ गयो तहां सरस सांवरो प्रेम पमारन बेलि^२ ।
३. पिय बिनु बहुत बैरिन बाय ।
मदन वान कमान ल्यायो करपि कोप चढाय^३ ।
४. सजनी जो तन दृषा गँवायो ।
नंदनँदन ब्रजराजकुँवर सों नाहक नेह लगायो^४ ।
५. जब ब्रजचंद-चंदमुख लखिहै ।
तब यह बान मान की तेरी अगन आपु न रखिहै^५ ।

'सूरसागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त तत्सम शब्द रेखांकित कर दिये गये हैं, शेष में से कुछ विदेशी शब्दों को छोड़कर, सब शब्द अर्द्धतत्सम और तद्भव हैं जिनको सम्मिलित रूप से ब्रजभाषा की, परंपरा से प्राप्त और अर्जित, संभक्ति मानना चाहिए । उक्त अवतरणों के भाषा-रूप के संवध में एक रोचक बात यह है कि तत्सम शब्दों की संख्या लगभग बीस प्रतिशत है और वे भी ध्वनि या उच्चारण की दृष्टि से बहुत सरल हैं । सूर-काव्य का लगभग आधा अंश इसी भाषा-रूप में लिखा गया है ।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द—

सूरदास द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से होते हुए ब्रजभाषा तक पहुँचे थे । उनके अतिरिक्त कुछ शब्द सूरदास की भाषा में उसी रूप में मिलते हैं जिस रूप में वे पाली, प्राकृत अथवा अपभ्रंश में प्रयुक्त होते थे और इनके मूल रूप में अपना लिये जाने का कारण या इनकी ध्वनि का ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप होना । सूरदास के काव्य में प्रयुक्त ऐसे कुछ शब्द यहाँ संकलित हैं—

असवार^६ < अश्ववार या अश्वपाल । उज्जल^७ < उज्ज्वल । ऊसर^८ < ऊपर ।
केहरि^९ < केसरी । खार^{१०} < क्षार । गय^{११} < गज । गाहक^{१२} < ग्राहक । घर^{१३} < गृह ।

१. लहरी०, पद ३ ।

२. लहरी०, पद ७ ।

३. लहरी०, पद ३२ ।

४. लहरी०, पद ४६ ।

५. लहरी०, पद ९७ ।

६. सा. ८०८ ।

७. सा. १-३३८ ।

८. सा. ६-५ ।

९. सा. १०-९९ ।

१०. सा. ९-१०७ । ११. सा. १-२२६ । १२. सा. घं ३२४४ । १३. सा. घं २९०५९ ।

चिहुर^१ < चिकुर । जत्त^२ < यत्तम् । ताव^३ < ताप । फटिक^४ < स्फटिक । बिज्जु^५ < विद्युत् । सायर^६ < सागर आदि ।

हिन्दी बोलियों के शब्द—

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा के साथ-साथ उसके निकटवर्ती प्रदेश की जिन बोलियों का विकास हो रहा था उनमें चार प्रमुख थीं—अवधी, खड़ीबोली, बन्नौजी और बुन्देलखड़ी । इनमें प्रथम दो तो विकसित होकर स्वतंत्र भाषा का पद प्राप्त कर सकी, अन्तिम दोनों, एक प्रकार से, ब्रजभाषा में ही समा गयी । इन बोलियों से ब्रजभाषा का शब्द-सबधी आदान-प्रदान बराबर चलता रहा और ब्रजभाषा-कवियों की, जिनमें सूरदास भी हैं, रचनाओं में इनके शब्द यत्र-तत्र मिल जाते हैं ।

अन्ध के शब्द—ब्रजभाषा के साथ-साथ अवधी का भी विकास हुआ । सूफी कवियों के अतिरिक्त रामभक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास ने उसके मस्तक पर अपना वरद हस्त रखकर उसे सदा के लिए अमर कर दिया । गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव के पूर्व तक अवधी और ब्रजभाषा की स्थिति बहुत-कुछ समान थी । पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं तथा समकालीन विदेशी भाषाओं के प्रति दोनों की नीति में भी बहुत कुछ समानता थी । गोस्वामी जी ने जहाँ अवधी को अपनाकर उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया, वही ब्रजभाषा में काव्य-रचना करके इसकी लोकप्रियता-वृद्धि और महत्ता-स्थापन में महत्वपूर्ण योग देकर, परोक्ष रूप से, अवधी का क्षेत्र भी सीमित-संकुचित कर दिया । संस्कृत, पाली, प्राकृत और जपभश तथा अरबी, फारसी और तुर्की के जो तत्सम, अद्वतत्सम और तद्भव शब्द उस समय तक प्रचलित हो गये थे, दोनों पर ब्रजभाषा और अवधी का समान अधिकार था और दोनों के कवियों ने इनका निस्तकोच प्रयोग किया । उस समय शब्दकोश समृद्ध करने और व्यञ्जना-शक्ति बढ़ाने की इन भाषाओं में जैसे होड़ सी लग रही थी, इनोलिए अवधी ने ब्रजभाषा के और ब्रजभाषा ने अवधी के काव्योपयोगी प्रयोगों को भी सहर्ष अपना लिया । दोनों भाषाओं में पर्याप्त साहित्य-रचना हो जाने के पश्चात् शब्दों का आदान-प्रदान बढ़ता ही गया । परन्तु ब्रजभाषा के पक्ष में एक ऐसी बात थी कि अवधी से उसे आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हो गया । ब्रजभाषी क्षेत्र में तो अवधी में रचना करनेवाले कवियों की संख्या नहीं के बराबर रही, लेकिन अवधी-क्षेत्र-वासी अनेक कवियों ने ब्रजभाषा को काव्य-रचना के लिए सादर ग्रहण किया जैसा गोस्वामी जी कर चुके थे । इनकी ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोगों का आ जाना स्वाभाविक ही था ।

सूरदास ने न तो अवधी-भाषी क्षेत्र की कभी यात्रा की थी और न उन्होंने उसके साहित्य का विधिवन् अध्ययन किया था जिसने इसका प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी भाषा पर

१. सा. ९-७३ । २. सा. १-४ । ३. सा. ३-११ । ४. सा न कि.पु ३० ।
५. सा. १०-९१ । ६. सा १-१२५ ।

पड़ता । अतएव उनको रचना में अवधी के ऐसे प्रयोग ही मिलते हैं जो इतने सरल थे कि व्रजभाषी क्षेत्र में सरलता में प्रचलित हो गये थे; साथ-साथ अवधी की प्रवृत्ति का प्रभाव भी सूरदास के अनेक शब्द-रूपों पर दिखायी देता है; जैसे—

अस—तो को अस आता जु अपुन करि कर कुठाव्रं पकरंगो^१ । धन्य जसोदा जिन जायो अस पूत^२ ।

आहि—उमा, आहि यह सो मुँडमाल^३ । तुनावर्त प्रभु आहि हमारो^४ ।

इह—तासो भिरहु तुमहि मो लापक इह हेरनि मुसकानि^५ ।

इहो—इहो आइ सब नासी^६ । इहो अपसगुन होत नित गए^७ । ते दिन बिसरि गए इहां आए^८ ।

उहो—उहो जाइ कुरुपति बल जोग । दियो छाँड़ि तन को सजोग^९ ।

ऊँच—महां ऊँच पदवी तिन पाई^{१०} ।

कनियाँ—ता पाछे तू कनियों लै री^{११} । हरि किलकत जसुदा की-कनियों^{१२} । लाल को कबहुँक कनियाँ लैहों^{१३} ।

कीन—नृप व्रत पूरन कीन^{१४} । मुकुट कुडल किरनि रवि छवि परम बिगसित कीन^{१५} ।

गोर—मनमोहन पिय दूल्हा राजत दुलहिन राधा गोर^{१६} । द्वै ससि स्याम नवल घन द्वे कीन्हे बिधि गोर^{१७} ।

छोट—बँठत सब सभा हरि जू की, कोन बड़ो को छोट^{१८} ।

जुआर—मानो हार्यो हेम जुआर^{१९} ।

जुवारी—ज्यों गय हारे धकित जुवारी^{२०} ।

तोर—पावक परी सिधु महें बूझी नहि मुख देखी तोर^{२१} ।

दुवार—देखन रूप मदन मोहन को नद दुवार खरी^{२२} ।

पियासे—रवि रुचि प्रेम पियासे नैनन कम कम बलाहि बढ़ावत^{२३} ।

बड़—मजि आयुष बड़-छोट^{२४} ।

वियारी—कमल-नैन हरि करी वियारी^{२५} ।

उक्त प्रयोगों में कनियाँ-जैसे शब्द अवधी भाषी क्षेत्र में ही अधिक प्रचलित है । इनके अतिरिक्त अस, ऊँच, गोर, छोट, तोर, बड़ आदि रूप अवधी की अकारांत प्रवृत्ति के आधार पर निर्मित हैं । इस प्रकार पियारे, वियारी-जैसे शब्दों में 'इ' के पश्चात् 'आ'

१. सा. १-७५ । २. सा. १०-३६ । ३. सा. १-२२६ । ४. सा. वें. २५७४ ।
 ५. सा. २४२० । ६. सा. १-१९२ । ७. सा. १-३८६ । ८. सा. १-३२० ।
 ९. सा. १-२८४ । १०. सा. १-२४ । ११. सा. १०-५५ । १२. सा. १०-८१ ।
 १३. सा. वें. २५५० । १४. सा. ९-२६ । १५. सा. वें. २३५८ ।
 १६. सा. १०-६६ । १७. सा. वें. १९१९ । १८. सा. १-३२ । १९. सा. ३१४० ।
 २०. सा. ४०७३ । २१. सा. ९-८३ । २२. सा. २८७३ । २३. सा. ३२०१ ।
 २४. सा. वें. २७६९ । २५. सा. १०-२२७ ।

का; एक जुआर, जुवारी, दुवार आदि में 'उ' के पश्चात् 'आ' का उच्चारण भी अवधी की प्रवृत्ति का द्योतक है। सूरदास के काव्य में ऐसे प्रयोग यद्यपि एक प्रतिशत से भी कम हैं; परन्तु इनकी विशेषता यह है कि रूप की दृष्टि से सुगम होने के कारण ये काव्यभाषा के उपयुक्त थे और इनसे मिलते-जुलते रूप ब्रजभाषा में प्रचलित भी थे। फलस्वरूप परवर्ती ब्रजभाषा-कवियों का ध्यान उनके भिन्न-भाषत्व की ओर जा ही नहीं सका और उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक उन्हें अपनी भाषा में स्थान तो दिया ही, उन्हीं के अनुरूप अनेक शब्दों का निर्माण करके भाषा को अधिक व्यापक भी बनाया। अवधी-जैसी विकासोन्मुख भाषा से होंड में आगे बढ़ने के लिए इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता भी थी। सूरदास ने इस दिशा में एक नीति निर्धारित की। यह भी उनके महत्व का एक कारण है।

खड़ीबोली के शब्द—खड़ीबोली का जन्म यद्यपि ब्रजभाषा और अवधी के साथ ही हुआ, परन्तु संभवतः विदेशियों के घनिष्ठ संपर्क में आनेवाले क्षेत्र के निवासियों की भाषा होने के कारण चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा और अवधी की तरह उसका स्वतन्त्र विकास न हो सका। खड़ीबोली इन शताब्दियों में सामान्य व्यवहार की भाषा के रूप में ही रही और उसमें मौखिक रचना ही अधिक हुई, किसी प्रतिष्ठित कवि ने उसे स्वतन्त्र काव्य-भाषा का रूप देने का प्रयत्न नहीं किया। अतएव ब्रजभाषा-काव्य में खड़ीबोली की पद और वाक्यांश-रचना का भी कहीं-कहीं प्रभाव दिखायी देता है।

नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'सूरमांगर' में 'नित्य कीर्तन' शीर्षक के अंतर्गत सूर-स्याम छाप के साथ एक लंबा पद प्रकाशित है, जिसकी भाषा खड़ीबोली में बहुत प्रभावित है। पद इस प्रकार है—

मैं जोगी जम गाया रे बाबा मैं जागी जम गाया ।
तेरे सुन के दरसन कारन में (मैं) काशी में धाया ।
परब्रह्म पूरण पुरषोत्तम सकल लोक जा माया ।
अलख निरंजन देखन कारन सकल लोक फिर आया ।
धन तेरो भाग जसोदा रानी जिन ऐसा मुन जाया ।
गुनन बड़े छोटे मत भूलो अलख रूप घर आया ।
जो भावें सो लीज्यो राखल करो आपनी दाया ।
देहु अशीश मेरे बालक को अविचल बाड़े बाया ।
ना मैं लेहो पाट-पटवर ना मैं कचन माया ।
मुख देखूं तेरे बालक को यह मेरे गुरु ने लखाया ।
कर जोरे विनवै नदरानी मुन जोगिन के राया ।
मुख देखन नहिं देहो राखल बानक जात डेराया ।
पाबा पीला गोर रूप है बाघवर ओढ़ाया ।
यहू डायन की दृष्टि लगे कहूं बालक जान दिठाया ।

जाकी दृष्टि सकल जग ऊपर सो बयो जात दिठाया ।
 तीन लोक का साहब मेरा तेरे भवन छिपाया ।
 कृष्णलाल को ल्याई जसुदा कर अचल मुख छाया ।
 कर पसार चरनन रज लीनी सीगीनाद बजाया ।
 अलख अलख कर पाय छुए है हँस बालक किलकाया ।
 पाँच बेर परकर्मा करके अति आनंद बढ़ाया ।
 हरि की लीला हर मन अटवयो चित नहि चलत चलाया ।
 अखिल ब्रह्मांड के नायक कहिए नद धरहि प्रगटाया ।
 इद्र चद्र सूरज सारद सनकादिक पार न पाया ।
 लागि श्रवन मन्त्रादि जो सुनाया हँसि बालक मुमकाया ।
 कौन देश मे जोगी हो तुम कौन नाम धरवाया ।
 कहाँ बास यह कहत जशोदा सुन जोगिन के राया ।
 तुम ही ब्रह्मा, तुमही बिष्णू, तुमही ईश कहाया ।
 तुम विश्वम्भर तुम जगपालक तुम ही करत सहाया ।
 सूर श्याम कहे सुनी जशोदा शकर नाम बताया^१ ।

यह पद बेक्रेडस्वर प्रेस और नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागरो' में नहीं है ; इसलिए इसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है । इन 'सूरसागरो' में इस प्रकार की भाषा का कोई अन्य पद भी नहीं मिलता, इससे यह सदेह और भी पुष्ट होता है । परन्तु 'सूर-निर्णय' नामक ग्रंथ में सूरदास की खड़ीबोली मिश्रित भाषा का उदाहरण देने के लिए यही लम्बा पद उद्धृत किया गया है^२ । दोनों पदों में सामान्य पाठ-भेद तो है ही, परन्तु अन्तर की मुख्य बात यह है कि नवलकिशोर प्रेस के उक्त पद में जहाँ कवि की छाप 'सूर-स्याम' है, वहाँ 'सूर-निर्णय' में 'सूरदास' ही मिलती है । इस ग्रंथ में न तो यह लिखा है कि पद कहाँ से उद्धृत किया गया है और न अन्य पदों से इसकी भाषा के भिन्न होने का कारण ही बताया गया है । प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की सम्मति में यह पद 'सूरसागर' के रचयिता का हो ही नहीं सकता । नवलकिशोर प्रेस के 'सूरसागर' में इस पद के ठीक पहले 'परमानन्द' छाप के साथ एक पद और दिया गया है जिसकी भाषा भी उक्त पद से मिलती-जुलती है जैसा कि उसकी निम्नलिखित प्रथम और अंतिम पंक्तियों से स्पष्ट होता है—

देखो री यह कैसा बालक रानि यशोमति जाया है ।

X X X

परमानन्द कृष्ण मनमोहन चरन कमल चित लाया है^३ ।

१. सूरसागर, न. कि. प्रेस., संवत् १९२०, पृ. १५-१६ पद, १०५ ।

२. श्री द्वारकादास पारीख और श्री प्रभुदयाल मोतल, 'सूर-निर्णय', पृ. २८२ ।

३. सूरसागर, न. कि. प्रेस., सं. १९२०, पृ. १५, पद १०४ ।

पूरा पद १७ पत्तिमा का है, जिसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। इसी ढंग की भाषा में 'सूरस्याम' छापवाला पद है जो 'राग भैरव' के उदाहरण-स्वरूप दिया गया है। जान पड़ता है कि अष्टछापी परमानन्ददास से इतर परमानन्द नाम के किसी खड़ी-बोली के प्रेमी सज्जन ने इन पदा की रचना की थी और उनमें से एक-दो 'सूरस्याम' छाप डालकर सूरदास के पदा में और 'परमानन्द' नाम देखकर अष्टछापी परमानन्द के पदों में मिला दिये गये हैं। यह भी संभव है कि सूरदास के किसी पद के भावार्थ को लेकर किसी साधारण लिपिकार, गायक या साधु ने उसे यह रूप दे दिया हो। जो हो, सूरदास की भाषा में खड़ीबोली के बहुत कम प्रयोग मिलते हैं। बात यह है कि ब्रजभाषा की क्रियाओं और विभक्तियों से युक्त वाक्य खड़ीबोली से भिन्न हो भी जाते हैं। इस लिए सूरदास द्वारा प्रयुक्त कीजै-कीजिए, गाइय, पाइये, हुए आदि शब्द उनकी भाषा पर खड़ीबोली के प्रभाव-सूचक माने जा सकते हैं, जैसे-मैं मेरी बबहुँ नहि कीजै, कीजै पच सुहाती^१। हरि गुन गाइयै^२। पार नहि पाइयै^३। पै तिन हरि दरसन नहि हुए^४।

इनके अतिरिक्त सूर-काव्य में कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जो ज्यों के त्यों अथवा बहुत ही कम हेर-फेर के साथ खड़ीबोली काव्य में प्रयुक्त हो सकते हैं। ऐसे वाक्यों में कुछ तो क्रियारहित हैं और कुछ में क्रिया भी वर्तमान है। क्रियारहित वाक्यों के कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं—वासुदेव की बड़ी बडाई^५। यह सीता, जो जनक की कन्या, रमा आपु रघुनन्दन रानी^६। हमारी जन्मभूमि यह गाँउ^७। तुम दानव हम तपसी लोग^८। मेरे भाई, स्याम मनोहर जीवन^९। सूरदास प्रभु तिनकी यह गति, जिनके तुमसे सदा सहायक^{१०}। सूरदास प्रभु अतरजामी। ब्रह्मा कोट आदि के स्वामी^{११}। सुन्दरता-रस-गुन की सीखी, सूर राधिका स्याम^{१२}।

इन वाक्यों में प्रयुक्त आपु, स्याम, अतरजामी, सीखी आदि के स्थान पर प्रमश आप, श्याम, अतर्यामी और सीमा कर दिया जाय तो ये खड़ीबोली कविता से ही उद्धृत जान पड़ेंगे। इनमें क्रिया-शब्दों का न होना भी खटकता नहीं है, क्योंकि काव्य में ऐसे वाक्य बराबर प्रयुक्त होते रहते हैं।

दूसरे वर्ग में वे वाक्य आते हैं जो क्रिया-युक्त हैं, जैसे—बिभीषन बं ले^{१३}। हरि हंसि बोले बंन, सग जो तुम नहि होते^{१४}। अपने घर के तुम राजा हो^{१५}। राम समय वालिदी के तट तब तुव वचन न माने^{१६}। खड़ीबोली के आदर्श वाक्य बनाने के लिए दो-एक शब्द तो इन उदाहरणों के बदलने पड़ेंगे, परन्तु इनमें प्रयुक्त क्रिया-रूप ज्यों के त्यों आज भी खड़ीबोली में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से 'बोले'—जैसे रूप ब्रजभाषा में भी बराबर आते हैं।

- | | | | |
|----------------|---------------|---------------|----------------|
| १. सा. १-३०२। | २. सा. ३-११। | ३. सा. ३-११। | ४. सा. ४-९। |
| ५. सा. १-३। | ६. सा. ९-११६। | ७. सा. ९-१६५। | ८. सा. ९-१७४। |
| ९. सा. १०-१५४। | १०. सा. ८६३। | ११. सा. ८९४। | १२. सा. १०-४५। |
| १३. सा. ९-९८। | १४. सा. ४३१। | १५. सा. १५११। | १६. सा. ३७०५। |

कन्नौजी और बुंदेलखंडी के शब्द—ये दोनों भाषाएँ न तो स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हुईं और न इनमें विशेष साहित्य ही रचा गया ; प्रत्युत इनके बोलनेवालों ने व्रजभाषा में ही साहित्य-रचना की जिसमें स्थानीय प्रयोग आ जाना स्वाभाविक ही था। सूरदास की भाषा में भी इन बोलियों के कुछ प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ भूतकालिक क्रिया रूप 'हुती' और उसके विकृत रूप 'सूरसागर' में अनेक पदों में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—बूझनि जननि, कहीं हुती प्यारी^१। अरजुन के हरि हुते सारथी^२। असुर दवै हुते बलवत भारी^३। यहाँ हुती इक सुक की अग^४। इसी प्रकार 'इवी' या 'वी' में अत होनेवाले क्रिया-प्रयोगों पर भी बुंदेलखंडी का प्रभाव मिलता है, जैसे—तब जानिवी किमोर जोर रुपि, रहौ जीति करि सेत सब फर^५। प्रभु हित सूचित कै वेगि प्रगइवी तँसो^६। इतने में सब बात समझवी चतुर सिरोमनि नाह^७। नीचे के उदाहरण में 'कोपर' पात्र भी विशेष रूप से बुंदेलखंड में प्रचलित है—

दधि-फल-दूब कनक-कोपर भरि, साजत सौंज बिचित्र बनाई^८।

देशी भाषाओं के शब्द—

व्रजभाषा क्षेत्र के चारों ओर जो भाषाएँ बोली जाती थीं उनमें अवधी, कन्नौजी और बुंदेलखंडी से व्रजभाषा का घनिष्ठ संबंध था और उनकी प्रवृत्ति में भी कुछ-कुछ समानता थी। अन्य निकटवर्ती भाषाओं में से पंजाबी और गुजराती के कुछ प्रयोग सूरदास की भाषा में मिलते हैं; जैसे—लोग कुटुब जग के जे कहियत पैला सबहि निदरिहो^१। जो जग ओर वियौ कोउ पाऊं^२। इतनिक दूर जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी^३। इनमें 'पैला' और 'वियौ' गुजराती के प्रयोग हैं तथा 'प्यारी' पंजाबी का शब्द है।

विदेशी भाषाओं के शब्द—

अरबी, फारसी और तुर्की—इन तीन विदेशी भाषाओं का सूरदास के प्रादुर्भाव-काल में विशेष प्रचार था। इनको आश्रय देनेवाले विदेशी शासक थे। यों तो विदेशी साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ इन भाषाओं का प्रचार भी चौदहवीं शताब्दी के अंत तक उत्तरी भारत में विशेष, और दक्षिण में सामान्य, रूप से हो गया था, परंतु वस्तुतः इनका गढ़ दिल्ली-आगरा का निकटवर्ती वह प्रदेश था जो व्रजभाषा का भी क्षेत्र कहा जा सकता है। अतएव अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तरी भारत में सामान्य बोल-चाल की भाषा में प्रचलित हो गये थे। यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओं का विधिवत् अध्ययन न करनेवाले, व्रजभाषा और अवधी के तत्कालीन

१. सा. ७८८। २. सा. १-२६४। ३. सा. ८-११। ४. सा. १-२२६।
 ५. सा. २४५५। ६. सा. २८५२। ७. सा. ३३६६। ८. सा. ९-१६९।
 ९. सा. १९४३। १०. सा. १-२०१। ११. सा. ३९२९।

कवियों ने भी इनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अपनी भाषाओं को व्यावहारिक रूप देने में वे समर्थ हो सके।

भाषा का किसी देश की संस्कृति और जनता की विचार-धारा से घनिष्ठ संबंध होता है। तत्कालीन कवियों द्वारा इन विदेशी भाषाओं के शब्दों का अपनाया जाना भारतीय संस्कृति और जन मनोवृत्ति की उदारता ही सूचित करता है। विदेशियों ने यहाँ की जनता और उसकी भाषा के साथ वैसा भी व्यवहार किया हो, हमारे कवियों ने विदेशी शब्दों को कभी अड़न नहीं समझा और जिन अवधी और ब्रजभाषा के माध्यमों से भक्त-कवियों ने अपने अपने आराध्यों की परम पावन लीलाओं का गान किया, उनमें अनेक विदेशी शब्दों को भी सादर स्थान दिया गया। यह आदर्श भारतीय सांस्कृतिक सहिष्णुता का एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है।

इन विदेशी भाषाओं—अरबी, फारसी और तुर्की—के अनेक शब्द संस्कृत की तरह अपने मूल या तत्सम रूप में मध्यकालीन कवियों की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं और अनेक अर्द्धतत्सम रूप में। यह रूप-परिवर्तन भी किसी विद्वेष के कारण नहीं किया गया था, क्योंकि यही नीति उन्होंने देव-वाणी संस्कृत के शब्दों के साथ बरती थी। वस्तुन सभी भाषाओं की प्रकृतिगत कुछ विशेषताएँ होती हैं जिनकी रक्षा करना उनके कवियों का कर्तव्य हो जाता है। ब्रजभाषा-कवियों ने भी विदेशी भाषाओं के शब्दों को अर्द्ध तत्सम रूप देकर उसकी प्रकृति की रक्षा का ही प्रयत्न किया। सूरदास के काव्य में अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द तत्सम और अर्द्धतत्सम, दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुए हैं।

अरबी के शब्द—अरब और भारत का संबंध बहुत पुराना है। उस देश में भारतीय विद्वानों के पहुँचने और कुछ संस्कृत ग्रंथों के अरबी में अनुवाद करने के उत्तरेख आठवीं शताब्दी के मिलते हैं^१। सन् ९३ हिजरी में मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण करके मुल्तान से बच्छ तक और उधर मानवे की सीमा तक अधिकार कर लिया^२। इस प्रकार लगभग सारा सिंधुप्रदेश उसके अधिकार में आ गया। इस साम्राज्य के मुल्तान और मनसुरा (सिंध) के प्रदेशों पर अरबों का अधिकार सुल्तान महमूद की चढ़ाई तक बना रहा^३। इन तीन-चार सौ वर्षों के संपर्क के फलस्वरूप अरबी के बहुत से शब्दों से भारतीयों का परिचित हो जाना स्वाभाविक ही था। परचात्, भारत में मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना होने पर दिल्ली के दरबार में अरबी साहित्य का आदर बढ़ा, क्योंकि यही उनकी प्रमुख धार्मिक भाषा थी जिसके प्रति उनकी बटूर भक्ति असंगत नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे इस विदेशी भाषा के पर्याप्त शब्द

१. बाबू रामचंद्र वर्मा द्वारा अनुवादित 'अरब और भारत के संबंध' नामक पुस्तक (पृ. १०२) में उद्धृत—क. कितानुत् हिद, बैरुती, पृ. २०८ (सदन) और ख. अलबादल् हुक्मा, किप्ती, पृ. १७७ (मिश्र)।

२. बाबू रामचंद्र वर्मा, 'अरब और भारत का संबंध', पृ. १४।

३. बाबू रामचंद्र वर्मा, 'अरब और भारत का संबंध', पृ. २४७।

व्यवहार में प्रयुक्त होने लगे । इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि अधिकांश अरबी शब्द फारसी से होते हुए हिंदी में आये; ^१ क्योंकि इस भाषा पर अरबी का विशेष प्रभाव था । जो हो, दो-तीन सौ वर्षों में इसके अधिकांश शब्द उत्तरी भारतीय तबभाषाओं में इस प्रकार घुल-मिल गये कि कवियों ने निसकोच उनका प्रयोग आरंभ कर दिया । सूरदास की भाषा में अरबी के जो शब्द मिलते हैं उनको तत्सम और अर्द्धतत्सम, दो वर्गों में रखा जा सकता है ।

अरबी के तत्सम शब्द—दैनिक व्यवहार में जो छोटे-छोटे और सरल रीति से उच्चरित अरबी शब्द प्रचलित हो गये थे, उन्हें कवियों ने मूल या तत्सम रूप में ही अपना लिया, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं थी । सूर-काव्य में इस प्रकार के जो शब्द मिलते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

अग्नीर—उड़त गुलाल अग्नीर जोर तहँ बिदित दीप उजियारी ।^२

अमल—आनंदकद चदमुख निसि दिन अवलोकत यह अमल पर्यौ^३ ।

अमीन—नैन अमीन अधमिनि कै बस जहँ को तहाँ छयो^४ ।

असल—करि अवारजा प्रेम प्रीति को अमल तहाँ खतियावै^५ ।

कलई—देखो मायो की मित्राई । आई उपरि कनक कलई सी दै निज गए दगाई^६ ।

आई उपर प्रीति कलई सी जैसी खाटी आमी^७ ।

कसव—आन देव की भक्ति-भाइ करि कोटिक कसव करंगौ^८ ।

खसम—सूरदास प्रभु झगरो सीख्यो ज्यों घर खसम गुमैयां^९ ।

जमा—साबिक जमा हुती जो जोरी मिनजालिक तन ल्यायो^{१०} ।

जवाब—सूर आप गुजरान मुसाहिव लै जवाब पहुँचावै^{११} ।

सूर स्याम मैं तुम्हें न डरैहों जवाब को जवाब देहो ।^{१२}

माल—तुम जानति मैं हूँ कछु जानत जो जो माल (= सामान, असबाब) तुम्हारे^{१३} ।

अल्प चोर बहु माल (= धन-मयति) लुभाने सगी सबन घराए^{१४} ।

मुजरा—गाइ चरावत ग्वाल ह्वै आयी मुजरा देन^{१५} ।

मुहकम—सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीन्हो मुहकम लाइ किवार^{१६} ।

मुहर्रि—पाँच मुहर्रि साथ करि दीने तिनकी बड़ी विपरीति^{१७} ।

मुसाहिव—सूर आप गुजरान मुसाहिव लै जवाब पहुँचावै^{१८} ।

मौज—मनसानाथ मनोरथ पूरन सुखनिधान जाकी मौज (= उमग) घनी^{१९} ।

सतर—हम सो सतर (= क्रुद्ध) होत सूरज प्रभु कमल देहु अब जाइ^{२०} ।

१. श्री ए. ए. मैकडॉनेल, 'इंडियाज् पास्ट', पृ. २०२ ।

२. सा. वें २३९१ । ३. सा. वें ८९१ । ४. सा. १-६४ । ५. सा. १-१४२ ।

६. सा. ३१८६ । ७. सा. वें ३८८० । ८. सा. १-७५ ।

९. सा. ७३४ । १०. सा. १-१४३ । ११. सा. १-१४२ । १२. सा. वें ८४३ ।

१३. सा. १५२६ । १४. सा. २२७० । १५. सा. ४१८८ । १६. सा. वें १-८५ ।

१७. सा. वें ९८५ । १८. सा. १-१४२ । १९. सा. १-३९ । २०. सा. ५३७ ।

अरबी के अर्द्धतत्सम शब्द—विदेशी भाषा हान के कारण अरबी का उच्चारण स्वभावतः ब्रजभाषा से भिन्न था। उसकी वर्णमाला में कुछ वर्ण ऐसे थे जिनका उच्चारण ब्रजभाषा-भाषिया को सुगम नहीं प्रतीत होता। अतएव अरबी के तत्सम शब्दों का विदेशीपन दूर करने के लिए, उनके अर्द्धतत्सम रूप बनाने की आवश्यकता थी जिनका उच्चारण अपेक्षाकृत सुगम और ब्रजभाषा शब्दों के अधिक निकट हो जिससे नयी पीढ़ी उन्हें अपनी भाषा का ही अंग समझे। मूरदास की भाषा में अरबी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा ऐसे परिवर्तित रूपों की ही अधिकता है, यथा—

अकल<अमल—इंद्र ढीठ बलि खाइ हमारी देखो अकल गमाई^१।

अगिर<अगीर—चोवा चदन अगिर गलिति छिरकावन रे^२।

अरस<अर्श—बहुरि अरस (=महल) तै आनि वैं तब अबर लीजै । । अरस नाम है महल को जहाँ राजा बँठे^३।

उजीर<वज्जीर—पाप उजीर कह्यो साइ मान्यो धम सुधन लुटयो^४।

कसरि<कसर—अब कछु हरि कसरि नाही, कस लगावत वार^५।

कसाई<कस्साय—श्रीधर, बाम्हन करम कसाई^६।

कागज<कागज—भीजि बिनसि जाई छन भीतर ज्यों कागज की चोली री^७।

कागद<कागज—तिनहूँ चाहि करी मुनि ओगुन कगद दोन्ह डारि^८। सजल देह कागद तै कोमल किहि विधि राखै प्रान^९।

कागर<कागज—रति के समाचार लिखि पठए सुभग बलेवर कागर^{१०}। मारि न सकै विघन नहि प्राप्त, जम न चढावै कागर^{११}। दोरघु नदी नाउ कागर की को देखो चढि जात^{१२}। व्याध गीध गनिका जिहि कागर (=दस्तावेज) हो तिहि चिठी न चढायो^{१३}।

कुलफ<कुल्ल—काजर कुलफ भेलि मैं राखे पलक बपार दये री^{१४}।

कुल्ल<कुल्ल—मुलजिम जोरै ध्यान कुल्ल की हरि सौं तहें लै राखै^{१५}।

खता<खता—मूरदास चरननि की बलि बलि कीन खता तै वृषा बिसारी^{१६}।

खरि<खरि—अपने कुन की खरि (=पता, ध्यान) करी धौं सकुच नहीं जिय आवति^{१७}।

बयो जू खरि (=जानकारी) वही यह कीन्ही करत परस्पर ख्याल^{१८}।

जान बुझाइ खरि (=सदेश) दै आवहु एक पथ द्वै वाज^{१९}।

किधौं सूर वाई ब्रज पठयो आजु खरि (=समाचार) वैं पावत है^{२०}।

दारावति पैठत हरि सौं सब लोगनि खरि (=समाचार) जनाई^{२१}।

१. सा. घं. १८५। २. सा. १०-१८। ३. सा. घं. २५७५। ४. सा. १-६४।

५. सा. १-१९९। ६. सा. १०-५७। ७. सा. घ. २०४०।

८. सा. १-१९७। ९. सा. १-३०४। १०. सा. घं. २१२८।

११. सा. १-९१। १२. सा. १-१९३। १३. सा. ३२८२।

१४. सट्टी उ. ७। १५. सा. १-२४। १६. सा. १-१६०। १७. सा. घं. ११७४।

१८. सा. घं. २४७२। १९. सा. घं. २९२५। २०. सा. घं. २९४६। २१. सा. घं. २१७. २७।

खरच < खर्च—सूरदास कछु खरच न लागत राम नाम मुख लेत^१ ।

खर्च < खर्च—हों तो गयो हुतो गुपालहि भेंटन और खर्च तदुल गाँठी की^२ ।

खवास < खवास—मोदी लोभ खवास मोह के द्वारपाल अहेकार^३ । कहि खवास
को सैन दै सरपाँव मँगायो^४ ।

खाली < खाली—अरु जब उद्यम खाली (= व्यर्थ, निष्फल) परै^५ ।

खयाल < खयाल—औरे कहति और कहि आवति मन मोहन के परी खयाल^६ ।

ये सब मेरे खयाल (= पीछे) परी है अब ही बातनि लै निस्वारति^७ ।

गरज < गरज—प्रीति के बचन याँचे बिरह अनल आँचे, अपनी गरज को तुम एक
पाइ नाचे^८ ।

गरीब < गरीब—स्याम गरीबनि हूँ के गाहक^९ ।

गुलाम < गुलाम—सब कोउ कहत गुलाम स्याम की सुनत सिरात हिये^{१०} । सूर है
नँद-नंद जू को लयो मोल गुलाम^{११} ।

जमानत < जमानत—धर्म जमानत मिल्यो न चाहै तातै ठाकुर लूट्यो^{१२} ।

जमानति < जमानत—सो मैं बाँटि दई पाँचनि को देह जमानति लीन्हो^{१३} ।

जहाज < जहाज—नख-सिख लों मेरी यह देही है पाप की जहाज^{१४} । जैसे उडि
जहाज को पछी फिरि जहाज पं आवै^{१५} ।

ज्वाव < ज्वाव—ज्वाव देति न हमहि नागरि रही बदन निहारि^{१६} । दीन्हो ज्वाव दई
को चँहो देखो रो यह कहा जँजाल^{१७} ।

डफ < डफ—डफ झाँझ मृदंग बजाइ सब नद-भवन गए^{१८} । डिमडिमी पदह डाल डफ
बीणा मृदंग चँगतार^{१९} ।

तलफ < तलफ—मनु पर्ये क तें परी धरनि धुकि तरंग तलफ नित भारी^{२०} । दामिनि की
दमकनि बूंदनि की क्षमकनि सेज की तलफ कैसे जीजियतु
माई है^{२१} ।

दगा < दगा—सोवत कहा चेत रे रावन, अब क्यों खात दगा^{२२} । सूरदास याही ते जड़
भए इन पलकन ही दगा दई^{२३} ।

मसकत < मशकत—काहे कों हरि बिरद बुलावत बिन मसकत को तारयो^{२४} ।

१. सा. १-२९६ । २. सा. वें. १० उ० ७१ । ३. सा. १-१४१ । ४. सा. वें. २४७६ ।

५. सा. ३-१३ । ६. सा. वें. ११८३ । ७. सा. वें. १३०८ । ८. सा. वें. २००३ ।

९. सा. १-१९ । १०. सा. १-१७१ । ११. लहरी. ११८ । १२. सा. १-१८५ ।

१३. सा. १-१९६ । १४. सा. १-३६ । १५. सा. १-१६८ । १६. सा. वें. ८७९ ।

१७. सा. वें. १११२ । १८. सा. १०-२४ । १९. सा. वें. २४४६ । २०. सा. वें. २७२८ ।

२१. सा. वें. २८२७ । २२. सा. ९-११४ । २३. सा. वें. २५३७ । २४. सा. १-१३२ ।

मसखरा < मसखरा—लगर ढोठ गुमानी दूँडक महा मसखरा रुखा^१ ।

मिलिक < मिलिक—यह ब्रज-भूमि सकल नुरपति सों मदन मिलिक करि पाई^२ ।

मुस्तौफी < मुस्तौफी—चिनगुप्त सु होत मुस्तौफी नरन गहूँ मैं काकी^३ ।

लायक < लायक—ऊधो हम लायक सिख दोऊ^४ ।

सफरी < सफरी—सफरी (अमरुद) चिहना बरन सुबानी^५ ।

सात्रिक < सात्रिक—मात्रिक जमा हुनी जो जोरी मिनजातिक तल त्यायो^६ ।

हौस < हवस—बोले सुभट, हौस जनि मन करो बन-बिहारी^७ ।

फारसी के शब्द—अरब के समान फारसी से भी भारत का संबंध बहुत पुराना है । दमवी-ग्यारहवीं शताब्दी में इस्लामी शासन की नींव भारत में पड़ने पर फारसी भाषा का अध्ययन-अध्यापन भी भारत में आरम्भ हो गया । शाही दरबारों में नीकरी पाने और शाहों के निकट संपर्क में आने के लोभ से अनेक हिन्दू भी इस भाषा में योग्यता प्राप्त करने को प्रवृत्त हुए और अधिकार मुसलमान विद्वानों की तो इसमें अच्छी गति होती ही थी । इन सब बातों के फलस्वरूप फारसी के बहुत से शब्द तत्कालीन भारतीय भाषा में घुल-मिल गये और कालांतर में खड़ीबोली, ब्रजभाषा और अवधी के कवि अपनी रचनाओं में उनका निस्संकोच प्रयोग करने लगे । फारसी की भी मधुरिमा बहुत बड़ी-बड़ी मानी जाती है । अतएव इसके शब्दों और प्रयोगों के प्रति मधुरिमा-प्रिय कवियों का आकर्षित होना यो तो स्वाभाविक ही कहा जायगा, परन्तु वस्तुतः फारसी का प्रचलन उक्त राजकीय संपर्क से ही हुआ । सन् १५८१ में अकबर के माल-मन्त्री राजा टोडरमल खत्री ने कर विभाग का सारा कार-बार फारसी में करने की आज्ञा प्रचारित करवा दी जो किसी सीमा तक इस बात की ओर भी संकेत करती है कि फारसी की शिक्षा की व्यवस्था उस समय अच्छी थी ।

फारसी के तत्सम शब्द—अरबी की तरह ही सूरदास ने फारसी के भी सरल शब्दों का तत्सम रूप में ही प्रयोग किया है जो इस बात का प्रमाण है कि उनमें न भाषा-संबंधी कट्टरता थी और न जन-भाषा की प्रवृत्ति का विरोध ही उन्हें अभीष्ट था । उनके काव्य में फारसी के जो तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

अचार—पापर बरी अचार परम सुचि^८ ।

अपारजा—करि अपारज, प्रेम-प्रीति की असल तहाँ खनियाव^९ ।

कमान—बुबुधि कमान चडाइ कोप करि बुधि-नरकस रितयो^{१०} । मदन दान कमान त्यायो करि कोप चडाव^{११} ।

गुमान—भरी गुमान विलोकति ठाढ़ी अपने रंग रंगीली^{१२} । वृंदावन की बाँधिनि तँकि तकि रहत गुमान समेत^{१३} ।

१. सा. १-८६ । २. सा. ३३२४ । ३. सा. १-१४३ । ४. सा. ३८२५ ।

५. सा. १०-२११ ।

६. सा. १-१४३ ।

७. सा. ३०४७ ।

८. सा. बं. २३२१ ।

९. सा. १-१४२ ।

१०. सा. १-६४ ।

११. सहरी. ३२ ।

१२. सा. १०-२९९ ।

१३. सा. बं. १०३५ ।

चंग—महुवरि बांसुरी चंग लाल रंग हो ही होरी^१ । डिमडिमी पटह ढोल डफ बीना
मृदंग उपंग चंग तार^२ ।

चुगली—ब्रजनारी वटपारिनि है सब चुगली आपुहि जाइ लगायो^३ ।

दर—जीवत जांचत कन कन निधन दर दर रटत बिहाल^४ ।

दरवार—जाति पाति कोउ पूछत नाही श्रीपति कै दरवार^५ ।

दलाली—काम क्रोध मद लोभ मोह तू सकल दलाली देहि^६ ।

दस्तक—सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीज माफ^७ ।

दह—गोसुत गाइ फिरत है दह (दस) दिसि बने चरित्र न धोरे^८ ।

दाम—लोचन धोर बांधे स्याम । जात ही उन तुरत पकरे कुटिल अलकनि दाम^९ ।

दामनगीर—इन पापिन तैं क्यों उबरोगे दामनगीर तुम्हारे^{१०} ।

दीवान—दास घुब कौं अटल पदवी राम के दीवान^{११} ।

दुर—दुर दमकत सुभग खवननि जलज जुग डहडहत^{१२} ।

मेहमान + ई—अपनी पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते^{१३} ।

राह—हमहि छांडि कुबिजहि मन दीन्हों मेदि वेद की राह^{१४} ।

सरदार—तुम तो बडे, बडे कुल जन्मे, अरु सबके सरदार^{१५} ।

फारसी के अर्द्धतत्सम शब्द—फारसी की लिपि अरबी की देन है । अतएव
मुक्तेवाले अक्षरो को परिवर्तित करने की प्रवृत्ति फारसी शब्दों के साथ भी दिखायी देती
है । इनके अतिरिक्त कुछ शब्दों के उच्चारणों को भी कवि द्वारा सुगम किया गया है ।
सूर-काव्य में इन दोनों परिवर्तनों के साथ फारसी के जो शब्द मिलते हैं, उनमें से कुछ के
उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

अँदेस, अन्देस < अन्देशा—सिय अँदेस जानि सूरज प्रभु लियो करज को कोर^{१६} ।

छिन विनु प्रान रहत नहि हरि विनु निसि दिन अधिक अँदेस^{१७} । सूर निर्गुन ब्रह्म
घरिकं तजहु सकल अँदेस^{१८} ।

अजाद < आज्ञाद—जम के फंद काटि मुकराये अभय अजाद किये^{१९} ।

अवाज < आवाज—साँचे विरद सूर के तारत लोकनि-लोक अवाज^{२०} । कहियत
पतित बहुत तुम तारे खवननि सुनी अवाज^{२१} । आहि आहि द्रोपदी पुकारी गई बैकुण्ठ
अवाज खरी^{२२} ।

१. सा. वें. २४१० ।

२. सा. वें. २४४६ ।

३. सा. वें. ११६१ ।

४. सा. १-१५९ ।

५. सा. १-२३१ ।

६. सा. १-३१० ।

७. सा. १-१४३ ।

८. सा. वें. २६६४ ।

९. सा. वें. पू. ३२४ (२४) ।

१०. सा. १-३३४ ।

११. सा. १-२३५ ।

१२. सा. १०-१८४ ।

१३. सा. ३५१६ ।

१४. सा. ४०३२ ।

१५. सा. ३५४३ ।

१६. सा. ९-२३ ।

१७. सा. वें. १७५३ ।

१८. सा. वें. १९७४ ।

१९. सा. १-१७१ ।

२०. सा. १-९६ ।

२१. सा. १-१०८ ।

२२. सा. १-२४९ ।

असवार<सवार—नृपति रिपिनि पर हूँ असवार^१ । करि अतरधान हरि मोहिनी
रूप कीं गरुड असवार हूँ तहाँ आए^२ ।

आखिर<आखिर—सूर स्याम तोहि बहुरि मिनेहों आखिर तो प्रगटावेगो^३ ।

कुलहि<कुलाह—कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहु विधि सुरंग बनाई^४ ।

खराद<खराद—सीतन चदन कटाउ धरि खराद रंग लाउ, विविध चौकरी बनाउ,
घाउ रै बनैया^५ ।

खाक<खाक—तीननि म तन कृमि के बिष्ठा कै हूँ खाक उडैहे^६ ।

मृगमद मिने कपूर कुमकुमा केमनि मलैया खाक^७ ।

खानाजाद<खानाजाद—ए मब कही कौन है मेरे खानाजाद विचारे^८ ।

खुशानी<खुशानी—सफरी चिउरा अरुन खुशानी^९ ।

गरद<गरद—सौ भैया दुजोधन राजा पल म गरद समोयो^{१०} ।

गरीबनिमाज, गरीबनेमाज<गरीब+नवाज—नई न करन कहन प्रभु तुम ही सदा
गरीबनिमाज^{११} ।

गिरहमान<गिरह+वाज—देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये दमकि लीन्हा
गिरहमाज^{१२} ।

गु जाइस<गु जाइश—काया नगर बडी गुजाइस नाहित कछु बढयो^{१३} ।

गुनहगार<गुनाहगार—सिधु तै काडि सभु-कर सौप्यो गुनहगार की नाइ^{१४} ।

गुलाब<गुल+आब—चपक जाइ गुलाब बकुन फूने तरु प्रति बूझत कहूँ देखे नेंदनदन^{१५} ।

गूँग<गु ग—बहिरी सुने गूँग पुनि बाल, रक चलै सिर छत्र धराई^{१६} ।

गोसमायल<गोशमायल—पाग ऊपर गोसमायल रंग रंग रची बनाइ^{१७} ।

चुगुल<चुगल—चुगुल ज्वारि निदय अपराधी बुठी खाटा-खूटा^{१८} ।

जहर<जह—अघर सुधा मुरली के पोये जोग जहर कत प्यारै रे^{१९} ।

जानु<जानू—जानु सुजानु करम कर आकृति कटि प्रदेय किकिनि राजै^{२०} ।

जेर<जेर—मनहुँ मदन जग जीति जेर करि राख्यो धनुष उत्तारि^{२१} ।

जोर<जार—रोर कै जोर तै सोर घरनी कियो चल्थो द्विज द्वारका द्वार ठाडो^{२२} ।

कैसे गहत कलेस पाऊँ करि दुमासन जोर^{२३} । बान्ह हलधर वीर दाऊ भुजा बन
अति जोर^{२४} । बिना जोर अपनी जाँघन के कैसे सुख किया चाहत^{२५} ।

१ सा ६७ । २ सा ८-८ । ३ सा वें २१७७ । ४ सा १०-१४८ ।

५ सा १०४१ । ६ सा १-८६ । ७ सा वें ३३२१ । ८ सा वें पृ ३२० ।

९ सा १०२११ । १० सा १-४३ । ११ सा १-१०८ । १२ सा वें २६१५ ।

१३ सा १६४ । १४ सा वें ३०७७ । १५ सा वें १८१० ।

१६ सा १-१ । १७ सा वें ३०५० । १८ सा १-१८६ ।

१९ सा वें ३०७० । २० सा १-६९ । २१ सा वें १६८४ ।

२२ सा १-१०५ । २३ सा १-२५३ । २४ सा १०-२४४ । २५ सा, वें २२६१ ।

ज्यानी < जयानी—बालपनी गए ज्यानी आवै^१ ।

भेर < डेर—काहे को तुम भेर लगावति^२ । दधि बेचहु घर सूधे आवहु काहे
भेर लगावति^३ । विरह बिषय चहुँधा भरमति है स्याम कहा कियो
भेर (= झगड़ा—बखेड़ा)^४ ।

तरबूजा < तरबुज—सफरी सेव छुहारे पिस्ता जे तरबूजा नाम^५ ।

ताज < ताज—बिकल मान खोयी कौरवपति, पारेउ सिर को ताज^६ ।

ताजी < ताजी—धूँधट पट कोट टूटे, छूटे दृग ताजी^७ ।

दगावाज < दगावाज—दगावाज कुतबाल कामरिपु सरबस लूटि लयो^८ ।

दरजी < दर्जी—सूरदास प्रभु तुम्हारे मिलन बिनु तनु भयो ज्योत विरह भयो
दरजी^९ ।

दरद < दर्द—नेकहुँ न दरद करति हिलकिनि हरि सीवै^{१०} ।

दरवाना < दरवान—पोरि-पाट टूटि परे भागे दरवाना^{११} ।

दाइ < दायः—लाख टका अह झूमका सारी दाइ को नेग^{१२} ।

दाग < दाग—दसन-दाग नख-रेख बनी है^{१३} ।

परगन < परगना—ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई^{१४} ।

वैसरम < वैशर्म—बाहँ पकरि तू त्याई काकोँ अति वैसरम गँवारि^{१५} ।

सरम < शर्म—बाहँ गहत कछु सरम न आवति, सुख पावत मन माहीं^{१६} ।

सोर < शोर—तिहूँ भुवन भयो सोर पसार्यो^{१७} ।

हुसियार < होशियार—सब दल हूँ हुसियार चलो मठ घेरहि जाई^{१८} ।

तुर्की के शब्द—तुर्की ने पहले-पहल ग्यारहवीं शताब्दी में पंजाब पर अधिकार किया था; इसके पश्चात् तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में वे उत्तरी भारत के कुछ प्रदेशों के शासक बने । परंतु अरबी-फारसी की तुलना में उनकी भाषा का यहाँ बहुत कम प्रचार हुआ । इसके दो कारण थे—पहला तो यह कि अरबी और फारसियों के समान तुर्की से भारतवासियों का घनिष्ठ संबंध कभी नहीं रहा और दूसरे, तुर्की भाषा अरबी और फारसी के समकक्ष नहीं थी एवं तुर्की की बोलचाल की भाषा पर भी फारसी का प्रभाव पड़ा था । अतएव सूरदास के काव्य में भी अरबी-फारसी की अपेक्षा तुर्की के शब्दों की संख्या बहुत कम है; यत्र-तत्र दो-एक प्रयोग ही उनके दिखायी देते हैं यथा—

कुमैत < कुमेत—लीले सुरँग कुमैत स्याम तेहि पर है सब मन रग^{१९} ।

— सामूहिक रूप से इन तीनों विदेशी भाषाओं के सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों को देखने

१. सा. ७-२२ । सा. वें. ११४५ । ३. सा. वें. ११७५ । ४. सा. वें. १२१५ ।

५. सा. १०-२१२ । ६. सा. १-२५५ । ७. सा. ६५० । ८. सा. १-६४ ।

९. सा. वें. ३१६२ । १०. सा. ३४८ । ११. सा. ९-१३९ । १२. सा. १०-४० ।

१३. सा. वें. १९५६ । १४. सा. १०-३२९ । १५. सा. १०-३१ ।

१६. सा. २४१६ । १७. सा. ३०९५ । १८. सा. ४१८८ । १९. सा. १० उ०. ६ ।

से ज्ञात होता है कि इनमें सजा शब्दों की अधिकता है। इसका विशेष कारण था। जीवन के जितने कार्य-व्यापार हो सकते हैं, उन सबके द्योतक, एक नहीं, अनेक शब्द, अर्थ, की सूक्ष्मता और अंतर की दृष्टि से, भारतीय भाषाओं में प्रचलित थे जिनके विकसित रूप ब्रजभाषा को सहज ही प्राप्त हो गये थे। परंतु विदेशियों के आगमन के साथ अनेक ऐसे वस्त्रों, भोज्य पदार्थों, पहनावों, पदाधिकारियों, युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों, मनोरंजन के साधनों और खेलों से हिंदुओं का परिचय हुआ जो उनके लिए एक प्रकार से नये थे, कम से कम उनके नाम रूप तो नये थे ही, यद्यपि उनके मिलते-जुलते रूपों का चलन भारत के कुछ भागों में पहले से भी होता सम्भव हो सकता है। इन नयी-नयी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त विदेशी शब्द ही इनके अर्थ का ठीक-ठीक द्योतन कर सकते थे। इसलिए इनका चलन सारे देश में सरलता से हा गया। सूरदास के काव्य में विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग दिखाने के लिए जो उदाहरण ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनमें भी सजा शब्दों की ही अधिकता है।

दूसरी बात यह है कि ये विदेशी भाषाएँ शासकों द्वारा आदृत थीं। इनको वे अपने साथ ही लाये थे और इनके पारंगत विद्वानों को उनसे सम्मान भी मिलता था। अतएव सारे भारतीय समाज का जो अंग शाही दरबारों से संबंधित रहा, केवल उसने ही नहीं, अन्य शिक्षित-अशिक्षित हिंदुओं ने भी इन विदेशी भाषाओं के तत्सम और अर्द्धतत्सम रूपों को योग्यता और अवधि के अनुसार अपनाने में गौरव समझा। आज से आठ-दस वर्ष पूर्व भारतीयों की अँग्रेजी के प्रति जैसी सम्मान-भावना थी—और वहीं-वहीं तो आज भी है—कुछ-कुछ वैसी ही बात इन विदेशी भाषाओं के प्रति उस समय भी चरितार्थ हो रही थी, यद्यपि इतने विकसित रूप में नहीं, क्योंकि अँग्रेजी को ससार की भाषाओं में जो महत्वपूर्ण स्थान आज प्राप्त है, वह उक्त विदेशी भाषाओं को कभी नहीं प्राप्त रहा।

इसके अतिरिक्त हिंदुओं के सामने जीविका का भी प्रश्न था। विदेशी विजेताओं ने शासन और विधान के अधिकांश प्रचलित संस्कृत शब्दों के स्थान पर अपनी भाषाओं के प्रयोग अपनाये और प्रचलित किये थे^१। शाही कार्यालयों की भाषा, प्रधान रूप से, प्रायः विदेशी रही। इन कार्यालयों में प्रवेश या नियुक्ति उसका ज्ञान प्राप्त करने पर ही सम्भव थी। जिस परिवार का एक व्यक्ति भी विदेशी भाषा की शिक्षा पाकर इन कार्यालयों में पहुँच गया, उसने घरेलू और सामाजिक संपर्क में आनेवाले आत्मीयों और मित्रों में भी विदेशी भाषा का क्रमशः प्रचार कर दिया। ब्रजभाषा में इन शब्दों के घुल-मिल जाने का यह

१. In the case of all words having any special reference to government and law, the conqueror Muhammadans have succeeded in imposing their own words upon the colloquial Hindi to the exclusion of the Sanskrit. —Rev. S. H. Kellogg, 'A grammar of the Hindi Language', p. 40.

भी एक प्रमुख कारण है और उसके कवियों की भाषा में बहुत से विदेशी शब्द इसी माध्यम से होकर पहुँचे हैं ।

सूरदास ने यद्यपि विदेशी शब्दों का प्रयोग अवश्य किया, परन्तु अधिकांशतः उनको अर्द्धतत्सम रूप देकर, उनका विदेशीपन दूर कर के, उनको अपनी भाषा के समाज में सम्मिलित करने की उदारता ही उन्होंने दिखायी । पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के कुछ कवियों की भाषा में अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों का यही रूप देखकर कहा जा सकता है कि वे ऐसे प्रयोगों को असंगत नहीं समझते थे और आज तो अनेक विदेशी तत्सम शब्द परिवर्तित होते होते इतने घनिष्ठ रूप में हमसे परिचित हो गये हैं कि सामान्य पाठक इनका विदेशीपन कम ही लक्ष्य कर पाता है । वस्तुतः उसके लिए, संस्कृत के अधिकांश तद्भव शब्दों की तरह ये विदेशी रूप भी हमारी भाषा का महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं । इस आधुनिक दृष्टिकोण का मिलान जब हम सूरदास से करते हैं तब यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही इस अर्ध कवि की दूर दृष्टि भविष्य के भीतर प्रवेश पा चुकी थी ।

सारांश यह है कि ब्रजभाषा के इस प्रथम प्रतिष्ठित कवि ने अरबी, फारसी और तुर्की-जैसी विदेशी भाषाओं के शब्द अपनाने में कभी सकोच नहीं किया ; परन्तु इन भाषाओं में कोई गति न होने के कारण वे प्रायः ऐसे ही प्रयोग अपना सके जो बहुत प्रचलित हो गये थे और जिन्हें काव्यभाषा में स्थान मिल रहा था मिल चुका था । सबसे अधिक संख्या इनमें फारसी शब्दों की है और सबसे कम तुर्की की । इसका कारण यह था कि प्रायः सभी मुसलमान शासकों ने फारसी का सम्मान किया, उसे अपनी राजभाषा और साहित्यिक भाषा, दोनों रूपों में अपनाया । यद्यपि भारतीय भाषाओं से उन्हें विद्वेष नहीं था, फिर भी फारसी के प्रति उनका विशेष मोह था । सूरकाव्य में वे विदेशी शब्द एकत्र नहीं, बिखरे हुए मिलते हैं । केवल तीन या चार पदों में इनका बाहुल्य दिखायी देता है—

१. जनम साहिबी करत गयो ।

काया-नगर बड़ी गुंजाइस, नाहिन कछ बढ़यो ।

हरि को नाम दाम खोटे लो, झकि झकि डारि द्यो ।

बिषया गाँव अमल को टोटी हँसि हँसि कै उमयो ।

नैन अमीन अधमिनि कै बस, जहँ को तहाँ छयो ।

दगाबाज कुतबाल काम-रिपु, सरबस लूटि लयो ।

पाप उजौर कह्यो सोइ मान्यो, धर्म मुघन लुटयो ।

चरनोदक को छाँड़ि सुधा-रस, सुरा-पान अँचयो ।

कुबुधि कमान चढाइ कोष करि बुधि तरकस रितयो ।

सदा सिकार करत मृग मन को रहत मगन भुरयो ।

घेरयो आइ कुटुम लस्कर में जम अहदी पठयो ।

सूर नगर चीरामी भ्रमि भ्रमि घर घर को जु भयो^१ ।

२ साँचों सो लिखहार कहावै ।

काया-ग्राम मसाहत करि कै, जम, बांधि ठहरावै ।
मन महतो करि कैद अपने में, ज्ञान जहतिया लावै ।
माँडि, माँडि खरिहान क्रोध को, पोता भजन भरावै ।
बट्टा काटि कसूर भरम को, फरद तले लै डारै ।
निहर्ष एक असन पै राखै, टरै न कबहुँ टारै ।
करि अवधारजा प्रेम प्रीत को असल तहाँ खनियावै ।
दूजे फरज दूरि करि दैयत, नैकु न तामे आवै ।
भुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल को, हरि सो तहँ लै राखै ।
निर्भय रूप लाभ छाँडिकै, साई बारिज राखै ।
जमा रख नौकै करि राखै लेखा समुझि बतावै ।
सूर आप गुजरान मुमाहिद, लै जवाब पहुँचावै^१ ।

३ हरि, हौं ऐसी अमल कमायो ।

साविक जमा हुतो जो जोरी मिनजालिक तल रयायो ।
वासिल बाकी स्याहा मुजमिल सब अघर्म की दाकी ।
चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी, सरन गहूँ मैं काकी ।
मोहरिल पांच साथ करि दीने तिनकी बड़ी विपरोति ।
जिम्मे उनके, भागै मोतै, यह तो बड़ी अनीति ।
पांच पचीस साथ अगवानी, सब मिलि काज बिगारे ।
सुनी दगौरी विसरि गई मुधि मो तजि नए नियारे ।
बड़ी तुम्हार दरामद हूँ को लिखि कीनी है साफ ।
सूरदास को यहै बीनती दस्तक कीजै माफ^२ ।

उक्त पदों में प्रयुक्त विदेशी शब्द प्रायः पारिभाषिक हैं । शाही दरबारों में विशिष्ट पदों और पदाधिकारियों के लिए जो पारिभाषिक शब्द प्रचलित थे, उनके ठीक अर्थ-वाची शब्द कुछ तो संस्कृत में थे ही नहीं, शेष को विदेशी शब्दों ने अपनाना उचित नहीं समझा । ऐसे शब्दों को कोई भावुक कवि विवश होकर ही अपनाता है । सूरदास के उक्त इने गिनो-पदों से भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने ऐसे परस्पर संबंधित पारिभाषिक शब्दों का सामूहिक रूप से प्रयोग करके अपनी विनोदी प्रवृत्ति का ही परिचय दिया है । दूसरी बात यह है कि शासन-व्यवस्था और राजस्व-संबंधी उक्त पारिभाषिक शब्दों से जिनका परिचय है, वे ही इन पदों का ठीक-ठीक अर्थ समझ सकते हैं, सामान्य पाठक नहीं ।

देशज और अनुकरणात्मक शब्द—

व्रजभाषा में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी उत्पत्ति का पता निश्चित रूप से नहीं लगता । ये शब्द अथवा पद या तो अनादिक और विज्ञातीय भाषाओं के ऐसे

मिथित रूप हैं जिनके परिवर्तित और प्रचलित रूपों के आधार पर उनकी व्युत्पत्ति के विषय में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार के प्रयोगों के सबध में कम से कम इतना निश्चित है कि जिन देशी-विदेशी भाषाओं की विवेचना ऊपर की गयी है, उनसे इनकी सीधी उत्पत्ति नहीं हुई है । ऐसे शब्दों को भाषा-वैज्ञानिकों ने 'देशज' कहा है । इसी 'मज्ञा' के अतर्गत वे शब्द भी आ जाते हैं, जो ध्वनि-विशेष के अनुकरण पर निर्मित माने जाते हैं और सुविधा के लिए जिनको 'अनुकरणात्मक' या 'ध्वन्वात्मक' कहा जाता है ।

देशज शब्द—सूरदास के समस्त काव्य में देशज शब्द बिखरे मिलते हैं । अद्वैतत्सम और तद्भव के ही समकक्ष मानकर सूरदास ने निस्सकोच इनका प्रयोग किया है, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है; यथा—

करवर, करवर—करवर बड़ी टरी मेरे की घर घर आनंद करत बधाई^१ । ढोटा एक भयो कैसेहुँ करि कौन कौन करवर विधि भानी^२ । कौन कौन करवर है टारे^३ । मैं नहिँ काहु को कछु घाल्यो पुन्यनि वरवर नाक्यो^४ ।

खुटिला—नकवेसरि खुटिला तरिवन को गरह मेल कुच जुग उतंग को^५ । ससि, मुख तिलक दियो मृगमद को खुटिला खुभी जराय जरी^६ ।

घैया—आई छाक अबार भई है नैसुक घैया पिएउ सबेरे^७ । दुहि ल्याऊँ में तुरत ही, तू करि दे री घैया^८ ।

घैर, घैरु—सूरदास प्रभु बड़े गारुडी ब्रज घर-घर यह घैरु चलाई^९ ।

भगुलि, भगुली—प्रफुलित ह्वैक आनि, दीनी है जसोदा रानि शीनीयै भगुलि तामें केचन-तगा^{१०} ।

भाम—सुंदर भुजा पीठि करि सुंदर सुंदर कनक मेखला भाम^{११} ।

ठादर—देव आपनो नहीं सँभारत करत इहु सो ठादर^{१२} ।

ढवरी—हरि दरसन को ढवरी लागी^{१३} ।

ढाढ़—ढाढ़नि मेरी नाचै गावैं हों हूँ ढाढ़ बजाऊँ^{१४} ।

ढाढ़िन, ढाढ़िनि—हँस ढाढ़िनि ढाढ़ी सौ बोलो, अब तू बरनि बधाई^{१५} ।

ढाढ़ी—हो तो तेरे घर की ढाढ़ी सूरदास मोहि नाऊँ^{१६} । ढाढ़ी और ढाढ़िनि गावैं^{१७} ।

उक्त उदाहरणों से एक बात तो यह स्पष्ट है कि सूरदास ने देशज शब्दों का प्रयोग तत्समता-प्रधान शब्दावली के साथ नहीं, सरल और प्रचलित सामान्य भाषा में किया

१. सा. १०-५१ । २. सा. ३६८ । ३. सा. ३९१ । ४. सा. वें. २३७३ ।

५. सा. वें. १०४२ । ६. सा. वें. पू. ३४५ (४१) । ७. सा. ४६३ । ८. सा. ७२५ ।

९. स. ७६१ । १०. सा. १०-३९ । ११. सा. वें. १४०३ ।

१२. सा. वें. ९४९ । १३. सा. ३४४२ । १४. सा. १०-३७ ।

१५. सा. १०-३७ । १६. सा. १०-३५ । १७. सा. ६४६ ।

है जिससे वे जरा भी खटकते नहीं । दूसरे, स्वयं ये शब्द इतने छोटे-छोटे और सरल ध्वनि वाले हैं कि इनमें से कुछ का प्रयोग अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओं में किया है ।

अनुस्तरणात्मक शब्द—ध्वनि के आधार पर बने हुए अनुस्तरणात्मक शब्दों की सख्या सूर-काव्य के देवज शब्दों से अधिक हैं । इसका कारण संभवतः यह है कि इन प्रकार के शब्द सरलता से बनते और प्रचलित हो जाते हैं । इस प्रकार के जिन शब्दों के प्रयोग सूरदास ने अपनी रचनाओं में किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

अरवराता—अरवराइ कर पानि गहावत डगमगाइ घरनी धरै पैया^१ ।

अरराता—अररात दोड वृद्ध गिरे घर^२ ।

करारना—बानी मधुर जानि पिक दोलत कदम करारत काग^३ ।

कौं कौं—जैसे काग काग के मुँ वौं वौं करि उडि जाही^४ ।

किलकना—निरखि जननी-वदन किलकत त्रिदमपति दै तारि^५ ।

किलकारना—गावत, हाँक देत किलकारत, दुरि देखत नंदरानी^६ ।

किलकिलाना—गहगहात किलकिलात अधकार आयो^७ ।

कीक, कीकै—भरि गडूक, छिरक दै नैननि, गिरिधर भाजि चले दै कीकै^८ ।

कुहुकुशनि—कुहुकुहानि सुनि रितु बसत की अत मिले कुल अपने जाइ^९ ।

खरभर—बटक अगनित जुर्यो, लक खरभर पर्यो^{१०} ।

गटकना—लटक निरखन लख्यो मटक सब भूलि गयो हटक ह्वै कै गयो गटक
सिल सा रह्यो मीचु जागी^{११} ।

गरराना—घहरात तरतरात गररात हहरात तररात झहरात माथ नाए^{१२} ।

गलबल—गलबल सब नगर पर्यो प्रगट्यो जदुबसी^{१३} ।

गिरीगरी—फूले बजावत गिरगिरी गार मदन भेरि घहराई अपार सतन हिन
ही फूलडोल^{१४} ।

घमकना—आनंद सो दधि मथति जसोदा घमकि मथनियाँ घूमै^{१५} ।

घमर—त्यौं त्यौं मोहन नाचे ज्यों ज्यों रई घमर की होई (री)^{१६} ।

घहरना, घहराना—गगन घहराइ घिरी घटा कारी^{१७} ।

घुमरना—सूर धन्य जदुबस उजागर धन्य धन्य धुनि घुमरि रह्यो^{१८} ।

चुचकारना—मोहू कौं चुचकारि गयो लै जहाँ सघन बन झाऊ^{१९} ।

जगमगाना—अरुन-चरन नख-ज्योति जगमगाति, रुन-झुन करति पाई पैजनियाँ^{२०} ।

१. सा. १०-११५ । २. सा. ३९१ । ३. सा. वें. १८२९ । ४. सा. १-३१९ ।

५. सा. १०-७१ । ६. सा. १०-२५३ । ७. सा. ९-१३९ । ८. सा. १०-२८७ ।

९. सा. वें. ३०५३ । १०. सा. ९-१०६ । ११. सा. वें. २६०९ । १२. सा. वें. ९४४ ।

१३. सा. वें. २६१० । १४. सा. वें. २४०५ । १५. सा. १०-१४७ । १६. सा. १०-१४८ ।

१७. सा. ३८४ । १८. सा. वें. २६१६ । १९. सा. ४८१ । २०. सा. १०-१०६ ।

भकभोरना—सूरदास तिहिं को ब्रजबनिता भकभोरति उर अंक भरे^१।

भकोर,भकोरो(भौंका)—मोहनी मोहन लगावत लटकि मुकुट भकोर^२। जगमग रहो
जराइ को टीको छवि को उठत भकोरो हो^३।

भभकना—सोवत भभकि उठे काहँ तँ दीपक कियो प्रकास^४।

भभकारना—नख मानो चदवान साजि कै भभकारत उर आयो^५।

भभक—दामिनि की दमकनि बूदनि की भभकनि सेज की तलफ
कैसे जीजियतु माई है^६।

भभकना—रमकत भभकत जनक-मुता संग हाव - भाव चित चोरे^७। सूर-स्याम
आए बिग आपुन घट भरि चलि भभकाइ^८।

भरभराना—भरभराति झहराति लपट अति देखियत नही उबार^९।

भरहरना—अजहूँ चेति मूढ़ चहुँ दिसि तँ उपजी काल अग्नि भरहरि^{१०}।

भरहराना—भरहरात बन पात गिरत तह धरनी तरकि तराकि सुनाइ^{११}।

भहराना—बेसरि नाउ लेत सरमाही तब राधा भहरानी^{१२}।

भिभकारना—उठयो भिभकारि कर ढाल कर खड्गहि लिए रग रनभूमि के महल
बैठ्यो^{१३}।

भुँभाना (भुँभलाना)—नित प्रति रीती देखिकमोरी मोहि अति लगत भुँभायो^{१४}।

भुनकना—खनक भुनक कर ककन बाजै, वांह डुलावत दीली^{१५}।

भौर (भौंघ)—बात एक मैं कही कि नाही आपु लगावति भौर^{१६}।

ठुमकना—ठुमुकि ठुमुकि पग धरनी रेंगत जननी देखि दिखावै^{१७}।

डबडबाना—जब-जब सुरति करत तब-तब डबडबाइ दोउ लोचन उमंगि भरत^{१८}।

थरथर—मंडपपुर देखे उर थरथर करै^{१९}।

थरथराना—सँटिया लिये हाथ नँदरानी थरथरात रिस गात^{२०}।

धकधकाना—धकधकात उर नयन सवल जल सुत अँग परसन लागे^{२१}।

धमकना—धमकि मारयो घाउ गुमकि हृदय रह्यो झमकि गहि केस लँ चले ऐसे^{२२}।

धरधर(धड़धड़)—बाजत शब्द नीर की धरधर^{२३}।

फटकना—फटकत सवन स्वान द्वारे पर, गररी करत लराई^{२४}।

फटकाना—भोकोँ जुरि मारन जब आई, तब दीन्ही गेंडुरी फटकारी^{२५}।

१. सा. १०-८८। २. सा. वें. १३३५। ३. सा. वें. २२४३। ४. सा. ५१७।

५. सा. वें. १९७२। ६. सा. वें. २८२७। ७. सारा. ३१०। ८. सा. वें. ८८५।

९. सा. ५९३। १०. सा. १-३१२। ११. सा. ५९४। १२. सा. वें. १५३४।

१३. सा. वें. २५६३। १४. सा. १०-२८८। १५. सा. १०-२९९। १६. सा. १०-३२३।

१७. सा. १०-१२६। १८. सा. वें. २०३६। १९. सा. १०-३१४। २०. सा. १०-३४१।

२१. सा. वें. २४७३। २२. सा. वें. २६२१। २३. सा. वें. १०५७। २४. सा. ५४१।

२५. सा. १४१८।

फटकारना—जमुनादह गिड़ुरी फटकारी, फोरी सब मटुकी अरु गगरी^१ ।

रुनमुन—कवहूँ रुनचुन चलत धुटरुनि, धूरि घूसरित गात^२ ।

रुनुकमुनुक—रुनुकचुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिही मनहरनी^३ ।

ऊपर कहा जा चुका है कि देशज शब्द सूर-काव्य में यत्र-तत्र मिलते हैं, पद विशेष में उनकी प्रधानता नहीं है, परन्तु अनुकरणात्मक शब्दावली प्रधान दो-एक पद 'सूरसागर' में अवश्य मिलते हैं, यथा—

१. भहरात भहरात दवा (नल) आयो ।

घेरि चहुँ ओर, करि सोर अदोर बन, धरनि आकाम चहुँ पास छायो ।
बरत बन बांस, धरहरत कुस बांस, जरि उडत हैं भांस, अति प्रबल घायो ।
भपटि भपटत लपट, फून फल चट चटकि फटत लट लटकि, द्रुम-द्रुम नवायो ।
अति अग्नि झार, भभार धु धार करि, उचटि अगार भभार छायो ।
बरत बन पात भहरात भहरात अररात तरु महा घरनी गिरायो^४ ।

२. सुनि मेघवर्त सजि सैन आए ।

बलवर्त, वारिवर्त, पीनवर्त वज्र अग्निवर्तक जलद सग ल्याए ।
घहरात गररात दररात हररात तररात भटरात माथ नाए^५ ।

३. मेघदल प्रबल ब्रजलोग देखै ।

चकित जहँ-तहँ भए निरखि बादर नए भाल गोपाल डरि गगन पेसै ।
ऐसे बादल सजल वरत अति महाबल चलत घहरात करि अघवाला ।
घटा घनघोर घहरात अररात दररात धररात ब्रज लोग डरपे ।
तडित आघात तररात उत्थान सुनि नारि - नर सकुचि तन प्रान अरपे^६ । -

४. (गगन) मेघ घहरात थहरात गाता ।

चपला चमचमाति, चमकि नभ भहरात, रात्रि जँ कपों न ब्रज नद-ताता^७ ।

सूर के मिश्रित प्रयोग—

देगी विदेशी भाषाओं के शब्दों को अपनाकर मूरदास ने उन्हें एक ही वर्ग या श्रेणी का बना दिया है । इसके फलस्वरूप दो भिन्न भाषाओं के शब्दों के मिश्रण से नया शब्द बनाने में उन्होंने कभी सकार नहीं किया । इन कथन की पुष्टि निम्नलिखित उदाहरणों से होती है—

सं०. अन् + अ लायक = अनलायक-अनलायक हम हैं की तुम हो, कही न बान उपारि^८ ।
फा. ना + अ० हक = नाहक = अनाहक—चौरासी लख जीव जानि मैं भटकर
फिरत अनाहक^९ ।

१. सा १४१६ । २. सा १०-१०० । ३. सा १०-१२३ । ४. सा ५९६ ।
५. सा ८५३ । ६. सा ८५५ । ७. सा ८७० । ८. सा वें. २४२० ।
९. सा १-३१० ।

अ. फौज + सं. पति = फौजपति—निधरक भयो चलयो ब्रज आवत, अग्र फौजपति मैं^१ ।
 फा. वे + हि. पीर = पीडा—सूरदास प्रभु दुखित जानि कै, छाँडि गये वेपीर^२ ।
 फा. वे + अ. हाल = बेहाल—कहाँ निकसि जँऐ को राखै नद कहत बेहाल^३ ।
 हि. लोन + अ. हरामी—मन भयो ढीठ, इनहुँ कीं कीन्ही, ऐसे लोनहरामी^४ ।

सारांश—

सारांश यह है कि संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं के अनेक शब्द तो ब्रजभाषा में हैं ही, अरबी-फारसी-जैसी विदेशी भाषाओं से उद्भूत अनेक शब्द भी ब्रजभाषा की संपत्ति हैं। इन सबमें उसका भंडार भरा-पूरा है और इन्हीं पर इस भाषा के कवियों को अभिमान रहा है। अपने क्षेत्र की निकटवर्ती बोलियों और विभाषाओं के साधारण प्रचलित शब्दों को स्वीकार करने में भी ब्रजभाषा-कवि पीछे नहीं रहे। वास्तुतः धर्म के विषय में वैष्णव भक्त-कवि जिस प्रकार उदार और सहिष्णु थे, भाषा के सन्ध में भी वे सर्वदा उसी प्रकार असंकीर्ण बने रहे। ब्रजभाषा पहले तो अपनी प्रकृति से दूसरी भाषाओं के शब्दों को सहज सुंदर रूप देने में समर्थ थी और दूसरे, जन-मनोवृत्ति तथा परिस्थिति के साथ चलने की दूरदर्शिता भी वह दिखाती रही जिसके फलस्वरूप उसकी प्रगति की गति सदैव सतोषजनक रही। सूरदास इस कार्य में ब्रजभाषा-कवियों में अग्रगण्य हैं। पूर्ववर्ती और समकालीन देशी-विदेशी भाषाओं और निकटवर्ती बोलियों के सन्ध में उन्होंने उपयोगी ग्राहक नीति अपनाकर ब्रजभाषा को समृद्धि प्रदान की। इससे दो प्रमुख लाभ हुए—पहला तो यह कि वे अपनी ब्रजभाषा के उस सहज सुंदर माधुर्य की रक्षा कर सके जो शताब्दियों तक काव्य-प्रेमियों और सहृदयों को आकर्षित करता रहा और दूसरे, सुदूरवर्ती प्रदेशों में काव्य-रचना के लिए निरंतर प्रयुक्त होने पर भी उसका ब्रजभाषापन सुरक्षित रहा और वह अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो सकी। सूरदास के समकालीन और परवर्ती कवियों ने भी उन्हीं की नीति का निर्वाह करने में भाषा और रचना, दोनों का कल्याण समझा और इस प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा के क्षेत्र-वर्द्धन के उस महत् कार्य में योग दिया जिसका श्रीगणेश इस अधः कवि ने किया था।

४. सूर की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन

व्याकरण-सम्मत भाषा का महत्व यद्यपि सभी कवि समझते हैं, तथापि उनके नियमों का निर्वाह वे उतनी कट्टरता से नहीं कर पाते जितनी दृढ़ता से गद्य के लेखक करते हैं। वाक्य-विन्यास में शब्दों का क्रम परिवर्तन करने को तो कवि, गद्यकारों की अपेक्षा, अधिक स्वतंत्र रहते ही हैं, शब्दों की वर्तनी, लुकात और चरण की मात्रा पूर्ति की दृष्टि से, वर्णों को लघु, दीर्घ या हलन्त अक्षरों का पूर्ण कर लेना अथवा कारक-चिह्नों आदि का लोप कर देना भी उनके लिए बहुत साधारण बात होती है। इसी प्रकार भाषा-संगठन का ध्यान रखने के पश्चात् भी एकाध निरर्थक या अनावश्यक शब्द या शब्दांश का समावेश कर लेने में भी कवियों का अपेक्षाकृत कम सकाच होता है।

सूरदास के प्रादुर्भाव के समय तक व्रजभाषा का कोई प्रामाणिक-अप्रामाणिक, वैभा भी व्याकरण प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। उस युग के कवियों को अपनी रचना के लिए वस्तुतः व्यावहारिक व्याकरण का ही सहारा था जो अलिखित था और जिसका ज्ञान समाज में रहकर बोलचाल के लिए भाषा-विशेष का निरंतर प्रयोग करनेवाले किसी भी स्त्री-पुरुष को हो जाता है। साथ ही, जैसा पीछे लिखा जा चुका है, सूरदास के पूर्व व्रजभाषा की कोई उत्कृष्ट साहित्यिक रचना भी नहीं लिखी गयी थी जिसे आदर्श मानकर वे चल सकते अथवा जिसके आधार पर कहा जा सकता कि व्याकरण न सही, भाषा का तो मान्य साहित्यिक रूप उनके समय तक स्थिर हो गया था। ऐसी स्थिति में सूरदास की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

क —साहित्यिक भाषा-रूप अथवा उसके व्याकरण का कोई प्रतिबन्ध न होने पर भी सूरदास ने अवाञ्छनीय रीति में स्वच्छन्द होने का कभी प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति में ऐसा करने के लिए पूरा अवसर था।

ख —जनबोली को अपनाकर उन्होंने व्रजभाषा का साहित्यिक रूप स्थिर किया जिसके कलस्वरूप उनकी भाषा परवर्ती कवियों के लिए एक प्रकार से आदर्श हो सकी।

ग —सूरदास यदि पढ़े-लिखे होते तो उन्हें पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंस आदि में से किसी के व्याकरण का थोड़ा-बहुत सहारा अवश्य मिल सकता था, परन्तु अंधता ने उन्हें इसमें भी वचन रखा। अतएव सामान्य व्यवहार की वाली के साधारण प्रयोगों के बल पर उन्हें व्याकरण-सम्मत भाषा की रूपरेखा प्रस्तुत करनी पड़ी।

घ.—व्यावहारिक व्याकरण के नियमों को हृदयगम करने के पश्चात् रचना में उनका निर्वाह करके सूरदास ने साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण-निर्माण के लिए विविध प्रकार

के प्रयोग प्रस्तुत कर दिये जिससे एक ओर तो कवियों को सहारा मिला और दूसरी ओर व्याकरणों के लिए केवल नियम-निर्धारण का कार्य शेष रह गया। सूरदास के इस कार्य का महत्व वस्तुतः उस समय ज्ञात होता है जब आधुनिक युग में लिखे गये व्रजभाषा-व्याकरण के प्रायः सभी नियमों और अपवादों के उदाहरण अध्येता को सूर-काव्य में ही मिल जाते हैं जिसके फलस्वरूप वह इस अधः कवि की ग्रहणशीलता और पैनी अतद्दृष्टि की क्षमता देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है।

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—ये मुख्य शब्द-भेद हैं। आगे के पृष्ठों में सूरदास के तत्संबन्धी प्रयोगों का सीदाहरण परिचय दिया जायगा।

संज्ञाएँ और सूर के प्रयोग—

व्रजभाषा में स्वरांत शब्दों की अधिकता है। उसके संज्ञा शब्द भी स्वरांत हैं। डा० धीरेंद्र वर्मा ने व्रजभाषा में आठ स्वरों—अ आ इ ई उ ऊ ओ औ और औ—से अंत होनेवाले संज्ञा शब्द माने हैं^१, 'ए' और 'ऐ' से अंत होनेवाले शब्दों को उन्होंने छोड़ दिया है। इसका कारण संभवतः यह है कि प्रायः बहुवचन बनाने अथवा शब्द को विभक्ति-संयोग के उपयुक्त रूप देने के लिए इनकी आवश्यकता व्रजभाषा में पड़ती है। परंतु सूरदास ने ऐसे कुछ एकारांत और ऐकारांत संज्ञा शब्दों का प्रयोग किया है जो एकवचन हैं और जिनके साथ विभक्ति भी संयुक्त नहीं है। इस प्रकार साधारणतः दस स्वरों से अंत होनेवाले संज्ञा शब्द व्रजभाषा में होते हैं। सूर-काव्य से संकलित विभिन्न स्वरांत निम्नलिखित संज्ञा शब्दों से इस कथन की पुष्टि होती है—

अ—अकारांत संज्ञा शब्द^२—सूरदास ने दो प्रकार के अकारांत शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम वर्ग में वे शब्द आते हैं जो मूल रूप में वस्तुतः अकारांत हैं और प्रायः गद्य में भी वैसे ही लिखे जाते हैं, जैसे—गुर=रहस्य^३, छीलर^४, जतन^५, जोवन^६, दरसन^७, धीरज^८, पटवर^९, सुमिरन^{१०}, हुलास^{११} आदि। दूसरे प्रकार के शब्द दीर्घ स्वरांत—प्रायः आकारांत, ईकारांत या ओकारांत—होते हैं जिन्हें तुकांत अथवा चरण की मात्रापूर्ति के लिए कवि ने अकारांत कर लिया है, जैसे—अभिलाष^{१२}, उपासन^{१३}, गग^{१४},

१. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ५५।

२. कुछ शब्दों के अकारांत के अतिरिक्त आकारांत और ओकारांत रूप भी व्रजभाषा में प्रचलित हैं; जैसे—आस-आसा, घूर-घूरा-घूरी, झगरा-झगरी, भरोस-भरोसा-भरोसी आदि। परंतु सभी अकारांत शब्द इस प्रकार दो या तीन रूपों में नहीं लिखे जाते—लेखक।

३. सा. २-१०। ४. सा. १-३३७। ५. सा. २-१४। ६. सा. २-२२।

७. सा. ५-२। ८. सा. १-३४३। ९. सा. १-३२६। १०. सा. १-३४२।

११. सा. ३-११। १२. सा. ९-७०। १३. सा. २-११। १४. सा. ९-९।

धूर^{१५}(=धूर), असोद^{१६}, घोस^{१७}(=घोसा), नात (=नाता)^{१८}, नार=(नाला^{१९} या नारी^{२०}), प्रदच्छिन^{२१} आदि। मान (=भानु^{२२}) जैसे-दो-एक उकारात शब्दों का भी अकारात प्रयोग मूरदास ने किया है।

आ-आकारांत संज्ञा शब्द—अकारात शब्दों की तरह मूरदास द्वारा प्रयुक्त आकारात सज्ञा शब्दों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे शब्द आते हैं जिनका वज्रभाषा में प्रचलित शुद्ध रूप आकारात है और जो गद्य में भी प्रायः उसी रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—आसा^{२३}, चबेना^{२४}, छोना^{२५}, टोना-टुटोना^{२६}, फरिया^{२७}, वाना^{२८}, बिदा^{२९}, बिया^{३०} बेरा (=बेला^{३१}), मरजादा^{३२}, सिच्छा^{३३} आदि। दूसरे प्रकार के शब्द मूलतः प्रायः अकारात होते हैं, परंतु तुकात अथवा चरण-पूर्ति के लिए कवि ने उन्हें आकारात रूप दिया है, जैसे अवतारा^{३४}, गीना (=गोन =गमन^{३५}), चरना (=चरन^{३६}) नैना^{३७}, पांना (=पांन=पवन)^{३८}, वाता (=वात^{३९}), वामा (=वात=वात^{४०}), रघुनाथा^{४१} आदि।

इ—इकारात संज्ञा शब्द—उक्त दोनों रूपों की तरह मूरदास में प्राप्त इकारात सज्ञा शब्दों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम में शुद्ध इकारात रूप आते हैं, जैसे—अग्नि^{४२}, अनुहारि^{४३}, सोरि^{४४}, पांचरि^{४५}, प्रापति^{४६}, विपति^{४७}, बुधि^{४८}, मूरति^{४९}, साखि^{५०} आदि। दूसरे वर्ग के शब्दों का इकारात रूप विकृत कहा जा सकता है, क्योंकि तुकात अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए अनेक अकारात, ईकारात, उकारात, यकारात और वकारात शब्दों को कवि ने इकारात बना लिया है, जैसे—आइ (=आयु)^{५१}, आकारि (=आकार)^{५२}, उपाइ (=उपाय)^{५३}, करनूति^{५४}, गुहारि^{५५}, चाइ (=चाव)^{५६}, पहिचानि^{५७}, पौरि^{५८}, वषाइ (=वषाई)^{५९}, बानि (=वान)^{६०}, बिननि (=बिनी)^{६१}, मुसुक्नि^{६२}, मुहूरति^{६३}, तराइ^{६४} आदि।

ई—ईकारांत संज्ञा शब्द—आकारात शब्दों की तरह अविवादा ईकारात सज्ञा शब्द अपने शुद्ध रूप में ही मूरदास में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—अधिकाई^{६५}, करनी^{६६},

१५. सा. २-१३।	१६. सा. १०-११९।	१७. सा. २०५८।	१८. सा. ३८४४।
१९. सा. ३८४९।	२०. सा. ३८८२।	२१. सा. ४-९।	२२. सा. ३९५८।
२३. सा. २-१६।	२४. सा. ४६७।	२५. सा. ६०१।	२६. सा. ६०१।
२७. सा. ७०४।	२८. सा. ६-६।	२९. सा. ३-११।	३०. सा. ६-१।
३१. सा. ४-५।	३२. सा. ३७८९।	३३. सा. ३-११।	३४. सा. ९-१४।
३५. सा. ६०१।	३६. सा. ५-२।	३७. सा. ७३०।	३८. सा. ६०१।
३९. सा. ९-४९।	४०. सा. ३-१३।	४१. सा. ९०-६८।	४२. सा. ३-२।
४३. सा. ३७५६।	४४. सा. ५-४।	४५. सा. ९-५३।	४६. सा. ३-१३।
४७. सा. ९-६५।	४८. सा. ४-१२।	४९. सा. ३-१३।	५०. सा. २-२।
५१. सा. ७-२।	५२. सा. ९-२।	५३. सा. २-५।	५४. सा. २-१३।
५५. सा. ९-६५।	५६. सा. ३-३।	५७. सा. ३७५६।	५८. सा. ९-१४।
५९. सा. ५-२।	६०. सा. ३८३९।	६१. सा. ३४१४।	६२. सा. ३७३५।
६३. सा. १-३४३।	६४. सा. ३८१।	६५. सा. २-७।	६६. सा. ३७५०।

गोधनी^{१७}, घरी^{१८}, चातुरी^{१९}, ज्वानी^{२०}, घरनी^{२१}, निठुराई^{२२}, बसीठी^{२३}, बिनती^{२४}, बेनी^{२५}, सत्राई^{२६}, सहिदानी^{२७} आदि । परंतु कुछ ईकारात संज्ञा शब्द विकृत रूप में भी मिलते हैं जिसकी आवश्यकता तुकात अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए कवि को पड़ी है; जैसे—उपाई (= उपाय)^{२८}, गुहारी^{२९}, जरनी^{३०} (= जरन = जलन), पतारी^{३१} (पताल), पीठी (= पीठ)^{३२}, मूरी^{३३} (= मूर = मूल), सरनी (= सरन)^{३४} इत्यादि ।

उ.—उकारांत संज्ञा शब्द—सूर-काव्य में प्राप्त अधिकांश उकारांत संज्ञा शब्द ऐसे ही हैं जो ब्रजभाषा में उसी रूप में प्रचलित हैं, जैसे—अबु^{३५}, आपसु^{३६}, नाउ^{३७}, नाजु^{३८}, नाहु^{३९}, फेनु^{४०}, बेनु^{४१}, रेनु^{४२}, सचु^{४३}, साजु^{४४}, सिमु^{४५} आदि । परंतु कुछ विकृत उकारांत शब्दों का भी सूरदास ने प्रयोग किया है । इनका मूल रूप प्रायः अकारांत होता है; जैसे—काजु^{४६}, गेहु^{४७}, तनु^{४८}, मनेहु^{४९}, साहु^{५०} आदि ।

ऊ.—ऊकारांत संज्ञा शब्द—ऐसे शब्दों की संख्या सूर-काव्य में अधिक नहीं है । जो थोड़े-बहुत ऊकारांत शब्द उसमें मिलते हैं उनमें कुछ अपने शुद्ध ब्रजभाषा-रूप में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—गऊ^{५१}, चमू^{५२}, दाऊ^{५३}, बटाऊ^{५४}, बारू^{५५} आदि और कुछ विकृत रूप में; जैसे—बघू^{५६}, हितू^{५७} आदि ।

ए.—एकारांत संज्ञा शब्द—एकारांत संज्ञा शब्दों के सविभक्तिक या बहुवचन रूपों की तो ब्रजभाषा में अधिकता है, परंतु दो-चार विभक्तिरहित और एकवचन रूप भी 'सूरसागर' में मिलते हैं, यद्यपि इनमें विभक्ति के संयोग का आभास होता है; जैसे—

१. चितेरे—वैसे हाल मयत दधि कीन्हे हरि मनु लिखे चितेरे^{५८} ।
२. द्वारे—जा द्वारे पर इच्छा होइ, रानी सहित जाइ नृप सोइ^{५९} ।

ऐ.—ऐकारांत संज्ञा शब्द—जो बात एकारांत शब्दों के संबन्ध में कही गयी है, वही ऐकारांत संज्ञा रूपों के विषय में भी है; जैसे—

- | | | | |
|----------------|----------------|-------------------|-----------------|
| ६७. सा. २-१४ । | ६८. सा. ९-६३ । | ६९. सा. ३७५७ । | ७०. सा. ७-२ । |
| ७१. सा. ७-३ । | ७२. सा. ९-५३ । | ७३. सा. ३७८० । | ७४. सा. १-३४२ । |
| ७५. सा. २-३ । | ७६. सा. ४-५ । | ७७. सा. ९-५३ । | ७८. सा. ६-५ । |
| ७९. सा. ३९१ । | ८०. सा. ९-७३ । | ८१. सा. ८-१४ । | ८२. सा. ३७८० । |
| ८३. सा. २-३२ । | ८४. सा. ९-७३ । | ८५. लहरी० उ० ३८ । | ८६. सा. १-३४३ । |
| ८७. सा. ६-३ । | ८८. सा. ८०८ । | ८९. सा. १०१५ । | ९०. सा. ४८९ । |
| ९१. सा. ३८४ । | ९२. सा. २-३६ । | ९३. सा. २-९ । | ९४. सा. ८०८ । |
| ९५. सा. ७-२ । | ९६. सा. ४६१ । | ९७. सा. ३७८५ । | ९८. सा. ४-१३ । |
| ९९. सा. ३७८५ । | १. सा. ११६१ । | २. सा. ७-७ । | |
| ३. सा. ३७६१ । | ४. सा. ७०६ । | ५. सा. ३७६५ । | |
| ६. सा. ३८२४ । | ७. सा. १-२५४ । | ८. सा. ३८३४ । | ९. सा. ७१८ । |
| १०. सा. ४-१२ । | | | |

आलै = आलय—जो पै प्रभु करना के आले^{११} ।

छारै = छार—राम ते बिछुरि कमल कटक भए सिधु भए जल छारै^{१२} ।

अरै = अड़—जा बारन तै मुनि सुत सुदर कीन्ही इती अरै^{१३} ।

तनै = तनय—जिहि लोचन अवलोके नखसिख सुदर नद तनै^{१४} ।

जसोवै = यशोदा^{१५} ।

देवै = देवकी— बार बार देवै कहै^{१६} ।

बिनै = बिनय^{१७} ।

विपै = विषय^{१८} ।

मलै = मलय—मिली बुझा मलै लंकै^{१९} ।

हिरदै—नृप मुनिवै हिरदै में राखी^{२०} ।

ओ ओकारात संज्ञा शब्द^{२१}—सभा द्वारा प्रकाशित 'मूरसागर' के संपादक की, प्रायः सभी ओकारात शब्दों को ओकारात रूप में लिखने की, प्रवृत्ति के फलस्वरूप ओकारात संज्ञा शब्दों के उदाहरण उसमें नहीं मिलते, अन्य 'मूरसागरों' में इनकी प्रचुरता है, जैसे गारो^{२२}, गो (—गाय^{२३}), प्रहारो^{२४}, वारो^{२५} आदि ।

औ. ओकारात संज्ञा शब्द—व्रजभाषा की ओकारात या ओकारान प्रवृत्ति के फलस्वरूप इस प्रकार के शब्दों का मूर-काव्य में आधिक्य है, जैसे—अचभौ^{२६}, अदेसौ^{२७}, उजियारी^{२८}, उरहनी^{२९}, खँभारौ^{३०}, खँरो^{३१}, चूनी^{३२}, चेरो^{३३}, जादौ^{३४}, ठिकानी^{३५}, दो (=दव^{३६}), नातौ^{३७}, निहोरो^{३८}, पछितावौ^{३९}, बदलौ^{४०}, बालपनी^{४१}, बुढापाँ^{४२}, बगुरौ^{४३}, भँसौ^{४४}, मती^{४५}, मायो^{४६}, रूसनी^{४७}, मँदेसौ^{४८}, सुपनी^{४९}, होयाँ^{५०} आदि ।

व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ—कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों को मूरदास ने एक से अधिक

११. सा. ४१५४ । १२. सा. ३७७८ । १३. सा. १०-१९५ ।

१४. सा. ३६६६ । १५. सा. ३४७ । १६. सा. ३०९० । १७. सा. ४-१२ ।

१८. सा. ७-२ । १९. सा. ३१४१ । २०. सा. ६-७ ।

२१. एटा, आगरा, मयुरा, अलीगढ़, गुडगांव, भरतपुर, धौलपुर, ग्वालियर आदि स्थानों में ओकारात उच्चारण अधिक होता है एवं इटावा, फर्रुखाबाद, बदायूँ, बरेली आदि में ओकारात और औकारात, दोनों उच्चारण प्रचलित हैं—लेखक ।

२२. सा. बेनी. ३३२ । २३. सा. ४७१, २४. सा. बेनी. ३३२ । २५. सा. बेनी. ३३२ ।

२६. सा. २-१३ । २७. सा. ३८६२ । २८. सा. ४-१३ । २९. सा. ३८४ ।

३०. सा. ३-११ । ३१. सा. १०-२१६ । ३२. सा. ३७३८ । ३३. सा. १०-२१६ ।

३४. सा. ३-३ । ३५. सा. १-४७ । ३६. सा. ४-१२ । ३७. सा. ३-१३ ।

३८. सा. ७३१ । ३९. सा. ३७४७ । ४०. सा. ३-५ । ४१. सा. ७-२ ।

४२. सा. ३-१३ । ४३. सा. ३-१३ । ४४. सा. २-१४ । ४५. सा. १-२६९ ।

४६. सा. २-८ । ४७. सा. ३८२६ । ४८. सा. ३८५८ । ४९. सा. ३७८८ ।

५०. सा. ४-११ ।

छोटे-बड़े रूप दिये हैं जिनमें से छंद की आवश्यकतानुसार उपयुक्त रूप का प्रयोग किया जा सके; जैसे—

अश्वत्थामा—अश्वत्थामा^{५१}, अस्थामा^{५२} ।

कृष्ण—कन्हाइ^{५३}, कन्हई^{५४}, कन्हैया^{५५}, कन्है^{५६}, कन्हैर^{५७}, कन्है^{५८}, कृष्ण^{५९} ।

दक्ष—दच्छ^{६०}, दछ^{६१} ।

दुःशासन—दुसासन^{६२} ।

दुर्योधन—दुरजोधन^{६३}, दुर्जोधन^{६४}, दुर्जोधना^{६५} ।

यशोदा—जसुदा^{६६}, जसुमति^{६७}, जसोइ^{६८}, जसोद^{६९}, जसोदा^{७०}, जसोमति^{७१}, जसोमती^{७२}, जसोर्व^{७३} ।

लक्ष्मण—लछन^{७४}, लछिमन^{७५}, लपन^{७६} ।

सीता—सिया^{७७}, सीता^{७८}, सीय^{७९} ।

कुछ व्यक्तिवाचक सत्ता शब्दों के लिए सूरदास ने नये नये पर्यायवाचियों का प्रयोग किया है : ऐसे प्रयोगों में अधिकांश प्रचलित रहे हैं और अन्य कवियों की रचनाओं में भी वे मिलते हैं; जैसे—

कृष्ण—कुजबिहारी^{८०}, गोपीनाथ^{८१}, धनस्याम^{८२}, जनुनाथ^{८३}, जादवपति^{८४}, दामोदर^{८५}, नदनदन^{८६}, बनवारी^{८७}, बसुदेवकुमार^{८८}, ब्रजराज^{८९}, मुरलीधर^{९०}, श्रीपति^{९१} ।

द्रौपदी—पारथतिय^{९२}, पारथ-धन^{९३} ।

यशोदा—नदघरनि^{९४}, नद-नारी^{९५}, नदरनियां^{९६} ।

राधा—उदधि-मुता^{९७}, कीरति-मुता^{९८}, बृषभानु-मुता^{९९}, मुता- दधि^{१००} ।

राम—कमलापति^{१०१}, खरारि^{१०२}, दसरथ-मुत^{१०३}, रघुनाथा^{१०४} ।

-
५१. सा. १-२८९ । ५२. सा. १-२४९ । ५३. सा. ५३२ ।
 ५४. सा. १०-२३२ । ५५. सा. १०-४७ । ५६. सा. १०-२२४ । ५७. सा. १०-२२१ ।
 ५८. सा. १०-२२० । ५९. सा. १-२५६ । ६०. सा. ३-१२ । ६१. सा. ४-५ ।
 ६२. सा. १-२४६ । ६३. सा. १-२३९ । ६४. सा. १-२४९ । ६५. सा. १-२३८ ।
 ६६. सा. १०-५७ । ६७. सा. १०-२९ । ६८. सा. १०-५६ । ६९. सा. १०-११९ ।
 ७०. सा. १०-३० । ७१. सा. १०-२८ । ७२. सा. २९०५ । ७३. सा. ३४७ ।
 ७४. सा. ९-५७ । ७५. सा. ९-५६ । ७६. सा. ९-६० । ७७. सा. ९-७० ।
 ७८. सा. ९-५९ । ७९. सा. ९-६० । ८०. सा. २६५१ । ८१. १-११३ ।
 ८२. सा. १-७६ । ८३. सा. १-३ । ८४. सा. ४१३२ । ८५. सा. १-१०९ ।
 ८६. सा. ३२६८ । ८७. सा. १-१६० । ८८. सा. ४१६० । ८९. सा. १-२१९ ।
 ९०. सा. ४१२ । ९१. सा. ४१११ । ९२. सा. १-२१ । ९३. सा. १-६६ ।
 ९४. सा. १०-१०९ । ९५. सा. १०-१६७ । ९६. सा. १०-१४५ । ९७. सा. ३२४२ ।
 ९८. सा. ७१४ । ९९. सा. ७२० । १. सा. ३२४१ । २. सा. ९-१२२ ।
 ३. सा. ९-६५ । ४. सा. ९-६९ । ५. सा. ९-६८ ।

राघव—कनकपुरी के राइ^१, दसकंठ^२, दसकधर^३, दसवदन^४, दसमुख^५,
दससिर^{११}, दसानन^{१२}, निसिचर-कुल-नाथा^{१३}, लकाधिपति^{१४},
लकापति^{१५}, लकेस^{१६}, लकेस्वर^{१७} ।

शिव—ईश्वर^{१८}, उमापति^{१९}, गौरिकत^{२०}, गौरीपति^{२१}, त्रिपुरारि^{२२},
भोलानाथ^{२३}, महादेव^{२४}, भहेस^{२५}, रुद्र^{२६}, सकर^{२७}, सुरराइ^{२८} ।

सीता—जनकनरेशकुमारि^{२९}, जानकी^{३०}, राघव-नारि^{३१}, वंदेहि^{३२} ।

हनुमान—अजनि-कुंवर^{३३}, अजनि को सुत^{३४}, केसरिसुत^{३५}, पवनपुत्र^{३६},
पवनपूत^{३७}, मारुतमुत^{३८}, सीतापति-सेवक^{३९} ।

स्त्री-पुरुषा के लिए जिस प्रकार के पर्यायवाचियों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, स्थान विशेष के लिए वैसे प्रयाग सूर-काव्य में अधिक नहीं मिलते, केवल 'लका' के लिए कचनपुर^{४०}, कनकपुर या कनकपुरि^{४१}, लकपुर^{४२}, हाटकपुरी^{४३} आदि का प्रयोग सूरदास ने किया है ।

जातिवाचक संज्ञाएँ—सूरदास द्वारा जातिवाचक संज्ञाओं के प्रयोगों के सम्बन्ध में भी दो बातें महत्व की हैं । पहली बात तो यह है कि अनेक पदों में उन्होंने व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के साथ निश्चित या अनिश्चित बहुमख्यावाचक विशेषण जोड़कर उनका प्रयोग जातिवाचक संज्ञाओं के समान किया है जैसे—कोटि अनस,^{४४} कोटि इंद,^{४५} कोटि मदन,^{४६} कोटि ससि,^{४७} कोटिक सूर^{४८}, द्वै समु,^{४९} सत-सत मदन^{५०} आदि ।

दूसरी बात यह है कि चक्र, वज्र आदि संज्ञाएँ जब विष्णु, इन्द्र आदि के वर्णन के साथ आती हैं तब इन जातिवाचक शब्दों को सूरदास द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिवाचक रूप समझना चाहिए । उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य में 'चक्र' जातिवाचक न होकर व्यक्तिवाचक है, क्योंकि उसमें तात्पर्य 'मुदर्शनचक्र' से है—

चक्र काहु चोरायो कंधों भुजनि बल भयी थोर^{५१} ।

६. सा. ९-७८ ।	७. सा. ९-१२९ ।	८. सा. ९-६५ ।
९. सा. ९-१२९ ।	१०. सा. १-२१५ ।	११. सा. ९-७७ ।
१२. सा. ९-७७ ।	१३. सा. ९-९६ ।	१४. सा. ९-१२९ ।
१५. सा. ९-७५ ।	१६. सा. ९-१२९ ।	१७. सा. ९-८५ ।
१८. सा. ९-१५९ ।	१९. सा. ९-९६ ।	२०. सा. ७६६ ।
२१. सा. ४-५ ।	२२. सा. ४-५ ।	२३. सा. ४-५ ।
२४. सा. १-११५ ।	२५. सा. १-२२६ ।	२६. सा. ९-६५ ।
२७. सा. ९-७५ ।	२८. सा. ९-७६ ।	२९. सा. ९-६३ ।
३०. सा. ९-७४ ।	३१. सा. ९-६८ ।	३२. सा. ९-६९ ।
३३. सा. ९-९७ ।	३४. सा. ९-८१ ।	३५. सा. ९-७५ ।
३६. सा. ९-१४२ ।	३७. सा. ९-८९ ।	३८. सा. ९-७५ ।
३९. सा. ९५० ।	४०. सा. ९०४ ।	४१. सा. २४५३ ।
४२. सा. ३५१० ।	४३. सा. २४६६ ।	४४. सा. २९२६ ।
	४५. सा. १-२५३ ।	

इसी प्रकार 'गीध' शब्द का प्रयोग सामान्य पक्षी के लिए किये जाने पर तो जाति-वाचक सज्ञा है ; परन्तु 'जटायु' नामधारी पौराणिक पक्षी के लिए जब सूरदास ने 'गीध' लिखा है, तब उसे व्यक्तिवाचक समझना चाहिए; जैसे—

तबहि निसिचर गयो छल करि लई सीय चुराइ ।

गीध ताको देखि धायो, लख्यो सूर बनाइ^{५२} ।

भाववाचक शब्दों का निर्माण—भाववाचक सज्ञा शब्द प्रायः जातिवाचक संज्ञा, विशेषण और क्रिया शब्दों से बनते हैं । सूरदास ने भी अधिकांश भाववाचक सज्ञाएँ इन्हीं शब्द-भेदों से बनायी है, परन्तु उनके काव्य में कुछ ऐसे भाववाचक शब्द भी मिलते हैं जो सर्वनामों और भाववाचक संज्ञाओं से बना लिये गये हैं । अतएव यह देखना आवश्यक है कि सूरदास ने भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण किन-किन नियमों के आधार पर किया है । साधारणतः ऐसे शब्द ता, त्या, पन आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं । सूरदास ने भी इनके योग से अनेक भाववाचक सज्ञाएँ बनायी है—

क. संज्ञा और विशेषण से निर्माण—

अ. 'ता' प्रत्यय के योग से—ईस्वरता,^{५३} चंचलता,^{५४} जडता,^{५५} तद्रूपता,^{५६} दीनता,^{५७} पूर्णता,^{५८} बद्धलता,^{५९} भीरुता,^{६०} ममता,^{६१} मित्रता,^{६२} मीनता,^{६३} सिवता,^{६४} संसवता^{६५} ।

आ. 'त्व' प्रत्यय के योग से—प्रभुत्व^{६६} ।

इ. 'पन', 'पनु' या 'पनी' प्रत्यय के योग से—छत्रपन,^{६७} बालपन,^{६८} लोहपनी^{६९} ।

उक्त तीनों प्रकारों से भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण करने के अतिरिक्त सूरदास ने अन्य कई रीतियाँ इस कार्य के लिए अपनायी हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. 'आई' प्रत्यय जोड़कर—यह प्रत्यय प्रायः मूल शब्द अथवा उसके किंचित परिवर्तित रूप में जोड़ा गया है ; जैसे—अघमाई,^{७०} कुसलाई,^{७१} गरुआई,^{७२} चतुराई,^{७३} चेराई,^{७४} तरुनाई,^{७५} नगराई,^{७६} निठुराई,^{७७} मित्राई,^{७८} लंगराई,^{७९} सत्राई,^{८०} सुघराई^{८१} ।

५२. सा. ९-६० ।	५३. सा. १-२९० ।	५४. सा. २५५२ ।	५५. सा. ४२९३ ।
५६. सा. ४२१३ ।	५७. सा. २-१८ ।	५८. सा. १-२१५ ।	५९. सा. ४३०६ ।
६०. सा. ४२१३ ।	६१. सा. १-५१ ।	६२. सा. ८-८ ।	६३. सा. ३५७२ ।
६४. सा. ३-१३ ।	६५. सा. ३२२८ ।	६६. सा. ७-२ ।	६७. सा. १-२६९ ।
६८. सा. ७-२ ।	६९. सा. ४३०२ ।	७०. सा. १-१८७ ।	७१. सा. १४३९ ।
७२. सा. २५३९ ।	७३. सा. १९५३ ।	७४. सा. १४१८ ।	७५. सा. १-३२९ ।
७६. सा. १३३९ ।	७७. सा. ९-५३ ।	७८. सा. १-३ ।	७९. सा. २२८९ ।
८०. सा. ४-५ ।	८१. सा. २७१८ ।		

आ, शब्दात् मे 'अई' या 'ई' जोड़कर, जैसे—अधमई,^{८२} चतुरई,^{८३} निठुरई,^{८४} बड़ई,^{८५} मित्रई,^{८६} रसिकई,^{८७} लंगरई^{८८}, सुदरई^{८९} ।

इ 'आत्' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—कुसलात्^{९०} । यह शब्द 'कुशलता' का विकृत रूप भी हो सकता है । ऐसे शब्द अधिक नहीं मिलते ।

ई 'औरी' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—ठाग + औरी = ठगौरी^{९१} । ऐसे शब्द भी कम ही मिलते हैं ।

उ, शब्दों के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और अत मे 'आई' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—ठाकुर, घूत, राजा से ठकुराई^{९२}, धुताई,^{९३} रजाई^{९४} आदि ।

ऊ, शब्दात् के दीर्घाक्षर का लघु करके अथवा यदि वह लघु ही हो तो उसी के साथ 'प' प्रत्यय, जो 'पन' का लघु रूप जान पड़ता है, जोड़कर, जैसे—सयानप^{९५} ।

ए शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और 'आइत' या 'आयत' प्रत्यय जोड़ कर, जैसे—ठाकुर + आइत या आयत = ठकुराइत^{९६} या ठकुरायत^{९७} । ऐसे शब्द भी सूरदास्य में अधिक नहीं हैं ।

ऐ शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और शब्दात् मे 'ई' जोड़कर; जैसे—दूवर से दुवराई^{९८} ।

ओ शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके अत मे 'आन' जोड़कर, जैसे—ढीठ से डिठान^{९९} ।

औ शब्द के प्रथम लघु अक्षर को दीर्घ करके और शब्दात् मे 'ई' जोड़कर, जैसे—मपुर से माधुरी^१ ।

सयानप, ठकुरायत आदि शब्दों की तरह दो-दो एक-एक उदाहरणों के आधार पर यों तो कुछ और नियम भी बनाये जा सकते हैं, परन्तु भाववाचक शब्दों के निर्माण के विषय में सूरदास की मनोवृत्ति का परिचय पाने के लिए उक्त नियम ही पर्याप्त हैं । जिन शब्दों से भाववाचक सज्ञा-रूप बनाने के लिए उक्त रीतियों को सूरदास ने अपनाया है वे प्रधानतः जातिवाचक सज्ञा और गुणवाचक विशेषण ही हैं ।

स क्रिया शब्दों से निर्माण—क्रिया शब्दों से भाववाचक रूपों का निर्माण करने के लिए सूरदास ने साधारणतः जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें मुख्य ये हैं—

८२. सा. १-१९७ ।

८३. सा. ३३६३ ।

८४. सा. १९२६ ।

८५. सा. १-३ ।

८६. सा. ४२४१ ।

८७. सा. २५४१ ।

८८. सा. ३४४ ।

८९. सा. २५२६ ।

९०. सा. ३७४८ ।

९१. सा. १-१८७ ।

९२. सा. ४१९५ ।

९३. सा. ९२३ ।

९४. सा. १३०८ ।

९५. सा. ८-१४ ।

९६. सा. ३६८७ ।

९७. सा. १-१८ ।

९८. सा. ३७६४ ।

९९. सा. ९-१३४ ।

१. सा. ३०२६ ।

अ. क्रिया के मूल धातु-रूप का ही भाववाचक सज्ञा की तरह सूरदास ने कभी-कभी प्रयोग किया है ; जैसे—कीर=क्रीड़=क्रीडा,^२ खोज,^३ छाप^४ ।

आ. मूल धातु रूप में 'आउ' या 'आऊ' प्रत्यय या इसके परिवर्तित रूप 'आव' या 'आवा' के संयोग से; जैसे—दुराव^५ ।

इ. मूल धातु रूप में 'आन' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—संधान^६ ।

ई. मूल धातु रूप में 'नि' या 'नी' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—करनी,^७ जपनी^८, जियनि,^९ तपनी,^{१०} बिछुरनि,^{११} लरखरनि^{१२} ।

उ. मूल धातु रूप में 'आई' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—उतराई^{१३}, दुराई^{१४}, लराई^{१५} ।

ऊ. मूल धातु रूप में 'वानी' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—रखवानी^{१६} ।

ए. मूल धातु रूप में 'आर' प्रत्यय जोड़कर, जैसे—जगार^{१७} ।

ग. सर्वनामों से रूप-निर्माण—सज्ञा (जातिवाचक), विशेषण और क्रिया शब्दों के अतिरिक्त कुछ सर्वनामों से भी सूरदास ने भाववाचक सज्ञाएँ बनायी हैं ; यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है । इनके निर्माण में मुख्यतः निम्नलिखित नियमों का सहारा लिया गया है ।

अ. 'ता' प्रत्यय के संयोग से; जैसे—ममता^{१८} (मम= 'अस्मद' की षष्ठी विभक्ति का एकवचन रूप), हमता^{१९} आदि ।

आ. 'त्व' प्रत्यय के संयोग से; जैसे—ममत्व^{२०} ।

इ. कुछ सार्वनामिक विशेषण-रूपों के प्रथम दीर्घाक्षर को लघु करके और 'पउ' या 'पौ' प्रत्यय के संयोग से, जैसे—अपुनपौ^{२१} (आपन<अपन+पौ) ।

घ. भाववाचक संज्ञाओं से पुनः निर्माण—सूरदास ने कुछ ऐसे रूपों का भी प्रयोग किया है जो वस्तुतः भाववाचक सज्ञाओं से ही विभिन्न प्रत्ययों के संयोग से पुनः निर्मित हुए हैं । विशेषण और जातिवाचक सज्ञा शब्दों के भाववाचक-रूप उन्होंने जिन नियमों के आधार पर बनाये हैं, उन्हीं में से कुछ का प्रयोग इन विचित्र भाववाचक रूपों के लिए भी किया गया है—

अ. 'आई' प्रत्यांत रूप; जैसे—सरनाई^{२२} ।

आ. 'ई' प्रत्यांत-रूप; जैसे—आतुरताई^{२३}, चंचलताई^{२४}, जड़ताई^{२५}, दृढ़ताई^{२६}, मागरताई^{२७}, निठुरताई^{२८}, प्रभुताई^{२९}, सिद्धताई^{३०}, सीतलताई^{३१}, सुदरताई^{३२}, स्यामताई^{३३} आदि ।

२. सा. १७५२ ।	३. सा. ८५४ ।	४. सा. १६१८ ।	५. सा. २५२८ ।
६. सा. १-९७ ।	७. सा. १-४ ।	८. सा. २०९२ ।	९. सा. २५९८ ।
१०. सा. २०९२ ।	११. सा. ३७३९ ।	१२. सा. १०-१०९ ।	१३. सा. ९-४० ।
१४. सा. ९-१४ ।	१५. सा. ८-८ ।	१६. सा. १३९८ ।	१७. सा. २३०० ।
१८. सा. १-५१ ।	१९. सा. १-११ ।	२०. सा. ५-२ ।	२१. सा. २-२६ ।
२२. सा. ९. १४७ ।	२३. सा. १०९९ ।	२४. सा. ११३८ ।	२५. सा. १-१८७ ।
२६. सा. २३२६ ।	२७. सा. २८२६ ।	२८. सा. १३६३ ।	२९. सा. १-१९५ ।
३०. सा. ३७६१ ।	३१. सा. ३७५१ ।	३२. सा. १८३२ ।	३३. सा. २८२६ ।

इ. शब्द के प्रथम दीर्घाक्षर को लघु करके और 'आई' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—
'पूजा' से पुजाई^{३४} ।

ई. 'हार्द' प्रत्यय के सयोग से, जैसे—रिहार्द^{३५},

इनके अतिरिक्त घटनाई^{३६}, चानुरताई^{३७}, ससिताई^{३८} आदि स्वनिर्मित भाववाचक
मन्त्राञ्जा से पुनः वैसे ही नये रूप उन्होंने गढ़ लिये हैं जिनकी सत्ता अधिक नहीं है ।
इस प्रकार के शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हैं और गद्य में उनका प्रयोग
वर्जित है, परन्तु भ्रमोत्पादन न हाने के कारण ऐसे प्रयोगों को कवि स्वातन्त्र्य
का अङ्गत्वं ही मान लेना चाहिए ।

शब्दों के लिंग और सूर के प्रयोग—

पुल्लिङ्ग शब्दों से स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए सूरदास ने जिन-जिन नियमों का
सहारा लिया है, उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. अकारान्त पुल्लिङ्ग मन्त्राञ्जों के अन्तिम 'अ' का 'इनि' या 'इनी' में परिवर्तन
करके, जैसे—अस्व-अस्विनी^{३९}, गीघ-गीघिनी^{४०}, भिल्ल-भिल्लिनी^{४१}, भूजघ-भूजघिनी^{४२},
मृग-मृगिनी^{४३}, रंगरेज-रंगरेजिनी^{४४}, रसिक-रसिकिनी^{४५}, सुहाग-सुहागिनी^{४६}, सेवक
सेवकिनी^{४७} आदि ।

आ अकारान्त पुल्लिङ्ग मन्त्राञ्जों के अन्तिम 'अ' को दीर्घ करके, जैसे—तनय-तनवा^{४८},
नवल-नवला^{४९}, प्रिय-प्रिया^{५०}, स्वाम-स्वामी^{५१}, आदि ।

इ अकारान्त पुल्लिङ्ग मन्त्राञ्जों के अन्तिम 'अ' को 'ई' या 'ई' में परिवर्तित
करके—जैन—जहीर जहीरी^{५२}, विनोर विनोरी^{५३}, तख्त-तखति^{५४}, पल्लव-पल्लवी^{५५},
अमर-अमरी^{५६}, मृग-मृगी^{५७}, सहचर-सहचरी^{५८} आदि ।

ई. अकारान्त पुल्लिङ्ग मन्त्राञ्जों के अन्तिम 'अ' को 'आनि' या 'आनी' में परिवर्तित
करके, जैसे—इद्र इद्रानी^{५९} ।

उ. अकारान्त और इकारान्त पुल्लिङ्ग मन्त्राञ्जों के अन्त में अतिरिक्त 'नि' या 'नी'
जोड़कर, जैसे—अहि अहिनी^{६०}, घर-घरनि^{६१} ।

ऊ अकारान्त पुल्लिङ्ग मन्त्राञ्जों के अन्तिम 'आ' का 'ई' या 'ई' में परिवर्तन करके;
जैसे—वेरा-वेरी^{६२}, मयाता-मयानी^{६३} आदि ।

३४. सा. ८१८ । ३५. सा. २७१८ । ३६. सा. १८५८ । ३७. सा. २८२६ ।

३८. सा. २४३६ । ३९. सा. ९-३ । ४०. सा. २-१४ । ४१. सा. १-२१ ।

४२. सा. २-३२ । ४३. सा. १-२२१ । ४४. सा. २४८५ । ४५. सा. २४५९ ।

४६. सा. ९-४४ । ४७. सा. ३०९० । ४८. सा. १. २७ । ४९. सा. १८५९ ।

५०. सा. १-६५ । ५१. सा. १-८७ । ५२. सा. १९३१ ।

५३. सा. १९३१ । ५४. सा. १८१५ । ५५. सा. २६४८ ।

५६. सा. २३१५ । ५७. सा. १-२५१ । ५८. सा. २५२७ । ५९. सा. ७-७ ।

६०. सा. १८१४ । ६१. सा. १०-१०९ । ६२. सा. १-१६५ । ६३. सा. २८०२ ।

ऐ. आकारात् पुल्लिङ्ग संज्ञाओं के अंतिम 'आ' को 'इनि' या 'इनी' से परिवर्तित करके; जैसे—लरिका-लरिकिनी^{६४} ।

ऐ. ईकारात् पुल्लिङ्ग संज्ञाओं के अंतिम 'ई' को लघु करके और शब्दान्त में 'नि' या 'नी' जोड़कर, अथवा शब्दात् की 'ई' को 'इनि' या 'इनी' से परिवर्तित करके; जैसे—अधिकारी-अधिकारिनि^{६५}, अपराधी-अपराधिनि^{६६}, गेही-गेहिनी^{६७}, पापी-पापिनि^{६८}, बिलासो-बिलासिनि^{६९}, साहमी-साहसिनी^{७०}, सनेही-सनेहिनी^{७१}, स्वामी-स्वामिनि^{७२} या स्वामिनी^{७३}, लोभी-लोभिनी^{७४} ।

ओ. दो लघु अकारात् अक्षरों से बने पुल्लिङ्ग संज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर को दीर्घ करके और द्वितीय के 'अ' को 'इ' या 'ई' से परिवर्तित करके; जैसे—नर-नारि^{७५} या नारी^{७६} ।

ओ. दो से अधिक अक्षर वाले शब्द के प्रथम आकारात् अक्षर को लघु करके और अंत में 'आइनि' या 'आनी' जोड़कर; जैसे—ठाकुर-ठकुराइनि^{७७} या ठकुरानी^{७८} ।

नियमों के अन्वयाद्—पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग संज्ञा शब्द बनाने के लिए सूरदास ने जिन-जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें से मुख्य-मुख्य ऊपर दिये गये हैं । उनके काव्य का ध्यान से अध्ययन करने पर अनेक ऐसे प्रयोग भी मिल जाते हैं, जैसे—दूत-दूतिका^{७९}, बग-बगुली^{८०}, जिन पर उक्त नियम लागू नहीं होते । ऐसे प्रयोगों के लिए स्वतंत्र नियम बनाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती; क्योंकि ऐसे स्फुट उदाहरण बहुत कम मिलते हैं ।

लिंग-संबंधी विशेष प्रयोग—प्राणिवाचक संज्ञा शब्दों के लिंग-भेद का पता लगाने में तो कदाचित् कभी कठिनाई नहीं होती, परंतु अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग का निर्णय, भाषा का ज्ञान न रखनेवाले के लिए, कभी-कभी समस्या बन जाता है । ऐसी स्थिति में संबंधित सामान्य और सार्वनामिक विशेषण, संबंधकारकीय विभक्ति और क्रिया-प्रयोग से सहायता मिल सकती है । सूर-काव्य में कुछ ऐसे अप्राणिवाचक संज्ञा रूप भी मिलते हैं जो पुल्लिङ्ग शब्दों में लघुता-द्योतक प्रत्यय लगा कर स्त्रीलिङ्गवाची बना लिये गये हैं; जैसे—घनु-घनुही^{८१} या घनुहियाँ^{८२}, लकुटी-लुकुटियाँ^{८३} । इसी प्रकार सुंदरता, सुकुमारता या लघुता की दृष्टि से कुछ अप्राणिवाचक स्त्रीलिङ्ग शब्दों को पुनः अल्पायेंक बनाने का भी प्रयत्न कभी-कभी सूरदास ने किया है; जैसे—पनही-पनहियाँ^{८४} ।

लिंग-निर्णय में स्वतंत्रता—कुछ शब्दों के लिंग-निर्णय में सूरदास ने स्वतंत्रता से भी

६४. सा. ६७२ ।	६५. सा. १३४३ ।	६६. सा. २८२६ ।	६७. सा. ३१७९ ।
६८. सा. १-५३ ।	६९. सा. २८२६ ।	७०. सा. १३४० ।	७१. सा. १९६३ ।
७२. सा. ९-१५२ ।	७३. सा. २६६६ ।	७४. सा. २४०७ ।	
७५. सा. २२-९ ।	७६. सा. १-१५८ ।	७७. सा. ४०९४ ।	
७८. सा. ४२९१ ।	७९. सा. २४२३ ।	८०. सा. २-१४ ।	
८१. सा. ९-२० ।	८२. सा. ९-१९ ।	८३. सा. ८-१५ ।	८४. सा. ९-१९ ।

काम लिता है, जैसे—पुल्लिंग शब्द 'धीर' का उन्होंने स्त्रीलिंग रूप में भी प्रयोग कर दिया है, जैसे—भीर के परे तैं थीर सर्वाहन तजी^{८५} । परंतु ऐसे प्रयोग उनके काव्य में अधिक नहीं हैं और जहां हैं भी, वहां तुक-निर्वाह के लिए इनको स्वीकार किया गया है।

वचन और घूर के प्रयोग—

कभी-कभी जादर सूचित करने के लिए सूरदास ने एकवचन संज्ञा रूप का प्रयोग बहुवचन के समान किया है, जैसे—

१. अमूर—जबही रय अमूर बढे^{८६} ।
२. उधौ—आए हैं ब्रज के हित उधौ^{८७} । उधौ जोग सिखावन आए^{८८} ।
३. जझपुरुष—जझपुरुष प्रसन्न तब भए^{८९} ।
४. द्विज वामन—द्वारे ठाढ़े हैं द्विज वामन^{९०} ।
५. ध्रुव—ध्रुव खेलत खेलत तहें आए^{९१} ।
६. पाढ़े—आए जोग सिखावन पाढ़े^{९२} ।
७. प्रभु—सूरदास प्रभु वैं अति खांटे^{९३} ।
८. मनमोहन—रौ वैं मनमोहन ठाढ़े ब्रजनाथक सुनि सजनी^{९४} ।
९. सुफलक-सुत—प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत लैं भधुपुरहि सिधारे^{९५} ।
१०. हरि—हरि बँकुठ सिधारे^{९६} ।
११. हिरनसिप—हिरनसिप निज भवन सिधाए^{९७} ।

अनेक स्थलों पर शब्द के एकवचन रूप के पूर्व निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट संख्यावक विशेषणों का प्रयोग करते सूरदास ने उनका बहुवचन की तरह प्रयोग किया है; जैसे—

१. असुर—असुर हैं हुते बलवत भारी^{९८} ।
२. आभरन—रात्रि सव आभरन राज लागे करन^{९९} ।
३. उद्यम—भरन भूलि, जीवन फिर जान्यो, बहु उद्यम जिय धारयो^{१००} ।
४. कला—ग्यों बहु कला काछि दिसावैं लोभ न छूटत नट कै^{१०१} ।
५. चरित—सूर प्रभु चरित अगनिन, न गनि जाहि^{१०२} ।
६. जझ—निम्नान्त्रे जझ जब किये^{१०३} ।
७. जन्म—बहुत जन्म इहि बहु भ्रम कीन्ह्यो^{१०४} ।
८. जिय—अपनी पिंड पोखिबे कारन कोटि सहस्र जिय मारे^{१०५} ।

८५. सा. १-५ ।

८६. सा. २९९२ ।

८७. सा. ३५९० ।

८८. सा. ३६०१ ।

८९. सा. ४-५ ।

९०. सा. ८-१३ ।

९१. सा. ४-९ ।

९२. सा. ३६०४ ।

९३. सा. २९०१ ।

९४. सा. २८०० । ९५. सा. ३५९४ ।

९६. सा. १-२९० ।

९७. सा. ७-२ ।

९८. सा. ८-११ । ९९. सा. ४-११ ।

१. सा. १-३३६ ।

२. सा. १-२९२ ।

३. सा. ४-११ । ४. सा. ८-१२ ।

५. सा. ४-१२ ।

६. सा. १-३३४ ।

९. जीव—तहाँ जीव नाना संहरे^१ ।
 १०. जुग—जनमत-मरत बहुत जुग बीते^२ ।
 ११. जोनि—चौरासी लख जोनि स्वांग धरि भ्रमि भ्रमि जमहि हँसावे^३ ।
 ११. तपसी—बहुतक तपसी पचि पचि मुए^{१०} ।
 १३. तीरथ—कौन कौन तीरथ फिरि आए^{११} ।
 १४. दुख—इनि तव राज बहुत दुख पाए^{१२} ।
 १५. द्वार—सुरति के दस द्वार रूँधे^{१३} ।
 १६. द्वीप—सातौ द्वीप राज ध्रुव कियो^{१४} ।
 १७. पदारथ—चारि पदारथ के प्रभु दाता^{१५} ।
 १८. पुत्र—इनके पुत्र एक सौ मुए^{१६} ।
 १९. वृत्तांत—नृप को सब वृत्तांत सुनाए^{१७} ।
 २०. सती—सती कह्यो, मम भगिनी सात^{१८} ।

बहुवचन बनाने के नियम—अवधी में तो प्रायः कारक-चिह्न लगने पर ही वचन-रूप-परिवर्तन की आवश्यकता होती है, परन्तु ब्रजभाषा में प्रायः सभी स्थितियों में एक वचनात्मक शब्दों के बहुवचन रूप बनाये जाते हैं। सूरदास ने इस कार्य के लिए जिन-जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—

अ. अकारांत स्त्रीलिंग शब्द का अंत्य स्वर ऐं या औं से परिवर्तित करके; जैसे—
 कुंज मा-कुंज^{१९}, छाक-छाक (घर घर तै छाकै चली)^{२०}, बात-बात^{२१}, सेज सेज^{२२} ।

आ. अकारांत या इकारांत एकवचन शब्दों के अंत में 'नि' जोड़कर। ब्रजभाषा में 'नि' कारक-चिह्न भी है; अतएव सभी 'नि'-अंत शब्द बहुवचन नहीं होते। प्रायः ऐसे शब्दों के साथ स्वतंत्र विभक्तिचिह्न भी प्रयुक्त हुआ है। जिन शब्दों में कवि ने 'नि' बहुवचन बनाने के लिए जोड़ा है, उनके कुछ उदाहरण, पूरी पंक्ति के रूप में, यहाँ उद्धृत हैं जिससे स्पष्ट हो जाय कि इनका 'नि' कारकीय चिह्न नहीं है—

१. ग्वालनि—टेरत कान्ह गए ग्वालनि कौं सवन परी घुनि आई^{२३} ।
 २. नरनि—बिन तुम्हारी कृपा गति नहीं नरनि की, जानि मोहि आपनी कृपा कीज^{२४} ।
 ३. नैननि—नैननि सौं शगरो करिहों रो^{२५} ।
 ४. विमाननि—देखत मुदित चरित सब सुर व्योम विमाननि भीर^{२६} ।

७. सा. ४-१२ ।

८. सा. १-३१७ ।

९. सा. २-१३ ।

१०. सा. ४-९ ।

११. सा. १-२८४ ।

१२. सा. १-२८४ ।

१३. सा. १-३१६ ।

१४. सा. ४-९ ।

१५. सा. २-१६ ।

१६. सा. १-२८४ ।

१७. सा. १-२८४ ।

१८. सा. ४-५ ।

१९. सा. ४०६८ ।

२०. सा. ४९२ ।

२१. सा. ४४११ ।

२२. सा. ३८४७ ।

२३. सा. १९५९ ।

२४. सा. ८-१६ ।

२५. सा. २३१९ ।

२६. सा. ९-२६ ।

५. भिल्लनि—तहें भिल्लनि सौ भई लराई^{३७} ।

६. रिपिनि—तहाँ रिपिनि को दरसन पायो^{३८} ।

७. सुरनि—सुरनि काँ अमृत दीन्ह्यो पियाई^{३९} ।

इ. कुछ अकारात और इकारात एक-वचन शब्दों के अंत में 'न' जोड़कर^{३७}; जैसे—गाँव-गाँवन^{३९}, ग्वाल-ग्वालन^{३८}, नारि-नारिन^{३९}, बालक-बालवन^{३८}, सेनापति-सेनापतिन^{३९} ।

ई. कुछ आकारात और ईकारात शब्दों के अंत में 'न' या 'नि' जोड़ने के पहले अंत्य दीर्घ स्वर को लघु करके^{३८}, जैसे—अवला-अवलनि^{३९}, गैया-गैयनि^{३८}, जुवती-जुवतिनि^{३९}, ब्रजवासी-ब्रजवासिनि^{४०}, युवती-युवतिनि^{४१}, लरिका-लरिकनि^{४२} ।

उ. कुछ आकारात शब्दों के अंतिम आ को ए में परिवर्तित करके, जैसे—चेरा-चेरे^{४३}, तारा-तारे^{४४}, नाता-नाते^{४५} आदि ।

ऊ. कुछ इकारात सज्ञाओं के अंत में 'यो' जोड़कर, जैसे—अलि-अलियाँ^{४६} ।

ए. कुछ ईकारात सज्ञाओं के अंत्य स्वर को ह्रस्व करके और 'या' जोड़कर; जैसे—अँगुरी-अँगुरियाँ^{४७}, कली-कलियाँ^{४८}, गली-गलियाँ^{४९}, रेंगरनी-रेंगरलियाँ^{५०} ।

ऐ. कुछ शब्दों में केवल अनुस्वार या चंद्रविंदु लगाकर ही सूरदास ने बहुवचन रूप बना लिये हैं, जैसे—चिरिया-धिरियाँ^{५१}, जुवती-जुवनी^{५२}, तहनी-तहनी^{५३}, बहुरिया-बहुरियाँ^{५४} आदि । कभी-कभी एकवचन सज्ञा शब्द को तो मूल रूप में ही सूरदास ने रहने दिया है; परन्तु क्रिया शब्द को अनुस्वार या चंद्रविंदु जोड़कर बहुवचन बना लिया है, जैसे—जल भीतर सब गड्ढे कुमारी^{५५} । तीर आइ जुवती भई ठाढ़ी^{५६} । इतनी कष्ट करें सुकुमारी^{५७} ।

वही वही एकवचन सज्ञा शब्द के साथ केवल आदर सूचित करने के लिए अनुस्वार या चंद्रविंदुयुक्त बहुवचन क्रिया का प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—यह देखति हैसि उठी जसोदा^{५८} ।

२७. सा. १-२८६ ।

२८. सा. १-२२८ ।

२९. सा. ८-८ ।

३०. 'सना' के 'सूरसागर' में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं; क्योंकि 'न' का काम उसके संपादक ने प्रायः 'नि' से लिया है—लेखक ।

३१. सा. ८-१३ । ३२. सा. बेंनी. १०-२३७ । ३३. सा. २८५१ । ३४. सा. ३२१६ ।

३५. सा. बेंनी. १०-५१ । ३६. सा. २३९६ । ३७. सा. २४७९ । ३८. सा. २-२९ ।

३९. सा. २६२० । ४०. सा. ७९९ । ४१. सा. २६२० । ४२. सा. २६२० ।

४३. सा. २६२० ।

४४. 'न' और 'नि' के साथ साथ कुछ कवियों ने 'न्ह' और 'न्हि' का प्रयोग भी किया है । 'सना' के 'सूरसागर' में ऐसे उदाहरण भी नहीं हैं—लेखक ।

४५. सा. ३५९७ । ४६. सा. ६८० । ४७. सा. ९-२५ । ४८. सा. २९६९ ।

४९. सा. बेंनी. १०९८ । ५०. सा. २९६९ । ५१. सा. २५१४ । ५२. सा. ७९९ ।

५३. सा. ७९३ ।

५४. सा. ७९९ ।

५५. सा. ७९९ ।

५६. सा. ७९९ ।

५७. सा. ७९९ ।

५८. सा. ७९९ ।

ओ. कुछ एकवचन शब्दों के साथ अनी, अवलि या अवली, गन (=गण), जन, जाति, निकर, पुंज, वृंद, सकुल, समाज, समूह आदि जोड़कर उन्होंने बहुवचन रूप बनाये हैं; जैसे—

१. अनी—सुर तर असुर-अनी^{५९} ।
२. अवलि, अवली—मुक्तावलि^{६०}, रोमावलि^{६१} ।
३. कदंब—दुख-कदंब^{६२} ।
४. गन—अमर मुनिगन^{६३}, किरनिगन^{६४}, जाचकगन^{६५}, द्विजगन^{६६}, मुकुतागन^{६७} ।
५. ग्राम—गुन-ग्राम^{६८} ।
६. जन—कविजन^{६९}, गुनीजन^{७०}, गोपीजन^{७१}, वदीजन^{७२}, द्विज-गुरु-जन^{७३} ।
७. जाल, जाला—कमल-जाल^{७४}, जंजाल-जाल^{७५}, दधि-बिंदु-जाल^{७६}, नग-जाला^{७७}, वनिता-जाल^{७८}, सखी-जाल^{७९}, सर-जाल^{८०}, सुक-जाल^{८१} ।
८. जूथ—मृग-जूथ^{८२} ।
९. निकर—सग-निकर^{८३}, नारि-निकर^{८४} ।
१०. पुंज—कुज-पुंज^{८५}, सिसु-पुंज^{८६} ।
११. प्रपुंज—प्रपुंज-चचरीक^{८७} ।
१२. वृंद—कुमुद-वृंद^{८८}, जुवति-वृंद^{८९}, सुरभी-वृंद^{९०}, सुत-वृंद^{९१} ।
१३. माल, माला—असु-माल^{९२}, अलि-माल^{९३}, भृंग-माल^{९४}, मृग-माला^{९५} ।
१४. लोग—तपसी-लोग^{९६}, बदाऊ-लोग^{९७} ।
१५. समूह—समूह-तारे^{९८} ।
१६. खेनी—सुक-खेनी^{९९} ।

सूरदास के वचन-सबधी प्रयोगों के विषय में एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि उन्होंने कपोल, कुच, केस, चरन, चिकुर, दांत (दैंतियाँ) दंपति, नैन, पाई, पौरुष, प्राण, लोग, समाचार आदि शब्दों और उनके पर्यायवाचियों का प्रयोग प्रायः बहुवचन में ही किया है; जैसे—

- | | | | |
|------------------|------------------|-----------------|------------------|
| ५९. सा. २-२८ । | ६०. सा. २४४६ । | ६१. सा. २६१० । | ६२. १०-२०५ । |
| ६३. सा. ९-१७२ । | ६४. सा. १३८२ । | ६५. सा. १०-३१ । | ६६. सा. ९-१६९ । |
| ६७. सा. १८३२ । | ६८. सा. ९-१७० । | ६९. सा. ३५७२ । | ७०. सा. ४-११ । |
| ७१. सा. १-१२१ । | ७२. सा. १०-१४ । | ७३. सा. १०-२४ । | ७४. सा. ६१३ । |
| ७५. सा. १०-२०५ । | ७६. सा. १०-२७५ । | ७७. सा. ६२५ । | ७८. सा. १०५० । |
| ७९. सा. २८५८ । | ८०. सा. १-२७८ । | ८१. सा. ६२७ । | ८२. सा. ६२० । |
| ८३. सा. १०-२०५ । | ८४. सा. ६२५ । | ८५. सा. १०-३४ । | ८६. सा. १३८० । |
| ८७. सा. १०-२०५ । | ८८. सा. १०-२०२ । | ८९. सा. २०२३ । | ९०. सा. ३८४ । |
| ९१. सा. १०-२०५ । | ९२. सा. ६१९ । | ९३. सा. १२१६ । | ९४. १२१२ । |
| ९५. सा. २९४४ । | ९६. सा. ९-१७४ । | ९७. सा. ३७६५ । | ९८. सा. १०-२०५ । |
| ९९. सा. १०४९ । | | | |

कपोल—सुन्दर चारु कपोल विराजत^१ ।

कुच—कचुकी भूपन वदच सजि कुच कसे रनबीर^२ ।

केस—कछुव कुटिल कमनीय सघन अति गोरज भडित केस^३ ।

चरन—जाजु देखौ वं चरन^४ ।

चिहुर—स्याम चिहुर भए सेत^५ ।

धनु—जानंद मगन धेनु सवै धनु^६ ।

दैतियों—हरपित देखि दूष की दैतियों^७ ।

दूषति—दूषति बात कहत आपुन में^८ ।

नैन—अति रस लपट नैन भए^९ ।

पाई—प्रथम भरत बंठाइ वधु को, यह कहि पाई परे^{१०} ।

पौरुष—जिह्वा रोम रोम प्रति नाही, पौरुष गनों तुम्हारे^{११} ।

प्राण—हरि के देखत तजै परान (प्राण)^{१२} । स्याम गएँ सखि प्राण रहेंगे^{१३} ।

लोग—ब्याकुल भए ब्रज के लोग^{१४} । सब छोटे मधुवन के लोग^{१५} ।

समाचार—पूछे समाचार सति भाए^{१६} ।

यदि उक्त शब्दों जयदा इसी प्रकार के अन्य शब्दों का प्रयोग कवि को एकवचन में कभी करना होता है तो तद्विवक्षक कोई संकेत उसने अवश्य कर दिया है; जैसे—वाम-श्रिया फरति रही^{१७} । अपनी गरज को तुम एक षोड नाचे^{१८} ।

सहचर शब्दों के वचन—जो सहचर शब्द साधारणतः एकवचन रूप में होते हैं, उनका प्रयोग सूरदास ने दाना वचनों में किया है। कुछ सहचर शब्दों के एकवचन प्रयोग यहाँ दिये जाते हैं—

छेम-कुमल—छेम-कुमल अरु दीनता दडवन नुनाई^{१९} ।

धन-धाम—सोइ धन-धाम नाम सोइ कूल सोइ जिहि बिडयो^{२०} ।

मैं-मेरी—मैं-मेरी अब रही न मेरी, छुट्यो देह अनिमान^{२१} ।

राज-राट—राज-राट सिंहासन बैठी नीन पदुम हूँ सौं कहै धोरी^{२२} ।

सर-श्रवसर—नूप मिनुपाल महा पद पायो सर-श्रवसर नहि जान्यो^{२३} ।

परन्तु कुछ स्थलों पर एकवचन शब्दों के समुक्त सहचर रूपों का सूरदास ने बहुवचन में भी प्रयोग किया है, जैसे—

१. सा. ४७३ ।	२. सा. २४४९ ।	३. सा. ४७८ ।	४. सा. २९४८ ।
५. सा. १.३२२ ।	६. सा. १०-३० ।	७. सा. १०-८२ ।	८. सा. ५१९ ।
९. सा. २३७५ ।	१०. सा. ९-१७१ ।	११. सा. ९-१४७ ।	१२. सा. १.२८० ।
१३. सा. २९६४ ।	१४. सा. २९५८ ।	१५. सा. ३५९० ।	१६. सा. १.२८४ ।
१७. सा. २७८७ ।	१८. सा. २५४९ ।	१९. सा. १.२३८ ।	२०. सा. १.२९८ ।
२१. सा. २-३३ ।	२२. सा. १-३०२ ।	२३. सा. १-१५८ ।	

असन-वसन—असन-वसन बहु विधि चाहै^{२४} ।

खान-पान—तब धौ कौन साथ रहि तेरै खान-पान पहुँचाए^{२५} ।

मह-नछत्र—मह-नछत्र सबही फिरै^{२६} ।

थावर-जंगम—थावर-जंगम सुर असुर रचे सबै मैं आइ^{२७} ।

द्रुम-वृन—ज्यों सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम-वृन सूँधि फिरयो^{२८} ।

भाई-बंधु—भाई-बंधु कुटुब सहोदर, सब मिलि यहै विचारयो^{२९} ।

सम-दम—सम-दम उनही सग सिधारे^{३०} ।

वचन-संबंधी खटकनेवाले कुछ प्रयोग—व्याकरण की दृष्टि से वचन-संबंधी बहुत कम भूलें कवियों ने की है। सूर-काव्य में भी बहुत खोजने पर ही एकाध भूल दिखायी पड़ सकती है। हाँ, दो-एक पक्तियों में बहुवचन में ही प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्दों के साथ दो या अधिक संख्यासूचक शब्द का अनावश्यक प्रयोग अवश्य किया गया है; जैसे—जुगल जघनि^{३१} । उमंगे दोऊ नैन^{३२} । दोऊ नैन^{३३} ।

इसी प्रकार किसी शब्द के बहुवचन रूप के साथ पुन. समूहवाचक शब्द का योग—जैसे मधुपति की माल^{३४}—भी दोष-युक्त है। कुछ प्रयोगों के साथ समूहवाचक दोहरे शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है जो खटकता है; जैसे—मुनि-जन-गन^{३५} ।

संज्ञाओं के कारकीय प्रयोग—

रूप-रचना की दृष्टि से सूर-काव्य में प्रयुक्त संज्ञा शब्दों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—मूल रूप और विकृत रूप। दोनों लिंगों और दोनों वचनों के आधार पर इनकी संख्या आठ हो जाती है। इन आठों रूपों का प्रयोग सभी कारकों में समान रूप से सूरदास ने नहीं किया है। अतएव प्रत्येक कारक के अतर्गत केवल प्रमुख रूपों के ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

हिंदी में आठ कारक होते हैं^{३६}। व्रजभाषा में कारकों की यही सख्या है। इनके नाम और हिंदी तथा व्रजभाषिक मुख्यकारक चिह्न, परसर्ग^{३७} या विभक्तियाँ और उनके अन्य विकृत रूप इस प्रकार हैं—

२४. सा. ३-१३ । २५. सा. १-३२० । २६. सा. ४-९ । २७. सा. २-३६ ।
२८. सा. २-२६ । २९. सा. १-३३६ । ३०. सा. १-२९० । ३१. सा. १०-२३४ ।
३२. सा. १-२४७ । ३३. सा. ७४९ । ३४. सा. १०-२०७ । ३५. सा. ११५४ ।

३६. संस्कृत में छः कारक—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण—तथा सात विभक्तियाँ—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी—होती हैं। संबंधकारक का संबंध क्रिया से न होने के कारण उसकी गणना संस्कृत-कारकों में नहीं की जाती—लेखक।

३७. डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने 'व्याकरण' में 'कारकचिह्नों' के लिए 'परसर्ग' शब्द का प्रयोग किया है ('व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ११६) और 'इतिहास' में 'कारकचिह्न' ('हिंदी भाषा का इतिहास', पृ० २६४); परंतु पं० कामता प्रसाद गुप्त ने

कारक	हिंदी-विभक्ति	व्रजभाषा-विभक्ति
कर्ता	ने	ने, ने, नै
कर्म	का	हुँ, कूँ ^{३८} , को, को, को, को
करण	से	तँ, ते, तै, पर, पै, पै, चुं, सँती, सों, सों
संप्रदान	का	हुँ, कूँ, कों, को, को, को
अपादान	से	तँ, ते, तै, सों, सों
संबध	का, के, की	कि, को, के, के, कै, कै, को, को, को
अधिकरण	म, पर	पर, पै, मँझार, महियाँ, नहें, नाँझ, नाहि, नाहीं, मे, मे, मे
संबोधन	आ, अजी, अरे, अहा, हे	अरे, अहो, री, रे, रे ।

सूरदास ने सर्वत्र कारकों के साथ उनके चिह्नो या विभक्तियों का प्रयोग नहीं किया है और कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि इनके प्रयोग से वे जान-बूझ कर बचते रहे हैं । इस दृष्टि से विभक्ति-रहित और विभक्ति-सहित, दोनों प्रकार के प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं और कर्ता-जैसे दो-एक कारको में तो प्रथम की प्रधानता दिखायी देती है ।

कर्तारकारक—इसकी विभक्ति ने, ने या नै है जो प्रायः सर्वत्र किया के भूतकाल, कर्मवाच्य और भाववाच्य रूप में प्रयुक्त होने पर कर्तारकारक में लाती है । गद्य में इसका प्रयोग जितना अधिक होता है, पद्य में उतना ही कम । नमो द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में तो कदाचिन् केवल दो स्थानों पर इसका प्रयोग किया गया है । पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग सत्ता शब्द के, एक और बहुवचन में प्रयुक्त होनेवाले मूल और विवृत रूपों का प्रयोग सूरदास ने इन विभक्तियों से रहित रूप में ही किया है, जैसे—

क. पुल्लिङ्ग एकवचन मूल रूप—लक्ष्मण को अनुज सोसनायी^{३९} । सेवक बूझि परं रन भीतर ठाकुर तउ घर आवं^{४०} । तब रिपि तासों कहि समुझायो^{४१} ।

ख. पुल्लिङ्ग बहुवचन मूल रूप—उठे कपि भालु ततकाल जं जं करत, अमुर नए नुल रघुवर निहारे^{४२} । ग्वान बजावत तारो^{४३} । मुरनर मुनि सब नुजस बखानत^{४४} ।

ग. पुल्लिङ्ग एकवचन निवृत्त रूप—नाकी माता खाई चारै (बाला करं)^{४५} । नकटै (नकटानुर) गवं बढायो^{४६} ।

'विभक्तियों' का ('हिंदी व्याकरण', पृ० २७९) । प्रस्तुत प्रबंध में सर्वत्र पुराने शब्द 'विभक्ति' या 'कारकचिह्न' का ही प्रयोग किया किया गया है—लेखक ।

३८. बोलचाल की भाषा में कर्मकारकोय चिह्न के रूप में 'हुँ' और 'हुँ' का प्रयोग अधिक होता है । यही साहित्यिक भाषा में 'कों', 'को' या 'कों' हो गया है, जो बोलचाल की भाषा में भी प्रयुक्त होता है—लेखक ।

३९. सा. ९-१११ । ४०. सा. ९-१५५ । ४१. सा. ९-१७३ । ४२. सा. १६३ । ४३. सा. १०-४ । ४४. सा. ९-१५९ । ४५. सा. ७-८ । ४६. सा. १०-६१ ।

घ. पुल्लिंग बहुवचन विकृत रूप—असुरनि मिलि यह कियो बिचार^{४७} । देवनि दिवि दुंदभी बजाई^{४८} । सगर सुतनि तब नृप सौं भाज्यौ^{४९} ।

ङ. स्त्रीलिंग एक वचन मूलरूप—संकर को मन हरयो कामिनी^{५०} । बंछी जननि करति सगुनोती^{५१} । अद्भुत रूप नारि इक आई^{५२} । जैसे मीन जाल मे क्रीड़त^{५३} ।

च. स्त्रीलिंग बहुवचन मूल रूप—उमोंगि मिलनि जननी दोउ आई^{५४} । ता सेंग दासी गई अपार^{५५} । सुनि धाई सब ब्रजनारि सहज सिंगार किये^{५६} ।

ज. स्त्रीलिंग बहुवचन विकृत रूप—जुवतिनि भगल गाथा गाई^{५७} ।

ऊपर के उदाहरण केवल कर्ताकारक मे विभिन्न सज्ञा-रूपों के प्रयोग की दृष्टि से दिये गये हैं, विभक्ति-रहित प्रयोग की दृष्टि से नहीं । विभक्तियों की दृष्टि से देखा जाय तो पुल्लिंग एकवचन विकृत रूप के अतर्गत दिये गये 'ताको माता खाई करै' और 'सकटै गर्ब बढ़ायौ' वाक्यों मे कर्ताकारक के रूप मे प्रयुक्त करै और सकटै मे संयुक्त 'ऐ' को एक प्रकार से विभक्ति रूप ही स्वीकारना होगा जिससे मूल सज्ञा रूप विकृत हो गया है । हाँ, उक्त उदाहरणों से एक बात यह अवश्य ज्ञात होती है कि, नै, नै या नै, तीनों मे से किसी कर्ताकारकीय विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने नहीं किया है । 'सूरसागर' के केवल दो वाक्यों में यह विभक्ति दिखायी देती है—

१. दियो सिरपाव नृपराय नै महर को आपु पहिरावने सब दिखाए^{५८},

२. तहाँ ताहि बिपहर नै खाई, गिरी घरनि उहि ठौर^{५९} ।

इसी प्रकार 'सारावली' में भी एक वाक्य मे वह विभक्ति प्रयुक्त हुई है—

भोजन समय जानि अशुभति ने लीने दुहुँन बुलाय^{६०} ।

अतएव निष्कर्ष यही निकलता है कि कर्ताकारकीय विभक्ति नै, न या नै का प्रयोग सूर-काव्य में अपवाद-स्वरूप ही मिलता है ।

कर्मकारक—ब्रजभाषा मे कर्मकारक की मुख्य विभक्तियाँ कुँ, कूँ, कोँ, को. को^{६१} हैं । मभा के 'सूरसागर' मे, इन विभक्तियों मे से केवल कोँ का ही प्रयोग अधिक मिलता है । इसके अतिरिक्त 'हि' के योग से भी अनेक कर्मकारकीय रूप बनाये गये हैं और इनसे रहित कर्मकारकीय प्रयोगों की संख्या भी पर्याप्त है ।

४७. सा. ९-१७३ । ४८. सा. ९-१६९ । ४९. सा. ९-९ । ५०. सा. १-४३ ।

५१. सा. ९-१६४ । ५२. सा. १०-५३ । ५३. सा. १०-४ । ५४. सा. ९-१६९ ।

५५. सा. ९-१७४ । ५६. सा. १०-२४ । ५७. सा. ९-१६९ । ५८. सा. ५८७ ।

५९. सा. ७५६ । ६०. सारा० ९०६ ।

६१. ब्रजभाषा में 'कुँ' के साथ 'कोँ' और 'को', तीनों रूप प्रचलित हैं । सूरदास के समकालीन कवियों ने प्रायः 'कूँ' नहीं लिखा है, चौबों को भाषा में 'कोँ' बोला जाता है और अन्य लोग 'कोँ' बोलते हैं । मयूरा में अंतिम दोनों प्रयोग चलते हैं—लेखक ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—सना शब्दों के आठ रूपों में से जिनके विभक्तिरहित प्रयोग 'सूरसागर' में आदि से अंत तक मिलते हैं, केवल उन्हीं के उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

अ पुल्लिङ्ग एकवचन मूलरूप—हौं चाहनि गर्भ दुरायो^{६२} । लक्ष्मिन सीता देखी जाई^{६३} । कच्छप को तिय सूरज जायो^{६४} ।

आ पुल्लिङ्ग बहुवचन मूलरूप—तिन अमिय भंडार खोले^{६५} । बहु बिधि ब्योम कुमुम सुर बरसत^{६६} । साठ सहस्र सगर के पुत्र कीने सुरसरि तुरत पवित्र^{६७} ।

इ स्त्रीलिङ्ग एकवचन मूल रूप—आरति साजि सुमित्रा ल्यायी^{६८} । रिपि सत्रोष इक जटा उपारी^{६९} । तब रिपि यह पानी उच्चरी^{७०} । तुव पितु भिन्डा खान^{७१} ।

अन्य रूपा—पुल्लिङ्ग एक और बहुवचन विकृत रूप, स्त्रीलिङ्ग बहुवचन मूल, एक और बहुवचन विकृत—के उदाहरण मिलते ही न हों, सो बात नहीं है, परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। इनके भी दो एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—
तैं दासिनि फुलवाटी गई^{७२} । जो यह सजीचनि पढि-जाइ । तो हम सप्रति लेइ विवाइ^{७३} ।

ख 'कौं' विभक्तिसहित प्रयोग—कर्मकारक की इस विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने स्वतंत्रता से किया है, जैसे—असुर कच कौं मारयो^{७४} । प्रथम भरत बैठाइ बधु कौं यह कहि पाइ परे^{७५} । रिपभदेव जब जन कौं गए^{७६} । मम मेंढ़नि कौं लें गयो कोई^{७७} ।

ग 'हिं' सहित प्रयोग—सूरदास के कर्मकारकीय प्रयोगों में 'हिं' का प्रयोग बहुत मिलता है ; जैसे—महादुष्ट लैं उडवी गुपालहिं^{७८} । त्यों ये मुकृत धनहिं परिहरै^{७९} । सक्र क्रोध करि नगरहिं त्याग्यो^{८०} । देखी ता पुरगहिं तुम नोइ^{८१} । चलनपाम तैं ब्रजपतिहिं छन माहि छुडावै^{८२} । तब हंसि कहति जसोदा ऐसैं महरहिं लेउ बुलाय^{८३} । दियो दानवनि रिपिहिं पिवाइ^{८४} ।

घ. विभक्ति-आभास युक्त प्रयोग—सूर-काव्य में ऐसे भी अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनमें यद्यपि कर्मकारकीय कोई विभक्ति अलग से नहीं जोड़ी गयी है, परन्तु जिनके

६२. सा. १०-४ । ६३. सा. ९-१६१ । ६४. सा. ९-२ । ६५. सा. ९-१६३ ।

६६. सा. १०-४ । ६७. सा. ९-९ । ६८. सा. ९-१६९ । ६९. सा. ९-५ ।

७०. सा. ९-१७४ । ७१. सा. ९-१७४ । ७२. सा. ९-१७४ । ७३. सा. ९-१७३ ।

७४. सा. ९-१७३ । ७५. सा. ९-१७१ । ७६. सा. ५-३ । ७७. सा. ९-२ ।

७८ 'हिं' की गणना स्वतंत्र विभक्तियों में नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि विभक्तियों के विपरीत, 'हिं' सर्व शब्दों में सयुक्त रहती है । इसे सुविधा के लिए 'विभक्ति-प्रत्यय' कहना उपयुक्त होगा—लेखक ।

७९. सा. १०-७८ । ८०. सा. ५-४ । ८१. सा. ९-१७४ । ८२. सा. ९-२ ।

८३. सा. १-४ । ८४. सा. १०-२४ । ८५. सा. ९-१७२ ।

विकृत रूप विभक्तिसयुक्त होने का आभास देते हैं; जैसे—आपु गई कछु काज घरैं^{८६} ।
तो हू धरं न मन मैं जानैं^{८७} । भेट्यो सबै दुराजैं^{८८} । खवन सुनत न महर वातैं जहाँ
तहें गइ चहरि^{८९} । ज्यों जमुना जल छाँड़ि सूर प्रभु लोन्हें बसन तजी कुल लाजैं^{९०} ।
तेरे सब संदेहैं दहों^{९१} । प्रगट पाप सताप सूर अब कायर हूँ गहों^{९२} ।

ड. द्विकर्मक प्रयोगों में विभक्ति का संयोग—कुछ क्रियाओं को एक कर्म की आवश्यकता होती है और कुछ को दो की । 'लछिमन सीता देखी जाइ'^{९३} में 'देखी' क्रिया के साथ एक ही कर्म 'सीता' है; और 'आजु जो हरिहि न सस्त्र गहाऊँ'^{९४} में 'हरिहि' और 'सस्त्र' दो कर्म 'गहाऊँ' क्रिया के हैं जिनमें प्रथम अर्थात् 'हरिहि' गौण कर्म है और द्वितीय अर्थात् 'सस्त्र' मुख्य कर्म । एक कर्मवाली क्रियाओं के कर्मकारकोम शब्द में, जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, कभी विभक्ति लगती है, कभी नहीं भी लगती है; परंतु द्विकर्मक क्रियाओं के दोनों कर्मों में से यदि किसी में सूरदास ने विभक्ति लगायी है, तो वह साधारणतः गौण कर्म में ही, जैसे— सजीवनि तब कचहि पढ़ाई^{९५} ।

इस वाक्य में कर्त्ता 'सक' लुप्त है; 'सजीवनि' मुख्य कर्म है जिसमें कोई विभक्ति नहीं लगी है और 'कचहि' गौण कर्म है जिसमें विभक्ति-प्रत्यय 'हि' सयुक्त है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी गौण कर्म 'वृत्रासुर' में 'कों' विभक्ति लगी है और मुख्य कर्म 'बज्र' विभक्ति-रहित है; कर्त्ता 'इद्र' लुप्त है—वृत्रासुर को बज्र प्रहारधो^{९६} ।

कही कही सूरदास ने द्विकर्मक क्रियाओं के ऐसे प्रयोग भी किये हैं जिनमें मुख्य और गौण, दोनों कर्म विभक्ति-रहित हैं; जैसे—

सूर सुमित्रा अंक दीजियो, कोसिल्याहि प्रनाम हमारो^{९७} ।

यह वाक्य श्रीराम का लक्ष्मण के प्रति है जिसमें कर्त्ता लुप्त है । इस वाक्य में दो उपवाक्य हैं—क. सुमित्रा अंक दीजियो । ख. कोसिल्याहि प्रनाम हमारो (दीजियो) । दोनों उपवाक्यों के मुख्य कर्म 'अंक' और 'प्रनाम' तो विभक्ति-रहित हैं ही, द्वितीय के गौण कर्म 'कोसिल्याहि' में विभक्तिप्रत्यय 'हि' सयुक्त है, परंतु प्रथम का गौण कर्म 'सुमित्रा' विभक्ति-रहित है । संभव है, 'दीजियो' क्रिया के कारण इस वाक्य में 'सुमित्रा' और 'कोसिल्याहि' को संप्रदानकारकीय रूप कुछ लोग मानें; परंतु वस्तुतः यहाँ 'दीजियो' क्रिया 'करियो' या 'कहियो' के अर्थ में है, साधारण 'देने' के अर्थ में नहीं ।

च. कर्मकारक में प्रयुक्त अन्य विभक्तियाँ— यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है । प० किशोरीदास बाजपेयी ने 'सूरदास स्वामी सो कहियो अब विरमियो नहीं' और 'सूरदास प्रभु दीन बचन यों हनूमान सो भाखैं' वाक्यों में, क्रमशः 'स्वामी' और 'हनूमान' को गौणकर्म मानकर और इनके साथ 'सो' विभक्ति देखकर इस विभक्ति 'सो'

का भी कर्मकारक में प्रयुक्त होना माना है^{१८} । वाजपेयी जी का यह कथन संभवतः सस्मृत व्याकरण के आधार पर है । हिंदी में तो प० कामताप्रसाद गुह ने ऐसे प्रयोगों को करणकारक के अंतर्गत माना है और हिंदी की प्रवृत्ति के अनुसार यही उचित भी जान पड़ता है । हाँ, एक पद में अधिकरण कारक की विभक्ति 'पर' का प्रयोग सूरदास ने अवश्य कर्मकारक में किया है, जैसे—

मेरी मन अनत कहां सुख पावै ।

जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै^{१९} ।

इस वाक्य में 'पर' विभक्ति की ध्वनि 'को' के अर्थ की ओर अधिक है । इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में अधिकरणकारकीय विभक्ति 'माही' में भी कर्मकारकीय 'को' की ध्वनि ही 'मे' से अधिक है—

उलटि जाहु अपने पुर माहीं, वार्दिह करत लराई^{२०} ।

उक्त दोनों वाक्यों के 'पर' और 'माही' के कर्मकारकीय प्रयोगों का अधिक से अधिक अपवाद-स्वरूप ही मान सकते हैं ।

करणकारक—ब्रजभाषा में इस कारक की विभक्तियों के रूप में तैं, ते, तैं, पर, पै, सुँ, सेंती, सो, सौँ का प्रयोग होता है । सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' में 'तैं', 'ते' और 'तैं' के स्थान पर केवल 'तैं' का एवं 'सो' और 'सौँ' के स्थान पर केवल 'सौँ' का प्रयोग किया गया है । सूरदास ने करणकारकीय विभक्तियों के रूप में केवल 'तैं' और 'सौँ' का ही प्रयोग मुख्य रूप से किया है । अन्य विभक्तियों में से 'सुँ' और 'सेंती' के उदाहरण भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं । इनके अतिरिक्त विभक्तिरहित करणकारकीय प्रयोग भी सूर-काव्य में बहुत मिलते हैं ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—विभिन्न सज्ञा-रूपों के विभक्ति-रहित करणकारकीय प्रयोगों को अलग-अलग देने की आवश्यकता नहीं है, अतएव एक साथ ही इस प्रकार के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—देखो, कपिरात भरत वै आए । मम पाँवरी सीस पर ढाकै, कर थँगुरी रघुनाथ बताए^{२१} । मैं इहि ज्ञान ठगी ब्रजबनिता दियो सो क्यों न सहो^{२२} । हानी-संगति उपजै शान^{२३} । तिनकै तेज-प्रताप, देवतनि बहु दुख पाए^{२४} । तुम्हरे तेज-प्रताप नाथ जू मैं कर घनुष धरयो^{२५} । सपथ राम, परताप तिहारै खड खड करि धारो^{२६} । तुव प्रसाद मम गृह सुत होइ^{२७} । ता प्रसाद या दुख को तरै^{२८} । सब राज्य रघुवीर कृपा तैं कहि दान निवारो^{२९} । राम नाम मुख उचरै सोई^{३०} । भीलराव निज लोगनि कह्यो^{३१} । सत्यनि कह्यो तुम जेवहु बैठे, स्याम चतुरई ठानी^{३२} । इतनी

१८. 'ब्रजभाषा-व्याकरण', पृ. ११३-१४ । १९. सा. १-१६८ । २. सा. ३८०१ ।

३. सा. ९-१६८ । ४. सा. ३-२ । ५. सा. ५-२ । ६. सा. ३-१११ ।

७. सा. ९-१४४ । ८. सा. ९-१३७ । ९. सा. ५-३ । १०. सा. ६-५ ।

११. सा. ९-१४३ । १२. सा. ६-४ । १३. सा. ५-३ । १४. १९८३ ।

बचन सवन सुनि हरप्यो^{१४} । स्यास आकास बनचर उड़ाऊँ^{१५} । दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई^{१६} । जानकी नाथ कै हाथ तेरो मरन^{१७} ।

ख. 'तैं' विभक्तिसहित प्रयोग—सभा के 'सूरसागर' में सर्वत्र प्रयुक्त इस करणकारकीय विभक्ति में वस्तुतः ब्रजभाषा के 'तैं' और 'ते' विभक्ति-रूपों को सम्मिलित समझना चाहिए; क्योंकि उसके अन्य सस्करणों में इनका भी प्रयोग मिलता है । सभा के सस्करण से 'तैं' विभक्तिमहित मूर के कुछ प्रयोग यहाँ सकलित हैं—कह्यो सरमिष्ठा सुत कहँ पाए । उनि कह्यो रिषि किरपा त जाए^{१८} । सब राच्छस रघुवीर कृप, त एकहि बान निवारो^{१९} । पंचतत्व तैं जग उपजाया^{२०} । त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तव्य, महत्तव्य तैं अहकार कियो बिस्तार^{२१} । सूरदास स्वामी प्रताप तैं सब सताप हरयो^{२२} । मम प्रसाद तैं सो वह पावै^{२३} । यह तो सुनी व्यास के मुख तैं पर-दारा दुखदात^{२४} । सुनत साप रिस तैं तनु दहयो^{२५} । बहुरि रुधिर तैं छोर बनावत^{२६} । जाकै नाम ध्यान सुमिरन तैं कोटि जज्ञ फल पावत^{२७} ।

ग. 'सौ' विभक्ति सहित प्रयोग—जिस प्रकार ऊपर की पक्तियों में 'तैं' विभक्ति 'तैं' और 'ते' का ही अन्य रूप है, उसी प्रकार नीचे के उदाहरणों में 'सौ' विभक्ति को 'सौ' का ही दूसरा रूप समझना चाहिए—आघी उदर अन्न सौ भरै^{२८} । सुनिये जान कपिल सौ जाइ^{२९} । मैं काली सौ यह प्रन कियो^{३०} । कौसिल्या सौ कहति सुमित्रा^{३१} । निज गुरु सौ भाख्यो तिन जाइ^{३२} । हँसि ढाढ़नि ढाढ़ी सौ बोली^{३३} । ब्रह्मा सो नारद सौ कहे^{३४} । दूसरथ सौ रिषि आनि कहयो^{३५} ।

घ. अन्य विभक्तियों सहित प्रयोग—'सेंती', 'कौं', 'हि' आदि कुछ अन्य विभक्तियों के भी यत्र-तत्र करणकारकीय प्रयोग 'सूरसागर' में मिल जाते हैं, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है, जैसे — ता रानी सेती सुत ह्वै है^{३६} । (उन) बहुरि सुक सेती कह्यो जाइ^{३७} ।

इसी प्रकार निम्नलिखित वाक्य में 'कौं' विभक्ति की ध्वनि भी करणकारकीय 'सौ' विभक्ति के अर्थ से मिलती-जुलती जान पड़ती है—

गड चटाइ मत त्वचा उपारो । हाड़नि को तुम, बज्र सँवारो^{३८} ।

'हि' का प्रयोग मूरदास ने करणकारक में बहुत कम किया है । निम्नलिखित उदाहरण का 'हो' उसी का विकृत रूप है—

जिन रघुनाथ हाथ खर दूपन प्रान हरे सरहो^{३९} ।

१४. सा. ९-१४७ । १५. सा. ९-१२९ । १६. सा. ९-७ । १७. सा. ९-१२९ ।
 १८. सा. ९-१७४ । १९. सा. ९-१४३ । २०. सा. १०-३ । २१. सा. २-३६ ।
 २२. सा. ९-१२२ । २३. सा. ३-१३ । २४. सा. २-२४ । २५. सा. ५-४ ।
 २६. सा. २-२० । २७. सा. ९-१३२ । २८. सा. ३-१३ । २९. सा. ५-४ ।
 ३०. सा. ५-३ । ३१. सा. ९-१५२ । ३२. सा. ९-१७३ । ३३. सा. १०-३७ ।
 ३४. सा. २-३७ । ३५. सा. ९-२१ । ३६. सा. ६-५ । ३७. सा. ९-१७४ ।
 ३८. सा. ६-५ । ३९. सा. ९-९१ ।

ट सविभक्ति विवृत रूप—सूरदास के निम्नलिखित प्रयोग में यद्यपि कोई करणकारकीय विभक्ति नहीं है, फिर भी इसका विवृत रूप विभक्ति समुक्त होने का आभास देता है—

विहि ग्यद बांध्यो सुनि मधुकर पदुमनाल के बांधे सूतै^{४०} ।

संप्रदान कारक—ब्रजभाषा में संप्रदानकारक को कुँ, कुँ, कौं, को, कौं, नौ, के लिए—विभक्तियाँ कर्मकारक में भी रहती हैं। अतएव केवल इन विभक्तियों से नहीं, व्यर्थ पर ध्यान देने से ही सज्ञा-रूप के कारक का ठीक ठीक पता चल सकता है। सूरदास ने संप्रदानकारक में 'कौं' का ही प्रयोग विशेष रूप से किया है और अन्य कारकों की तरह इसमें भी विभक्तियाँ सहित और सहित, दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

क. विभक्ति रहित प्रयोग—संप्रदानकारकीय विभक्ति रहित प्रयोगों में सूरदास ने उतनी स्वतंत्रता से काम नहीं लिया है, जितनी से प्रथम तीन कारकों में लिया है। अतएव इस प्रकार के तीन-चार उदाहरण ही यहाँ दिये जाते हैं—बहुरी रिपन बडे जब भए । नाभि राज द बन को गए^{४१} । बिप्र जाचकनि दोन्हो दान^{४२} । दियो निभीपन राज सूर प्रभु^{४३} । तुम्हें मारि महिरावन मारें दोह निभीपन राई^{४४} ।

ख. 'कौं' विभक्ति सहित प्रयोग—कर्मकारक की तरह ही संप्रदान की इस 'कौं' विभक्ति में 'कौं', 'को' 'कौं' को सम्मिलित समझना चाहिए जिनके प्रयोग सभा के 'सूरसागर' के अतिरिक्त अन्य सस्करणों में मिल सकते हैं। सूरदास के 'कौं' विभक्ति सहित कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—ननया जामातनि को ममदत्त नैन नीर भरि आए^{४५} । एक अस वृच्छनि कौं दोन्हो^{४६} । कामधेनु पुनि सप्त रिपि कौं दई^{४७} । बलि सुरपति कौं बहु दुख दयो^{४८} ।

ग. विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' सहित प्रयोग—अति दुख में सुख दं पितु मातहि, सूरज प्रभु नद-भवन सिधाए^{४९} । बहुत सासना दई प्रह्लादहि^{५०} ।

अपादानकारक—ब्रजभाषा में अपादानकारक की विभक्ति तें, ते या तैं है। ये तीनों रूपान्तर एक ही विभक्ति के हैं जिनमें से अंतिम का ही प्रयोग सभा के 'सूरसागर' में प्रायः सर्वत्र किया गया है। साथ ही कुछ विभक्ति-रहित अपादानकारकीय रूप भी सूर-काव्य में मिल जाते हैं।

घ. विभक्तिरहित प्रयोग—अपादानकारकीय विभक्तिरहित रूपों की संख्या यद्यपि अपेक्षाकृत बहुत कम है, तथापि ऐसे प्रयोग बिलकुल न हों, सा बात भी नहीं है, जैसे—करना करत सूर कोसलपति नैननि नीर झरयो^{५१} ।

च. 'तैं' विभक्तिरहित प्रयोग—'सूरसागर' के अन्य सस्करणों में यद्यपि 'तैं' या

४०. सा ३९१६ ।

४१. सा ५-२ ।

४२. सा. ६-५ ।

४३. सा ९-१५९ ।

४४. सा ९-१४० । ४५. सा ९-२७ ।

४६. सा. ६-५ ।

४७. सा. ८-८ ।

४८. सा. ८-७ ।

४९. सा १०-१०

५०. सा. १-३८ ।

५१. सा ९-१४४ ।

‘ते’ के उदाहरण बराबर मिलते हैं , परन्तु सभा के संस्करण में इसी के रूपांतर ‘तैं’ का ही अभावानकारक में सर्वत्र प्रयोग किया गया है; जैसे—प मैं जब अरुस तैं परी^{५२} । धमृत हूँ तैं अमल अति गुन सबत निधि आनद^{५३} । जब तुम निकसि उदर तैं आवहु^{५४} । श्रीरघुनाथ प्रताप चरन करि उर तैं भुजा उपारी^{५५} । हृदय कठोर कुलिस तैं भेरो^{५६} । असुरनि गिरि तैं दियो गिराई^{५७} । मैं गोवर्धन तैं आयी^{५८} । देस देस तैं टीकी आयी^{५९} । ता वन तैं मृग जाहि पराई^{६०} । स्यामा कियो बरसाने तैं आवनो^{६१} । मनहूँ तैं अति बेग अधिक करि हरि जू चरन चलावत^{६२} । मानो निकरि तरनि रंघनि तैं उपजी है अति आगि^{६३} । रथ तैं उतरि^{६४} । मानो चारि हस सखर तैं बैठे आइ सदेहियाँ^{६५} । मैं अबही मुरपुर तैं आयी^{६६} ।

ग. ‘सौं’ विभक्ति-सहित प्रयोग—पर्वत सौं इहि देहु गिराइ^{६७} । ऐसे प्रयोग सूर-काव्य में कम हैं ।

६. संबंधकारक—इसकी मुख्य विभक्ति ‘कौ’ है जिसके लिंग, वचन, और कारक के अनुसार, ‘की’, ‘के’ और ‘कौ’ रूप हो जाते हैं । इनके अतिरिक्त अवधी की संबंधकारकीय विभक्ति ‘केर’ ‘केरी’, ‘केरे’ ‘केरै’ और ‘केरी’ रूपों का प्रयोग भी सूरदास ने किया है । इन विभक्ति-रूपों से रहित प्रयोग भी सूर-काव्य में बराबर मिलते हैं ।

क. विभक्ति-रहित प्रयोग—इस प्रकार के प्रयोगों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम वर्ग में वे सामासिक पद आते हैं जिनके बीच की संबंधकारकीय विभक्ति लुप्त है । इनकी चर्चा ‘समास’ शीर्षक के अंतर्गत पिछले परिच्छेद में की जा चुकी है । अतएव यहाँ इनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है । दूसरे वर्ग के प्रयोग नीचे दिये जाते हैं । संबंधकारक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध क्रिया से नहीं होता । अतएव केवल आवश्यक अवश ही यहाँ उद्धृत किया गया है , जैसे—ग्वारनि भीर,^{६८} नाम प्रतीति,^{६९} प्रह्लाद प्रतिज्ञा^{७०}, भरत सँदेस^{७१}, रिपि मन^{७२}, सत्रुहन ब्याह^{७३}, सुता मन,^{७४} सुर-सरी तीर^{७५}, स्याम गुन^{७६}, सोनित छिछ^{७७} आदि ।

ख. ‘कौ’ विभक्ति-सहित प्रयोग—ब्रजभाषा की ओकारात् प्रकृति के अनुसार ‘का’ का रूप इसमें ‘कौ’ हो जाता है जिसको सभा के ‘सूरसागर में सर्वत्र, ‘कौ’^{७८} रूप में

५२. सा. ९-९ ।

५३. सा. ९-१० ।

५४. सा. ९-१३७ ।

५५. सा. ९-१३२ । ५६. सा. ७-५ । ५७. सा. ७-२ । ५८. सा. १०-३५ ।

५९. सा. ९-१८ । ६०. सा. ६-४ । ६१. सा. २८३२ । ६२. सा. ८-४ ।

६३. सा. ९-१५८ । ६४. सा. १०-४ । ६५. सा. ९-१९ । ६६. सा. ४-१२ ।

६७. सा. ७-२ । ६८. सा. १०-२६ । ६९. सा. २-८ । ७०. सा. १-३४ ।

७१. सा. ९-१५६ । ७२. सा. ९-८ । ७३. सा. ९-२४ । ७४. सा. ९-१७४ ।

७५. सा. २-९ । ७६. सा. २-२४ । ७७. सा. ९-१५८ ।

७८. संबंधकारकीय चिह्न के रूप में ‘की’ के प्रयोग के पक्ष में कुछ लेखक नहीं हैं ।

पं० किशोरीदास बाजपेई का मत है—‘दीर्घ स्वर से परे, विशेषतः ‘आ’ से परे, ‘कौ’

लिखा गया है, जैसे—अविनासी को आगम,^{७९} केसरि को तिलक^{८०}, गर्भ को आलस^{८१}, गीध को चारो^{८२}, चरनि को चेतो^{८३}, जिय को सोच^{८४}, द्वारे को कपाट^{८५}, पवन को पूत^{८६} भुजगिनि को बिप^{८७}, मन को चीत्पो^{८८}, मास को पिढ^{८९}, मातु को हियो^{९०}, रिपु को दन^{९१} रिपु की सीम,^{९२} रिषि को केन^{९३}, सुन को जस^{९४} आदि ।

सूर-काव्य में सबधकारकीय प्रयोग, वाक्य-रचना की दृष्टि से दो प्रकार के मिलते हैं । एक में सीधे-सादे ढंग से गद्य की परिपाटी का अनुकरण किया जाता है और सबधसूचक और सबधित, दोनों शब्दों की स्थिति सामान्य रहती है, जैसे—राम को भाई । ऊपर की विभक्ति के जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे सब इसी प्रकार के हैं । दूसरे ढंग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें सबधकारकीय रूप और सबधी शब्द का क्रम उलट जाता है और तब सबधी शब्द कारक-रूप के पहले ही आ जाता है, जैसे—भाई राम को । इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण ये हैं—तन स्यान को^{९५}, मडल भानु को,^{९६} ममत्व देह को^{९७}, सताप जनम को^{९८}, तिर सछिमन को^{९९}, हरन सीता को^१, हार ग्रीवा को^२ आदि । वही-वही इस प्रकार की पद-रचना में सूरदास ने दोनों शब्दों के बीच में अन्य शब्दों को भी डाल दिया है, जैसे—सार बंद चारों को^३, देवल रिषि को पकरयो पाइ^४ आदि । ऐसे प्रयोगों पर पद्य-रचना का स्पष्ट प्रभाव माना जा सकता है ।

ग. 'की' विभक्ति सहित प्रयोग—सबधकारक की मूल विभक्ति 'का' या 'की' का स्त्रीलिंग रूप 'की' है जिसका प्रयोग सूरदास ने अनेक स्थलों पर किया है, जैसे—अव-रोप को दुर्गति^५, जन्मभूमि को क्या^६ जलद की छोही^७, पुहुपनि की माला^८, बिछुरन की वेदन^९, भादों की रान^{१०}, मन की सूज^{११}, ललन की आरती^{१२}, सुत-तिय धन की बहुत बुरा लागता है, जैसे वाकी, हाकी इत्यादि । परन्तु ह्रस्व स्वर से परे बंसा वर्णकटु नहीं लगता ; जैसे 'विधि की इतनोई विधान इत' । हां, मधुर भाव आदि में ह्रस्व स्वर से परे जो 'की' खलता है; जैसे 'राम की रूप निहारति जानकि' (वज्रनाथा-व्याकरण, पृ. १२५) । परन्तु 'समा' के 'सूरसागर' में सबधकारकीय चिह्न 'की' का प्रयोग सर्वत्र किया गया है—लेखक ।

७९. सा. १०-४ । ८०. सा. १०-२५ । ८१. सा. १०-४ । ८२. सा. ९-१५९ ।
 ८३. सा. ९-१३७ । ८४. सा. ९-१७३ । ८५. सा. १०-८ । ८६. सा. ९-१४० ।
 ८७. सा. २-३२ । ८८. सा. १०-२० । ८९. सा. ९-१५९ । ९०. सा. ४-९ ।
 ९१. ना. ९-१५२ । ९२. सा. ९-१३७ । ९३. सा. ४-५ । ९४. सा. १०-९ ।
 ९५. सा. १०-८१ । ९६. सा. ९-१५२ । ९७. सा. ५-२ । ९८. सा. १०-१५ ।
 ९९. सा. ४-१४६ । १. सा. ९-१४५ । २. सा. १०-२५ । ३. सा. ७-२ ।
 ४. सा. ८-२ । ५. सा. १-२८ । ६. सा. ९-१६७ । ७. सा. २-२३ ।
 ८. सा. १०-२५ । ९. सा. ३२०६ । १०. सा. १०-१२ । ११. सा. १०-२४ ।
 १२. सा. १०-४० ।

सुधि^{१३} आदि । 'की' विभक्तिसहित ऐसे अनेक प्रयोग भी सूर-काव्य में हैं जिनमें सबधकारक और सबधी शब्द का क्रम कवि ने उलट दिया है; जैसे आन रघुनाथ की^{१४}, आपदा चतुरमुख की^{१५}, करतूति कस की^{१६}, कुसल नाथ की^{१७}, भीर अमर-मुनि-गन की^{१८}, भीर बानर की^{१९}, सुधि मोहिनी की^{२०} आदि । कारकीय रूप और सबधी शब्द के बीच में अन्य शब्दों का प्रयोग भी कुछ उदाहरणों में देखा जाता है, जैसे—नैननि की मिटी प्यास^{२१}, वर्षा करी पुहुप की^{२२}, भक्ति-भाव की जो तोहि चाह^{२३} आदि ।

घ. 'के' विभक्ति-सहित प्रयोग—सबधकारकीय रूप 'का' या 'कौ' का बहुवचन पुल्लिङ्ग रूप 'के' है जिसका प्रयोग सूरदास के अनेक पदों में मिलता है, जैसे—जम के दूत^{२४}, दसरथ के सुत^{२५}, नरनि के लच्छन^{२६}, पुहुपनि के भूपन^{२७}, सिव के गन^{२८}, स्वारथ के गाहक^{२९} आदि । सूर-काव्य में यह 'के' विभक्ति कभी-कभी आदरार्थक एकवचन में भी प्रयुक्त हुई है । साथ ही एकवचन सबधी शब्द के आगे कोई अन्य विभक्ति, सबधसूचक अव्यय अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य शब्द जोड़ने के लिए भी सबधकारकीय चिह्न के रूप में 'के' विभक्ति का प्रयोग किया गया है; जैसे—दीन के दाल गोगाल^{३०}, दुतिया के ससि^{३१}, देवनि के देव^{३२}, नद के द्वारे^{३३}, पिनाकहूँ के दड लौ^{३४}, पौन के पूत^{३५}, ब्रज के भूप^{३६}, भक्त के मग से^{३७}, सूर के स्वामी^{३८} ।

'कौ' और 'की' विभक्ति-रूपों की तरह 'के' के भी कारक और सबधी शब्द के उलटे क्रम वाले प्रयोग सूर-काव्य में हैं, जैसे—अमगल जग के^{३९}, दाँत दूध के^{४०}, नर गोकुल सहर के^{४१}, नाते जगत के^{४२}, परबत रतन के^{४३}, बचन जननी के^{४४}, बसन सुक-तनया के^{४५}, बान रघुपति के^{४६}, मनोरथ मन के^{४७}, मूल भागवत के^{४८}, स्वामी पुर के^{४९} आदि ।

ङ. 'कै' विभक्तिसहित प्रयोग—'कै' के साथ साथ 'कै' का भी सूरदास ने अनेक स्थानों में प्रयोग किया है । इसकी भिन्नता या विशेषता यह है कि इस 'कै' में सबधी शब्द की विभक्ति भी संयुक्त है अर्थात् सबधी शब्द के पश्चात् स्वतंत्र विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने कभी नहीं किया है । जैसे—जलनिधि

१३. सा. ३-१३ ।	१४. सा. ९-१३८ ।	१५. सा. ८-१७ ।
१६. सा. २-२३ ।	१७. सा. ९-१५१ ।	१८. सा. ९-१७२ ।
१९. सा. ९-१२५ ।	२०. सा. ८-१० ।	२१. सा. ७-६ ।
२२. सा. ४-९ ।	२३. सा. २-३ ।	२४. सा. ९-१४१ ।
२५. सा. ३-१३ ।	२६. सा. ४-५ ।	२७. सा. ८-६ ।
२८. सा. ३१९२ ।	२९. सा. ९-१६७ ।	३०. सा. ५-३ ।
३१. सा. १०-२५ ।	३२. सा. ९-१४७ ।	३३. सा. १०-३८ ।
३४. सा. ७-२ ।	३५. सा. १०-३२ ।	३६. सा. १०-७६ ।
३७. सा. १०-३० ।	३८. सा. ८-६ ।	३९. सा. १०-२९ ।
४०. सा. १०-३२ ।	४१. सा. १०-११ ।	४२. सा. ९-१७४ ।
४३. सा. २-३७ ।	४४. सा. ४-९ ।	४५. सा. १-६१ ।

कै तीर^{५०}, रूद्र कै कठ^{५१}, सुधा कै सागर^{५२} सोनै कै पानी^{५३} आदि। इस विभक्ति के उलटे अम वाले रूप भी कही-कही मिलते हैं, जैसे—गृह नद कै^{५४}। परन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। इसी प्रकार कारक रूप और सबधी शब्द के बीच में अन्य शब्दों के समावेश वाले उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जैसे—नरहरि जू कै जाइ निवेत^{५५}।

च. अन्य विभक्तियों सहित प्रयोग—उक्त मुख्य विभक्तियों के अतिरिक्त अवधी को 'केर' विभक्ति के कुछ रूपों का प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलता है, जैसे—

अ. केरी—वास निसाचर केरी^{५६}, बिषा बिरहिनी केरी^{५७}, प्यारी हरि केरी^{५८}, माला मोतिनि केरी^{५९}।

आ. केरे—सुत अहिर केरे^{६०}। घर-घर केरे फरके खोलै^{६१}। अपराध जन केरे^{६२},

इ. केर—अनुरागनि हरि केरै^{६३}, चित वदन प्रभु केरै^{६४}।

ई. केरौ—दुख नद जसोमति केरौ^{६५}, मानो जल जमुन बिब उडगन पय केरौ^{६६}, दूत भयो हरि केरौ^{६७}।

इनमें 'केरी', 'केरे', 'केरौ' तो 'की', 'के' और 'रौ' की भाँति सवधकारक के सामान्य रूप हैं, परन्तु 'केरौ' में 'कै' की तरह विभक्ति भी संयुक्त है जिसके फलस्वरूप उसके सबधी शब्द के पश्चात् स्वनश्च विभक्ति का प्रयोग कभी नहीं किया गया है।

७. अधिकरण कारक—इसकी मुख्य विभक्तियाँ और उनके अन्य रूपांतर पर, पै, पाहि, पाहीं, मैमार, मैमारि, मैमारे, माँक, महँ, महुँ, महियाँ, माहँ, माहि, माहीं, माहँ, मे, मै, मो, मों आदि हैं। साथ-साथ इनसे रहित अधिकरणकारकीय प्रयोग भी 'सूर-काव्य' में मिलते हैं।

क. विभक्ति-रहित प्रयोग—अधिकरणकारकीय उक्त विभक्तियाँ और उनके अन्य रूपों को स्पूल रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में पर, पै, पाहि और पही रूप आते हैं और द्वितीय में शेष रूप। दोनों वर्गों के रूपों के कुछ उदाहरण यहाँ संक्षिप्त हैं।

अ. प्रथमवर्गीय विभक्ति-रहित प्रयोग—पर, पै, पाहो अथवा पाहों का संप्रसारण के इन प्रयोगों में देखा जा सकता है—गरल चडाइ उरोजलि^{६८}, कटि तट तून^{६९}, गगा तट आये श्रीराम^{७०}, सुवाग उहाँ तै हरी डार उडि बैठ्यो^{७१}, मूर विमान चउ

- | | | | |
|----------------|---------------|-----------------|----------------|
| ५०. सा. ९-१५१। | ५१. सा. ८-८। | ५२. सा. ९-१४८। | ५३. सा. ९-१६४। |
| ५४. सा. १०-३३। | ५५. सा. ७-२। | ५६. सा. ९-९३। | ५७. सा. ३३४१। |
| ५८. सा. १८२१। | ५९. सा. १८५६। | ६०. सा. ३०७५। | |
| ६१. सा. २८९६। | ६२. सा. ५७०। | ६३. सा. २०७२। | |
| ६४. सा. ४३२। | ६५. सा. ३९९४। | ६६. सा. १०-२७६। | ६७. सा. ४०७९। |
| ६८. सा. १०-४९। | ६९. सा. ९-३९। | ७०. सा. ९-२२। | ७१. सा. ९-१६४। |

सुरपुर सो^{७३}, पुहुप विमान बंठी बंदेही^{७३}, भूतल बंधु परचो^{७४}, या रथ बंठि^{७५},
पौढे कहा समर-सेज्या सुत^{७६} । परवत आनि घरचो सागर तट^{७७}, छत्र भरत सिर
घारो^{७८} । चढ़ि सुख आसन नृपति सिंघायो^{७९} ।

आ. द्वितीय वर्गीय विभक्ति-रहित प्रयोग द्वितीय वर्ग की मुख्य विभक्ति
'मैं' है जिसके अनेक रूपांतर ऊपर दिये गये हैं । इनका लोप अनेक उदाहरणों में कवि
ने किया है; जैसे—अजोध्या बाजति आजु बधाई^{८०} । ध्रुव आकास विराज^{८१} । हरि
चरनारविंद उर धरो^{८२} । कनकपुर फिरिहै रामचंद की आन^{८३} । सो रम गोकुल
गलिनि बहाव^{८४} । लीन्हे गोद बिभीषन रोवत^{८५} । हरि स्वरूप सब घट यों जान्यो^{८६} ।
नही त्रिलोकी ऐसी कोइ^{८७} । ज्यों कुरंग नामी कस्तूरी^{८८} । बंठी हुती जसोदा मंदिर^{८९} ।
लंका फिरि गई राम दुहाई^{९०} । सतयुग सत, त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चारि^{९१} ।

ख. विभक्ति-आभासयुक्त रूप—अधिकरणकारकीय कुछ ऐसे रूप भी सू-
काव्य में मिलते हैं जिनके साथ यद्यपि इस कारक की कोई विभक्ति नहीं जुड़ी है,
परंतु जिनके विकृत रूप उनके विभक्ति-युक्त होने का आभास देते हैं । इस कारक की
दो प्रधान विभक्तियों 'पर' और 'मैं' के अनुसार इस प्रकार के प्रयोगों के भी दो वर्ग हो
जाते हैं ।

अ. 'पर' का आभास देनेवाले प्रयोग गोकुल के चौहटें रंगभीजी ग्वारिनि^{९२} ।
हरि बलि द्वारें दरवान भयो^{९३} । द्वारें ठाढ़े हैं द्विज बावन^{९४} । द्वारें भीर गोप गोपिनि
की^{९५} । मार्यें मुकुट^{९६} । गुरु साथ हाथ धरें^{९७} ।

आ. 'मैं' का आभास देनेवाले प्रयोग—बतियाँ छिदि छिदि जात करेज^{९८} ।
खोजी दीपें सात^{९९} । क्यों करि रहै कंठ मैं मनियाँ विना पिरोये धार्यें^{१००} । मेरे चोटें
परचो जंजाल^{१०१} । तब सुरपति हरि सरनैं गयो^{१०२} । राजा हियें सुरचि सों नेह^{१०३} ।

'पर' और 'मैं' का आभास देनेवाले उक्त 'ऐ' संयुक्त रूपों पर संस्कृत की अधिकरण-
कारकीय रूप-रचना—जैसे आकाशे, उद्याने, विद्यालये आदि—का प्रभाव जान पड़ता
है । ऐसे प्रयोग व्रजभाषा गद्य में भी मिलते हैं ।

ग. 'पर' विभक्तियुक्त प्रयोग—यह विभक्ति वस्तुतः खड़ीबोली की है जिसका

७२. सा. ९-१४१ ।	७३. सा. ९-१४४ ।	७४. सा. १-२९ ।	७५. सा. १-२९ ।
७६. सा. ९-१५६ ।	७७. सा. ९-३० ।	७८. सा. ५-४ ।	७९. सा. ९-१७ ।
८०. सा. १-३६ ।	८१. सा. ५-३ ।	८२. सा. ९-१२१ ।	८३. सा. १०-३ ।
८४. सा. १०-३ ।	८५. सा. ९-१६० ।	८६. सा. ३-१३ ।	८७. सा. ५-३ ।
८८. सा. ४-१३ ।	८९. सा. १०-५० ।	९०. सा. ९-१४० ।	९१. सा. २-२ ।
९२. सा. २८६७ ।	९३. सा. १-२६ ।	९४. सा. ८-१३ ।	९५. सा. १०-२१ ।
९६. सा. १०-१९ ।	९७. सा. ३७०८ ।	९८. सा. ३८४७ ।	९९. सा. ३९७७ ।
१. सा. ३९७८ ।	२. सा. २३१७ ।	३. सा. ८-७ ।	४. सा. ४-९ ।

प्रयोग सूरदास ने अनेक स्थलों पर किया है, जैसे— मुख आसन काँधे पर गहणो^१।
दोना गिरि पर आहि सँजीवनि^२। बैठ्यो जाइ एक तरवर पर^३। मुरछाइ परी धरनी
पर^४। धरयो गिरि पीठि पर^५, आँसू परे पीठि पर^६। गगा भूतल पर आई^७।
नृपति रिपिन पर ह्वै असवार^८। सागर पर गिरि, गिरि पर अवर^९। सिर पर
छत्र तनायो^{१०}। सिर पर दूब धरि बैठे नद^{११}।

घ 'पै' विभक्तियुक्त प्रयोग—खड़ीबोली की 'पर' विभक्ति का व्रजभाषिक रूप
'पै' कह सकते हैं जिसका प्रयोग सूरदास के अनेक उदाहरणों में मिलता है, जैसे—माधव
धर्मराज पै आयो^{१२}। नहुष नृपति पै रिपि सब आइ^{१३}। त्रिप्रनि पै चढ़ि कै जो
आवहु^{१४}। सब मुर ब्रह्मा पै जाइ^{१५}। मेरें सग राजा पै आउ^{१६}। राम पै भरत चले
अनुराइ^{१७}। कृपासिधु पै केवट आयो^{१८}। इन उदाहरणों में से प्रथम और चतुर्थ में
ता 'पै' विभक्ति 'पर' के अर्थ में है, शेष में उसका अर्थ 'पास' या 'के पास' है। कविता
में 'पै' का इस अर्थ में भी अधिकरणकारकीय प्रयोग होता है^{१९}।

ङ 'पहें', 'पहियों', 'पाहि' या 'पाहीं' विभक्तियुक्त प्रयोग—ये तीनों विभक्ति-रूप
वस्तुतः 'पै' के ही रूपान्तर हैं। इनका प्रयोग सूर-काव्य में बहुत कम हुआ है, फिर भी
दो एक उदाहरण तो मिल ही जाते हैं, जैसे—मनहुँ कमल पहें कोकिल कूजत^{२०}।
यह मुख तीन लोक में नाही जो पाए प्रभु पहियों^{२१}। चलि हरि पिय पहियों^{२२}।

च मँभार मँभारि, मँभारे और मँभू विभक्तियुक्त प्रयोग—इन विभक्तियों के
इने गिने प्रयोग ही सूर-काव्य में मिलते हैं, जैसे—पैठ्यो उदर मँभारि^{२३}। हरि
परीच्छितहि गभ मँभार राखि लियो^{२४}। गाइनि मोभ भए ही ठाढ़े^{२५}। कमल
घरे जल मँभू^{२६}। मँढेदयो डगरनि मँभारि^{२७}। हनुमत पहुँच्यो नगर मँभारि^{२८}।
नैना नैननि माभ समान^{२९}। ग्वाल बाल गवने पुरी मँभार^{३०}। बछरनि को बन मँभू
छाँडि^{३१}। इक दिन बैठे सभा मँभारे^{३२}। हृदं मँभू जो हरिहि बतावत^{३३}। इन
विभक्तियों में कुछ, विशेष रूप से 'मँभू', का प्रयोग सूरदास ने कभी-कभी सबकी
शब्द के पहलें भी किया है, जैसे—वन की व्याधि मँभू घर आई^{३४}। मँभू बाट
मटुकी मिर फारयो^{३५}।

५. सा. ५-४।	६. सा. ९-१४९।	७. सा. ९-७५।	८. सा. १०-५२।
९. सा. ८-८।	१०. सा. ९-१६८।	११. सा. ९-९।	१२. सा. ६-७।
१३. सा. ९-१२४।	१४. सा. ९-१२५।	१५. सा. १०-३१।	१६. सा. ३-५।
१७. सा. ६-७।	१८. सा. ६-७।	१९. सा. ६-५।	२०. सा. ४-९।
२१. सा. ९-५१।	२२. सा. ९-४१।		

२३. प० कामना प्रसाद गुरु 'हिंदी व्याकरण', पृ. ५४६।

२४. सा. १८०५।	२५. सा. ९-१९।	२६. सा. २७९३।
२७. सा. ९-१०४।	२८. सा. १-२८९।	२९. सा. १०-२४६।
३०. सा. २००५।	३१. सा. ९-७५।	३२. सा. २२९७।
३३. सा. ४१०।	३४. सा. ४-५।	३५. सा. ३५७४।
३६. सा. १६६१।		३७. सा. ६५४।

घ. मधि, मध्य विभक्तियुक्त प्रयोग—इन विभक्ति-रूपों का प्रयोग सूरदास ने किया अवश्य है, परन्तु बहुत कम ; जैसे—बंठे नंद सभा मधि^{४०} । बहु निसाचरी मध्य जानकी^{४१} ।

ज. महँ, महेयो, महीं, माहँ, माँहिं, और माहँ विभक्तियुक्त प्रयोग—बिनु हरि भजन नरक महँ जाइ^{४२} । बंठे जाइ जनक मदिर महँ^{४३} । बहुरो धरै हृदय महँ ध्यान^{४४} । सुनि जड भरत हृदय महँ राखी^{४५} । दिन दम रही जु गोकुल महियो^{४६} । गंगा ज्यौ आई जग माहँ^{४७} । नैननि माहँ समाजै^{४८} । बृदावन महियो गहि अवल मेरी लाज छंड़ाइ^{४९} । यहै मूल मन माहँ^{५०} । कहत सुनत समुझत मन महियो ऊधौबचन तुम्हारे^{५१} । हृदय माहँ हरी^{५२} ।

माहिं—गर्भ माहिं सत वर्ष रहि^{५३} । बहुरो गोद माहिं बैठार^{५४} । जगत माहिं जस लैहो^{५५} । मलिन बसन तन माहिं^{५६} । तब तीरथ माहि नहाए^{५७} । तुव ननसाल माहिं हम आहि^{५८} । पंथ माहिं तिन नारद मिले^{५९} । हरि जाइ वन माहिं दोन्हें दिखाई^{६०} । तब मन माहिं आनि बैराग^{६१} । लकगढ़ माहिं आकास मारग गयो^{६२} । मंदराचल समुद्र माहिं बूड़न लाग्यो^{६३} ।

‘माहीं’—उक्त उदाहरणों में ‘माहिं’ विभक्ति साधारण ‘में’ के अर्थ में है; केवल चौथे उदाहरण में ‘तन माहिं’ का अर्थ ‘तन पर’ हो सकता है । ‘माहीं’ का प्रयोग सूरदास ने अधिकतर चरण के अंत में तुकात की मांग से किया है, यद्यपि कहीं-कहीं पक्ति के बीच में भी मात्रा-पूर्ति के लिए इसका प्रयोग मिल जाता है, जैसे—राख्यौ नहि कछू नात नकु चित्त माहीं^{६४} । प्रगट होइ छिन माहीं^{६५} । मुख देखत दर्पन माहीं^{६६} । गर्ब धारि मन माहीं^{६७} । मदन मूरति हृदय माहीं^{६८} रमि रही ।

झ. में, मैं विभक्तियुक्त प्रयोग—इन दोनों विभक्तियों में से सभा के ‘सूरसागर’ में केवल द्वितीय अर्थात् ‘मैं’ का प्रयोग ही सर्वत्र किया गया है; जैसे—नृप अत पुर मैं जाइ सुनायो^{६९} । नद जू की रानी आंगन मैं ठाढी^{७०} । ब्रज जुवतिनि उपवन मैं पाए हरि^{७१} । कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ^{७२} । स्वान काँच मदिर मैं भूकि मरघो^{७३} । अति

४०. सा. १०-३१ ।	४१. सा. ९-७५ ।	४२. सा. ७-२ ।
४३. सा. ९-२४ ।	४४. सा. ३-१३ ।	४५. सा. ५-४ ।
४६. सा. ९-९ ।	४७. सा. १०-४९ ।	४८. सा. ३७६९ ।
४९. सा. ३२७९ ।	५०. सा. ३२७९ ।	५१. सा. ७-२ ।
५२. सा. ३५६६ ।	५३. सा. ४०३२ ।	५४. सा. ३-११ ।
५५. सा. ६-५ ।	५६. सा. ९-७५ ।	५७. सा. ३-१३ ।
५८. सा. ६-५ ।	५९. सा. ६-५ ।	६०. सा. ६-४ ।
६१. सा. ४९ ।	६२. सा. ८-१० ।	६३. सा. ६-४ ।
६४. सा. ९-७६ ।	६५. सा. ८-८ ।	६६. सा. २९८५ ।
६७. सा. २-२३ ।	६८. सा. २९८५ ।	६९. सा. २-२३ ।
७०. सा. २-१५ ।	७१. सा. २-२३ ।	७२. सा. ३८६५ ।
७३. सा. ४-९ ।	७४. सा. ३-१३ ।	७५. सा. २-२६ ।
७६. सा. १०-७८ ।	७७. सा. १०-७८ ।	७८. सा. ३-१३ ।
७९. सा. २-२६ ।	८०. सा. २-२६ ।	८१. सा. २-२६ ।

आनंद होत गोकुल में^{७४}। तबहि गोद में लू करती मोद^{७५}। सर्वाहि घोष में भयी कुलाहल^{७६}।
ताके सुगिया में तुम बंठे^{७७}। परी लूटि सब नगर में^{७८}। पाडव बधु बन में राखी
स्याम^{७९}। बाल अवस्था में तुम घाइ^{८०}। मग में अद्भुतचरित लखायो^{८१}। मारि कस-कैसी
मयुरा में^{८२}। जाकी चरन रेनु की महि में सुनियत अधिक बडाई^{८३}। अर्जुन रन में
गान^{८४}। लोक में विचरे^{८५}। ससार में अनुर हाहु^{८६}। अति उत्साह हृदय में धरे^{८७}।

अ) भी, भी विभक्तिपुक्त प्रयोग—इन दोनों विभक्ति रूपों में से केवल 'भी' का प्रयोग सूरदास के कुछ पदों में मिलता है जैसे—मेरी देह छूटत जम पठए जितक दून घर मो^{८८}।

द) 'हि' युक्त प्रयोग—कहीं कहीं 'हि' का स्याग भी, अधिकरणत्व सूचित करने के लिए सूरदास ने किया है, जैसे—ब्रजहि बस आपुहि विसरायो^{८९}। यहाँ 'ब्रजहि' शब्द 'ब्रज में' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे प्रयोग कर्मकारकीय रूप से मिलते जुलते हैं। यही 'ब्रजहि' शब्द एक दूसरे पद में कर्मकारक में भी आया है—ब्रजहि चली आई अब साँझ^{९०}। एक ही रूप वाले शब्द इसी प्रकार विभिन्न कारकों में प्रयुक्त होते हैं। इनका अंतर अर्थ पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो सकता है। नीचे के उदाहरण में 'हि' 'युक्त' 'रनभूमहि' शब्द भी अधिकरणकारक में हैं—

मेघनाद आयुध धरै समस्त कवच सजि, गरजि चढ्यो, रनभूमहि आयो^{९१}।

घ) अन्य विभक्तिपुक्त प्रयोग—जो विभक्तियाँ ऊपर दी गयी हैं, उनके अतिरिक्त अरु कारकों की कुछ विभक्तियों का प्रयोग भी कभी-कभी अधिकरणकारक के साथ सूरदास ने किया है, जैसे इस उदाहरण में 'कौ' विभक्ति—जैसे सरिता मिले सिधु कौ बहुरि प्रवाह न आवै हा^{९२}।

ङ) संबोधन कारक—इस कारक में साधारणतः सज्ञा के भूत रूप का ही प्रयोग किया जाता है, साथ ही संबोधनकारकीय रूप सूचित करने के लिए, शब्द के पूर्व, कभी कभी अरी, अरे, अहो, री, रे, हे आदि विस्मयादिबोधक रूपों^{९३} का भी व्यवहार किया जाता है। सूर-काव्य में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

७४ सा १०-२१। ७५ सा ४-९। ७६ सा १०-२। ७७ सा. १-२४४।
७८ सा ९-१३८। ७९ सा १-१६। ८० सा ३-५। ८१ सा ४-१२।
८२ सा १-३६। ८३. सा ९-४०। ८४. सा १-३६। ८५. सा २-११।
८६ सा ३-११। ८७ सा ९-८। ८८. सा. १-१५१।

८९-सा १६८७। ९० सा ४७२। ९१. सा, ९-१४१। ९२. सा. ३-१०।
९३ अरु कारकों के साथ प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों को 'विभक्ति' कहा जाये चाहे 'परमार्ग', परन्तु संबोधनकारक के आते-पीछे प्रयुक्त होनेवाले अरी, अरे, अहो, री, रे, हे आदि का 'विभक्ति' या 'परमार्ग' कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः ये विस्मयादिबोधक अव्यय रूप हैं। अधिक से अधिक इसको 'संबोधन कारकीय चिह्न' कह सकते हैं—संक्षेप।

क. संबोधन चिह्नरहित प्रयोग—इस प्रकार के प्रयोगों में सज्ञा के मूल रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रयोग कई प्रकार के मिलते हैं। प्रथम वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें कवि ने संबोधन-रूप, वाक्य के आदि में ही रखे हैं; जैसे—वनचर, कौन देस तैं आयो^{१४}। महाराज, तुम तो ही साधु^{१५}। राजा, बचन तुम्हारी टरची^{१६}। रिपि, तुम तो सराप मोहि दयो^{१७}। स्याम, कहा चाहत से डोलत^{१८}।

दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें कवि ने संबोधन रूप वाक्य के मध्य में रखे हैं; जैसे—बिनती कहियो जाइ पवनसुत, तुम रघुपति के आगे^{१९}। यह सुनि सकल देव मुनि भाष्यो। राय, न ऐसी कीजै^{२०}। ही सनि भाउ कहीं लंकापति, जो जिय आयसु पाऊँ^{२१}। तीसरे वर्ग में ऐसे रूप आते हैं जिनमें संबोधन कारक रूप के पूर्व 'सुन' या 'सुनो' का अर्थवाची कोई शब्द रख दिया गया है जो अर्थ की दृष्टि से अनावश्यक ही होता है, जैसे—सुन कवि, बँ रघुनाथ नही^{२२}। सुनि देवकी, इक आन जन्म की तोकों कथा सुनाऊँ^{२३}। चौथे वर्ग में ऐसे प्रयोग आते हैं जिनमें भावातिरेक-सूचक कोई शब्द कवि ने संबोधनकारक रूप के साथ प्रयुक्त किया है, जैसे—तैं भैया केवट, उतराई^{२४}। इसमें 'भैया' का प्रयोग संबोधनकारकीय रूप केवट, के पूर्व किया गया है, परंतु कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं जिनमें भावातिरेक सूचक शब्द कारक-रूप के बाद आया है और दोनों के बीच में अन्य शब्द भी दिये गये हैं; जैसे—लछिमन, रचो दुतासन माई^{२५}।

उक्त सभी उदाहरण सज्ञा शब्दों के एकवचन मूल रूप के हैं। बहुवचन सज्ञा शब्दों का प्रयोग भी संबोधनकारक में कवि ने कही-कही किया है, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है; जैसे—प्रबल सनु आहँ यह मार। यातँ संतौ, चलो सँभार^{२६}। सुरजदास सुनो सब संतौ, अविगत की गति न्यारी^{२७}।

ख. विकृत संबोधन रूप—संबोधन कारक के ऊपर दिये गये उदाहरणों में मूल-रूपों का ही प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त सूर-काव्य में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें उनके रूप विकृत हैं जो तत्संबन्धी संस्कृत रूपों से प्रभावित कहे जा सकते हैं; जैसे—मोसों पतित न और हरे^{२८}। भीषम करन दोन सदिर तजि, मम गृह तजे मुरारे^{२९}। केस पकरि ल्यायो दुस्सासन, राखी लाज, मुरारे^{३०}। राजन कही, दूत काहू की, कौन नृपति है मारचौ^{३१}।

ग. 'अरी' चिह्नयुक्त प्रयोग—संबोधनकारक के स्त्रीलिंग चिह्न 'अरी' का प्रयोग

१४. सा. ९-८८। १५. सा. ९-३। १६. सा. ९-२। १७. सा. ९-१७४।
 १८. सा. १०-२७९। १९. सा. ९-१७४। २०. सा. १०-४। २१. सा. ९-१८१।
 २२. सा. ९-९१। २३. सा. १०-४। २४. सा. ९-४०। २५. सा. ९-१६२।
 २६. सा. १-२२९। २७. सा. ९-१०५। २८. सा. १-१९८। २९. सा. १-२४२।
 ३०. सा. १-२५७। ३१. सा. ९-९८।

भी सूरदास न कभी कभी किया है, जैसे सीता के प्रति पुरुषधुओ के इस संबोधन में—अरो अरो सुदरि नारि सुहागिनि, लागीं तेरे पाऊं^{१३} ।

घ 'अरे' चिह्नयुक्त प्रयोग—संबोधन कारक के पुल्लिङ्ग चिह्न 'अरे' का प्रयोग भी सूरदास न दो एक स्थला पर किया है, जैसे—अरे मधुप, वार्तें ये ऐसी क्यों कहि आवन ताह^{१४} । दो एक स्थला पर इस चिह्नयुक्त प्रयोग के साथ 'सुन' अर्थ-द्योतक शब्द भी रख दिया है जो अर्थ की दृष्टि से आवश्यक नहीं जान पड़ता; जैसे—सुनि अरे अध दसकध लै मिय मिलि, सेतु करि बध रघुवीर आयो^{१५} ।

ङ 'अहो' चिह्नयुक्त प्रयोग—संबोधनकारक के इस चिह्न का प्रयोग सूरदास ने दाना लिंगा—पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग—के साथ किया है, जैसे—अहो महारि, पालागन मरो^{१६} । ताका विषम विपाद अहो मुनि मोरै मह्यो न जाई^{१७} । अहो वसुदेव, जाहु लै गावुन^{१८} । इन प्रयोगों में 'अहो' चिह्न कारक-रूप के साथ ही प्रयुक्त हुआ है; परंतु सूर-काव्य में ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें दाना के बीच में दो-एक विशेषण भी आ गया है, जैसे—अहो पुनोत मोत केसरिनुत, तुम हिन बधु हमारे^{१९} ।

च 'रो' चिह्नयुक्त प्रयोग—संबोधनकारक के इस स्त्रीलिङ्ग चिह्न का प्रयोग भी कहीं-कहीं सूर काव्य में मिलता है, जैसे—सूर स्याम यह कहति जननि सौं, रहि रो मा घोरज उर धारे^{२०} ।

छ 'रे' चिह्नयुक्त प्रयोग—यह चिह्न पुल्लिङ्ग रूप के साथ ही प्रयुक्त होता है, जैसा कि सूरदास के इन उदाहरणों में स्पष्ट है—तार्त कहन सेंभारहि रे नर काहे को इतरान^{२१} । कहे प्रह्लाद सुनो रे बालक, लोर्ज जनम सुधारि^{२२} । सूरदास के कुछ वाक्यों में संबोधनकारकीय चिह्न 'रे' का दोहरा प्रयोग भी किया गया है, जैसे—रे रे अब बीसहू लावन, पर तिय हरन बिकारी^{२३} । रे रे चपन बिरूप ढोठ तू बोलत वचन अनेरो^{२४} ।

ज 'हे' चिह्नयुक्त प्रयोग—इस सामान्य संबोधन द्योतक चिह्न का प्रयोग भी सूर-काव्य में कहा कही मिल जाता है—विनयपत विनय पदो में, जैसे—मेरै हृदय नाहि आवन हो, हे गुपाल, हो इतनी जानत^{२५} । नमो नमो हे कृपानिधान^{२६} ।

घ 'हो' चिह्नयुक्त प्रयोग—इसका प्रयोग बहुत कम पदों में सूरदास ने किया है; जैसे—जब बाह काली लै चले, तब नारि बिनवै देव हो^{२७} ।

ञ केवल 'एजू', रो, रे आदि चिह्न प्रयोग—ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें विस्मयादिवाचक रूपों के साथ-साथ संबोधनकारक रूपों में प्रयुक्त कोई न कोई सज्ञा या

१३. मा ९-१४४ ।

१६. सा ९-५१ ।

१९. सा ९-१४७ ।

२२. सा ७-३ ।

२५. सा १-२१७ ।

१४. सा ३५३९ ।

१७. सा ९-७ ।

२०. सा ५९५ ।

२३. सा. ९-१३२ ।

२६. सा. २-३३ ।

१५. सा ९-१२८ ।

१८. सा १०-४ ।

२१. सा २-२२ ।

२४. सा. ९-१३२ ।

२७. सा. ५७७ ।

विशेषण शब्द अवश्य है; परन्तु सूर-काव्य में कुछ ऐसे भी वाक्य मिलते हैं जिनमें संशोधित व्यक्ति-सूचक कोई संज्ञा न रहने पर 'एजू', 'री', 'रे' आदि का प्रयोग किया गया है ; जैसे— एजू तुम तो स्वाम सनेही^{२८} । कहु री सुमति कहा तोहि पलटी^{२९}, देखि रे, वह सारंगधर आयो,^{३०} । पुत्रहु तँ प्यारी कोउ है री^{३१} ।

‘विभक्ति’-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—विभिन्न कारकों के साथ प्रयुक्त होनेवाली जिन विभक्तियों की सूची ‘कारक’ शीर्षक प्रसंग के आरम्भ में दी गयी थी, उनके उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं । उनके अतिरिक्त, उनके स्थान पर, कुछ सम्बन्धसूचक अव्ययों के प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलते हैं । ऐसे अव्ययों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—मुख्य और सामान्य ।

क. मुख्य अव्यय शब्द—इस वर्ग में वे शब्द आते हैं जिनका प्रयोग कवियों ने बहुत अधिक किया है । ऐसे मुख्य अव्यय ये हैं —

कारक	संबन्धसूचक अव्यय ^{३२}
करणकारक	कारन
अपादनकारक	आगै
अधिकरणकारक	ऊपर, तर, तरे, तले ^{३३} , तीर, पास, भीतर ।

अन्य व्रजभाषा कवियों के समान सूरदास ने भी उक्त संबंधसूचक अव्ययों का प्रयोग विभक्तियों के बदले में किया है ; जैसे—

कारन—या गोरस कारन कत सुत की पति खोवै^{३४} । निज जन कारन कबहुँ न गहरु सगायो^{३५} । नृप तप कारन बनहि सिधाए^{३६} ।

आगै—कुँवर की पुनि गज मँमत आगै डारधी^{३७} । ग्वालनि आगै अपनी नाम सुनाइ^{३८} । जसुमति आगै कहिहौ जाई^{३९} ।

२८. सा. ३४९२ । २९. सा. ९-३८ । ३०. सा. ९-१२५ । ३१. सा. ३६७ ।

३२. विभक्तियों के बदले में प्रयुक्त होनेवाले उक्त संबंधसूचक अव्ययों के अतिरिक्त पं० कामता प्रसाद गुरु ने कर्मकारक में प्रति; करण में करके, जरिये; संप्रदान में अर्थ, निमित्त, लिए, वास्ते; अपादान में अपेक्षा, बनिस्बत आदि अव्यय और दिये हैं (‘हिन्दी व्याकरण,’ पृ० ३००); परन्तु व्रजभाषा में उनका अधिक प्रयोग न मिलने के कारण उनको उक्त सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है—लेखक ।

३३. पर, ऊपर-जैसे सम्बन्धसूचक अव्ययों के समान ही तर, तले, पास आदि को भी विभक्तियों के बदले में प्रयुक्त होनेवाले रूपों में माना जाना चाहिए । पं० कामता प्रसाद गुरु ने इनको स्वीकार नहीं किया है (‘हिन्दी व्याकरण,’ पृ० ३००); परन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने नीचे और पास को इसी वर्ग में रखा है (‘हिन्दी भाषा का इतिहास,’ पृ० २६५) । तर और तले वास्तव में नीचे के ही पर्याय रूप हैं—लेखक ।

३४. सा. ३६७ ।

३५. सा. ८-३ ।

३६. सा. ४-९ ।

३७. सा. ७-२ ।

३८. सा. १०-२८५ ।

३९. सा. ५३९ ।

ऊपर—चरन राखि उर ऊपर^{४०} । पन्नगपति प्रभु ऊपर फन छावै^{४१} । बलि चक्र
मित्त व्रज ऊपर परि^{४२} ।

तर—पग तर जरन न जानै मूरख^{४३} । लखेस्वर बांधि राम चरननि तर
धारौ^{४४} । सप्त समुद्र देउं छाती तर^{४५} । नव ग्रह परे रहै पाटी तर^{४६} । कर निर
तर करि^{४७} ।

तरै—कुँवर कौ डारि देहु गज भँमत तरै^{४८} । कठुला कठ चिबुक तरै मुख दत्त
विराजै^{४९} । अवही मैं देखि आई, बसीवट तरै हो^{५०} ।

तलै—बड़ा काटि कसूर भरम कौ फरद तलै लै डारै^{५१} ।

तीर—माखन मांगन बात न मानत शैखत जसोदा जननी तीर^{५२} ।

पास—लखपति पास अगद पठायो^{५३} ।

भीतर—उर भीतर^{५४}, गढ भीतर^{५५} । दधि भाजन भीतर^{५६} । पयोनिधि भीतर^{५७} ।
भवन भीतर^{५८} । रन भीतर^{५९} ।

ख—सामान्य अव्यय शब्द—उक्त सवधसूचक अव्ययों के अतिरिक्त दो दर्जन से अधिक
और भी ऐसे ही शब्द हैं जिनका विभक्तियों के बदले में प्रयोग किया जाता है ।
डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने व्याकरण में इनकी भी चर्चा की है^{६०} । ऐसे शब्दों में से अनेक
के उदाहरण 'मूरसागर' में मिलते हैं, जैसे—

अंतर—देखत जानि सचयो अंतर^{६१} । जिय घट अंतर मेरै^{६२} । धन धन अंतर
दामिनि^{६३} ।

काज—असन काज प्रभु बन फल करे^{६४} । कमल काज मैं आयो^{६५} । न्हान
काज सो सरिता गयो^{६६} ।

डिग—नगन गात मुमुकात तान डिग^{६७} । बाँभन हरि डिग आयो^{६८} ।

तन—निरखि तरुवर तन^{६९} । चितवति मधुबन तन^{७०} ।

तुल्य—गनत अपराध समुद्रहि बूंद तुल्य भगवान^{७१} । सारंग विवल भयो सारंग मैं
भारंग तुल्य सरीर^{७२} ।

४०. सा. १-३ ।	४१. सा. १०-६५ ।	४२. सा. १०-७७ ।
४३. सा. २-१३ ।	४४. सा. ९-८५ ।	४५. सा. ९-१०७ ।
४६. सा. ९-११९ ।	४७. सा. १०-६५ ।	४८. सा. ७-२ ।
४९. सा. १०-१३४ ।	५०. सा. २८८६ ।	५१. सा. १-१४२ ।
५२. सा. १०-१६१ ।	५३. सा. १-१४२ ।	५४. सा. १-१४२ ।
५५. सा. १-१२८ ।	५६. सा. १-१२१ ।	५७. सा. १-१२५ ।
५८. सा. १०-१४१ ।	५९. सा. १०-२८९ ।	६०. सा. ९-१५४ ।

६० 'वज्रमाया व्याकरण' पृ १२३ ।

६१. सा. १०-१३५ ।	६२. सा. १-२७५ ।	६३. सा. १०-४८ ।	६४. सा. २-२० ।
६५. सा. ५३८ ।	६६. सा. ६-७ ।	६७. सा. १०-१६४ ।	६८. सा. १०-५७ ।
६९. सा. ९-८३ ।	७०. सा. ३४०८ ।	७१. सा. १-८ ।	७२. सा. १-३३ ।

नाई—सर कूकर की नाई मानि सुख^{७३} । बिभीषन को मिले भरत की नाई^{७४} ।
पाल प्रजा सुतनि की नाई^{७५}

बाहर—बांभन को घर बाहर कीन्हो^{७६} ।

बिना—भक्ति बिना जो कृपा न करते^{७७} । कमल कमला रवि बिना बिकसाहि^{७८} ।

बिनु—सुमित्रा सुत बिनु कौन धरावै धीर^{७९} । सूर स्याम बिनु और करै को^{८०} ।
अब को बस जाइ ज हरि बिनु^{८१} ।

लिए—लोभ लिए दुबंचन सहे^{८२} । लोभ लिए परबस भए^{८३} ।

ग—अनुज घरनि संग गए वनचारी^{८४} ।

संग—सखिनि संग वृषभानु किसोरी^{८५} ।

सम—जे जे तुव सूर सुभट, कीट सम न लेखौ^{८६} ।

सरिस—पापी, क्यों न पीठि दै भोको, पाहन सरिस कठोर^{८७} ।

से—नैन कमल दल-से अनियारे^{८८} ।

सौ—गोबिंद-सौ पति पाइ^{८९} । तिनका-सौ अपने जन को गुन मानत मेरुसमान^{९०} ।

हित—गज हित^{९१} । जग हित^{९२} । दासी दास सेव हित लाए^{९३} । सुरन हित^{९४} ।

हेत—गंगा हेत कियो तप जाइ^{९५} । प्रभु कर गहत ग्वालनि चाह चुवन हेत^{९६} ।
तृपा हेत जल झरना भरे^{९७} । हाथ दए हरि पूजा हेत^{९८} ।

सर्वनामों के कारकीय प्रयोग—

व्रजभाषा में प्रयुक्त होनेवाले मूल सर्वनामों की संख्या बारह है—मैं, हों, तू, आप, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन और क्या । प्रयोग के अनुसार इनके छ भेद हैं—

१. पुरुषवाचक—मैं, हों, तू, वह, सो ।
२. निजवाचक—आप ।
३. निश्चयवाचक—यह, वह, सो ।
४. संबधवाचक—जो ।
५. प्रश्नवाचक—कौन (कवन), क्या ।
६. अनिश्चयवाचक—कोई, कुछ ।

यह वर्गीकरण पंडित कामताप्रसाद गुरु का है^{९९}, परंतु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इनके अतिरिक्त सर्वनामों के दो भेद और माने हैं—

७३. सा. १-२०३ ।	७४. सा १-३ ।	७५. सा. ५-३ ।	७६. सा. १०-५७ ।
७७. सा. १-२०३ ।	७८. सा. १-३३८ ।	७९. सा. ९-१४५ ।	८०. सा. १-१४ ।
८१. सा. ५६२ ।	८२. सा. १-५३ ।	८३. सा. २३७८ ।	८४. सा. १०-१९८ ।
८५. सा. ३८२८ ।	८६. सा. ९-९७ ।	८७. सा. ९-८३ ।	८८. सा. ३-१३ ।
८९. सा. २-९ ।	९०. सा. १-८ ।	९१. सा. ८-४ ।	९२. सा. ९-११ ।
९३. सा. ७-८ ।	९४. सा. ८-८ ।	९५. सा. ९-९ ।	९६. सा. १०-१८४ ।
९७. सा. २-२० ।	९८. सा. ४-१२ ।	९९. 'हिंदी व्याकरण', पृ. ९०-९१ ।	

७ नित्यसवधी—सो ।

८. आदरवाचक—आप^१ ।

विषय को स्पष्ट करने के लिए इन दोनों रूपों पर भी विचार करने की आवश्यकता है । अतएव प्रस्तुत प्रवच में इन दोनों को भी सर्वनामों के सातवें-आठवें रूपों में स्वीकार किया गया है ।

पुरुषवाचक सर्वनामों के भेद—वक्ता, श्रोता और वर्ण्य विषय के आधार पर पुरुष-वाचक सर्वनामों के तीन भेद होते हैं—

१ उत्तमपुरुष वक्ता—मैं, हों ।

२ मध्यमपुरुष श्रोता—तू ।

३ अन्य पुरुष (वर्ण्य विषय)—वह, सो^२ ।

उत्तमपुरुष सर्वनामों की रूप-रचना—सर्वनाम भी विकारी शब्द होते हैं जिनके रूप लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं । उत्तमपुरुष सर्वनाम में और हों दोनों लिंगा में समान रूप से व्यवहृत होते हैं । अतएव इनमें केवल वचनों की दृष्टि से निम्न-लिखित विकार होता है—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप	मैं, हों, ^३ हम ^४	हम
विकृत रूप	मो, मों	हम

उत्तमपुरुष एकवचन के कारकीर्ष प्रयोग—उत्तमपुरुष एकवचन सर्वनामों के विभिन्न कारकों में सूरदास द्वारा जा प्रयोग किये गये हैं, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

१ कर्त्ताकारक—इस कारक में 'मैं', 'हों' और 'हम' के एकवचन प्रयोग मूलरूप में ही साधारणतया प्रयुक्त होते हैं । सूरदास ने भी ऐसा ही किया है, जैसे—

१ 'व्रजभाषा व्याकरण', पृ० ७७ और ८६ ।

२. यह, जो, कौन, क्या, कोई और कुछ भी वर्ण्य विषय के आधार पर अन्य पुरुष रूप के ही अतर्गत आते हैं—लेखक ।

३. डा० धीरेन्द्र वर्मा ने उत्तमपुरुष मूलरूप 'हों' के साथ 'हों' और 'हूं' रूप भी दिये हैं ('व्रजभाषा व्याकरण', पृ० ६०) । ये रूप प्रस्तुत 'हों' के ही रूपांतर हैं और इनके प्रयोग बहुत कम मिलते हैं । सूर-काव्य की प्राचीन प्रतियों और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश या इसके पूर्व प्रकाशित ग्रंथों में ये कहीं-कहीं मिले ही मिल जायें, परन्तु समा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में इनको स्थान नहीं मिला है—लेखक ।

४. 'हम' यद्यपि बहुवचन सर्वनाम है, परन्तु इसका एक व्यक्ति के लिए प्रयोग भी बराबर मिलता है यद्यपि क्रिया इसके साथ बहुवचन रूप में ही प्रयुक्त हुई है । अतएव एकवचन के अतर्गत उसे भी अप्रधान रूप से, कम से कम प्रयोग की दृष्टि से, सम्मिलित करना आवश्यक है—लेखक ।

अ. मैं — मैं भक्तवद्वल हों^१ । मैं जब अकास तँ परो^२ । मैं खेई ही पार कों^३ । मैं कहि समुझायो^४ ।

आ. हों — भक्त-भवन मैं हों जु बसत हों,^५ जन की हों आधीन सदाई^६ । हों करिहों तात बचन निरबाहु^७ । यह व्रत हों प्रतिपलिहों^८ ।

इ. हम — तुव सुत कों पढ़ाइ हम हारे^९ । तारैं कही तुम्है हम आइ^{१०} । ये दुख हम न सुने न चहे री^{११} ।

वात को प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए उक्त सर्वनाम-रूपों के साथ सूरदास ने एकाकीपन सूचक 'ही' और 'मी' अर्थवाची 'हैं' अथवा उनके अन्य रूपों का भी कभी-कभी प्रयोग किया है, जैसे—

अ. मैंहूँ — तुम जैसे खम वायु करत ही, तैसें मैंहूँ डुलावोंगी^{१२} । जैसे फिरति रंघ मग अँगुरी, तैसें मैंहूँ फिराऊँ^{१३} ।

आ. मैंहूँ — अब मैंहूँ याकी दृढ़ देखों^{१४} । सूर स्याम ज्यो उछँग लई मोहि, त्यों मैंहूँ होसि भेटोगी^{१५} । तुम कहति, मैंहूँ कहति सोइ^{१६} । कछु मैंहूँ पहचानति तुमको^{१७} ।

उ. होहूँ — होहूँ सग तिहारै खेली^{१८} ।

ऊ. हमहूँ — खेलत मैं की छोट बड, हमहूँ महर के पूत^{१९} । सुनहु सूर घर जाहु हमहूँ घर जहैं होत बिहान^{२०} । तब तिनि दिननि कुमार कान्ह तुम हमहूँ हुनी अपन जिय भोरी^{२१} । जाहु गृह परम धन, हमहूँ जहैं सदन^{२२} ।

ए. हमहूँ — तुमहूँ नवल, नवल हमहूँ है^{२३} । बदन उठावहु, हमहूँ देखन पावै^{२४} ।

उक्त बलात्मक रूपों में तो सर्वनामों के मूल रूप सुरक्षित है; परंतु एक-दो स्थानों पर 'महूँ'-जैसे विकृत रूपों का प्रयोग भी सूरदास ने किया है; जैसे—तेरी धाँ हूँ महूँ लरी^{२५} ।

कर्मकारक—उत्तमपुरुष एकवचन सर्वनामों के मूलरूपों — मैं और हों—का प्रयोग सूरदास ने कही-कही पर कर्मकारक में भी किया है; जैसे—

५. सा. १-२४३ ।	६. सा. ९-२ ।	७. सा. ९-४२ ।	८. सा. ९-११६ ।
९. सा. १-२४३ ।	१०. सा. ९-७ ।	१०. सा. ९-३४ ।	१२. सा. ९-३५ ।
१३. सा. ७-२ ।	१४. सा. ७-२ ।	१५. सा. ३००६ ।	१६. सा. ११४७ ।
१७. सा. २१४१ ।	१८. सा. ४-९ ।	१९. सा. ११४७ ।	२०. सा. १३३५ ।
२१. सा. २१६६ ।	२२. सा. २-९२ ।	२३. सा. ५८९ ।	२४. सा. १०१७ ।
२५. सा. १९३१ ।	२६. सा. १९४८ ।	२७. सा. २८८३ ।	२८. सा. २९१६ ।
२९. सा. २४३४ ।			

अ. मैं—मैं तुम पं ब्रजनाथ पठावो । आत्म शान सिखावन आयो^{३०} ।

आ हौ—भारिमि तैं हौ बहुत खियाई^{३१} । जमुना, तैं हौ बहुत रिझायो^{३२} । हौ पठयो वतही वेकाजै^{३३} ।

‘सूरसागर’ में कर्मकारकीय विभक्तिया, कौ और हि, का प्रयोग बहुत हुआ है। ब्रजभाषा के अनेक कविया न उत्तमपुष्प एकवचन सर्वनामों के मूल रूपों, मैं और हौ, में से ‘हौ’ में दोना विभक्तिया को जाड़कर ‘हौकौ’ और हौहि—जैसे रूप बनाये हैं, परन्तु ‘सूरसागर’ में ‘हम’ एकवचन के साथ ही इन विभक्तिया का समान अधिक मिलता है, जैसे—

अ हमकौ—वेहि कारन हम (ध्रुव) कौ भरभावत^{३४} । कौनेहुँ भाव भजै काँउ हम (कृष्ण) कौ^{३५} ।

आ हमहि—हमहि कृष्ण का। छाँटि किनि देहु^{३६} ।

‘हौ’ और ‘हम’ एकवचन के मूलरूप में ही कर्मकारकीय विभक्तियों, कौ और हि, के समान का कारण यह है कि इनके विवृत रूप ब्रजभाषा में नहीं होते । ‘मैं’ का विवृत रूप ‘मो’ अवश्य प्रयुक्त होता है जिसका प्रयोग कभी तो कर्मकारक में बिना विभक्ति के ही सूरदास ने किया है, जैसे— सुनी तगीरी विमरि गई भुधि मो तजि भये निघारे^{३७} । और कभी ‘कौ’ और ‘हि’ विभक्तिया के साथ जैसे—

अ मोकौ—मोकौ मारि सवे नहि वाइ^{३८} । तुम मोकौ वाहे बिसरायो^{३९} । इन मोकौ नोकै पहिचान्यो^{४०} ।

आ मोहि—तुम पावहु मोहि वहाँ तरन कौ^{४१} । नाथ, कवौ तो मोहि उधारी^{४२} । जारन हैं मोहि चर सुदरनन^{४३} ।

वाग्य उदाहरण सूर-वाक्य में ऐसे मिलते हैं जहाँ ‘मैं’ के विवृत रूप ‘मो’ के साथ दोना विभक्तिया का प्रयोग किया गया जान पड़ता है, जैसे—सुद्धा भक्त मोहि को चाहे^{४४} । परन्तु वास्तव में यहाँ ‘हि’ विभक्ति रूप में नहीं, ‘हौ’ के अर्थ में है ।

‘हम’ एकवचन के साथ वही-वही ‘ऐ’ के समान से कर्मकारकीय रूप बनाये गये हैं, यद्यपि एकवचन में ऐसे प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं है, जैसे—जद्यपि हमै (सती को) बुलायो नाहि^{४५} ।

मो, हौ और हम, इनमें से प्रथम और अन्तिम के ही हैं युक्त वलात्मक प्रयोग कर्मकारक में अधिक मिलते हैं, जैसे—

३०. सा. ४०९४ ।	३१ सा १०-१६ ।	३२ सा २९१३ ।	३३ सा ४१३० ।
३४. सा. ४-९ ।	३५ सा ७८७ ।	३६ सा २९०७ ।	३७ सा १-१४३ ।
३८. सा. ७-२ ।	३९ सा ९-२ ।	४० सा १०३२ ।	४१ सा. १-१३० ।
४२. सा. १-१३१ ।	४३ सा ९-७ ।	४४. सा ३-१३ ।	४५ सा. ४-५ ।

अ. मोहूँ—मूर स्याम मोहूँ निदरोगे देहूँ प्रेम की गारि^{४६} । मोहूँ वरवस उताहि
खलावत दूत भए उन केरे^{४७} ।

आ. हमहूँ—हमहूँ बोनि उहांई लीजौ^{४८} ।

इन वलात्मक प्रयोगों के साथ कही-कही विभक्ति का प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलता है ; जैसे—मोहूँ को चुचुकारि गयो लै^{४९} । औरनि-सी मोहूँको जानति^{५०} ।

३. करणकारक—विभक्तिरहित मूल रूपों का प्रयोग करणकारक में सूरदास ने नहीं के बराबर ही किया है , ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही मिलते हैं, जैसे—

मोहन, क्यौ ठाढे, बैठन क्यौ नाहीं, कहा परी हम (प्यारी से) चूक^{५१} ।

करणकारकीय विभक्तियों में पाँच—कों, तै, पै, सौ और हि—का प्रयोग सूरदास ने अधिकता से किया है । पुष्पवाचक एकवचन सर्वनाम के तीन रूपों—मो (मे का विकृत रूप), हों और हम में से 'हों' के विभक्तियुक्त रूप सूर-काव्य में बहुत ही कम मिलते हैं । 'मो' के साथ उक्त तीनों विभक्तियों का संयोग सूर-काव्य में खूब मिलता है, जैसे—

अ. मोकों—सुनहु सूर जो वृजति मोकों, मैं काहुँ न पहिचानी^{५२} ।

आ. मोत—मोतै कछू न उबरी हरि जू, आयी चढत-उतरती^{५३} । गुरु-हत्या मोतै हूँ
आई^{५४} । भयो पाप मोतै बिनु जान^{५५} । कन्या कह्यौ, मोतै विन जानै यह
भयो^{५६} ।

इ. मोपै या मोपै—मँगि लेइ अब मोपै सोइ^{५७} । ताको विषम विषाद अहो मुनि मोपै
सह्यौ न जाइ^{५८} । तात की आज्ञा मोपै भेटि न जाइ^{५९} । दधि में सेत की
मोपै चीटी सर्व कढाई^{६०} ।

ई. मोसौ—अब मोसौ अलसात जात ही अधम-उधारनहारे^{६१} । मोसौ वात सकुच
तजि कहियै^{६२} । यह तुम मोसौ करो बखान^{६३} ।

उ. मोहि—मोहि प्रभु तुमसा होइ परी^{६४} । जय मोहि अंगद कुसल पूछिहै, कहा
कहौगी बाहि^{६५} । ऐमो कौन, मारिहै ताकों, मोहि कहै सो आई^{६६} ।

उक्त पाँचों विभक्तियों में से कुछ के संयोग से 'हम' एकवचन के भी करणकारकीय प्रयोग सूर-साहित्य में मिलते हैं जैसे, --

अ. हमतै—हमतै चूक कहा परी तिय, गर्ब गहीली^{६७} । कहे नद, हमतै कछु सेवा
न भई^{६८} ।

४६. सा. १९३२ ।

४७. सा. २३५२ ।

४८. सा. २५३९ ।

४९. सा. ४८१ ।

५०. सा. २७२६ ।

५१. सा. २४८४ ।

५२. सा. २५५९ ।

५३. सा. १-२०३ ।

५४. सा. १-२६१ ।

५५. सा. ३-५ ।

सा. ५६ सा. ९-३ ।

५७. सा. ४-९ ।

५८. सा. ९-७ ।

५९. सा. ९-५३ ।

६०. सा. १०-३२२ ।

६१. सा. १-२५ ।

६२. सा. १-१३६ ।

६३. सा. २-३५ ।

६४. सा. १-१३० ।

६५. सा. ९-७५ ।

६६. सा. १०-६० ।

६७. सा. २१४५ ।

६८. सा. ३४७४ ।

२। हमनों—मो हमनों ब्रह्म नहीं कहि क्यों न मुताबै^{६९}। हमनों (अवधाना नहीं) ब्रह्म न नई निवाहै^{७०}। अहुरि कहत हमनों (नरनिष्ठा नहीं) बाव^{७१}।

हौं, तै, पै, (५), मों और हि—इन पांच प्रमुख विभक्तियों के अतिरिक्त 'तै' और 'सन' का प्रयोग भी वरणकारक से सूरदास ने किया है। 'हों' और 'हम' के साथ तो नहीं, 'मैं' के विद्वान् रूप 'मों' के साथ इनका प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है; जैसे—

अ. मोने—तुन नब विदो नहाइ भयो तब बारज मोने^{७२}।

आ. मोत्तन—जनबोली न रहै रो आली आई मोत्तन दान बनावन^{७३}।

'सूरदासर' ने कहीं-कहीं मोहि के साथ अन्य विभक्तियों का पुनः संयोग करके वरणकारकीय प्रयोग किये गये हैं जैसे—

अनि मैं तो रिम करति न रस-दत्त, मोहि सौं उलटि लरत^{७४}।

इसी प्रकार 'मोहि' के दीर्घ स्वरान्त रूप 'मोहों' के साथ भी 'तै', 'सौं' आदि विभक्तियों का वरणकारक से प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ. मोहों तै—मोहों तै पती रो बूक, अनर भए है जातै^{७५}।

आ. मोहों सौं—जो झुकि कछुक कछी चाहति हों, उनहि जानि लखि मोही सौं

तह^{७६}। जब आवति तूहैं बनि बनि सब मोही सौं बिउ लाई^{७७}।

'हूँ' जोड़कर बनाए गये द्वात्मक वरणकारकीय प्रयोग भी कहीं-कहीं 'सूरदासर' ने मिलते हैं; जैसे—

मोहूँ—आपु गए मोहूँ कहै चलि निनि ब्रजराज^{७८}।

और ऐसे प्रयोग सर्वत्र विभक्तिरहित हों, तो बात भी नहीं है; कहीं-कहीं इनके साथ वरणकारकीय विभक्तियों का प्रयोग भी मिलता है; जैसे—

अ. मोहूँ सौं—तुम को नलाई तुम मोहूँ सौं करन बार^{७९}। मोहूँ सौं निठुरई छली हो मोहन प्यारे^{८०}।

आ. हमहूँ मों—मोने रग कोन के हो स्थान हमहूँ सौं कत ही दुरादत^{८१}।

वरणकारकीय एकवचन सर्वनामों के अपवाद प्रयोगों में 'मोहूँ'-जैसे रूपों के उदाहरण नमजना चाहिए जो दो-एक पदों में ही मिलते हैं; जैसे—

भृगु के दुर्दान्त तुम होहु। वपिन के दत्त, कही तुम मोहु^{८२}।

४. सप्रदान रूपक—सुरपदावक एकवचन सर्वनामों के सप्रदानकारकीय रूपों की संख्या अधिक नहीं है और उनके जो रूप इन बारक में प्रयुक्त हुए हैं, वे वरणकारकीय रूपों से बहुत-बहुत मिलते-जुलते हैं। विभक्तिरहित रूपों के सप्रदानकारकीय प्रयोग बहुत कम मिलते हैं, जैसे—

६९. सा. १-२२६। ७०. सा. १-२२९। ७१. सा. ९-१७४। ७२. सा. ४११।

७३. सा. २७४५। ७४. सा. २०९१। ७५. सा. १११५॥ ७६. सा. २८१७

७७. सा. १४९६। ७८. सा. २३८७। ७९. सा. २५४७। ८०. सा. २५४९।

८१. सा. २५१२। ८२. सा. ५०४।

हरि चुबक जहँ मिलहि सूर-प्रभु मो लँ जाहु तही^{८३} । तबही तँ मन और भयो सखि मो तन सुधि बिसरी^{८४} ।

सप्रदानकारकीय प्रधान विभक्तियों 'कों', 'सों' और 'हि' का प्रयोग सूर-काव्य में विशेष रूप से मिलता है, जैसे—

अ. मोकों—जातँ मोकों मूली दयो^{८५} । तीन पैंग बसुधा दँ मोकों^{८६} । पापी क्यों न पीठि दँ मोकों^{८७} । नँकु गोपालहि मोकों दँ री^{८८} ।

आ. मोसों—तुम प्रभु मोसों बहुत करी^{८९} ।

इ. मोहि—पाँच बान मोहि सकर दीन्हें^{९०} । मोहि होत है दु ख बिसेपि^{९१} । कह्यो, सेज मोहि देहु हरी^{९२} । सकुच नाहिन मोहि^{९३} ।

ई. हमहि—ऐसे मुख की बचन माधुरी, काहे न हमहि सुनावति हो^{९४} ।

'हम' एकवचन के साथ 'ऐ' के संयोग से जो कर्मकारकीय रूप 'हमें' बनाया गया है, उसका प्रयोग सप्रदानकारक में कहीं-कहीं मिलता है, जैसे—

हमें—हमें मत्र दीजें^{९५} । नृप कह्यो, इद्रपुर की न इच्छा हमें^{९६} । तँ पाती क्यों हमें पठाई^{९७} । इनकी लज्जा नहि हमें^{९८} ।

'कों' के स्थान पर कहीं-कहीं उसके रूपान्तर 'कहें' का प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलता है ; जैसे—

मोकहँ अह सो भक्ति कीजँ किहि भाइ । सोऊ मो कहँ देउ बताइ^{९९} ।

इसी प्रकार 'मोहि' के दीर्घ स्वरात् रूप 'मोहीं' का प्रयोग भी सूरदास ने कहीं-कहीं किया है ; जैसे—मोहीं दोष लगायो^१ । मोहीं कछु न सुहात^२ ।

विभक्तियुक्त रूप 'मोहि' के साथ-साथ एक-दो स्थलों पर 'करि' का प्रयोग भी देखने में आता है ; जैसे—

मोहि करि—मैं जमुना जल भरि घर आवति, मोहि करि लागौ ताँवरौ^३ ।

'हँ' के संयोग के बलात्मक सप्रदानकारकीय प्रयोगों के उदाहरण भी कुछ पदों में मिलते हैं ; जैसे—

हमहँ—धर्म-नीति यह कहाँ पड़ी जू हमहँ बात सुनावहु^४ ।

ऐसे बलात्मक रूपों के साथ सप्रदानकारकीय विभक्तियों का संयोग भी कहीं-कहीं दिखायी पड़ता है ; जैसे—

मोहँकों—मोहँ कों प्रभु आजा दीजें^५ ।

८३. सा. ३००२ ।

८४. सा. १२६९ ।

८५. सा. ३०५ ।

८६. सा. ८-१४ ।

८७. सा. ९-८३ ।

८८. सा. १०-५५ ।

८९. सा. १-११६ । ९०. सा. १-२८७ । ९१. सा. १-२९० । ९२. सा. १-२६८ ।

९३. सा. १-१०६ । ९४. सा. २१९९ । ९५. सा. १-२७५ । ९६. सा. ४-११ ।

९७. सा. ४१९५ । ९८. सा. १-२३८ । ९९. सा. ३-१३ । १०. सा. २२४६ ।

११. सा. ३९४४ । १२. सा. २८८५ । १३. सा. २५३६ । १४. सा. ४-५ ।

हमहूँ कौं—डर उनकी हमहूँ कौं है^६ ।

५ असादान कारक—इस कारक में प्रयुक्त रूपों की सख्या सूर-काव्य में सबसे कम है। इसकी मुख्य विभक्तियाँ हैं 'तैं' और 'सौं' जिनका प्रयोग 'मो' और 'हम' के साथ ही मिलता है, जैसे—

ब. मोतैं—अजामीन बाबनि ही तारघौ हुतौ जु मोतैं आघौ^७ । मोतैं को हो बनाय^८ ।

मोतैं और देव नहिं हुआ^९ । मूर स्याम अतर भए मोतैं^{१०} ।

अ. मोसौं—इस रूप का प्रयोग बहुत कम पदों में मिलता है, जैसे—लोचन ललित
त्रिभंगी छवि पर अटके मोसौं तोरि^{११} ।

ई. हमतैं—हमनै (दुर्योधन तैं) बिदुर कहा है नीकी^{१२} ।

बलात्मक रूपा के साथ भी कहीं-कहीं इस 'तैं' विभक्ति का संयोग दिखायी देता है; जैसे—

मोहूँ तैं—मोहूँ तैं को है नीकी^{१३} । मोहूँ तैं ये चतुर कहावति^{१४} । मोहूँ तैं वे ढोठ
कहावन^{१५} ।

६ सवधकारक—एकवचन मूलरूप सर्वनाम 'मैं' और 'हैं' तथा 'हम' (एकवचन) में से प्रथम और अंतिम के विकृत रूपों के अनेक सवधकारकीय प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं। 'मैं' के विकृत प्रयोगों में निम्नलिखित प्रधान हैं—

अ. मम—मम लाज^{१६} । मम दिवस मम आइ^{१७} । मम सुत^{१८} । मम बत्तल^{१९} ।

उक्त उदाहरणों में तो सबरी शब्द के पूर्व सवधकारकीय शब्द का प्रयोग किया गया है, परंतु कहीं कहीं उसके बाद भी सर्वनाम आया है; जैसे—घान मम खाई^{२०} ।

आ. मेरी—मेरी मकल जीबिका^{२१} । मेरी नौका^{२२} । मेरी ब्रह्मियनि^{२३} ।

भवधी शब्द के परवान् भी इस सवधकारकीय सर्वनाम रूप का प्रयोग सूरदास ने निम्नकोच किया है, जैसे—प्रदिना मेरी^{२४} । विनती मेरी^{२५} । भीख मेरी^{२६} ।

इ. मेरे—मेरे गुन-अंगुन^{२७} । मेरे मन^{२८} । मेरे प्रान जिवन-धन^{२९} ।

भवधी शब्द के परवान् भी कहीं-कहीं यह सवधकारकीय सर्वनाम रूप दिखायी देता है, जैसे—द्वार मेरे^{३०} ।

ई. मेरी—मेरी जिय^{३१} । मेरी गर्व^{३२} । मेरी सांझियाँ^{३३} ।

६. सा. २५३९ ।

७. सा. १-१३९ ।

८. सा. १०-१५१ ।

९. सा. ८४३ ।

१०. सा. १११० ।

११. सा. २२४७ ।

१२. सा. १-२४३ । १३. सा. १-१३८ । १४. सा. १७७१ । १५. सा. २३२० ।

१६. सा. १-२४६ । १७. सा. २-१ । १८. सा. ९-३२ । १९. सा. ९-१५३ ।

२०. सा. १-२५४ । २१. सा. ९-४१ । २२. सा. ९-४२ । २३. सा. १०-१३९ ।

२४. सा. ७-५ । २५. सा. ४९३ । २६. सा. ९-३४ । २७. सा. १-१११ ।

२८. सा. ९-२ । २९. सा. ३७- । ३०. सा. ९-१२९ । ३१. सा. ९-४२ ।

३२. सा. १०-५९ । ३३. सा. ५७७ ।

संबंधी शब्द के पश्चात् भी 'मेरी' का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है; जैसे—
स्वामि मेरी जागि है^{३४} । मन मेरी^{३५} ।

कुछ उदाहरण सूर-काव्य में ऐसे भी मिलते हैं जिनमें संबधकारकीय सर्वनाम-रूप संबंधी शब्द के बाद में आया है और दोनों के बीच में अन्य शब्द आ गये हैं; जैसे—

कह्यो, न आव नाम मोहि मेरी^{३६} । हृदय कठोर कुलिस तं मेरी^{३७} ।

उ. मो—मो मस्तक^{३८} । मो रिपु^{३९} । मो कुटुंब^{४०} । मो मन^{४१} ।

ऊ. मोर—संबधकारकीय इस सर्वनाम रूप के प्रयोग की विशेषता यह है कि वाक्य में प्रायः सर्वत्र इसे संबंधी शब्द के पश्चात् ही सूरदास ने रखा है, जैसे—समय मोर^{४२} । जीवन-धन मोर^{४३} । बालक मोर^{४४} । मनोरथ मोर^{४५} ।

कही-कही संबंधी शब्द और संबधकारकीय 'मोर' के बीच में एक-दो शब्द भी सूरदास ने रख दिये हैं, जैसे—धर्म विनासन मोर^{४६} ।

ए मोरि—इस संबधकारकीय रूप का प्रयोग सूर-काव्य में अपेक्षाकृत कम मिलता है और मोर के समान अधिकतर संबंधी शब्द के पश्चात् ही सूरदास ने इसका प्रयोग किया है, जैसे—बिनतीकीजो मोरि^{४७} ।

ऐ मोरी—'मोरि' के समान ही इस संबधकारकीय सर्वनाम के प्रयोग भी सूर-काव्य में बहुत कम मिलते हैं और सो भी प्रायः संबंधी शब्द के पश्चात्; जैसे—मोतिमरि मोरी^{४८} ।

कही-कही संबंधी शब्द और संबधकारकीय सर्वनाम रूप 'मोरी' के बीच में अन्य शब्द भी आ गये हैं, जैसे—मूमे मन-सपति सब मोरी^{४९} ।

ओ मोहि—'मोहि' संबधकारकीय रूप नहीं है, अपवादस्वरूप ही इसका प्रयोग इस कारक में सूरदास ने किया है, जैसे—छमो मोहि अपराधु^{५०} ।

'हम' का मूलरूप संबधकारकीय प्रयोग बहुवचन में तो अनेक पदों में मिलता है; परन्तु एकवचन में, एक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होने पर भी, इसकी ध्वनि अनेक की ओर सकेत करती है, जैसे—उत्तर दिसि हम नगर अजोध्या है सरजू के तीर^{५१} । सीता जो के इस 'हम' से सकेत निश्चय ही केवल अपने से नहीं, पति और देवर से भी है ।

'हम' एकवचन के विकृतरूपों में निम्नलिखित के संबधकारकीय प्रयोग सूर-साहित्य में मिलते हैं—

अ. हमरी—उने सम नहि हमरी (हरि की) ठकुराई^{५२} ।

आ. हमरे—तुम पति पांच, पांच पति हमरे (द्रौपदी के)^{५३} ।

३४. सां. ५७७ । ३५. सां. ३७५७ । ३६. सां. ४-१२ । ३७. सां. ७-५ ।

३८. सां. १-२७८ । ३९. सां. ७-२ । ४०. सां. ९-४२ । ४१. सां. ३७२९ ।

४२. सां. ९-२३ । ४३. सां. १०-३१० । ४४. सां. ३९८ । ४५. सां. २७६७ ।

४६. सां. ९-८३ । ४७. सां. ५८३ । ४८. सां. १९७७ । ४९. सां. १९३१ ।

५०. सां. ४९२ । ५१. सां. ९-४४ । ५२. सां. ४१९५ । ५३. सां. १-२५८ ।

इ. हमार—इस सबधकारकीय सर्वनाम रूप का प्रयोग एकवचन में 'हमारे' और 'हमरे' से अधिक मिलता है। सूरदास ने प्रायः सबधी शब्द के पश्चात् ही इसका प्रयोग किया है, जैसे—कह्यो सुक, सुनि साखि हमार^{५४}। सक्ट मिय हमार^{५५}। वहीं वहीं सबधी शब्द और कारकीय रूप के बीच में दो-एक अन्य शब्द भी सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—पीरुष देखि हमार^{५६}।

ई. हमारी—यह हमारी (सूर की) भेंट^{५७}।

सबधी शब्द के पूर्व 'हमारी' के प्रयोग के उदाहरण सूर-काव्य में कम हैं, परन्तु उसके पश्चात् प्रयोग के उदाहरण अनेक मिलते हैं, जैसे—सूरदास प्रभु हँसत कहा ही, मेटी बिपति हमारी^{५८}। मैं तोहि सत्य क्यों दुरजोधन, सुनि तू बात हमारी^{५९}। मापी देह हमारी (बाली की)^{६०}।

उ. हमारे—हमारे प्रभु ओगुन चित न धरो^{६१}।

परन्तु ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत कम है, अधिकतर उदाहरण ऐसे ही हैं जिनमें 'हमारे' का प्रयोग सबधी शब्द के बाद किया गया है, जैसे—घाम हमारे (सूर के) को^{६२}। नाय हमारे (सूर के)^{६३}। हरि जू कह्यो, सुनौ दुरजोधन, मत्य सुबचन हमारे^{६४}। तुम हित वधु हमारे^{६५}।

ऊ. हमारी—इस सबधकारकीय रूप का भी सबधी शब्द के पूर्व प्रयोग तो कम किया गया है, परन्तु उसके पश्चात् के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—अतरजामी नाउँ हमारी^{६६}। भक्तवद्धन है विरद हमारी^{६७}। बृथा होहु बर वचन हमारी^{६८}।

'मैं' और 'हम' (एकवचन) के विकृत सबधकारकीय रूपों में से बलात्मक रूप केवल प्रथम के ही अधिक मिलने हैं जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं।

अ. मेरीयै—इसका प्रयोग इने गिने पदों में मिलता है। साधारणतः सबधी शब्द के पूर्व ही कवि ने इसका प्रयोग किया है, जैसे—यह सब मेरीयै आइ कुमति^{६९}। निक्कट भएँ मेरीयै छाया मोकों दुख उपजावति^{७०}।

आ. मेरोइ—इस बलात्मक रूप का प्रयोग सूरदास ने दो-एक पदों में प्रायः सबधी शब्द के पूर्व ही किया है, जैसे—मेरोइ कपट-सनेहु^{७१}।

इ. मेरोई—'ओ' को 'ओ' बना देने की प्रवृत्ति के कारण सभा के 'सूरसागर' में 'मेरोई'—जैसे प्रयोग नहीं है; फिर भी अपवादस्वरूप एक-दो पदों में इसका प्रयोग मिल जाता है, जैसे - मेरोई भजन थापि माया सुख झुठयो^{७२}।

५४. सा. २-२। ५५. सा. ९-१४७। ५६. सा. ९-८९। ५७. सा. १-१४६।

५८. सा. १-१७३। ५९. सा. १-२४४। ६०. सा. ८-१४। ६१. सा. १-२२०।

६२. सा. १-१५१। ६३. सा. १-१८७। ६४. सा. १-२४२। ६५. सा. ९-१४७।

६६. सा. १-२४३। ६७. सा. १-२४४। ६८. सा. ९-३३। ६९. सा. १-३००।

७०. सा. १८५३। ७१. सा. ३१९६। ७२. सा. ३४५७।

ई. मेरीई—एकवचन संबंधकारकीय सर्वनामों के उक्त तीनों बलात्मक रूपों में इस शब्द का प्रयोग सूर-काव्य में कुछ अधिक मिलता है। अधिकांशतः इसका प्रयोग भी संबंधी शब्द के पूर्व ही दिखायी देता है; जैसे—यह तो मेरीई अपराधी^{७३}। मेरीई ज्यो जानै माई^{७४}।

७. अधिकरण कारक—इस कारक के विभक्तिरहित विकृत प्रयोगों में दो रूप प्रधान हैं—‘मेरै’ और ‘हमारै’। एकवचन अप्रधान रूपों में ‘मोहि’ का प्रयोग अपवाद-स्वरूप दिखायी देता है। ‘हो’ के मूल या विकृत, किसी भी रूप का प्रयोग अन्य कारकों की भांति इसमें भी नहीं मिलता।

क. सामान्य विभक्तिरहित प्रयोग—

अ. मेरै—पाट बिरध ममता है मेरै^{७५}। मैं-मेरी अब रही न मेरै^{७६}। मेरै नहि सत्राई^{७७}।

आ. हमारै—हरि, तुम क्यों न हमारै (दुर्योधन के) आए^{७८}। खेलन कबहुँ हमारै (कृष्ण के) आवहु^{७९}। रैन बसत कहूँ, भोर हमारै आवत नही लजाने^{८०}।

इ. मोहि—विभक्तिरहित ‘मोहि’ के अधिकरणकारकीय प्रयोग एक-दो पदों में मिल जाते हैं, जिन्हें अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए, जैसे—अब मोहि कृपा कीजियै सोई^{८१}।

ख. विभक्तिसहित प्रयोग—एकवचन सर्वनाम रूपों के साथ जिनका प्रयोग विशेष रूप से सूर-काव्य में मिलता है, वे हैं पर, पै, पै, महिमाँ, माँझ और मैं। मो, मोहि, मोहीं और हम (एकवचन) के साथ इनका प्रयोग कवि ने अधिक किया है; जैसे—

अ. मो पर—कियो बृहस्पति मो पर कोहु^{८२}। चली जाउ सैना सब मो पर^{८३}। मो पर ग्वानि कहा रिमाति^{८४}। मो पर रिस पावति हो^{८५}।

आ. मो पै—थाती प्रान तुमारी मो पै^{८६}। नहुप कहाँ, इंद्रानी मो पै आवै^{८७}। मो पै काहे न आवत^{८८}। मो पै कहा रिसान्यो^{८९}।

इ. मो मैं—कै कछ मो मैं झोलो^{९०}। औगुन और बहुत हैं मो मैं^{९१}। मो मैं एक भलाई^{९२}। पिय जिय मो मैं^{९३} नाहि।

ई. मोहि पर—‘मोहि’ के साथ ‘पर’ विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने बहुत कम किया है, पर किया अवश्य है, जैसे—कृपा करि मोहि पर^{९४}।

७३. सा. १०९२।

७४. सा. २०८९।

७५. सा. १-१४१।

७६. सा. २-३३।

७७. सा. ४-५।

७८. सा. १-२४४।

७९. सा. ६७४। ८०. सा. २५४६। ८१. सा. ४-५। ८२. सा. ६-५।

८३. सा. ९-१०७। ८४. सा. १३३३। ८५. सा. १३३४। ८६. सा. १-१९६।

८७. सा. ६-७। ८८. सा. १३६९। ८९. सा. १८२३। ९०. सा. १-१३६।

९१. सा. १-१८६। ९२. सा. १-२९०। ९३. सा. २१०४। ९४. सा. १-२१४।

उ. मोहिं महियाँ—यह प्रयोग भी सूर-काव्य में एक-दो पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—होँ उन माहिं कि वै मोहिं महियाँ^{१५} ।

ऊ. मोहिं माँझ—‘मोहिं’ के साथ ‘माँझ’ विभक्ति भी दो-एक पदों में ही दिखायी देती है, जैसे—जानत होँ प्रभु अतरजामी जो मोहिं माँझ परी^{१६} ।

ए. मोहों पर—‘मोहिं’ की अपेक्षा ‘मोहों’ का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है, परन्तु इसके साथ ‘पर’ विभक्ति ही प्रायः प्रयुक्त हुई है, जैसे - ग्वारिनि मोहों पर सतरानी^{१७} । यह चतुरई परी मोहों पर^{१८} । तू मोहों पर खरी परी^{१९} ।

ऐ. हम पै—‘हम’ (एकवचन) के साथ ‘पै’ विभक्ति का प्रयोग कवि ने कभी-कभी ही किया है, जैसे - कहा भयो जो हम (वृष्ण) पै आई^{२०} । इतने गुन हम पै कही^{२१} ।

ओ. हम पै—‘हम पै’ के समान ही ‘हम पै’ का प्रयोग भी कुछ पदों में दिखायी देता है, जैसे—हम पै नाहि कन्हाइ^{२२} । समाचार सब उनके लै हम (हरिजू) पै चलि आवहु^{२३} ।

ग अन्य प्रयोग—उक्त रूपों के अनिरिक्त सूर-काव्य में अधिकरणकारकीय कुछ नामान्वय प्रयोग और मिलते हैं, जैसे—

अ. मो मो—उक्त विभक्तियों के अनिरिक्त दो-एक पदों में ‘मो’ विभक्ति का भी प्रयोग किया गया है जिसे ‘मैं’ का रूपान्तर समझना चाहिए, जैसे—कछु न भक्ति मो मो^{२४} ।

आ. मेरे पर—इसी प्रकार अपवादस्वरूप दो-एक पदों में सवधकारकीय एकवचन सर्वनाम रूप ‘मेरे’ के साथ अधिकरणकारकीय ‘पर’ विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—एकँ चीर हुतो मेरे पर^{२५} । कँसँ दौरि परी मेरे पर^{२६} ।

ई. मोकों—कर्मकारकीय सविभक्ति सर्वनाम रूप ‘मोकों’ का प्रयोग भी एक-दो पदों में अधिकरणकारक में प्रयुक्त मिलता है, जैसे—हरि, वृषा मोकों करि^{२७} ।

इ. हमरें—दो-एक पदों में सवधकारकीय रूप ‘हमरें’ में ‘एँ’ के योग से अधिकरणकारकीय रूप बना लिया गया है, जैसे—उरवसी कहयो, विना वाम हमरें नहि चाह^{२८} ।

उ. हमहों पर—एकाकीपन सूचक ‘हमहों’ के साथ ‘पर’ विभक्ति का प्रयोग भी अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए, जैसे—हमहों पर पिय स्ने हो^{२९} ।

सारांश—विभिन्न विभक्तियों के पूर्व पुरुषवाचक एकवचन सर्वनाम किन रूपों में आते हैं और विभक्ति का संयोग होने पर उनके कितने रूप हो जाते हैं, सूरदास के उक्त प्रयोगों के आधार पर उनकी सूची इस प्रकार है । इनमें कोष्ठबद्ध रूप अप्रधान हैं ।

१५. सा. १०-१३५ । १६. सा. १-१८४ । १७. सा. १३३१ । १८. सा. १७६७ ।

१९. सा. २४३४ । १. सा. १०१७ । २. सा. २६८८ । ३. सा. ६८२ ।

४. सा. ४१६० । ५. सा. १-१५१ । ६. सा. १-२४७ । ७. सा. १९५६ ।

८. सा. १०-२५२ । ९. सा. ९-२ । १०. सा. २६९१ ।

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	मैं हों (हम)	...
कर्म	मैं (हों) (हम)	मोकौ, मोहि, (हमकौ), (हमहि) (हमैं) ।
करण	(मैं) (मो) (हम)	मोकौ, मोतैं, मोपैं, (मोते), मोतैं, मोसों, मोहि, (हमतैं), (हमसों) ।
संप्रदान	(मैं-मो) (हम)	(मो कहैं), मोकौ, मोसों, मोहि, (मोहि करि), मोही (हमहि), (हमैं) ।
अपादान	...	मोतैं, (हमतैं) ।
संबध	मम	मेरी, मेरे, मेरी, मो, मोर, (मोरि), (मोरी), (मोहि), (हमरी), (हमरे), (हमार) (हमारी), हमारे, हमारी ।
अधिकरण	मेरै (मोहि) हमरै	(मेरे पर), (मोकौ), मो पर, मो पै, मो मैं, (मो मौ), (मोहि पर), (मोहि महियां), (मोहि माँज), (मोही पर), (हम पै), (हम पै) ।

उत्तम पुरुष बहुवचन के कारकीय प्रयोग—

विभिन्न कर्त्तकों में, उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम 'हम' का प्रयोग सूर-काव्य में, मूल और विकृत, दोनों रूपों में किया गया है ।

कर्त्ताकारक—इस कारक को विभक्ति 'ने' है; परंतु सूरदास ने सर्वत्र विभक्तिरहित 'हम' के ही सामान्य और बलात्मक प्रयोग किये हैं ।

क. सामान्य प्रयोग—मूल और विकृत रूपों में समानता के कारण 'हम' का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—सुखी हम रहत^{११} । रिपिनि तासौ कह्यौ, आउ हम नृपति तुमकौ बचावै^{१२} । हम तिहुँ लोक माहि फिरि आए^{१३} । बसन बिना असनान करति हम^{१४} ।

ख. बलात्मक प्रयोग—'हम' के साथ, उसको बलात्मक रूप देने के लिए 'हों', 'हैं' और 'हैं' का प्रयोग सूरदास ने सर्वत्र किया है; जैसे—

ध. हमहीं—हमहीं कहति बजावहु मोहन^{१५} । हमहीं कुलटा नारि^{१६} । यह पुनीत, हमहीं अपराधिनि^{१७} । चरिन हमहीं देखैगो, जैसे नाच नचावहुगे^{१८} ।

आ हमहुँ—सुनि जु लीजै कछू हमहुँ जानै^{१९} । हमहुँ स्याम को धावै^{२०} । कैसे हरि संग हमहुँ विहारै^{२१} ।

इ हमहूँ—हमहूँ कह्यो^{२२} । हमहूँ सुख पावै^{२३} ।

२ कर्मकारक—सूर-काव्य में बहुवचन सर्वनाम 'हम' के जो कर्मकारकीय रूप प्राप्त होते हैं, उनमें मुख्य नीचे दिये जाते हैं ।

अ हम—कौन काज हम महरि हँकारी^{२४} । हरि हम तब काहै को राखी^{२५} । इहि कृविजा हम जारो^{२६} । उर तैं निकनि नदनदन हम सीतल क्यो न वरो^{२७} ।

आ हमैं—यह 'हम' का विभक्तिरहित विवृत रूप है जिसका प्रयोग सूरदास ने कर्मकारक में बराबर किया है, जैसे—सूर बिसारहु हमैं न स्याम^{२८} । काहे तैं तुम हमैं निवारयो^{२९} । हमैं वहाँ बेती किन कोई^{३०} । मुरली निदरि हमैं अधरनि रस पीवति^{३१} ।

इ हमको—'हम' के विभक्तियुक्त कर्मकारकीय रूपों में प्रमुख है 'हमको' । इसके प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलते हैं, जैसे—उन हमको कैसे बिसरायो^{३२} । तिन भय मान्यो हमको देखि^{३३} । बँध जानि हमको बहरावत^{३४} । तुम हमको कहें कहें न उदारयो^{३५} ।

ई हमहि—कर्मकारक में प्रयुक्त दूसरा विभक्तियुक्त रूप है 'हमहि' जिसका प्रयोग भी, 'हमको' के समान, सर्वत्र मिलता है, जैसे—हमहि स्याम तुम जनि बिसरावहु^{३६} । हमहि पठाइ दिए नंदनन्दन^{३७} । प्रभु, तुम जहां तहें हमहि लेत बचाइ^{३८} ।

कर्मकारक के बलात्मक रूप 'हमहूँ' का प्रयोग भी गिने-चुने पदों में दिखायी देता है ; जैसे—हमहूँ किन लैं जाहि सूर प्रभु^{३९} ।

३. करणकारक—सूरदास के करणकारकीय बहुवचन प्रयोगों में विभक्तियुक्त रूपों की ही प्रधानता दिखायी देती है । को, तै, पै, पै, सन ओर सों—इन छह विभक्तियों के अनिरिक्त विभक्ति-प्रत्यय 'हि' के योग से भी करणकारकीय रूप सूरदास ने बनाये हैं ।

अ. हमको—वस्तुतः यह कर्मकारकीय रूप है, जिसका सूरदास ने कुछ पदों में

१५. सा. १३१४ ।	१६. सा. १८४४ ।	१७. सा. २०५९ ।	१८. सा. २५२५ ।
१९. सा. १७२९ ।	२०. सा. २२५५ ।	२१. सा. २९१० ।	२२. सा. १५२५ ।
२३. सा. १५४६ ।	२४. सा. ८९० ।	२५. सा. ३२०९ ।	२६. सा. २६४० ।
२७. सा. ३७९० ।	२८. सा. १-२८१ ।	२९. सा. ६-४ ।	३०. सा. ९-२ ।
३१. सा. ६५६ ।	३२. सा. ४-५ ।	३३. सा. ६-४ ।	३४. सा. ९-३ ।
३५. सा. ५०२ ।	३६. सा. ४५० ।	३७. सा. ४५४ ।	३८. सा. ५०४ ।
३९. सा. ३८४९ ।			

करणकारक में भी प्रयोग किया है; जैसे—पर्वत पर बरसहु तुम जाई ।
यहै कही हमको भुरराई^{४०} । ऐसे हरि हमको कही, कहूँ देखे हो सी^{४१} ।

आ. हमत—इस करणकारकीय रूप का प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है, जैसे—
चूक परी हमत यह भोर^{४२} । कहहु कहा हमत विगरी^{४३} । ऐसी कथा कपट
की मधुकर, हमत सुनी न जाही^{४४} ।

इ. हमपै—सूर-काव्य में करणकारक का यह रूप भी आदि से अंत तक पाया
जाता है, जैसे—हमपै घोष गयी नहि जाई^{४५} । ऐसी दान मांगियै नहि
जो हमपै दियो न जाई^{४६} । सूयै गोरम मांगि कछु लै हमपै खाहु^{४७} । सह्यो
परत हमपै नही^{४८} ।

ई. हमपै—‘हमतै’ और ‘हमपै’ के समान ‘हमपै’ का प्रयोग भी सूरदास ने इस
कारक में बहुत किया है, जैसे कंस सह्यो जात हमपै यह जोग जु पठै दयो^{४९} ।
कंस सह्यो परति अब हमपै मन मानिक की हानि^{५०} । ऐसी जोग न हमपै
होइ^{५१} । दान जु मांगै हमपै^{५२} ।

उ. हम सन—करणकारकीय उक्त सभी विभक्तियों में सबसे कम प्रयोग सूर ने ‘सन’
का ही किया है । अपवादस्वरूप इसके उदाहरण दो-एक पदों में ही मिलते
हैं; जैसे—सूर सु हरि अब मिलहु कृपा करि, बरबस समर करत हट हम सन^{५३} ।

ऊ. हमसों—इसका भी करणकारक में सूरदास ने सर्वत्र प्रयोग किया है, जैसे—
मांगि लेउ हमसों बर सार^{५४} । (ब्रह्मा) मांगि लेइ हमसों बर सोइ^{५५} । ठग
के लच्छन हमसों सुनियै^{५६} ।

बहुवचन मूलरूप ‘हम’ के बलात्मक रूप ‘हमहूँ’ के साथ भी कही-कही कवि ने ‘सों’
विभक्ति का प्रयोग किया है, जैसे—बरबस ही इन गही चपलता, करत फिरत हमहूँ सों
चोरी^{५७} । हुतौ कछु हमहूँ सों नातौ निपट कहा बिसराई^{५८} ।

ए. हमहीं—सूरदास द्वारा प्रयुक्त करणकारकीय रूपों में ‘हमहि’ भी प्रमुख रूप है;
जैसे—ब्रज के लोगनि धोइ बहावहु इद हमहि कह्यो आदर^{५९} । तब मानै सब
हमहि बतावहु^{६०} । हमहि कही तुम करति कहा यह^{६१} । हमहि कह्यो कही
स्याम दिखावहु^{६२} ।

४. संप्रदानकारक—इस कारक में मूल और विकृत रूप के विभक्तिरहित, विभक्ति-
सहित और बलात्मक, तीन प्रकार के प्रयोग मिलते हैं ।

क. विभक्ति-रहित प्रयोग—इस प्रकार के प्रयोगों में मूल सर्वनाम रूप ‘हम’ और
विकृत रूप ‘हमैं’ के निम्नलिखित उदाहरण आते हैं—

४०. सा. ९३५ ।	४१. सा. १११८ ।	४२. सा. ३४४ ।
४३. सा. ३७७७ ।	४४. सा. ३९२४ ।	४५. सा. १०२२ ।
४७. सा. १६१८ ।	४८. सा. २८८२ ।	४६. सा. १४६२ ।
५१. सा. ३७९४ ।	५२. सा. ३७९५ ।	४९. सा. ३६२८ ।
५५. सा. ७-२ ।	५६. सा. १४१४ ।	५०. सा. ३६७८ ।
५९. सा. ८७९ ।	६०. सा. १५८४ ।	५३. सा. २११७ ।
		५४. सा. ४-३ ।
		५७. सा. २३०६ ।
		५८. सा. ४०९९ ।
		६१. सा. १६४४ ।
		६२. सा. १७६६ ।

- अ. हम—इसका सप्रदानकारक में अपवादस्वरूप प्रयोग दो-एक पदों में दिखायी देता है, जैसे—नैन करै सुख हम दुख पावै^{६३} । प्रगट दरस हम दीजै^{६४} ।
- आ. हमें—इस विभूत रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है; जैसे—सबनि कह्यो, देहु हमें मिखाइ^{६५} । हमें खिलाई फाग^{६६} । स्वामसुन्दर को हमें सँदेसो लायो^{६७} ।
- ख. विभक्ति-सहित प्रयोग—‘कहें,’ ‘को’ और ‘कों’—मुख्यतः इन्हीं विभक्तियों के प्रयोग से सूरदास ने सप्रदानकारकीय रूप बनाये हैं और वही-वही विभक्ति-प्रत्यय ‘हि’ युक्त रूपों का भी प्रयोग किया है ।
- अ. हम कहें—‘कों’ की अपेक्षा कहें विभक्तियुक्त सप्रदानकारकीय प्रयोग सूर-काव्य में कम हैं जैसे—मुरली हम कहें मोंति भई^{६८} । अरने वस्य किये नंदनदन वैरिनि हम कहें आई^{६९} ।
- अ. हमको—‘सूरसागर’ के दो-एक पदों में ‘को’ विभक्ति भी सप्रदानकारकीय रूप बनाने में काम आयी है, जैसे—निव-मकर हमको फल दीन्हौ^{७०} । वास्तव में ऐसे प्रयोगों का अपवाद ही समझना चाहिए, क्योंकि ‘को’ का प्रयोग तो सभा के सस्वरण में वदाचित् किसी भी कारकीय विभक्ति के रूप में नहीं किया गया है ।
- इ. हमको—सूरकाव्य में सप्रदानकारक की मुख्य विभक्ति ‘कों’ ही है । कवि ने इसका प्रयोग सर्वत्र किया है, जैसे—अपने सुत को राज दिवायो, हमको देत निवारी^{७१} । हमको दान देहु, पति छाँडहु^{७२} । मांगहि यह, देहु पति हमको^{७३} । हमको बच दैहो^{७४} ।
- ई. हमहि—‘हमको’ के समान ही ‘हमहि’ का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है, जैसे—तुम बिन राज हमहि बिहि काम^{७५} । चोली हार तुमहि को दीन्हो, चोर हमहि धो डारी^{७६} । मुरली हमहि उपाधि भई^{७७} । राधा सौ धरि दीनती, दीजै हमहि मंगाइ^{७८} ।
- उ. हमहो—यह ‘हमहि’ का दीर्घ स्वरात् रूप है जिसका प्रयोग भी सूरकाव्य में वही-वही दिखायी देता है, जैसे—लोचन बहु न दिये हमहो^{७९} । मृगी मुद्रा भस्म अघारी, हमहो कहा सिखावत^{८०} । तुम अज्ञान कतहि उपदेसत ज्ञान रूप हमहो^{८१} ।

ग. बलात्मक प्रयोग—सप्रदानकारकीय बलात्मक प्रयोग सूर-काव्य में दो-चार ही मिलते हैं जिनमें कुछ विभक्तिरहित हैं और कुछ विभक्तिसहित, जैसे—

अ. हमहूँ—धनि धनि मूर आज हमहूँ जो तुम सब देखे पाए^{८२} ।

६३. सा. २२५६ ।	६४. सा. ३९१२ ।	६५. सा. ७-२ ।	६६. सा. ३१५५ ।
६७. सा. ३४९७ ।	६८. सा. १२४० ।	६९. सा. १२७० ।	७०. सा. ७९८ ।
७१. सा. ९-४४ ।	७२. सा. ५७५ ।	७३. सा. ७६४ ।	७४. सा. १७६६ ।
७५. सा. १-२८१ ।	७६. सा. ७८८ ।	७७. सा. १२७२ ।	७८. सा. २९१५ ।
७९. सा. १८४८ ।	८०. सा. १८१२ ।	८१. सा. ३९०० ।	८२. सा. ४०९२ ।

आ. 'हमहूँ' कौं—हमहूँ कौं अपराध लगावहि, येऊ भई दिवानी^{८३} ।

५. अपादान कारक—इस कारक में प्रयुक्त एववचन के समान बहुवचन में भी रूपों की संख्या बहुत कम है। हमतैं, हमहि, हमहूँ तैं—इन तीन अपादानकारकीय रूपों के ही प्रयोग 'सूर-काव्य' में मिलते हैं ।

अ. हमतैं—यह इस कारक का मुख्य प्रयोग है। इसके उदाहरण सूर-काव्य में सर्वत्र मिलते हैं, जैसे—दीन आजु हमतैं कोउ नाही^{८४} । हमतैं तप मुरली न करे रो^{८५} । हमतैं बहुत तपस्या नाही^{८६} । सूर सुनिधि हमतैं है बिछुरत^{८७} ।

आ. हमहि—इस रूप के प्रयोग केवल दो-एक पदों में मिलते हैं, जैसे—को पुनि हमहि दुराव करीगो^{८८} ।

इ. हमहूँ तैं—बलात्मक 'हमहूँ' के साथ 'तैं' विभक्ति का प्रयोग भी दो-एक पदों में ही सूर-काव्य में मिलता है, जैसे—बात कहा बनावति मोसों हमहूँ तैं तू चतुर भई^{८९} ।

६. संबधकारक—बहुवचन के संबधकारकीय रूपों में से हम, हमरी, हमरे, हमरी, हमार, हमारी, हमारे और हमारी—इन आठ रूपों का सूरदास ने अधिकतर प्रयोग किया है ।

अ. हम—जाइ हम दुख सारो^{९०} । उत्तर दिसि हम नगर अजोघ्या^{९१} । बड़े भाग हैं श्रीगोकुल के, हम मुख कहे न जाही^{९२} ।

आ. हमरी—हमरी जय^{९३} । हमरी पति^{९४} । मर्यादा पतिया हमरी^{९५} । हमरी बिया^{९६} । हमरी सुरति^{९७} ।

इ. हमरे—हमरे गुनहि^{९८} । हमरे प्रीतम^{९९} । हमरे प्रेम-नेम^{१००} । हमरे मन^{१०१} । हमरे मिलन^{१०२} ।

ई. हमरी—इस सर्वनाम रूप और उसके संबधी शब्द के बीच में कही-कही कुछ अन्य शब्द भी आ गये हैं, जैसे—हमरी चीतो^{१०३} । हमरी कछू दोष^{१०४} । नाउँ सुनि हमरी^{१०५} । प्रतिपाल कियो तुम हमरी^{१०६} । फगुआ हमरी^{१०७} । मन करव्यो हमरी^{१०८} ।

उ. हमार—उक्त रूपों की अपेक्षा 'हमार' का प्रयोग सूरदास ने कम किया है;

८३. सा. २२६१ ।	८४. सा. १०२९ ।	८५. सा. १३४७ ।	८६. सा. १३४९ ।
८७. सा. २९८४ ।	८८. सा. १७७० ।	८९. सा. २०१२ ।	९०. सा. ४-११ ।
९१. सा. ९-४४ ।	९२. सा. २९१६ ।	९३. सा. ७-७ ।	९४. सा. ७९९ ।
९५. सा. ४०६४ ।	९६. सा. ३६७७ ।	९७. सा. ३३८२ ।	९८. सा. ३५४३ ।
९९. सा. ३७४३ ।	१. सा. ३७२९ ।	२. सा. ३७०९ ।	३. सा. ३२५४ ।
४. सा. १०-३७ ।	५. सा. ३६३५ ।	६. सा. १२८७ ।	७. सा. ३११२ ।
८. सा. २९१५ ।	९. सा. १८१७ ।		

फिर भी अनेक पदों में यह मिलता है; जैसे—मन हमार^{१०} । सिख-साखि हमार^{११} । हृदय हमार^{१२} ।

ऊ. हमारी—‘हमरी’ के समान वही यह सबधी शब्द के पहले आया है, वही बाद में और वही-वही दोनों के बीच में अन्य शब्द भी मिलते हैं; जैसे—हमारी आस^{१३} । इंद्री खड्ग हमारी^{१४} । जननि हमारी^{१५} । हमारी जन्मभूमि^{१६} । व्यथा हमारी^{१७} । हमारी साध^{१८} ।

ए. हमारे—हमारे अवर^{१९} । अपराध हमारे^{२०} । कुल, इष्ट हमारे^{२१} । हमारे देहु मनोहर चौर^{२२} । दीनानाथ हमारे ठाकुर^{२३} । प्रान हमारे^{२४} । मनहरन हमारे^{२५} ।

ऐ. हमारी—इस रूप का प्रयोग अधिकतर सबधी शब्द के बाद किया गया है और वही-वही दोनों के बीच में भी एक-दो शब्द आ गये हैं, जैसे—अकाज हमारी^{२६} । अपराध हमारी^{२७} । जिय एक हमारी^{२८} । जीवन-प्रान हमारी^{२९} । नाउं हमारी^{३०} । भूपन देखि न सक्त हमारी^{३१} ।

७ अधिकरण कारक—इस कारक में विभक्तिरहित विकृत रूप और विभक्ति-सहित मूल रूप के प्रयोग सूरदास ने अधिकांश में किये हैं ।

क. विभक्ति-रहित विकृत रूप—हमरे, हमरें और हमारें इन तीन रूपों के विभक्तिरहित प्रयोग ही ‘सूरसागर’ में अधिकतर मिलते हैं, जैसे—

अ. हमरे—हमरे प्रयमहि नैन को^{३२} । नदनदन बिनु हमरे को जगदीस^{३३} ।

आ. हमरें—सबधकारकोय रूप ‘हमरें’ के साथ अनुस्वार का संयोग करके यह रूप बनाया गया है । इसका प्रयोग सूरदास ने दो-एक पदों में किया है, जैसे—तुम लायक हमरें कछु नाही^{३४} । हमरें कौन जोग ब्रत साधै^{३५} ।

इ. हमारें—‘हमरें’ के समान ही ‘हमारे’ का भी रूप-निर्माण हुआ है; परंतु उसकी अपेक्षा इसका प्रयोग ‘सूरसागर’ में अधिक मिलता है; जैसे—हरि सौ पुत्र हमारें होइ^{३६} । हमारें सूर स्याम की ध्यान^{३७} । गृह जन की नाहि पीर हमारें^{३८} ।

जो कछु रह्यो हमारें सो लै हरिहि दियो^{३९} ।

१०. सा. ३२८५ ।

११. सा. २-२ ।

१२. सा. ३८०८ ।

१३. सा. ७३५ ।

१४. सा. १-१४४ ।

१५. सा. ३४७ ।

१६. सा. ९-१६५ ।

१७. सा. ३७६५ ।

१८. सा. २२६८ ।

१९. सा. ७८८ ।

२०. सा. ९-५२ ।

२१. सा. ९-१६७ ।

२२. सा. ७९२ ।

२३. १-१९ ।

२४. सा. ३७६१ ।

२५. सा. १२९५ ।

२६. सा. १२४२ ।

२७. सा. १०८८ ।

२८. सा. १०-२६६ ।

२९. सा. १६१२ ।

३०. सा. १७५७ ।

३१. सा. १५४१ ।

३२. सा. ३५५९ ।

३३. सा. ३७०२ ।

३४. सा. ९१८ ।

३५. सा. ३८९५ ।

३६. सा. ३-१३ ।

३७. सा. ७८२ ।

३८. सा. १०२८ ।

३९. सा. २३०४ ।

;

ई. हमें—इस सर्वनाम रूप का अधिकरणकारकीय प्रयोग भी दो-चार पदों में दिखायी देता है; जैसे—हमै-तुम्हे सवाद जु भयो^{४०} ।

ख. विभक्तिसहित प्रयोग—पर, पै और मैं, इन तीन विभक्तियों के साथ-साथ 'कों' के योग से भी अधिकरणकारकीय रूप सूरदास ने बनाये हैं—

अ. हम पर—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने सबसे अधिक किया है; जैसे—गए हरि हम पर रिस करि^{४१} । हम पर कोष करावति^{४२} । सद्य हृदय हम पर करो^{४३} ।

आ. हम पै—इसके प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलते हैं, जैसे—सूरदास वैसी प्रभुता तजि, हम पै कब वै आवै^{४४} ।

इ. हम मैं—इसका प्रयोग भी दो-एक पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—को मारो की सरन उबारो । हममें कहा रह्यो अब गारो^{४५} ।

ई. हमकों—अपवादस्वरूप इस कर्मकारकीय रूप का भी प्रयोग अधिकरणकारक में एक-दो पदों में दिखायी देता है, जैसे—जब जब हमकों विपदा परो^{४६} ।

सारांश—उत्तमपुरुष बहुवचन सर्वनाम 'हम' के मूल और विकृत विभक्तिरहित और सहित जिन प्रधान और अप्रधान रूपों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्ता	हम	...
कर्म	हम, हमें	हमकों, हमहि ।
करण		(हमको), हमतै, हमपै, हमपै, (हम सन), हमसों, हमहि (हमही) ।
संप्रदान	(हम), हमें	(हम कहै), (हमको), (हमकों), हमहि, हमही ।
अपादान	...	हमतै, (हमहि) ।
संबन्ध	हम	हमरो, हमरे, हमरो, हमार, हमारी, हमारे, हमारी ।
अधिकरण	(हमरै), (हमारै), (हमैं)	हम पर, (हम पै), (हममें), (हमकों) ।

मध्यमपुरुष सर्वनामों की रूप-रचना—

व्रजभाषा में पुरुषवाचक मध्यमपुरुष 'तू' के जो रूप दोनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

४०. सा. ३-१३ । ४१. सा. ५८९ । ४२. सा. ६५५ । ४३. सा. ११८० ।

४४. सा. २४०५ । ४५. सा. ९४२ । ४६. सा. १-२८१ ।

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	तू, तूं, तैं, तै, तुम	तुम
विकृत	तो	तुम

मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनामों के कारकीय प्रयोग —

मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनामों के विभक्ति से रहित और सहित जो विभिन्न कारकीय रूप 'सूरसागर' में मिलते हैं, उनमें से कुछ यहाँ संकलित हैं ।

१. कर्ताकारक — इस कारक में कवि ने अधिकांशतः मूल रूपों—तू, तूं, तैं और तुम (एकवचन) —के सामान्य और बलात्मक प्रयोग किये हैं । 'तैं' के उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में भले ही मिलें, सभा के 'सूरसागर' में इसको स्थान नहीं दिया गया है । दूसरी बात यह है कि इस कारक में प्रयुक्त प्रायः न ही रूप विभक्ति-रहित हैं ।

क. सामान्य प्रयोग—तुम (एकवचन), तूं, तू और तैं—इस कारक में इन्हीं चार रूपों का सूर ने विशेष प्रयोग किया है ।

अ. तुम इस बहुवचन रूप का एक व्यक्ति के लिए प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र किया गया है, जैसे तुम (कृष्ण) जब मोनों पतित उधारचो^{४७} । तुम (गोपाल) अतर दै बिच रहे लुकाने^{४८} । यह तुम (ब्रह्मा) मोनों करो बन्धान^{४९} । तुम (राजा) कहौ^{५०} ।

आ. तूं—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने इने-गिने पदों में ही किया है, जैसे—
कत तूं सुआ होत मेमर को^{५१} ।

इ. तू—'तूं' की अपेक्षा 'तू' का प्रयोग सूरदास ने बहुत अधिक किया है । जैसे—
भएँ अपमान उहाँ तू मरिहै^{५२} । अत्स्य कहाँ, आँखि अब मीचि तू^{५३} । जो तू रामहि दोष लगावै^{५४} । तब तू गयो सून भवन^{५५} ।

ई. 'तैं'—'तू' के समान 'तैं' का प्रयोग भी कवि ने बहुत किया है, जैसे—
तैं निव को महिमा नहि नही^{५६} । तैं यह कर्म कौन है कियो^{५७} । तैं जोवन-मद तैं यह कोन्यो^{५८} ।

स. बलात्मक प्रयोग — उक्त चारों मूल रूपों में से 'तूं' के अतिरिक्त शेष तीनों के बलात्मक प्रयोग सूरदास ने किये हैं और इस संबंध में उनकी विशेषता यह है कि कुछ रूपों के तो एक से अधिक बलात्मक रूपों का उन्होंने निर्माण किया है ।

ज. तुमहि—श्रान विनु हम सब भए तैं तुमहि (कृष्ण ने ही) दिया जवाइ^{५९} ।
कौन लीजै, कौन लजियै, सखि, तुमहि कहौ जानि^{६०} । हमको ल तहँ तुमहि (स्वामी ने ही) दयायो^{६१} ।

४७. सा. १-१३२ ।

४८. सा. १-२१७ ।

४९. सा. २-३५ ।

५०. सा. ५-४ ।

५१. सा. १-५९ ।

५२. सा. ४-५ ।

५३. सा. ८-१६ ।

५४. सा. ९-७७ ।

५५. सा. ९-९७ ।

५६. सा. ४-५ ।

५७. सा. ९-३ ।

५८. सा. ९-१७४ ।

५९. सा. ५०४ ।

६०. सा. १४५९ ।

६१. सा. १६१६ ।

आ. तुमहीं—तुमहीं (नरहरि) करत त्रिगुन बिस्तार^{६२} । तुमहीं कही^{६३} । श्री तुमहीं (श्रीकृष्ण) देखो^{६४} ।

इ. तुमहुँ—मृतक सुरनि को तुमहुँ (मुद्गुरु) जिवावो^{६५} । तुमहुँ (सजनी) कही यह बानी^{६६} ।

ई. तुमहु—जाहु तुमहु बलराम^{६७} । त्यों मेरो मन तुमहु (प्रिय) हरी^{६८} ।

उ. तुमहूँ—तुमहूँ (गुरु) यह बिद्या पढि आवो^{६९} । नवल स्याम, नवला तुमहूँ हो^{७०} ।

ऊ. तुहि—इस रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही एक-दो पदों में दिखायी देता है, जैसे—ज्ञान तुहि कर्म तुहि विस्वकर्मा तुही^{७१} ।

ऋ. तुहीं—‘तुहि’ की अपेक्षा इस रूप का प्रयोग ‘सूरसागर’ में बहुत अधिक मिलता है, जैसे—तुहीं न लेत जगाय^{७२} । तुहीं किषी ठग मूरी खाई^{७३} । स्याम को इक तुहीं जान्यो^{७४} । तुहीं पिय भावति^{७५} ।

ए. तुहूँ—‘तुहीं’ के समान ही इस बलात्मक रूप का भी प्रयोग सूरदास ने खूब किया है, जैसे तुहूँ उठति काहँ नही^{७६} । मौसौ कहत, तुहूँ नहि आवँ^{७७} । बिहरत हरि जहाँ, तहाँ तुहूँ आव री^{७८} ।

ऐ. तूही—इस रूप का प्रयोग ‘सूरसागर’ में कही-कही दिखायी देता है, जैसे - सर्प रूप तूही (नृप) होहि^{७९} । सठ, हठ करि तूही पछिनैहै^{८०} ।

ओ. तैहों—रोति यह नई तैहों चलाई^{८१} । तैही स्याम भले पहिचाने^{८२} । तैहीं उनको मूड चढायो^{८३} ।

औ. तैहूँ—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत कम किया है; जैसे—तैहूँ जो हरि हित तप करिहँ^{८४} ।

२. कर्मकारक—इस कारक में प्रयुक्त मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनाम-रूप मुख्यतः दो प्रकार के हैं—विभक्तिरहित और विभक्तिमहित । दूसरे प्रकार के प्रयोगों में ‘हि’ और ‘को’, दो विभक्तियों का आश्रय कवि ने अधिक लिया है ।

क. विभक्तिरहित रूप—इस प्रकार के रूपों में ‘तुम’ (एकवचन), तू और तुम्हें (एकवचन) प्रधान हैं ।

अ. तुम—इस रूप का प्रयोग गिने-चुने पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—बूझी जाइ जिनहि तुम (मधुकर) पठए^{८५} । तुम देखे अरु ओऊ^{८६} ।

६२. सा. ७-२ ।

६३. ९-१७२ ।

६४. सा. १०-२०७ ।

६५. सा. ९-१७३ ।

६६. सा. १७३२ ।

६७. सा. ३७९ ।

६८. सा. ११४७ ।

६९. सा. ९-१७३ ।

७०. सा. १८५९ ।

७१. सा. ४१९८ ।

७२. सा. ५८९ ।

७३. सा. १४११ ।

७४. सा. १८४३ ।

७५. सा. २५७८ ।

७६. सा. १९६६ ।

७७. सा. २२५२ ।

७८. सा. २८८७ ।

७९. सा. ६-७ ।

८०. सा. ८०४ ।

८१. सा. १७३० ।

८२. सा. १८४४ ।

८३. सा. २०८८ ।

८४. सा. ४-९ ।

८५. सा. ३९५० ।

८६. सा. ३९७५ ।

आ. तू—कर्मकारक में इस रूप का प्रयोग भी कुछ ही पदों में किया गया है;
जैसे—मोपै तू राख्यो नहि जाइ^{८७} । तू जसुमति कब जायौ^{८८} ।

इ. तुम्हें—उक्त दोनों रूपों से अधिक प्रयोग सूरदास ने 'तुम्हें' के किये हैं,
जैसे—तुम्हें विरद बिन करिहों^{८९} । तुम्हें सकैं जो मार^{९०} । चलो तुम्हें
बताऊँ^{९१} । अहो बान्ह, तुम्हें चहों^{९२} ।

ख. विभक्तिरहित रूप—'कों' और 'हिं' विभक्तियों के संयोग से बने पाँच रूपों—
तुमकों (एकवचन), तुमहि (एकवचन), तुहि, तोकों और तोहि—का प्रयोग सूरदास
न विशेष रूप से किया है ।

अ. तुमकों—आउ हम नृपति, तुमकों बधावै^{९३} । सकर तुमकों (गंगा को)
घरै^{९४} ।

आ. तुमहि—सुदरी आई बालत तुमहि (कृष्ण को) सबै ब्रजवाल^{९५} । जैसे
करि में तुमहि रिझाई^{९६} । ऊघी, जाहु तुमहि हम जाने^{९७} ।

इ. तुहि—इसको 'तोहि' का संक्षिप्त अथवा लघुमात्रिक रूप समझना चाहिए
जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही दो-एक पदों में मिलता है, जैसे—जो
तुहि भजै, तहाँ में जाऊँ^{९८} ।

ई. तोकों—मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनाम का यह प्रमुख कर्मकारकीय रूप है जिसका
प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है, जैसे—पिता जानि तोकों नहि मारी^{९९} ।
राजा तोकों लँहै गाद^{१००} । बिना प्रयास मारिहों तोकों^{१०१} ।

उ. तोहि—यह भी इस कारक का एक प्रचलित रूप है जिसका प्रयोग 'सूरसागर'
के कई पदों में मिलता है, जैसे—सप्तम दिन तोहि तच्छक खाइ^{१०२} । जो तोहि
पियँ सो नरकाहि जाइ^{१०३} ।

ग. सामान्य प्रयोग 'तोहँ'—इस बलात्मक रूप के साथ भी 'कों' विभक्ति का
प्रयोग मिलता है, यद्यपि ऐम उदाहरण अपवादस्वरूप ही हैं, जैसे—तोहँ कों सखि
स्थाम चहँ^{१०४} ।

३. करणकारक इस कारक में प्रयुक्त विभक्तिरहित रूप तो अपवादस्वरूप हैं,
विभक्तियुक्त रूपों की ही अधिकता है ।

घ. विभक्तिरहित प्रयोग—तुम्हें और तोह—ये दो रूप ही करणकारक में

८७. सा. ९-५ ।	८८. सा. १०-२१५ ।	८९. सा. १-१३४ ।
९०. सा. ७-३ ।	९१. सा. ९-४२ ।	९२. सा. १११७ ।
९३. सा. ८-१६ ।	९४. सा. ९-९ ।	९५. सा. १०-२०६ ।
९६. सा. ११४७ ।	९७. सा. ४१९८ ।	९८. सा. ४-५ ।
९९. सा. ४-९ ।	१००. सा. ९-७९ ।	१०१. सा. १-२९० ।
१०२. सा. १-१७३ ।	१०३. सा. १९०६ ।	

विभक्तिरहित मिलते हैं और इनके प्रयोग भी इतने कम मिलते हैं कि इन्हें अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए; जैसे—

आ. तुम्हें —तार्त कही तुम्हें हम आई^६ । प्रभु कहा मुख लै तुम्हें बिनै करिऐ^७ ।

आ. तोह —यह रूप दो-एक पदों में तुर्कात के लिए प्रयुक्त हुआ है; जैसे—अरे, मधुप, बातें ये ऐसी, क्यों कहि आवति तोह^८

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—एकवचन विकृत रूप 'तो' और एकवचन रूप में प्रयुक्त बहुवचन रूप 'तुम' के साथ कौं, तैं, पै, सन और सौं आदि विभक्तियों और विभक्ति-प्रत्यय 'हि' या इसके दीर्घांत रूप 'हीं' के संयोग से निर्मित अनेक करणकारकीय रूप 'सूरसागर' में मिलते हैं ।

अ. तोकौं — इस कर्मकारकीय रूप का प्रयोग करणकारक में अपवादस्वरूप ही मिलता है; जैसे — बारबार कहति मैं तोकौं, तेरै हियै न आई^९ ।

आ. तोतैं—यह करणकारक का प्रमुख रूप है जिसका प्रयोग कई पदों में दिखायी देता है; जैसे — तोतैं कछु ह्वैहै मैं जानत^{१०} । कहत न डरती तोतैं^{११} ।

इ. तोपैं—इस रूप का प्रयोग सूरसागर के इने-गिने पदों में ही दिखायी देता है; जैसे तब तोपैं कछुबैं न सिरैहै^{१२} ।

ई. तोसौं—इस करणकारकीय रूप का प्रयोग 'सूरकाव्य' में सबसे अधिक मिलता है; जैसे—सतगुरु कह्यो, कही तोसौं हों^{१३} । तोसौं समुझाइ कही नृप^{१४} । कहत यहि बिधि भली तोसौं^{१५} । बारबार कहति मैं तोसौं^{१६} ।

उ. तोहि—इसका प्रयोग सर्वत्र मिलता है, जैसे — मैं तोहि सत्य कहौं^{१७} । ज्ञान हम तोहि कहि सुनावं^{१८} । कहा कहीं तोहि मात^{१९} । नैकु नहि घर रहति तोहि कितनी कहति^{२०} ।

ऊ. तुमतैं—सकल सृष्टि यह तुमतैं (ब्रह्मा तैं) होइ^{२१} । कंस कह्यो, तुमतैं (श्रीधर वांछन तैं) यह होइ^{२२} । सूरस्याम पति तुमतैं (सविता तैं) पायी^{२३} । अजहुं मन अपनी हम पावै, तुमतैं (ऊर्ध्व तैं) होइ तो होइ^{२४} ।

झ. तुमपैं तिन तुमपैं गोबिंद गुसाई, सबनि अभै पद पायी^{२५} । तुमपैं (कृष्ण पैं) कौन दुहावै गैया^{२६} । तुमपैं होइ सु करो कृपानिधि^{२७} ।

ए. तुम सन — इसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही दो-एक पदों में मिलता है; जैसे—
जो कुछ भयो सो कहिहो तुम सन (प्यारी सन). होउ सखिन तैं न्यारी^{२८} ।

६. सा. ७-२ । ७. सा. १-११० । ८. सा. ३५३९ । ९. सा. १८९९ ।

१०. सा. १३९६ । ११. सा. ३३२१ । १२. सा. ३३५३ । १३. सा. १-५९ ।

१४. सा. १-२६९ । १५. सा. १-३१४ । १६. सा. २-२१ । १७. सा. १-२४४ ।

१८. सा. ८-१६ । १९. सा. ३७५ । २०. सा. ६९८ ।

२१. सा. २-३५ । २२. सा. १०-५७ । २३. सा. ७९८ । २४. सा. ३७१९ ।

२५. सा. १-१९३ । २६. सा. ७३४ । २७. सा. ४११६ । २८. सा. २५८३ ।

ऐ तुम सौ—एकवचन में इस बहुवचन रूप के वरणवारकीय प्रयोग कुछ पदों में मिलते हैं, जैसे—हमसौ तुमसौ वाल मिताई^{३९} । हम तुमसौ कहति रही^{३०} ।

आ. तुमहि—सांच वहाँ मैं तुमहि श्रीदामा^{३१} । सुफलक-मुत यह तुमहि वृक्षियत^{३२} ।

ग. बलात्मक प्रयोग इस प्रकार के प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं है । केवल तोही, तुमही तै, तुमहो—जैसे दा-तीन रूप ही इस वारक में वही-वहीं मिलते हैं ।

अ. तोही — वहा करौ, वृक्षौ तोही रो^{३३} । मई विदेह वृक्षति तोही रो^{३४} ।

आ तुमहो—पालागौ तुमहो (ज्यो में) वृक्षति हौ^{३५} ।

इ तुमहो तै—हम बानक तुमको कह मिखबै, हम तुमहो तै जात^{३६} ।

ई. तुमही पै—जोग ज्ञान को बातै ज्यो, तुमही पै बनि आई^{३७} ।

घ सप्रदानकारक—इस वारक में विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त, दो प्रकार के रूप मिलते हैं जिनमें प्रथम की संख्या बहुत कम है । विभक्तिमहित रूपों के समान्य प्रयोगों के साथ बलात्मक रूप भी मिलते हैं ।

क विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग के अन्तर्गत केवल एक रूप 'तुम्हें' आ सकता है जिसका प्रयोग कवि ने अनेक पदों में किया है, जैसे—तारै देखें तुम्हें (घमराज को) मैं साप^{३८} । हंसि कह्यो, तुम्हें (सिव को) दिखराइहो रूप वह^{३९} । चौदह वर्ष तुम्हें (राम का) बर दोन्हो^{४०} । देखें तुम्हें (प्रद्युम्न को) मैं बताई^{४१} ।

ख. विभक्तिरहित प्रयोग—'तुम' एकवचन और 'तौ' के साथ 'को' और 'हि' या 'हो' के सहाय ने सूरदास ने जो सप्रदानवारकीय रूप बनाये हैं उनमें चार—तुमको, तुमहि, तौको और तौहि—प्रमुख हैं ।

अ. तुमको—नक विभीषन, तुमको देहो^{४२} । तुमको (कृष्ण को) माखन दूध दधि-मिश्री हौ ल्याई^{४३} । जोग पाती दई तुमको (ज्यो को)^{४४} ।

आ. तुमहि—जोतिष गनिक चाहत तुमहि (नदहि) सुनायो^{४५} । यह पूजा किन तुमहि सिखायो^{४६} । देखें सुख तुमहि (स्यामहि) सग रंगरलिहो^{४७} ।

इ. तौको—भग सहस्र मैं तौको दई^{४८} । एक रात तौको सुख देहो^{४९} । चौदह सहस्र तिथा मैं तौको पटा बंधाऊँ आज^{५०} ।

ई. तौहि—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने 'तौको' से कुछ अधिक किया है;

२९. सा. १-२८९ । ३०. सा. १७७० । ३१. सा. ५३८ । ३२. सा. २९७८ ।

३३. सा. १९१७ । ३४. सा. १९१८ । ३५. सा. ४००३ । ३६. सा. २९७९ ।

३७. सा. ३७०४ । ३८. सा. ३-५ । ३९. सा. ८-१० । ४०. सा. ९-३२ ।

४१. सा. ४१८९ । ४२. सा. ९-१५७ । ४३. सा. १०-२०९ । ४४. सा. ३९३२ ।

४५. सा. १०-८६ । ४६. सा. ८९७ । ४७. सा. २६०४ । ४८. सा. ६-८ ।

४९. सा. ९-९ । ५०. सा. ९-७९ ।

जैसे—नर को नाम पारगामी हो, सो तोहि स्याम दयो^{५१} । मैं बर देऊँ तोहि सो लेहि^{५२} । कपिल कह्यौ, तोहि भक्ति मुनाऊँ^{५३} । सुक कह्यौ, देहो बिद्या तोहि पढ़ाई^{५४} ।

ग. बलात्मक प्रयोग—सप्रदानकारक मे सूरदास ने दो-एक बलात्मक प्रयोग कुछ पदों में किये हैं, जिनमे निम्नलिखित मुख्य है—

अ. तुमहि कौ—चोलीहार तुमहि कौ (कृष्ण ही को) दीन्हौ^{५५} ।

आ. तुमहौ—सब कोऊ तुमहौ (ऊधो को ही) दूपन दैहै^{५६} । ऊधो, निरगुनहि कहत तुमहौ सो लेहु^{५७} ।

५. अपादान कारक—इस कारक मे अधिकांश प्रयोग विभक्तियुक्त मिलते है जिनको सामान्य और बलात्मक, दो वर्गों मे रखा जा सकता है ।

क विभक्तियुक्त सामान्य प्रयोग— 'तैं' और 'सौ' के साथ साथ 'हि' के योग से भी अपादानकारकीय रूप कवि ने बनाये हैं जिनमे मुख्य नीचे दिये हैं । इनमे से प्रथम और अंतिम रूपों का प्रयोग बहुत हुआ है ।

अ. तुमतैं—तुमतैं को अति जान है^{५८} । तुमतैं घटि हम नाही^{५९} । तुमतैं (राधा तैं) न्यारे रहत न कहूँ वै^{६०} । तुम अति चतुर, चतुर वै तुमतैं (राधा तैं)^{६१} ।

आ. तुमसौ—जा दिन तैं हम तुमसौ (जमुदा सौ) बिछुरे^{६२} ।

इ. तोतैं—तोतैं प्रियतम और कौन है^{६३} । तोतैं चतुर और नहि कोऊ^{६४} । काहै कौ इतराति सखी री, तोतैं प्यारी कौन^{६५} ।

ख. विभक्तियुक्त बलात्मक प्रयोग—इस प्रकार के रूप कवि ने प्रायः 'तैं' विभक्ति के योग से अधिक बनाये हैं, जैसे—

अ. तुमहि तैं—इने-गिने पदो मे ही यह रूप 'सूरसागर' मे मिलता है; जैसे—और काहि बिधि करौ, तुमहि तैं (विधि तैं) कौन सयानी^{६६} ।

आ. तुमहूँ तैं—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है; जैसे—स्याम, तुमहूँ तैं ब्रज हितू न कोऊ^{६७} । तुमहूँ तैं ऐसी को प्यारी^{६८} ।

६. संबंधकारक—उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम की तरह ही इस कारक मे प्रयुक्त मध्यम पुरुष सर्वनाम रूपों की संख्या भी बहुत अधिक है । विषय की स्पष्टता के लिए इनके मुख्य पाँच वर्ग बनाये जा सकते है—क. विभक्तिरहित सामान्य रूप । ख. एकवचन संबंधकारकीय रूप । ग. संबंधकारकीय सामान्य बहुवचन रूप । घ. संबंध-

५१. सा. १-७८ ।

५२. सा. १-२२९ ।

५३. सा. ३-१३ ।

५४. सा. ९-१७३ ।

५५. सा. ७८८ ।

५६. सा. ३८२५ ।

५७. सा. ३८९९ । ५८. सा. ११८० । ५९. सा. १५३९ । ६०. सा. २०६६ ।

६१. सा. २२१२ । ६२. सा. ३४७३ । ६३. सा. १७०४ । ६४. सा. १८९७ ।

६५. सा. २०६८ । ६६. सा. ४९२ । ६७. सा. १०२१ । ६८. सा. २५५९ ।

कारकीय विशिष्ट बहुवचन रूप । ड. वलात्मक प्रयोग । लिंग की दृष्टि से इस वर्गों-करण के और भी उप-भेद किये जा सकते हैं, परन्तु दोनों लिंगों के रूप इतने स्पष्ट होते हैं कि तत्त्वबन्धी दृष्टि से विस्तार करना अनावश्यक प्रतीत होता है । उक्त पाँचों वर्गों में प्राप्त मुख्य रूप इस प्रकार हैं—

क. विनश्रितरहित सामान्य रूप—सूरदास द्वारा प्रयुक्त इस वर्ग के प्रमुख रूप हैं—तव, तुम, तुव और तै । इनमें 'तुम' बहुवचन रूप है और शेष एकवचन हैं । इनका प्रयोग दोनों लिंगों में किया गया है ।

अ. तव—यह रूप प्रायः सर्वत्र सबधी शब्द के पूर्व ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे—
तव कीरति^{६९} । तव दरसन^{७०} । तव विरह^{७१} । तव राज^{७२} । तव सिर^{७३} ।

आ. तुम - इस बहुवचन रूप का प्रयोग एकवचन में ही कवि ने किया है । इस बात की स्पष्टता के लिए पूरे वाक्यों को उद्धृत करना आवश्यक है, जैसे—
प्रभु, सब तजि तुम सरनागत आयो^{७४} । तुम प्रताप बल बदन न काहूँ^{७५} ।
यह मैं जाननि तुम (कृष्ण) दानि^{७६} ।

इ. तुव यह रूप भी प्रायः सर्वत्र सबधी शब्द के पहले ही आया है, जैसे—तुव
चरननि^{७७} । तुव दास^{७८} । तुव पितु^{७९} । तुव माया^{८०} । तुव सुत^{८१} । तुव
हार्थ^{८२} ।

ई. तै—इस रूप का सबधकारकीय प्रयोग अपवादस्वरूप दो-एक पदों में मिलता है, जैसे—
धनि बछरा धनि बाल जिनहि तै दरसन पायो^{८३} ।

ख. एकवचन सबधकारकीय रूप—इस वर्ग के अन्तर्गत तेरी, तेरे, तेरी, तोर और तेरी आदि रूप मुख्य हैं । इनमें प्रथम स्त्रीलिंग रूप है । शेष का प्रयोग दोनों लिंगों में होता है ।

अ. तेरी—इस स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग सबंधी शब्द के पहले किया गया है और बाद में भी, एवं कहीं-कहीं दोनों के बीच में एक-दो शब्द भी आ गये हैं; जैसे—
जरा तेरो^{८४} । दासी है तेरो^{८५} । तेरी प्रीति^{८६} । तेरो बेनि^{८७} ।
सरन तेरो^{८८} । तेरी नृष्टि^{८९} ।

आ. तेरे—साधारणतः इस रूप का प्रयोग बहुवचन सबंधी के शब्द साथ होता है; परन्तु यदि एकवचन सबंधी शब्द के आगे कोई विभक्ति लगानी होती है तब 'तेरे' का प्रयोग एकवचन रूप में भी होता है । मूल-वाक्य में दोनों प्रयोग मिलते हैं । यहाँ इसके एकवचन प्रयोग ही दिये जाते हैं । दूसरी बात यह है कि सबंधी

६९. सा. १-९३ ।

७०. सा. १-२७७ ।

७१. सा. ९-२ ।

७२. सा. १-२८४ ।

७३. सा. ७-५ ।

७४. सा. १-१७० ।

७५. सा. १-१७० ।

७६. सा. ४९४ ।

७७. सा. ९-१५३ ।

७८. सा. १-२१६ ।

७९. सा. ९-१७४ ।

८०. सा. १-२२६ ।

८१. सा. ७-२ ।

८२. सा. १-११२ ।

८३. सा. ४९२ ।

८४. ९-१७४ ।

८५. सा. ९-७९ ।

८६. सा. १८४२ ।

८७. सा. १०-१७४ ।

८८. सा. १-११० ।

८९. सा. ७-२ ।

शब्द के पहले और पीछे, दोनों प्रकार से सूरदास ने इसका प्रयोग किया है; जैसे—तेरे तन तरवर के^{१०} । पति तेरे^{११} ।

इ. तेरी—इस रूप का प्रयोग संबंधी शब्द के पहले हुआ है और बाद में भी; जैसे—सकल मनोरथ तेरी^{१२} । तेरी लाल^{१३} । स्याम तन तेरी^{१४} । तेरी सुत^{१५} ।

ई. तोर—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने प्रायः संबंधी शब्द के बाद ही किया है और कहीं-कहीं दोनों के बीच में भी दो-एक शब्द आ गये हैं; जैसे—आनन तोर^{१६} । जान है तोर^{१७} । दुहाई तोर^{१८} । लै-लै नाम बुलावत तोर^{१९} । बंक बिलोकनि, मधुरी मुमुकनि भावति प्रिय तोर^{२०} । नहि मुख देखीं तोर^{२१} ।

उ. तोरी—इस रूप का प्रयोग बहुत कम किया गया है, दो-एक पदों में संबंधी शब्द के बाद यह दिखायी देता है, जैसे—नाम भयो प्रभु, तोरी^{२२} ।

ग. संबंधकारकीय सामान्य बहुवचन रूप—इस वर्ग के अंतर्गत उन रूपों—तुमरे, तुमरी, तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरी, तुम्हारे, तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारी आदि—की चर्चा करनी है जो सामान्य बहुवचन 'तुम' के रूपांतर होने पर भी सूरदास द्वारा एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं ।

अ. तुमरे—इस रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही कुछ पदों में मिलता है; जैसे—तुमरे कुल की^{२३} ।

आ. तुमरी—'तुमरे' के समान ही यह रूप भी दो-एक पदों में ही दिखायी देता है, जैसे—तुमरी सुत^{२४} ।

इ. तुम्हरी—स्त्रीलिंग संबंधी शब्द के अधिकतर पहले, पर कहीं-कहीं बाद में भी प्रयुक्त यह रूप 'सूरसागर' के अनेक पदों में मिलता है; जैसे—तुम्हरी आज्ञा^{२५} । तुम्हरी कृपा^{२६} । तुम्हरी गति^{२७} । विरुदावलि तुम्हरी^{२८} । तुम्हरी माया^{२९} ।

ई. तुम्हरे—इस बहुवचन रूप का प्रयोग एकवचन संबंधी शब्द के साथ तब किया गया है जब उसके आगे कोई विभक्ति हो या लुप्त हो, अथवा विभक्ति के समान किसी अव्यय का ही प्रयोग किया गया हो, जैसे—तुम्हरे भजन बिनु^{३०} । ज्योतिषी तुम्हरे घर की^{३१} । प्रभु, तुम्हरे दरस की^{३२} । स्याम, तुम्हरे मुख सौं^{३३} ।

उ. तुम्हरी—इस रूप का प्रयोग संबंधी शब्द के पहले और बाद में तो किया

१०. सा. १-८६ । ११. सा. १-२४० । १२. सा. ४-९ । १३. सा. १०-८ । १४. सा. ३७५७ । १५. सा. १०-७७ । १६. सा. ३६४ । १७. सा. ३५९ । १८. सा. ३९८ । १९. सा. २७६६ । २०. सा. २७६७ । २१. सा. ९-८३ । २२. सा. १-१३२ । २३. सा. ९-७७ । २४. सा. १०-५९ । २५. सा. ४-५३ । २६. सा. ३-१३ । २७. सा. ३-३ । २८. सा. १-२१५ । २९. सा. १-४४ । ३०. सा. १-४१ । ३१. सा. १०-८६ । ३२. सा. १०-१५५ । ३३. सा. १२१७ ।

ही गया है, वही-वही दोनों के बीच में दो-एक शब्द भी आ गये हैं; जैसे—
तुम्हरी नाम^{१५} । नाम तुम्हरी^{१६} । तुम्हरी लघु भैया^{१७} । तुम्हरी सत्ताप^{१८} ।

ज. तुम्हार—इस रूप का प्रयोग कवि ने कम किया है, परन्तु आया है यह सबधी शब्द के अधिकतर बाद ही, जैसे—कत तुम्हार^{१९} । दोष तुम्हार^{२०} ।

झ. तुम्हारि—इस स्त्रीलिंग इकारांत रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही कुछ पदों में दिखायी देता है, जैसे—ऐसी समुझ तुम्हारि^{२१} ।

ए. तुम्हारी—सबधी शब्द के आगे पीछे तो इस शब्द का प्रयोग कवि ने किया ही है, वही-वही दोनों के बीच में अन्य शब्द भी रख दिये हैं, जैसे—तुम्हारी आसा^{२२} । दोरि तुम्हारी^{२३} । बात तुम्हारी^{२४} । भक्ति अनन्य तुम्हारी^{२५} । सक्ति तुम्हारी^{२६} ।

ऐ. तुम्हारे—एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त इस सर्वनाम रूप के माथ सबधी शब्द प्रायः बहुवचन ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे—सन पुत्र तुम्हारे (घृतराष्ट्र^{२७} के) । पितर तुम्हारे^{२८} (असुमान के) । ये गुन अनुमति, आहि तुम्हारे^{२९} । वे हैं काल तुम्हारे^{३०} (नृप कस के) । चरित तुम्हारे^{३१} ।

ओ. तुम्हारी—यह रूप वही तो सबधी शब्द के पहले प्रयुक्त हुआ है और वहीं बाद में, परन्तु यहाँ उद्धृत सभी उदाहरणों में है यह एक ही व्यक्ति के लिए; जैसे—हरि, बहुत भरोसों जानि तुम्हारी^{३२} । राज तुम्हारी^{३३} (परीक्षित की) । तुम्हारी (शिव की) मरम^{३४} । राजा, वचन तुम्हारी^{३५} । (लघु वधू) मूल तुम्हारी^{३६} ।

घ. सबधकारकीय विशिष्ट रूप—इस वर्ग के अंतर्गत एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त तिहारी, तिहारे, और तिहारी रूप आते हैं ।

अ. तिहारी—इस स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग सबधी शब्द के पहले और बाद, दोनों प्रकार से सूरदास ने किया है, जैसे—छाँडि तिहारी सेव^{३७} । सन तिहारी^{३८} । वान तिहारी^{३९} । सपय तिहारी^{४०} । तिहारी रखाई^{४१} । दो-एक पदों में तो 'तिहारी' के बाद कवि ने सबधी शब्द का लोप भी कर दिया है, जैसे—समुझि न परत तिहारी ऊधो^{४२} ।

आ. तिहारे—इस रूप का प्रयोग किया तो एक ही व्यक्ति के लिए गया है, परन्तु सबधी शब्द वही बहुवचन में है, वही आदरमूचक एकवचन में; जैसे—वहा गुन

१५. सा. १-२०४ ।	१६. सा. १-१२८ ।	१७. सा. ३६९ ।	१८. सा. १-२९० ।
१९. सा. ९-८९ ।	२०. सा. ३८०८ ।	२१. सा. ३९०९ ।	२२. सा. १-११२ ।
२३. सा. ८-१३ ।	२४. सा. १-१५१ ।	२५. सा. ७-२ ।	२६. सा. ३-१३ ।
२७. सा. १-२८४ ।	२८. सा. ९-९ ।	२९. सा. ३९१ ।	३०. सा. ५२२ ।
३१. सा. १५९५ ।	३२. सा. १-१४६ ।	३३. सा. १-२९० ।	३४. सा. ४-५ ।
३५. सा. ९-२ ।	३६. सा. ९-३६ ।	३७. सा. १-४९ ।	३८. सा. १-२२१ ।
३९. सा. १०-२७९ ।	४०. सा. १९७० ।	४१. सा. २८०९ ।	४२. सा. ३५३९ ।

बरनों स्याम, तिहारे^{४३} । ये बीर (= भाई) तिहारे^{४४} (दुयोंधन के) ।
नागरी, सूर स्याम हैं चोर तिहारे^{४५} । मधुकर, परखे अग तिहारे^{४६} ।

इ. तिहारौ—इस सर्वनाम का प्रयोग भी कहीं तो संबंधी शब्द के पहले किया गया है, कहीं बाद में और कहीं दोनों के बीच में कुछ अन्य शब्द भी आये हैं; जैसे—हरि, अजामिल तो बिप्र तिहारौ, हुतौ पुरातन दास^{४७} । प्रभु, बिरद आपुनी और तिहारौ^{४८} । नृप, जोहत है वे पय तिहारौ^{४९} । धन्य जसोदा, भाग तिहारौ^{५०} । स्याम, नाम गाखडी प्रगट तिहारौ^{५१} ।

उ. बलात्मक प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत मुख्य छह रूप मिलते हैं—तुम्हारेइ, तुम्हारेहि, तुम्हारोइ, तुम्हारोई, तेरोइ, तेरोई । इनका प्रयोग बहुत कम पदों में किया गया है ।

अ. तुम्हारेइ—राधे, तुम्हारेइ गुन ग्रथित करि माला, रसना करसों टारै^{५२} ।

आ. तुम्हारेहि—सीता, तुम्हारेहि तेज-प्रताप रही बचि तुम्हरी यहै अटारी^{५३} ।

इ. तुम्हारोइ—स्याम, चारि जाम निसि तुम्हारोइ सुमिरन और न बात कही^{५४} ।

ई. तुम्हारोई—मनसा बाचा में ध्यान तुम्हारोई धरौ^{५५} ।

उ. तेरोइ—नागरी, तेरोइ भाग^{५६} ।

ऊ. तेरोई—उक्त रूपों की अपेक्षा इस रूप का प्रयोग कुछ अधिक किया गया है; जैसे—राधा, कुंजभवन बँडे मननोहन, बोलत मुख तेरोई गुन-ग्राम^{५७} । नागरि, तेरोई भाग, सुहाग तेरोई^{५८} । बृषभानुकिसोरी, तेरोई गुन में निसि दिन गाऊँ^{५९} ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में प्राप्त रूप चार वर्गों में रखे जा सकते हैं—
क. विभक्तिरहित विकृत रूप । ख. विभक्तियुक्त एकवचन रूप । ग. विभक्तियुक्त बहुवचन रूप । घ. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित रूप—तिहारै, तुम्हरै, तुम्हारै और तेरै—ये चार प्रमुख रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें अधिकरणकारकीय कोई विभक्ति नहीं है, परंतु सामान्य या संबन्धकारकीय रूपों में 'ऐ' या 'ऐं' के संयोग से अधिकरणकारकीय रूप कवि ने बना लिये हैं; जैसे—

अ. तिहारै—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने बहुत कम किया है; जैसे—आजु बसंगे रैनि तिहारै^{६०} । राधे, कह जिय निठुर तिहारै^{६१} ।

आ. तुम्हरै—इस रूप का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मिलता है; जैसे—स्याम

४३. सा. १-२५ । ४४. सा. १-२३८ । ४५. सा. १९३९ । ४६. सा. ३७६१ ।

४७. सा. १-१३२ । ४८. सा. १-१७९ । ४९. सा. ४-१२ । ५०. सा. १०-८७ ।

५१. सा. ७६२ । ५२. सा. २५८७ । ५३. सा. ९-१०० । ५४. सा. ४१४२ ।

५५. सा. १९४४ । ५६. सा. २८०१ । ५७. सा. २४५१ । ५८. सा. २८०१ ।

५९. सा. २८२८ । ६०. सा. २४७८ । ६१. सा. २५८७ ।

तुम्हारे आजु कमी बाहे की^{६२} । सखी, सुनहु 'सूर' तुम्हारे छिन छिन मति^{६३} ।
हम तुम्हारे नितही प्रति आवति सुनहु राधिका गोरी^{६४} ।

इ तुम्हारे—इसका प्रयाग कवि ने बहुत कम किया है, जैसे—रैनि तुम्हारे आऊंगी^{६५} ।

ई तेरै— इस रूप का प्रयाग सूरदास ने उक्त तीनों से अधिक किया है, जैसे—
तेरै प्रीति न माहि आपदा^{६६} । क्यों करि तेरै भाजन करी^{६७} । कौन जानै कौन
पुन्य प्रगट है तेरै आनि^{६८} । प्रेम सहित हरि तेरै आए^{६९} ।

ख विभक्तियुक्त एकवचन रूप—पर, पै और मैं—इन तीन विभक्तियों के
संयोग से प्रमुख चार रूप तुव ऊपर, तो पर, तो पै और तो मैं सूरदास ने बनाये
हैं जिनके प्रयाग बहुत कम पदा म मिलते हैं ।

अ. तुव ऊपर तुव ऊपर प्रसन्न मैं भयो^{७०} ।

आ तो पर—तो पर वारी हों नदलाल^{७१} । राधे, तो पर कृपा भई मोहन
की^{७२} ।

ई तो पै—(मानिनि) हों आई पठई है तो पै तेरे प्रीतम नदविसोर^{७३} ।

ई तो मैं—जमुना, तो मैं कृष्ण हेलुवा खेलै^{७४} ।

ग विभक्तियुक्त बहुवचन रूप—'तुम' के साथ 'पर', पै और मैं विभक्तियों के
अतिरिक्त 'पै' के योग से इस वर्ग के चार रूप कवि ने बनाये हैं । इनमें से 'तुम
पर' और 'तुम पै' का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, शेष दोनों रूप कम
प्रयुक्त हुए हैं ।

अ तुम पर—हम नाहिन रिस तुम (इद्र) पर आनी^{७५} । मोहन, जोहन,
मन्न-जन्न, टाना सब तुम (स्याम) पर वारत^{७६} ।

आ तुम पै—हम तुम पै आए^{७७} । तुम पै प्यारी वसत जियो^{७८} ।

इ तुम प—मैं आयो तुम पै रिपिराइ^{७९} । प्यारी, भेषज अघर सुधा है
तुम पै^{८०} । यह तुम पै सब पुंजी अकेली^{८१} ।

ई तुम मैं—साच्छात् सो तुम (घृतराष्ट्र) मैं देखी^{८२} । प्यारी मैं तुम,
-- तुम मैं प्यारी^{८३} ।

घ बलात्मक रूप—इस वर्ग के रूपों की संख्या अधिक नहीं है । केवल 'तुमहों'

६२. सा. ३८९ ।	६३. सा. १९६१ ।	६४. सा. २२१० ।	६५. सा. २४९३ ।
६६. सा. १-२४३ ।	६६. सा. ९-५ ।	६८. सा. ३६२ ।	६९. सा. १८७७ ।
७०. सा. ९-३ ।	७१. सा. ११८१ ।	७२. सा. २५६८ ।	७३. सा. २७६६ ।
७४. सा. ५६१ ।	७५. सा. ९५० ।	७६. सा. १५८६ ।	७७. सा. १-२३८ ।
७८. सा. १९४० ।	७९. सा. ९-१७३ ।	८०. सा. २५८३ ।	८१. सा. ३७२४ ।
८२. सा. १-२८४ ।	८३. सा. २८२८ ।		

‘पै’-जैसे इने-गिने रूपों के प्रयोग दो-एक पदों में मिल जाते हैं; जैसे—पारि सपाट चले तब पाए, है ल्याई तुम (जसोदा) ही पै धरिकें^{८४} ।

सारांश—मध्यमपुरुष एकवचन मूल और विकृत सर्वनाम-रूपों के विभक्तिरहित जिन प्रधान-अप्रधान रूपों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल	विभक्तिसहित मूल
	और विकृत रूप	और विकृत रूप
कर्त्ता	तुम, (तू), तू, तैं	...
कर्म	(तुम), (तू), तुम्हें	तुमकों, तुमहि, (तुहि) तोको, तोहि ।
करण	(तुम्हें), (तोह)	(तोकों), तोतैं, (तोपैं), तोसी, तोहि, तुमतैं तुम पै, (तुम सन), तुमसों, तुमहि ।
संप्रदान	(तुम्हें)	तुमकों, तुमहि, तोकों, तोहि ।
अपादान	...	तुम तैं, (तुमसों), (तुमहि), तोतैं, (तोहि) ।
संबंध	तव, तुम, तुव, तैं	तेरी, तेरे, तेरी, तोर, (तोरी), (तुमरे), (तुमरी), तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरी, (तुम्हार) (तुम्हारि), तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारी, तिहारी, तिहारे, तिहारी ।
अधिकरण	(तिहारैं), तुम्हरैं, तेरै	(तो पर), तोपैं, (तोमैं), तुम पर, (तुम (तुम्हारैं) (तुम्हैं), पै), तुम, पै (तुम में) ।

मध्यमपुरुष बहुवचन के कारकीय प्रयोग—

मध्यमपुरुष मूल सर्वनाम ‘तुम’ का विकृत रूप भी यही है । विभिन्न कारकों में सूरदास ने इसके निम्नलिखित रूपों के प्रयोग किये हैं—

१. कर्त्ताकारक—विभक्तिरहित और बलात्मक, दो प्रकार के प्रयोग कर्त्ताकारक में मिलते हैं ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग का एक ही रूप है ‘तुम’ जिसका प्रयोग सर्वत्र किया गया है; जैसे, भली सिच्छा तुम दीनी^{८५} । तुम घर जाहु^{८६} ।

ख. बलात्मक प्रयोग—तुमहि, तुमहीं, तुमहुँ, तुमहु, तुमहुँ—ये पाँच रूप इस वर्ग के मिलते हैं जिनके प्रयोग कम ही पदों में प्राप्त हैं ।

अ. तुमहि—तुमहि सुनी मुरली की बात^{८७} ।

आ. तुमहीं—ऐसी पूत जन्मी जग तुमहीं^{८८} ।

इ. तुमहुँ—इस रूप का प्रयोग उक्त रूपों से अधिक मिलता है; जैसे—सूरस्याम इहि भाँति रिझै किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु^{८९} । तुमहुँ करी सुख^{९०} ।

८४. सा. १०-३१८ । ८५. सा. ३-११ । ८६. सा. १५७५ । ८७. सा. १३४४ ।

८८. सा. ४३० । ८९. सा. १३३० । ९०. सा. १३३४ ।

ई तुमहु—यह रूप अपवादस्वरूप ही कही-कही मिलता है, जैसे—चोच फारि बका संहारी, तुमहु करहु म्हाइ^{११} ।

उ तुमहुँ—इन रूप का प्रयोग इस वर्ग के कदाचित् सभी रूपों में अधिक किया गया है, जैसे—रिजै लेहु तुमहुँ किन स्यामहि^{१२} । तुमहुँ हंसो आपनै संग मिनि^{१३} । जाहु सदन तुमहुँ सब अपनै^{१४} ।

कर्मकारक—इस कारक में भी बहुवचन रूपों की संख्या अधिक नहीं है । केवल 'तुम्हें' का प्रयोग सूरदास ने कही-कही किया है, जैसे—इन वरज्यो आवत तुम्हें असुर बुधि इन यह कीन्ही^{१५} । तब हरि दूतनि तुम्हें निवारयो^{१६} ।

३ करणकारक—तुमकों, तुमसों, तुम्हें आदि सामान्य और तुमहि तैं—जैसे एकाध बलात्मक प्रयोग इस कारक के मिलते हैं । इन सभी रूपों का प्रयोग बहुत थोड़े ही पदों में किया गया है ।

अ. तुमकों तातै तुमकों आनि सुनायो^{१७} । सुनहु सखी, मैं बूझति तुमकों, काहूँ हरि कों देखे है^{१८} । यहां दूसरे वाक्य में 'सखी' शब्द तो एकवचन है,

परंतु आगे प्रयुक्त 'काहूँ' का सक्तेन है कि 'सखी' से आशय 'सखियों' से है ।

आ. तुमसों—मैं तुमसों यह कहीं पुकार^{१९} । तमसों टहन करावति निशि दिन^{२०} । तुमसों नहि कहों^{२१} ।

इ. तुम्हें—अपना भेद तुम्हें नहि कहै^{२२} ।

ई. तुमहि तैं—जो सुख स्याम तुमहि तैं पावत, सो त्रिभुवन कहूँ नाहीं^{२३} ।

४ मंप्रदान कारक—तुमहि और तुम्हें, मुख्यतः ये दो रूप ही इस कारक में मिलते हैं । दोनों के प्रयोग इने-गिने पदों में ही दिखायी देते हैं ।

अ. तुमहि—रिपि कह्यो, मैं करिहीं जहँ जाग । देहों तुमहि अवसि करि भाग^{२४} ।

आ. तुम्हें—अनुर कों मुरा, तुम्हें अमृत प्याऊँ^{२५} ।

५. अपादान कारक—तुमतैं और तुमसों, ये दो रूप इस कारक के मिलते हैं जिनका प्रयोग कही-कही ही किया गया है, जैसे—

अ. तुमतैं—तुमतैं को अति जान है^{२६} ।

आ. तुमसों—हंसत भए अतर हम तुमसों सहज खेल उपजाइ^{२७} ।

६. संबन्धकारक—अन्य कारकों के समान ही सबंधकारकीय बहुवचन रूप भी

११. सा. ४२७ ।

१२. सा. १३३६ ।

१३. सा. १५७३ ।

१४. सा. २५६३ ।

१५. सा. ३-११ ।

१६. सा. ६-४ ।

१७. सा. ६-४ ।

१८. सा. १८३४ ।

१९. सा. ६-४ ।

२०. सा. ५१३ ।

२१. सा. २६५३ ।

२२. सा. १७२४ ।

२३. सा. ३४४८ ।

२४. सा. ९-३ ।

२५. सा. ८-८ ।

२६. सा. ११८० ।

२७. सा. ११२८ ।

बहुत थोड़े हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं और उनका भी प्रयोग थोड़े ही पदों में मिलता है ।

ब. तिहारी—जो कुछ इच्छा होइ तिहारी^१ (बनितनि की) ।

आ. तुम—मैं लँहों तुम गृह अवतार^{१०} ।

इ. तुम्हरे—सूर, प्रभु क्यों निदरि आई, नही तुम्हरे नाहु^{११} ।

ई. तुम्हरी—तुम्हरी तहाँ नही अधिकार^{१२} । करों पूरन काम तुम्हरी सरद रास रमाइ^{१३} ।

उ. तुम्हारी—करिहाँ पूरन काम तुम्हारी^{१४} । तुम घरनी में कंत तुम्हारी^{१५} ।

७. अधिकरणकारक—इस कारक के अंतर्गत मध्यमपुरुष सर्वनाम के प्रमुख दो रूप मिलते हैं जिनके प्रयोग कुछ ही पदों में किये गये हैं ।

अ. तुम पर—आवहु तुम पर (दोऊ भाई) तन मन वारों^{१६} ।

आ. तुम पै—सबै यहै कहै, भली मति तुम पै है^{१७} । तुम पै ब्रजनाथ पठायो^{१८} ।

सारांश—सूरदास द्वारा विभिन्न कारकों में प्रयुक्त प्रमुख मध्यम पुरुष बहुवचन सर्वनाम रूपों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहितमूल और विकृत रूप	विभक्तियुक्त मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	तुम	
कर्म	(तुम्हें)	(तुमको), (तुमहि) ।
करण	(तुम्हें)	(तुमको), तुमसों, (तुमहि) ।
संप्रदान	(तुम्हें)	(तुमको), (तुमहि) ।
अपादान	...	(तुमत), (तुमसों) ।
संबन्ध	(तुम)	(तिहारी), (तुम्हरे), (तुम्हरी), तुम्हारी ।
अधिकरण	...	(तुम पर), तुम पै ।

पुरुषवाचक अन्यपुरुष और निश्चयवाचक दूरवर्ती की रूप-रचना

इन दोनों सर्वनाम रूपों की समानता के कारण इनकी चर्चा साथ-साथ करना आवश्यक है । व्रजभाषा में इन सर्वनामों के निम्नलिखित रूप होते हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	वह, सो, मु वे	वे, वै, ते, से
विकृत	चा, ता, उा	उन, उनि, विन, तिन ।
अन्य	याहि, तानि	तिन्हें

९. सा. २९१६ । १०. सा. ३-१३ । ११. सा. १०१२ । १२. सा. ६-४ ।
 १३. सा. ७९६ । १४. सा. ७८७ । १५. सा. ७९७ । १६. सा. ५४७ ।
 १७. सा. ३०६९ । १८. सा. ४०९३ ।

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

पुरुषवाचक अन्यपुरुष सर्वनाम के एकवचन मूलरूप में साधारणतः 'वह', विभूत में 'वो' का प्रयोग होता है। मूरदास ने इन रूपों को तो अपनाया ही, साथ-साथ नित्यसबधी मूलरूप 'सो' और 'सु' तथा विभूत रूप 'तो' का प्रयोग भी अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम के समान अनेक पदों में किया है। इसी प्रकार अन्यपुरुष के बहुवचन मूल और विभूत रूपों 'वे' और 'इन' आदि के भी एकवचन में प्रयोग उन्होंने निस्संकोच किये हैं। इन सब मूल और विभूत रूपों के प्रयोगों की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जायगी। .

१ कर्तारारक—इन कारक में मूरदास द्वारा प्रयुक्त रूपों की संख्या तीस के लग-भग है। स्थूल रूप में इन रूपों को सात वर्गों में विभाजित किया जा सकता—क. विभक्तिरहित एकवचन रूप। ख. विभक्तिरहित बहुवचन मूल रूप। ग. विभक्तिरहित बहुवचन विभूत रूप। घ. विभक्तिरहित अन्य प्रयोग। ङ. विभक्तियुक्त रूप। च. वलात्मक एकवचन रूप। छ. वलात्मक बहुवचन रूप।

क. विभक्तिरहित एकवचन रूप—'वह', 'सो' और 'सु'—ये तीन रूप इस वर्ग में प्रमुख हैं, प्रथम तो इनो कारक का मूल रूप है और दोष दोनों नित्यसबधी सर्वनाम-भेद के रूप हैं। इनका प्रयोग दोनों लिंगों में हुआ है। इनमें से प्रथम दोनों रूप मूरदास्य में सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं।

अ. वह—भ्रमत ही वह दौरि हूँ^{१९}। तब वह गर्भ छाँडि जग आया^{२०}। तब वह हरि सो रोइ पुकारो^{२१}। करिहै चह तेरी अपमान^{२२}।

आ. सो—तहाँ सो (मच्छ) बडि गयो^{२३}। सहित कुटुब सो (मच्छ) श्रीछा करे^{२४}। गाइ चरावन की सो गयो^{२५}।

इ. सु—यह सर्वनाम 'सो' का ही लघु रूप है जिसका प्रयोग अपवाद-स्वरूप ही कही-कही किया गया है, जैसे—ज्यों मृगा वस्तूरि भूल, सु तो तावे पान^{२६}।

ख. विभक्तिरहित बहुवचन मूल रूप—'वे' और 'वै'—इन दो ही बहुवचन रूपों का प्रयोग एकवचन के समान दोनों लिंगों में कवि ने किया है। इनमें से प्रथम का कम और द्वितीय का अधिक प्रयोग किया गया है।

आ. वे—वे करता, वेई है हरता^{२७}। वे हैं परम कृपालु^{२८}।

आ. वै—हम वै (कृष्ण) वास दसत इक दगरी^{२९}। वै (कृष्ण) मुरली की टेर सुनावत^{३०}। वै (स्याम) तुम कारन आए^{३१}। वै (हरि) ती निटुर तदा में जानति^{३२}।

१९. सा. १-७०। २०. सा. १-२२६। २१. सा. १-२४६। २२. सा. ४-५।
२३. सा. ८-१६। २४. सा. ९-८। २५. सा. ९-१७३। २६. सा. १-७०।
२७. सा. ९७४। २८. सा. ९७५। २९. सा. १०-३१९। ३०. सा. ५०६।
३१. सा. १७६६। ३२. सा. १९८५।

ग. विभक्तिरहित बहुवचन विभक्त रूप—‘उन’, ‘उनि’, ‘तिन’ और ‘तिनि’—
ये चार रूप इस वर्ग में आ सकते हैं जिनका प्रयोग सूर-काव्य में अनेक पदों में किया
गया है ।

अ. उन—यह अपराध बड़ी उन (नृप) कीनो^{३३} । उन (इक नृप) जो कियो,
करो तुम तथा^{३४} । ताकों उन (अजामिल) जब नाम उचार्यो^{३५} । ब्रह्मपांस
उन (भेषनाथ) लई हाथ करि^{३६} ।

आ. उनि—कह्यो सरमिष्ठा, सुत कहँ पाए । उनि कह्यो, रिपि किरपा तै
जाए^{३७} । पठए हमसौं उनि (मथुरापति^{३८}) । सेवा करत करी उनि
(स्याम) ऐसी^{३९} ।

इ. तिन—तिन (सुक को अग) उड़ि अपनौ आपु बचायो^{४०} । नगर द्वार तिन
(काल-वन्धा = जरा) ; सब गिराए^{४१} । निज भुज बल तिन (सहस्रबाहु)
सरिता गही^{४२} ।

ई. तिनि—तिनि (परीक्षित) पुनि भली भाँति करि गुन्यो^{४३} । तिनि (उरबसी)
यह बचन नृपति सौं कह्यो^{४४} । सुक पास तिनि (सुक-सुता) जाइ सुनायो^{४५} ।

घ. विभक्तिरहित अन्य रूप—उहिं, तिहिं और तेहि, ये तीन रूप इस वर्ग में
आते हैं जिनमें से प्रथम दो का प्रयोग कवि ने अनेक पदों में किया है; परंतु तीसरा
रूप कही-कही ही दिखायी देता है, जैसे—

अ. उहिं—इसका प्रयोग भी पाँच-सात पदों में ही मिलता है; जैसे—भोरहि
ग्वारि उरहनी ल्याई, उहिं यह कियो पसारो^{४६} । हरि के चरित सब उहिं
(राधा) सीखै^{४७} । फेरि न मेरी उहिं सुधि लीन्हो^{४८} । मोको उहिं पहुँचायो
भोन^{४९} ।

आ. तिहिं—तहाँ हुतौ एक सुक को अग । तिहिं यह सुन्यो सकल परसग^{५०} । पायो
पुनि तिहिं निर्वान^{५१} । कपिल अस्तुति तेहि बहुविधि कीन्हो^{५२} ।

इ. तेहिं—यह सुनिकै तेहिं मायो नायो^{५३} ।

ऊ. विभक्तियुक्त रूप—कर्त्ताकारक की विभक्ति ‘ने’ का एक रूप है ‘नै’ ।
भूल विभक्ति या उसके रूपांतर का किसी सर्वनाम के साथ प्रयोग का कोई उदाहरण
ऊपर नहीं दिया गया है । परंतु एक पद में अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम के अन्य रूप
वाहि के दीर्घस्वरात रूपांतर ‘वाही’ के साथ ‘नै’ का प्रयोग एक पद में मिलता है
जिसे सूरदास का अपवादस्वरूप प्रयोग समझना चाहिए; जैसे—जैहै कहाँ मोतिसर मेरी ।

३३. सा. १-२९० ।

३४. सा. ४-१२ ।

३५. सा. ६-४ ।

३६. सा. ९-१७४ ।

३७. सा. ९-१७४ ।

३८. सा. ५८९ ।

३९. सा. ३१८७ । ४०. सा. १-२२६ । ४१. सा. ४-१२ । ४२. सा. ९-१३ ।

४३. सा. १-२२७ । ४४. सा. ९-२ । ४५. ९-१७३ । ४६. सा. ३९५ ।

४७. सा. १७४५ । ४८. सा. १८४१ । ४९. सा. २००५ । ५०. सा. १-२०६ ।

५१. सा. ४-१२ । ५२. सा. ९-९ । ५३. सा. १०-५६ ।

अब सुधि भई लई चाही नैं, हंसनि चली वृषभानु किनोरी^{५४} ।

घ. बलात्मक एकवचन रूप—ऊपर दिये गये सभी उदाहरण अन्यपुरुष सर्वनाम रूपों के सामान्य प्रयोग के हैं। जिन एकवचन सर्वनामों के बलात्मक प्रयोग भी मिलते हैं, उनमें मुख्य हैं—ओऊ, ताहूँ, वहई, वहऊ, वहै, वोऊ, सोऊ और सोऊ ।

अ ओऊ—इस रूप का सामान्य प्रयोग नहीं मिलता, दो एक पदों में बलात्मक प्रयोग ही दिखायी देता है, जैसे—सुफलक-सुत कारे नखसिख तैं, कारे तुम अर ओऊ^{५५} ।

आ ताहूँ—इस रूप का प्रयोग भी कहीं-कहीं ही दिखायी देता है, जैसे—ताहूँ नाद बस्य ज्यो दीन्हो सका नही करी री^{५६} ।

इ. वहई—वहई देखि कूबरी भूले^{५७} ।

ई वहऊ—इसका प्रयोग कुछ अधिक पदों में मिलता है, जैसे—वहऊ उनसो नातो मानै^{५८} । यह द्वादस वहऊ दस द्वे को^{५९} ।

उ. वहै—इस रूप का प्रयोग भी 'वहऊ' के समान ही किया गया है, जैसे—वहै त्याइहै सिय-सुधि छित मै^{६०} । उलटि जाहु नृप चरण सरन, वहै राखिहै भाई^{६१} ।

ऊ. वोऊ—यह रूप उक्त सभी रूपों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है, जैसे—जैसे—तुम तैसे वोऊ है^{६२} । जैसी तुम तैसे वोऊ समाने^{६३} । अब वोऊ पछितात बात कहि^{६४} । मनाहि अबुलात वोऊ^{६५} ।

अ. सोऊ—यह रूप दो-एक पदों में ही दिखायी देता है, जैसे—ज्यों चकोर इकटक निसि चितवत, याकी सरि सोऊ नाहि^{६६} ।

ए. सोऊ—'वोऊ' के समान यह रूप भी 'सूरसागर' के अनेक पदों में मिलता है; जैसे—अरजुन के हरि हुतै सारथी सोऊ बन निकरै^{६७} । सोऊ ती घर ही घर डालतु^{६८} । येई गुन डग के सोऊ है^{६९} । इकटक घूँघटाहि चित रही सोऊ^{७०} ।

छ. बलात्मक बहुवचन रूप—इस वर्ग के अतर्गत उनहीं, उनहुँ, उनहूँ, तिनहूँ, तेइ, तेई, तेउ, वेई, वेउ, वेऊ आदि मुख्य रूप आते हैं जिनमें से 'वेइ' और 'वेऊ' का प्रयोग अनेक पदों में मिलता है शेष का कुछ में ही ।

अ उनहीं—उनहीं (हरि) पोषि ज्यों री^{७१} । ढीठ कियो मन कीं उनहीं री^{७२} ।

आ. उनहुँ—तुम जुहार उनको जब कीन्हों, तुमको उनहुँ जुहार कियो^{७३} ।

५४. सा. १९७७ ।

५५. सा. ३९७९ ।

५६. सा. २३६१ ।

५७. सा. ३१५४ ।

५८. सा. ३-१३ ।

५९. सा. १९०३ ।

६०. सा. ९-७४ ।

६१. सा. ९-७ ।

६२. सा. १५८० ।

६३. सा. १०३९ । ६४. सा. २२६३ । ६५. सा. २६०५ । ६६. सा. २१२१ ।

६७. सा. १-२६४ । ६८. सा. १०-३२५ । ६९. सा. १५८० । ७०. सा. २७९१ ।

७१. सा. १८८८ ।

७२. सा. १८९० ।

७३. सा. १८८२ ।

- ई. उनहूँ—कव कौ प्रथम दियो में साप । उनहूँ मोहि दियो करि दाप^{७४} । अब निज ध्यान हमारी मोहन, उनहूँ हम न बिसारी^{७५} ।
- ई. तिनहूँ—तिनहूँ (अजामिल) न सवन सुनायो^{७६} ।
- उ. तिनहूँ—तिनहूँ (चित्रगुप्त) चाहि करी सुनि औगुन कागद दोन्हे डारि^{७७} ।
- ऊ. तेई—तेई (जग-तात) अवतरे आइ गोकुल में, मैं जानी यह बात^{७८} ।
- ऋ. तेई—ब्रज अवतार कह्यो है श्रीमुख, तेई करत बिहार^{७९} ।
- ए. वेई—वे करता, वेई हैं हरता^{८०} । यह महिमा वेई (परम कृपाला) जानै^{८१} । वेई है बहुनायकी लायक गुन भारे^{८२} ।
- ऐ. वेउ—सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, वेउ रसकिनी बन्यो समाजु^{८३} ।
- ओ. वेऊ—दरसन नीक देत न वेऊ (स्याम^{८४}) । सूरदास प्रभु नवल रसीले, वेऊ (प्रिया) नवल नियो^{८५} । धनि पिय बने, बनी वेऊ है, एक-एक तै रूप अनूप^{८६} ।

२. कर्मकारक—इस कारक के अतर्गत भी बीस से अधिक रूप मिलते हैं जिनको स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग । ख. विभक्त्युक्त प्रयोग । ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग के अतर्गत जो प्रयोग आते हैं, उनमें मुख्य है—ओहि, उहि, ताहि, तिहि, वाहि और सो । इनमें से प्रथम दो रूपों का कम और अंतिम चार का अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है ।

अ. ओहि—छोस्त काहे न ओहि^{८७} ।

आ. उहि—अब उहि चहिये फेरि जिवायो^{८८} । असुरनि उहि डारधौ मार^{८९} ।

इ. ताहि—मारधौ ताहि प्रचारि हरि^{९०} । ताहि देखि रिपि कै मन आई^{९१} । सुक ताहि पढ़ि मंत्र जिवायो^{९२} । हाथ पकरि हरि ताहि गिरायो^{९३} ।

ई. तिहि—लोगनि तिहि बहु बिधि समुझायो^{९४} । गाड़ि धूरि तिहि देत^{९५} । सुता कह्यो, तिहि फेरि जिवायो^{९६} ।

उ. वाहि—सोवैं तब जब वाहि सुवावैं^{९७} । वाहि भारि तुम हमहि उवारयो^{९८} । बिनु जानैं हरि वाहि बढाई^{९९} ।

७४. सा. ९-१७४ ।

७५. सा. ४०३६ ।

७६. सा. १-१९३ ।

७७. सा. १-१९७ ।

७८. सा. ५५७ ।

७९. सा. ९७४ ।

८०. सा. ९७४ ।

८१. सा. १००५ ।

८२. सा. २७०९ ।

८३. सा. २५४० ।

८४. सा. १८५० ।

८५. सा. २५०६ ।

८६. सा. २५४० -

८७. सा. ३७५ ।

८८. सा. ४-५ ।

८९. सा. ९-१७३ ।

९०. सा. ३-११ ।

९१. सा. ९-८ ।

९२. सा. ९-१७३ ।

९३. सा. १०-५७ ।

९४. सा. १-२६१ ।

९५. सा. २-१५ ।

९६. सा. ९-१७३ ।

९७. सा. ५-३ ।

९८. सा. ९५४ ।

९९. सा. १३१६ ।

क. सो—बकी कपट करि मारन आई, सो हरि जू बैकुण्ठ पठाई^१ । सुन्यो जान सो सुमिरन रह्यो^२ । रावन कह्यो, सो कह्यो न जाई^३ ।

ख. विभक्तियुक्त रूप—उनकोँ, उनहि, ताकोँ, तिनकोँ, तिनहि, तिहिक्कोँ, तेहि, याकोँ और बिनकोँ—मुख्यतः इन नौ विभक्तियुक्त रूपों का सूरदास ने कर्मकारक में प्रयोग किया है । उनमें से उनहि और ताकोँ का अधिक, 'तेहि' का सामान्य और शेष का बहुत कम प्रयोग किया गया है ।

अ. उनकोँ—आए वहाँ छाँडि तुम उनकोँ^४ (नंद-नंद) ।

आ. उनहि—बैसेहि उनहि (कृष्ण) पठाए^५ । कैसेहुँ उनहि (कृष्ण) हाथ करि पाऊँ^६ । उनहि (कृष्ण) वरीं कै सजो परान^७ ।

इ. ताकोँ—जोगी कौन बड़ी सकर तै, ताकोँ काम छरै^८ । वाकै बदलै ताकोँ धरो^९ । ऐसी कौन मारिहै ताकोँ^{१०} । और नैकु छुवै देखै स्यामहि, ताकोँ करौ निपात^{११} ।

ई. तिनकोँ—सूरप्रभु आए अचानक, देखि तिनकोँ हँसी^{१२} ।

उ. तिनहि—पठवत हों मन तिनहि (हरि) मनावन निसिदिन रहत अरे रो^{१३} ।

ऊ. तिहिक्कोँ—सूरदास तिहिक्कोँ बजवनिता जवजोरति उर अक भरे^{१४} ।

ऋ. तेहि—तुरतहि तेहि मारयो^{१५} । बहुरि तेहि दरसन दै निस्तार^{१६} ।

ए. याकोँ—वाकी मारि अपनयो राखै^{१७} ।

ऐ. बिनकोँ—तै ऐसे चितयोँ कछु बिनकोँ^{१८} (गिरधारी की) ।

ग. बलात्मक प्रयोग—'सूरसागर' में जिन रूपों का कर्मकारकीय बलात्मक प्रयोग मिलता है, उनमें मुख्य हैं—ओऊ, उनहुँकोँ, ताही कोँ, ताहुँ कोँ, सोई, सोऊ, और याहीकोँ । इनमें ओऊ, सोई, सोऊ और याऊ विभक्तिरहित हैं और शेष विभक्तियुक्त । इनमें से 'ताही कोँ' और 'सोऊ' के प्रयोग कुछ अधिक मिलते हैं, शेष के बहुत कम ।

अ. ओऊ—बुप करि रही मधुप रस-लपट तुम देखे अरु ओऊ^{१९} ।

आ. उनहुँकोँ—उनहुँकोँ (बलराम को) गहि ल्याई^{२०} ।

इ. ताही कोँ—खब इक नई मिली है आई । ताहीकोँ अब लेहि बुलाई^{२१} । जुव-तिनि पै ताही कोँ पठवै, जो तुम लायक होइ^{२२} ।

१. स. १-३ ।

२. सा. १-२२६ ।

३. सा. ९-१०४ ।

४. सा. ३१३५ ।

५. सा. १८७७ ।

६. सा. १८९५ ।

७. सा. ४१६७ ।

८. सा. २-३५ ।

९. सा. ४-५ ।

१०. सा. १०-६० ।

११. सा. ३७५ ।

१२. सा. २४११ ।

१३. सा. १८६४ ।

१४. सा. १०-८८ ।

१५. सा. ३१०९ ।

१६. सा. ४१९९ ।

१७. सा. १०-६० ।

१८. सा. २८२८ ।

१९. सा. ३९७५ ।

२०. सा. २९१६ ।

२१. सा. २४२८ ।

२२. सा. ३४३२ ।

ई. ताहूँ कौँ—इंद्र होइ, ताहूँ कौँ मारौँ^{२३} ।

उ. सोई—जज्ञ हेत हम करी रसोई । ग्वालनि पहिलै देहि न सोई^{२४} ।

ऊ. सोऊ—अरु सो भक्ति कीजै किहि भाइ । सोऊ मो कहै देउ बताइ^{२५} । मन मानै सोऊ कहि डारौ^{२६} । जो कहूँ ठौर जोग को होती, लै धरतो हम सोऊ^{२७} ।

ए. वाही कौँ—तुम अपने सिर मानि लई क्यों, मैं वाही कौँ कोसौ^{२८} ।

३. करणकारक—इस कारक में सूरदाम द्वारा प्रयुक्त रूपों की संख्या लगभग बीस है जिनको चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग ।

ख. 'तैं' विभक्तियुक्त प्रयोग । ग. सौँ विभक्ति युक्त प्रयोग । घ. अन्य विभक्तियुक्त प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—करणकारक में प्रयुक्त ताहि, तिनहिं, तिहिं और वाहि, ये चार रूप इस वर्ग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं जिनमें इस कारक की किसी विभक्ति का संयोग नहीं है । इनमें प्रथम और तृतीय रूपों का अधिक, द्वितीय का सामान्य और अंतिम का बहुत कम प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. ताहि—रिपि कह्यो ताहि, दान रति देहि^{२९} । अहो बिहग, कही अपनी दुख, पूछत ताहि खरारि^{३०} । कचहूँ ताहि कही या भाइ^{३१} ।

आ. तिनहिं—तिनहिं (सुफलक-सुतहिं) कह्यो, तुम स्नान करो ह्यौ^{३२} ।

इ. तिहिं—तब करि क्रोध सती तिहिं (दच्छहिं) कही^{३३} । सोवति सो तिहिं बात सुनावै^{३४} ।

ई. वाहि—जब मोहि अंगद कुसल पूछिहै कहा कहौंगो वाहि^{३५} ।

ख. 'त' विभक्तियुक्त प्रयोग—उनत, ततैं, और ताही तैं—ये तीन रूप इस वर्ग के अंतर्गत मिलते हैं । इनमें प्रथम दो का सामान्य और अंतिम का बहुत कम प्रयोग मिलता है ।

अ. उनतैं—इंद्र बड़े कुलदेव हमारे, उनत सब यह होति बड़ाई^{३६} ।

आ. ततैं प्रथमहि महतत्व उपायो । ततैं अहकार प्रगटायौ^{३७} । ब्रह्म स्वयंभुव मनु जायो । ततैं जन्म प्रियव्रत पायो^{३८} ।

इ. ताही तैं—प्रियव्रत के अग्नीध्र सु भयो । नाभि जन्म ताहीं तैं लयो^{३९} ।

ग. 'सौँ' विभक्तियुक्त प्रयोग—इस वर्ग के अंतर्गत उनसौँ, उनही सौँ, तासौँ, ताहि सौँ, ताही सौँ, तिन सौँ, तिहिं सौँ, वासौँ और वाही सौँ—ये

२३. सा. १-२९० । २४. सा. ८०० ।

२५. सा. ३-१३ । २६. सा. ३५१८ । २७. सा. ३९२६ । २८. सा. १३१५ ।

२९. सा. १-२२९ । ३०. सा. ९-६५ । ३१. सा. ९-१७३ । ३२. सा. ३०१४ ।

३३. सा. ४-५ । ३४. सा. ४-१२ । ३५. सा. ९-७५ । ३६. सा. ८१८ ।

३७. सा. ३-१३ । ३८. सा. ५-२ । ३९. सा. ५-२ ।

नो रूप आते हैं। इनमें तीन रूप—उनहों सों, ताही सों और चाही सों—बलात्मक हैं, शेष सामान्य। उनसों, तासों, तिनसों और वासों—इन चार रूपों का प्रयोग सूरदान ने बहुत किया है, शेष का बहुत कम।

अ. उनसों—व्यवनकृपि आस्रम इहि आइ। बिनती उनसों कीज जाइ^{४०}।
कछु उनसों (कान्ह सों) बोली^{४१}। उनसों (हरि सों) कहि फिर ह्यो आवैगी^{४२}। जो कोउ उनसों (गोपाल सों) सुधि कहै^{४३}।

आ. उनहों सों—सूर स्याम वाकी मुर साजत वह उनहों सों भ्राजति^{४४}।

इ. तासों—ताकी तासों लियो बचाइ^{४५}। बान एक हरि मिव कीं दियो। तासों सब असुरनि छय कियो^{४६}। सुक कह्यो तासों या भाइ^{४७}। तासों कहि सब भेद सुनायो^{४८}।

ई. ताहि सों—सर्प इव आइहै बहुरि तुम्हरे निकट, ताहि सों नाव मम मृग बांधी^{४९}। ताहि सों वचन या विधि उचारे^{५०}।

उ. ताहीसों—ताही सों तुम चित्त लगावहु^{५१}। सूर प्रगट ताही सों कहि कहि^{५२}।

ऊ. तिन सों—तिन सों या विधि पूछत भए^{५३}। तिनसों (स्याम सों) कहत सबल ब्रजवासी^{५४}। तिनसों भेद जनावै^{५५}। कृपा बचन तिनसों हरि बपे^{५६}।

ऋ. तिहि सों—तिहि सों भरत कछू नहि कह्यो^{५७}।

ए. वासों—पै वासों उत्तर नहि लह्यो^{५८}। नैकु नही कछू वासों ह्वै^{५९}। वासों प्रीति करै जनि^{६०}।

ऐ. चाहीं सों—तो मैं जो चाही सों कहिकै, उनकी खाल कढ़ाई^{६१}।

ष. अन्य निमित्तयुक्त रूप—उनपै, ता सेंती, ताही पै और वाकी—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से प्रथम का सबसे अधिक और अन्या का इन्ने-गिने पदा में ही प्रयोग किया गया है।

अ. उनपै—हम उनपै (हरि पै) गाइ चराई^{६२}। खोयी गयी नेह-नग उनपै (हरि पै)^{६३}। तो कहि इती अवज्ञा उनपै (हरि पै) कंसै सही परी^{६४}।

४०. सा. ९-३।

४१. सा. १९५८। ४२. सा. २०९५। ४३. सा. ३९४४। ४४. सा. १३३९।

४५. सा. १-२८९। ४६. सा. ७-७। ४७. सा. ९-१७३। ४८. सा. १०-५८।

४९. सा. ८-१६। ५०. सा. ४१८३। ५१. सा. ५-२। ५२. सा. १३५८।

५३. सा. १-२२६। ५४. सा. ९७१। ५५. सा. २२५६। ५६. सा. २९२२।

५७. सा. ५-४। ५८. सा. १-२९०। ५९. सा. ९१६। ६०. सा. २१९८।

६१. सा. ३०४१। ६२. सा. ३१६२। ६३. सा. ३११४। ६४. सा. ३७९७।

आ. ता सेंती—कहन लगघो, मम सुत ससि गोद । ता सेंती ससि करत बिनोद^{६५} ।

तप कीन्हें सो देहें आग । ता सेंती तुम कीनो जाग^{६६} ।

इ. ताही पै—यह चतुराई पढ़ी ताही पै, सो गुन हमत न्यारी^{६७} ।

ई. वाकौं—सूर जाइ बूझौ धौ वाकौं, ब्रज जुवती इक देखि रही हो^{६८} ।

४. संप्रदानकारक—इस कारक में सूरदास ने बारह-तेरह सर्वनाम-रूपों का प्रयोग किया है जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'कौं' विभक्तियुक्त रूप । ग. अन्य विभक्तियुक्त रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—उन, ताहि, तिन्हें, तिहिं और तेहिं—ये पांच रूप इस वर्ग में आ सकते हैं । इनमें से द्वितीय और तृतीय रूपों का प्रयोग सामान्य रूप से हुआ है और शेष तीनों का बहुत कम ।

अ. उन—इक हरि चतुर हुते पहलै ही, अब उन गुरु सिखई^{६९} ।

आ. ताहि—ताहि दै राज बँकुठ सिधाए^{७०} । कपिल ताहि यह आजा दीन्ही^{७१} ।

इ. तिन्हें—सहस नाम तहें तिन्हें (उमा को) सुनायो^{७२} ।

ई. तिहिं—भए अनुकूल हरि, दियो तिहिं सुरत बर^{७३} । यह सुनिकै तिहिं उपज्यो ज्ञान^{७४} । पुनि नृप तिहिं भोजन करवायो^{७५} । लिखि पाती दोउ हाथ दई तिहिं^{७६} । हरि जू तिहिं यह उत्तर दयो^{७७} ।

उ. तेहिं—सूर स्याम तेहि गारी दीजै, जो कोउ आवै तुम्हरी बगरी^{७८} ।

ख. 'कौं' विभक्तियुक्त रूप—उनकौं, ताकौं, ताहूँकौं, तिनकौं और वाकौं—ये पांच रूप इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं । इनमें द्वितीय रूप बलात्मक है और शेष सामान्य । इनमें से उनकौं, ताकौं और वाकौं के अतिरिक्त शेष सभी रूपों के प्रयोग बहुत कम पदों में मिलते हैं ।

अ. उनकौं—अब मैं उनकौं (कुरूपति कौं) ज्ञान मुनाऊँ^{७९} । अपनी पेट दियो तैं उनकौं (हरि कौं)^{८०} । उनकौं (स्यामहि) सुख देत^{८१} । जोइ-जोइ साध करी पिय रस की, सो उनकौं दीन्हे^{८२} ।

आ. ताकौं—बिन देखै ताकौं सुख भयो^{८३} । करि तिन क्रोध साप ताकौं दयो^{८४} । सकल देस नृप ताकौं दयो^{८५} । सूरज दै जननी गति ताकौं कृपा करी निज घाम पठाई^{८६} ।

इ. ताहूँ कौं—बहुरि स्वयंभू मनु तप कीन्ही । ताहूँ कौं हरि जू बर दीन्हौ^{८७} ।

६५. सा. ५ - ३ । ६६. सा. ९ - २ । ६७. सा. २५४६ । ६८. सा. १९७६ ।

६९. सा. ३९१५ । ७०. सा. ७-६ । ७१. सा. ९-९ । ७२. सा. १-२२६ ।

७३. सा. ४-१० । ७४. सा. ४-१२ । ७५. सा. ७-५ । ७६. सा. ३४४८ ।

७७. सा. ४२०६ । ७८. सा. १४१५ । ७९. सा. १-२८४ । ८०. सा. २०९० ।

८१. सा. २३५३ । ८२. सा. २६७४ । ८३. सा. १-२८९ । ८४. सा. ४-११ ।

८५. सा. ९-२ । ८६. सा. १०-५० । ८७. सा. ४ - ९ ।

ई. तिनकों—नेकहुँ बंन रह्यो नहि तिनकों^{८८} ।

उ. चाकों—यह बागज मैं चाकों दीन्हो^{८९} । रंनि देत मुख चाकों^{९०} ।

ग. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उनहि, उनहि सौ और ताके—ये तीन प्रयोग इस वर्ग में आते हैं जिनका कुछ ही पदों में सूरदास ने प्रयोग किया है । इनमें से प्रथम और अंतिम रूप सामान्य हैं और द्वितीय बलात्मक है ।

अ. उनहि—मन लै उनहे (स्यामहि) दियो^{९१} । दीजो उनहे (गोपानहि) उरहनी मधुकर^{९२} ।

आ. उनहि सौ—तानै कही उनहि (नृपहि) सौ जाइ^{९३} ।

इ. ताके—ताके पुत्र सुता बहु भए^{९४} । ताके सुन्दर धोना भयो^{९५} ।

५ अपादानकारक—उत्त कारक की 'तै' विभक्ति के साथ मुख्य पांच रूप मिलते हैं—उनतै, उनहूँ, तातै, ताहूँ तै और चातै । इनमें द्वितीय और चतुर्थ बलात्मक रूप हैं और शेष सामान्य हैं । इन पाँचों रूपों का प्रयोग इने-गिने पदों में ही मिलता है ।

अ. उनतै—कुलटी उनतै (महरि जसोदा तै) को है^{९६} । उनत प्रभु नहि और बियो^{९७} ।

आ. उनहूँ तै—सूरदास प्रभु वै अति छोटे, यह उनहूँ त अति ही छोटी^{९८} ।

इ. तातै—राधा आधा अग है, तातै यह मुरली प्यारी^{९९} ।

ई. ताहूँ तै—सुनहुँ सूर ज्यों होम अग्नि घृत, ताहूँ तै यह प्यारी^{१००} ।

उ. चातै—जब ऐसी लगत हमहि चातै न अयानी^{१०१} ।

६ सर्वप्रकारक—सूरदास द्वारा प्रयुक्त सर्वप्रकारकीय सर्वनाम रूपों की संख्या तीस के आस-पास है । स्थूल रूप में उनको पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'की' युक्त रूप । ग. 'के' युक्त रूप । घ. 'को' युक्त रूप । ङ. अन्य रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—उन और ता—ये दो रूप इस प्रकार के हैं जिनमें कोई विभक्ति नहीं है । दोनों का प्रयोग कवि ने अनेक पदों में किया है ।

अ. उन—मन उन हाथ बिकानी^{१०२} । को जाने उन (कृष्ण) ही की^{१०३} । उन पहिरघी उन (स्यामा का) नोसरिहार^{१०४} । कोटि जल फल होइ उन (हरि के) दरसन पाए^{१०५} ।

८८. सा. २८२८ ।	८९. सा. १८४ ।	९०. सा. २५४३ ।	९१. सा. २२३८ ।
९२. सा. ३७७५ ।	९३. सा. ९-५ ।	९४. सा. ४-१२ ।	९५. सा. ५-३ ।
९६. सा. २८८९ ।	९७. सा. ३०८६ ।	९८. सा. १९०१ ।	९९. सा. १२५२ ।
१००. सा. २१२० ।	१०१. सा. १८३६ ।	१०२. सा. १८८४ ।	१०३. सा. १८६५ ।
१०४. सा. २०३६ ।	१०५. सा. ४१८८ ।		

आ. ता—ता अवतारहि^{१०} । ता थर^{११} । ता पख^{१२} । ता मुख^{१३} ।

ख. 'की' युक्त रूप—उनकी, उनहिं की, ताकी, तिनकी और वाकी—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें द्वितीय रूप बलात्मक है, शेष सामान्य हैं । उनकी, ताकी और वाकी का प्रयोग 'सूरसागर' में बहुत किया गया है, शेष रूप कुछ ही पदों में मिलते हैं ।

अ. उनकी—उनकी (महादेव की) महिमा^{१४} । उनकी (नृपति की) अस्तुति^{१५} । उन उनकी (स्याम की) पहिरी मोतिमाला^{१६} । पीत धुजा उनकी (स्याम की)^{१७} ।

आ. उनहिं की—यह करतूति उन हैं (स्यामहिं) की नाही^{१८} ।

इ. ताकी—ताकी इच्छा^{१९} । ताकी पितु भातु घटाई कानि^{२०} । ताकी गतिहि^{२१} । माता ताकी^{२२} । ताकी सक्ति^{२३} ।

ई. तिनकी—नदनंदन गिरिधर बहुनायक, तू तिनकी पटरानी^{२४} ।

उ. वाकी—चतुरई वाकी^{२५} । वाकी जाति^{२६} । वाकी पैज^{२७} । वाकी बुद्धि^{२८} । लंगरई वाकी^{२९} ।

ग. 'के' युक्त रूप—इस वर्ग में आनेवाले प्रमुख रूप हैं—उनके, उनहीके, ताके, तासु के, ताहूके, तिनके, तोहिके और वाके । इनमें केवल दूसरा रूप बलात्मक है । प्रयोग की दृष्टि से इनके, ताके और वाके रूप सर्वत्र मिलते हैं, शेष कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं ।

अ. उनके—उनके (स्याम) मनही भाई^{३०} । सेवक उनके (कन्हवाई के)^{३१} । उनके (स्याम के) गुन^{३२} ।

आ. उनहीं के—उनहीं के गुन गावत हैं^{३३} । उनहीं के सगी^{३४} ।

इ. ताके—गुन ताके^{३५} । ताके तदुल^{३६} । ताके पूत^{३७} । ताके माथे^{३८} । ताके साथ^{३९} । ताके हथ^{४०} ।

ई. तासु के—तुरंग रथ तासु के सब सँघारे^{४१} ।

७. सा. २७७९ ।	८. सा. १०-२८ ।	९. सा. १८६८ ।
१०. सा. २७२४ ।	११. सा. ४-५ ।	१२. सा. १५७९ ।
१३. सा. २०३६ ।	१४. सा. ३७४६ ।	१५. सा. ३७४९ ।
१६. सा. १-२९० ।	१७. सा. १-३२५ ।	१८. सा. ९-१३ ।
१९. सा. १-७७ ।	२०. सा. १-३२५ ।	२१. सा. १-७२५ ।
२२. सा. १-७७ ।	२३. सा. १-७२५ ।	२४. सा. १-७२५ ।
२५. सा. १-७२५ ।	२६. सा. १-७२५ ।	२७. सा. १-२३२ ।
२८. सा. १-७२५ ।	२९. सा. १-७२५ ।	३०. सा. १-७२५ ।
३१. सा. १-७२५ ।	३२. सा. १-७२५ ।	३३. सा. १-७२५ ।
३४. सा. १-७२५ ।	३५. सा. १-७२५ ।	३६. सा. १-७२५ ।
३७. सा. १-७२५ ।	३८. सा. १-७२५ ।	३९. सा. १-७२५ ।
४०. सा. १-७२५ ।	४१. सा. १-७२५ ।	४२. सा. १-७२५ ।

उ. ताहू के—ताहू के सँवे-पौवे को^{३९} ।

ऊ. तिनके—मेरे प्रान-जिवन-धन कान्हा, तिनके भुज माँहि बँधे दिखाए^{४०} ।
सूर स्याम जुवती मन मोहन, तिनके गुन नहि परत वही^{४१} ।

ऋ. तेहिके—असी सहस्र किकर दल तेहिके^{४२} ।

ए. वावे—वाके मुनहु उपाउ^{४३} । वाके गुन^{४४} । चरित वाके^{४५} । वाके वचन^{४६} । वाके भाग^{४७} ।

घ. 'कौ' युक्त रूप—उनकौ, उनही कौ, तारौ, तिनकौ और चकै—
मुख्यतः ये पाँच रूप इन वर्ग में आते हैं । इनमें केवल दूसरा रूप बलात्मक है । इन पाँचों रूपों में प्रथम, तृतीय और अन्तिम का प्रयोग सूरदान ने जितना अधिक किया है, शेष दोनों का उतना ही कम ।

ज. उनकौ—नुता है वृषभानु की रो, बडौ उनकौ नाउ^{४८} । उनकौ (गिरिधर कौ) मन अपनी कर लीन्हौ^{४९} । उनकौ (स्याम कौ) बदन बिलोकनि निसि दिन^{५०} । सुधि करि देखि स्मनौ उनकौ (मोहन कौ)^{५१} ।

झ. उनही कौ—उनहौ (सखी) कौ मन राखै वाम^{५२} ।

इ. तारौ—तारौ केम^{५३} । जस तारौ^{५४} । निरभय देह राजगड तारौ^{५५} ।
नाम तारौ^{५६} ।

ई. तिनकौ—तिनकौ नाम अर्नग नृपति वर^{५७} ।

उ. वाकौ—दोष कहा वाकौ^{५८} । वाकौ भाग^{५९} । वाकौ मान^{६०} । मुख वाकौ^{६१} । वाकौ नुर^{६२} ।

ड. संयधकारकाय अन्य रूप—इस कारक के अन्य रूप हैं—उन केरी, उन केरे, तामर, तामु, ताये और तिहिं । इनमें से सबसे अधिक प्रयोग किया गया है 'तामु' का और उसमें कम 'तिहिं' का । शेष रूपों के प्रयोग अपवादस्वरूप कहीं-कहीं मिल जाते हैं ।

ब. उन केरी—नुम सारिखे बसीठ पठाए, कहिए कहा बुद्धि उन (वृष्ण) केरे^{६३} ।

भा. उन केरे—मोहूँ बरबस उवाहि चलावत दूत भए उन (स्याम) केरे^{६४} ।

६९. सा. १०-३२५ ।

४०. सा. ३७० ।

४१. सा. २५२९ ।

४२. सा. ९-१०४ ।

४३. सा. १७२१ ।

४४. सा. २५०५ ।

४५. सा. १७२४ ।

४६. सा. १२८१ ।

४७. सा. १३४३ ।

४८. सा. ७१९ ।

४९. सा. १२३८ ।

५०. सा. २२४७ ।

५१. सा. २८२६ ।

५२. सा. २५४० ।

५३. सा. १-३७ ।

५४. सा. ५-२ ।

५५. सा. १-४० ।

५६. सा. १-११३ ।

५७. सा. १५८८ ।

५८. सा. १२९१ ।

५९. सा. १२७३ ।

६०. सा. २५७३ ।

६१. सा. २६०७ ।

६२. सा. १३३९ ।

६३. सा. ३५२८ ।

६४. सा. २३५२ ।

इ. ताकर—उदधि-सुधा-पति, ताकर बाहन^{६५} ।

उ. तासु—तासु क्रिया^{६६} । तासु चित्त^{६७} । तासु महात्म^{६८} । तासु सुतनि^{६९} ।

ऊ. ताही—पहिले रति करिके आरति करि, ताही रंग रंगई^{७०} ।

ऋ. तिहि—नख-प्रहार तिहि उदर विदारयो^{७१} । सूर प्रभु मारि दसकध, यपि बंधु तिहि^{७२} । कहां मिली कुविजा चदन लै, कहा स्याम तिहि कृपा चहे^{७३} ।

७. अधिकरणकारक—इस कारक में प्रयुक्त अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम-रूपों की संख्या पचीस के आसपास है । साधारण रीति से इनको छह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'कै' विभक्तियुक्त रूप । ग. 'पर' विभक्तियुक्त रूप । घ. 'वै' या 'वै' विभक्तियुक्त रूप । ङ. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप । च. अन्य विभक्तियुक्त रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—ताहूँ और वाहीं—ये दो प्रयोग इस प्रकार के कहे जा सकते हैं । इनके प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलते हैं और इनके साथ की विभक्ति 'मैं' प्रायः लुप्त रहती है ।

अ. ताहूँ—खभ प्रगटि प्रह्लाद बचायो, ऐसी कृपा न ताहूँ^{७४} ।

आ. वाहीं—लख चौरासी जोनि भरमि कै, फिरि वाहीं मन दीनौ^{७५} ।

ख. 'कै' विभक्तियुक्त रूप—उनकै, ताकै, ताहीं कै और तिनक—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें तीसरा बलात्मक है । शेष तीनों सामान्य रूपों का प्रयोग अनेक पदों में मिलता है ।

अ. उनकै—मोसी उनकै कोटि तियो^{७६} । उनकै (स्याम कै) बाढ़ी आतुर-ताई^{७७} ।

आ. ताकै—साँझ बोल दै जान सूर प्रभु, ताकै आवत होत उदोत^{७८} । गई आतुर नारि ताकै^{७९} । जाइ रहे नहि ताकै^{८०} ।

इ. ताहीं कै—ताही कै पग धारियै, चक्रित मैं जाने^{८१} ।

ई. तिनकै—तिनकै (दासी-सुत कै) जाइ कियो तुम भोजन^{८२} । भूपन मोर-पखौनि, मुरली, तिनकै प्रेम कहां री^{८३} ।

ग. 'पर' विभक्तियुक्त रूप—तागर, ताहि पर, ताहो पर और तिन पर—ये चार रूप इस विभक्ति में आते हैं । इनमें तीसरा रूप बलात्मक है जिसका

६५. सा. २७७९ ।

६६. सा. १-२८० ।

६७. सा. ६-५ ।

६८. सा. ३-१३ ।

६९. सा. ९-१३ ।

७०. सा. १७८३ ।

७१. सा. ७-२ ।

७२. सा. ९-१३६ ।

७३. सा. ३१०५ ।

७४. सा. ५६९ । ७५. सा. १-६५ । ७६. सा. २०७६ । ७७. सा. २८२६ ।

७८. सा. २४७६ । ७९. सा. २६९३ । ८०. सा. २७५६ । ८१. सा. २६८८ ।

८२. सा. १-२४२ । ८३. सा. २८२६ ।

प्रयोग अनेक पदों में मिलता है। शेष सामान्य रूपों में सबसे कम प्रयुक्त हुआ है 'ताहि पर'।

अ. तापर—बूढ़ बिस्वास किया बिहासन तापर बंठे भूप^{८४}। तापर कौस्तुभ
मनिहि बिचारै^{८५}। कृपावत रिषि तापर भए^{८६}। चले विमान सग गुरु
पुरुजन तापर नृप दीडायो^{८७}।

आ. ताहि पर—इद्र विनय रिषि सो बहु करी। तब रिषि कृपा ताहि पर
धरी^{८८}।

इ. ताही पर—काली ल्याए नाथि, कमल ताही पर ल्याए^{८९}। सूर मुरछि लटकत
ताही पर^{९०}। निरखन अग अग की सोभा, ताही पर रचि मानत री^{९१}। वह
छवि देखि सनाथ भई मै, अब ताही पर जाइ ढरै^{९२}।

ई. तिन पर—स्याम तरत तबही तैं उनत्तों, तिन पर अतिहि रिसानो^{९३}। तिन
पर तूं अतिही सहरो^{९४}।

घ. 'पै' या 'पै' विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग के मुख्य रूप हैं—उनपै, तापै, तापै,
ताही पै और तिनपै। इन सभी का प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है। इनमें चौथा रूप,
'ताही पै' बलात्मक है, शेष सामान्य हैं।

अ. उनपै—को बंठी, को जाहु भवन को। मैं उनपै (हरिपै) नहि जाउं^{९५}।

आ. तापै—थरतिज्ञा राखी मनमोहन, फिर तापै पठयो^{९६}। अस्वत्थामा तापै
जाइ^{९७}।

इ. तापै—रिषि को तापै फेरि पठायो^{९८}।

ई. ताही पै—चाहति हों ताही पै (घर-नाउ) चढिकै, हरिजू कैं द्विग जाउं^{९९}।

उ. तिनपै—एक नहि भवननि तैं निवरी तिनपै आए परम कृपाला^१।

ऊ. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप—तामैं, ताही मैं और ताहू मैं—केवल ये तीन
रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें पहला सामान्य और शेष दोनों बलात्मक हैं। प्रथम रूप
का प्रयोग कवि ने अधिक किया है, अंतिम दोनों रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं।

अ. तामैं—तामैं सक्ति आपनो धरी^२। बहुरी देख्यो सखि की ओर, तामैं देखि
स्यामता कोर^३। तामैं (मायामय कोट में) बंठि सुरन जय करौ^४। दुख
समुद्र जिहि वारपार नहि तामैं नाव चलाई^५।

८४. सा. १-४०।

८५. सा. ३-१३।

८६. सा. ९-३।

८७. सा. ९-५०।

८८. सा. ९-३।

८९. सा. ५८९।

९०. सा. १३२४।

९१. सा. २२३६।

९२. सा. २५६२।

९३. सा. २४३२।

९४. सा. २४३४।

९५. सा. २४३१।

९६. सा. १-३८।

९७. सा. १-२८९।

९८. सा. ९-५।

९९. सा. ३२७५।

१. सा. १००५।

२. सा. ३-१३

३. सा. ५-३।

४. सा. ७-७।

५. सा. ९-१४६।

आ. ताहों में—जैसे रंक तनक धन पावै, ताही में वह होत निहाल^६ ।

इ. ताहू में—सूरदास की एक आंखि है, ताहू में कछु कानो^७ ।

च. अन्य विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में उन पाहीं, उन माहँ, उन माही, उनमों, ता महँ, ता माहि, ताही मोंम आदि रूप आते हैं । धलात्मक रूप इनमें केवल अंतिम है । इन सभी रूपों का प्रयोग 'सूरसागर' के पदों में कही-कही ही किया गया है ।

अ. उन पाहीं—हम निरगुन सब गुन उन (सिसुपाल) पाहें^८ ।

आ. उन माहँ—हों उन (कृष्ण) माहँ कि वै मोहि माही^९ ।

इ. उन माहीं—सुनियत परम उदार स्यामघन, रूप-रासि उन माहां^{१०} ।

ई. उन मों—जो मन जोग जुगुति आराधै, सो मन तो सबको उन (कृष्ण) मों है^{११} ।

उ. ता महँ—ता मई मोर घटा घन गरजहि, सग मिलै, तिहि सावन^{१२} ।

ऊ. ता माहि—चौदह लोक भए ता माहि^{१३} ।

ए. ताही मोंम—स्वाद परे निमिषहुँ नहि त्यागत ताही मांमि समाने^{१४} ।

सारांश—ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है कि सूरदास द्वारा प्रयुक्त पुरुष वाचक अन्य पुरुष और निश्चयवाचक दूरवर्ती सर्वनाम रूपों की सख्या उत्तम और मध्यमपुरुष रूपों से निश्चय ही अधिक है । विभिन्न कारकों में मुख्य, सामान्य और अपवादस्वरूप जिन रूपों का कवि ने प्रयोग किया है, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तियुक्त मूल और विकृत रूप
कर्ता	वह, सो, (मु), (वे), वै, उन, उनि, तिन, तिनि, (तिहि), (तेहि), उहि ।	(वाही नै)
कर्म	(ओहि), (ओही), (उन्है), (उहि), ताहि, तिहि, वाहि, सो ।	(उनकों), उनहि, ताकों, (तिनकों), (तिनिहि), तिहिकों, तेहि, वाकों, धिनकों ।
करण	ताहि, (तिनिहि), तिहि, वाहि ।	उनतै, तातै, तासु त, (उनसो), तासो, ताहि सो, तिनसों, (तिहि सो), वासों, (उनपै), (ता सेती), (वाकों) ।
संप्रदान	ताहि, (तिन्है), तिहि, (तेहि) ।	उनकों, ताकों, (तिनकों), वाकों, (उनहि), ताके ।

६. सा. १७८६ ।

७. सा. १-४७ ।

८. सा. ४१९५ ।

९. सा. १०-१३५ ।

१०. सा. २३३१ ।

११. सा. ४०७५ ।

१२. सा. ३६६१ ।

१३. सा. ३-१३ ।

१४. सा. २३०५ ।

अपेदान	• •	उनतै, तातै, वातै ।
सबध	उन, ता ।	उनकी, ताकी, (तिनकी), वाकी, उनके, ताके, (तासु के), तिनके, (तेहिंके), वाके, उनकी, ताकी, (तिनकी), वाकी, (उन केरी), (उन केरे), (ताकरे), ताकि, तासु, (तिहि), (वाकि) ।
अधिकरण	ताहूँ वाही ।	उनकै, ताकै, (तिनकै), तापर, (ताहि पर), तिन पर, (उनपै), (तापै), (तापै), (तिनपै), तामै, (उन पाहौं), उन माहै, (उन माहौं), (उन मी) (ता महौं), (ता माहि) ।

बहुवचन रूपों के कारकीर्ण प्रयोग—

अन्यपुरुष और दूरवर्ती निश्चयवाचक में साधारणतः 'वे' और 'वै' का मूल रूप में तथा 'उन', (उनि) और 'इन' का विवृत रूप में प्रयोग होता है। मूरदास ने इनके रूपों के साथ-साथ नित्यसबधी भवनामो—'तै', 'सै' (मूल रूप), 'तिन'—(विवृत रूप) और 'तिन्हें' (अन्य रूप) का भी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया है। अतएव उनके द्वारा प्रयुक्त एकवचन के समान बहुवचन रूपों की संख्या भी पर्याप्त हो गयी है। इनमें से प्रमुख रूपों के कुछ उदाहरणों का संकलन यहाँ किया गया है।

१. वृत्तान्तरिक—इस कारक में तेरह-चौदह बहुवचन रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. चलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित रूप—उन, अनि, तिन, तिनै, ते, वे और वै—ये सात रूप इन वर्गों में आते हैं। इनमें 'तै' और 'वै' का प्रयोग कवि ने खूब किया है; शेष कुछ ही पदों में मिलते हैं।

क. उन—जोग पय करि उन तनु तजे^{१५} । अविगत को गति उन नहि जानी^{१६} ।

ख. अनि—नद-नुवन मति ऐसी ठानी, अनि घर लोग जगाए^{१७} ।

ग. तिन—द्वारपाल जय-विजय हुनै बरज्यो तिनको तिन^{१८} । तिन (ब्रह्मा) कै हित तप कीन्है^{१९} ।

घ. तिनै—भोजन बहु प्रकार तिनै दीन्हों^{२०} ।

च. ते—ते हरि पद को या दिवि पावै^{२१} । कपिलायन को ते पुनि गए^{२२} ।

ते निकसी देनि अमीस^{२३} । ऐसे और पतिव अवलकिन ते छिन माहि तरे^{२४} ।

छ. वे—जोहन हैं वे पय विहारो^{२५} ।

१५. सा. १-२८८ । १६. सा. ८०० । १७. सा. ११७० । १८. सा. ३-११ ।

१९. सा. ७-७ । २०. सा. ८०० । २१. सा. ३-१३ । २२. सा. ९-६ ।

२३. सा. १०-२४ । २४. सा. १-१९८ । २५. सा. ४-१२ ।

क. वै—वै भए इक ओर^{३६} । वै सुनिहैं यह बात^{३७} । मान लेहि वै बात तुम्हारी^{३८} । स्याम सबनि कों देखही, वै देखति नाही^{३९} ।

ख. बलात्मक प्रयोग—इस वर्ग के अंतर्गत जो रूप आते हैं, उनमें मुख्य है—उतहि, उनहूँ, तिनहुँ, तिनहूँ, तेऊ, वेई, और वेऊ । इनमें से तिनहुँ, तिनहूँ और तेऊ के प्रयोग अनेक पदों में मिलते हैं, शेष रूप कही-कही ही दिखायी देते हैं ।

अ. उतहि—सखिनि मिलै जमुना गई मोतिसिरी धौं उतहि चुराई^{४०} । मूर स्याम कों उतहि सिखायी^{४१} ।

आ. उनहूँ—ब्रह्मा, रुद्र-लोक हूँ गयी । उनहूँ ताहि अभय नहि दियो^{४२} ।

इ. तिनहुँ—तिनहुँ न आनि छूडायो^{४३} । सिव-बिरचि-नारद मुनि देखत, तिनहुँ न मोकों सुरति दिवाई^{४४} । रुद्र, बिरचि, सेस महसानन, तिनहुँ न अंत लह्यो^{४५} ।

ई. तिनहूँ—बरुन कुबेरादिक पुनि आइ । करी विनय तिनहूँ बहु भाइ^{४६} । सिव, बिरचि, सनकादि आदि तिनहूँ नहि जानी^{४७} । सुर-नर-गन-गधर्व जे कहिये, बोल बचन तिनहूँ नहि टारो^{४८} ।

उ. तेऊ—किरत सकल प्रभु तेऊ हमरी नाई^{४९} । पांच बान सकर मोहि दीन्है, तेऊ गए अकारथ^{५०} । ऐमे निरुर होहिगे तेऊ जैमी की यह तैसी^{५१} ।

ऊ. वेई—कालिहहि तै वेई सबै ल्यावै गाइ चराइ^{५२} ।

२. कर्मकारक—इस कारक में प्रयुक्त रूप भी सख्या में कर्त्तकारक के समान ही हैं । इनको मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. विभक्तिसहित रूप । ग. बलात्मक रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—उनि, तिन, तिनि, तिन्ह, तिन्हें और ते—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें अंतिम दोनों रूपों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है; शेष रूप कुछ ही पदों में मिलते हैं ।

अ. उनि—भली करी उनि (उनको) स्याम बंधाए^{५३} ।

आ. तिन—ब्रह्मा तिन सँ सिव पहुँ आए^{५४} ।

इ. तिनि—लखि सरूप रय रहि नहि सकिहो, तिनि धरिहों घर धाइ^{५५} ।

३६. सा. १०-२४४ । ३७. सा. ५२२ । ३८. सा. ८०० । ३९. सा. १०९६ ।

४०. सा. १९७० । ४१. सा. २०९५ । ४२. सा. ९-५ । ४३. सा. २-३० ।

४४. सा. ७-४ । ४५. सा. २८०७ । ४६. सा. ७-२ । ४७. सा. १६१८ ।

४८. सा. ४२०३ । ४९. सा. १-१९५ । ५०. सा. १-२८७ । ५१. सा. १२५४ ।

५२. सा. ४३७ । ५३. सा. २२७० । ५४. सा. ४-५ । ५५. सा. २९४८ ।

ई. तिन्ह—भरत सनुहन कियो प्रनाम, रघुबर तिन्ह कठ लगायो^{४६} ।

उ. तिन्हें—इनके पुत्र एक सो मुए । तिन्हें बिसारि सुखी ये हुए^{४७} । नैन कमल दल से अनियारे । दरसत तिन्हें बटै दुख भारे^{४८} । कपिल कुलाहल मुनि अकुलायो । कोप-दृष्टि करि तिन्हें जरायो^{४९} ।

ऊ. ते—अष्टसिद्धि बहुरी तहें आई । रिपभदेव ते मुंह न लगाई^{५०} । श्री रघुनाथ लछन ते मारे^{५१} । विधि कुलाल कोन्हें कांचे घट ते तुम आनि पकाए^{५२} ।

ख. विभक्तियुक्त रूप—उनकों, उनहि और तिनकों—ये तीन मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें से 'उनकों' और 'तिनकों' का प्रयोग ही सूरदास ने अपने काव्य में अधिक किया है ।

अ. उनकों—उनकों मारि तुस्त में कीन्ही मेघनाद सो रारि^{५३} । वंहे काल तुम्हारे प्रगटे, काहें उनकों राखत^{५४} । सूर उनकों देखिहीं में क दिवस बुलाइ^{५५} ।

आ. उनहि—आपुन खीझै उनहि सिद्धावै^{५६} । आजु-काल्हि अब उनहि बुलाऊँ^{५७} ।

इ. तिनकों—अर्ध निसा तिनकों लै गयो^{५८} । द्वारपाल जय-विजय हुते, बरज्यो तिनकों तिन^{५९} । तट ठाढे जे सखा सग के, तिनकों नियो बुलाई^{६०} ।

३. वरणाश्रक—इस कारक में लगभग दस रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क विभक्तिरहित रूप । ख विभक्तियुक्त रूप । ग अन्य रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—इस वर्ग का एक रूप है 'तिन्हें' जो सूर-काव्य के बहुत थोड़े पदों में मिलता है ।

तिन्हें—तिन्हें कह्यो, ससार में असुर होउ अब जाइ^{६१} । आज्ञा होइ, जाहि पाताल । जाहु, तिन्हें भाष्यो भूपाल^{६२} ।

ख. 'सो' विभक्तियुक्त रूप—उनसों, तिनसों, तिनहि सों, तिन सों—ये मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें से प्रथम दो का प्रयोग सर्वत्र मिलता है, शेष दो कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं ।

अ. उनसों—माता पिता पुत्र तिहि जानै । बहऊ उनसों नातो मानै^{६३} । मैं

४६. सा. ९-५५ । ४७. सा. १-२८४ । ४८. सा. ३-१३ । ४९. सा. ९-९ ।

५०. सा. ५-२ । ५१. सा. ९-५७ । ५२. सा. ३७८१ ।

५३. सा. ९-१०४ । ५४. सा. ५२२ । ५५. सा. ५८६ । ५६. सा. १६०७ ।

५७. सा. २९२२ । ५८. सा. १-२८४ । ५९. सा. ३-११ । ६०. सा. १४०३ ।

६१. सा. ३-११ । ६२. सा. ९-९ । ६३. सा. ३-१३ ।

उनसौं (भक्तों से) ऐसी नहिं कहौ^{६४} । भोर दुहौ जनि नंद दुहाई, उनसौं कहत सुनाइ^{६५} ।

आ. तिनसौं—हरि तिनसौं कह्यौ आइ, भली सिच्छा तुम दीनी^{६६} । सुत-कलत्र कौ अपनों जानै । अरु तिनसौं ममत्व बहु ठानै^{६७} । सिक्-निंदा करि तिनसौं भाप्यो^{६८} । पग दिए तीरथ जंबे काज । तिनसौं चलि नित करै अकाज^{६९} ।

इ. तिनहिं सौं—खेलै-हंसै तिनहिं सौं बोलै^{७०} ।

ई. तिनि सौं—ठाढे सूर-बीर अवलोकत, तिनि सौं कहौ न तोरै^{७१} ।

ग. अन्य रूप—‘तैं’ और ‘पैं’ विभक्तियों से बने तीन रूप—उनतैं, तिनतैं, और तिनहूँ पैं—इस वर्ग में आते हैं । इनमें से द्वितीय रूप का प्रयोग अधिक किया गया है; प्रथम और तृतीय के उदाहरण बहुत कम पदों में मिलते हैं ।

अ. उनतैं—उनतैं कछु भयो नहिं काजा^{७२} ।

आ. तिनतैं—भैया, बंधु, कुटुंब धनेरे तिनतैं कछु न सरी^{७३} । तिनतैं पचतत्व उप-जायो^{७४} । जद्यपि रानी बरी अनेक । पैं तिनतैं सुत भयो न एक^{७५} ।

इ. तिनहूँ पैं—ध्यान धरत महादेवऽह ब्रह्मा, तिनहूँ पैं न छटै^{७६} ।

४. संप्रदान कारक—इस वर्ग में सात-आठ रूप हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. विभक्तिसहित रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—तिन, तिनि और तिन्ह—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं । इन सभी रूपों का प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलता है, सर्वत्र नहीं ।

अ. तिन—सब कूर मोसों रिन चाहत, कही कहा तिन दीजै^{७७} ।

आ. तिनि—अज्ञ-काज में तिनि दुख दयो^{७८} ।

इ. तिन्ह—ब्रह्म प्रगटि दरस तिन्ह दीन्हो^{७९} ।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में मुख्य तीन रूप मिलते हैं—उनकों, उनहिं और तिनकों । इनमें प्रथम और तृतीय रूपों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, द्वितीय का कम ।

अ. उनकों—सरस दीजै उनकों^{८०} । सो फल उनकों तुरत दिखाऊँ^{८१} ।

६४. सा. ५-३ ।

६५. सा. ४०० ।

६६. सा. ३-११ ।

६७. सा. ३-१३ ।

६८. सा. ४-५ ।

६९. सा. ४-१२ ।

७०. सा. १४६० ।

७१. सा. ३०४९ ।

७२. सा. ५२१ ।

७३. सा. १-७१ ।

७४. सा. ३-१३ ।

७५. सा. ६-५ ।

७६. सा. १-२६३ ।

७७. सा. १-१९६ ।

७८. सा. ४-१२ ।

७९. सा. ७-७ ।

८०. सा. १-१७७ ।

८१. सा. ८५६ ।

ज्वाब कहा मैं देही उनको^{८३} । सूर स्याम उनको भए भोरे, हमको निठुर मुरारी^{८७} ।

धा. उनहि—वहै बकसीस अब उनहि देहै^{८४} । यह तो जाइ उनहि उपदेसहु^{८५} ।

इ. तिनमें—राज रविनि गाई व्याकुल हूँ, दै दै तिनको धीरक^{८६} । नारायन तिनमें बर दियो^{८७} । मोहिनी रूप तुम दरस तिनको दियो^{८८} । गोपीगन प्रेमातुर, तिनमें^{८९} मुख दीन्हों ।

५. अपादानकारक—इस कारक में केवल चार मुख्य रूप मिलते हैं—उनतैं, उनहूँ तैं, तिनतैं, तिनहूँ तैं । 'तैं' विभक्ति इन चारों में है । प्रथम और तृतीय रूप सामान्य हैं, द्वितीय और चतुर्थ बलात्मक । इन सभी का प्रयोग सूर-काव्य में कहीं-कहीं ही मिलता है ।

अ. उनतैं—हों उनतैं न्यारी करि डारयो, इहि दुख जात मरघो^{९०} ।

आ. उनहूँ तैं —उनहूँ त निदंयी बडे वै, तेंसियें मुरली पाई^{९१} ।

इ. तिनतैं—व्याघ-भीष अरु पतित पूतना तिनतैं बड़ी जु ओर^{९२} ।

ई. तिनहूँ तैं—महा जे खल, तिनहूँ तैं अति, तरत है इक नाम^{९३} ।

६. संबंधकारक—इस कारक में केवल दस-ग्यारह रूप मिलते हैं । इनको चार वर्गों में रखा जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'की' युक्त रूप । ग. 'के' युक्त रूप । घ. 'कों' युक्त रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—इसमें केवल दो रूप—उन और तिन—आते हैं जिनका प्रयोग दो-चार पदों में ही दिखायी देता है, जैसे—

अ. उन—सूर कछू न हाथ न आयो, लोभ-जाग पकरे^{९४} ।

आ. तिन—कौनहुँ भाव भजै कोउ हमको, तिन तन ताप हरै रो^{९५} ।

ख. 'की' युक्त रूप—उनकी, उनहूँकी और तिनकी—ये तीन रूप इस वर्ग के हैं । इनमें द्वितीय रूप बलात्मक है जिसका प्रयोग इने गिने पदों में ही दिखायी देता है । शेष दोनों रूप 'सूर-काव्य' में सर्वत्र मिलते हैं ।

अ. उनकी—उनकी करनी^{९६} । उनकी दीनता^{९७} । उनकी करति बड़ाई^{९८} ।

उनकी बिचवानी^{९९} । उनकी सोध^{१००} ।

८२. सा. २०४६ ।

८३. सा. २३२५ ।

८४. सा. २९३० ।

८५. सा. ३९१३ ।

८६. सा. १-११२ ।

८७. सा. ३-१३ ।

८८. सा. ८-९ ।

८९. सा. ३९४ । ९०. सा. १-१५६ ।

९१. सा. १२७८ । ९२. सा. १-१४५ ।

९३. सा. ३०४६ । ९४. सा. २२९९ ।

९५. सा. ७८७ । ९६. सा. २२२४ ।

९७. सा. १-२३८ । ९८. सा. ९-१४० ।

९९. सा. १९०७ । १००. सा. ६-४ ।

आ. उनहूँ की—उनहूँ की आँखि^२ ।

इ. तिनकी—तिनकी कथा^३ । तिनकी गति^४ । संगति करि तिनकी^५ । तिनकी करी सहाइ^६ ।

ग. 'के' युक्त रूप—उनके, तिनके, तिनही के और तिनिके—केवल ये चार प्रमुख रूप इस वर्ग में मिलते हैं । इनमें तृतीय रूप बलात्मक है । प्रयोग की दृष्टि से प्रथम दो रूप महत्त्व के हैं जिनका सर्वत्र प्रयोग किया गया है । अंतिम दोनों रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं ।

अ. उनके—उनके काम^७ । समाचार सब उनके^८ । उनके अगम सरीर^९ । उनके सुख^{१०} ।

आ. तिनके—तिनके कलमल^{११} । तिनके बधन^{१२} । तिनके बचन^{१३} । भाग हैं तिनके^{१४} ।

इ. तिनहीं के—तिनहीं के सगी^{१५} ।

ई. तिनिके—गुन जानों में तिनि के^{१६} ।

घ. 'कौ' युक्त रूप—उनको और तिनको इस वर्ग में केवल दो रूप आते हैं । इनमें से प्रथम की अपेक्षा दूसरे का प्रयोग कुछ अधिक मिलता है ।

अ. उनको—उनको आसरो^{१७} ।

आ. तिनको—दोष तिनको^{१८} । तिनको नाम^{१९} तिनको प्रेम^{२०} ।

७. अधिस्वरण कारक—इस कारक में तेरह-बीस रूप मिलते हैं जिनको चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'पर' या 'पै' युक्त रूप । ग. 'में' युक्त रूप । घ. अन्य रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—उनकें और तकें—ये दो रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें प्रथम तो बहुवचन रूप है ही, परंतु द्वितीय, 'ताकें' एकवचन है जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप बहुवचन में कवि ने किया है । ये तीनों रूप बहुत कम पदों में दिखायी देते हैं ।

अ. उनकें—रैनि-दिन मम भक्ति उनकें कछू करत न आन^{२१} ।

आ. ताकें—छवन सुनि-सुनि दहैं, रूप कैसे लहैं, नैन कछू गहैं, रसना न ताकें^{२२} ।

२. सा. २९१६ ।

३. सा. ११७५ । ४. सा. १-१४० । ५. २०१७ । ६. सा. ७-७ ।

७. सा. २२२७ । ८. सा. ४१६० । ९. सा. ९-८६ । १०. सा. १९४३ ।

११. सा. १-९५ । १२. सा. १६१८ । १३. सा. ८०० । १४. सा. ६२० ।

१५. सा. ३५९३ । १६. सा. ३३७९ । १७. सा. २२२७ । १८. सा. ४२०९ ।

१९. सा. १५५१ । २०. सा. ४२०० । २१. सा. ३४३१ । २२. सा. १८५७ ।

ख. 'पर' या 'पै' विभक्तियुक्त रूप—उनपर, तिनपर और तिन पै—तीन रूप इस वर्ग में आते हैं। इनके प्रयोग भी कहीं-कहीं ही मिलते हैं। -

अ. उन पर—सधन गुजत बैठि उन पर भीरहूँ विरमाहि^{२३}। ऐसी रिसि आवति है उन पर^{२४}।

आ. तिन पर—सानु ननद तिन पर सहुरै^{२५}। तिन पर ओघ कहा में पाऊँ^{२६}।

इ. तिनपै—बहुरि तानी कियो, डारि तिनपै दियो^{२७}।

ग. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप—उनमें, तिनमें, तिनही में, ताहूँ में—ये चार रूप ही इस वर्ग में मिलते हैं। इनमें प्रथम दो सामान्य बहुवचन रूप हैं, तृतीय बलात्मक बहुवचन और अंतिम बलात्मक एकवचन रूप जिसका सूरदान ने अपवादस्वरूप एक-दो पदों में बहुवचन में प्रयोग किया है। प्रथम दोनों प्रमुख रूपों का प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र मिलता है।

अ. उनमें—तिनमें अजामील गनिकादिक, उनमें मैं सिरमौर^{२८}। उनमें नित उठि होइ लराई^{२९}। एक सखी उनमें जो राधा, लेनि मनहि जु चुराई^{३०}। उनमें पाँचो दिन जो बसियै^{३१}।

आ. तिनमें—और हैं आजकल के राजा तिनमें में सुलतान^{३२}। तिनमें सनी नाम विख्यात^{३३}। तिनमें नव नव खंड अधिकारी^{३४}। पट्टरन के पक्वान धरे सब तिनमें रुचि नहि लावत^{३५}।

इ. तिनही में—और पतित तुम जैसे तारे तिनही में लखि काढी^{३६}।

ई. ताहूँ में—भेद चकोर कियो ताहूँ में, बिधु प्रीतम, रिपु मान^{३७}।

घ. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उन मोम, तिन माहि, तिनहि पाहीं और तिनहि माहीं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं। इनका प्रयोग बहुत कम पदों में मिलता है।

अ. उन मोम—मनहुँ उलटि उन मोम समानी^{३८}।

आ. तिन माहि—यँ तिहि रिपि-दृग जाने नाहि, खेलत मूल दिये तिन नाहि^{३९}।

इ. तिनहि पाहीं—स्वाम बलराम यह नाम सुनि ताम मोहि, काहि पठवहुँ जाइ तिनहि पाहीं^{४०}।

ई. तिनहि माहीं—सूर प्रभु नैन लं मोल अपवस किए, आपु बंठे रहत तिनहि माहीं^{४१}।

२३. सा. १-३३८। २४. सा. २२४४। २५. सा. १९२०। २६. सा. २९२२।

२७. सा. ३०५४। २८. सा. १-१४५। २९. ३-९। ३०. सा. ४०९६।

३१. सा. ४१५०। ३२. सा. १-१४५। ३३. सा. ४-४। ३४. सा. ५-२।

३५. सा. ४६८। ३६. सा. १-१३७। ३७. सा. ३९८५। ३८. सा. २३६५।

३९. सा. ९-३। ४०. सा. २९३०। ४१. सा. २२४०।

सारांश—पुरुषवाचक अन्यपुरुष और निश्चयवाची दूरवर्ती बहुवचन सर्वनामों के जो जो रूप विभिन्न कारकों में प्रयुक्त हुए हैं, सक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्ति रहित रूप	विभक्ति युक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	(उन), (उनि), (तिन), (तिनि), ते, (वे), वैं		((उन्हीं), (उन्हें), (तिन्हें), तिनहूँ, (तेउ) तेऊ, (वेई) ।
कर्म	(उनि), (तिन), (तिनि), (तिन्ह), तिन्हें, ते	उनकोँ, (उन्हीं), तिनकोँ, (तिन्हीं), (तिंहीं) ।	(तेइ, ।
करण	(तिन्हीं), (तिन्है)	उनसों, तिनसों, (तिनिसों), (उनतैं), तिनतैं ।	(उन्हीं सों), (उनही- सों) (तिन्हीं सों, तिनहूँ पै ।
सम्प्रदान	(उन), (ताहि), (तिनि), (तिन्ह)	उनको, उन्हीं, तिनकोँ, तिन्हीं ।	
अपादान	...	(उनतैं), (तिनतैं)	(उन्हूँ तैं), (तिनहूँ तैं)
संबंध	(उन), (तिन)	उनकी, तिनकी, उनके, तिनके, तिनिके, उनको, तिनको ।	(उन्हूँ की), (तिनही के) ।
अधिकरण	(उनतैं), (ताकैं), तिनकैं	उन पर, तिन पर, (तिन पै), (तिनही में), (ताहू में), उनमें, तिनमें, (उन माँझ, (तिन्हीं माही) । (तिन माँहि), (तिन्हीं पाही) ।	

निश्चयवाची : निकटवर्ती—

व्रजभाषा में इस सर्वनाम के एकवचन और बहुवचन में मूल और विकृत रूप इस प्रकार होते हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	यह	ये, ए
विकृत	या	इन
अन्य	याहि	इन्हें

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

अन्य सर्वनाम-रूपों के समान निकटवर्ती निश्चयवाची बहुवचन-रूप भी अनेक पदों में सूरदास द्वारा एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं । विभिन्न कारकों में इनके प्रयोगों की सोदाहरण चर्चा नीचे की जाती है ।

कर्त्ताकारक—इस कारक में बारह-तेरह रूपों का कवि ने प्रयोग किया है । इनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्ति रहित सामान्य प्रयोग । ख. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित सामान्य प्रयोग—इन, इहि, ए, यह, ये—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से तृतीय का प्रयोग तो कहीं-कहीं मिलता है, शेष चारों का सर्वत्र मिलता है।

अ इन—इन (प्रह्लाद) तौ रामाहि राम उचारे^{४२}। दूतन कह्यो, बडौ यह पापी।
इन तौ पाप किये हैं घापो^{४३}। विप्र जन्म इन (अजामिल) जूबै हारयो^{४४}।
धूँधट-मट बदन डोंपि, काहँ इन (यह नारि) राख्यो (री)^{४५}।

अ इहि—इहि मोसों करी छिटाई^{४६}। चाँपी इहि मेरी^{४७}। सखी-सखी सों कहति
बावरी, इहि हमको निदरी^{४८}। बहुत अचगरी इहि करि राखी^{४९}।

इ ए—कोटि चद वारों मुख-छवि पर ए (कृष्ण) हैं साहु कै चोर^{५०}।

ई. यह—यह अति हरिहाई^{५१}। जो यह बधू होइ काहु को^{५२}। जो यह सजो-
बनि पडि जाइ^{५३}। इसै जिनि यह काहु^{५४}।

उ. ये—न ये (भगवान) देखि मोहि लुभाए^{५५}। कवहुँ कियै भक्ति के न ये
(भगवान) रोसही^{५६}। नदहुँ तै ये (कृष्ण) बडे कहैहैं^{५७}। वृंदावन वं तिनु
तमाय, ये (प्रिया) कनकलता-सी गोरी^{५८}।

ख यलात्मक प्रयोग—इनहि, इनहीं, एउ, येइ, येई, येऊ—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'इनहि', 'इनहीं' और 'येई'—इन तीन रूपों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है और 'यउ' तथा 'येऊ' का कम। शेष का सामान्य रूप से प्रयोग मिलता है।

अ. इनहि—ऐसी कहुँ भई नहि होनी, जैसी इनहि (भुरली) करी^{५९}। ऐसी
अपदाँव सब इनहि (मन) कीन्हें^{६०}। इनहि (कन्हाई) गुबर्धन लियो
छाई^{६१}।

आ इनहीं—असुर कह्यो, इनहीं (ब्रह्म) हिरनाच्छहि मारयो। हिरनकशिप
इनहीं सहारयो^{६२}। सूर स्याम इनहि (भुरली) बहकाये^{६३}। सूरस्याम को
इनहीं (राधा) जाने^{६४}।

इ. एउ—यै चतुर एउ (प्रिया) नहि भोरी^{६५}। एउ (अलि) बसत निसि नव
जलजातनि^{६६}।

४२ सा ७-२।	४३. सा ६-४।	४४ सा ६-४।	४५. सा २१-५।
४६ सा ५५५।	४७ सा ५८९।	४८ सा. १९००।	४९ सा ३०३७।
५० सा ३५९।	५१ सा १-५१।	५२. सा ९-४१।	५३ सा ९-१७३।
५४. सा ६३६।	५५ सा ८-८।	५६ सा ८-८।	५७ सा. १०-३१९।
५८. सा १९०४।	५९ सा. १२९५।	६० सा २२४०।	६१ सा ३०२८।
६२. सा ७-७।	६३. सा १२९९।	६४. सा. २०६०।	६५ सा. १९०४।
६६. सा. ३७६०।			

ई. येइ—येइ माता येइ पिता जगत के^{६७} ।

उ. येई—कंस बधन येइ (कृष्ण) करिहैं ।^{६८} । भूमि भार येई हरिहैं^{६९} । येई (कृष्ण) हैं सब ब्रज के जीवन^{७०} । यह महिमा येई (स्याम) पै जानै ।^{७१} । उत्पति प्रलय करत है येई^{७२} । येई है रतिपति के मोहन, येई हैं हमरे पति-प्राण^{७३} ।

ऊ. येऊ—येऊ (स्याम) नवल, नवल तुहँ हो^{७४} । तुम हो कुसल, कुसल है येऊ (स्याम^{७५}) ।

२. कर्मकारक—इस कारक में भी तेरह-चौदह रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग, ख. विभक्तियुक्त प्रयोग और ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग में मूरदाम द्वारा जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, उनमें मुख्य है—इन्हें, इहि, यह और याहि । इनमें से 'इहि' और 'याहि' के कर्म-कारकीय प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं, परन्तु शेष दोनों रूपों के बहुत कम पदों में दिखायी देते हैं ।

अ. इन्हें—अब तो इन्हें (कृष्ण को) जकरि चरि बाँधौ^{७६} ।

आ. इहिं—पवंत सौ इहिं देहु गिराई^{७७} । देखो महारि सुना अपनी कों, कहूँ इहिं कारै खाई^{७८} । इहिं तू जनि बरजै री^{७९} ।

इ. यह—कलिजुग मैं यह सुनिहै जोड^{८०} ।

ई. याहि—हरि, याहि सहारो^{८१} । याहि अन्हवावहु^{८२} । याहि मत मारो^{८३} । याहि मारि, तोहि और बिबाहौ^{८४} ।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनकों, इनहि और राकों—केवल ये तीन रूप ही इस वर्ग में आते हैं इन सभी का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है ।

अ. इनकों—को बाँधै को छोरै इनकों (स्याम को)^{८५} । मँया री, तू इनकों (राधा को) चीन्हति^{८६} ।

आ. इनहिं—कछु संबंध हमारी इनसी, तातै इनहिं (स्याम-सखिहि) बुलाई है^{८७} । एक सखी कहै, इनहि (स्यामहि) नचावहु^{८८} । इनहिं (कन्हारि को) तृना लै गयो उड़ाई^{८९} ।

६७. सा. ३९१ ।

६८. सा. १०८५ ।

६९. सा. ३६७ ।

७०. सा. ३८० । ७१. सा. ४३५ । ७२. सा. २१६४ । ७३. सा. २१६७ ।

७४. सा. १०-३४० । ७५. सा. ७-२ । ७६. सा. ७४३ । ७७. सा. १३५७ ।

७८. सा. ३-१३ । ७९. सा. ३-११ । ८०. सा. ५-३ । ८१. ७-७ ।

८२. सा. १०-४ । ८३. सा. ३८० । ८४. सा. ७०० । ८५. सा. २१६३ ।

८६. सा. २९१६ । ८७. सा. ३०२८ ।

इ. याकौं—याकौं पावक भीतर डारो^{८८} । तानै अब याकौं मति जारो^{८९} ।
को है याकौं भेटनहारो^{९०} । देखै कहूँ नैन भरि याकौं^{९१} ।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहीं, यहई, यहैं और याही कौं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं । अन्य कारको के बलात्मक रूपों के समान इनका प्रयोग भी 'सूरसागर' के कुछ ही पदों में मिलता है ।

अ. इनहीं—बकी पियावन इनहीं आई^{९२} ।

आ. यहई—सुनहु सूर वह यहई चाहै, तापर यह रिस पानै रो^{९३} ।

इ. यहै—जसुमति बान्हहि यहै सिखावति^{९४} ।

ई. याही कौं—याही कौं खोजति सबै, यह रही कहां रो^{९५} ।

३. करणसारक—इस कारक में दम-ग्यारह रूप ही मिलते हैं जिनको स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. विभक्तियुक्त रूप । ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनि और याहि केवल ये दो रूप इस वर्ग में आते हैं । इनका प्रयोग कुछ ही पदों में दिखायी देता है ।

अ. इनि—भवन लै इनि भेद बूझी, सुनी वचन रसाल^{९६} ।

आ. याहि—कहौ याहि किन बांस जाति की, कोनै तोहि बुलाई^{९७} । जवहीं यह कहोंगी याहि^{९८} ।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनतैं, इनसौं, इनहि और यासौं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं । इन रूपों में से चतुर्थ का तो कम, परंतु शेष तीनों रूपों का अधिक प्रयोग किया गया है ।

अ. इनतैं—इनतैं (कृष्ण से) हम भए सनाथा^{९९} । और भयो इनत (राधा तैं) तूमको सुख^{१००} ।

आ. इनसौं—कतहि रिसाति जसोदा इनसौं (कृष्ण से)^{१०१} । बान्ह कह्यो, कछु मांगहु इनसौं^{१०२} (गिरि देवता सो) । जव तैं इनसौं (राधा से) नेह लगायो^{१०३} ।

इ. इनहि—इनहि (जसोदहि) कहन दुख आइयै, ये सबको उछति रिसाइ^{१०४} ।

ई. यासौं—यासौं हमरो कछु न बसाइ^{१०५} । यासौं मेरो नहीं उबार^{१०६} । चतुर चतुरई फरै न यासौं^{१०७} । बान कहत न बनत यासौं^{१०८} ।

८८. सा. ७-२ ।

८९. सा. ९-५ ।

९०. सा. ९-३६ ।

९१. सा. २१९१ ।

९२. सा. ३०२८ ।

९३. सा. १२८९ ।

९४. सा. १०. २२२ ।

९५. सा. ११०६ ।

९६. सा. २७२१ ।

९७. सा. १३१३ ।

९८. सा. ३४२१ ।

९९. सा. ९८४ ।

१. सा. २१६७ ।

२. सा. ३५९ ।

३. सा. ९१४ ।

४. सा. २१६७ ।

५. सा. १४९१ ।

६. सा. ७-७ ।

७. सा. ५८५ ।

८. सा. २८२५ ।

९. सा. ३४१४ ।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहीं तैं, इनहीं तैं, इनहीं पै, याही तैं और याहीं सौं—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं । इनके प्रयोग कहीं-कहीं हो मिलते हैं ।

अ. इनहीं तैं—गगा प्रगट इनहीं तैं भई^{१०} । इनहि तैं ब्रज चैन रहिहैं, मांगि भोजन सोत^{११} ।

आ. इनहीं तैं—सिव सिवता इनहीं तैं लई^{१२} । इनहीं सैं (गिरि गोबर्धन तैं) ब्रजबास बसीनों^{१३} ।

इ. इनहीं पै—ये उत्पत्ति मिटत इनहो पै (कृष्ण से)^{१४} ।

ई. याही त—मनो प्रेम की परनि परेवा, याही तैं पडि लीनी^{१५} ।

उ. याही सौं—सूरदास गिरिधर बहुनायक, याही सौं निशिदिन रति मानी^{१६} ।

४. संप्रदान कारक—इस कारक में प्रयुक्त मुख्य तीन रूप सूर-काव्य में मिलते हैं—इन्हें, इहि और याकों । इनमें से अंतिम का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है ।

अ. इन्हें—पै न इच्छा है इन्हें (भगवान को) कछु वस्तु की^{१७} ।

आ. इहि—एक बेर इहि (नृपाहि) दरसन देइ^{१८} ।

इ. याकों—जन्त भाग याकों नहि दीज^{१९} । याकों आपन रूप जनाऊँ^{२०} । वृथा दई हम याकों गारी^{२१} ।

५. अपादान कारक—इस कारक में मुख्य दो रूप मिलते हैं—इनतैं और यातैं । इनमें से दूसरे का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है ।

अ. इनतैं—इनतैं प्रभु नहि और बियो^{२२} ।

आ. यातैं—साधु न यातैं ओर^{२३} । अब लों जानी बांस बसुरिया, यातैं ओर न वंस^{२४} । भली न यात कोई^{२५} । घर है यातैं दूनी^{२६} ।

६. संबंधकारक—इस कारक के अंतर्गत सीधे-सादे बारह प्रयोग मिलते हैं जिनमें 'की', 'के' और 'कौ' के योग से सबदकारकीय रूप बनाये गये हैं । इनके अतिरिक्त अपवादस्वरूप 'केरी' का प्रयोग एक-दो पदों में दिखायी देता है । इस प्रकार इस कारक के सर्वनाम-रूपों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. 'की' युक्त प्रयोग । ख. 'के' युक्त प्रयोग । ग. 'केरी' युक्त प्रयोग और घ. 'कौ' युक्त प्रयोग ।

क. 'की' युक्त प्रयोग—इनकी, इनही की, याकी—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें दूसरा रूप बलात्मक है जिसका प्रयोग बहुत कम हुआ है । शेष दोनों रूप 'सूरसागर' में सर्वत्र मिलते हैं ।

१०. सा. ३-१३ ।

११. सा. ८५० ।

१२. सा. ३-१३ ।

१३. सा. ८८९ ।

१४. सा. ६०० ।

१५. सा. ४१०४ ।

१६. सा. १३५२ ।

१७. सा. ८-८ ।

१८. सा. ९-२ ।

१९. सा. ५-५ ।

२०. सा. ४५३ ।

२१. सा. १३३२ ।

२२. सा. ३१११ ।

२३. सा. १३४४ ।

२४. सा. १३६० ।

२५. सा. १३६१ ।

२६. सा. १४४१ ।

ब. इनकी—इनकी (वृष्ण की) सोज^{३०} । इनकी (बिरहिनी की) चालहि^{३८} ।
इनकी (कस की) भीच^{३९} । होवें जीति विधाता इनकी^{३०} ।

आ. इनही की—इनही (वृष्ण ही) की ब्रज चलति बड़ाई^{३१} ।

इ. याकी—याकी अस्तुति^{३२} । अवय कथा याकी^{३३} । याकी करनी^{३४} । याकी
अवय कहानी^{३५} । याकी मति^{३६} । याकी सोवा^{३७} ।

ख. 'के' युक्त रूप—इनके, याके, याहू के—ये तीन रूप इस वर्ग में मिलते हैं । इनमें अंतिम रूप बलात्मक है । इन तीनों में से द्वितीय का प्रयोग सर्वत्र मिलता है; शेष दोनों कम प्रयुक्त हुए हैं ।

अ. इनके—इनके (वृष्ण के) गुन अगमैया^{३८} । गुन इनके (वृष्ण के)^{३९} ।

आ. याके—याके उत्तपात^{४०} । याके चरित^{४१} । ठंग याके^{४२} । नैन याके^{४३} ।

इ. याहू के—याहू के गुन^{४४} ।

ग. 'केरी' युक्त प्रयोग—इस वर्ग में केवल एक रूप आता है—इहिं केरी । इसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलता है; जैसे—महिमा को जानै इहिं केरी^{४५} ।

घ. 'कौ' युक्त रूप—इस वर्ग के प्रमुख रूपों की संख्या चार है—इनहुँ कौ, इहिं कौ, याकौ और याही कौ । इनमें प्रथम और अंतिम रूप बलात्मक है । इन चारों में से केवल 'याकौ' का प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है, शेष रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं ।

आ. इनहुँ कौ—बोलक इनहुँ (ऊधौ) को सुनि लोजै^{४६} ।

आ. इहं कौ—पुरुषारथ इहिं कौ^{४७} ।

इ. याकौ—तनु याकौ^{४८} । क्रूर याकौ नाम^{४९} । बांस कुल याकौ^{५०} । मोल
भाहि याकौ^{५१} ।

ई. याही कौ—याही कौ राज^{५२} ।

७ अधिवरण कारक—इस कारक में आठ-नौ रूप मिलते हैं—इन, इन पर, इन माहिं, इन माहों, इहिं माहियाँ, याकैं, या पर, यामैं, यही पर । 'इन पर' और 'यामैं' को छोड़कर सभी रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं; इसलिए इनके विशेष वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं जान पड़ती ।

२७. सा. ४३१ ।

२८. सा. १६३९ ।

२९. सा. २९३१ ।

३०. सा. ३०३२ । ३१. सा. ३०२८ । ३२. सा. २०६० । ३३. सा. १-४४ ।

३४. सा. १२४९ । ३५. सा. १०-२५६ । ३६. सा. ३९१ । ३७. सा. १-२२६ ।

३८. सा. ४२८ । ३९. सा. १५६७ । ४०. सा. १-४४ । ४१. सा. १०-३३१ ।

४२. सा. १२३४ । ४३. सा. २१२५ । ४४. सा. १२५८ । ४५. सा. १७३१ ।

४६. सा. ३४८२ । ४७. सा. ६०० । ४८. सा. ५५४ । ४९. सा. २९५८ ।

५०. सा. १२५६ । ५१. सा. १३६१ । ५२. सा. १०-२७७ ।

भे. इन—सुरभि-ठान लिये बन तै आवत, सबहि सुन इन री^{५३} ।

आ. इन पर—तन-मन इन पर (हरि पर) सब वारहु^{५४} । लकुट लै लै त्रास कीन्हौ, करयो इन पर ताम^{५५} । सूरदास इन पर हम मरियत, कुबिजा के बस केसौ^{५६} ।

इ. इन माहि—बहुरि भगवान को निरखि कह्यो, इन माहि गुन हैं सुभाए^{५७} ।

ई. इन माहीं—ये तौ भए भावते हरि के, सदा रहत इन माहीं^{५८} ।

उ. इहिं महियों—ना जानौ का है इहिं महियों लै उर सो लपटावै^{५९} ।

ऊ. याकै—हम आई याकै जिहि कारन, सो यह प्रगट सुनावति^{६०} । प्रेम-भजन न नैकु याकै^{६१} ।

ऋ. या पर—या पर में रोती हो भारी^{६२} ।

ए. यामैं—अपनी बिरद सफहारहुगे तौ यामैं सब निवरी^{६३} । हरि गुरु एक रूप नृप जान । यामैं कछु सदेह न आन^{६४} । बन की रहनि नही अब यामैं, मधु ही पागि गई^{६५} ।

ऐ. याही पर—कमल-भार याही पर लादो^{६६} ।

सारांश—निश्चयवाची निकटवर्ती सर्वनाम के विभिन्न कारकों में जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तिसहित रूप	बलात्मक प्रयोग
कर्त्ता	इन, इहिं, (ए), यह, ये		इनहिं, इनहीं, (एउ), (महौ), (येइ), येई, येऊ
कर्म	(इन), (इन्है), इहिं, (यह), (इनि), याहि	इनको, इनहिं, याको	इनही, यहई, यहै, याही को
करण	(इनि), याहि	(इनतैं), (इनपैं), इनसों (इनहिं), यासों	(इनहिं तैं), (इनही तैं), (इनही पैं), (याही तैं) (याही सों)
संप्रदान	(इन्है), (इहिं)	याकी	
अपादान		(इनतैं), यातैं	
संबंध		इनकी, याकी, (इनके) याके, (इहिं केरी) (इनको), (इहिं को), याको	(इनही की), याहू के, इनहूँ को, (याही को)

५३. सा. ३०२७ ।	५४. सा. १६१८ ।	५५. सा. ३०४६ ।
५६. सा. ४०७६ ।	५७. सा. ८-८ ।	५८. सा. २२३३ ।
५९. सा. २०५९ ।	६०. सा. ३४१३ ।	६१. सा. १९०२ ।
६२. सा. ६-५ ।	६३. सा. १३६२ ।	६४. सा. ५३३ ।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तिसहित रूप	बलात्मक रूप
अधिकरण	इन	इन पर, (इन माहि), इन, माही), (इहि महिया), याकै, (या पर), यामै ।	याही पर

बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

निम्नलिखित दूरवर्ती सर्वनाम रूपों की तुलना में निकटवर्ती बहुवचन रूपों की संख्या कम है, फिर भी विभिन्न कारकों में सूरदास ने चालीस के लगभग रूपों का प्रयोग किया है। इनमें से प्रमुख रूपों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१. कर्त्ताकारक—इस कारक में ग्यारह-बारह रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग और ख. बलात्मक प्रयोग।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इन, इनि और ये—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र हुआ है।

अ. इन—एकै चोर हुनौ मेरे पर सो इन हरन चह्यो^{६७}। धन्य ब्रत इन बिपौ पूरन^{६८}। इन दीन्हौ मोकीं बिसराई^{६९}। सूरदास ये लखि दोऊ इन कब देखे भल्ल-अखारे^{७०}।

आ. इनि—इनि तब राज बहुत दुख पाए^{७१}। इनि मोकीं नीकै परिचानयो^{७२}। चूत्र लई इनि मानि^{७३}। निक्से स्याम सदन मेरे तै इनि अँटकरि पहिचानी^{७४}।

इ. ये—करत जज्ञ ये नास^{७५}। ये सुकृत-धनहिं परिहरै^{७६}। ये बन किरति अकेली^{७७}।

ख. बलात्मक प्रयोग—इनहि, इनहँ, इनहँ, येइ, येई, यउ, येउ—ये षाठ रूप इस वर्ग के हैं। प्रायः इन सभी रूपों का प्रयोग अनेक पदों में किया गया है।

अ. इनहिं—जब दूतनि को इनहिं निवारयो। वा भय तै मोहि इनहिं उबारयो^{७८}। इनहिं बघायो कस^{७९}।

आ. इनहँ—यह सपति है तिहूँ भुवन की, सब इनहँ अपनाई^{८०}। इनहँ मारयो ताहि^{८१}। इनहँ (ज्यों और अफूर) हेरि मृगो गोपी सब, सावक जान हुए^{८२}।

६७. सा. १-२४७।	६८. सा. ७८३।	६९. सा. ९२३।	७०. सा. २९६८।
७१. सा. १-२८४।	७२. सा. १०३२।	७३. सा. ११२३।	७४. सा. २०४३।
७५. सा. ४-५।	७६. सा. ५-४।	७७. सा. ५०३।	७८. सा. ६-४।
७९. सा. ३५८७।	८०. सा. २२४२।	८१. सा. ३०३७।	८२. सा. ३५८८।

- ई. इनहूँ—अर्जुन भीम महाबल जोधा इनहूँ मीन धरी^{८३} ।
 ई. येइ—येइ सब देत बडेया^{८४} । प्रभु-हिरदै येइ सालत^{८५} ।
 उ. येई—येई घर - घर कहत-फिरत हैं^{८६} ।
 ऊ. येउ—सुक-सर्नक मुनि येउ न जानत^{८७} । येउ भए हरि-चेरे^{८८} ।
 ऋ. येऊ—काटन दै दस सीस बीस भुज अपनी कृत येऊ जो जानहि^{८९} ।
 बात कहन को येऊ आवत^{९०} । येऊ गये त्यागि^{९१} । येऊ भई दिवानी^{९२} ।
 २. कर्मकारक—इस कारक में मुख्य सात रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग, ख. विभक्तियुक्त प्रयोग, ग. बलात्मक प्रयोग ।
 अ. इन—जमुदा कहै सुनौ सुकलकसुत, मैं इन बहुत दुपनि सौ पारे^{९३} ।
 आ. इन्है—विष्णु, रुद्र, विधि एकहि रूप । इन्हैं जानि मति मिश्र स्वरूप^{९४} ।
 अबही आजु इन्हैं उद्धारों ये हैं मेरे निज जन^{९५} । राखी नही इन्हैं भूतल पर^{९६} ।
 इ. ये—चारि स्लोक कहे भगवान, ये ब्रह्मा सौ कहे भगवान^{९७} । मैं तो जे हरे हैं, ते तो सोवत परे हैं, ये करे हैं कोन आन^{९८} ।
 ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनकों और इनहिं—ये दो रूप इस वर्ग में मिलते हैं इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है ।
 अ. इनकों—कै इनकों निरधार कीजिए, कै प्रन जात टरी^{९९} । लछमी इनकों सदा पलोवै^{१००} । इनकों ह्यां तै देहु निकास^{१०१} । पैं प्रभु जू इनकों निस्तारी^{१०२} ।
 आ. इनहिं—काहें इनहिं दियो बहकाइ^{१०३} । अजति इनहिं बनाइ^{१०४} । मारि डारौ इनहिं^{१०५} ।
 ग. बलात्मक प्रयोग—इनहुँ और इनहुँ कौं—ये दो बलात्मक रूप हैं जिनका प्रयोग कही-कही ही मिलता है ।
 अ. इनहुँ—हत्यो गजराज त्यों इनहुँ मारे^{१०६} ।
 आ. इनहुँ कौं—सुनहु सूर अपनाइ इनहुँ कौं^{१०७} । मन भयो छीढ़ इनहुँ कौं कीन्ही^{१०८} ।
 ३. परणकारक—इन, इनसैं, इनसौं, इनहिं और इनहीं स—ये मुख्य पांच रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें प्रथम तीन सामान्य हैं और अंतिम बलात्मक । प्रयोग की

८३. सा. १-२५४ ।	८४. सा. १३९३ ।	८५. सा. ३०३७ ।	८६. सा. २२६२ ।
८७. सा. १६०९ ।	८८. सा. २२२३ ।	८९. सा. ९-९५ ।	९०. सा. १५३२ ।
९१. सा. २२४५ ।	९२. सा. २२६१ ।	९३. सा. २९६८ ।	९४. सा. ४-५ ।
९५. सा. ३८२ ।	९६. सा. ८२२ ।	९७. सा. १-२३० ।	
९८. सा. ४८४ ।	९९. सा. १-२२० ।	१. सा. ३-१३ ।	
१००. सा. ४-५ ।	१०१. सा. ७-२ ।	४. सा. ९२३ ।	५. सा. २२५८ ।
६. सा. ३०६७ ।	७. सा. ३०६७ ।	८. सा. २२२५ ।	९. सा. २२५२ ।

दृष्टि से केवल द्वितीय और तृतीय रूप महत्व के हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र मिलता है, शेष रूप इने-गिने पदों में ही दिखायी देते हैं ।

अ. इन—वृथा भूले रहत तोचन इन कहै कोउ बात^{१०} ।

आ. इनतैं—इनतैं कछु न सरो^{११} । इनतैं कछु न खूटै^{१२} । इनतैं प्रगटी सृष्टि अपार^{१३} ।

इ. इनसों—काल्हि कही मैं इनसों बैसै^{१४} । ऐसे वचन कहीं गी इनसों^{१५} । अब इनसों वह भेद कियो कछु^{१६} । इनसों तुम परतीति बडावत^{१७} ।

ई. इनहि—अर्वाहि मोहि बूझिहैं, इनहि कहिहो कहा^{१८} ।

उ. इनहीं तैं—सुख-सपति सकल सूर इनहीं तैं पावत^{१९} ।

४. सप्रदान कारक—इनसों, इनहि और इनहीं—ये मुख्य तीन रूप सप्रदानकारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, । इनमें प्रथम का प्रयोग अधिक है, द्वितीय का कम । इनके अतिरिक्त एक बलात्मक रूप 'इनहीं कों' भी दो-एक पदों में दिखायी देता है ।

अ. इनकों—इनकों बै सुखदाई^{२०} । जो कीजै सो इनकों थोर^{२१} । कछुक दियो सुहाग इनकों, तो सबै ये लेत^{२२} ।

आ. इनहिं—व्रत फल प्रगट इनहिं दिखरावो^{२३} ।

इ. इनहीं—रसना-स्रवन नैन की होते, की रसना ही इनहीं दीन्ही^{२४} ।

ई. इनहीं कों—सूर स्याम इनहीं कों सीपी^{२५} ।

५. अपादानकारक—इनतैं, इनसों, इनि तैं—ये तीन रूप इस कारक में मिलते हैं । इनमें केवल प्रथम रूप ही अनेक पदों में प्रयुक्त हुआ है । शेष दोनों रूप कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं ।

अ. इनतैं—दूढ़ न इनतैं आन^{२६} । इनत बड़ो और नहि कोऊ^{२७} । कृपिन न इनतैं ओर^{२८} ।

आ. इनसों—यह मन करि जुवतिनि हेरत, इनसों करिय गोप तबै^{२९} ।

इ. इनि तैं—इनि तैं लोभी और न कोई^{३०} ।

६. संवेधकारक—इनकी, इनके और इनकी—ये सामान्य रूप इस कारक में मिलते हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र किया गया है । बलात्मक रूप इनहूँ की, इनिही के और इन्हनि की दो-एक पदों में ही दिखायी देते हैं ।

१०. सा. २३०९ । ११. सा. १-२५४ । १२. सा. २-१९ । १३. सा. ३-७ ।

१४. सा. १७६७ । १५. सा. १७७१ । १६. सा. २२२३ । १७. सा. २२५७ ।

१८. सा. १९५१ । १९. सा. ९-१६७ । २०. सा. २३३३ । २१. सा. २३७६ ।

२२. सा. ३५७८ । २३. सा. ७९९ । २४. सा. १८५८ । २५. सा. २३२४ ।

२६. सा. १०२६ । २७. सा. १३९६ । २८. सा. २३६६ । २९. सा. १७६० ।

३०. सा. २२७८ ।

अ. इनकी—इनकी गति^{३१} । चतुराई इनकी^{३२} । निठुराई इनकी^{३३} । इनकी लंगराई^{३४} । सेवा इनकी^{३५} ।

आ. इनके कर्म^{३६} । चरित इनके^{३७} । इनके चीर^{३८} । इनके पितु-मातु^{३९} । इनके विमुख बचन^{४०} ।

इ. इनको—इनको कह्यो^{४१} । इनको गुन-अवगुन^{४२} । दुख इनको^{४३} । इनको बदन^{४४} । बार न खसै इनको^{४५} । व्रत देखि इनको^{४६} ।

ई. इनहूँ की—रसा भई इनहूँ की^{४७} ।

उ. इनिही के—गुन इनिही के^{४८} ।

ऊ. इन्हनि की—इन्हनि की काज^{४९} ।

७. अधिकरण कारक इनक, इन पर, इन पै, इनम—ये चार मुख्य सामान्य और 'इनहूँ में' एक बलात्मक—कुल पाँच रूप इस कारक में मिलते हैं । इनमें सबसे अधिक प्रयोग 'इनमें' का किया गया है ।

अ. इनकै—इनकै नैकु दया नही^{५०} । सोच-विचार कछू इनकै नहि^{५१} ।

आ. इन पर—सूर स्याम इन पर कह रीजे^{५२} । कंस...करत इन पर ताम^{५३} ।

इ. इन पै—नित ही नित बूझति ये मोसों, मैं इन पै सतराति^{५४} ।

ई. इनमें—इनमें कछू नाहि तेरो^{५५} । तपसियनि देखि कह्यो, क्रोध इनमें बहुत^{५६} । इनमें की पति आहि तिहारो^{५७} । धिक इन गुरजन की, इनमें नही बसोजे^{५८} ।

सारांश—निश्चयवाची निकटवर्ती सर्वनाम-रूपों के विभिन्न कारकों में जो प्रयोग ऊपर दिये गये हैं; संक्षेप में वे इस प्रकार हैं —

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	(इन), इनि, ये	...	इनहि, इनही, इनहूँ, येइ, (येई), येउ, येऊ
कर्म	(इन), इन्हूँ, ये	इनको, इनहि	(इनहूँ), इनहूँ की
'करण'	...	इत, इनसों, (इनहि)	(इनही त)

३१. सा. १-३२३ ।	३२. सा. १७७१ ।	३३. सा. २२५४ ।
३४. सा. २२८९ ।	३५. सा. २२८९ ।	३६. सा. ७-२ ।
३७. सा. २३९३ ।	३८. सा. ७८३ ।	३९. सा. २२६५ ।
४०. सा. १९२७ ।	४१. सा. ८४३ ।	४२. सा. २२५७ ।
४३. सा. १६३३ ।	४४. सा. ३०२९ ।	४५. सा. ७७७ ।
४६. सा. २२५२ ।	४७. सा. २९६७ ।	४८. सा. २२४३ ।
४९. सा. २२८३ ।	५०. सा. ३०३९ ।	५१. सा. ३५२५ ।
५२. सा. २२८३ ।	५३. सा. २०४३ ।	५४. सा. ३३० ।
५५. सा. ५-८ ।	५६. सा. ९-४५ ।	५७. सा. ३३०-१ ।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	व्यक्तात्मक रूप
संप्रदान	...	इनको, (इन्हें), (इन्हों)	(इन्हों को)
अपादान	..	इन्हों, (इतसों), (इनि तैं)	...
संबध	...	इनकी, इनके, इनको	(इन्हों की), (इनिहों के)
अधिकरण	...	इनकें, इन पर, (इनकैं), इनमें	...

संबधवाचक—

व्रजभाषा में संबधवाचक सर्वनाम के एकवचन और बहुवचन, मूल, विकृत और अन्य रूप इस प्रकार होते हैं —

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	जो	जे
विकृत,	जा	जिन
अन्य	जाहि, जिह, जानु	जिन्हें, जिन्हें

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

संबधवाचक एकवचन सर्वनामों और बहुवचन के एकवचन में प्रयुक्त प्रमुख रूपों की संख्या पचास के आसपास है। विभिन्न कारकों में इनके प्रयोगों की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जाती है।

१. कर्ताकारक—जिन, जिनहि, जिनि, जिहिं, जु, जो, जोइ, जोई और जौन—ये नौ रूप इस वर्ग में आते हैं। ये सभी विभक्तिरहित हैं और इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'जोई' के अतिरिक्त शेष आठों रूपों का प्रयोग अनेक पदों में किया गया है।

अ. जिन—बिदुर बह्यो, देखी हरि माया। जिन यह सकल लोक भरमाया^{५९}।
धन्य धन्य कसहि बहि मोहि जिन पठायो^{६०}। जिन पहिले पलना पौडे,
पय पिवत पूतना घाली^{६१}। यह लैं देहु ताहि फिरि मधुकर, जिन पछए
हित गाइ^{६२}।

आ. जिनहि—भले जु भले नदलाल, बेऊ भलो, चरन जावक पाग जिनहि
रंगी^{६३}। जानति हैं तुम जिनहि पठाए^{६४}। बूझो जाइ जिनहि तुन
पठाए^{६५}।

इ. जिनि—धन्य जसोदा भाग तिहारो जिनि ऐसी सुन जायो^{६६}। सखी रो

५९. सा. १-२८४। ६०. सा. २९४४। ६१. सा. ३०३०। ६२. सा. ३८११।

६३. सा. २७०४। ६४. सा. ३५१०। ६५. सा. ३९५०। ६६. सा. १०-८७।

मुरली सीजें चोरि, जिनि गोपाल कीन्है अपनै बस^{६७} । धन्य धन्य जिनि
तुम सुत पायो^{६८} ।

ई. जिहिं—गोपाल तुम्हारी माया महाप्रबल जिहिं सब जग बस कीन्हो हो^{६९} ।
प्रह्लाद हित जिहिं असुर मारघो^{७०} । जठर अग्नि अंतर उर दाहत जिहि
दस मास उबारघो^{७१} ।

उ. जु—ताहू सकुच सरन आए की होत जु निपट निकाज^{७२} । वा भौह की छवि
निरखि सु को जु न ब्रत तै टरै^{७३} ।

ऊ. जो—मन बानी कौ अगम-अगोचर सो जानै जो पावै^{७४} । पोषन भरन
बिसभर साहव जो कलपै सो काँचो^{७५} । सूरदास जो चरन-सरन रह्यो सो
जन निपट नीद भरि सोयी^{७६} ।

ए. जोइ—ताहि कै हाथ निरमोल नग दीजिय जोइ नीकै परखि ताहि जानै^{७७} ।
कलिजुग मैं यह मुनिहै जोइ^{७८} । नही त्रिलोकी ऐसी कोइ । भक्तनि कौं दुख
दे सकै जोइ^{७९} ।

ऐ. जोई—सात बल ये नार्य जोई^{८०} ।

ओ, जौन—स्याम कौं तुम ऐसै ठग लियो, कछु न जानै जौन^{८१} । ठगत-फिरत
जुवतिनि को जौन^{८२} । जाकै हृदय जौन, कहै मुख तै तीन^{८३} । बार-बार
जननी कहि मोसौं माखन मागत जौन^{८४} ।

२. कर्मकारक—इस कारक में सात रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों में रखा जा
सकता है—क. विभक्तिरहित और ख. विभक्ति युक्त ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—जाहि, जिहिं, जो और जोइ—ये चार रूप इस
वर्ग में मिलते हैं । इन सभी रूपों का प्रयोग सूरदास ने अनेक पदों में किया है ।

अ. जाहि—वेद-पुरान-सुमृत सब रे सुर-नर सेवत जाहि^{८५} । नंद-घरली जाहि
बाँध्यो^{८६} । अति प्रचंड यह मदन महाभट, जाहि सब जग जानत^{८७} ।

आ. जिहि—अमुर अजितेंद्रि जिहिं देखि मोहित भए, रूप सो मोहि दीजें
दिखाई^{८८} । तुमतै को हँ भावती, जिहि हृदय बसाऊ^{८९} ।

६७. सा. ६५७ । ६८. सा. ९२१ । ६९. सा. १-४४ । ७०. सा. १-३०६ ।
७१. सा. १-३३६ । ७२. सा. १-१८१ । ७३. सा. ४१८७ । ७४. सा. १-२ ।
७५. सा. १-३२ । ७६. सा. १-५४ । ७७. सा. १-२२९ । ७८. सा. ३-१३ ।
७९. सा. ५-३ । ८०. सा. ४१९२ । ८१. सा. ७१९ । ८२. सा. १५९३ ।
८३. सा. १७४९ । ८४. सा. २९७५ । ८५. सा. १-३२५ । ८६. सा. सा. ३०२७ ।
८७. सा. ४०२६ । ८८. सा. ८-१० । ८९. सा. २४११ ।

इ. जो—जो प्रभु अजामोल को दोन्हो सो पाटो लिखि पाजै^{१०} । ब्यास कह्यो जो, सुक सो गाइ^{११} ।

ई. जोइ—इंदो-रस-बस भयो, भ्रमत रह्यो, जोइ कह्यो सो कोनो^{१२} । जोइ में कहौ, करौ तुम सोई^{१३} ।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—जाकौं और जिनकौं—इन बलात्मक रूपों में से अंतिम का कम और प्रथम का अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है ।

अ. जाकौं—जाकौं दोनानाथ निवाजै^{१४} । जाकौं हरि अगोवार कियो^{१५} । उलटी गाढ परी दुर्बामें दहन सुदरसन जाकौं^{१६} । जाकौं देखि अनग अनगत^{१७} ।

आ. जिनकौं—ब्रह्मादिक खोजत नित जिनकौं (हरि को)^{१८} । मैं जिनमैं (स्याम को) सपनेहुं नहि देख्यो^{१९} ।

३. करणकारक—इस कारक में मुख्य पाँच रूप मिलते हैं जिनमें 'जिहि' विभक्ति रहित है; 'जातैं' और 'जासौं' विभक्तियुक्त हैं, एवं 'जाहि सौं' और 'जाही सौं' बलात्मक हैं । इनमें से द्वितीय वर्ग के अर्थात् विभक्तियुक्त दोनों प्रयोग तो सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं, शेष तीनों प्रयोग इने-गिने पदों में ही मिलते हैं ।

अ. जिहि—देहु मोहि ज्ञान जिहि सदा जोजै^१ ।

आ. जातैं—देवदूत कह, भक्ति सो कहियै, जातैं हरिपुर-वासा लहियै^२ । ज्यो नृप प्राण गए मुत अपनै, रांचि रह्यो जो जातैं^३ ।

इ. जासौं—ऐसो को पर-वेदन जानै, जासौं कहि जु सुनावै^४ । धन्य धन्य जासौं अनुरागे^५ । मोसी और कौन प्रिय तरै, जासौं प्रेम जनावैगी^६ । जासौं हित ताकी गति ऐसी^७ ।

ई. जाहि सौं—सूर मिल मन जाहि जाहि सौं^८ ।

उ. जाही सौं—जाही सौं लगत नैन^९ ।

४. संप्रदानकारक—जाकौं, जाहि और जिहि—केवल तीन रूप इस कारक में मिलते हैं जिनका भी प्रयोग बहुत कम पदों में किया गया है ।

अ. जाकौं—जाकौं राजरोग कफ व्यापत^{१०} ।

आ. जाहि—अति मुकुमार डोलत रस भीनों, सो रस जाहि पियावै हो^{११} ।

१०. सा. १-१४६ ।

१३. सा. ७९० ।

१६. सा. १-११३ ।

१९. सा. १७३१ ।

४. सा. २२५६ ।

८. सा. ४१४७ ।

११. सा. १-२२६ ।

१४. सा. १-३६ ।

१७. सा. २०२० ।

१. सा. ८-१६ ।

५. सा. २५३८ ।

९. सा. २४१८ ।

२. सा. ३-१३ ।

६. सा. २७२६ ।

१०. सा. ३७२५ ।

१२. सा. १-१२९ ।

१५. सा. १-३८ ।

१८. सा. ८०० ।

३. सा. ३६७९ ।

७. सा. ३९३५ ।

११. सा. २-१० ।

इ. जिहिं—सूरदास बलि गयो राम कै निगम नेति जिहिं गायी^{१३} ।

५. अपादान कारक—इस कारक में 'जाते' या 'जिहिं तैं' जैसे रूप हो सकते हैं, परंतु कदाचित् सूरदास ने इनका प्रयोग नहीं किया है ।

६. संबंध कारक—इस कारक में वारह के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—जा, जासु और जाहि—ये तीन प्रयोग इस वर्ग में आते हैं । इनमें सबसे कम प्रयोग 'जासु' का किया गया है ।

अ. जा—जा उर^{१३} । जा मन^{१४} । जा सदन^{१५} ।

आ. जासु—तन अभिमान जासु^{१६} ।

इ. जाहि—राधा है जाहि नाम^{१७} । जाहि मन^{१८} । मन जाहि^{१९} ।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में 'को' युक्त जाको, जाहिकी, जिनकी; 'के' युक्त जाके, जिनके; 'केरो' युक्त जा केरो, और 'कौ' युक्त जाकौ, जिनकौ, जिनिकौ आदि आते हैं । इनमें से 'जाहि की', 'जा केरो' और 'जिनिकौ' का प्रयोग कम हुआ है, 'जिनके' और 'जिनकौ' का प्रयोग कुछ अधिक है, शेष रूप सर्वत्र मिलते हैं ।

अ. जाकी—उत्पत्ति जाकी^{२०} । जाकी घरनि^{२१} । तिया जाकी सिधा^{२२} । जाकी रहनि-कहनि^{२३} । जाकी सीतल छाहि^{२४} ।

आ. जाहि की—खोटी करनी जाहि की^{२५} ।

इ. जिनकी—रमा जिनकी (कृष्ण की) दासि^{२६} । जिनकी (कृष्ण की) होति बड़ाई^{२७} । जिनकी (गिरिधर की) टेक^{२८} ।

ई. जाके—जाके कुल^{२९} । जाके गृह^{३०} । चरन सप्त पताल जाके^{३१} । जाके सेवक^{३२} ।

उ. जिनके—वे अकूर कूर कृत जिनके^{३३} । जिनके (कृष्ण के) गुन^{३४} । जिनके (कृष्ण के) तुम सखा^{३५} ।

ऊ. जा केरो—सीतल सिंधु जनम जा केरो^{३६} ।

१२. सा. १-५५ ।

१३. सा. ३७०७ ।

१४. सा. ५०० ।

१५. सा. २४७४ ।

१६. सा. ३-१३ ।

१७. सा. १९७८ ।

१८. सा. २९१६ ।

१९. सा. ३१४७ ।

२०. सा. १२६७ ।

२१. सा. ९-१३३ ।

२२. सा. ९-१४२ ।

२३. सा. ३६०० ।

२४. सा. ९-७५ ।

२५. सा. १६१८ ।

२६. सा. १८१९ ।

२७. सा. १७६५ ।

२८. सा. ३७२४ ।

२९. सा. १-३४ ।

३०. सा. ६-४ ।

३१. सा. २-२७ ।

३२. सा. १-३९ ।

३३. सा. ३७६३ ।

३४. सा. ४५३ ।

३५. सा. ३५९७ ।

३६. सा. ३३५४ ।

क. जाकौ—जाकौ अत्त^{३७} । जाकौ जस^{३८} । वान्ह जाकौ नाउ^{३९} ।

ए. जिनकौ—जिनको (माघों को) बदन^{४०} ।

ऐ. जिनिंकौ—भक्तबद्धल बानी जिनिंकौ (हरि की)^{४१} ।

७. अधिकरणकारक—इस कारक में दस-भ्यारह मुख्य रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको, विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त, दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—जामैं, जाहि, और जिहि—ये तीन रूप इस वर्ग के हैं जिनमें प्रथम दो का प्रयोग बहुत कम और अंतिम का सामान्य रूप से हुआ है ।

अ जामैं—तीनों गुन जामैं नहि रहत^{४२} ।

आ जाहि—बीते जाहि सोइ पै जानै^{४३} । हमरे मन को साई जानै जाहि बीवी होइ ।^{४४}

ई. जिहि—इहि माया सब लोगनि लूट्यो, जिहि हरि कृपा करी सो छूट्यो^{४५} ।

श्री भगवान कृपा जिहि करै^{४६} । जिहि बीतै सा जानै^{४७} ।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में 'क', 'पर', 'पै', 'मैं', 'माहि' और 'महियों' से युक्त जाकैं, जिनकैं, जापर, जिहि पर, जापै, जामहि, जिहि महियों और जामैं रूप आते हैं । इन आठ रूपों में से 'जा माहि' और 'जिहि महियों' का बहुत कम, 'जिनकैं', 'जिहि पर' और 'जापै' का सामान्य और शेष रूपों का सर्वत्र प्रयोग किया गया है ।

अ. जाकैं^{४८}—धनि गोकुल, धनि नंद जसोदा जाकैं हरि अवतार लियो^{४९} । सूर धन्य तिहि के पितु-माता, भाव-भगति है जाकैं^{५०} । तोसी जाकैं बाम^{५१} । सहनो ताकी जाकैं आवै^{५२} ।

आ. जिनकैं—बै प्रभु बडे सखा तुम उनके, जिनकैं सुगम अनीनि^{५३} ।

इ. जापर—जापर दीनानाथ हरै^{५४} । जापर कृपा करै करनामय^{५५} । धन्य पिता जापर परफुलित राघव भुजा अनूप^{५६} । जापर वही ताहि पर धावै^{५७} ।

ई. जिहि पर—सोइ कुलीन बडो सुन्दर सोइ, जिहि पर कृपा करै^{५८} ।

उ. जापै—प्रेम-कथा सोई पै जानै, जापै बीती होइ^{५९} ।

ज. जामहि—अतहु सूर सोइ पै प्रगटै, होइ प्रकृति जो जा माहि^{६०} ।

३७. सा. ३९३ । ३८. सा. ६-४ । ३९. सा. १४५३ । ४०. सा. ३१९९ ।

४१. सा. २९५० । ४२. सा. ३-१३ । ४३. सा. ३३५७ । ४४. सा. ३८०० ।

४५. सा. १-२८४ । ४६. सा. १-२८९ । ४७. सा. २२९७ ।

४८. 'जाकैं' रूप एववचन है । इसलिए गोकुल, नंद और जसोदा से इसका संबंध असंग-अलग है । 'जसोदा' शब्द के पूर्व 'धनि' शब्द लुप्त समझना चाहिए ।

४९. सा. १०-२५० । ५०. सा. ११७८ । ५१. सा. १८४४ । ५२. सा. २२१५ ।

५३. सा. ३८८६ । ५४. सा. १-३५ । ५५. सा. १-२५७ । ५६. सा. ९१३४ ।

५७. सा. ९२७ । ५८. सा. १-३५ । ५९. सा. ३५४२ । ६०. सा. ३१८७ ।

कं. जिहिंमहियों—अब और कौन समान त्रिभुवन सकल गुन जिहिं महियों^{६१} ।

ए. जामैं—तीनों गुन जामैं नहि रहत^{६२} । ये लुब्धे हैं जाम^{६३} । जामैं प्रिय प्राननाथ, नंदनंदन नाही^{६४} ।

ऐ. जिनहिं मैं—सूरदास सोई जन जानै, जिनहिं मैं बीति^{६५} ।

सारांश—संबंधवाचक सर्वमानों के विभिन्न कारको में प्रयुक्त जिन रूपों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप
कर्त्ता	जिन, जिनहिं, जिनि, जिहि, जु, जो, जोइ, (जोई), जौन	...
कर्म	जाहि, जिहि, जो, जोइ	जाकों, (जासु कों), जिनकों
करण	(जिन), (जिहि)	जातै, जासों, (जाहि सों), जाही सों
संप्रदान	(जाहि), जिहि	(जाकों)
अपादान	...	...
संबन्ध	जा, जासु), जाहि	जाकी, (जाहि की, जिनकी, जाके, जिनके, (जा केरी), जाको, जिनको, (जिनिको)।
अधिकरण	जाहि, (जिनहिं), जिहि	जाकैं, जिनकैं, जापर, (जिहि पर), जापे, (जामहिं), (जिहि महियाँ, जामैं, जिनहिं मैं ।

बहुवचन रूपों का कारकीय प्रयोग—

इस प्रकार के रूपों की संख्या बीस के आसपास है । विभिन्न कारकों में प्रयुक्त प्रमुख रूप इस प्रकार है—

१. कर्त्ताकारक—जिन, जिनि, जे, जेइ और जौ—ये रूप इस कारक में मिलते हैं । इनमें सब विभक्तिरहित हैं । अंतिम 'जौ' रूप एकवचन है जिसका अपवादस्वरूप प्रयोग एक पद में बहुवचन में किया गया है । शेष रूपों में 'जे' का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है ।

अ. जिन—अंतकाल हरि हरि जिन कह्यो^{६६} ।

आ. जिनि—जिनि वह सुधा पान सुख कोन्हो^{६७} । जिनि पायो अमृत-घट पूरन^{६८} ।

६१. सा. १०७२ । ६२. सा. ३-१३ । ६३. सा. २२३५ । ६४. सा. ३५९७ ।

६५. सा. ३९०५ । ६६. सा. ६-३ । ६७. सा. २२३५ । ६८. सा. २२६१ ।

इ. जे—जे हरि सुरति करावत^{६९} । जे जांचि रघुबीर^{७०} । जे (गैयां) चरहि जामुन
कै तीर, दून दूध चढो^{७१} ।

ई. जेइ—अहो नाथ जेइ-जेइ सरन आए, तेइ तेइ भए पावन^{७२} ।

उ. जो—इस एकवचन रूप के साथ प्रयुक्त बहुवचन क्रिया 'सुनै' और 'गावै' तथा
बहुवचन नित्यसवधी रूप 'तिनकै' से स्पष्ट है कि 'जो' का प्रयोग कवि ने
बहुवचन में ही किया है, जैसे—राधा-कृष्ण बेलि-कौतूहल, सवन सुनै, जो
गावै । तिनकै सदा समीप स्याम नितही आनद बढावै^{७३} ।

२. कर्मकारक—जिनमौ, जिहि और जे—ये तीन रूप कर्मकारक में मिलते हैं
जिनका प्रयोग सामान्य रूप से ही किया गया है ।

अ. जिनकौ—जिनकौ देखि तरनि-तनु आसा^{७४} ।

आ. जिहि—चारो ओर निसिचरी घेरे नर जिहि देखि डराहि^{७५} ।

इ. जे—मैं तो जे हरे हैं, ते तो सोवत परे हैं^{७६} । गैयां घाई जाति सवन के आगे
जे वृषभानु दई^{७७} । को बरनै नाना विधि व्यजन, जे बनए नद-नारि^{७८} ।

३. कारणकारक—इस कारक में एक रूप 'जिनसौ' मिलता है जिसका प्रयोग
अपवादस्वरूप ही दो-एक पदों में दिखायी देता है, जैसे—नाही भरत सत्रुहन सुदर,
जिनसौ चित्त लगायो^{७९} ।

४. संप्रदानकारक—इस कारक में भी केवल एक प्रमुख रूप मिलता है 'जिनहि'
जिसका प्रयोग प्रायः सर्वत्र किया गया है, जैसे—ब्रह्म जिनहि यह आयुस दीन्हो^{८०} ।
मूरदास धिक् धिक् है तिनकौ, जिनिहि न पीर परारी^{८१} ।

५. अपादानकारक—इस कारक में भी केवल एक मुख्य रूप 'जिनहीं' दो-एक
पदों में दिखायी देता है, जैसे—जेइ चरन सनकादिक दुरलभ जिनहीं निवसी गग^{८२} ।

६. संबन्धकारक—जामौ, जित, जितमो, जितके, जिनकी और जिनि—ये मुख्य
रूप इस कारक में मिलते हैं । इनमें अपवादस्वरूप-प्रयोग है 'जिकौ' जो एकवचन होते
हुए भी दो-एक पदों में बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है । शेष रूपों में से 'जितकी' और 'जिनकी'
का प्रयोग अधिक हुआ है । इनमें द्वितीय और अंतिम रूप विभक्तिरहित हैं ।

अ. जामौ—यह एकवचन है, फिर भी 'हम' के संबन्ध से स्पष्ट है कि इसका प्रयोग

६९. सा. २-१७ । ७०. सा. ९-१६ । ७१. सा. १०-२४ । ७२. सा. १०-२५ ।

७३. सा. २८२६ । ७४. सा. २९२२ । ७५. सा. ९-७५ । ७६. सा. ४८४ ।

७७. सा. ६१२ । ७८. सा. ८३१ । ७९. सा. ९-१४६ ।

८०. सा. १६०५ । ८१. सा. २३४५ । ८२. सा. २४६६ ।

कवि ने बहुवचन में ही किया है, जैसे—हम (जुवति) कह जोग जानै, जियस जाको रोन^{८३} ।

आ. जिन—बल-मोहन जिन नाऊँ^{८४} । तेऊ मोहे जिन मति भोरी^{८५} ।

इ. जिनकी—जिनकी आस^{८६} । बधू हैं जिनकी^{८७} । सीस की मनि हरी जिनकी^{८८} । जिनकी यह सब सौज^{८९} ।

ई. जिनके—जिनके मन^{९०} ।

उ. जिनको—जिनको जस^{९१} । जिनको प्रिय^{९२} । जिनको मुख^{९३} ।

ऊ. जिनि—सुनि सखि वे बडभागी मोर । जिनि पाँखनि को मुकुट बनायो, सिर धरि मदकिसोर^{९४} ।

७. अधिकरण कारक—जिनकै, जिन माहि, जिन माहीं—ये तीन रूप इस कारक में मिलते हैं । इनका प्रयोग कही-कही ही किया गया है; जैसे—

अ. जिनकै—एक पतिव्रत हरि-रस जिनकै^{९५} ।

आ. जिन माहि—ऐसे लच्छन है जिन माहि^{९६} ।

इ. जिन माहीं—हरि भूरत जिन माहीं^{९७} ।

सारांश—संबंधवाची बहुवचन सर्वनाम रूपों के जो उदाहरण विभिन्न कारकों में ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप
कर्ता	(जिन), (जिनि), जे, (जेइ), जो	...
कर्म	(जिहि), जे	(जिनकी)
करण	...	(जिनसी)
संप्रदान ---	...	(जिनहि)
अपादान	...	(जिनहीं)
संबंध	(जिन), (जिनि)	(जाको), जिनकी (जिनके), जिनकी ।
अधिकरण	...	(जिनकै), (जिन माहि), (जिन माहीं) ।

८३. सा. ३९९७ ।

८४. सा. २९०५ ।

८५. सा. २९०८ ।

८६. सा. २३०२ ।

८७. सा. १-२५२ ।

८८. सा. ३९८३ ।

८९. सा. २४३५ ।

९०. सा. ३९८८ ।

९१. सा. ९-१६७ ।

९२. सा. ३२२४ ।

९३. सा. १-५३ ।

९४. सा. ४७७ ।

९५. सा. ३५५२ ।

९६. सा. ३-१३ ।

९७. सा. ३९२४ ।

नित्यसंबंधी सर्वनाम—

ब्रजभाषा में नित्यसंबंधी सर्वनामों के एकवचन और बहुवचन में मूल और विवृत रूप इस प्रकार हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	सो, सु	तै, से
विवृत	ता	तिन
अन्य	ताहि, तासु	तिनै, तिन्है

एकवचन के कारकीय प्रयोग—विभिन्न कारकों में उक्त एकवचन मूल, विवृत और अन्य रूपों के, विभक्तिरहित, विभक्तियुक्त और बलात्मक, जो मुख्य रूप सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं संक्षेप में वे नीचे दिय जाते हैं। पुरुषवाचक अन्य पुरुष और निरुपवाचक दूरवर्तों से भिन्नता दिखाने के लिए नित्यसंबंधी रूपों के साथ पूरा वाक्य उद्धृत किया गया है।

१ कर्ताकारक—इस कारक में वारह के नाना रूप मिलते हैं जिनमें कुछ विभक्तिरहित हैं और कुछ बलात्मक।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—तिहीं, तौन, सु, से और सो—ये रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें 'सु' का अधिक और शेष रूपों का सामान्य प्रयोग मिलता है।

अ. तिहीं—जिहि नुन कै हित बिमुख गोबिंद हैं, प्रथम तिहीं मुख्य कारणी^{१८}।

आ. तौन—रावनहारो नद महर नुन, कान्ह नाम जाकी है तौन^{१९}।

इ. सु—मैं यह जान ठगों ब्रज-बनिता, जो दियो सु क्यों न लहो^२। जाके सगो होइ सु जान^३। वा भौह की छबि निरखि नैननि, सु को जु न द्रव तै टर^४।

ई. से—सूरदास ब्रजनाथ हमारे जे, से भए उदास^५।

उ. सो—ओ कलप सो कांचो^६।

ख. बलात्मक प्रयोग—तेइ, तेई, तेऊ, सोइ, सोई, सोऊ और वेउ—ये बलात्मक रूप कर्ताकारक में मिलते हैं। इनमें 'सोइ' और 'सोऊ' का अधिक और शेष का प्रयोग सामान्य रूप से मिलता है।

अ. तेइ—जिनके गुन निगम नेनि-नेति गावत, तेइ कृष्ण वन-वन में बिहरै^७।

आ. तेई—जो राधा छोटी तेई है खोटी, साजति भाजति जो री^८।

इ. सोइ—सोइ बुलीन बडो सुंदर सोइ जिहि पर कृपा करै^९। मोइ नली जा रामहि मावै^{१०}।

१८. सा. १-३३६।

१९. सा. १५९३।

१. सा. ३-२।

२. सा. ३९५०।

३. सा. ४१८७।

४. सा. १२८६।

५. सा. १-३२।

६. सा. ४५३।

७. सा. २०५१।

८. सा. १-३५।

९. १-२३३।

ई. सोई—प्रेम-कथा सोई पं जानै, जापै बीती होई^{१०} । सूरदास सोई पं जाने,
जा उर लागै गांसी^{११} ।

उ. सोऊ—महादेव-हित जो तप करिहै, सोऊ भव-जल तैं नहि तरिहै^{१२} । ताहि
तुनै जो कोउ चित लाइ, सूर तरं सोऊ गुन गाइ^{१३} ।

ऊ. येऊ—भले जु भले नदलाल, येऊ भली, चरन-जावक पाग जिनहि रंगी^{१४} ।

२. कर्मकारक—इस कारक में दस-ग्यारह रूप मिलते हैं जिनमें कुछ विभक्ति से रहित, कुछ उससे युक्त और शेष बलात्मक हैं ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग ताहि, तिहि और सो—ये रूप इस वर्ग में आते हैं । इनके प्रयोग अनेक पदों में मिलते हैं ।

अ. ताहि—ताहि निति-दिन जपत रहि जो सकल जीव-निवास^{१५} । जाको मन
हरि लियो स्याम-धन ताहि सम्हारै कौन^{१६} ।

आ. तिहिं—कहत मंदोदरी, भेटि को सकै तिहिं, जो रची सूर प्रभु होनहारी^{१७} ।
जा संग रनि बिहात न जानी, भोर भए तिहि मोचत हो^{१८} ।

इ. सो—दुख-मुत-कीरति भाग आपनै आइ परै सो गहियै^{१९} । व्यास कह्यो ओ सुक
सौं गाइ । कह्यो सो, मुनो सत चित लाइ^{२०} ।

३. विभक्तियुक्त प्रयोग - ताकौं, तिनकौं और तिनहिं—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं । इन सबका सामान्य रूप से ही प्रयोग किया गया है ।

अ. ताकौं—निगम नेति नित गावत जाको । राधा बस कीन्हो हे ताकौं^{२१} ।

आ. तिनकौं—ब्रह्मादिक खोजत नित जिनको । साच्छात देख्यो तुम तिनकौं^{२२} ।

इ. तिनहि—बार बार जननी कहि मोसो, माखन मांगत जौन, सूर तिनहिं सबै
को आए^{२३} ।

ग. बलात्मक प्रयोग—ताही कौं, सोइ और सोई—ये मुख्य रूप इस वर्ग के हैं ।
इसमें से द्वितीय का प्रयोग अधिक और शेष दोनों का सामान्य रूप से किया गया है ।

आ. ताही कौं—अरु जो परालब्ध सौं आवै, ताही कौं सुख सौं बरतावै^{२४} । सन-
मुख ह्वै ताही कौं अंक भरै तेरो तन परसि जो आवत पवन^{२५} ।

आ. सोइ—सूर स्याम सोइ सोइ हम करिहैं, जोइ जोइ तुम सब कहो^{२६} । जोइ
जोइ मंत्र कहत कुबिजा है, मोइ सोइ लिखत बनाइ^{२७} ।

१०. सा. ३५४२ ।

११. सा. ३७०७ ।

१२. सा. ४-५ ।

१३. सा. ५-३ ।

१४. सा. २७०४ ।

१५. सा. १-३१४ ।

१६. सा. १००२ ।

१७. स. ९-१२७ ।

१८. सा. २६९० ।

१९. सा. १-६२ ।

२०. सा. १-२२६ ।

२१. सा. २१८७ ।

२२. सा. ८०० ।

२३. सा. २९७५ ।

२४. सा. ३-१३ ।

२५. सा. २८०३ ।

२६. सा. ७९३ ।

२७. सा. ३९९९ ।

२८. सा. ७९३ ।

इ सोई—जोइ मैं कहीं करौ तुम सोई^{२८} । ये जोइ कहैं करै हम सोई^{२९} ।

३. वरणकारक—तापै, तिहि तैं और तासौं—ये रूप इस कारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं । इनमें से द्वितीय कही सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, कही बलात्मक । शेष रूप सामान्य हैं । प्रयोग की दृष्टि से 'तासौं' अपेक्षाकृत अधिक महत्व का है ।

अ. तापै—जाको ब्रह्मा अनन पावै, तापै नद की नारि जसोदा, घर की दहल करावै^{३०} ।

आ. तिहि तैं—तिहि त कही कौन सुख पायी, जिहि अब ली अवगाहों^{३१} ।

इ. तासौं—जा लायक जो बात होइ सो तँसिये तासौं कहिए^{३२} । कहिए तसौं जो होय विवेकी^{३३} ।

४. संप्रदानकारक—ताइ, ताकौं, ताहि, तिनहीं और तिहिं—ये मुख्य रूप संप्रदानकारक में प्रयुक्त हुए हैं । इनमें 'तिनहीं' बहुवचन होने पर भी एकवचन बलात्मक रूप में प्रयुक्त हुआ है । शेष सामान्य रूप से ही प्रयुक्त हुए हैं । प्रयोग की दृष्टि से इस कारक में 'ताहि' और 'तिहि' रूप प्रधान हैं ।

अ. ताइ—जो पै कोउ मधुवन लौं जाइ, पतिया लिखी स्याम सुन्दर कौं, कवन देहों ताइ^{३४} ।

आ. ताकौं—जाको नाउ, सक्ति पुनि जाको, ताकौं देत मत्र पढि पानी^{३५} ।

इ. ताहि—जाकी मन लाग्यो नंदलालहि, ताहि और नहि भावै हो^{३६} । जाको राजरोग कफ व्यापन दही खवावत ताहि^{३७} । यह लै देहु ताहि फिरि मधुकर, जिनि (स्याम) पठए हित गाइ^{३८} ।

ई. तिनहीं—सूर-स्याम तिनहीं सुख दीजै, जो विलसै संग तुमकों लै^{३९} ।

उ. तिहिं—हरि हरि हरि सुमिरयो जो जहाँ, हरि तिहिं दरसन दीन्ह्यो तहाँ^{४०} । जाके दरसन कौं जग तरसत दै रो नैकु दरस तिहिं दै रो^{४१} । जोइ-जोइ बसन जाहि मन मान्यो, सोइ-सोइ तिहिं पहिरायो^{४२} ।

५. अपादानकारक—इस कारक में केवल एक रूप 'जातैं' मिलता है, जैसे—अपनै कर जो मांग सँवारै * । बार बार उरजनि अवलोकति 'जातैं' कौन सयाती^{४३} ।

६. संबन्धकारक—इस कारक में दस-चारह रूप मिलते हैं जिनमें विभक्तिरहित, विभक्तियुक्त और बलात्मक सभी, प्रकार के हैं ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग में केवल एक रूप 'तासु' आता है जो

२८. सा. ७९० ।	२९. सा. २२८९ ।	३०. सा. ३९३ ।
३१. सा. ३६०६ ।	३२. सा. ३८१० ।	३३. सा. ३८९८ ।
३४. सा. ३९४३ ।	३५. सा. १०-२५८ ।	३६. सा. २-१० ।
३७. सा. ३८११ ।	३८. सा. २५३९ ।	३९. सा. २-५ ।
४०. सा. २९१६ ।	४१. सा. २०५२ ।	४२. सा. २५८९ ।

बहुत कम पदों में प्रयुक्त हुआ है; जैसे—सुफल जन्म है तासु, जे (जो) अनुदिन गावत-सुनत^{४४} ।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—उनके, ताकी, ताके, ताकी, तिनकी, तिहिके, बाकी—ये सात मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनके सर्वंघ में एक विशेष बात यह है कि इस कारक में प्रयुक्त बहुवचन रूपों का प्रयोग कम और एकवचन का प्रयोग सर्वत्र किया गया है।

अ. उनके—वै प्रभु बडे सखा तुम उनके, जिनके मुगम अनोति^{४५} ।

आ. ताकी—सूर स्याम तजि आन भज जो ताकी जननी छार^{४६} । जाकों हित, ताकी गति ऐसी^{४७} ।

इ. ताके प्रात जो न्हात अष जात ताके सकल^{४८} । राख रहत हृदय पर जाकों, धन्य भाग है ताके^{४९} । घनि घनि सूर भाग ताके प्रभु जाके सँग बिहरै^{५०} ।

ई. ताकी—जो देखै ताकी मन मोहै^{५१} । कह्यो, तुम एक पुरुष जो व्यायो, ताकी दरसन काहु न पायो^{५२} । जिन तन-घन मोहि प्राण समरपे^{५३} । ताकी बिषम बिषाद अहो मुनि, मोपै सह्यो न जाई^{५४} ।

उ. तिनकी—जिनके तुम सखा साधु, कहो कथा तिनकी^{५५} । मैं जिनकों सपनेहुँ नहि देख्यो तिनकी (स्याम की) बात कहति फिरि फेरी^{५६} ।

ऊ. तिहिके—सूर धन्य तिहि के पितु-माता, भाव-भगति हैं जाके^{५७} ।

ए. बाकी—सूरदास जैहै बलि बाकी जो हरि जू सौ प्रीति बढावै^{५८} ।

ग. बलात्मक प्रयोग—ताही कौ और तिनहि कै—ये दो बलात्मक रूप कुछ ही पदों में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—

अ. ताही कौ—जीवन सुफल सूर ताही कौ जो काज पराये आवत^{५९} ।

आ. तिनहि कै—जिनपै (स्याम या कुब्जा) तै लै लाए ऊधी, तिनहि कै पेट समैहै^{६०} ।

७. अधिकरणकारक—तानैं, ताहि पर और ताही कै—ये रूप इस वर्ग में आते हैं जिनका प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है; जैसे—

अ. तामैं—तामैं सुनि मधुकर, हम कहा लेन जाही, जामैं प्रिय प्राननाथ नैदनंदन नाही^{६१} ।

४४. सा. २८२८ ।

४५. सा. ३८८६ ।

४६. सा. ३८१६ ।

४७. सा. ३९३५ ।

४८. सा. १-२२२ ।

४९. सा. २४१३ ।

५०. सा. २८९७ । ५१. सा. ३-१३ । ५२. सा. ४-३ । ५३. सा. ९-७ ।

५४. सा. ३५९७ । ५५. सा. १७३१ । ५६. सा. ११७८ । ५७. सा. २-७ ।

५८. सा. ३३३४ । ५९. सा. ३६६४ । ६०. सा. ३५९७ ।

आ ताहि पर—जापर वही, ताहि पर धावै^{६१} ।

इ ताहीं कै—ताहीं कै जाहु स्वाम, जाकै निसि बसे घाम^{६२} । ताहीं कै सिधारो प्रिय, जाकै रंग रांचे^{६३} ।

सारांश—विभिन्न कारकों में नित्यसवधी सर्वनाम रूपों के जो प्रयोग ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	तिही, तीन, (सु), (ने), सो	...	(ताहूँ), तेइ, तेई, सोइ, सोई, सोऊ, (विऊ) ।
कर्म	ताहि, तिहि, (तीन), सो	तिकी, तिनकी, तिनहि,	ताहीकी, सोइ, सोई
करण	...	(तापै), (तिहि तै), तासों	(ताही सों)
संप्रदान	(ताइ), ताकी, ताहि, तिहि	तिनही	
अपादान		(वातै)	
सवध	(तासु)	(उनके), ताकी, ताके ताकी, (तिनकी), (तिनके) (तिहि के), (वाकी) ।	(ताही की), (तिनहि के)
अधिनरण		तामैं	(उनही पै), (ताहि पर), ताही कै ।

बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

अन्य सर्वनाम-भेदों की तरह नित्यसवधी बहुवचन रूपों की संख्या भी एकवचन से कम है, फिर भी बीस-बाइस बहुवचन रूपों का प्रयोग तो सूरदास ने किया ही है। उनके प्रमुख प्रयोगों के उदाहरण यहाँ संकलित हैं।

१. कर्त्ताकारक—ते, तेई, तेऊ, तिन और तिनि—ये पांच रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें द्वितीय और तृतीय बलात्मक हैं। इनमें से 'तेऊ' और 'तिनि' का सामान्य और शेष का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है।

अ. ते—मैं तो जे हरे हैं, ते तो सोवत परे हैं^{६४} ।

आ तेई—जिन लोगनि सों नेह करत है, तेई देखि धिर्नहैं^{६५} । जिनके सुने करत पुरपारथ, तेई हैं की ओर^{६६} ।

इ. तेऊ—तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी, जिनकै बस अनिमित्त अनेक मन अनुषर

आज्ञाकारी^{६७} । सूरदास जे संग रहैं, तेऊ मरैं झाँखि^{६८} । तेऊ मोहे जिन मति भोरी^{६९} ।

ई. - तिन—अंतकाल हरि हरि जिन कह्यो, ततकालहि तिन हरि-पद लह्यो^{७०} ।
जिनकी आस सदा हम राखैं, तिन दुख दीन्हो जेत^{७१} ।

उ. तिनि—सूरदास हरि बिमुख भए जे, तिनि के तिक सुख पायो^{७२} ।

२. कर्मकारक—तिनकों, तेउ, तेऊ—ये तीन मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें प्रथम सामान्य है और अंतिम दोनों बलात्मक । इनमें से 'तिनकों' का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है, अन्य रूप कुछ ही पदों में मिलते हैं ।

अ. तिनकों—जिनकों मुख देखत दुख उपजत, तिनकों राजा-राय कहै^{७३} । (जो) हमसों सहस बरस हित धरै, हम तिनकों छिन में परिहर^{७४} । इततै जुवति जाति जमुना जे, तिनकों मग में परखि रही^{७५} ।

आ. तेउ—तुम रसवाद करन अब लागे जे सब, तेउ पहिचानति हो^{७६} ।

इ. तेऊ—अतिहि मानिनी जे जे तेऊ में मनाइ दई^{७७} ।

३. कारणकारक—उनसों और तिनसों—ये दो ही मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें द्वितीय का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है; जैसे—

अ. उनसों—ऐसी बात कहो तुम उनसों जे नहि जानै बूझ^{७८} ।

आ. तिनसों—सूर कहत जे भजत राम कों तिनसों हरि सों सदा बनी^{७९} ।
और गोप जे बहुरि चले घर, तिनसों कहि ब्रज छाक भंगावत^{८०} ।

४. संप्रदानकारक—तिनकों और तिनहिं—ये दो मुख्य रूप इस कारक में प्रयुक्त हुए हैं । इनमें भी सूर-काव्य में द्वितीय का ही पहले की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. तिनकों—सूरदास धिक् धिक् है तिनकों जिनिहि न पीर परारी^{८१} ।

आ. तिनहिं—यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िवा बसै कासी^{८२} । यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु, जिनिहि आज सब सोहत^{८३} । यह तो सूर तिनहिं लै सौंपो जिनके मन चकरी^{८४} ।

५. अपादानकारक—इस कारक में केवल एक मुख्य रूप मिलता है—'तिनतैं' ।

६७. सा. १-१६३ ।

६८. सा. २४०७ ।

६९. सा. २९०८ ।

७०. सा. ६-३ ।

७१. सा. २३०२ ।

७२. सा. ९-१२५ ।

७३. सा. १-५३ ।

७४. सा. ९-२ ।

७५. सा. १९६२ ।

७६. सा. २८१८ ।

७७. सा. २७८२ ।

७८. सा. ३८९८ ।

७९. सा. १-३९ ।

८०. सा. ४५० ।

८१. सा. २३४५ ।

८२. सा. ३६६८ ।

८३. सा. ३६९० ।

८४. सा. ३९८८ ।

इसका प्रयोग भी दो चार पदों में ही हुआ है; जैसे—जरे ऊपर जे लीन लावहि, कौन तिनतै बावरे^{८५} ।

६. संबंधकारक—तिनकी, तिनके और तिनकों—ये तीन मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं । इनमें द्वितीय रूप का कुछ कम, शेष दोनों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है । इनके अतिरिक्त बलात्मक रूप 'तिनहीं की' भी दो-एक पदों में प्रयुक्त हुआ है, जैसे—

अ. तिनकी—सूरदास जे झूठी मिलवै, तिनकी गति जानै करदार^{८६} । जे अनमते बडाई तिनकी^{८७} । धर्म हृदय जिनकै नही, धिक् तिनकी है जाति^{८८} ।

आ. तिनके—मिटि गए राग-द्वेष सब तिनके जिन हरि प्रीत लगाई^{८९} ।

इ. तिनकों—तिनकी बजिन करेजो सति सी, जिनकी निय परदेस^{९०} । जनम सुकल सूरज तिनकों जे काज पराए धाए^{९१} ।

ई. तिनहीं की—जो (जे) पहिले रंग रंगे स्याम के, तिनहीं की बुधि रंगी^{९२} ।

७. अधिकरणकारक—इस कारक में केवल एक प्रमुख रूप 'तिनकै' मिलता है जिसका प्रयोग अनेक पदों में किया गया, हैं, जैसे—नुमसों प्रीति करहि जे धीर^{९३} पाप-पुन्य तिनकै नहीं^{९४} । ऐसी परनि परो है जिनकै लाज कहा ह्वै है तिनकै^{९५} । राधा-कृष्ण केलि-कौतूहल सवन सुनै, जो गावै, तिनकै सदा समीप स्याम^{९६} ।

सारांश—विभिन्न कारकों में प्रयुक्त नित्यसबधी बहुवचन सर्वनाम-रूपों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	ते, तिन, (तिनि)	...	तेई, तेऊ
कर्म	(ति)	तिनकी	तेउ, तेऊ
करण		(उनसों), तिनसों	
संप्रदान		(तिनकों), तिनहि	
अपादान		(तिनतै)	
संबंध		तिनकी, तिनके, तिनको	(तिनहीं की)
अधिकरण		तिनकै	

प्रश्नवाचक सर्वनाम—

अन्य सर्वनाम भेदों में एकवचन और बहुवचन रूप जिस प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं,

८५. सा. ३८६५ ।	८६. सा. १७७८ ।	८७. सा. २२४५ ।
८८. सा. २३१८	८९. सा. १-३१८ ।	९०. सा. ३२२४ ।
९१. सा. ३५११ ।	९२. सा. ११८० ।	९३. सा. २३९९ ।
		९४. सा. २८२६ ।

वैसे प्रश्नवाचक में नहीं होते; हाँ, इसके मूल, विकृत और अन्य रूप अवश्य होते हैं; जैसे—

मूल रूप
विकृत रूप
अन्य

कौन, को
का, कौन
काहि

प्रश्नवाचक रूपों के कारकीय प्रयोग—विभिन्न कारकों में उक्त सर्वनाम सूरदास द्वारा किन-किन प्रमुख रूपों में प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में इसकी चर्चा यहाँ की जाती है।

१. कर्त्ताकारक—कहा, काहूँ, किन, किनि, किहि, केहि को, कौन और कौनै—ये नौ रूप इस वर्ग में आते हैं। प्रायः ये सभी एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। कर्त्ताकारक की विभक्ति इनमें किसी के साथ नहीं है। प्रयोग की दृष्टि से, किन, किहि को, कौन, और कौनै प्रधान हैं और शेष रूप गौण जिनका प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलता है।

अ. कहा—यह देखत जननी मन व्याकुल बालक मुख कहा आहि^{१६}।

आ. काहूँ—सुनहु सखी मैं ब्रजति तुमकों, काहूँ हरि को देखे है^{१७}।

इ. किन—कियो किन ऐसो काज ।^{१८} किन यह ऐसो भवन बनायो^{१९}।
कठिन पिनाक कहाँ किन तोरयो^{२०}। यह कही उरग मोसों, किन पठायो तोहि^{२१}।

ई. किनि—किनि देख्यो, किनि कही बात यह^२। ऐसे गुन किनि तुमहि सिखाए^३।

उ. किहि—किहि कच गुँदि माँग सिर पारी^४। किहि राख्यो तिहि ओसर आनी^५।
सो सपति किहि मूसी^६। उग्रसेन, वसुदेव, देवकी किहि सब निगड़ तै आने^७।

ऊ. केहि—चौबिस घातु चित्र केहि कीन^८।

ऋ. को—ऐसी को करी अरु भक्त काज^९। या रथ बैठि बधु की गर्जहि पुरवै को कुरुखेत^{१०}। ताकी पटतर को जग को है^{११}। या छवि की उपमा को जाने^{१२}।

ए. कौन—कौन बिरक्त अधिक नारद तै^{१३}। मोकों कौन धारना करै^{१४}। दूजो सूर सुमित्रा-सुत बिनु कौन धरावै धोर^{१५}।

ऐ. कौनै—कौनै ठाटि रचायो^{१६}। ये करे हैं कौनै^{१७}। कौनै याहि बुलाई^{१८}।
कौनै तोहि बुलाई^{१९}। कौनै पठए सिखाइ^{२०}।

१६. सा. १०-२५३। १७. सा. १८३४। १८. सा. ९-३। १९. सा. ९-२८।

१. सा. ५८०। २. सा. २५५९। ३. सा. २६२६। ४. सा. ७०८।

५. सा. १३९८। ६. सा. २८२६। ७. सा. ३६१७। ८. सा. ३८३७।

९. सा. १-५। १०. सा. १-२०। ११. सा. ३-१३। १२. सा. १०-४६।

१३. सा. १-३५। १४. सा. ९-९। १५. सा. ९-१४५। १६. सा. ४३६।

१७. सा. ४८४। १८. सा. १२२१। १९. सा. १३१३। २०. सा. १४६२।

२. कर्मकारक—कह, कहा, का, काँ, काहि, किहि, को, कोऊ और कौना—ये नौ रूप कर्मकारक में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें 'काँ' विभक्तिरहित है, शेष विभक्तिरहित हैं। 'किहि' को भी विभुत रूप ही समझना चाहिए। 'कौना' जो तुक के कारण बिगाड़ा है, अपवादस्वरूप है। शेष रूपों का प्रयोग सूर-काव्य के अनेक पदों में हुआ है। 'कोऊ' भी सामान्यवत् ही प्रयुक्त हुआ है।

अ. कह—कहा जानिए कह तै देख्यो^{२१}। कह तजै^{२२}। कहौ न, कह मोहि दैहो^{२३}।

आ. कहा—कहा करो^{२४}। रिम त्रिय पावति कहा हो, कहा (पावति हो) दीन्हें गारि^{२५}। कहा जेहि^{२६}।

इ. का—ना जानौ बिघनहि का भायी^{२७}।

ई. काँ—काँ ब्रज पठवौ^{२८}। दाँह पकरि तू ल्याई काँ^{२९}।

उ. काहि—काहि भजौ हौं दीन^{३०}। श्रीपति काहि सँभारे^{३१}। तूम तजि काहि पुकारिहै^{३२}। काहि पठवहुं जाइ^{३३}।

ऊ. किहि—वान, वमान, कहाँ किहि मारयो^{३४}। किहि पठाजै^{३५}।

ऊ. को—इहि राजस को कौन बिगोयो^{३६}। (तुम) को न कृपा करि तारयो^{३७}। (तुम) बिन मसकत को तारयो^{३८}।

ए. कोऊ—कोऊ कमलनेन पठयो है, तन बनाइ अपनी सो साज^{३९},

ऐ. कौना—त्रिभुवन में बस कियो न कौना^{४०}।

३. कारणकारक—इस कारक में ग्यारह रूप मिलते हैं जिनमें दो—काहि और किहि—विभक्तिरहित हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र हुआ है; शेष नौ—कापै, कापै, कासौ, काहि सौ, किनतै, किहि पाहें, कौन पै, कौन सौ, कौने सौ—विभक्तियुक्त हैं। इनमें से 'काहि सौ', 'किनतै', 'किहि पाहें' और 'कौने सौ' के प्रयोग गिने-चुने पदों में मिलते हैं; शेष रूप सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं। 'कौने सौ' को 'कौन सौ' का ही रूपांतर समझना चाहिए।

अ. काहि—सूरस्याम देखे नहो कोऊ काहि बतावै^{४१}। उपमा काहि देउ^{४२}। कहौ काहि सा ही को^{४३}।

२१. सा. १०-२५७। २२. सा. २३००। २३. सा. २४४१। २४. सा. १-१२७।
 २५. सा. १३३५। २६. सा. २३००। २७. सा. १०-७७। २८. सा. १०-४८।
 २९. सा. १०-३१४। ३०. सा. १-१११। ३१. सा. ९-७८। ३२. सा. २११६।
 ३३. सा. २९३०। ३४. सा. १५८४। ३५. सा. २९३८। ३६. सा. १-५४।
 ३७. सा. १-१०१। ३८. सा. १-१३२। ३९. सा. ३४७६। ४०. सा. २८८४।
 ४१. सा. १११८। ४२. सा. २२०५। ४३. सा. २३४४।

आ. किहिं—सूरदास किहिं, तिहिं तजि, जांचे^{४४} । कुन, कनक तें किहिं मिलि दयो^{४५} । कहौ किहिं^{४६} ।

इ. काप—पवनपुत्र कापैं हटक्यो जाइ^{४७} । कापैं बरन्यो जाइ^{४८} । काप लेहि उघारे^{४९} ।

ई. कापै—कापैं कहि आवैं^{५०} । छवि बरनि कापै जाइ^{५१} । महिमा कापै जाति बिचारी^{५२} । महत कापै बरन्यो जाइ^{५३} ।

उ. कासैं—कासैं बिधा कहौ^{५४} । तेरो कासैं कीजं ब्याह^{५५} । नेइ हमें कासैं आह^{५६} । कन्या कासैं हुति उपजाइ^{५७} ।

ऊ. काहि सैं—कौन काहि सैं कहै^{५८} ।

ऋ. किनतैं—कौन म्वालनि साथ भोजन करत किनतैं बात^{५९} ।

ए. किहि पाहैं—सूरदास प्रभु द्वरि सिधारे, मुख कहिए किहिं पाहैं^{६०} ।

ऐ. कौन पै—सीख कौन पै लही सी^{६१} । गुप्त कौन पै होइ^{६२} । एक हूँ गए^{६३} । कौन पै जात निरुवारि माई^{६४} । कौन पै कहत कनूका जिन हठि भुमी पछोरी^{६५} ।

ओ. कौन सैं—हरि सौ तोरि कौन सैं जोरी^{६६} । मेरी घाँ हरि लरत कौन सैं^{६७} । ह्याँ लरत कौन सैं भाई^{६८} । बिधा माई, कौन सैं कहिये^{६९} ।

औ. कौने सैं—अब हरि कौने सैं रति जोरी^{७०} ।

४. संप्रदान कारक—काकौं, काहि, काहू कौं, किहिं और कौनैं—ये पाँच रूप इस कारक में प्रयुक्त हुए हैं । इनमें द्वितीय, चतुर्थ और अंतिम विभक्तिरहित है, शेष दोनों विभक्तियुक्त । तीसरा रूप दलात्मक होते हुए भी सामान्यवत् प्रयुक्त हुआ है । इनमें से प्रथम दो रूपों के कुछ अधिक और अंतिम तीन के कम प्रयोग मिलते हैं ।

अ. काकौं—काकौं सुख दीन्हो^{७१} । जोग-जुगति जद्यपि हम लीनी, लीला काकौं देहो^{७२} ।

आ. काहि—उरहन दिन देउं काहि^{७३} । मदनगुपाल बिना घर-आँगन गोकुल

४४. सा. १-२१२ ।

४५. सा. ९-३ ।

४६. सा. १६७० ।

४७. सा. ९-७४ ।

४८. सा. ८३२ ।

४९. सा. ३५०४ ।

५०. सा. १०-२०१ ।

५१. सा. १०-२२५ ।

५२. सा. ३८८ ।

५३. सा. ४९२ ।

५४. सा. १-१६० ।

५५. सा. ४-७ ।

५६. सा. ९-२ ।

५७. सा. ९-८३ ।

५८. सा. ५८९ ।

५९. सा. ३४७५ ।

६०. सा. ३२७९ ।

६१. सा. ३४८ ।

६२. सा. १६४० ।

६३. सा. २२७४ ।

६४. सा. ३५५३ ।

६५. सा. १-३०२ ।

६६. सा. २४३१ ।

६७. सा. २८२६ ।

६८. सा. ३२९३ ।

६९. सा. ३३६१ ।

७०. सा. २५३६ ।

७१. सा. ३७०५ ।

७२. सा. १०-२७६ ।

काहि लुराइ^{७७} । काहि नहि दुख होइ^{७४} । क्या काहि उड़ाजे^{७५} ।

इ. काहु कौं—काहु कौं पटरस नाहि भावत^{७६} ।

ई. किहि—कहिए कहा, दोष किहि दीजे^{७७} ।

उ. कौनै—कमलनयन स्यानसुंदर कौनै नहि भावै^{७८} ।

५ असादानकारक—‘कातै’ और ‘कौन तै’-जैसे प्रयोग इस वारक में होते हैं, परंतु सूरदास ने कदाचिन् इनका प्रयोग नहीं किया है ।

६. समर्थकारक—इस वारक में भी मुख्य ग्यारह रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनमें दो—किहि और कौन—विभक्तिरहित हैं । इनमें से द्वितीय का प्रयोग पहले से अधिक हुआ है । शेष नौ रूपों—कासी, काके, कासौ, किनकी, किहि के, किहि कौ, कौन की, कौन के और कौन कौ—में से ‘किनकी’, ‘किहि के’ ‘किहि कौ’ का वन और शेष रूपों का प्रयोग सर्वत्र विना गया है ।

अ. किहि—किहि नय दुरजन डरिहै^{७९} ।

आ. कौन—जब धौं कहौ कौन दर जाउ^{८०} । वानि परी तुमकी यह कौन^{८१} ।

इ. काकी—कासी ध्वजा बैठि^{८२} । सरन गहूँ मैं काकी^{८३} । पूछघो, तू क्यकी धी है^{८४} । काकी तिनकी उपमा दीजे^{८५} । काकी है बेटी^{८६} ।

ई. काके—काके रहिहैं प्रान^{८७} । ब्रज बसि काके बोल सहो^{८८} । काके मन की चोरति हो^{८९} । काके होहि जो नहि गोकुल के^{९०} ।

उ. कासौ—कासौ बदन निहारि^{९१} । डर काकी^{९२} । काकी नाम^{९३} । काकी ब्रज-दधि, माखन कासी^{९४} । काकी बालक आहि^{९५} ।

ऊ. किनकी—दान हठ कँ लेत कापै रोकि किनकी बाट^{९६} ।

ऋ. किहि के—सावामृग तुम किहि के ताव^{९७} ।

ए. किहि कौं—बिरद घटत किहि कौं तुम देखी^{९८} ।

ऐ. कौन की—कौन की बेटी^{९९} । बंधे कौन की डोरी^{१००} । कौन की गंगा चराबत^{१०१} ।

७३. सा. २९७२ ।	७४. सा. ३८०० ।	७५. सा. ४१२६ ।	७६. सा. १७२६ ।
७७. सा. ३२५९ ।	७८. सा. ३८९७ ।	७९. सा. १-२९ ।	८०. सा. १-१६५ ।
८१. सा. १५९३ ।	८२. सा. १-२९ ।	८३. सा. १-१४३ ।	८४. सा. ४-१२ ।
८५. सा. ९-४५ ।	८६. सा. ६७३ ।	८७. सा. ९-७९ ।	८८. सा. १६८६ ।
८९. सा. २१९९ ।	९०. सा. ३९४७ ।	९१. सा. १-२९ ।	९२. सा. १-२५६ ।
९३. सा. १-२९० ।	९४. सा. ३७५ ।	९५. सा. ५८९ ।	
९६. सा. ३४७५ ।	९७. सा. ९-६९ ।	९८. सा. ३९८२ ।	
९९. सा. २१६९ ।	१००. सा. ३३६१ ।	१०१. सा. ३४७५ ।	

ओ. कौन के—भीने रग कौन के हो ^३ । काके भए, कौन के ह्वैं ^४ । कौन के घर खात ^५ ।

औ. कौन कौ—कौन कौ नाम ^६ । कौन कौ प्यान ^७ । अब हौं कौन कौ मुख हेरों ^८ । कौन कौ बालक है तू ^९ । सुत कौन कौ ^{१०} । कौन कौ नीलांबरहि ^{११} ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में मुख्य सात रूप मिलते हैं—काकै, कापर कापै, किहिं कैरे, कौन कै, कौन पर और कौन पै । इनमें से प्रथम सामान्य है, शेष विभक्तियुक्त हैं । ‘कापै’, ‘किहिं कैरे’, ‘कौन कै’ और ‘कौन पै’ का प्रयोग कम किया गया है; अन्य तीनों रूप सर्वत्र मिलते हैं ।

अ. काकै—कहाँ पठवत, जाहि काकै ^{१२} । इतनी हित है काकै ^{१३} । कुलिन-अकुलिन अवतरयो काकै ^{१४} । ह्यौं हैं तरल तस्थोना काकै ^{१५} ।

आ. कापर—कापर चक्र चलाऊँ ^{१६} । कापर नैन चढाए डोलत ^{१७} । कापर नैन चलावति ^{१८} । कापर क्रोध कियो अमरापति ^{१९} ।

इ. कापै—हमको सन और नहिं सूझै कापै हम अब जाहि ^{२०} ।

ई. किहिं कैरे—सूरदास प्रभु अँग अनूप छवि कहँ पायो किहिं कैरे ^{२१} ।

उ. कौन कै—कौन कै माखन चुरावन जात उठिकै प्रात ^{२२} ।

ऊ. कौन पर—बहियाँ गहत सतराति कौन पर मग धरि डग । कौन पर होति पीरी-कारी ^{२३} । कियो कौन पर छोहु ^{२४} ।

कृ. कौन पै—तुम तजि और कौन पै जाउँ ^{२५} ।

सारांश—प्रश्नवाचक सर्वनाम रूपों के विभिन्न कारको में जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	(कहा), (काहूँ), किन, किनि, किहिं, (केहि) को, कौन, कौनै ।	...	...
कर्म	कह, कहा, काहि, किहिं, को, (कोऊ) (कौना) ।	काको	...

३. सा. २५५१ ।

४. सा. ३३६१ ।

५. सा. ३४७५ ।

६. सा. १-२९० ।

७. सा. २-३५ ।

८. सा. ९-१४६ ।

९. सा. ५५० ।

१०. सा. ५८९ ।

११. सा. २५०६ ।

१२. सा. ११८२ ।

१३. सा. २७५६ ।

१४. सा. ३१०१ ।

१५. सा. ३८१७ ।

१६. सा. १-२७४ ।

१७. सा. १०-३९० ।

१८. सा. १०-३२० ।

१९. सा. ९२६ ।

२०. सा. १०२० ।

२१. सा. २५६१ ।

२२. सा. ३४७५ ।

२३. सा. २५९५ ।

२४. सा. ४१८८ ।

२५. सा. १-१६४ ।

कारक	विनक्तिरहित रूप	विनक्तियुक्त रूप	वलात्मक रूप
वरण	वाहि, विहि	वापै, वापै, वासों, (वाहि सों), (विनतै), (विहि पाहें), कौन पै, कौन सों, (कौने सों)	...
सप्रदान	वाहि, विहि, कौनै	वाक्यों, वाहू कौ	...
अपादान	...	...	...
सवध	(विहि), कौन	वाकी, वाके, वाकौ, (विनकी), (विहि के), (विहि कौ), कौन की, कौन के, कौन की	
अधिकरण	वाकै	वापर, वापै, (विहि बेरे, (कौन कै), कौन पर, (कौन पै)	

अनिश्चयवाचक सर्वनाम—

प्रश्नवाचक सर्वनाम की तरह अनिश्चयवाचक सर्वनामों में भी भेद नहीं होता, यद्यपि कुछ सर्वनाम—जैसे 'एक'—एकवचन में और कुछ—जैसे 'सब'—बहुवचन में भी जाते हैं। परन्तु चेतन-अचेतन वस्तुओं या पदार्थों की दृष्टि से अनिश्चयवाचक सर्वनामों में भेद अवश्य होते हैं।

चेतन पदार्थों के लिए

मूलरूप एक, और, कोई, कौन, सब
विकृतरूप एकनि, औरन, वाहू, सप्रन

अचेतन पदार्थों के लिए

एक, और, कुछ, बहुत, सब

प्रथम वर्ग के कारकीय प्रयोग—चेतन पदार्थों के लिए विभिन्न कारकों में मूल और विकृत या सर्वनाम-रूप प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. कर्ताकारक—इन कारक में बीस के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जो 'एक', 'और', 'कोई' या 'कौन' और 'सब' के रूपांतर होने से इन्हीं चार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं।

क 'एक' के रूपांतर—एक, एक और एकनि—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से प्रथम दो का बहुत अधिक और अंतिम का बहुत कम प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ एक—एक मारत एक रोकत गेदहि एक भागत ^{२६} । एक आवत बज तै इतही
को, एक इतन बज जात ^{२७} । एक घर तै उठि चले ^{२८} । एक आवत * एक टेरत
इक दारे आवत ^{२९} ।

आ. एक—एक चले आवत^{३०} । एक कहत^{३१} । एक उफनत ही चली उठि^{३२} ।
एक जेवन करत त्याग्यो^{३३} । एक भोजन करि संपूरन गई^{३४} ।

इ. एकनि—एकनि हरे प्रात गोकुल के^{३५} ।

ख. 'और' के रूपांतर—और तथा औरी—केवल दो मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं । दूसरा रूप अपवादस्वरूप है, परन्तु पहला खूब प्रयुक्त हुआ है—कही एकवचन में और कही बहुवचन में ।

अ. और—मेरे सग की और गई^{३६} । कियो यह भेद मन, और नहीं^{३७} ।
तेई हैं कि और हैं^{३८} । देखै बनें, कहत रसना सौं, सूर बिलोकत और^{३९} ।

आ. औरी—तोसी न औरी है^{४०} ।

ग. 'कोई' और 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपों की सख्या अन्य तीनों से अधिक है जिनमें मुख्य हैं—काहुँ, काहु, काहूँ, काहु, कितहूँ, कोइ, कोउ, कोऊ । इन आठ रूपों में से 'कितहूँ' का प्रयोग सूरदास ने अपने काव्य में सर्वत्र किया है ।

अ. काहुँ—काहुँ न प्रात हरे^{४१} । काहुँ खोज नहि पायो^{४२} ।

आ. काहु—साकीं दरसन काहु न पायो^{४३} । काहु लै मोहि डारि दीन्हो कालिया दह नीर^{४४} । बड़ी कृपा इहि उरग को, ऐसी काहु न पाई^{४५} ।

इ. काहूँ—काहूँ कह्यो, मंत्र जप करना, काहूँ कछु काहूँ कछु बरना^{४६} । काहूँ समाचार कछ पूछे^{४७} । काहूँ करत न आयो^{४८} । काहूँ दियो गिराइ^{४९} ।

ई. काहु—कौ तुमसौं काहु कटु भाष्यो^{५०} । काहु पति-मेह तजे, काहु तन प्रात^{५१} । काहु तुरत आइ मुख चूमे^{५२} ।

उ. कितहूँ—कितहूँ लियो छोरि पद कटि तें^{५३} ।

ऊ. कोइ—मेटि सकै नहि कोइ^{५४} । पै यह बात न जानै कोइ^{५५} । केतो भाग करौ कित कोइ^{५६} । सकै नहि तरि कोइ^{५७} ।

अ. कोउ—सूरदास की बीनवी कोउ लै पहुँचावै^{५८} । कोउ न उतारै पार^{५९} ।

३०. सा. ८२८ । ३१. सा. ९०२ । ३२. सा. ९९५ । ३३. सा. ९९५ ।

३४. सा. ३९७७ । ३५. सा. १४१७ । ३६. सा. २२४० । ३७. सा. ३०६१ ।

३८. सा. ३५६० । ३९. सा. १७३५ । ४०. सा. ३७६७ । ४१. सा. ४१९० ।

४२. सा. ४-३ । ४३. सा. ५८० । ४४. सा. ५८९ । ४५. सा. १-३४१ ।

४६. सा. ४-५ । ४७. सा. ८-३ । ४८. सा. ५१७ । ४९. सा. १-२८६ ।

५०. सा. ६५० । ५१. सा. २८९८ । ५२. सा. २८९८ । ५३. सा. १-२६३ ।

५४. सा. १-२८९ । ५५. सा. ९-८ । ५६. सा. ४२१० । ५७. सा. १-४ ।

५८. सा. १-६८ ।

कोउ खवावै^{५९} । कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उषटत, कोउ करताल बजावत^{६०} ।

ए. कोऊ—यह गति मति जानै नहि कोऊ^{६१} । सक्यो न कोऊ राखी^{६२} । रामहि राखी कोऊ जाइ^{६३} ।

घ. 'सव' के रूपांतर—सव, सवनि, सवहिनि, सवही और सवै—ये पांच रूप इस वर्ग में आते हैं । ये सब बहुवचन रूप हैं और इनमें अंतिम रूप सब प्रायः सर्वत्र बलात्मक रूप में प्रयुक्त हुआ है । मूर-काव्य में इन सब रूपों के प्रयोग अनेक पदों में किये गये हैं ।

अ. सव—सव चितवत मुख तेरो^{६४} । फिरि सव चले अतिहि विकलाने^{६५} । सव नाचहो^{६६} । सव मुरझानी^{६७} ।

आ. सवनि—वसन भूपन सवनि पहिरे^{६८} । यह सुनतहि सिर सवनि नवाए^{६९} । सैना सवनि बुलाए^{७०} । दई सवनि लाज डारि^{७१} । मनबाधित फल सवनि लह्यो^{७२} ।

इ. सवहिनि—दुख डारयो सवहिनि बिसराइ^{७३} । सवहिनि गिरि टेक्यो^{७४} । सवहिनि मुख लीन्हो^{७५} ।

ई. सवही—तब बरज्यो मोही सवही^{७६} । हा हा खाई सवही^{७७} । मथुरा घर घर सवहीं (यह) जानी^{७८} ।

उ. सवै—सवै सदननि आइ पहुँचे^{७९} । हरत सवै हरि चरननि धाइ^{८०} । याही को खोजत सवै^{८१} । चली सवै^{८२} । सवै उड़ावहि द्वार^{८३} ।

२. कर्मशरक—इस कारक में पदार्थ के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जिनको भी, कर्ताकारकीय प्रयोगों के समान, चारों वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

क. 'एक' के रूपांतर—इस वर्ग में केवल एक मुख्य रूप आता है—एकहिं । इसका प्रयोग भी बहुत-कम पदों में किया गया है; जैसे—एक एकहिं घरति भुज भरि^{८४} ।

ख. 'और' के रूपांतर—और, औरनि, औरनि कौं तथा औरहिं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें तृतीय विभक्तिभुक्त है । प्रयोग की दृष्टि से प्रथम दो रूप

५९. सा. ५-२ । ६०. सा. ४८० । ६१. सा. १-३५ । ६२. सा. १-१२२ ।

६३. सा. ९-४७ । ६३. सा. ८६९ । ६५. सा. ९४१ । ६६. सा. २९१४ ।

६७. सा. २९६१ । ६८ सा. ७९५ । ६९. सा. ८८८ । ७०. सा. ९३० ।

७१. सा. २८९१ । ७२. सा. ३११० । ७३. सा. ८७२ । ७४. सा. ८६५ ।

७५. सा. ८८९ । ७६. सा. १४२३ । ७७. सा. २९१६ । ७८. सा. ३१०९ ।

७९. सा. ८५० । ८०. सा. ८७२ । ८१ सा. ११०६ । ८२. सा. १७५१ ।

८३. सा. २९१४ । ८४. सा. १७५० ।

प्रधान हैं जो अनेक पदों में मिलते हैं और अंतिम दो अप्रधान जो कुछ ही पदों में पाये जाते हैं ।

अ. और—सूरस्याम धिनु और न भावै^{८५} । हरि तजि जो और भजै^{८६} । नंद-
नंदन अछत कैसे आनिये उर और^{८७} ।

आ. औरनि—औरनि छाँड़ि कान्हू परे हठ हमसों^{८८} । धूल घीत लपट जैसे हरि,
तैसे औरनि जानै^{८९} ।

इ. औरिन कौं—औरिन कौं तिरछे ह्वै चितवत^{९०} ।

ई. औरहि—औरहि नाह पत्यात^{९१} ।

ग. 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपों में प्रमुख हैं काहुँ, काहु,
काहुहि, काहुँ, काहु कौं और कोऊ । इनमें से तीसरा और पाँचवाँ रूप विभक्तियुक्त
है । इन रूपों का प्रयोग कुछ ही पदों में किया गया है, सर्वत्र नहीं ।

अ. काहुँ—मैं काहुँ पहिचानौ^{९२} ।

आ. काहु—उस जिनि यह काहु^{९३} । काहु नाहि मानत^{९४} ।

इ. काहुहि—तब तैं गनत नही यह काहुहि^{९५} । गनत नही अपने बल
काहुहि^{९६} ।

ई. काहुँ—बदत काहुँ नही^{९७} ।

उ. काहु कौं—जो काहु कौं पकरि पाइहै^{९८} ।

ऊ. कोऊ—तो तुम कोऊ तारथो नाहि^{९९} ।

घ. 'सब' के रूपांतर—सवनि, सवहिनि, सवहीं और सवै—ये रूप इस वर्ग में
आते हैं । इनमें से अंतिम दो का बहुत कम और प्रथम दो का उनसे कुछ अधिक प्रयोग
मिलता है ।

अ. सवनि—सूर स्याम सुरपति तैं राख्यो देखो सवनि बहाइ^१ । देखि सवनि
रीझे गोविन्द^२ ।

आ. सवहिनि—जानत सवहिनि चोर^३ । धरी-पहर सवहिनि विरमावत^४ ।

इ. सवहीं—सवहीं डारे मारि^५ ।

८५. सा. १६३९ ।

८६. सा. १९१० ।

८७. सा. ३७३२ ।

८८. सा. १४६४ ।

८९. सा. ३९९८ ।

९०. सा. २२८४ ।

९१. सा. २२६५ ।

९२. सा. २५५९ ।

९३. सा. ६३६ ।

९४. सा. ४०८८ ।

९५. सा. १२७० ।

९६. सा. १३०८ ।

९७. सा. २२८७ ।

९८. सा. २९१६ ।

९९. सा. १-७३ ।

१. सा. १५४ ।

२. सा. ११८० ।

३. सा. २२६६ ।

४. सा. ३५०४ ।

५. सा. २९२६ ।

ई सवै—सवै त्यागि हम धाई आई ६ ।

३ करणकारक—इस कारक में सत्रह-अठारह मुख्य रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनमें भी कर्ता और कर्म कारकीय रूपों के समान चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

क 'एक' के रूपांतर—इकसों, इकहि, एकसों और एकहि—ये रूप इस वर्ग में आते हैं। इनका प्रयोग कुछ ही पदों में किया गया है, जैसे—

अ इकसों—इक इकसों यह बात कहति^७ ।

आ इकहि—धीरज धरि इकहि सुनावति^८ ।

इ एकसों—एकसों कहत धी कहीं आए^९ ।

ई एकहि—एक एकहि बात बूझति^{१०} ।

ख 'और' के रूपांतर—औरनि, औरनि सों, और पै तथा और सों—ये चार रूप इस वर्ग के हैं। इनमें से द्वितीय का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है।

अ औरनि—(ऊषी) जैसी कहो हमहि आवत ही, औरनि कहि पछिवाते^{११} ।

आ औरनि सों—औरनि सों करि रहे अचगरी^{१२} । औरनि सों लै लीजै^{१३} ।

औरनि सों तुम कहा लियो है^{१४} ।

इ और पै—ऐसी दान और पै मांगहुँ^{१५} ।

ई और सों—और सों बूझि न देखो^{१६} ।

ग 'कोई' और 'कोऊ' के रूपांतर—नाहूँ, काहूँ, काहूँ पै और काहूँ सों—इन वर्ग के इन रूपों में अंतिम दो विभक्तियुक्त हैं। इनमें से 'काहूँ' का सामान्य और शेष रूपों का प्रयोग सर्वत्र किया गया है।

अ नाहूँ—को जानै प्रभु कहां चने हैं, काहूँ कछु न जनावत^{१७} । काहूँ (किसी से) नहीं जनाई^{१८} । फूली फिरति कहति नहि नाहूँ^{१९} ।

आ काहूँ—पै यह भेद एकमिनी निज मुख काहूँ कहि न सुनायो^{२०} ।

ई काहूँ पै—होवनहारी काहूँ पै जाइ न टारी^{२१} । मुरली लै लै सब बजावत काहूँ पै नहि आवै रूप^{२२} । सो काहूँ पै जाहि न तोल्यो^{२३} ।

इ काहूँ सों—भावी काहूँ सों न टरे^{२४} । काहूँ सों यह कहि न सुनाई^{२५} । काहूँ सों उनहूँ तब पूछे^{२६} । जवाब न देत बने काहूँ सों^{२७} ।

६. सा. १०२५ ।

७. सा. १६११ ।

८. सा. १२१९ ।

९. सा. ३०२४ ।

१०. सा. १६२५ ।

११. सा. ३५१६ ।

१२. सा. १४०४ ।

१३. सा. १४६२ ।

१४. सा. १४७४ ।

१५. सा. १५२६ । १६. सा. १४९१ । १७. सा. ८-४ ।

१८. सा. २२४२ ।

१९. सा. २४४९ ।

२०. सा. ४१७८ ।

२१. सा. ४-५ ।

२२. सा. १२१७ ।

२३. सा. २९४१ ।

२४. सा. १-२६४ ।

२५. सा. १-२८९ ।

२६. सा. ४-५ ।

२७. सा. १७३७ ।

घ. 'सव' के रूपांतर—सवनि, सवनि सौं, सवसौं और सवहीं सौं—इन चार प्रमुख रूपों में से सबसे अधिक प्रयोग 'सवनि सौं' का किया गया है।

अ. सवनि—तब उपेंगमुत सवनि बोले—सुनो श्रीमुख जोग^{२८}।

आ. सवनि सौं—सूर प्रभु प्रगट लीला कही सवनि सौं^{२९}। लागी करन बिलाप सवनि सौं स्याम गए मोहि त्यागि^{३०}। तब तू कहति सवनि सौं हंसि^{३१}।

इ. सव सौं—सव सौं मिलि पुनि निज पुर आए^{३२}।

ई. सवही सौं—खोजत कहत मेघ सवही सौं^{३३}।

४. संप्रदानकारक—इस कारक में दस-बारह प्रमुख रूप मिलते हैं जो उक्त कारकों के समान चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं।

क. 'एऊ' के रूपांतर—इस वर्ग में केवल एक रूप है 'एऊनि' जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलता है, जैसे—इक एऊनि देत गारि^{३४}।

ख. 'और' के रूपांतर—औरनि, औरनि कौं, औरनि हूँ कौं तथा औरहूँ—इस वर्ग में इन चारों प्रमुख रूपों का प्रयोग 'सूर-काव्य' में कहीं-कहीं ही किया गया है; जैसे—

अ. औरनि—तब औरनि सिख देहु^{३५}।

आ. औरनि कौं—औरनि कौं छवि कहा दिखावत^{३६}।

इ. औरनि हूँ कौं—सूरस्याम सुख लूट आपुन, औरनि हूँ कौं देत^{३७}।

ई. औरहूँ—आपुन लेहि औरहूँ देते^{३८}।

ग. 'कौई' और कोऊ के रूपांतर—माहूँ, काहूँ कौं, काहूँ, काहूँ कौं और कौन को—इन पाँचों रूपों में से विभक्तिरहित का कम और विभक्तियुक्त का प्रयोग कुछ अधिक किया गया है; जैसे—

अ. काहूँ—काहूँ दुख नहि देत बिद्याना^{३९}। तुम काहूँ धन दे लें आवहु^{४०}।

डारत खात देत नहि काहूँ^{४१}। काहूँ सुधि न रही^{४२}।

आ. काहूँ कौं—नमस्कार काहूँ कौं कियो^{४३}।

इ. काहूँ—दोष न काहूँ देह^{४४}।

ई. काहूँ कौं—काहूँ कौं पटरस नहि भावत^{४५}। देत नही काहूँ कौं नैवहु^{४६}।

२८. सा. ३४८३।

२९. सा. ८४८।

३०. सा. ११०९।

३१. सा. १६४८। ३२. सा. ४२००। ३३. सा. ९-४०। ३४. सा. २८९१।

३५. सा. २५२९। ३६. सा. २५४४। ३७. सा. २२६७। ३८. सा. २२६६।

३९. सा. १-२९०। ४०. सा. ५-३। ४१. सा. २२४२। ४२. सा. ३८८४।

४३. सा. ४२००। ४४. सा. ३५४३। ४५. सा. १७८६। ४६. सा. २३२४।

च. कौन कौं—कौन कौन कौं उत्तर दीजें^{४७} ।

घ. 'सव' के रूपांतर—सवकौं, सवनि, सवनि कौं, सवहिनि— इन चारों मुख्य रूपों का प्रयोग सूरदास ने अनेक पदों में किया है; जैसे—

अ. सवकौं—सवकौं सुख दै दुखनि हरी^{४८} । सखा संग सवकौं सुख दीनो^{४९} ।

आ. सवनि—गोपाल सवनि सुख देत^{५०} । तुरत सवनि मुरलोक दियो^{५१} ।
सवनि आनंद भयो^{५२} ।

इ. सवनि कौं—पट-भूपन दियो सवनि कौं^{५३} । सवनि कौं सुख दियो^{५४} ।

ई. सवहिनि—स्याम सवहिनि सुख दीन्हो^{५५} । मुरली शब्द सुनाव
सवहिनि^{५६} ।

५. अपादानकारक—इस कारक में मुख्य छह रूप मिलते हैं—एकतैं, सवतैं, सवनि सौं, सवसौं, सवहिनि और सवहीं तैं । इन सबका प्रयोग सामान्य रूप से किया गया है । इनमें 'और' तथा 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर नहीं हैं ।

अ. एकतैं—एक एकतैं गुननि उजागर^{५७} । एक एकतैं सर्व सयानी^{५८} ।

आ. सवतैं—सवतैं वहै देस अति नीको^{५९} । जाको सवतैं गति न्यारी^{६०} ।

इ. सवनि सौं—हरि सवनिसौं नैकु होत नहि दूरी^{६१} ।

ई. सवसौं—मैं उदास सवसौं रहो^{६२} ।

उ. सवहिनि तैं—गोतम-सुता भगीरथ धीवर सवहिनि तैं सुंदर सुकुमारो^{६३} ।

ऊ. सवहीं तैं—कृष्ण-कृपा सवहीं तैं न्यारी^{६४} । ऊयो, ऐसी हम गुपाल बिनु
सवहीं तैं जस हखी तनु^{६५} ।

६. संबंधकारक—इस कारक के अंतर्गत बीस से भी अधिक रूप मिलते हैं जिनकी सुविधा की दृष्टि से वर्ता, वरम आदि कारकीय प्रयोगों के समान चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

क. 'एक' के रूपांतर—इस वर्ग में केवल एक प्रमुख रूप मिलता है 'एकनि' जिसका प्रयोग कुछ ही पदों में हुआ है; जैसे—एकनि कर है अगर—कुमकुमा^{६६} ।

ख. 'और' के रूपांतर—और की, और के, औरनि की, औरनि के तथा औरनि कौं—ये रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से तीसरे-चौथे का विशेष और दोष का सामान्य प्रयोग किया गया है ।

४७. सा. ४१२६ । ४८. सा. १५२२ । ४९. सा. २९२२ । ५०. सा. १०७० ।

५१. सा. ३०८० । ५२. सा. ४०८१ । ५३. सा. २९०० । ५४. सा. २९०३ ।

५५. सा. ११५४ । ५६. सा. ३९९५ । ५७. सा. ३१४४ । ५८. सा. ३७१२ ।

५९. सा. ३८२० । ६०. सा. ३९८४ । ६१. सा. ४१९४ । ६२. सा. ४२१० ।

६३. सा. ४२०२ । ६४. सा. ३१०९ । ६५. सा. ४०२३ । ६६. सा. २८९४ ।

अ. और की—तजी और को आस^{१७} ।

आ. और के—स्याम हलधर सुत तुम्हारे, और के सुत न कहाहि^{१८} ।

इ. औरनि की—औरनि की मटकी को खायो^{१९} ।

ई. औरनि के—औरनि के घर^{२०} । औरनि के बदन^{२१} । औरनि के चित्त^{२२} । औरनि के लरिका^{२३} ।

उ. औरनि को—औरनि को मन^{२४} ।

ग. 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के प्रयुक्त रूपों में मुख्य है—काहूँ, काहू, काहू की, काहू के, काहू केरी और काहू कौ । इनमें से 'काहू केरी' का प्रयोग अपवादस्वरूप, प्रथम दो का सामान्य और शेष तीन का विशेष रूप से मिलता है; जैसे—

अ. काहूँ—वह सुख दरत न काहूँ मन तै^{२५} । काहूँ काम न आवै^{२६} ।

आ. काहू—काहू हाथ सँदेस^{२७} ।

इ. काहू की—बधू होइ काहू की^{२८} । जाति न काहू की^{२९} । टेर सुनत काहू की सवननि^{३०} । है काहू की सारी^{३१} । काहू की गगरी^{३२} ।

ई. काहू के—काहू के कुल-तन^{३३} । लरिकनि मारि भजत काहू के^{३४} । काहू के चित^{३५} । काहू के जिय को^{३६} ।

उ. काहू केरी—जोग जु काहू केरी^{३७} ।

ऊ. काहू कौ—इहाँ कोउ काहू कौ नाही^{३८} । काहू कौ दधि-दूध^{३९} । कहाँ नहीं भानत काहू कौ^{४०} । रस-गोरस हरै न काहू कौ^{४१} ।

घ. 'सव' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपों की संख्या उक्त तीनों वर्गों से अधिक है । उनमें से मुख्य ये हैं—सवकी, सवके, सव केरी, सव केरे, सवकौ, सवनि, सवनि की, सवनि के, सवनि कौ, सवहिनि, सवहिनि के, सवहिनि केरे और सवहुनि कौ । इनमें से 'की', 'के' और 'कौ'-युक्त रूपों का ही प्रयोग विशेष रूप से किया गया है; जैसे—

अ. सवकी—सवकी सोहै खँहै^{४२} । सपति सवकी लै री^{४३} ।

आ. सवके—सवके बसन^{४४} । सवके भाव^{४५} । नैन सुकल सवके भए^{४६} । कैसे

६७. सा. ३५८३ ।	६८. सा. ३४३६ ।	६९. सा. १५९९ ।	७०. सा. २२३१ ।
७१. सा. २५५२ ।	७२. सा. २५६२ ।	७३. ४०८२ ।	७४. सा. १९३४ ।
७५. सा. ११७१ ।	७६. सा. २३२४ ।	७७. सा. ३२२४ ।	७८. सा. ९-४१ ।
७९. सा. ९-६७ ।	८०. सा. ४५९ ।	८१. सा. ६९३ ।	८२. सा. १३९९ ।
८३. सा. १-१२ ।	८४. सा. १०-३४० ।	८५. सा. १३९९ ।	८६. सा. २२४६ ।
८७. सा. ३७२३ ।	८८. सा. ७-२ ।	८९. सा. १०-३४० ।	९०. सा. ५१६ ।
९१. सा. १९३८ ।	९२. सा. १७२४ ।	९३. सा. २४३३ ।	
९४. सा. ७९९ ।	९५. सा. ९०३ ।	९६. सा. ११८० ।	

हाल भए तब सवके^{१०} ।

इ. सव केरी—प्रीति-रीति सव केरी^{१८} ।

ई. सव केरे—प्रात-जिवन सव केरे^{१९} ।

उ. सवकौ—जान्यो सवकौ ज्ञान^१ । सवकौ मन^२ । सोच सवकौ^३ ।

ऊ. सवनि—बहु रूप धरि हरि गए सवनि घर^४ । सवनि मुख यह बात^५ ।

छ. सवनि की—प्रीति सवनि की तोर^६ । सवनि की भास^७ । सवनि की कानि^८ । यह रीति ससार सवनि की^९ ।

ए. सवनि के—सवनि के चोर^{१०} । सवनि के मुख^{११} । बड़ भाग सवनि के^{१२} । करे सवनि के पूरन कामा^{१३} ।

ऐ. सवनि कौ—दुख हरत सवनि कौ^{१४} ।

ओ. सवहिनि—बियो त्याग सवहिनि मन भायी^{१५} ।

बी. सवहिनि के—सुखदायक सवहिनि के^{१६} । सवहिनि के प्रतिदिव^{१७} ।

ब. सवहिनि केरै—पूरनकामो सवहिनि केरै^{१८} ।

क. सवहुनि कौ—सवहुनि कौ मन^{१९} ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में मुख्य आठ रूप मिलते हैं—काहुँ कै, काहुँ, काहुँ कै, काहुँ पर, सवनि में, सवनि मेंकार और सवमें । इनमें से 'काहुँ कै' का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है ।

अ. काहुँ कै—कत हो बान्ह काहुँ कै जात^{२०} ।

आ. काहुँ—ऐसी कृपा करी नाहि सझूँ (पर)^{२१} ।

इ. काहुँ कै—काहुँ कै निसि बसन बनाइ^{२२} । बँ लुग्ये अनर्तहि काहुँ कै^{२३} ।
कवहुँ रैन बसत काहुँ कै^{२४} । काहुँ कै जागत सिगरी निसि^{२५} ।

ई. काहुँ पर—हम पर बोध कियो काहुँ पर^{२६} ।

उ. सवनि में—रहत सवनि में बँ परसी^{२७} ।

ऊ. सवनि मेंकार—सवहिनि कै मन साँवरो दोस सवनि मेंकारि^{२८} ।

१७. सा. १५६० ।

१८. सा. ३८१४ ।

१९. सा. ३१३१ ।

१. सा. १५७४ ।

२. सा. ३०३६ ।

३. सा. ३०८२ ।

४. सा. ४१९४ ।

५. सा. ८५० ।

६. सा. ६५७ ।

७. सा. ११३५ ।

८. सा. २३४९ ।

९. सा. ४०६५ ।

१०. सा. १४०६ ।

११. सा. १४८३ ।

१२. सा. २९०७ ।

१३. सा. २९१० ।

१४. सा. २८१७ ।

१५. सा. १०८४ ।

१६. सा. १५६७ ।

१७. सा. ४१६५ ।

१८. सा. १०८६ ।

१९. सा. १३२७ ।

२०. सा. १०-३०८ ।

२१. सा. ५६९ ।

२२. सा. २४७५ ।

२३. सा. २४९९ ।

२४. सा. २५३४ ।

२५. सा. ९२६ ।

२६. सा. ३११३ ।

२७. सा. ८४१ ।

२८. सर्वमें—भाव-वस्तु सर्वमें रहों^{२८} ।

सारांश—विभिन्न कारको में प्रयुक्त अनिश्चयवाचक सर्वनाम के जिन रूपों के उदाहरण ऊपर दिये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	इक, एक, (एकनि), और, ओरी, काहुँ, काहु, काहूँ, काहू, कितहूँ, कोइ, कोउ, कोऊ, सब, सबनि	...	एकै, सबहिनि, सबही, सबै
कर्म	(एकहि), और, औरनि, (काहुँ), काहु, (काहूँ), कोऊ, सबनि	औरनि कौ, औरहि, काहू कौ, काहुहि	सबहिनि, सबही, सबै
करण	औरनि, काहुँ, काहूँ, काहू, सबनि	इकसौ, इकहि, एकसौ, एकहि, औरनि सौ, और पै, काहू पै, काहू सौ, सबनि सौ, सबसौ	सबही सौ
संप्रदान	औरनि, काहुँ, काहू, सबनि	औरनि कौ, काहूँ कौ, काहू कौ, कौन कौ, सबकौ, औरहूँ, सबहिनि, सबनिकौ	औरनि हूँ कौ,
अपादान	...	एक तैं, सबतैं, सबनि सौ, सबसौ	सबहिनि तैं, सबही तैं
संबंध	एकनि, काहूँ, काहू, सबनि	और की, और के, औरनि कौ, औरनि के, औरनि कौ, काहू की, काहू के, (काहू केरी), काहू कौ, सबकी, सबके, (सब केरी), (सब केरे), सबको, सबनि की, सबनि के, सबनि कौ	सबहिनि, सबहिनि के, (सबहिनि केरै), सबहुनि कौ
अधिकरण	काहूँ	काहु कैं, काहू कैं, काहू पर सबनि में, सब में	सबहिनि में

द्वितीय वर्ग के प्रयोग—अविश्चयवाचक सर्वनाम के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, वे चेतन पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुए हैं; अचेतन पदार्थों के लिए जो रूप प्रयुक्त होते हैं, उनमें मुख्य हैं—एक, और, कछु, कछुक तथा सब। इनमें से 'एक', 'और' तथा 'सब' के प्रयोग तो ऊपर दिये हुए उदाहरणों के समान ही किये गये हैं, 'कछु' के कुछ उदाहरण यहाँ और दिये जाते हैं—

कछु—यामें कछु न छोड़ै^{२९}। सुनहु सूर हमको कछु देहो^{३०}। ज्यो मानक जमनी सों अटकत, भोजन को कछु मांगै^{३१}।

निजवाचक सर्वनाम—

इस सर्वनाम का मूल रूप 'आप' प्रायः विशेषण के समान प्रयुक्त होता है। 'आप' या 'आपु' इसका मूल और 'आपन' या 'आपुन' विवृत रूप है। विभिन्न कारकों में सूरदास ने इसके प्रयोग इस प्रकार किये हैं—

१. कर्त्ताकारक—आप, आपु, आपुन, आपुन ही, आपुहि और आपै—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें प्रथम तीन रूप सामान्य हैं और अंतिम तीन वत्तात्मक। इन सभी का प्रयोग सूर-साहित्य में प्रायः समान रूप से किया गया है।

अ. आप—इद्र भय मानि हय गहन सुत सों कह्यो, सो न लै सक्यो, लख आप लीन्हो^{३२}।

आ. आपु—आपु में आपु समाए^{३३}। आपु खात^{३४}। आपु भजे ब्रज खोरी^{३५}।

इ. आपुन—दुखित गयदाहि जानि के आपुन उठि घाबै^{३६}। आपुन भए उधारन जग के^{३७}। आपुन भए भिखारी^{३८}। आपुन रहे छपाइ^{३९}।

ई. आपुन ही—सूर स्वाम, आपुन ही कहियै^{४०}। आपुन ही नलियै-उदरियै^{४१}।

उ. आपुहि—आपुहि कहति, लेति नाही दधि^{४२}। आपुहि बुद्धि उपाई^{४३}। आपुहि चलियै तो भली वानति^{४४}।

ऊ. आपै—सूरदास प्रभु देखि खरिख, अब हों आपै आयो^{४५}।

२. कर्मकारक—आपु, आपु कौं और आपुन—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से 'आपु' और 'आपुन' का विशेष और द्वितीय का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. आपु—आपु बँधाइ पूजि लै सौंपी^{४६}। आपु देखि पर देखि रे^{४७}। सूर सनेह करै जो तुमसो, सो पुनि आपु विगोऊ^{४८}।

२९. सा. ९-१२६। ३०. सा. १७६६। ३१. सा. २३५८। ३२. सा. ४-११।

३३. सा. २-३६। ३४. सा. १०-२६५। ३५. सा. १०-२६८। ३६. सा. १-४।

३७. सा. १-२०७। ३८. सा. ८-१४। ३९. सा. १०-२६५। ४०. सा. १३३२।

४१. सा. २११५। ४२. सा. १६२२। ४३. सा. २१५०। ४४. सा. २५७२।

४५. सा. १०-३१५। ४६. सा. २३७८। ४७. सा. ३६१३। ४८. सा. ३९७९।

आ. आपु कौं—रे मन, आपुकौं पहिचानि^{४९} । सो चली आपुकौं तब छुड़ाई^{५०} ।

इ. आपुन—अबकं तो आपुन लै आयो^{५१} । बांधन गए, बांधाए आपुन^{५२} ।

३. करणकारक—इस कारक में केवल दो मुख्य रूप मिलते हैं—‘अपननि कौं’ और ‘आपुसौं’ । इनका प्रयोग भी कुछ ही पदों में किया गया है; जैसे—

अ. अपननि कौं—बूझति नही जाइ अपननि कौं, न्हाति रही तब जीम जीम सी^{५३} ।

आ. आपुसौं—आपु आपुसौं तब यौं कही^{५४} ।

४. संप्रदान कारक—इस कारक में भी एक ही मुख्य रूप इने-गिने पदों में प्रयुक्त हुआ है—आपकौं; जैसे —मेरी करि काज, मीच आपकौं बुलायो^{५५} । अपनी देह आपुकौं बैरिनि^{५६} ।

५. असादान कारक—‘आपु तै’-जैसा कोई रूप इस कारक में होना चाहिए; परन्तु सूरदास ने संभवतः इसका प्रयोग नहीं किया है ।

६. संबन्धकारक—इस कारक में सोलह-सत्रह रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको सुविधा के लिए तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—विभक्तिरहित या सामान्य विभक्तियुक्त, विशेष विभक्तियुक्त और बलात्मक ।

क. विभक्तिरहित या सामान्य विभक्तियुक्त रूप—अप, अपनी, अपने, अपनी, आपन, आपनी, आपने, आपनौ, आपु, आपुन, आपुनी, आपुने और आपुनौ—ये मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें से ‘अप’ और ‘आपन’ का कुछ पदों में और अन्य रूपों का अनेक पदों में प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ. अप—कहियँ अप जी कौ^{५७} । मन ही मन अप करत प्रसंसा^{५८} ।

आ. अपनी—और कही कुछ अपनी^{५९} । गृह आरति अपनी^{६०} । अपनी घरनि^{६१} । अपनी रुचि^{६२} । रुचि अपनी अपनी^{६३} ।

इ. अपने—अपने अज्ञान^{६४} । अपने कर^{६५} । अपने बिरद^{६६} । मुख अपने^{६७} ।

ई. अपनी—अपनी गात्र^{६८} । अपनी प्रन^{६९} । अपनी मुख^{७०} । सरबस अपनी^{७१} । अपनी साज^{७२} ।

४९. सा. १-७० ।	५०. सा. ८-१० ।	५१. सा. १-१४६ ।	५२. सा. ८-१५ ।
५३. सा. १९७६ ।	५४. सा. ५-३ ।	५५. सा. २९४४ ।	५६. सा. १८५३ ।
५७. सा. २९३४ ।	५८. सा. ३४२९ ।	५९. सा. ४१२५ ।	६०. सा. १-२५९ ।
६१. सा. १-१३० ।	६२. सा. १-९८ ।	६३. सा. १०-२४ ।	६४. सा. १-११४ ।
६५. सा. १०-४८ ।	६६. सा. १-१०८ ।	६७. सा. ५०९ ।	६८. सा. १-२१६ ।
६९. सा. ९-१५९ ।	७०. सा. २-२५ ।	७१. सा. ८-१५ ।	७२. सा. १-९६ ।

उ. आपन—आपन जिय^{७३} । आपन रूप^{७४} ।

ऊ. आपनी—आपनी करनी^{७५} । घात आपन^{७६} । जयामनि आपनी^{७७} । आपनी जीविका^{७८} । पति-कानि नाहि आपनी^{७९} । आपनी पीठ^{८०} । आपनी पीरो^{८१} ।

ऋ. आपने—कर आपने^{८२} । आपने कर्म^{८३} । केस आपने^{८४} । आपने घर^{८५} । दसन आपने^{८६} । आपने भाग^{८७} ।

ए. आपनी—अकाज आपनी^{८८} । आपनी कर्म^{८९} । काज आपनी^{९०} । आपनी कुलदेव^{९१} । आपनी जन्म^{९२} । सुख छांडी आपनी^{९३} ।

ऐ. आपु—आपु काज^{९४} । आपु छांह^{९५} । आपु दसा^{९६} । आपु बाहु-बल^{९७} । किये आपु मन भाए^{९८} ।

ओ. आपुन—आपुन आयनु^{९९} । आपुन कर^{१००} । आपुन जारो^{१०१} । आपुन मन^{१०२} । सुरपति आयो सग आपुन सची^{१०३} ।

औ. आपुनी—आपुनी टेक^{१०४} । भक्ति अनन्य आपुनी^{१०५} । सौह आपुनी^{१०६} ।

अं. आपुने—आपुने धाम^{१०७} । आपुने सुन^{१०८} ।

अ. आपुनी—आपुनी कल्याण^{१०९} । आपुनी दास^{११०} । विरद आपुनी^{१११} ।

स. विशेष विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में केवल दो रूप आते हैं—अपने को और आपुन को—और इन रूपों का प्रयोग भी इने-गिने पदों में ही हुआ है, जैसे—

अ. अपने को—तजि जिय सोच तात अपने को^{११३} ।

आ. आपुन को—आपुन को उपचार करो अति^{११४} ।

ग. नलात्मक रूप—अपनेहिं, अपनोइ और अपनी ही—केवल ये तीन रूप इस वर्ग के हैं जिनका प्रयोग कुछ ही पदों में किया गया है; जैसे—

७३. सा ९-५ ।	७४. सा. ५५३ ।	७५. सा. १-१३२ ।
७६. सा. ५९१ ।	७७. सा ४-११ ।	७८. सा. ४-११ ।
७९. सा १०-३२३ ।	८०. सा ८-८ ।	८१. सा. ६७३ ।
८२. सा. १-११० ।	८४. सा. ४-५ ।	८५. सा. ५०९ ।
८६. सा. ७९२ ।	८७. सा. २००२ ।	८८. सा. २१०२ ।
८९. सा. ८-१६ ।	९०. सा ९-१०३ ।	९१. सा. ८५९ ।
९२. सा ४-११ ।	९३. सा. ९-३५ ।	९४. सा. २२७५ ।
९५. सा. १०-११० ।	९६. सा. २३१५ ।	९७. सा. ९-१५८ ।
९८. सा. ३९१ ।	९९. सा. ९-११० ।	१. सा. १२१३ ।
२. सा. ४१८८ ।	३. सा. ९४६ ।	४. सा. ४१८६ ।
५. सा १४९१ ।	६. सा. ३-१३ ।	७. सा. ३४४८ ।
८. सा ४-११ ।	९. सा १०-३१४ ।	१०. सा. १-३१५ ।
११. सा. ५७९ ।	१२. सा. १-१७९ ।	१३. सा. ४२११ ।
१४. सा. ३५२९ ।		

अ. अपनेहिं—अपनेहिं सिर^{१५} ।

आ. अपनोइ—अपनोइ उदर^{१६} । अपनोइ पेट^{१७} । अपनोइ मन^{१८} ।

इ. अपनी ही—अपनी ही प्रान^{१९} ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त मुख्य पाँच रूप मिलते हैं—अप माहीं, अपने में, अपुन में, आपुन ही में और आपु में । इसमें केवल चौथा रूप बलात्मक है । इन सभी रूपों का प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है; जैसे—

अ. अप माहीं—जोगी भ्रमत जाहि लगे भूले, सो तो है अप माहीं^{२०} ।

आ. अपने में—मन महतो करि कंद अपने में^{२१} । हम वंसी ही सचु अपने में^{२२} ।

इ. अपुन में—कहन लगे सब अपुन में^{२३} ।

ई. आपुन ही में—अपुनही आपुन ही में पायो^{२४} ।

उ. आपु में—पुनि सबको रचि अड, आपु में आपु समाए^{२५} ।

सारांश—निजवाचक सर्वनाम के विभिन्न कारकों में प्रयुक्त जो रूप ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त	बलात्मक रूप
कर्त्ता	आप, आपु, आपुन	...	आपुन ही, आपुहि, आपुही, आप
कर्म	आप, आपु, आपुन	आपुकों, आपुहि	...
करण	...	आपुसों	...
संप्रदान	...	आपुकों	...
अपादान	...	...	...
संबध	अप, आपन, आपु, आपुन	अपनी, अपने, अपनी, आपनी आपने, आपनी, आपुनी, आपुने, आपुनी, आपने की, आपुन की	अपनेहि, अपनोइ, अपनी ही, आप, (आपुन ही में)
अधिकरण		(अप माही), अपने में, (अपुन में) (आपु में)	

आदरवाचक सर्वनाम—

निजवाचक सर्वनाम की तरह 'आप' या 'आपु' इसका मूल और 'आपन' या 'आपुन' विकृत रूप होता है । इस सर्वनाम का प्रयोग, एक प्रकार से 'सूर-काव्य' में नहीं के बराबर हुआ है । यदि कही इसका प्रयोग मिलता भी है तो उसके आगे-पीछे

१५. सा. १३१४ ।

१६. सा. २३६६ ।

१७. सा. २२६७ ।

१८. सा. २३९४ ।

१९. सा. ४-५ ।

२०. सा. ३९२४ ।

२१. सा. १-१४२ ।

२२. सा. ३५१० ।

२३. सा. ४३१ ।

२४. सा. ४-१३ ।

२५. सा. २-३६ ।

इसका निर्वाह नहीं किया गया है। अतएव विभिन्नकारको में प्रयुक्त आदरवाचक सर्वनाम के गिने-चुने उदाहरण ही यहाँ दिये जाते हैं।

१. कर्ताकारक—आपुन और रावरे—ये दो प्रमुख रूप इस कारक में मिलते हैं जिनका प्रयोग अपवादस्वरूप ही कही-कही दिखायी देता है, जैसे—

अ. आपुन—आपुन चलियँ बदन देखियँ, जो लौं रहे निठुराई^{२६}।

आ. रावरे—घर ही के बाड़े रावरे^{२७}।

२. संबधकारक—राउर, रावरी, रावरे और रावरौ—ये चार मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'रावरी' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है, शेष रूपों का उससे कम, जैसे—

अ. राउर—अलि, तुम जाहु ...। नाद मुद्रा भूति भारी, करै राउर नेप^{२८}।

आ. रावरी—रावरी सैनहूँ साज कीजँ^{२९}। बड़ी बड़ाई रावरी^{३०}। जग में कीर्ति होइ रावरी^{३१}। जहाँ लगी कथा रावरी^{३२}।

इ. रावरे—सूर स्याम रावरे ढग य^{३३}। गुन रावरे^{३४}।

ई. रावरौ—मानहिणी उपकार रावरौ^{३५}।

अन्य कारको में आदरवाचक सर्वनाम के रूप वदाचित् सूर-काव्य में नहीं के बराबर ही हैं। जो प्रयोग मिलते भी हैं वे अधिकांश में उसी प्रकार के हैं जैसा 'राउर' का उदाहरण ऊपर दिया गया है कि पद के आरम्भ में जिनके लिए 'तुम' का प्रयोग है, वही उसी के लिए आदरवाचक 'राउर' प्रयुक्त हुआ है। 'रावरी' का प्रयोग जिन पदों में किया गया है, उनमें से अधिकांश में 'रावरी'—जैसे शब्दों के तुक का निर्वाह करने के लिए 'रावरी' आया है, ऐसे प्रयोगों को भी शुद्ध आदरवाचक नहीं कहा जा सकता। 'रावरी सैनहूँ साज कीजँ'—श्रीराम के प्रति हनुमान के इस कथन—जैसे शुद्ध आदरवाचक प्रयोग कम ही मिलते हैं।

सांक्षेप—आदरवाचक सर्वनाम के कर्ता और संबधकारको के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. कर्ताकारक आप, आपुन, रावरे।

२. संबधकारक राउर, रावरी, रावरे, रावरौ।

सर्वनाम संबधी अन्य बातें—

विभिन्न सर्वनाम भेदों में सूरदास के सर्वनामिक प्रयोगों के विशिष्ट उदाहरण देखने के पश्चात् भी तद्विषयक कुछ आवश्यक बातें रह जाती हैं। इनमें से निम्नलिखित मुख्य विषयों की चर्चा यहाँ और करना है।

२६ सा. १७९०।

२७ सा. ३६१६।

२८. सा. ४०५५।

२९. सा. ९-१३६।

३०. सा. ३१५५।

३१. सा. ४०८०।

३२. सा. ४१०३।

३३. सा. १५८६।

३४. सा. २४८७।

३५. सा. ७९२।

क. दोहरे सर्वनामों के प्रयोग ।

ख. दोहरी विभक्तियों के प्रयोग ।

ग. विभक्ति-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द ।

घ. विभक्ति-संयुक्त विशिष्ट सर्वघ
कारकीय रूप ।

क. दोहरे सर्वनामों के प्रयोग—सूरदास ने अनेक पदों में दो विभिन्न सर्वनाम-
रूपों का साथ-साथ प्रयोग करके उन्हें 'संयुक्त' रूप दिया है । ऐसे अधिकांश संयुक्त
प्रयोगों में एक रूप अनिश्चयात्मक है और अनेक स्थलों पर दोनों सर्वनामों में से एक
का प्रयोग विशेषण के समान किया गया है ; जैसे —

१. और काहू की—वह तो धेनु और काहू की^{३६} ।
२. और की औरै—हमसों कहत और की और^{३७} ।
३. और को—ऐसे चरित और को जानै^{३८} ।
४. औरहिं काहू—आजु गए औरहिं काहू कै^{३९} ।
५. कलु और—मेरं मन कलु और है^{४०} ।
६. काको काको—काको काको गय तैं धों लियो छुडाइ^{४१} ।
७. कोउ एक—कोउ एक गए पराए^{४२} ।
८. कोउ और—लालची इनतैं नही कोउ और^{४३} ।
९. जोई सोई—जे अनभले बड़ाई तिनकी मानैं जोई सोई^{४४} ।
१०. सब काहू—धन्य धन्य सब काहू भाज्यो^{४५} ।
११. सब कोइ—हरि हरि हरि सुमिरी सब कोइ^{४६} ।
१२. सब कोई—यह जानत सब कोई^{४७} ।
१३. सब कोउ—नैन देखत प्रगट सब कोउ कनक मुक्ता लाल^{४८} ।
१४. सब कोऊ—तू जानै, जानै सब कोऊ^{४९} ।
१५. सबहों काहू—सबहों काहू कौं अपनी ही हित भावै^{५०} ।
१६. सबै तेउ—असुर जोधा सबै तेउ संहारे^{५१} ।
१७. हम सब—हम सब भई अनाथ^{५२} ।

ख. दोहरी विभक्तियों के प्रयोग—इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या अधिक
नहीं है ; फिर भी कुछ पदों में सर्वनामों के साथ दोहरी विभक्तियों के प्रयोग
मिलते हैं ; जैसे—दूतति ताको कौन की को हे री प्यारी^{५३} । जिन पै तैं आस ऊयो,
तिनहि के पेट समै है^{५४} ।

३६. सा. २००५ ।	३७. सा. २५२५ ।	३८. सा. २७०१ ।	३९. सा. २४७६ ।
४०. सा. ४१८८ ।	४१. सा. २४२९ ।	४२. सा. ९-५७ ।	४३. सा. २३८० ।
४४. सा. २२५५ ।	४५. सा. ४१९२ ।	४६. सा. ४२०६ ।	४७. सा. ४१९२ ।
४८. सा. २३०९ ।	४९. सा. १८५० ।	५०. सा. ४०१६ ।	५१. सा. ३०२३ ।
५२. सा. ३४०८ ।	५३. सा. २२०१ ।	५४. सा. ३६६४ ।	

गं. विभक्ति समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—विभिन्न सर्वनाम-रूपों के साथ अनेक अव्यय शब्दों का विभक्ति के समान प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र मिलता है। ऐसे प्रयोगों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें से प्रमुख यहाँ संकलित हैं—

१. आग—(इक गाइ) अब आज तैं आप आगें दई^{५५}। तिहारे आगें बहुत नच्यो^{५६}। मेरे आगें खेल करो कछु^{५७}। मेरी बात गई इन आगें^{५८}। व्यथा हमारी कहे बनें तुम आगें^{५९}।
२. ऊपर—सारंगपानि राय ता ऊपर गए परीच्छित कीर^{६०}। कै अधमं तो ऊपर होत^{६१}। ताके ऊपर कनक लगायो^{६२} आपु चढ़्यो ता ऊपर भायो^{६३}।
३. ओर—मेरी ओर न कछु निहारो^{६४}।
३. काज—इनही काज पराउं^{६५}। सम कियो मोहि काज^{६६}।
५. कारन—तुम कारन राख्यो बलभंया^{६७}। माखन धर्यो तिहारेहि कारन^{६८}। हौं इहाँ तेरेहि कारन आयो^{६९}।
६. ढिग—तब नारद तिनकै ढिग आइ^{७०}। जाहु जनिहि ढिग भोजन मांगन^{७१}।
७. तन—जब चितवत मो तन^{७२}। हम तन कृपा निहारो^{७३}। तक्यो नहि मो तन^{७४}।
८. तर—आमंद करत सबै ताहि तर^{७५}। दुलरी अरु तिलरी बँद ता तर सुभग हुमेल बिराजत^{७६}। पीन पयोधर सघन जनत अति ता तर रोमावली लसी री^{७७}।
९. तूले—(लोचन) निदरे रहल मोहि नहि मानत, कहत, कीन हम तूले^{७८}।
१०. नाई—काल-कर्म-बस किरत सकल प्रभु तेऊ हमरी नाई^{७९}।
११. निमित्त—तिहि निमित्त तिन आहुति दई^{८०}।
१२. नियरें—गनती करत ग्वाल गैयनि की, मोहि नियरें तुम रहो^{८१}।
१३. पाछें—सिवहू ताके पाछु धाए^{८२}। नगन पगन ता पाछें गयो^{८३}। इक धावत पाछें उनही के^{८४}।

५५. सा. १-५१।	५६. सा. १-१७४।	५७. सा. १-२३९।
५८. सा. १७६७।	५९. सा. ३७६५।	६०. सा. ३-१३।
६१. सा. १-२९०।	६२. सा. ७-७।	६३. सा. १०-७७।
६४. सा. ७-२।	६५. सा. ५२८।	६६. सा. १४०१।
६७. सा. ५४६।	६८. सा. ४२७८।	६९. सा. १-२३०।
७०. सा. १०-१०३।	७१. सा. १०२०।	७२. सा. १८३९।
७३. सा. १४९८।	७४. सा. २४४७।	७५. सा. ९३९।
७६. १-१९५।	७७. सा. ६-५।	७८. सा. २३७१।
७९. सा. १-२२६।	८०. सा. १-२।	८१. सा. ६८०।
		८२. सा. ५३४।

१४. पास—मैं उबेरंगी तिहि पास^{८५} । तनगि गए ता पास^{८६} ।
 १५. पासा—कोटि दनुज मो सरि मो पासा^{८७} ।
 १६. बिच—ता बिच बनी आड़ केसर की^{८८} ।
 १७. बिन—नाही या बिन और उपाइ^{८९} । उन बिन धीरज नहीं धरौ^{९०} ।
 १८. बिना—तुमहि बिना प्रभु कौन सहायो^{९१} । मोहि बिना ये और न जानै^{९२} ,
 १९. बिनु—तिहि बिनु रहत नही^{९३} । समरथ और न देखौ तुम बिनु^{९४} । उन
 बिनु भोजन कौने काम^{९५} । जैवत नही नंद तुम्हरे बिनु^{९६} ।
 २०. बीच—सुभग नव मेघ ता बीच चपला चमक^{९७} ।
 २१. भीतर—तिनके भीतर बाग लगाए^{९८} ।
 २२. लएँ—उनके लएँ लाज या तनु की सबै स्याम सौं हारौ^{९९} ।
 २३. लागि—दुखित जानि कै सुत कुवेर के तिन्ह लागि अपु बँधावै^{१००} ।
 २४. लाग—उड़ि उड़ि जात पार नहि पावत, फिरि आवत तिहि लाग^{१०१} ।
 २५. लागि—धन-सुत-दारा काम न आवै, जिनहि लागि आपुनपो हारौ^{१०२} ।
 २६. संग—कहा आनि हम संग भरमिहो^{१०३} ।
 २७. सम—मो सम कौन कुटिल-खल-कामी^{१०४} । अग्रित ता सम नाही^{१०५} । ता सम
 और जगत नहि बिघौ^{१०६} ।
 २८. समसरि—मो समसरि कोउ नाहि^{१०७} ।
 २९. सरि—मो सरि कोउ न आन^{१०८} । कोटि दनुज मो सरि मो पासा^{१०९} । तुमसे तुम
 ही ईस, नही द्वितीय कोई तुम सरि^{११०} ।
 ३०. साथ—अपनै सम जे गोप, कमल तिन साथ पठाए^{१११} ।
 ३१. सी—तो-सी नहि कोउ निडर^{११२} । और नहि मो-सी कोऊ पिय की प्यारी^{११३} ।
 जानति और-सी वाला^{११४} । औरनि-सी मोहूँ कौं जानति^{११५} । बहुरि न सूर
 पाइहो हम-सी बिनु दामन की चेरी^{११६} । तुम-सी होइ सो तुमसौं बोलै^{११७} ।
 ३२. से—मो-से मुग्ध महापापी कौ कौन क्रोध करि तारै^{११८} । तुम-से होइ
 बजोर^{११९} ।

८५. सा. ६०४ ।

८६. सा. २५६३ ।

८७. सा. २९२२ ।

८८. सा. २११४ । ८९. सा. ९-५ । ९०. सा. १८५४ । ९१. सा. ३९१ ।

९२. सा. १०३२ । ९३. सा. १-१४९ । ९४. सा. १-१६० । ९५. सा. १-२३५ ।

९६. सा. १०-२३७ । ९७. सा. १०४० । ९८. सा. १-८ ।

९९. सा. २३७४ । १. सा. १-१२२ । २. सा. २३१२ । ३. सा. १-८० ।

४. सा. ९-३४ । ५. सा. १-१४८ । ६. सा. १-२४१ । ७. सा. ९-३ ।

८. सा. ५८९ । ९. सा. १०-३६ । १०. सा. २९२२ । ११. सा. ४२१० ।

१२. सा. ५८९ । १३. सा. ६९८ । १४. सा. १०७९ । १५. सा. १४७१ ।

१६. सा. २७२६ । १७. सा. ३१८७ । १८. सा. ३९०४ । १९. सा. ९-७८ ।

२०. सा. ३८४१ ।

३३. सौं—मो-सौं पतित न दाग्यो^{३१} । जाके मो-सौं तात^{३२} ।
 ३४. हित—तिन्ह हित आपु बँधाए^{३३} । तन-घन-जोवन ताहित खोवत^{३४} । मम
 हित तुम लोन्हो अवतार^{३५} । रिपि तिनकें हित गेह बनाए^{३६} । सर्व जोरि
 राखत हित तुम्हरै^{३७} । गए तासु हित बिलब न करो^{३८} ।
 ३५. हेत—तुम्हरे हेत जमुन-जल ल्याऊँ^{३९} ।
 ३६. हेतु—हमहि हेतु धनि भुजा बँधाए^{४०} ।

घ. विभक्तिसयुक्त विशिष्ट संबधकारकीय रूप—कुछ संबधकारकीय सर्वनामों को 'एँ' के प्रयोग से ऐसा विशिष्ट रूप कवि ने दिया है कि सबधी सज्ञा शब्द की विभक्ति का लोप वह सुगमता से कर सका है। ऐसे प्रयोग 'सूर-काव्य' में सर्वत्र मिलते हैं, जैसे—
 तुन उपजत उनहा कें पानी^{३१} । थाकें रग ढरै री^{३२} । तैरै जिय कछु गर्व भयो री^{३३} ।
 मेर मन कछु और है^{३४} ।

विशेषण और मूर के प्रयोग—

वाक्य में सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दों का प्रयोग जहाँ अर्थ की सामान्य पूर्ति के लिए किया जाता है, वहाँ विशेषण के प्रयोग में प्रायः एक साकेतिकता रहती है जो कभी तो विशेष्य की विशिष्टता निर्धारित करती है और कभी अभिप्रेत भाव की ओर सार्थक संकेत करती है। विशेषण शब्दों के इन दोनों उद्देश्यों में प्रथम, अर्थात् विशिष्टता-निर्धारण का संबध व्याकरण से है और द्वितीय का कला से। प्रथम उद्देश्य इतना सामान्य है कि उसकी आवश्यकता अशिक्षित तक समझते हैं और प्रायः सदैव उसकी पूर्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। 'काला घोड़ा', 'सफेद गाय', 'लाल पुस्तक', 'लंबा आदमी'—जैसे प्रयोगों में 'काला', 'सफेद', 'लाल' और 'लंबा' विशेषण क्रमशः 'घोड़ा', 'गाय', 'पुस्तक' और 'आदमी' के विशाल वर्ग में इनकी विशिष्टता या भिन्नता सूचित करते हैं, अर्थात्, पं० कामताप्रसाद गुरु के शब्दों में, इनकी 'व्याप्ति या विस्तार मर्यादित करते हैं'^{३५}। परंतु द्वितीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशेषण शब्दों का प्रयोग करना सबके वश की बात नहीं है, इसके लिए पैनी अतद्दृष्टि के साथ-साथ उपयुक्त शब्द-चयन की योग्यता भी अपेक्षित है जो सूक्ष्म निरीक्षण, गंभीर अध्ययन, भावुक प्रवृत्ति और चित्राकन प्रवृत्ति पर निर्भर है। 'खिली कली' कहना सभी को आता है, परंतु 'हँसती, झुलानी या मदमाती कली' कहना सहृदय कवि के लिए ही सुरक्षित है। इस प्रकार के प्रयोग वस्तु-विशेष की व्याप्ति ही मर्यादित नहीं करते, प्रयुक्त इनके द्वारा पाठक के हृदय

२१. सा. १-७३ ।

२२. सा. ३०९० ।

२३. सा. १-७ ।

२४. सा. २-२४ ।

२५. सा. ७-२ ।

२६. सा. १०८ ।

२७. सा. ४९४ ।

२८. सा. ४१९२ ।

२९. सा. १०-५७ ।

३०. सा. ३८४ ।

३१. सा. ८८६ ।

३२. सा. १३१९ ।

३३. सा. १८८८ ।

३४. सा. ४१८८ ।

३५.—'हिन्दी व्याकरण', नया संस्करण, पृ. १२४ ।

में बने हुए पूर्व संस्कारों को बड़ी सुकुमारता से हटाकर, लेखक अपने अंतस्तर में अंकुरित भावों को हृदयगम करने की योग्यता उसे प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि उपयुक्त विशेषणों के प्रयोग से कवि, अलक्ष्य रूप से, ऐसा वातावरण बना लेता है कि आगे का वर्णन पाठक को सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत हो। निस्संदेह यह कार्य कला-कुशल के लिए ही संभव है।

व्याकरण की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्दों का अध्ययन करते समय, विशेषणों के उक्त महत्व को ध्यान में रखकर मुख्य रूप से चार बातों पर विचार करना है—१. रूपांतर, २. रूप-निर्माण, ३. वर्गीकरण और ४. प्रयोग।

१. विशेषण का रूपांतर—

संज्ञा शब्दों के समान सूरदास के विशेषण भी मुख्य रूप से आकारांत और औकारांत हैं, यद्यपि गीण रूप से 'आ', 'इ', 'उ', 'ए' और 'ऐ' से अंत होनेवाले रूप भी अनेक मिल जाते हैं। अकारांत विशेषण-रूपों का प्रयोग सूर-काव्य में अपवादस्वरूप ही मिलता है और वह भी विकृत रूपों में जैसे—छल करत कछू^{३६}। औकारांत रूप सभा के 'सूरसागर' में औकारांत बना दिये गये हैं। अनुस्वारांत रूपों की संख्या सूर-काव्य में बहुत कम है। इस प्रकार रूपांतर की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त विशेषणों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. मुख्य रूप, ख. गीण रूप और ग. अनुस्वारांत रूप।

क. मुख्य रूप—अकारांत और औकारांत, दो प्रकार के रूप इस वर्ग में आते हैं। द्वितीय रूप व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप होने के कारण सूर-काव्य में प्रथम से कुछ अधिक हैं; फिर भी अकारांत रूपों की संख्या कम नहीं कही जा सकती। कुछ अकारांत रूप अवधी की प्रकृति के अनुरूप भी हैं।

अ. अकारांत विशेषण—पट कुचैल^{३७}। ऊँच पदवी^{३८}। थूल (स्यूल) सरीर^{३९}। तन दूवर^{४०}। तन छनभंगुर, जीव थिर^{४१}। गुरु समरथ^{४२}। सुर-असुर मथत भए छीन^{४३}। नगन नहि होवहु^{४४}। वड़ कुल^{४५}। हों कुचील^{४६}। तोतर बोल^{४७}। बलभद्र धूत^{४८}। नद के सुत नान्ह^{४९}। अकथ कहानी^{५०}। पीन कुचनि^{५१}। बिधु की छवि गोर^{५२}। रसाल बानी^{५३}। बेसरि-मुक्ता रूर^{५४}। बिरह-बिया घोर^{५५} आदि।

आ. औकारांत विशेषण—ओगुन भरि लियो भारौ^{५६}। नीर जु छिलछिलौ^{५७}।

३६. सा. ७-२।

३७. सा. १-७।

३८. सा. १-२४।

३९. सा. ५-३।

४०. सा. ५-४।

४१. सा. ६-६।

४२. सा. ८-८।

४३. सा. ९-२।

४४. सा. ९-४४।

४५. सा. ९-९१। ४६. सा. १०-१००। ४७. सा. १०-२१५। ४८. सा. ६१०।

४९. सा. ८९८। ५०. सा. २१७४। ५१. सा. २४६७। ५२. सा. २६०८।

५३. सा. २६६८। ५४. सा. ३२९४। ५५. सा. १-२१८। ५६. सा. १-३३८।

चित तो सोई सोचौ^{५०} । जो हरि भजै पियारौ सोई^{५१} । हूँ रह्यो
खीनौ^{५२} । नीकी मत्र^{५३} । बड़ौ नगर^{५४} । कस्यो वचन^{५५} । बदन
उजारौ^{५६} । कान्ह बड़ेरौ^{५७} । अग कारौ^{५८} । सबध पाछिलौ^{५९} । उकार
पर्यौ । सयानौ काज^{६०} । तब ससि सीरौ, अब तातौ^{६१} । जोग जल खारौ
“ हल भारौ...अहि कारौ^{६२} । सरबत हरत पर्यौ^{६३} । दोस पृथी को
हरुअौ^{६४} आदि ।

ख गौण रूप—इन वर्ग में दोष स्वरो में से आ, इ, ई, उ, ए और ऐ से
बन होनेवाले रूप आते हैं । इकारांत और उकारांत रूप स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ
अधिक प्रयुक्त हुए हैं, पुल्लिंग के साथ कम । एकारांत रूप बहुवचन अथवा विभक्तिपुरुष
विशेष्यों के साथ अधिक आये हैं, सामान्य विशेष्यों के साथ कम । ऐकारांत रूप
अधिकांश में अकारांत विशेषणों के ही रूपांतर है । इन सबके कुछ उदाहरण यहाँ
संकलित हैं—

अ आकारांत विशेषण—कस महा खल^{७२} । मधुपुरि नगर रसाला^{७३} । इनके
गुन अगमैया^{७४} । घूँट साता^{७५} । नैन बिसाला^{७६} । मेटे बिघन घना^{७७} ।
उत स्वामा नवजौनना^{७८} ।

आ, इकारांत विशेषण—पुल्लिंग विशेष्यों के साथ इनका प्रयोग कम, परंतु
स्त्रीलिंग के साथ अधिक किया गया है, जैसे—

स, पुल्लिंग विशेष्यों के साथ—जानसिरोमनि राय^{७९} । महर है बड़ी-
भागि^{८०} ।

व, स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ—नागरि नारि^{८१} । परदेसिन नारि^{८२} । हो
सीठा कुतच्छनि^{८३} । बड़भागिनि नंदरानी^{८४} । हितकारिनि मया^{८५} ।
महरि बड़ीअभागि^{८६} । लखति सोभा भारि^{८७} । वह (दुरली)
घृतिनि^{८८} ।

इ ईकारांत विशेषण—इनका प्रयोग भी पुल्लिंग और स्त्रीलिंग, दोनों विशेष्यों

५७ सा. २-७ ।	५८. सा. ७-२ ।	५९. सा. ८-१० ।	६०. सा. ९-९८ ।
६१. सा. ९-९९ ।	६२. सा. ९-१०४ ।	६३. सा. १०-४ ।	६४. सा. १-२१६ ।
६५. सा. ५७७ ।	६६. सा. १२७२ ।	६७. सा. ३३४१ ।	६८. सा. ३७३७ ।
६९ सा. ३७४२ ।	७०. सा. ३७५६ ।	७१. सा. ४३०९ ।	
७२. सा. १-१७ ।	७३. सा. १०-४ ।	७४. सा. ४२८ ।	७५. सा. ४४० ।
७६. सा. ६२५ ।	७७. सा. ३००८ ।	७८. सा. २८६७ ।	७९. सा. १-८ ।
८०. सा. ३८७ ।	८१. सा. १-३०९ ।	८२. सा. ९-९४ ।	
८३. सा. ९-९१ ।	८४. सा. १०-५३ ।	८५. सा. १०-११६ ।	
८६. सा. ३८७ ।	८७. सा. ८२९ ।	८८. सा. १२८९ ।	

के साथ हुआ है। प्रथम अर्थात् पुल्लिंग विशेष्यों के साथ ईकारांत विशेषणों का प्रयोग करते समय कवि ने यद्यपि किसी प्रकार से संकोच नहीं किया, तथापि स्त्रीलिंग की अपेक्षा इनके पुल्लिंग विशेष्यों की संख्या कम ही है; जैसे—

क. पुल्लिंग विशेष्यों के साथ—जनहित हरि बहुरंगी^{११} । कियो बिभीषन राजा भारी^{१०} । दोउ बेल बली^{११} । भौरा भोगी^{१२} । सुर अति छमी, असुर अति कोही^{१३} । बालि बली^{१४} । यह रूप नवाई^{१५} । कृष्ण विनानी^{१६} । नीर सुची^{१७} । नैना ऐसे हैं विसयासी^{१८} ।

ख. स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ—मति फाँची^{१९} । समर आँच ताती^{२०} । टेढ़ी चाल, पाग मिर टेढ़ी^{२१} । नई रुचि नई पहिचानि^{२२} । सृष्टि तामसी^{२३} । दृष्टि तरौंधी^{२४} । नीकी तान^{२५} । जसुमति दड़भागिनी^{२६} । मधुरी बानी^{२७} । मति खोटी^{२८} । आज़ी उजियरिया^{२९} । ग्वालि सयानी^{३०} । ग्वालि गरबीली^{३१} । निरदई अहीरी^{३२} । निरमोही बाम^{३३} । नासा अति लोनी^{३४} । सुमनसा भई पोंगुरी^{३५} । पीर परारी^{३६} आदि । परन्तु स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ केवल इकारांत अथवा ईकारांत विशेषण ही प्रयुक्त हुए हों, सो बात भी नहीं है । अकारांत और औकारांत—इन दो मुख्य विशेषण रूपों में से द्वितीय का प्रयोग तो स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ नहीं के बराबर ही हुआ है, परन्तु सरल अकारांत रूप अनेक पदों में मिलते हैं; जैसे—सुंदर नारी^{३७} । फल बानी^{३८} । कृपार्थत कौसिल्या^{३९} । ऊँचनीच जुवती^{४०} । नवल सुदरी आई^{४१} । रसिः ग्वालिनी^{४२} आदि ।

ई. उकारांत विशेषण—दुख-सिंघु अथाहु^{४३} । कटु बानी^{४४} । लघु प्रानी^{४५} ।

उ. एकारांत विशेषण—इस वर्ग के विशेषण प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त हुए हैं—

क. एकवचन आदरार्थ रूप । ख. बहुवचन सामान्य रूप । ग. विभक्तियुक्त विशेष्यों के साथ प्रयुक्त रूप, यद्यपि कहीं-कहीं एकवचन सामान्य विशेष्यों के

८९. सा. १-२१ ।	९०. सा. १-३४ ।	९१. सा. १-१८५ ।
९२. सा. १-३२५ ।	९३. सा. ३-९ ।	९४. सा. ९-११४ ।
९५. सा. १०-५७ ।	९६. सा. ५६१ ।	९७. सा. २२७५ ।
९८. सा. १-३३ ।	९९. सा. १-३०१ ।	१००. सा. १-३२५ ।
१०१. सा. १-७९ ।	१०२. सा. १०-९६ ।	१०३. सा. १०-११२ ।
१०४. सा. १०-१३४ ।	१०५. सा. १०-१६३ ।	१०६. सा. १०-२४६ ।
१०७. सा. १०-२८१ ।	१०८. सा. १०-२८१ ।	१०९. सा. १०-२९९ ।
११०. सा. ३४८ ।	१११. सा. ३६७ ।	११२. सा. १११५ ।
११३. सा. १५२१ ।	११४. सा. १५२१ ।	११५. सा. १५२१ ।
११६. सा. २३४५ ।	११७. सा. ३-१३ ।	११८. सा. ९-६३ ।
११९. सा. १-८१ ।	१२०. सा. १-८१ ।	१२१. सा. १-८१ ।
१२२. सा. १०-२०६ ।	१२३. सा. १०-३२१ ।	१२४. सा. १०-३२१ ।
१२५. सा. १०-३२१ ।	१२६. सा. १०-३२१ ।	१२७. सा. १०-३२१ ।

साथ भी इनका प्रयोग मिलता है; जैसे—घोरे मन रहन बटल हरि जान्यो^{३०} । मूठे भरम भुलानी^{३८} । घोरे कापरा^{३९} ।

स. एङ्गवचन आदरार्थ रूप—बड़े भूप दरसन^{३०} । गोरे नंद^{३१} ।

व. बहुवचन सामान्य रूप—भिल्लिनि के फल^{३२} । खाटे-मीठे-खारे^{३३} । खाटे फल तजि मीठे खार्द, जूँठे भए^{३३} । कौतुक भारे^{३४} । मधुरे बँन^{३५} । बचन तोतरे^{३६} । भँहूले बार^{३७} । दांत वे आछे^{३८} । व्यजन खाटे-मीठे-खारे^{३९} । उनीदे नैन^{४०} । ये नैन भए गरवीले^{४१} । (नैना) भए पराए^{४२} । भए अग सिधिले^{४३} । अटपटे बँन पिथ रसमसे नैन^{४४} आदि ।

श. विभक्तियुक्त विशेष्यो के साथ प्रयुक्त रूप—मीठे फल की रस^{४५} । गाढ़े दित के भीत^{४६} । नर यपुरे को^{४७} । मूठे नाते जगत के^{४८} । बड़े बाप के पूत^{४९} ।

ळ. ऐकारांत विशेषण—धुवहि अभै पद दियो^{५०} । अनद अतिसै^{५१} ।

ग. अनुस्वारांत रूप—इस प्रकार के रूपों की संख्या अधिक नहीं है । अपवाद-स्वरूप प्राप्त कुछ विशेषण शब्द यहाँ दिये जाते हैं—

अ. ओकारांत विशेषण—भीहैं बाट-मटीलियाँ^{५२} । या ब्रज के सब लोग चिह्न-नियाँ^{५३} ।

आ. ऐकारांत विशेषण—आएँ कर बाजि-बाग^{५४} ।

इ. ऐकारांत विशेषण—नैन लजौहें^{५५} ।

२. विशेषण का रूप-निर्माण—

व्रजभाषा में प्रचलित अनेक विशेषण शब्द संस्कृत भाषा के सरल विशेषणों के आधार पर बने उनके अर्द्धतत्त्वम और तद्भव रूप हैं । अन्य कवियों के समान सूरदास ने भी इनको अपनाने में कभी संकोच नहीं किया । साथ ही, कुछ स्वतंत्र रूपों का निर्माण करके उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया । इस प्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्दों को, स्थूल रूप से, छह वर्गों में रखा जा सकता है—क. सज्ञाभूलक, ख.

२७. सा. १-३१९ ।	२८. सा. १-३२९ ।	२९. सा. १०-४० ।
३०. सा. ९-४४ ।	३१. सा. १०-२१५ ।	३२. सा. १-२५ ।
३३. सा. ९-६७ ।	३४. सा. १०-४६ ।	३५. सा. १०-१०३ ।
३६. सा. १०-११७ ।	३७. सा. १०-१५१ ।	३८. सा. १०-२२२ ।
३९. सा. १०-२९६ ।	४०. सा. ७५२ ।	४१. सा. २२३५ ।
४२. सा. २३९० ।	४३. सा. २१८१ ।	४४. सा. ३६३४ ।
४५. सा. १-२ ।	४६. सा. १-३१ ।	४७. सा. १-२९ ।
४८. सा. २-२९ ।	४९. सा. १०-३१९ ।	५०. सा. १-२८ ।
५१. सा. १०-२६ ।	५२. सा. १६६४ ।	५३. सा. १६६४ ।
५४. सा. १-२३ ।	५५. सा. १९९४ ।	

विशेषणमूलक, ग. कृदन्तमूलक, विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पद, ङ. स्वनिर्मित विशेषण और च. अन्य विशेषण । इनके अतिरिक्त सर्वनाममूलक विशेषण भी होते हैं जिनकी चर्चा 'वर्गीकरण' शीर्षक के अंतर्गत की जायगी । यहाँ उनका विवरण इसलिए अनावश्यक है कि वे तो मूलरूप में ही विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं जिससे उनके रूप-निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता ।

क. संज्ञामूलक विशेषण—इस वर्ग के विशेषणों के निर्माण में सूरदास ने अधिकतर संस्कृत नियमों का सहारा लिया है । प्रमुख नियम और उनके दो-एक उदाहरण इस प्रकार हैं ।

अ. संज्ञा शब्द के अंत में 'आल' या 'आलु' जोड़कर—कृपालु प्रभु^{५६} । हँसे दयालु मुरारी^{५७} ।

आ. संज्ञा शब्द के अंत में 'आरी' (स्त्रीलिंग) जोड़कर—सुर भए सुखारी^{५८} ।

इ. संज्ञा शब्द के अंत में 'इत' जोड़कर—कुमुभित्त धर्म-कर्म की मारण^{५९} । दुखित गयंद^{६०} ।

ई. संज्ञा शब्द के अंत में 'ई' जोड़कर—इस प्रकार के रूपों की संख्या बहुत अधिक है; जैसे हठी प्रह्लाद^{६१} । छरीदार बैराग विनोदी^{६२} । अजामिल विषयी^{६३} । विषय जाप की जापी^{६४} । कटुक बचन आलापी^{६५} । सब पति-तनि में नामी^{६६} । मानुगी तन^{६७} । ये हैं अपने काजी^{६८} ।

उ. संज्ञा शब्दों के अंत में 'औहो' स्त्रीलिंग जोड़कर—वतियाँ तुतरौहो^{६९} ।

ऊ. संज्ञा शब्द के अंत में 'औहैं' (पुल्लिंग, बहु०) जोड़कर—नैन लजैंहैं^{७०} ।

ए. संज्ञा शब्द के अंत में 'क' जोड़कर—उर मंडल निरमोलक हार^{७१} । घातक रीति^{७२} ।

ऐ. संज्ञा शब्द के अंत में 'द' जोड़कर—बसीबट अति सुखद^{७३} । सुखद धाम^{७४} ।

ओ. संज्ञा शब्द के अंत में 'र' जोड़कर—मधुर मूर्ति^{७५} । रुचिर सेज^{७६} ।

इन मुख्य नियमों के अतिरिक्त भी सूरदास द्वारा संज्ञामूलक विशेषणों के रूप-निर्माण के कुछ सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं; जैसे—संज्ञा के पूर्व 'स' और अंत में 'ऐ'—तुम हो परम सभागै^{७७}—जोड़कर विशेषण-रूप बनाना ।

५६. सा. ९-६५ । सा. ५७. ७९९ । ५८. सा. ७-२ । ५९. सा. १-९३ ।

६०. सा. १-१५८ । ६१. सा. १-५ । ६२. सा. १-४० । ६३. सा. १-१०४ ।

६४. सा. १-१४० । ६५. सा. १-१४० । ६६. सा. १-१४८ । ६७. सा. १-३१५ ।

६८. सा. २२५७ । ६९. सा. १०-२९४ । ७०. सा. १०-२९४ । ७१. सा. १-४१ ।

७२. सा. १-९८ । ७३. सा. ४३७ । ७४. सा. ६१९ ।

७५. सा. ९-८२ । ७६. सा. १०-७३ । ७७. सा. १०-४१ ।

ख. विशेषणमूलक विशेषण—इस वर्ग के अतमंत वे विशेषण आते हैं जिनका निर्माण विशेषण शब्दों के अंत में कोई अक्षर जोड़ कर किया गया है, इस प्रकार के शब्दों की संख्या मूल-काव्य में अधिक नहीं है, जैसे—

अ. 'स्याम' विशेषण में 'ल' जोड़कर—स्यामल तन^{७८} । स्यामल अंग^{७९} ।

आ. 'रौ' जोड़कर—स्यामरौ सुंदर कान्ह^{८०} ।

इ. 'नन्हा' विशेषण के विवृत रूप में 'ऐया' जोड़कर—दोऊ रहै नन्हैया^{८१} ।

ग. कृदंतमूलक विशेषण—इस वर्ग के विशेषण मुख्य रूप से दो प्रकार से बनावे गये हैं—क्ष. धातु से और न. क्रियार्थक संज्ञा से । दोनों प्रकार के विशेषण-रूपों का प्रयोग कम ही किया गया है ।

क. धातु से बने विशेषण—इस वर्ग में वे विशेषण आते हैं जो धातु के अन्त में मुख्यतः निम्नलिखित अक्षरों या पदों को जोड़ कर बनावे गये हैं—

अ. धातु + क—हरि प्रेम-प्रीति के लाहक, सत्य प्रीति के चाहक^{८२} । दाहक गुन^{८३} ।

आ. धातु + नि (स्त्रीलिंग)—मोहनि मूरत^{८४} ।

इ. धातु + नी—अति मोहिनी रूप^{८५} । मूरनि दुख-भय-हरनी^{८६} ।

ई. धातु + वारे—बहु जोधा रसमारे^{८७} ।

ख. क्रियार्थक संज्ञा से बने विशेषण—ऐसे रूप प्रायः 'नांत' रूपवाले क्रियार्थक संज्ञा शब्दों के अंत में निम्नलिखित जोड़ कर बनावे गये हैं—

अ. क्रियार्थक संज्ञा + हार—खेचनहार न खेचट मेरै^{८८} । करनहार करतार^{८९} । रासनहार अहं कोउ औरै^{९०} । को है मेहनहार^{९१} ।

आ. क्रियार्थक संज्ञा + हारि (स्त्रीलिंग)—मथनहारि सब ग्वारि बुलाई^{९२} । बदरीना निलोचनहारि .^{९३} ।

इ. क्रियार्थक संज्ञा + हार—गोपनि को सागर... कान्ह निलोचनहार^{९४} ।

ई. क्रियार्थक संज्ञा + हारे—अति कुबुद्धि मन हारनहारै^{९५} ।

घ. विशेषणयुक्त प्रयुक्त सामासिक पद—इस वर्ग में आनेवाले विशेषण-रूपों की संख्या मूल-काव्य में इतनी अधिक है कि उन सबके नियम बनावना आनावश्यक ही होगा । अतएव दो-चार प्रमुख नियम देकर शेष में से कुछ चुने हुए उदाहरण देना ही

७८. सा. १०-२७५ । ७९. सा. ६३३ । ८०. सा. ६२९ । ८१. सा. ५१३ ।

८२. सा. १-१९ । ८३. सा. १-१६३ । ८४. सा. १०-२१० । ८५. सा. १०-५१ ।

८६. सा. ९-१०१ । ८७. सा. ९-१०५ । ८८. सा. १-१८४ । ८९. सा. १-२६१ ।

९०. सा. ७-३ । ९१. सा. ९-१२१ । ९२. सा. ५२० ।

९३. सा. ८४१ । ९४. सा. ८४१ । ९५. सा. १-१८५ ।

पर्याप्त होगा। ऐसे शब्द मुख्य रूप से संज्ञा-शब्दों के अंत में दूसरे पद जोड़कर बनाये गये हैं।

- व. संज्ञा + 'कारि' या 'कारी'—अनुचर आज्ञाकारी^{१६}। मेखला रुचिकारि^{१७}।
 आ. संज्ञा + दार्द्र्य—सबू होई दुखदार्द्र्य^{१८}। तुम सुखदार्द्र्य^{१९}। प्रीति बस जमलतरु मोच्छदार्द्र्य^{२०}।
 इ. संज्ञा + दात—पर-दारा दुखदात^{२१}।
 ई. संज्ञा + दाता—हरीचंद सो को जगदाता^{२२}। करम होइ दुखदाता^{२३}। तुम्ही को दूँडदाता मानत^{२४}।
 उ. संज्ञा + दातार—कहियत इतने दुखदातार^{२५}।
 ऊ. संज्ञा + दायक—द्वितीया दुखदायक नहि कोइ^{२६}। जे पद ब्रज-जुवतिनि मुखदायक^{२७}।
 ऋ. संज्ञा + मय—स्वामी करुणामय^{२८}। कनकमय आंगन^{२९}। मनिमय कनक अवास^{३०}। करौ रुधिरमय पंक^{३१}।
 ए. संज्ञा + मयी (स्त्रीलिंग)—करुणामयी मातु^{३२}।
 ऐ. संज्ञा + वंत—प्रभु कृपावंत^{३३}। वेनु नृप भयी बलवंत^{३४}। क्रोधवंत ऋषि^{३५}। तृपावंत सुरभी-बालकगन^{३६}।
 ओ. संज्ञा + वती—गर्भवती हिरनी^{३७}।
 औ. संज्ञा + हीन—पांडुबधू पटहीन^{३८}। फिरत-फिरत बलहीन भयो^{३९}।
 अं. संज्ञा + धातु + क—हरि संचि प्रीति-निवाहक^{४०}। जीव साधु-निदक^{४१}। हरि सुर-पालक असुरन-उर-सालक^{४२}।
 अः. अन्य रूप—विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पदों के जैसे उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, वैसे ही कुछ अन्य प्रयोग यहाँ और संकलित किये जाते हैं। इनके नियम देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती; जैसे—ऐसे प्रभु पर पीरक^{४३}। जीव लंपट^{४४}। रावन कुलखोवन^{४५}। रनजीत पवनधुत^{४६}। विपति-वटावन

१६. सा. १-१६३।	१७. सा. ६३४।	१८. सा. १-२९०।
१९. सा. ९-७।	१. सा. २०१८।	२. सा. २-२४।
३. सा. १-२६४।	४. सा. १-२९०।	५. सा. ६-४।
७. सा. १-२९०।	८. सा. ५६८।	६. सा. १-२९०।
११. सा. ९-८२।	१२. सा. ९-१३४।	१०. सा. ९-१९।
१५. सा. ४-११।	१३. सा. ४-१०।	१४. सा. १-१७८।
१९. सा. १-११८।	१६. सा. ९-१४।	१७. सा. ५०१।
२०. सा. ९-६।	१८. सा. १-११९।	१९. सा. ५-३।
२३. सा. ३६३।	२१. सा. १-११२।	२०. सा. १-१२४।
२४. सा. ९-११५।	२२. सा. १-१२४।	२१. सा. ९-८८।

बीर^{३८} । रतनजटित पहुँची^{३९} । कामातुर नारी^{४०} ।

ड. स्वनिर्मित विशेषण—इस वर्ग में सूरदास के वे विशेषण आते हैं जिनका निर्माण संभवतः कवि ने ही किया है। इनकी मुख्य विशेषता स्पष्टता है जिसके कारण ऐसे प्रयोगों के मूल रूप का पता तो सुगमता से चल ही जाता है, इससे वे इतने अलग भी नहीं जान पड़ते कि अर्थ-बोध के लिए पूरे वाक्य या प्रसंग के जानने की आवश्यकता हो। अतएव ऐसे विशेषण प्रचलित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'दिन', 'दूज', 'विष' और 'निमोल' से बने निम्नलिखित प्रयोग प्रस्तुत किये जा सकते हैं—भली बुद्धि तेरे जिय उदजी । ज्यों ज्यों दिनी भई त्यों निपजी^{४१} । द्वेज ससि^{४२} । मुख द्विपारी^{४३} । तारत तू निरमोली रो^{४४} ।

च. अन्य विशेषण—इस वर्ग में वे शब्द आते हैं जिनका प्रयोग तो विशेषण के समान ही किया गया है, परंतु जिनके निर्माण में उक्त शीर्षकों के अंतर्गत दिये गये नियमों का स्पष्ट रूप से सहारा नहीं लिया गया है, यद्यपि प्रयत्न करने पर इनके स्वतंत्र नियम बनाये अवश्य जा सकते हैं। इनमें से कुछ प्रयोग गढ़े गये हैं और कुछ विकृत किये गये हैं। ऐसे विशेषणों को कवि के 'विशेष प्रयोग' कहा जा सकता है; जैसे—हम ग्वालिनि जुठहारे^{४५} । सुन्दर मुरली अधर उपाम^{४६} । राधा हरि कै गर्व गहीली^{४७} । अग अग मुख-मुज भरीली^{४८} । सौतिनि भाग-सुहाग डहीली^{४९} । स्याम-रग अजराइल रंहे^{५०} । का छविमें भई लिना^{५१} । झुरि झुरि कै ह्वं रही छिना^{५२} । बड़ी पेट की गैसी हो^{५३} । निसि भई अगोह^{५४} । सूर ... निरामी^{५५} । लूटन रूप अमृष्ट दाम को^{५६} । गति लंगी^{५७} । लोचन अतिहि अहीठ^{५८} । रूप मन्नामक झुरि^{५९} । तुम निठुरई पूमे हो^{६०} । करत उपरफट वारत^{६१} ।

३. विशेषण का वर्गीकरण—

विशेषणों के मुख्य तीन भेद किये जा सकते हैं—१. सार्वनामिक, २. गुणवाचक, और ३. सत्त्वावाचक। सूरदास ने इनमें से प्रथम का प्रयोग तो कम किया है, शेष दोनों रूपों के अन्तर्गत आनेवाले विशेषणों की संख्या बहुत अधिक है।

क. सार्वनामिक विशेषण—विभिन्न सर्वनाम-भेदों में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, कभी-कभी उनका प्रयोग विशेषणों के समान भी किया जाता है। 'सार्वनामिक विशेषण' शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे ही प्रयोग आते हैं। सूर-काव्य में भी अनेक सर्वनाम-शब्द विशेषणवत् प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

२८. सा. ९-१४५	२९ सा ६४१	३०. सा. ७९९ ।
३१. सा. ३९१ ।	३२. सा. १०-१३९ ।	३३. सा. ५७७ ।
३४. सा. १-२४२ ।	३५. सा. १८२५ ।	३६. सा. १७७२ ।
३७. सा. १७७२ ।	४०. सा. १९१२ ।	४१. सा. १९१५ ।
४२. सा. १९१५ ।	४३. सा. २२५२ ।	४४. सा. २२६६ ।
४५. सा. १-२१ ।	४६. सा. २२८७ ।	४७. सा. २६६८ ।
४८. सा. ६८१ ।	४९. सा. २६६८ ।	५०. सा. २६९१ ।
		५१. सा. २६९१ ।

- अ. पुरुषवाचक रूप—सो क्या^{५३} । तिहिं ग्वालनि के घर^{५३} । वह मुख^{५४} ।
 आ. संबंधवाचक रूप—जा चरनाबिद^{५५} । जिते जन^{५६} । जिहिं सर^{५७} । जेतक
 अस्त्र^{५८} । जेतिक सैल-सुमेरु^{५९} । बोल जितिक^{६०} । जे पद^{६१} । जितो कृपा^{६२} ।
 इ. नित्यसंबंधी रूप—जिहिं सर^{६३} सो सर^{६३} । ता बन^{६४} जा बन^{६४} । सोई
 रसना जो हरि गुन गाव^{६५} । कर तेई जे स्यामहि सेव^{६६} । जिहिं तन...सो
 तन^{६७} । जे पद^{६८} ते पद^{६८} ।
 ई. निश्चयवाचक : निकटवर्ती रूप—या ब्रज के^{६९} । एहि घर^{७०} । ये
 बालक^{७१} । यह सताप^{७२} । इन लोगनि^{७३} । इहि लोक^{७४} । गुन एह^{७५} ।
 इस ठोर^{७६} ।
 उ. निश्चयवाचक : दूरवर्ती रूप—वा निधि^{७७} ।
 ऊ. अनिश्चयवाचक रूप—यह गति काहु देव न पाई^{७८} । आन पुरुष^{७९} आन
 देव^{८०} । उपमा अपर^{८१} । औरी सखा^{८२} । काहु सुत^{८३} । और जुवति सब
 आई^{८४} । असुर किते संहरे^{८५} । केती माँग करी किन कोई^{८६} ।
 ए. प्रश्नवाचक रूप—कौन कारण सर^{८७} । पढ़े कहा बिद्या^{८८} । कौन पुरुष^{८९} ।
 कवन मति^{९०} । केतिक अमृत^{९१} ।

उक्त प्रमुख रूपों के अतिरिक्त कही-कही दो-दो सार्वनामिक रूपों का प्रयोग भी कवि
 ने किया है; जैसे—प्रश्नवाचक और निश्चयवाचक : निकटवर्ती का साथ-साथ प्रयोग—
 कौन यह काम^{९२} ।

२. गुणवाचक विशेषण—सूर-काव्य में प्रयुक्त गुणवाचक विशेषणों की संख्या
 सबसे अधिक है । इनके मुख्य भेद और उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

अ. कालवाचक—पछिले कर्म^{९३} । तन छनभंगुर^{९४} । पुरातन दास^{९५} ।

५२. सा. ७-७ ।	५३. सा. १०-२६५ ।	५४. सा. ९-३४ ।
५६. सा. १०-६४ ।	५६. सा. १-२५ ।	५७. सा. १-३३७ ।
५९. सा. ९-१०७ ।	६०. सा. ९-१०७ ।	६१. सा. ५६८ ।
६३. सा. १-३३७ ।	६४. सा. १-३४० ।	६५. सा. २-६ ।
६७. सा. २-१६ ।	६८. सा. ५६८ ।	६९. सा. १६६४ ।
७१. सा. १-२८९ ।	७२. सा. १-२९० ।	७३. सा. २-१३ ।
७५. सा. ७-२ ।	७६. सा. ८-१० ।	७७. सा. २-११ ।
७९. सा. २-९ ।	८०. सा. १०-१०२ ।	८१. सा. १०-२९६ ।
८३. सा. ३९१ ।	८४. सा. ७-२ ।	८५. सा. ९०८ ।
८७. सा. ७-२ ।	८८. सा. ९-२ ।	८९. सा. ९-११७ ।
९१. सा. ८-१० ।	९२. सा. १-६१ ।	९३. सा. १-८४ ।
		९४. सा. १-१३३ ।

पूरवली पहिचान^{१५} । अटल पदवी^{१६} । आगिलौ जन्म^{१७} । नयौ नेह^{१८} ।
आदि जोतिषी^{१९} । पहिले दाग^२ ।

वा. स्थानवाचक—बंजर भूमि^३ । भुज दृष्टि^४ । ग्राम कर^५ । परली दिशि^६ ।

इ. आकारवाचक—बड़ी है राम-नाम की ओट^७ । टूटी छानि^८ । बाहु
मिसाल^९ । छीन तन^{१०} । थूल सरीर^{११} । तन स्थूल अरु दूबर^{१२} । मनोहर
बाना^{१३} । बड़े नग-हीर^{१४} । अगम सरीर^{१५} । पूरन सति^{१६} ।

ई. रंगसूचक—नील खुर अरु अरुन लोचन सेत सींग सुहाइ^{१७} । यती चूनरी,
सेत उपरना कटि लहंगा नीली^{१८} । सेत, हरी, यती अरु पियरी
रंग^{१९} । पीत पटोल^{२०} । स्याम चिकुर^{२१} । काली कामरि^{२२} । हस्त उज्जल^{२३} ।
नैन अरुन^{२४} । लाल पनहिया^{२५} । गौर वदन^{२६} । स्वेत छत्र^{२७} । हरी
हार^{२८} । सोवरी ललना^{२९} । पियरी पिछोरी^{३०} । नैन अति रत्नारे^{३१} ।
काजरी धौरी गैयनि^{३२} । पीरे पान^{३३} । कजरी, धौरी, सेंदुरी, धूमरि
मेरी गैया^{३४} ।

उ. दशा या स्थितिसूचक—अंध कूप^{३५} । पसू अचेत^{३६} । पूरी व्योपारी^{३७} ।
रंक सुदामा कियो^{३८} अजाची । हृदय कुचील^{३९} । वीर निर्भीर^{४०} । मिरतक
वच^{४१} ।

ऊ. गुणसूचक—सुभाव सीतल^{४२} । समरथ जदुराई^{४३} । वचन रमाल^{४४} । सत
सुजान^{४५} । गद्गद स्वर^{४६} । सुख मियरे^{४७} । रतन अमोलक^{४८} । खजन
मनरंजन^{४९} । सुर अति छमी^{५०} । सुगम उपाय^{५१} ।

१५. सा. १-१३५ ।	१६. सा. १-२३५ ।	१७. सा. १-२९७ ।	१८. सा. २-१७ ।
१९. सा. १०-८६ ।	१ सा. ६५८ ।	२ सा. १-१८५ ।	३. सा. ४-११ ।
४. सा. ८-८ ।	५ सा. ९-१०४ ।	६ सा. १-२३२ ।	७ सा. १-२३९ ।
८. सा. १-२७३ ।	९. सा. १-३२० ।	१० सा. ५-३ ।	
११. सा. ५-४ ।	१२. सा. ६-६ ।	१३ सा. ९-१६ ।	
१४. सा. ९-८६ ।	१५. सा. ९-१६६ ।	१६. सा. १-५६ ।	१७. सा. १-४४ ।
१८. सा. १-६३ ।	१९. सा. १-२५६ ।	२०. सा. १-३२२ ।	२१. सा. १-३३२ ।
२२. सा. १-३३८ ।	२३ सा. ७-४ ।	२४. सा. ९-१९ ।	२५ सा. ९-४४ ।
२६. सा. ९-८२ ।	२७ सा. ९-१६२ ।	२८. सा. १०-५४ ।	२९. सा. १०-१५१ ।
३० सा. १०-१६० ।	३१ सा. १०-१७७ ।	३२ सा. ५-१४ ।	३३. सा. ६६६ ।
३४. सा. १-८४ ।	३५. सा. १-१२५ ।	३६. सा. ९-१४६ ।	३७. सा. १-१६४ ।
३८ सा. १-२१६ ।	३९ सा. १-२६९ ।	४०. सा. ९-१७३ ।	४१. सा. १-११७ ।
४२. सा. १-१७५ ।	४३ सा. १-२२६ ।	४४. सा. १-२३५ ।	४५ सा. १-२५५ ।
४६. सा. १-३०२ ।	४७. सा. १-३२४ ।	४८. सा. १-३३९ ।	४९. सा. ३-९ ।
५०. सा. ३-१३ ।			

ए. अवगुणसूचक—(गाय) ढीठ, निठुर^{५१} । मन मूरख^{५२} । उतटि जाल^{५३} ।
सस्तौ नाम^{५४} । दुख तातौ^{५५} । मृष्टि तामसी^{५६} । असुर अति कोही^{५७} ।
असुन अजितेंद्रि^{५८} । कटु बचन^{५९} । सरितापति खारौ^{६०} । करुवी
वचन^{६१} ।

ऐ. अवस्थासूचक—बृद्ध रिपीस्वर^{६२} । विरध पुरुष^{६३} । नान्हरिया गोपाल^{६४} ।

३. संख्यावाचक विशेषण—इस वर्ग के विशेषणों की संख्या सूर-काव्य में सार्वना-
मिको से कम, परन्तु गुणवाचको से अधिक है । सुविधा के लिए संख्यावाचक विशेषणों
के तीन भेद किये जा सकते हैं—क. निश्चित संख्यावाचक, ख. अनिश्चित संख्यावाचक
और ग. परिमाणबोधक ।

क. निश्चित संख्यावाचक विशेषण—संख्यावाचक विशेषणों के तीनों भेदों में
निश्चित संख्यावाचको की संख्या सबसे अधिक है । सुविधा के लिए इनके पांच भेद
किये जा सकते हैं—अ. गणनावाचक, आ. क्रमवाचक, इ. आवृत्तिवाचक, ई. समुदाय-
वाचक और उ. प्रत्येकबोधक ।

अ. गणनावाचक—इस वर्ग के विशेषणों के पुनः दो भेद हो सकते हैं—क्ष. पूर्णांक-
बोधक और ञ. अपूर्णांकबोधक ।

क्ष. पूर्णांकबोधक—इक गाइ^{६५} । एक मुहुरति^{६६} । उभय दुज^{६७} । दोउ सुत^{६८} ।
दोऊ सुत^{६९} । द्वै रंग^{७०} । दोइ मुहुरति^{७१} । नैना दोई^{७२} । नान्ही
नान्ही दैतुली द्वै पर^{७३} । संग सहचरि बिये^{७४} । बिवि चंद्रमा^{७५} । जुगल
खंजन^{७६} । तीनि पैड^{७७} । लोक त्रय^{७८} । दिवस चारि^{७९} । सुत चारि^{८०} ।
पाडव पाँच^{८१} । पट मास^{८२} । सात पीढिनि को^{८३} । रिपय सप्त^{८४} । अष्ट
सिद्धि नव निधि^{८५} । दस दिसि^{८६} । द्वादस कन्या^{८७} । भुवन चौदह^{८८} ।
कहा पुरान जु पढ़े अठारह^{८९} । बीस भुजा^{९०} । कुल इमीस^{९१} । इकइस
बार^{९२} । सुर दैतीस^{९३} । पचास पुत्री^{९४} । चउवन कोस^{९५} । साठि

५१. सा. १-५६ ।	५२. सा. १-७६ ।	५३. सा. १-१२७ ।
५४. सा. १-१९१ ।	५५. सा. १-३०२ ।	५६. सा. ३-७ ।
५७. सा. ३-९ ।	५८. सा. ९-२ ।	५९. सा. ९-३६ ।
६०. सा. ९-१०४ ।	६१. सा. ९-३ ।	६२. सा. ९-८ ।
६३. सा. १०-७५ ।	६४. सा. १-५१ ।	६५. सा. १-३४३ ।
६६. सा. १०-१६१ ।	६७. सा. १-२६ ।	६८. सा. १०-१५७ ।
६९. सा. १०-७० ।	७०. सा. १-३४३ ।	७१. सा. २३४५ ।
७२. सा. १०-९२ ।	७३. सा. २६१४ ।	७४. सा. १०-१४१ ।
७५. सा. १०-२२५ ।	७६. सा. ५-१३ ।	७७. सा. ४८७ ।
७८. सा. १-७५ ।	७९. सा. १०-१९८ ।	८०. सा. १-२४ ।
८१. सा. १०-८८ ।	८२. सा. १-१३४ ।	८३. सा. ३-८ ।
८४. सा. २-१८ ।	८५. सा. १-३६ ।	८६. सा. १-४३ ।
८७. सा. १-५६ ।	८८. सा. २-१९ ।	८९. सा. ९-९५ ।
९०. सा. ९-१३ ।	९१. सा. ७-२ ।	९२. सा. ९-१३ ।
९३. सा. ९-२० ।	९४. सा. ९-८ ।	९५. सा. ८४१ ।

पुत्र^{१६} । चौरासी कोस^{१७} । जज्ञ निन्यानवे^{१८} । सौ भाई^{१९} । पुत्र एक सौ
...सत पुत्र^{२०} । चौदह सहस्र जुवति^{२१} । सहस्र पचास पुत्र^{२२} । असी सहस्र
किंकर दल^{२३} । चौरासी लख जोनि^{२४} । तैंतिस कोटि देव^{२५} । कोटि छ्यान्वे
नृप-सेना^{२६} ।

उक्त उदाहरण तो बिखरे हुए पदों से संवलित किये गये हैं ; परंतु एक पद में
सूरदास ने अनेक पूर्णावबोधको का प्रयोग किया है—

पौढ़स अंगनि मिलि प्रजंक पै छ दस अंक फिरि डारै ।
पंद्रह मित्र-काज चौदह दस-चारि पठै, सर सांघै ।
तेरह रतन बनक रुचि द्वादस अटन जरा जग बांधै ॥
ताहि रुचि पंच, पयादि डरनि, छवि पंच एकादस ठानै ।
नौ दस आठ प्रकृति कृपना मुख सदन सात सधानै^{२७} ।

वही-वही एक निश्चित पूर्णावबोधक रूप बनाने के लिए सूरदास ने दो पूर्णावबोधको
का भी प्रयोग किया है; जैसे—अष्ट दस (अठारह) घट नीर^{२८} । दस अरु आठ
पदुम बनचर^{२९} । बरस चतुरदस^{३०} । पट दस (सोलह) सहस्र गोपिका^{३१} । भूपन
अग सजे सत नौ से^{३२} । छोहनी दोइ दस^{३३} । बीस चारि लीं^{३४} । दिन सात बीस
में^{३५} ।

ग. अपूर्णावबोधक—आधो उदर^{३६} । आधे पलकहुं^{३७} । अर्द्ध निसा^{३८} ।
आध पैठ^{३९} । अरध लक को राज^{४०} । अर्ध राज देउ लक^{४१} । अहुँठ
पैग^{४२} । मान करो तुम और सवाई^{४३} ।

घ. क्रमवाचक—इस प्रकार के विशेषण पूर्णावबोधको से बनाये गये हैं; जैसे—
पहिली पुत्र^{४४} । दूजे करज^{४५} । दूजी भूप^{४६} । द्वितीय मास^{४७} । तीजे
जनम^{४८} । तृतीय सोचन^{४९} । चौथ मास^{५०} । पंचम मास छठै मास^{५१} ।

१६. सा. १-४३ ।	१७. सा. ८४१ ।	१८. सा. ४-११ ।
१९. सा. १-२४ ।	१. सा. १-२८४ ।	२. सा. ९-७५ ।
३. सा. ९-८ ।	४. सा. ९-१०४ ।	५. सा. १-७५ ।
६. सा. ९-१०५ ।	७. सा. १-३१ ।	८. सा. १-६० ।
९. सा. १-५६ ।	१०. सा. ९-११३ ।	११. सा. ९-४४ ।
१२. सा. ४९७ ।	१३. सा. २९०१ ।	१४. सा. ४१९८ ।
१५. सा. ४२१४ ।	१७. सा. ३-१३ ।	१८. सा. ६-१ ।
२०. सा. ८-१४ ।	२१. सा. ९-७९ ।	२२. सा. ९-१३४ ।
२४. सा. २४३७ ।	२५. सा. १०-४ ।	२६. सा. १-१४२ ।
२८. सा. ३-१३ ।	२९. सा. ३-११ ।	३०. सा. १०-१६९ ।
		३१. सा. ३-१३ ।

सप्तम दिन^{३२} । सातवें दिवस^{३३} । अष्टम मास^{३४} नवम मास^{३५} । नवम मास^{३५} । दसम मास^{३६} । दसवें मास^{३७} । सोवौं जन्म^{३८} ।

इ. आवृत्तिवाचक—दूनौ दुख^{३९} । दूनै ह्व^{४०} । यह मारग चौगुनो चलाऊ^{४१} । जतुरगुन गात^{४२} ।

ई. समुदायवाचक—इस प्रकार के विशेषण भी पूर्णाकबोधकों से ही बनाये गये हैं । रूप-निर्माण की दृष्टि से इनको तीन वर्गों में रखा जा सकता है—क्ष, 'उ' या 'ऊ' युक्त रूप । ज, 'औ', 'औ' या 'हौ' युक्त रूप तथा ज, 'हुँ' या 'हूँ' युक्त रूप ।

क्ष. 'उ' या 'ऊ' युक्त रूप—इस प्रकार के रूप प्रायः 'दो' और 'छः' से ही बनाये गये हैं; जैसे—कपट लोभ बाके दोउ भैया^{४३} । दोऊ जन्म^{४४} । छेऊ सास्त्र-सार^{४५} ।

ज. 'औ', 'औ' या 'हौ' युक्त रूप—तीनो पन^{४६} । तीन्यो पन^{४७} । चारों बेद^{४८} । इंद्रिय बस राखहि किन पौचों^{४९} । छहों रस^{५०} । आठों सिधि^{५१} । दसों दिसि^{५२} । बीसों भुज^{५३} । सृहसों पन^{५४} । देव कोटि तैंतीसों^{५५} ।

ज. 'हुँ' या 'हूँ' युक्त रूप—दुहूँ लोक^{५६} । तिहूँ पुर^{५७} । चहुँ दिसि^{५८} । चहूँदिसि^{५९} । छहूँ रस^{६०} । आठहूँ सिधि^{६१} । दसहूँ दिसा तैं^{६२} । दसहूँ दिसि^{६३} ।

इनके अतिरिक्त कुछ पदों में 'जुग', 'विवि', आदि का भी समुदायवाचक 'दोंनों' के अर्थ में प्रयोग किया गया है; जैसे—थकि कोउ निरखि जुग जानु^{६४} । कोउ निरखि जुग जंघ-सोभा^{६५} । विवि लोचन सु बिसाल दुहूनि के^{६६} ।

उ. प्रत्येकबोधक—इस वर्ग के विशेषण दो वर्गों में आते हैं—क्ष. 'एक' से बननेवाले रूप और ज. 'प्रति' से बननेवाले रूप । दूसरे प्रकार के रूपों का प्रयोग सूरदास ने कुछ अधिक किया है; जैसे—

३२. सा. १-२९० ।	३३. सा. ८-१६ ।	३४. सा. ३-१३ ।	३५. सा. १०-४० ।
३६. सा. ३-१३ ।	३७. सा. १०-२८ ।	३८. सा. सा. ९-९ ।	३९. सा. १-२८६ ।
४०. सा. १०-२४ ।	४१. सा. १-१४६ ।	४२. सा. ९-७४ ।	४३. सा. १-१७३ ।
४४. सा. १-२९७ ।	४५. सा. ७-२ ।	४६. सा. १-७३ ।	४७. सा. १-१३६ ।
४८. सा. १-११३ ।	४९. सा. १-८३ ।	५०. सा. ४८७ ।	५१. सा. ८३१ ।
५२. सा. ८-४ ।	५३. सा. ९-१०८ ।	५४. सा. ५८९ ।	५५. सा. १०-४५ ।
५६. सा. ९-३ ।	५७. सा. ९-१०० ।	५८. सा. १-६९ ।	५९. सा. ९-७६ ।
६०. सा. ४४५ ।	६१. सा. १-३१४ ।	६२. सा. ५९२ ।	६३. सा. २-१९ ।
६४. सा. ६३४ ।	६५. सा. ६८९ ।		

झ. 'एक' से बनेवाले रूप—एक एक अंग पर^{६६} ।

ञ. 'प्रति' से होनेवाले रूप—प्रति रोमनि^{६७} । अंग अंग प्रति दानक^{६८} । दिन प्रति^{६९} । शरनि प्रति^{७०} ।

ख. अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण—इन वर्ग में कुछ विशेषण तो वस्तुतः अनिश्चित संख्या के धातक हैं, परन्तु कुछ निश्चित संख्यावाचक होते हुए भी अनिश्चित के समान प्रयुक्त हुए हैं ।

ग. अनिश्चित संख्या-घोतक रूप—इस वर्ग में बनेवाले जो रूप कुर्यान्व में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से मुख्य यहाँ संकलित हैं—

अखिल—अखिल लोकनि^{७१} ।

अगणित—अगणित अधम उधारे^{७२} । अगणित गुन^{७३} । चरित अगणित^{७४} ।

अगनिया—अज्जन विविध अगनिया^{७५} ।

अगिनित—कटक अगिनित^{७६} । अगिनित मोन्हे खाद^{७७} ।

अनंत—और अनंत क्या लुति गाई^{७८} ।

अनगन—अपराधी अनगन^{७९} ।

अनेक—अनेक जन्म गए^{८०} । अनेक गन अनुवर^{८१} । नूप अनेक^{८२} ।

अपार—कीन्हे पाप अपार^{८३} । जानुघ घरे अपार^{८४} ।

अपारण—अजवाली तहें जुरे अपारा^{८५} ।

अमित—अमित अडमय वेष^{८६} । अमित अडमय गात^{८७} ।

और—और पैतित तुम जैसे तारे^{८८} । और और नहि^{८९} । और देव^{९०} ।

और सब—और अहिर सब^{९१} ।

बहु—बहु दिन^{९२} ।

बहु इर—बहु इर दिन औरी रही^{९३} ।

बहुक—बहुक दिननि को^{९४} ।

केतिक—तुम मोमे अपराधी माधव केतिक स्वर्ग पठाए हो^{९५} । केतिक जनम^{९६} ।

कै—सुनि सुनि मे कै बार^{९७} ।

६६. सा. ६४७ ।

६७. सा. १०-१२८ ।

६८. सा. १०-१२८ ।

६९. सा. १०-३३१ ।

७०. सा. ७८४ ।

७१. सा. १-३१६ ।

७२. सा. १-१२४ । ७३. सा. १-१५७ । ७४. सा. ४-११ । ७५. सा. १०-२३८ ।

७६. सा. ९-१०६ । ७७. सा. ८४१ । ७८. सा. १-६ । ७९. सा. १-६६ ।

८०. सा. १-१५८ । ८१. सा. १-१६३ । ८२. सा. १-१७२ । ८३. सा. १-१४१ ।

८४. सा. ९-८९ । ८५. सा. ९०१ । ८६. सा. ५७० । ८७. सा. ५८९ ।

८८. सा. १-१३७ । ८९. सा. १-१३९ । ९०. सा. १-१७० । ९१. सा. ७४० ।

९२. सा. ६६८ । ९३. सा. २९१५ । ९४. सा. १०-२९२ । ९५. सा. १-७ ।

९६. सा. १-५२ । ९७. सा. १-८४ ।

कोटि—कोटि मुख^{१८} । मनमथ कोटि^{१९} । कोटि रवि-चंद्र^{२०} । कोटि काम^{२१} ।

कोटिक—कोटिक नाच नचावै^{२२} । कोटिक तीरथ^{२३} । कोटिक कला^{२४} ।

कोटिनि—कोटिनि वसन^{२५} । कोटिनि वरप^{२६} ।

बहुतक—असगुन बहुतक पाई^{२७} ।

घनेरे—भैया-बधु-कुटुब घनेरे^{२८} । पायी सुख जु घनेरे^{२९} ।

बहुतेरे—पुन अन्याइ करै बहुतेरे^{३०} ।

नाना—नाना त्रास निवारै^{३१} । नाना स्वांग बनावै^{३२} । नाना भाव दिखायौ^{३३} ।

लच्छ—लच्छ लच्छ बान^{३४} ।

सकल—सकल मिथ्या सोंजाई^{३५} । सकल वृतात सुनाए^{३६} । सकल जादव^{३७} ।

सारे—सुर सारे^{३८} ।

सब—सब लोइ (लोग^{३९}) । सब कुसुमनि^{४०} । सब सखा^{४१} ।

सहस—बोरत सहस प्रकारी^{४२} ।

बहु—बहु बपु धारे^{४३} । बहु रतन^{४४} । बहु उद्यम^{४५} ।

बहुत—बहुत जुग^{४६} । बहुत प्रपंच^{४७} । बहुत रतन^{४८} ।

कुछ अनिश्चित संस्था-वाचक विशेषण ऐसे संज्ञा शब्दों के साथ भी सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं जिनकी संस्था निश्चित है । ऐसे प्रयोगों को निश्चित संस्थावाचक ही समझना चाहिए, जैसे—सर्व पुरान माहि जो सार^{३९} । पुराणों की संख्या 'अठारह' निश्चित है । सूरदास ने भी कहा है—बहुरि पुरान अठारह किये^{३०} । अतएव 'पुराणों' के साथ विशेषण रूप में 'सर्व' का प्रयोग इस निश्चित संख्या 'अठारह' के लिए ही किया गया है । इसी प्रकार नवें स्कंध में 'मानधाता' कहता है—है पचास पुत्री मम गेह^{३१} । इसके आगे वाक्य है—सब कन्यनि सोभरि रिधि बरचौ । और पद के अंत में कहा गया है—सब नगरिनि सहगामिनि कियो । पिछले दोनों वाक्यों में 'सब' का संकेत भी निश्चित संख्या 'पचास' की ओर ही है ।

आ. अनिश्चितवत् प्रयुक्त निश्चित संख्यावाचक रूप—सूरदास द्वारा प्रयुक्त इन प्रकार के विशेषण-रूपों को तीन वर्गों विभाजित किया जा सकता है—अ. अनिश्चय-

१८. सा. १-२४ ।

१९. सा. १०-५५ ।

१. सा. ३५२ ।

२. सा. १-४२ ।

३. सा. २-६ ।

४. सा. १-१५३ ।

५. सा. १-१५८ ।

६. सा. १०-३३ ।

७. सा. ५४१ ।

८. सा. १-७१ ।

९. सा. १-१७० ।

१०. सा. ५-४ ।

११. सा. १-१० ।

१२. सा. १-४२ ।

१३. सा. १-२०५ ।

१४. सा. ९-९६ ।

१५. सा. १-२४ ।

१६. सा. १-२८४ ।

१७. सा. १-२८६ ।

१८. सा. ४-५ ।

१९. सा. १-२८६ ।

२०. सा. १-३२५ ।

२१. सा. ५८९ ।

२२. सा. १-२०९ ।

२३. सा. १-२७ ।

२४. सा. १-२०० ।

२५. सा. १-३३६ ।

२६. सा. १-३१७ ।

२७. सा. १-३२९ ।

२८. सा. ८-१३ ।

२९. सा. ७-२ ।

३०. सा. १-२३० ।

३१. सा. १-८८ ।

बोधक सामान्य पूर्णांक, न. अनिश्चयबोधक 'एक' युक्त पूर्णांक, ज. अनिश्चयबोधक दोहरे पूर्णांक ।

क्ष. अनिश्चयबोधक सामान्य पूर्णांक—और पतित सब दिवस चारि के^{३३} ।
मरियत लाज पाँच पतितनि में^{३३} । दिन दस लेहि गोविंद गाइ^{३४} । दिन
द्वै लेहु गोविंद गाइ^{३५} । कहा भयो अधिकी द्वै गंयां^{३६} । सौ वातनि की
एकै बान^{३७} ।

न. अनिश्चयबोधक 'एक' युक्त पूर्णांक—जोजन बीस एक अरु अगरो डेरा^{३८} ।
कही-कही सूरदास ने 'एक' के स्थान पर केवल 'क' से काम लिया है । इस प्रकार
के प्रयोग 'एक'-युक्त प्रयोगों से उन्होंने अधिक किये हैं जैसे—वर्ष व्यतीत दसक
जब होहि^{३९} । गाउँ दसक सरदार^{४०} । पग द्वैक धरै^{४१} । अन्दर
चारिक^{४२} । दिन पाँचक^{४३} । बरन पचासक अविर^{४४} । बहुतक जीव^{४५} ।
बहुतक तपसी^{४६} ।

ज. अनिश्चयबोधक दोहरे पूर्णांक—दिन चारि-पाँच में^{४७} । मिलि दस-पाँच
अली^{४८} ।

अपवादस्वरूप दो-एक प्रयोगों में द्वितीय और तृतीय नियमों को मिलाकर भी
सूरदास ने प्रयोग किये हैं : जैसे—दस-बीसक दोना^{४९} ।

ग. परिमाणबोधक—इस वर्ग के रूप सूर-काव्य में अनिश्चित सख्यावाचकों के
लगभग बराबर ही हैं और कुछ तो दोनों में समान भी हैं । सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रमुख
परिमाणबोधक विशेषण इस प्रकार हैं—

अगाध—दुख है बहुत अगाध^{५०} ।

अघटित—अघटित भोजन^{५१} ।

अति—अति दुख^{५२} । अति अनुराग^{५३} ।

अतिसय—अतिसय दुख^{५४} ।

अतिसै—अनन्द अतिसै^{५५} ।

अतुल—अतुल बत^{५६} ।

अपरिमित—अपरिमित महिमा^{५७} ।

अपार—अजस अपार^{५८} ।

३२. सा. १-१३८ ।	३३. सा. १-१३७ ।	३४. सा. १-३१५ ।	३५. सा. १-३१६ ।
३६. सा. ७३५ ।	३७. सा. २-५ ।	३८. सा. ८३० ।	३९. सा. ३-१३ ।
४०. सा. ८८५ ।	४१. सा. १०-७६ ।	४२. सा. ३११७ ।	४३. सा. ८१२ ।
४४. सा. २८९२ ।	४५. सा. २-३२ ।	४६. सा. ४-९ ।	४७. सा. ९-११७ ।
४८. सा. १०-२४ ।	४९. सा. ३९६ ।	५०. सा. ८३३ ।	५१. सा. १-२०३ ।
५२. सा. ६-५ ।	५३. सा. १०-४४ ।	५४. सा. ४-५ ।	५५. सा. ९-२६ ।
५६. सा. ९-९१ ।	५७. सा. ९-२६ ।	५८. सा. १-३२५ ।	

इती—रिस इती^{५१} ।

अमित—अमित आनन्द^{५०} । अमित बल^{५१} । अमित मावुरी^{५२} ।

इतौ—इतौ कोह^{५३} ।

एत—तामस एत^{५४} ।

इतनक—इतनक दधि-माखन^{५५} ।

कलु—कलु संक^{५६} । ताहू में कलु कानो^{५७} । कलु डर^{५८} ।

कितौ—कितौ यह काम^{५९} ।

कलुक—कलुक प्रीति^{६०} । कलुक करना^{६१} ।

केतिक—केतिक दहयो (दही)^{६२} ।

कछू—छल करत कछू^{६३} ।

घनौ—कपट कपट घनौ^{६४} ।

थोरनौ—मोर सुख नहि थोरनौ^{६५} ।

थोरी—रुचि नहि थोरी^{६६} । मति थोरी^{६७} ।

तनिकौ—सुख दुख तनिकौ^{६८} ।

थोरैक—थोरैक ही बल सौ^{६९} ।

नैसुक—नैसुक धंया^{७०} ।

परम—परम सुख^{७१} । परम स्नेह^{७२} ।

पूरन—प्रभु पूरन ठाकुर^{७३} ।

वड़ी—वड़ी दुख^{७४} । वड़ी संताप^{७५} ।

बहु—बहु काल^{७६} बहु तप^{७७} ।

बहुत—बहुत हित जासो^{७८} । बहुत सुख^{७९} । बहुत पंथहू नहि आयो^{८०} ।

भारी—मुख पाऊँ अति भारी^{८१} । लोभ-मोह-मद भारी^{८२} ।

भारे—अपराध करे अति भारे^{८३} । महा दुख भारे^{८४} ।

भारौ—बहत विरद भारौ^{८५} ।

५९. सा. ३५८ ।

६०. सा. ९-२५ ।

६१. सा. ९-११५ ।

६२. सा. ६६३ ।

६३. सा. ३५३ ।

६४. सा. ३४६ ।

६५. सा. १०-३१० ।

६६. सा. १-१३ ।

६७. सा. १-४७ ।

६८. सा. ७-२ । ६९. सा. ९-२२ । ७०. सा. ७-२ ।

७१. सा. ३६४ ।

७२. सा. ३५६ । ७३. सा. ७-२ । ७४. सा. १-२०३ ।

७५. सा. २८३२ ।

७६. सा. १०-१८३ । ७७. सा. १०-२५३ । ७८. सा. ३-१३ ।

७९. सा. ४१० ।

८०. सा. ४६३ । ८१. सा. ७-२ । ८२. सा. १०-११९ ।

८३. सा. ७-२ ।

८४. सा. १-१३६ । ८५. सा. ५८९ । ८६. सा. ९-२ ।

८७. सा. ९-३ ।

८८. सा. १-७९ । ८९. सा. १-२८४ । ९०. सा. ५-४ ।

९१. सा. १-१४६ ।

९२. सा. १-१६५ । ९३. सा. १-१२५ । ९४. सा. १-१५८ ।

९५. सा. १-१३१ ।

सकलौ—तैज-सप सकलौ^{१६} ।

सगरी—दूध दही-माखन ... , सगरी^{१७} ।

सिगरी—आस सिगरी^{१८} ।

सज—रैनि सज निघटी^{१९} ।

रंच—रच सुख^२ ।

रचक—रचन सुख कारन^२ ।

समस्त—जल समस्त^३ ।

उक्त रूपों में से कञ्चुक, 'धोरेक' आदि विशेषण 'क' के योग्य से अलपार्थक्य बनाये गये हैं, शेष सब अपने सामान्य मूल या विकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।

४. विशेषण शब्दों के प्रयोग—

सूरदास ने विशेषण शब्दों के जो प्रयोग किये हैं, स्थूल रूप से उनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. सामान्य प्रयोग और ख विशेष प्रयोग ।

क सामान्य प्रयोग—इस शीर्षक के अंतर्गत दो विषयों का अध्ययन करना है—अ वाक्य में विशेषण का क्रम और आ विशेषण का तुलनात्मक रूप ।

अ वाक्य में विशेषण का क्रम—वाक्य में विशेषण का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है—कभी तो वह विशेष्य के साथ आता है, जैसे—काली गाय, और कभी क्रिया के साथ, जैसे गाय काली है । प्रथम को 'उद्देश्यात्मक' और द्वितीय को 'विधेयात्मक' प्रयोग^४ कहते हैं । गद्य में तो साधारणतः विशेष्य के बाद या क्रिया के साथ, प्रयुक्त विशेषण 'विधेयात्मक' होता है, परंतु काव्य में कभी ऐसा होता है, कभी नहीं होता । 'जिन भ्रम मकल निवारयो'^५ । इस वाक्य में परिणामवाचक विशेषण 'सकल' अपने विशेष्य 'भ्रम' के बाद और क्रिया 'निवारयो' के साथ आने पर भी 'उद्देश्यात्मक' ही है । परंतु जीवन यिर जान्यो'^६—इस वाक्य में गुणवाचक विशेषण 'यिर' विशेष्य 'जीवन' के बाद आने पर भी 'विधेयात्मक' हो गया है । यही बात विशेष्य के पूर्व आने-वाले, गद्य की दृष्टि से उद्देश्यात्मक, विशेषणा के संबंध में भी है । 'बह्यो नृपति, मोटी तू आहि'^७—इस वाक्य में यद्यपि 'मोटी' विशेषण, सर्वनाम विशेष्य 'तू' के पूर्व प्रयुक्त हुआ है, फिर भी उसका प्रयोग विधेयात्मक ही है ।

ख. उद्देश्यात्मक प्रयोग—आओ गात अकारथ गारयो^८ । महर मनहि श्रति हर्ष बढाए^९ । यह दरसन त्रिभुवन नाहि^{१०} । निठुर वचन मुनि स्वाम

१६ सा ६-५ । १७ सा १०-३३६ । १८ सा १०-३०२ । १९ सा ४०८ ।

१ सा १-३२८ । २ सा १-३३० । ३ सा ९-१४८ । ४. विधेय के रूप में प्रयुक्त विशेषण को, अंगरेजी के ढंग पर कभी-कभी 'पूर्वक' भी कहा जाता है—लेखक ।

५. सा. १-३३६ । ६ सा. १-३३६ । ७ सा ५-४ । ८ सा १-१०१ ।

९. सा. ९०४ । १० सा १०२१ ।

के^{११} । विनती सुनी स्याम सुजान^{१२} । गगन उठी घटा काली^{१३} । उकटे
तह भए पात^{१४} । यह मुरली कुस दाहनहारी^{१५} । सवनि इक इक कलस
लीन्ही^{१६} ।

घ. विधेयात्मक प्रयोग—विप्र सुदामा कियो अज्ञाची^{१७} । चार मोहिनी आइ
ओंध कियो^{१८} । तेरो बचन-भरोसो सोंचौ^{१९} । कुबिजा भई स्याम-रंग-
सती^{२०} । अधम, तू अत भयो वलहीनो^{२१} । राजा हूँ गए रोंकी^{२२} । कवन
करत खरौ^{२३} । सुखी हम रहत^{२४} । अति ऊँची गिरिराज बिराजत^{२५} ।
तहनी स्याम रस मतवारि^{२६} ।

कुद्र वाक्यों में एक साथ अनेक विशेषण विधेयात्मक रूप से प्रयुक्त हुए हैं; और
उनमें क्रिया लुप्त है; जैसे—हरि, ही महा अधम संसारी^{२७} ।

आ. विशेषण का तुलनात्मक प्रयोग—तुलना कभी दो वस्तुओं, व्यक्तियों या
भावों की होती है और कभी दो से अधिक की । दोनों प्रकार की तुलनाओं को सूचित
करने के लिए अलग अलग रीतियाँ सूरदास ने अपनायी हैं ।

क्ष. 'दो' की तुलना—दो वस्तुओं, व्यक्तियों या भावों की तुलना करते समय
एक की अधिकता या न्यूनता सूचित करने के लिए सूरदास ने साधारणतः संज्ञा-मर्वनाम
के साथ 'तैं' का प्रयोग किया है, और कही-कही 'अधिक' और 'तैं' दोनों
का साथ-साथ प्रयोग किया है; जैसे—

१. तैं—राजा कौन बड़ी रावण तैं^{२८} । हरि तैं और न आगर^{२९} । मोहूँ तैं
को नीकी^{३०} । काजर हूँ तैं कारी^{३१} । सबल देह कागद तैं कोमल^{३२} । हृदय
कठोर कुलित तैं भेरी^{३३} । तुमहि तैं कौन सयानी^{३४} । वासुरी विधि हूँ तैं
परवीन^{३५} ।

२. अधिक...तैं—अधिक कुरूप कौन कुबिजा तैं...अधिक सुरूप कौन
सीता तैं^{३६} ।

३. 'अनेक' की तुलना—अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों या भावों की तुलना के लिए

११. सा. १०१८ ।	१२. सा. १०२६ ।	१३. सा. ११८८ ।
१४. सा. १२४८ ।	१५. सा. १३०९ ।	१६. सा. १४२६ ।
१७. सा. १-१८ ।	१८. सा. १-४३ ।	१९. सा. १-३२ ।
२०. सा. १-६५ ।	२१. सा. १-११३ ।	२२. सा. १-२२० ।
२३. सा. १-२८४ ।	२४. सा. १-२८४ ।	२५. सा. १-२८४ ।
२६. सा. १-३५ ।	२७. सा. १-९१ ।	२८. सा. १-१३८ ।
२९. सा. १-१७८ ।	३०. सा. १-३०४ ।	३१. सा. ७-५ ।
३२. सा. ४९२ ।	३३. सा. १२४७ ।	३४. सा. १-३५ ।

सूरदास ने साधारणतः विशेष्य के साथ 'अति', 'परम', 'महा' आदि का प्रयोग किया है; जैसे—

अति—ये अति चपल^{३०} । रूप अति सुंदर^{३८} । अति सुकुमार^{३९} ।

परम—परम सीतल^{४०} । परम सुंदर^{४१} । हरि वस विमल छत्र तिर ऊपर राजत
परम अनूप^{४२} ।

महा—कस महा खल^{४३} ।

ख. विशेष प्रयोग—

इस शीर्षक के अंतर्गत सूरदास द्वारा विशेषण के प्रयोगों के संबंध में उन सब स्फुट विषया की चर्चा करनी है जिनके संबंध में ऊपर विचार नहीं किया जा सका है, यथा—अ. सज्ञा शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग, आ. सर्वनाम के विशेषण-रूप प्रयोग, इ. विशेषण के विशेषण-रूप प्रयोग, ई. विशेषण का सज्ञा के समान प्रयोग, उ. विशेषण का सर्वनाम के समान प्रयोग, ऊ. संयुक्त सर्वनाम-विशेषण प्रयोग, ए. विशेषण के विकृत रूप-प्रयोग, ऐ. वलात्मक प्रयोग और ओ सूची-रूप में प्रयोग ।

अ. सज्ञा शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग—सूर-काव्य में ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें कवि ने उन शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग किया है जो साधारणतः 'सज्ञा' शब्द-भेद के अंतर्गत आते हैं, जैसे अमी वचन^{४४} । अमृत वचन^{४५} । वनक वरन^{४६} । किमोर निरधौ तन^{४७} । बोलहि वचन निहार^{४८} । मधु छीलर^{४९} । अटके नैन, माधुरी मुस्कान^{५०} । हमरे रसाख गुपालहि^{५१} । सिमु तन^{५२} । सीतल सलिल सुगंध पवन^{५३} । झटकि छाटक भुवुट^{५४} । हीरा जनम^{५५} ।

आ. सर्वनाम के विशेषण-रूप में प्रयोग—कभी कभी सर्वनाम के साथ भी सूरदास ने विशेषण का प्रयोग किया है । इस प्रकार के कुछ प्रयोग ऊपर दिये जा चुके हैं, दो-चार अन्य उदाहरण यहाँ संवलित हैं—तू बड़ी अधर्मी^{५६} । ये अति चपल^{५७} । कछु धिर न रहैगी^{५८} । यह जानत त्रिला कोई^{५९} । मोटी तू आहि^{६०} । यह अति हरिदाई^{६१} ।

इ. विशेषण के विशेषण-रूप प्रयोग—सज्ञा और सर्वनाम शब्दों के अतिरिक्त अनेक एवों में ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनमें विशेषण शब्द का विशेष्य भी विशेषण है,

३७. सा. ९-९२ ।	३८. सा. ९-८ ।	३९. सा. ९-२० ।
४०. सा. ९-१० ।	४१. सा. १-३०७ ।	४२. सा. १-४० ।
४३. सा. १-१७ ।	४४. सा. ९-१६९ ।	४५. सा. ५०९ ।
४६. सा. ६७६ ।	४७. सा. ७-२ ।	४८. सा. १९१४ ।
४९. सा. ९-३६ ।	५०. सा. १०२३ ।	५१. सा. ४२६५ ।
५२. सा. ७-२ ।	५३. सा. ५८९ ।	५४. सा. ९-१२९ ।
५५. सा. १-२९० ।	५६. सा. ९-९२ ।	५७. सा. १-३०२ ।
५८. सा. १-२९० ।	५९. सा. ५-३ ।	६०. सा. १-५१ ।

जैसे—अपराध करे मैं तिनहूँ सो अति भोरे^{६२} । छुद्र पतित^{६३} । निपट अनाथ^{६४} ।
बड़ौ अधर्मी^{६५} । महा ऊँच पदवी^{६६} । ऐसे विशेषणों को क्रियाविशेषण-रूप समझना
चाहिए ।

ई. विशेषण का संज्ञावत् प्रयोग—अनेक विशेषण शब्दों का सूरदास ने संज्ञावत् भी
प्रयोग किया है; जैसे—अंधे को सब कछु दरसाइ^{६७} । आवैं अंधौ जग जोइ^{६८} । आधे
मैं जल-वायु समावैं^{६९} । कारौ अपनी रग न छाँड़ै^{७०} । बहुरो क्रोधवत जुघ चह्यो^{७१} ।
गुरबत कहा गँवार^{७२} । बोलै गुंग ^{७३} । गूँग पुनि बोलै^{७४} । सचु पावैं गोरी^{७५} ।
बिपति परी दीन पर^{७६} । नवमी नवसत साजि कै^{७७} । तुम नहि जानत नान्हो^{७८} ।
नीच पावैं ऊँच पदवी^{७९} । पंगु गिरि लखै^{८०} । हा हा चलि प्यारी, तेरो प्यारी चौकि
परै^{८१} । बहिरो सुनै^{८२} । विगरी लेहु सँवारी^{८३} । कहति न मीठी खाटी^{८४} । सगीत-
सुधानिधि मूढ़हि कहा सुनै^{८५} । उलटि चुबन देत रसकिनी^{८६} । हार बिना ल्याए
लड़िबौरी घर नहि पैठन देही^{८७} । देखि मुन्दरि, रहे दोउ लुभाई^{८८} । देखि दसा सुकु-
मारि की^{८९} ।

उक्त प्रयोगों में 'नवसत' जैसे प्रयोगों को छोड़कर शेष सब रूप एकवचन में हैं;
परंतु सूरदास ने विशेषणों के संज्ञावत् बहुवचन रूपों में भी प्रयोग किये हैं,
जैसे—समुझाइ अनाथनि^{९०} । कै करि कृपा दुखित दीननि पै^{९१} । अब सौं नान्हे-नून्हे
तारे^{९२} । त्रिया-चरित मतिमंत न समुझत^{९३} । जा जस कारन देत सयाने तन-मन-
धन सब साज^{९४} ।

ऊपर संकलित उदाहरणों में प्रायः सभी जातिवाचक संज्ञावत् प्रयोगों के हैं । इनके
साथ-साथ कुछ विशेषण-रूपों का सूरदास ने व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों की भाँति भी प्रयोग
किया है; जैसे—चतुरमुख कह्यो 'चतुरमुख अस्तुति सुनाई'^{९५} । तोहि देखि चतुरानन
भोहै^{९६} । दसमुख बध-विस्तार^{९७} । दससिर बोलि निकट बैठायो^{९८} । सहस्रानन
नहि जान^{९९} । एक अन्य पद में सामान्य विशेषण 'अध', कौरवपति घृतराष्ट्र के लिए,

- | | | |
|------------------|-----------------|------------------|
| ६२. सा. १-१२५ । | ६३. सा. १-१३१ । | ६४. सा. १-१७५ । |
| ६५. सा. १-२९० । | ६६. सा. १-२४ । | ६७. सा. १-१ । |
| ६८. सा. १-९५ । | ६९. सा. ३-१३ । | ७०. सा. १-६३ । |
| ७१. सा. १-८४ । | ७२. सा. १-९५ । | ७३. सा. १-१ । |
| ७४. सा. १-२५ । | ७५. सा. २९१४ । | ७६. सा. १०-२२० । |
| ७७. सा. १-२३५ । | ७८. सा. १-१ । | ७९. सा. १-११८ । |
| ८०. सा. १-१ । | ८१. सा. २७८७ । | ८२. सा. १-१ । |
| ८३. सा. १-११८ । | ८४. सा. १-११८ । | ८५. सा. १-११८ । |
| ८६. सा. १०-२५४ । | ८७. सा. ३८१० । | ८८. सा. २४५९ । |
| ८९. सा. १९७५ । | ९०. सा. ८-११ । | ९१. सा. ३४८० । |
| ९२. सा. १-९६ । | ९३. सा. ९-३१ । | ९४. सा. ३३४० । |
| ९५. सा. ८-१६ । | ९६. सा. १-७९ । | ९७. सा. १-२१५ । |
| ९८. सा. १-१२१ । | ९९. सा. ४९२७ । | |

जो जन्म से अंधे थे, प्रयुक्त हुआ है—अवर जहत द्रौपदी राखी, पलटि अंध-सुत लाजै^१ ।

जातिवाचक या व्यक्तिवाचक रूप में प्रयुक्त उक्त विशेषण अपने सामान्य रूप में हैं, परंतु वही-वही सूरदास ने अभीष्ट कारकीय रूप देने के लिए उनको विवृत भी किया है, जैसे—ज्यों गूँग मीठे फल को रस अवगंत हो भावै^२ । नोर निधि पाई^३ ।

उ सर्वनामवत् प्रयोग—अनेक विशेषण-रूपों का सूरदास ने सर्वनामवत् प्रयोग भी किया है । ऐसे विशेषणों में प्रायः सभी सख्यावाचक हैं, जैसे—एकनि हरे प्राण गोबुल के^४ । असी इक कर्म बिप्र को लियो^५ । निसा आन के बसे सांवरे^६ । वहाँ एक की कथा^७ । तोसो मुग्ध न दूर्ज^८ । दुहुँ तब तीरथ माहि नहाए^९ । दुहुँनि पुत्र-मुख देखा^{१०} । एकहि दिन जनम दोऊ है^{११} । आठ मात चदन पियो, नयँ पियो कपूर^{१२} । वहाँ दनाइ पचासक, उनको बान गुन एक^{१३} । आपु देखि, पर देखि रे^{१४} । इननै प्रभु नहि और नियो^{१५} । एक कहत धाए सो चारी^{१६} ।

ऊ सयुक्तसर्वनाम-विशेषण प्रयोग—अनेक पदों में सूरदास ने सर्वनाम और विशेषण-रूपों का साथ-साथ प्रयोग किया गया है । ऐसे प्रयोगों में वही तो सर्वनाम शब्द विशेषण का विशेष्य होकर आया है और वही दोनों सयुक्त रूप बन गये हैं, जैसे—ज्यों त्यों करि इन दुहुँनि सँघारी^{१७} । ऐसे और कितक है नामी^{१८} । हम तीनों हैं जग करतार^{१९} ।

ए. विशेषण के विवृत रूप प्रयोग—सज्ञा और सर्वनाम शब्दों के समान कुछ विशेषण-रूप भी सूरदास द्वारा इस प्रकार विवृत कर लिये गये हैं कि उनके सबंधी शब्द की कारकीय विभक्ति जैसे उन्हीं में जोड़ ली गयी है अथवा अभीष्ट कारक के अनुसार विशेष्य सज्ञा शब्द में परिवर्तन न करके विशेषण का रूप विवृत कर लिया गया है, जैसे—छठै मास इंद्री प्रगटावै^{२०} । सुत बाँवति दधि-भाजन धोरै^{२१} । परयो पराएँ कर ज्यों^{२२} । गए स्वाम ग्वालनि घर सूने^{२३} ।

ऐ बलात्मक प्रयोग—सज्ञा और सर्वनाम शब्दों के समान सूरदास ने अनेक पदों में विशेषणों के भी बलात्मक प्रयोग किये हैं, जैसे—अतिहि पुनीत^{२४} । आठहुँ सिधि^{२५} । इतैई धृत-सार^{२६} । उहै स्नेह^{२७} । एकहुँ आँक^{२८} । एकै चीर^{२९} । एकी

१. सा १-३६ ।	२. सा १-२ ।	३. सा २२४२ ।	४. सा ३९७७
५. सा. ५-२ ।	६. सा २५१८ ।	७. सा ६-३ ।	८. सा. २८२६ ।
९. सा ३-१३ ।	१०. सा १०-४ ।	११. सा. १५८० ।	१२. सा. १०-४ ।
१३. सा ४१२५ ।	१४. सा. ३६१३ ।	१५. सा. १०-८५ ।	१६. सा. ९२६ ।
१७. सा २९२६ ।	१८. सा २९२२ ।	१९. सा ४-४ ।	२०. सा ३-१३ ।
२१. सा. ३४४ ।	२२. सा २३४७ ।	२३. सा. १०-३१७ ।	२४. सा. ९-१२ ।
२५. सा १-३१४ ।	२६. सा २-४ ।	२७. सा. २१६३ ।	२८. सा. १-३२५ ।
२९. सा १-२४७ ।			

फल^{३०} । एसिये लरिकसलोरी^{३१} । प्रान औरहू जन्म मिलत हैं^{३२} । औरी सुभट^{३३} ।
चारहू जुग^{३४} । उनमें पाँचों दिन जों बसिये^{३५} । बहुते सम^{३६} । यहै जप, यहै तप,
यहै मम नेम-व्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ; यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन
यहै^{३७} । येउ नैन^{३८} । वहै बुद्धि, वहै प्रकति, वहै पौरुष तन सबके, वहै नाउ, वहै
भाउ^{३९} । सवै जुवती^{४०} । सिगरोइ दूध^{४१} ।

ओ. सूची-रूप में प्रयोग—अनेक पदों में सूरदास ने एक साथ इतने विशेषणों का प्रयोग किया है, जैसे वे उनकी सूची प्रस्तुत करना चाहते हो । प्रथम स्कंध के विनय-पदों में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है । इस प्रकार की विशेषण-सूचियाँ कही तो कवि ने अपने आराध्य के लिए प्रस्तुत की हैं, कही अपने लिए और कही अन्यो के लिए भी; जैसे—

१. अति उनमत्त, निरंकुस, मैगल, चितारहित असोच,
महा मूढ़^{४२} ।

२. कामी कुटिल कुचील कुदरसन, अपराधी, मतिहीन ।
..... ।

तुम तौ अखिल, अनंत, दयानिधि, अविनासी, सुखरासि^{४३} ।

३. विनय कहा करै सूर कूर, कुटिल, कामी^{४४} ।

४. घातक, कुटिल, चवाई, कपटी, महाकूर, संतापी ।
लंपट, धूत, पूत दमरी कौ, विषय जाप कौ जापी ।
..... ।

कामी विवस कामिनी कै रस.....^{४५} ।

५. माया अति निसक, निरलज्ज, अभागिनि^{४६} ।

६. प्रभु जु, हौ तौ महा अधर्मी ।

अपत, उत्तार, अभागौ, कामी, विषयी, निपट कुकर्मी ॥

घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी कुमति जुलाई ।

औगुन की कछु सोच न संका, बड़ी दुष्ट अन्याई ।

बटपारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठि-कटा, लठवांसी ।

३०. सा. १०-२९६ ।

३१. सा. १०-२८६

३२. सा. २९१८ ।

३३. सा. ९-१५२ ।

३४. सा. ८-९ ।

३५. सा. ४१५० ।

३६. सा. ५-४ ।

३७. सा. १-१६७ ।

३८. सा. २२२६ ।

३९. सा. ४३७ ।

४०. सा. १०-३१९ ।

४१. सा. १०-२५९ ।

४२. सा. १-१०२ ।

४३. सा. १-१११ ।

४४. सा. १-१२४ ।

४५. सा. १-१४० ।

४६. सा. १-१७३ ।

४७. सा. १-१७३ ।

चचल चपल चवाई चौपटा, लिये मोह की फांसी ।
 चुगुल, ज्वारि, निर्दय, अपराधी, झूठी, खोटो-खूटा ।
 लोभी, लौंद, मुकरवा, झगरु, बडौ पटेलो, लूटा ।
 लपट धूत पूत दमरी को, कौड़ी कौड़ी जोरै ।
 कृपन, सूम, नहिं खाइ खवावं, खाइ मारि कै ओरै ।
 लगर, ढीठ, गुमानी, टूंडक, महा मसखरा, रत्ता ।
 मचला अकलै मूल, पातर, खाउं खाउं करै, भूखा ।
 निर्धिन, नीच, कुलज, दुर्बुद्धी, भोदू, नित को रोऊ ।

महा कठोर, सुन हृदय को, दोष देन को नौकौ ।
 बडौ कृतघ्नी और निक्म्मा, वेधन, राँको, फीको ।
 महा मत्त बुधि बल को हीनो, देखि करै अघेरा ।

मूकू, निंद, निगोडा, भाडा, वायर, काम बनावै ।
 कलहा, कुही मूष रोगी अरु काहूँ नकु न भावै ।
 परनिंदक, पर-धन को द्रोही, पर-सत्तापनि दोरी^{४७} ।

७ नैना लोनहरामी ये ।

चोर, दुड, बटपार कहावत, अपमारगो, अन्याई ये ।
 निलज्ज निर्दयो, निसक, पातकी^{४८} ।

उक्त उद्धृत पदांश म दो-चार शब्दों को छोड़कर शेष सभी विशेषण हैं । इस प्रकार की सूचियाँ स कवि के विस्तृत शब्द-काश के साथ-साथ उसकी शब्द-निमाण-बला का भा परिचय मिलता है । दूसरी बात यह है कि यहाँ प्रयुक्त विशेषणों म अनेक — यथा उतार, बनही, कुही, चवाई, चौपटा, जुलाई टूंडक, मचना, मुकरवा, झगर, लठवांसी, लौंद आदि—ऐसे हैं जो या तो कवि द्वारा निर्मित हैं अथवा, जिनका उद्धार बालचाल की भाषा से किया गया है । यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि स इस प्रकार की सूचियाँ निरर्थक ही हैं फिर भी इस अंध कवि द्वारा इस प्रकार का शब्द-चयन देखकर कभी कभी पाठक को आश्चर्य भी होता है ।

क्रिया और स्वर के प्रयोग—

किसी कवि या लेखक की भाषा विषयक समृद्धि का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त क्रिया-शब्दों स ही विशेष रूप स मिलता है । साहित्यिक गद्यम जिस प्रकार परिच्छेद के

प्रत्येक वाक्य के क्रिया-रूपों में परिवर्तन करना कुशल लेखक सामान्यतया आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार चतुर कवि भी छंद या पद के प्रत्येक चरण की क्रिया परिवर्तित करता चलता है। इस विषय में सूरदास का कौशल प्रायः प्रत्येक पद में देखने को मिलता है। 'सूरसागर' के दूसरे से आठवें स्कंध तक के अधिकांश लवे-लवे पद काव्य-कला की कसौटी पर भले ही अति साधारण उतरें, परंतु क्रिया-रूपों की विविधता की दृष्टि से इनमें भी यह विशेषता है कि कवि ने उनकी अप्रिय आवृत्ति से सदैव बचने का प्रयत्न किया है।

कवि-विशेष के क्रिया-रूपों का अध्ययन करते समय मुख्य चार विषयों पर विचार करना होता है—१. धातु, २. वृद्ध, ३. वाच्य और ४. काल। सूरदास के क्रिया-प्रयोगों का अध्ययन भी इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत करना उचित होगा।

१. धातु—

क्रिया का मूल रूप जो उसके सभी रूपांतरों में विद्यमान रहता है, 'धातु' कहलाता है। धातु में 'नो' या 'वो' जोड़ने से ब्रजभाषा-क्रिया का सामान्य रूप बनता है; जैसे—करनो, रहनो, सहनो, पढ़िबो बसिबो आदि। यह रूप वाक्य में क्रिया के समान प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत लिंग, काल, वचन आदि के अनुसार उसमें परिवर्तन या रूपांतर करके क्रिया के अन्य विकृत रूप बनाये जाते हैं।

क्रिया के मूल रूप अर्थात् धातु की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त क्रिया-पदों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. संस्कृत से प्रभावित रूप, ख. अपभ्रंश से प्रभावित रूप और ग. जनभाषा से प्रभावित रूप।

क. संस्कृत से प्रभावित रूप—संस्कृत भाषा की क्रियाओं के जो मूल रूप हैं, उनसे मिलती-जुलती धातुओं से निर्मित अनेक रूपांतर सूर-काव्य में मिलते हैं; जैसे—एक सुमन लै ग्रंथति माला^{४९}। राधे कत रिस सरसतई; तिष्ठति जाइ बार बारनि पै होति अनीति नई^{५०}। द्रुपदमुता भापति^{५१}। सूच्छम वेप धूम की धारा नव घन ऊपर भ्राजति^{५२}। मानो मधवा नव घन ऊपर राजत^{५३}। बसुधा कमल बैठकी साजति^{५४}। इन वाक्यों में प्रयुक्त क्रियाओं—ग्रथति, तिष्ठति, भापति, भ्राजति, राजत और साजति—के धातु-रूप ग्रथ, तिष्ठ, भाप, भ्राज, राज और साज, संस्कृत से प्रभावित ही हैं।

ख. अपभ्रंश से प्रभावित रूप—अपभ्रंश में जिस प्रकार द्वित्व वर्णों से युक्त रूप प्रत्युत होते थे, उसी प्रकार के कुछ प्रयोग सूर-काव्य में भी मिलते हैं, यद्यपि वीररस में कवि की रुचि न रहने के कारण इनकी संख्या बहुत कम है। निम्नलिखित

४९. सा. २८९२। ५०. सा. २८०६। ५१. सा. १-२५५। ५२. सा. ६३८।

५३. सा. १०-१२८। ५४. सा. १०-११०।

उदाहरणों के 'कट्टे', 'दहपट्टे' और 'लज्जिये' क्रिया रूपों की कट्ट, दहपट्ट और लज्जि धातुएँ अपभ्रंश से ही प्रभावित हैं—

१ तब विलव नहिं कियो सोस दस रावन कट्टे ।

नव विलव नहिं कियो सबै दानव दहपट्टे^{५५} ।

२ जिहि लज्जा जग लज्जिये सो लज्जा गई लजाइ^{५६} ।

ग. जनभाषा से प्रभावित रूप—इस प्रकार के रूपों की सत्या प्रथम बर्षात् सरङ्गन से प्रभावित रूप से कम परन्तु अपभ्रंश से प्रभावित रूप से अधिक है। इसका मुख्य कारण है कि कवि की जनभाषा से शब्द चयन करने की रुचि। निम्नलिखित वाक्यों की 'निचोवति' और सैतति क्रियाओं के धातु रूप 'निचाव' और 'सैत' जनभाषा से ही प्रभावित हैं—अंसुवनि चीर निचोवति^{५७} । सैतत अड अनक^{५८} ।

व्युत्पत्ति के विचार से अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त धातुओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—मूल और यौगिक धातु । प्रथम से आशय उन धातुओं से है जो स्वतन्त्र निर्मित हैं, किसी दूसरे शब्द से नहीं बनायी गयी हैं, जैसे—

अ कर—सूर कहूँ पर घर माही जैसे हाल करायौ^{५९} ।

आ चल—बाहु सौं बात चलाई^{६०} ।

द्वितीय वर्ग में वे धातुएँ आती हैं जो दूसरे शब्दों से बनायी गयी हैं, जैसे—

छमा, छमनो या छमानो—जाँबवती समेत मनि दै पुनि अपनी दोष छमायौ^{६१} ।

सताप, सतापनो—अरु पुनि लाभ सदा सतापै^{६२} ।

सूरदास द्वारा प्रयुक्त यौगिक धातुओं के पुनः दो वर्गों में विभेजित जा सकते हैं—क प्रेरणार्थक धातु और ख नाम धातु ।

क प्रेरणार्थक धातु—दूसरे शब्दों से बनी हुई धातुओं के जो विभूत रूप वाक्य में 'कर्त्ता' का किसी कार्य या व्यापार की ओर प्रेरित किया जाना सूचित करते हैं, वे 'प्रेरणार्थक' धातु कहलाते हैं। इसी से प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। साधारणतः 'आना', 'जाना', 'पाना', 'सकना' आदि कुछ क्रिया-रूपा का छोड़कर अन्य क्रियाओं के दो प्रेरणार्थक रूप हाव हैं—पहला सकर्मक रूप और दूसरा शुद्ध प्रेरणार्थक रूप। सूरदास ने 'सकर्मक' और 'प्रेरणार्थक' रूप वचन के लिए जिन नियमों का आश्रय लिया है, उनमें मुख्य ये हैं—

अ क्रिया के मूल रूप अर्थात् धातु के अंतिम अक्षर का आकारान्न बरके और

५५ सा १-१८० । ५६ सा १६४० । ५७ सा ११०७ । ५८ सा ९-५८ ।

५९ सा २५११ । ६० सा. २९९७ । ६१. सा. ४१९० । ६२ सा ३-१३ ।

कभी-कभी अंत में अतिरिक्त 'आव' या 'वा' जोड़कर; जैसे—माया तुमसों
कपट करावति^{६३} । स्पंदन खडि महारथि खंडों, कपिध्वज सहित गिराऊँ^{६४} ।
बालमुकुदहि कत तरसावति^{६५} । छेरी कौन दुहावै^{६६} । गनिका सुव-हित नाम
पढ़ावै^{६७} । नाम-प्रताप बढ़ायो^{६८} । आदि पुरुष मोको प्रगटायो^{६९} । वे
रुचि सों अँचयावत^{७०} । सुमिरत ओ सुमिरावत^{७१} ।

आ. एकाक्षरी आकारात धातु को ह्रस्व अर्थात् अकारात करके और उसके बाद 'व'
जोड़कर, जैसे—माखन खाइ, खवायो ग्वालनि^{७२} ।

इ. एकाक्षरी एकारात और ओकारात धातु को क्रमशः इकारात और उकारात करके
और उसके अंत में 'रा', 'ला' या 'वा' जोड़कर, जैसे—गारी होरी देत
दिवावत^{७३} । जमुदा मदन गुनाल सुवचै^{७४} ।

ई. दो अक्षरों की धातु के प्रथमाक्षर की 'आ', 'ई' या 'ऊ' मात्राओं को लघु
करके और अंत में 'आ', 'आव' या 'वा' जोड़कर, जैसे—बहुरि बिधि
जाइ छमवाइ के रुद्र को^{७५} । काहूँ कछु न जनावत^{७६} । दोउ सुतनि जिया-
वति^{७७} । मन मेरै नट के नायक ज्यों नितही नाच नचायो^{७८} । नयो देवता
कान्ह पुजावत^{७९} । मदन चोर सों जानि (आपुकी) मुसयो^{८०} । अति रस-रासि
लुटावत लूटत^{८१} । राधिका मोन-व्रत किन सधायो^{८२} ।

ऊ. दो अक्षरों की धातु के प्रथमाक्षर के 'ए' या 'ओ' की मात्राओं के स्थान पर
क्रमशः 'इ' या 'उ' करके और अंत में 'आ', 'रा' या 'राव' जोड़कर, जैसे
फदन काटि छुड़ायो^{८३} । हो तुम्है दिखराइहों वह रूप^{८४} । जसुमति...लाल
लिए कनियाँ चदा दिखरावति^{८५} ।

ए. तीन अक्षरों की कुछ धातुओं के द्वितीय अक्षर को दीर्घ करके, जैसे—पछिले
कर्म सम्हारत नाही^{८६} ।

ख. नाम धातु—क्रिया के मूल रूप के स्थान पर सज्ञा या विशेषण शब्द का जब
धातु के समान प्रयोग किया जाता है और उसमें 'नो' जोड़कर क्रिया का सामान्य रूप
बनाया जाता है, तब उसे 'नाम धातु' कहते हैं । सूर-काव्य में इस प्रकार के अनेक
प्रयोग मिलते हैं । ऐसे क्रिया-प्रयोगों से वाक्य को सगठित बनाने में तो विशेष सहायता
मिलती ही है, संक्षेप में बात कहने की सुविधा भी रहती है । ये प्रयोग भाषा की

६३ सा १-४२ ।

६४ सा १-२७० ।

६५ सा ३६५ ।

६६ सा १-१६८ ६७ सा. १-२२२ । ६८ सा. १-१८८ । ६९ सा २-३६ ।

७० सा. १३०७ । ७१ सा २-१७ । ७२ सा १०-३०३ ।

७३ सा. २९०१ । ७४ सा. १०-६५ । ७५ सा ४-६ । ७६ सा ८-४ ।

७७ सा १०-२२८ । ७८ सा १-२०५ । ७९ सा ९०६ । ८० सा २५११ ।

८१ सा. ६८६ । ८२ सा १७२९ । ८३ सा. १-१८८ । ८४ सा. ८-१० ।

८५ सा. १०-९५ । ८६ सा. १-६१ ।

प्रकृति से मेल खानेवाले और जन-साधारण के लिए बोधगम्य अवश्य होने चाहिए। मूल-काव्य में प्राप्त इस प्रकार के रूपों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अ. सत्ता से बने रूप और आ. विशेषण से बने रूप।

अ. संज्ञा से बने रूप—जिन सत्ता शब्दों को धातुवत् स्वीकार करके सूरदास ने 'नो' के योग से सामान्य क्रिया-रूप बनाये हैं और जिनके विविध विकृत रूपों का अपने काव्य में सर्वत्र प्रयोग किया है, उनमें से कुछ यहाँ संक्षिप्त हैं,—पुन्यफल अनुब्रमति नदपरनि^{१०}। स्वाम प्रीतिहि तैं अनुरागत^{११}। वै कितनों अपमानत^{१२}। दसर चले अवध आनंदत^{१३}। सोइ तुम उपदेसियौ^{१४}। को सकैं उदमाइ^{१५}। बाजु अति कोपे हैं रन राम^{१६}। कृष्ण-जन्म सु प्रेमसागर क्रीड़ैं सब ब्रज लोग^{१७}। इहि तन छनभगुर के कारन गरयत कहा गँवार^{१८}। घोरी कृपा बहुत गरदानी^{१९}। हरि उनके दोष छुमाए^{२०}। यह निदिहै मोहि^{२१}। मनहुं प्रसंसत पिव दर बानी^{२२}। इतिहै बधायौ कस^{२३}। निपट निसक विगदति सम्मुख^{२४}। सुन्दर नारि ताहि विनाहै^{२५}। ज्ञान विवेक विरोधै दोऊ^{२६}। ओछनि हूँ च्यौहारत^{२७}। उडत नही मन क्रीड़त^{२८}। तब सजामकों संकाइ^{२९}। अरु पुनि लोभ सदा संतापै.. हरि माया सब जग संतापै...सुख दुख तनिकी तिहि न सँतापै^{३०}। अक्रूर सब कहि संतोषै^{३१}। भाल-तिलक भुव चाप लें सोइ सधान संधानत^{३२}। हम प्रतिपालै, बहुरी संहरै^{३३}। उत्तम भाषा ऊँचे चढि-चढि अंग अंग सगुनावै^{३४}। अतिथि आए को नहि सनमानै^{३५}। मति माता करि कोप सयपै^{३६}। मोहन मोहनि अंग सिंगारत^{३७}। सेवत जाहि महेस^{३८}। बलक अधिक सोभावै^{३९}। कपट करि विप्र को स्वांग स्वाम्यौ^{४०}। नैना हठत खरे रो^{४१}। हृदय होमत हवि^{४२} आदि।

आ. विशेषण से बने रूप—सत्ता शब्दों की भाँति कुछ विशेषणों को भी धातु-रूप में स्वीकार करके कवि ने, क्रिया के सामान्य रूप के विकृत प्रयोग किये हैं, परन्तु ऐसे प्रयोगों की संख्या, सत्ता-रूपों की अपेक्षा बहुत कम है, जैसे—देखन सूर अग्नि अधिकाजी^{४३}। यह दीन्हैं ही अधिकाहैं^{४४}। तऊ नहि रुपितात^{४५}। जोग दृढ़ान्यौ^{४६}। सोवन लोलति^{४७}।

८७. सा. १०-१०९।	८८. सा. १९०५।	८९. सा. २३१३।
९०. सा. ९-२७।	९१. सा. ३४३१।	९२. सा. १८१९।
९३. सा. ९-१५८।	९४. सा. १०-२६।	९५. सा. १-८४।
९६. सा. ११२७।	९७. सा. ८००।	९८. सा. ३५८७।
९९. सा. २७८५।	१००. सा. ३४१२।	१०१. सा. ३५८७।
१०२. सा. १०-३२६।	१०३. सा. ३-१३।	१०४. सा. १-१७३।
१०५. सा. १-१२।	१०६. सा. १७९१।	१०७. सा. ७-२।
१०८. सा. ११-३।	१०९. सा. ११-३।	११०. सा. २९६७।
१११. सा. १०-२३९८।	११२. सा. ४-३।	११३. सा. ३४५५।
११४. सा. १२-३।	११५. सा. १-५४।	११६. सा. २६२८।
११७. सा. ४२१५।	११८. सा. १९-६४।	११९. सा. ४२१०।
१२०. सा. १०-६५।	१२१. सा. ४२१५।	१२२. सा. १९-६४।
१२३. सा. २०-२७८१।	१२४. सा. २१-३।	१२५. सा. ५९३।
१२६. सा. २२६७।	१२७. सा. १२९८।	१२८. सा. २४-०१।
१२९. सा. २४-३९।		

उक्त तथा सूर-काव्य में प्राप्त अन्यान्य नामधातुओं को प्रयोग-विस्तार की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे नामधातुएँ आती हैं जिनको कवि-समाज ने उपयुक्त समझ कर अपना लिया है, कोशों में जिनको स्थान मिल चुका है और गद्य में तो कम, पद्य में अवश्य अनेक कवियों ने जिनका यथावसर प्रयोग भी किया है; जैसे—अनुभवना, अनुमानना, अनुरागना, अपमानना, उपदेसना, कोपना, गरवना, छमाणा, चोरना, प्रससना, बिबाहना, व्यवहारना, सधारना, सनमानना, सिंगारना, सेवना, हठना, होमना आदि। दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनका प्रचार तो अपेक्षाकृत सीमित रहा, परंतु जिनसे कवि की स्वतंत्र मनोवृत्ति के साथ साथ नवीन शब्द-निर्माण करनेवाली उसकी अद्भुत प्रतिभा का परिचय मिलता है, जैसे—अधिकना, आदरना, आनदना उपमाना, क्रीड़ना, तृपिताना, दृढाना, निदना, प्रससना, बंधाना, बिबादना, बिरोधना, ब्रीड़ना, लोलना, सकाना, सगुनाना, सोभना, स्वांगना आदि।

अनुकरण धातु—उक्त रूपों के अतिरिक्त सूर-काव्य में एक प्रकार के और धातु-रूप मिलते हैं जिन्हें 'अनुकरण धातु' कह सकते हैं। ये रूप किसी पदार्थ या व्यापार की ध्वनि के अनुरूप बने शब्दों से अथवा उनमें 'आ' जोड़कर बनाये जाते हैं। इनमें 'ना' या 'नो' के योग से क्रिया का सामान्य रूप बनता है जिसके विकृत प्रयोगों की संख्या सूर-काव्य में पर्याप्त है, जैसे—कदम करारत काग^{२६}। बरत बन पात भहरात, भहरात, अररात तह महा धरनी गिरायो^{२७}। घहरात गररात दररात हररात तररात महरात माथ नाए^{२८}। दरदरात घहरात प्रबल अति^{२९}।

२. कृदंत—

संज्ञा और विशेषण शब्दों का प्रयोग सूरदास ने जिस प्रकार धातु रूप में करके, 'नो' के योग से सामान्य क्रियाएँ बनायी हैं, उसी प्रकार अनेक धातुओं का मूल रूप में अथवा विविध प्रत्यय जोड़कर उनका प्रयोग संज्ञा, विशेषण आदि अन्य शब्द-भेदों के समान भी किया है। ये द्वितीय प्रकार के रूप ही 'कृदंत' कहलाते हैं। संयुक्त क्रियाओं के निर्माण में इनका विशेष रूप से उपयोग होता है। स्थूल रूप से इनके दो भेद किये जा सकते हैं—१. विकारी कृदंत और २. अविकारी कृदंत।

१. विकारी कृदंत—इनका प्रयोग मुख्य रूप से संज्ञा और विशेषण के समान किया जाता है। इनके चार भेद होते हैं—क. क्रियार्थक संज्ञा, ख. कर्तृवाचक, ग. कर्तृमान-कालिक कृदंत और घ. भूतकालिक कृदंत।

क. क्रियार्थक संज्ञा—धातु के अंत में 'ना' या 'नो' जोड़ने से व्रजभाषा-क्रिया का जो सामान्य रूप बनता है, उसका प्रयोग क्रियावत् न होकर प्रायः संज्ञा के समान किया जाता है। इसी को 'क्रियार्थक संज्ञा' कहते हैं। सूर-काव्य में प्रयुक्त अधिकांश क्रियाएँ धातु में 'ना', 'नो' अथवा इनके विकृत रूपों के संयोग से बनायी गयी हैं,

अथर्वि कुछ अनिश्चित रूप भी बन-नब मिलते हैं। इस प्रकार इनके तीन वर्ग दिये जा सकते हैं—स. 'नो' से बने रूप, अ. 'वो' से बने रूप और ज. अन्य रूप।

स. 'नो' से बने रूप—धातु में 'नो' अथवा उनके जिन विवृत रूपों के संयोग से त्रिप्रायिक सज्ञा के रूप सूरदास ने बनाये हैं, उनमें मुख्य यहाँ दिये जाते हैं—

अ. न—अज नयोई न आवन^{३०}। माखन न्यान निखाए^{३१}। कहत तिनचों घून घूँटन, नाहि च लत प्रीति^{३२}। मन, रहन बढल बरि जान्यो^{३३}।

नकारात रूपों के साथ-साथ कहीं-कहीं सूरदास ने विभक्तियों का भी प्रयोग किया है, जैसे—नय के गहन की सुधि भुलाई^{३४}। धारे नद मुवन-मुख जोहन कौं^{३५}। दोष देन कौं नौकी^{३६}।

आ. ना—ब्रजभाषा की ओकारात प्रकृति में मेल न खाने के कारण नाकारात रूपों की संख्या बहुत कम है। तुलना-पूर्ति के लिए अपवाद-रूप में ही ऐसे प्रयोग दिखायी देने हैं, जैसे—तिनहि कछिन भयो देहरि डल यना^{३७}।

इ. नि—मुख की कहनि कहैया की^{३८}। वह चलनि मनोहर^{३९}। यह छौड़नि वह पोषनि^{४०}। कर धरि चक्र चरन की धावनि^{४१}। वा प्रताप की मधुर दिलोरनि पर वारों नब नूप^{४२}।

ई. नी—निकारात रूपों की तुलना में इस प्रकार के रूपों की संख्या बहुत कम है : जैसे—मुख मुख जोरि तिलक की करनी^{४३}।

उ. नौ—स्वाम की मिलनौ बड़ी दूरि^{४४}। प्रातप्रियाहि रुननौ कहि कैसी^{४५}।

अ. 'वो' से बने रूप—धातु में 'वो' या इसके निम्नलिखित रूपों में के संयोग से त्रिप्रायिक सज्ञाएँ सूरदास ने बनायी हैं—

अ. व—दुरलभ जनम लहन वृदावन^{४६}।

आ. इवे, वे—इस प्रत्यय के योग में बने रूपों के साथ कभी विभक्ति का प्रयोग सूर ने किया है और कभी नहीं किया है, जैसे—तीनि ओर कहिये कौं रहो^{४७}। जोग अगनि दहिबे कौं ध्यायो^{४८}। मिलिये मोक उदान बनत चित^{४९}। नैवे कौं कछु भाबी दीन्हो^{५०}। भयो काम कुमति दीवे कौं^{५१}। लवे कौं धाए^{५२}। जडि न समत उड़िये बहुलावत^{५३}। लखी, और कछु कहिये कौं^{५४}।

३०. सा. ३६६१ ।	३१. सा. २६५७ ।	३२. सा. ३६९१ ।	३३. सा. १-३१९ ।
३४. सा. ४२२१ ।	३५. सा. २९८२ ।	३६. सा. १-१८६ ।	३७. सा. १०-११३ ।
३८. सा. २००३ ।	३९. सा. ३६०२ ।	४०. सा. ४२५८ ।	४१. सा. १-२७९ ।
४२. सा. ९-१३४ ।	४३. सा. ९-१०१ ।	४४. सा. २९६१ ।	४५. सा. २८२६ ।
४६. सा. १२१६ ।	४७. सा. १२-४ ।	४८. सा. ३६१२ ।	४९. सा. २५२४ ।
५०. सा. ४२४५ ।	५१. सा. १-१४४ ।	५२. सा. ४२०० ।	५३. सा. १३६८ ।
५४. सा. ३५१८ ।			

इ. इवै, वै—कहिवै जिय न कछु सक राखी^{५५} । पग दिये तीरथ, जैइवै काज^{५६} । पसरिवै धावत^{५७} । अपनी पिंड पोषिवै कारन^{५८} । फुरै न बचन वरजिवै कारन^{५९} ।

ई. इवौ—कहै माखन को खइवौ^{६०} । ब्रज को वसिऔ मन भावै^{६१} । वहिवौ नही निवारै^{६२} । जिहि तन हरि भजिऔ न कियो^{६३} । सप्तम दिन मरिऔ निरधार^{६४} ।

अ. अन्य रूप—धातु में 'नो', 'वो' अथवा इनके विकृत रूपों का योग न करके अन्य कई प्रत्ययों के संयोग से भी सूरदास ने क्रियार्थक संज्ञाएँ बनायी हैं और कही-कही तो मूल धातु का ही प्रयोग क्रियार्थक संज्ञा के समान किया है, जैसे—

अ. मूल धातु—बांसनि मार मची^{६५} ।

आ. एकारांत रूप—गाए सूर कौन नहि उबरयो^{६६} । और भजे तैं काम सरै नहि^{६७} । हरि सुमिरे तैं सब सुख होइ^{६८} ।

इ. ऐकारांत—जो सुख होत गुपालहि गाऐ^{६९} । उनही को मन राखैं काम^{७०} ।

ई. ऐकारांत—उठि चलि कहै हमारं^{७१} ।

ख. कर्तृवाचक संज्ञा—मूल धातु अथवा क्रियार्थक संज्ञा में जो प्रत्यय जोड़कर सूरदास ने कर्तृवाचक संज्ञा-रूप बनाये हैं उनको भी स्थूल रूप से चार वर्गों में रखा जा सकता है—क्ष. 'न' के योग से बने रूप, ज. 'वार' के योग से बने रूप, झ. 'हाट' के योग से बने रूप और घ. अन्य प्रत्ययों के योग से बने रूप ।

क्ष. 'न' के योग से रूप—न, ना, नि, नी, और नौ—इन पाँच प्रत्ययों के योग से बने जो कर्तृवाचक संज्ञा-रूप सूर-काव्य में मिलते हैं, उनमें से प्रमुख यहाँ संकलित हैं—

अ. न—आपुन भए उधारन जग के^{७२} । (नद-नदन) चरन सकल मुख के करन... रमा कौ हित करन^{७३} । रावन कुल-खोवन^{७४} । गनिका तारन... मैं सठ बिमरायो^{७५} । (गंग तरंग) भागीरथहि भव्य बर दैन^{७६} । हरि ब्रज-जन के दुख विसरावन^{७७} । कृपा निधान.....सदा सँवारन काज^{७८} ।

आ. ना—अखिल असुर के दलना^{७९} ।

५५. सा. ३५४० ।	५६. सा. ४-१२ ।	५७. सा. १०-११० ।
५८. सा. १-३३४ ।	५९. सा. १०-२८३ ।	६०. सा. ३७६६ ।
६१. सा. ४२५४ ।	६२. सा. ३७७८ ।	६३. सा. २-१६ ।
६४. सा. १-२३० ।	६५. सा. २९०५ ।	६६. सा. १-६६ ।
६७. सा. १-६८ ।	६८. सा. १-६८ ।	६९. सा. १-६८ ।
७०. सा. २-५ ।	७१. सा. २-६ ।	७२. सा. २५४० ।
७३. सा. १-२०७ ।	७४. सा. १-३०७ ।	७५. सा. १-८८ ।
७६. सा. १-१२ ।	७७. सा. ६०३ ।	७८. सा. १-१०९ ।
७९. सा. १०-५४१ ।		

इ. नि—हरि जू की बाल छवि ... कोटि मनोज सोभा हरनि^{८८} ।

ई. नी—मूरति दुसह दुख भय हरनी^{८९} ।

उ. नौ—मनिमय भूषन बठ मुकुतावलि कोटि अनग लजायनौ ... स्यामा स्याम विहार सुर ललना ललचायनौ^{९०} ।

अ. 'वार' के योग से बने रूप—वार, वारी, वारे और वारौ आदि रूपांतरों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये जाते हैं। सूर-काव्य में इनमें से प्रथम दो के कुछ उदाहरण मिलते हैं। इनमें से प्रथम एकवचन रूप है और द्वितीय बहुवचन, जैसे—

अ. वार—यह ब्रज की रखवार^{९१} ।

आ. वारे—बहु जोधा रखवारे^{९२} ।

इ. 'हार' के योग से बने रूप—हार, हारि, हारी, हारे और हारौ—इन पांच रूपांतरों के योग से सूरदास ने कृतृवाचक सज्ञा-रूप बनाये हैं। इनमें से प्रथम और अंतिम एकवचन पुल्लिङ्ग रूप हैं और चतुर्थ बहुवचन पुल्लिङ्ग या आदिराधेक। एकवचन हारि और हारी से स्त्रीलिङ्ग रूप बनाये गये हैं, जैसे—

अ. हार—ओढ़नहार कमरि को^{९३} । खेवनहार न खेवट मेरै^{९४} । तच्छव डसनहार मत जान^{९५} । काको दीख दिखहार^{९६} । मथनहार हरि^{९७} । को है मेहनहार^{९८} । राखनहार बहे कोउ और^{९९} । साँची सो लिखहार कहावै^{१००} ।

आ. हारि—हाट की बेचनहारि^{१०१} । मथनहारि सब ग्वारि बुलाई^{१०२} ।

इ. हारी—स्यार्महि तुम भई भिरकनहारी^{१०३} । यह मुरली कुस दाहनहारी^{१०४} । छाँडाँहि बेचनहारी^{१०५} । दीखति है कछु होवनिहारी^{१०६} ।

ई. हारे—अधम उधारनहारे^{१०७} । कमरी के ओढ़नहारे^{१०८} । अति कुबुद्धि मन होवनहारे^{१०९} ।

उ. हारौ—सोइ जानत चाखनहारौ^{११०} । मुगघ चुरावनहारौ^{१११} । को जो याको मेहनहारौ^{११२} । रोमनहारौ नद महर-मृत^{११३} ।

८०. सा. १०-१०९ ।

८१. सा. ९-१०१ ।

८२. सा. २८३२ ।

८३. सा. १३९२ । ८४. सा. ९-१०५ । ८५. सा. १४८७ । ८६. सा. १-१८५ ।

८७. सा. १२-५ । ८८. सा. १२-४ । ८९. सा. ९२० । ९०. सा. ९-१२९ ।

९१. सा. ७-३ । ९२. सा. १-१४२ । ९३. सा. १०-२९५ । ९४. सा. ५२० ।

९५. सा. १५३६ । ९६. सा. १३०९ । ९७. १५१८ । ९८. सा. ४-५ ।

९९. सा. १-२५ । १. सा. १५१७ । २. सा. १-१८५ । ३. सा. १०-१३५ ।

४. सा. १६९५ । ५. सा. ९-३६ । ६. सा. १५९३ ।

घ. अन्य प्रत्ययों से बने रूप—इया, ई, ऐया, क, त, ता, वा और वैया—इन आठ प्रत्ययों से बने कर्तृवाचक संज्ञा-रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'ऐया' के योग से बने रूपों की संख्या सूर-काव्य में सबसे अधिक है। 'ई' को छोड़कर शेष सभी प्रत्यय पुल्लिङ्ग-रूप बनाने के लिए काम में लाये गये हैं; जैसे—

अ. इया—ये दोउ नीर गंभीर पैरिया^१ ।

आ. ई—जग हित प्रगट करी कछनामय अगतिनि की गति दैनी^२ ।

इ. ऐया—कोउ नहिं घात करैया^३ । विविध चौकरी बनाउ घाय रे बनैया^४ ।
बहुविधि जरि करि जराउ ल्याउ रे जरैया^५ । धन्य रे गड़ैया^६ झूली हो भुलैया^७ । ये दोउ मेरे गाइ चरैया^८ ।

ई. क—कंस-उरहिं के सालक^{१२} ।

उ. त—ये सबही के घात^{१३} ।

ऊ. ता—तुमहि भोगता, हरता, करता तुमही^{१४} । परम पवित्र मुक्ति को दाता^{१५} ।

ए. वा—जानति हैं गोरस के सेवा याही बाखरि माँझ^{१६} ।

ऐ. बया—जहाँ न कोऊ हो रखवैया^{१७} । मन-तगी सो रख-हँकवैया^{१८} ।

ग. वर्तमानकालिक कृदंत—धातु के अंत में 'त' जोड़कर वर्तमानकालिक कृदंत सूरदास ने बनाये हैं। स्त्रीलिङ्ग रूपों में 'त' के स्थान पर 'ति' मिलता है; जैसे—

अ. त—लाखागृह तै जरत पांडु-मुत बुधि-बल नाथ उवारे^{१९} । प्रात समम उठि सोयत सिसु की बदन उधारयो नंद^{२०} ।

आ. ति—ते निकसी देति असोस^{२१} ।

घ. भूतकालिक कृदंत—धातु के अंत में ई, नौ, न्ही, न्हौ, यौ आदि जोड़कर सूरदास ने भूतकालिक कृदंत बनाये हैं। इनमें 'ई' और 'न्हौ' वाले रूप स्त्रीलिङ्ग हैं, शेष सामान्य रूप अर्थात् पुल्लिङ्ग एकवचन हैं। भूतकालिक कृदंतों का प्रयोग प्रायः विशेषणों के समान किया जाता है; जैसे—

अ. ई—दीजं बिदा...काल्हि साँझ की आई^{२२} । आनंद-भरी जसोदा उमेंगि अंग न माति^{२३} ।

आ. नौ—दूध-दही बहु बिधि को दीनौ सुत सौं घरति छिपाई^{२४} ।

इ. न्ही—इद्रहिं की दीन्ही रजधानी^{२५} ।

७. सा. ३५८७ ।

८. सा. ९-११ ।

९. सा. ४२८ ।

१०. सा. १०-४१ ।

११. सा. ५१३ ।

१२. सा. ४२६ ।

१३. सा. ९८६ ।

१४. सा. ८४५ ।

१५. सा. ९-१२ ।

१६. सा. १६७६ । १७. सा. १०-३३५ । १८. सा. ४-१२ । १९. सा. १-१० ।

२०. सा. १०-२०३ । २१. सा. १०-२४ । २२. सा. १०-१६ । २३. सा. १०-३० ।

२४. सा. १०-३२५ । २५. सा. ८८६ ।

ई. न्हौ—मेरै बहुत दर्ई को झीन्ही^{२६} ।

उ. यौ—अम-भौयौ मन भयी पखावज^{२७} ।

२. अविहारी कृदंत—ये कृदंत प्रायः त्रिरादिगेषण और सबधनूचक अन्यर्था के समान प्रयुक्त होते हैं। इनके भी चार भेद हैं—क. पूर्वकालिक, ख. तात्कालिक, ग. अनूप किनाद्योतक और घ. पूर्ण किनाद्योतक ।

क पूर्वकालिक कृदंत—ये कृदंत अकारान्त, आकारान्त, एकारान्त और ओकारान्त धातुओं में इ, ई, ऐ, य आदि प्रायः लगाने दनाये गये हैं। इनके अतिरिक्त धातु के साथ करि, कै, के क आदि के साथ स भी मूल न पूर्वकालिक कृदंत दनाये हैं, जैसे—

अ. इ—सूर कहै जमि फेंट^{२८} । कवन खाट बाँव ल आए^{२९} । तब नै हरिषि कियो छाटी मनु^{३०} । तुम कनहि मरत हो रोट^{३१} । तू कहि वधा सनुसाइ^{३२} । तन होनि मदन मुख मिनी मायनहि जाइ^{३३} ।

आ. ई—हौ देखी जट^{३४} । कहति हौ टेरी^{३५} । न्हाउ भजे कुत हारी^{३६} । सब भाई उत्तर दिना गए हरि ध्याई^{३७} । राखि लेहु बलि बान निवारी^{३८} । दुरदासा दुजोवन पछायो पाटय अति विचारी^{३९} ।

इ. ऐ—नैकु चितै मन हरि लीन्ही^{४०} । ब्रजनामिनि सरदस है सुत-सदन बिसार^{४१} । गगत-मंडल तै गहि आन्ही है पछी एक घट^{४२} । सूर आन इहि नाति रिक्के बिनि तुमहुँ अधर-रस खेउ^{४३} । गिरि लै गए सहाइ^{४४} ।

ई. य—स्वार विष गृह लाए दोन्ही^{४५} ।

उ. अरि—दैअरि साप पिता पहें बायो^{४६} ।

ऊ. के—निटी प्यास जमुना-जल पीके^{४७} ।

ए. कै—लच्छागृह तै पाढ़ि क पाव गृह लावै^{४८} ।

ऐ. कै—देवराज मय भग जानिकै बरणी ब्रज पर^{४९} । मोहि लजिकै^{५०} । अति प्रसव की माट द्रोधि कै अपने सोन घरी^{५१} । कै मनु द्वार मानिकै बंटी^{५२} । खाइ मारिकै बारै^{५३} । (माया) सुसुक्याइ कै..... नन, हरि लीन्ही^{५४} ।

उकारान्त धातुओं के पूर्वकालिक कृदंत दनाने के लिए धातु में 'इ' लगाने के साथ अथ 'उ' के स्थान पर 'य' बद दिया गया है, जैसे—अंतन छूँ बँहर चले^{५५} ।

२६. सा. १०-३२१ ।

२७. सा. १-१५१ ।

२८. सा. १-१४५ ।

२९. सा. २५११ ।

३०. सा. १-१०४ ।

३१. सा. १-२६२ ।

३२. सा. ११-२ ।

३३. सा. ३२९२ ।

३४. सा. १-२८६ ।

३५. सा. १-२५२ ।

३६. सा. १-२२२ ।

३७. सा. १-२८८ ।

३८. सा. १-१६० ।

३९. १-२२२ ।

४०. सा. १-४४ ।

४१. सा. १-९४ ।

४२. सा. १०-१९५ ।

४३. सा. १३३० ।

४४. सा. १-१२२ ।

४५. सा. १-१०२ ।

४६. सा. १-२९० ।

४७. सा. १३९४ ।

४८. सा. १-४ ।

४९. सा. १-१२२ ।

५०. सा. ११-२ ।

५१. सा. १-१८४ ।

५२. सा. १-१३७ ।

५३. सा. १-१८६ ।

५४. सा. १-४४ ।

५५. सा. १४४३ ।

एकाक्षरी ओकारात् क्रिया 'हो' का पूर्वकालिक रूप सूरदास ने 'हैं' बनाया है; जैसे—'हैं' गज चलयौ स्वान की चालहि^{५६} । बान बरपा लागे करन अति कुद 'हैं' । नृपति रिपिनि पर 'हैं' असवार चलयौ^{५८} । गोप-पुत्र 'हैं' चलयौ^{५९} । उठि चलयौ 'हैं' दीन^{६०} ।

इनके अतिरिक्त कुछ धातुओं का मूल रूप में ही पूर्वकालिक कृदंतों के समान सूरदास ने प्रयोग किया है; जैसे—भुक्त होइ नर ताको जान^{६१} । स्वामिनि-सोभा पर वारति सखि वृन तूर^{६२} । जगतपति आए खगपति त्याज^{६३} ।

ख. तात्कालिक कृदंत—ये कृदंत तकारात् वर्तमानकालिक कृदंतों के अंत में मुख्यतः 'हिं', 'हीं' या 'ही' जोड़कर बनाये गये हैं; जैसे—

अ. हिं—बसुदेव उठे यह सुनतहि^{६४} ।

आ. हीं—आवतहीं भई कौन बिथारो^{६५} । यह बानी कहतहीं लजानी^{६६} । चितवतहीं सब गए झुराई^{६७} । मुख निरखतहीं सुख गोपी प्रेम बढावत^{६८} । प्रभु वचन सुनतही हनुमत चलयौ अतुराई^{६९} ।

इ. हो—जैसी कही हमहि आवतहो^{७०} । सुरन के कहतही धारि कूरम तनहि^{७१} । सुमिरतही ततकाल कृपानिधि बसन-प्रवाह बढायो^{७२} ।

इनके अतिरिक्त सूर-काव्य के अनेक पदों में तकारात् वर्तमानकालिक कृदंतों का मूल रूप में भी तात्कालिक कृदंतों के समान प्रयोग किया गया है; जैसे—मेरी देह छुटत जम पठए दूत^{७३} । साँचे बिरद सूर के तारन लोकनि-लोक अवाज^{७४} । नाम लेत बाको दुख टार्यो^{७५} । मुनत पुकार 'दौरि छुड़ायो हाथो^{७६} ।

ग. अपूर्णक्रियाद्योतक कृदंत—ये कृदंत धातु में 'तौ' जोड़कर बनाये गये हैं; जैसे—नैन थके मग जोइतौ^{७७} ।

साधारणतः अपूर्णक्रियाद्योतक रूपों में 'हिं', 'हीं' या 'हिं' नहीं जोड़ा जाता, परन्तु अपवादस्वरूप सूरकाव्य में कही-कही 'हिं' भी दिखायी देता है; जैसे—स्याम खेलतहिं 'कूँ' परे कालीदह जाइ^{७८} ।

घ. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंत—ये कृदंत-रूप धातु में प्रायः 'ए', 'ँ', या 'न्हें', लगाकर बनाये गये हैं, जैसे—वाईं सब ब्रजनारि सहज सिंगार किए^{७९} । नाचत महर मुदित मन कीन्हें^{८०} । बन तैं आवत धेनु चराए^{८१} । खेलत फिरत कनकमथ आँगन पहिरे-

- | | | | |
|-----------------|-----------------|----------------|-----------------|
| ५६. सा. १-७४ । | ५७. सा. १-२७१ । | ५८. सा. ६-७ । | ५९. सा. ६-०४ । |
| ६०. सा. ११-२ । | ६१. सा. ३-१३ । | ६२. सा. २८६८ । | ६३. सा. १-२५५ । |
| ६४. सा. १०-८ । | ६५. सा. ६९७ । | ६६. सा. ७७६ । | ६७. सा. ९२७ । |
| ६८. सा. ६१७ । | ६९. सा. ९-१४९ । | ७०. सा. ३५१६ । | ७१. सा. ८-९ । |
| ७२. सा. १-१०९ । | ७३. सा. १-१५१ । | ७४. सा. १-९६ । | ७५. सा. १-१४ । |
| ७६. सा. १-११२ । | ७७. सा. ४२५७ । | ७८. सा. ५४३ । | ७९. सा. १०-२४ । |
| ८०. सा. १०-४ । | ८१. सा. ४१७ । | | |

साल पनहियाँ^{८३} । बन ली आवत गो-पद-रज लपटाए^{८३} । स्याम आपने कर लोन्हे बाँटत जूठन भोग^{८४}

३. वाच्य—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य, तीनों में से प्रथम के प्रयोग तो सूर-काव्य में सामान्य है, अंतिम दो वाक्यों के प्रयोगों में विशेषता मिलती है ।

क. कर्तृवाच्य—इस प्रकार के प्रयोगों में वाक्य की क्रिया का पुरुष, वचन और लिंग, तीनों बातें कर्ता के अनुसार होती हैं । वर्तमान और भविष्यकाल में प्रयुक्त अकर्मक और सकर्मक, दोनों प्रकार की क्रियाएँ सूर-काव्य में मिलती हैं, परंतु भूतकाल में केवल अकर्मक क्रियाएँ ही कर्मवाच्य में प्रयुक्त हुई हैं, जैसे—मन मेरी हरि साथ गयी^{८५} । चित रहो राधा हरि की मुख^{८६} । ब्रज जुवती 'स्याम सिर तिलक बनाति'^{८७} । बैठी मानिनी गहि मौन^{८८} । बहुरि फिर राधा सजति सिंगार^{८९} ।

ख. कर्मवाच्य—वाक्य में क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष जब कर्म के अनुसार होता है, तब उसका प्रयोग 'कर्मवाच्य' कहलाता है । ऐसे प्रयोगवाले वाक्यों में कर्ता, यदि हा तो, वरणकारक में रहता है । इस वाच्य के रूप सूरदास ने तीन प्रकार से बनाये हैं—स. 'जानो' क्रिया की सहायता से, व प्रत्ययों के योग से और ज. अव्य प्रयोग ।

स. 'जानो' क्रिया से बने रूप—गयो, जाइ, जाई, जात, जाति—'जानो' क्रिया के मुख्यतः इन रूपांतरों से सूरदास ने कर्मवाच्य रूप बनाये हैं, जैसे—

अ. गयो—हमपै घोष गयी नहि जाइ^{९०} । विनु प्रसंग तहँ गयो न जाई^{९१} ।

आ. जाइ—कहि न जाइ या सुख की महिमा^{९२} । तेरो भजन नियो न जाइ^{९३} ।

(यह गाइ) अगह, गहि नहि जाइ^{९४} । सो काहू पै जाइ न टारी^{९५} । वरनि न जाइ भक्त की महिमा^{९६} ।

इ. जाई—अब कहि न जाई^{९७} । रावन कह्यो, सो कह्यो न जाई^{९८} । तात की आना मोपै मेदि न जाई^{९९} । मोपै लख्यो न जाई^{१००} । ताकी विपाद .. मोपै सद्यो न जाई^{१०१} ।

ई. जात—यह उपकार न जात मिटायो^{१०२} ।

उ. जाति—अतर-प्रीति जाति नहि तोरी^{१०३} । अवि नहि जाति बखानी^{१०४} । विपति जाति नहि वरनी^{१०५} । स्वामी की महिमा कापै जाति दिचारी^{१०६} । अब कंस सहि जाति ठिठाई^{१०७} ।

८२. सा. ९-१९ ।

८३. सा. ४१७ ।

८४. सा. ८४४ ।

८५. सा. १८८८ ।

८६. सा. १७६५ ।

८७. सा. ९५८ ।

८८. सा. २५७४ ।

८९. सा. २१८३ ।

९०. सा. १०२२ ।

९१. सा. १-३ ।

९२. सा. ४-१२ ।

९३. सा. १-४५ ।

९४. सा. १-५६ ।

९५. सा. ४-५ ।

९६. सा. १-११ ।

९७. सा. ८-१० ।

९८. सा. ९-१०४ ।

९९. सा. ९-५३ ।

१ सा. ९-१६१ ।

२. सा. ९-७ ।

३. सा. ४-९ ।

४. सा. १०-३०६ ।

५. सा. १०-१५३ ।

६. सा. ९-७३ ।

७. सा. ३८८ ।

८. सा. १०-३०३ ।

त्र. प्रत्ययों के योग से बने रूप—इये, त आदि प्रत्ययों के योग से सूरदास ने कर्मवाच्य रूप बनाये हैं; जैसे—

अ. इयै—तुम घर मथिगै सहस मथानी^१ ।

आ. त—रंग कापै होत न्यारी हरद-चूनी सानि^{१०} । ये उतपात मिटत इनही पै^{११} ।

ज्ञ. अन्य प्रयोग—उक्त रूपों के अतिरिक्त अनेक ऐसे कर्मवाच्य प्रयोग-सूर-काव्य में मिलते हैं, जिन पर उक्त नियम नहीं लगते । ऐसे प्रयोग मुख्यतः 'आवनो' और 'परनो' क्रियाओं के रूपांतरों के सहयोग से बनाये गये हैं, जैसे—

अ. आवनो—करनी कलनासिधु की मुख कहत न आवै^{१२} । अंग अंग प्रति छबि तरंग गति...क्यों कहि आवै^{१३} ।

आ. परनौ—अबिगत की गति कहि न परति है^{१४} । अबिगत गति जानी न परै^{१५} ।

उर की प्रीति...नहि न परति दुराई^{१६} । तेरी गति लखि न परै^{१७} ।

ग. भाववाच्य—इस वाच्य में प्रयुक्त क्रिया में पुल्लिङ्ग, एकवचन और अन्यपुरुष होता है । साधारणतः भूतकाल में प्रयुक्त सकर्मक भाववाच्य क्रिया के साथ 'ने' का प्रयोग किया जाता है और अकर्मक में 'से' का; परंतु सूरदास ने 'ने' का प्रयोग कहीं नहीं किया है, जैसे—जब तै सुनी खन रह्यो न परै भवन^{१८} ।

४. काल-रचना—

विभिन्न कालों का संबध क्रिया के 'अर्थ' से होता है । 'अर्थ' से तात्पर्य क्रिया के उस रूप से है जो विधान करने की रीति का बोध कराता है । इस दृष्टि से क्रिया के मुख्य पांच अर्थ होते हैं—क. निश्चयार्थ, ख. संभावनार्थ, ग. संदेहार्थ, घ. आज्ञार्थ और ङ. संकेतार्थ । इनके आधार पर कालों के निम्नलिखित १६ भेद किये जाते हैं^{१९}—

क. निश्चयार्थ—१. सामान्य वर्तमान, २. पूर्ण वर्तमान, ३. सामान्य भूत, ४. अपूर्ण भूत, ५. पूर्ण भूत और ६. सामान्य भविष्यत ।

ख. संभावनार्थ—७. संभाव्य वर्तमान, ८. संभाव्य भूत और ९. संभाव्य भविष्यत ।

ग. संदेहार्थ—१०. सदिग्ध वर्तमान और ११. सदिग्ध भूत ।

घ. आज्ञार्थ—१२. प्रत्यक्ष विधि और १३. परोक्ष विधि ।

ङ. संकेतार्थ—१४. सामान्य संकेतार्थ, १५. अपूर्ण संकेतार्थ और १६. पूर्ण संकेतार्थ ।

गीतिकाव्यात्मक विशिष्ट रचना-शैली अपनायी जाने के कारण सूर-काव्य में सभी

९. सा. ८८६ ।

१०. सा. १४५९ ।

११. सा. ६०० ।

१२. सा. १-४ ।

१३. सा. १-६९ ।

१४. सा. १-१२ ।

१५. सा. १-१०५ । १६. सा. ८०१ । १७. सा. १-१०४ । १८. सा. १३६७ ।

१९. पं० कामता प्रसाद गुरु 'हिंदी व्याकरण', पृ. ३३५ ।

कालों के सभी पुरुषों, वचनों और लिंगों के पर्याप्त उदाहरण नहीं मिलते; विशेष रूप में सभाव्य वर्तमान, सभाव्य भूत, सदिग्ध वर्तमान, सदिग्ध भूत, अपूर्ण संकेतार्थ और पूर्ण संकेतार्थ — इन छह काल-भेदों के उदाहरण बहुत कम हैं। विशेष ध्यान देने पर इन कालों में प्रयुक्त कुछ त्रिया रूपों के उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं, जैसे— धर्म विचारत मन म होई^{२०} (सभाव्य वर्तमानकाल), प्रेमकथा सोई पै जानै जारै मोती होई^{२१} (सभाव्य भूतकाल) आदि, परन्तु इनके आधार पर काल विशेष के रूप-निर्माण-सम्बन्धी नियमों का निर्धारण करना उपयुक्त न होगा। अतएव उक्त छह काल-भेदों का छोड़कर दोष दस भेदों के विभिन्न कालों, पुरुषों और वचनों के प्रयोगों का मकलन और उनके नियमों की विवेचना यहां करना है।

विभिन्न कालों में प्रयुक्त रूपों में पुरुष (उत्तम, मध्यम और जन्य), वचन (एक० और बहु०) तथा लिंग (स्त्रीलिंग और पुल्लिंग) के अनुसार परिवर्तन होता है। इस ध्यान में रखकर ही सूरदास के क्रिया-प्रयोगों की काल रचना पर विचार करना है।

१. सामान्य वर्तमान^{२२}— इस कारक के लिए दो प्रकार के प्रयोग सूरदास ने किये हैं। प्रथम वर्ग में 'होना' क्रिया के विवृत रूपों या इनके योग से बने रूपों के प्रयोग आते हैं और द्वितीय वर्ग में अन्य त्रियाओं के।

क. 'होना' क्रिया से बने प्रयोग—विभिन्न पुरुषों और वचनों में 'होना' क्रिया के मुख्य सामान्य वर्तमानकालिक जो प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं, उनका प्रयोग प्रायः होना लिंगों में किया गया है—

क. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : एकवचन— इस वर्ग का प्रमुख रूप 'हो' है जिसका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र किया गया है, जैसे — (मैं) देखति हो^{२३}। दुख पावत हो^{२४}। न तदही की वकति हो^{२५}। भक्त-भवन में हो जु वसत हो^{२६}।

ख. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : बहुवचन— इस वर्ग में मुख्य रूप आहि^{२७} है, जैसे — तुव ननसाव माहि हम आहि^{२८}।

ग. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : एकवचन— 'आहि' और 'हो' इस वर्ग के दो मुख्य रूप हैं जिनमें से द्वितीय का प्रयोग सूर-काव्य में अधिक मिलता है, जैसे—

अ. आहि— मोटी तू आहि^{२९}। तू को आहि^{३०}। छन करत कछू तू आहि^{३१}।

आ. हो— इसका प्रयोग स्वतंत्र क्रिया के रूप में हुआ है और सहायक क्रिया के रूप में भी, जैसे— तुमही हो साखि^{३२}। तुम हो परम सभागे^{३३}।

२०. सा. १-२९०। २१. सा. ३५४२।

२२. 'सामान्य वर्तमान' को 'वर्तमान निश्चयार्थ' भी कहते हैं लेखक।

२३. सा. ७७४। २४. सा. १-३००। २५. सा. २४८७। २६. सा. १-२४३।

२७. सा. ६-५। २८. सा. ५-४। २९. सा. ६-८। ३०. सा. ७-२।

३१. सा. १-१८२। ३२. सा. १०-४।

घ. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग का मुख्य रूप 'हौ' है; जैसे—भीत बिना तुम चित्र लिखति हौ । तुम चाहति हौ गगन-तरैयाँ^{३३} ।

ङ. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : एकवचन—अहै, आह, आहिं, आहि, आहै, हैं और है—इस वर्ग के मुख्य रूप हैं जिनमें 'आहि' और 'हैं' आदरार्थक हैं । प्रयोग की दृष्टि से 'हैं' और 'है' का महत्व सबसे अधिक है, यो 'आहि' भी अनेक पदों में मिलता है, जैसे—

- अ. अहै—राखनहार अहै कोउ औरै^{३४} ।
 आ. आह—मेरो पति सिव आह^{३५} । नृपति कह्यो, मारग सम आह^{३६} । एक पद में 'न' के साथ 'आह' की सधि भी सूरदास ने की है—तुम-सौ नृप जग में नाह^{३७} ।
 इ. आहिं—इनमें को पति आहिं तिहारे^{३८} ।
 ई. आहि—आहि यह सो भुँडभाल^{३९} । नर-सरीर सुर ऊपर आहि^{४०} । औरी दंडदाता कोउ आहि^{४१} । व्याह-जोग अब सोई आहि^{४२} । मन तो एकहि आहि^{४३} ।
 उ. आहै—प्रबल सत्रु आहै यह मार^{४४} ।
 ऊ. हैं—इस आदरार्थक एकवचन रूप का प्रयोग स्वतंत्र और सहायक, दोनों रूपों में किया गया है, जैसे—ऐसे हैं जदुनाथ गुसाई^{४५} । प्रभु भक्तबछल हैं^{४६} । अंत के दिन को हैं घनस्याम^{४७} । सब ससन के जीवन हैं हरि^{४८} । (वासुदेव) बिनु बदलै उपकार करत हैं^{४९} । स्याम इन्हें भरहायत हैं^{५०} । चित्रगुप्त लिखत हैं मेरे पातक^{५१} ।
 ए. है—'हैं' की तरह 'है' का प्रयोग भी स्वतंत्र और सहायक, क्रिया के दोनों रूपों में सूरदास ने किया है; जैसे—अधम कोन है अजामील तै^{५२} । सूरदास की एक आँखि है^{५३} । सूर पतित कों ... है हरि-नाम सहारो^{५४} । पाप-पुन्य कों फल सुख-दुख है^{५५} । समदरसी है नाम तिहारो^{५६} । बड़ी है राम-नाम की ओट^{५७} । अध-सिंधु बढ़त है^{५८} । जलधारा वरमतु है^{५९} ।

च. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : बहुवचन—अहैं, आहिं, आहों और हैं—

३३. सा. ७७३ ।	३४. सा. ७-३ ।	३५. सा. ४-७
३६. सा. ५-४ ।	३७. सा. ९-४ ।	३८. सा. ९-४५ ।
३९. सा. १-२२६ ।	४०. सा. ५-४ ।	४१. सा. ६-४ ।
४२. सा. १-२२६ ।	४३. सा. १-२२९ ।	४४. सा. १-३ ।
४५. सा. १-३२ ।	४६. सा. १-७६ ।	४७. सा. १-२१२ ।
४८. सा. १-३ ।	४९. सा. ३३२७ ।	५०. सा. १-१९७ ।
५१. सा. १-४७ ।	५२. सा. १-१३९ ।	५३. सा. १-१५१ ।
५४. सा. १-२३२ ।	५५. सा. १-१०७ ।	५६. सा. १-२२० ।
५७. सा. १-२३२ ।	५८. सा. १-१०७ ।	५९. सा. ८७६ ।

इस वर्ग के चार प्रमुख रूप हैं जिनमें से अंतिम का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—

अ. अहैं—अहैं कुलटा कुलटा ये दोऊ^{६०} ।

आ. आहि ये को आहि विचारे^{६१} । ते आहि वचन विनु^{६२} ।

इ. आहीं—ब्रज सुदरि नाहि नारि, रिचा स्तुति की सब आहीं^{६३} ।

ई. हैं—इसका प्रयोग स्वतंत्र और सहायक, क्रिया के दोनों रूपों के समान सूर-काव्य में मिलता है; जैसे—और हैं आजकाल के राजा^{६४} । ओगुन मोम बहुत हैं^{६५} । भावी के बस तीन लोक हैं^{६६} । ये कैसी हैं लोभिनी^{६७} । नैन स्याम-सुख लूटत हैं .. आपुहि सब चुरावत हैं^{६८} । जोहत हैं वे पंथ तिहारो^{६९} । लोग पियत हैं ओरें^{७०} ।

अ. अन्य क्रियाओं के सामान्य वर्तमानकालिक प्रयोग—विभिन्न कालों और वचनों के अनुसार अन्य क्रियाओं के सामान्य वर्तमानकालिक रूप भी बदलते रहते हैं । लिंग का अंतर साधारणतः तकारात रूपों में होता है, पुल्लिंग में 'त' और स्त्रीलिंग में 'ति' या 'ती' ।

क. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुषः एववचन—इस वर्ग में वही तो वर्तमानकालिक मूल कृदन्त रूपों का व्यवहार किया गया है और वही धातुओं और कृदन्तों में निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर सामान्य वर्तमान के उत्तम पुरुष, एववचन में प्रयुक्त रूप बनाये गये हैं जिनमें से 'ओं' का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है; जैसे —

अ. छँ—तानें देछें तुम्हें मैं साप^{७१} । तेइ कमल पद ध्याछें^{७२} । मैं सेंट-मेठ न निमाछें^{७३} ।

आ. ऊँ—हो अनतहि दुख पाऊँ ... काजर मुख लाऊँ^{७४} । गौरि-मनेद्वर चीनऊँ^{७५} ।

इ. औँ—मैं काम-क्रोधइह लोभ चितयौँ^{७६} । हो अंतर की जानौँ^{७७} । चरन-कमल घंझौँ हरि राइ^{७८} । हो बोलौँ साखी^{७९} । हो तैसैं रहौँ .. भूख सहौँ .. भार बहौँ^{८०} ।

ई. त—सदा वरत मैं तिनकी ध्यान^{८१} । कहत मैं तोसौँ^{८२} । हो तो .. रहत विषय के साथ^{८३} ।

-
६०. सा. १३०९ । ६१. सा. १-१७९ । ६२. सा. ३५३४ । ६३. सा. ११७५ ।
 ६४. सा. १-१४५ । ६५. सा. १-१८६ । ६६. सा. १-२६४ । ६७. सा. २४०७ ।
 ६८. सा. २३२७ । ६९. सा. ४-१२ । ७०. सा. १०-३२१ ।
 ७१. सा. ३-५ । ७२. सा. १०-३६ । ७३. सा. १-१२८ । ७४. सा. १-१६६ ।
 ७५. सा. १०-४० । ७६. सा. १-१२६ । ७७. सा. १-२४३ । ७८. सा. १-१ ।
 ७९. सा. १-१२२ । ८०. सा. १-१६१ । ८१. सा. २-३५ । ८२. सा. २-३१ ।
 ८३. सा. १-१२५ ।

उ. ति—(मैं) कोटि जतन करि-करि परमोधति^{८४} । चतुराई इनकी मैं भारति^{८५} ।

ऊ. तु—मैं नीकै पहिचानतु नाहिन^{८६} ।

ख. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूपों की सख्या पूर्वोक्त की अपेक्षा बहुत कम है । जो प्रत्यय इस प्रकार के रूप बनाने के लिए सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. ति—हम जु मरति लबलीन^{८७} ।

आ. ऐ—यहै हम तुम सौ चहै^{८८} । हम तिनकों धिन मैं परिहरै । विनु अपराध पुरुष हम मारै^{८९} माया-मोह न मन मैं धारै^{९०} ।

ग. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : एकवचन—ई, ऐ, त, ति, ति और हि—विशेष रूप में इन प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं; जैसे—

अ. ई—हनू, सोच कत करई^{९१} । (तू) अग्र सोच क्यों मरई^{९२} ।

आ. ऐ—रे मन, अजहूँ क्यों न सम्हारै^{९३} कत जनम बादि हीं हरै^{९४} ।

इ. त—लरिकनि कौं तुम (कृष्ण) सब दिन भुठवत^{९५} । पूछे तैं तुम बदन दुरावत^{९६} । तुमहूँ धरत कौन को ध्यान^{९७} । (तुम) राम न भजिकं फिरत काल-संग लागे^{९८} । मोहन, काहे कौं लजियात^{९९} ।

ई. ति(आदरार्थक)—कहा तुम (बृषभानु-धरनि) कहति^{१००} । तुम (यशोदा) नाहिन पहिचानति^{१०१} ।

उ. ति—इसके साथ कही-कही 'हैं' का प्रयोग मिलता है; जैसे—तू काहे कौं भूलति है^१ ।

ऊ. हि—तनक दधि-कारन जसोदा इतो कहा रिसाहि^२ ।

ङ. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप इ, ई, ऐ, ऐ, त, ति, ति, हि, हीं, ही आदि के संयोग से बनाये गये हैं । इनमें से इ, ई, ऐ, ए, त, ति और हि का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है; जैसे—

अ. इ—(जबों आवों साधु-संगति) कछुक मन ठहराइ^३ । अपने कौं को न आदर देइ^४ ।

आ. ई.—पुरुष न तिय बध करई^५ । वह) कछु कुलधर्म न जानई^६ । अटल न

८४. सा. २३५९ । ८५. सा. १७७१ । ८६. सा. १४८८ ।

८७. सा. ३३६४ । ८८. सा. ३-६ । ८९. सा. ९-२ । ९०. सा. ९-१९ ।

९१. सा. १०-४ । ९२. सा. १-६३ । ९३. सा. १०-२५३ । ९४. सा. १०-२७९ ।

९५. सा. २-३५ । ९६. सा. १-६१ । ९७. सा. २६७९ । ९८. सा. ७५१ ।

९९. सा. ७०३ । १. सा. १२३९ । २. सा. ३५० ।

३. सा. १-४५ । ४. सा. १-२०० । ५. सा. १०-४ । ६. सा. १-४४ ।

कबहुँ टरई^७ । (परेवा) तीय जो देखई^८ । आनंद उर न समाई^९ ।

इ. ऐ (आदरार्थक)—नदनैदन कहै^{१०} । अर्जुन रन में याजै... ध्रुव आकास
विराजै^{११} । (स्याम) नैन भरि-भरि प्रिया-रूप चोरै^{१२} । (स्याम) नाना
भेष बनावै^{१३} ।

ई. ऐ—हरि की प्रीति उर माहि करकै^{१४} । नृप-कुल जस गावै^{१५} । कर जोरै
प्रह्लाद बिनवै^{१६} । मूढ मन खेलत हार न मानै^{१७} ।

उ. त—(वासुदेव स्वारथ विना करत मित्राई^{१८} । अरबराइ कर पानि गहावत^{१९} ।
(स्याम) वदन पुनि गोवत^{२०} । इद्र... राज हेत डरपत मन माहि^{२१} । निदत
मूढ मलय चन्दन की^{२२} ।

ऊ. ति (आदरार्थक)—मैया तुमको जानति^{२३} ।

ए. ति—नैन-वदन-छवि यों उपचति^{२४} । तृप्ता नाद करति^{२५} । चंद्रावली
स्वाम मग जोवति... कबहुँ मलय रज भोवति... पुनि पुनि धोवति...
ऐसै रैन विगोवति^{२६} ।

ऐ. हि (आदरार्थक)—इक... देहि असीस खरी^{२७} । एक भेटहि घाइ^{२८} ।

ओ. ही (आदरार्थक)—प्रभु जू साग विदुर घर खाही^{२९} । कै रघुनाथ अतुल
बल राच्छस दसकंधर डरही^{३०} । बारवार कमलदल लोचन यह कहि-कहि
पछिताही^{३१} ।

औ. ही—अनुभवी जानही बिना अनुभव कहा^{३२} ।

‘तकारात’ और ‘तिकारात’ रूपों के साथ-साथ कहीं-कहीं ‘है’ या इसके रूपांतरों
का प्रयोग भी किया गया है; जैसे—मुरली में जीवन-प्राण बसत अहै
मेरी^{३३} । मोहि होत है दुख विनेपि^{३४} । मुंह पाए वह फूलति है^{३५} ।

च. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : बहुवचन—इस प्रकार के रूप मुख्यतः
इ. ऐ त, ति, हि और हीं लगाकर बनाये गये हैं । इनमें से ‘इ’ से बने रूपों का
प्रयोग बहुत कम किया गया है, शेष रूप सूर-काव्य में प्रचुरता से मिलते हैं; जैसे—

ज. इ—सूर हरि की निरखि सोभा कोटि काम लजाइ^{३६} ।

७. सा. ९-९९ । ८. सा. १-३२५ । ९. सा. १०-२७ । १०. सा. १-२४२ ।
११. सा. १-३६ । १२. सा. २१९६ । १३. सा. १०-४५ । १४. सा. २९८७ ।
१५. सा. १-४ । १६. सा. ७-४ । १७. सा. १-६० । १८. सा. १-३ ।
१९. सा. १०-११५ । २०. सा. २५४२ । २१. सा. ११-३ । २२. सा. २-१३ ।
२३. सा. ७०३ । २४. सा. १७६१ । २५. सा. १-१५३ । २६. सा. २४९८ ।
२७. सा. १०-२४ । २८. सा. १०-२६ । २९. सा. १-२४१ । ३०. सा. ९-९१ ।
३१. सा. १०१३ । ३२. सा. १-२२२ । ३३. सा. १०-२८४ । ३४. सा. १-२९१ ।
३५. सा. १२३९ । ३६. सा. ३५२ ।

आ. ऐं—सासु-ननद तिन पर भहरै^{३७} । सुनि मुरलि घोरै सुर-बधु सीसु ढोरै^{३८} ।
पुर-नारि कर जोरि अचल छोरि वीनवै^{३९} । रोवै वृषभ ... निसिं बोलै
काग^{४०} । अर्थ-काम दोउ रहै दुवारै^{४१} ।

इ. त—उधरत लोग तुम्हारे नाम^{४२} । सब कोउ कहत^{४३} । तेऊ चाहत कृपा
तुम्हारी^{४४} । सुख सौ बसत राज उनकै सब^{४५} । महा मोह के नूपुर
वाजत^{४६} । जे भजत राम को^{४७} । सब सेवत प्रभु-पद^{४८} ।

ई. ति—(नागरी सब) कबहुँ गावति • कबहुँ नृत्यति • कबहुँ उघटति रंग^{४९} ।
कहति पुर-नारि^{५०} । तिहिंको ब्रजबनिता भक्तभोरति^{५१} । सूरदास-प्रभु ब्रज-
बधु निरखति^{५२} । सुत को चलन सिखावति • दोउ जनियाँ^{५३} ।

उ. हि—कोसित्या आदिक महतारी आरति करहि^{५४} । जानी ताहि विराट
कहाहि^{५५} । कमल-कमला रवि बिना विकसाहि • पदुम नहि कुम्हिलाहि ..
भोरहुँ विरमाहि^{५६} । (ये) तस्कर ज्यों सुकृति-धन लेहि^{५७} । तीजे मास हस्त-पग
होहि^{५८} ।

ऊ. हीं—(जुवती) नैन अजन अधर ओजहीं^{५९} । बिमुख अगति को जाहीं^{६०} ।
जुवती • उलटे बसन धारहीं^{६१} । जसुमति-रोहिनी • नचावहीं सुत को^{६२} ।
(मुरली-धुनि सुनि) मृग-जूय भुलाहीं^{६३} । नायिका अष्ट अष्टहुँ दिसि सोहहीं^{६४} ।

उक्त प्रत्यात रूपों के अतिरिक्त कही-वही मूल धातु का ही प्रयोग सामान्य वर्तमान
के अन्यपुरुष बहुवचन रूप में किया गया है; जैसे—निगम अत न पाव^{६५} ।

२. पूर्णवर्तमान काल^{६६}—इस काल में प्रयुक्त अधिकांश क्रिया रूप 'हैं' युक्त हैं । रूपों
की संख्या बहुत अधिक न होने और अनेक रूपों की समानता के कारण पुरुष की दृष्टि से
उनका विभाजन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती । वचन की दृष्टि से अधिकांश
'औ' या 'यौ' आदि युक्त रूप एकवचन में तथा 'ए' युक्त आदरार्थक एकवचन या बहुवचन
में रहते हैं । अंतिम के साथ 'हैं' के स्थान पर 'हैं' का प्रयोग किया गया है । इसी
प्रकार एकारात रूप पुल्लिङ्ग में और इकारात-ईकारात स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हुए हैं ।

३७. सा. १९२० ।

३८. सा. २८३९ ।

३९. सा. ३०६७ ।

४०. सा. १-१८६

४१. सा. १-४० ।

४२. सा. ११-३ ।

४३. सा. १-४४ ।

४४. सा. १-१३३ ।

४५. सा. १-२९० ।

४६. सा. १-१५३ । ४७. सा. १०-३९ । ४८. सा. १-१६३ । ४९. सा. १०-५९ ।

५०. सा. ३०६९ । ५१. सा. १०-८८ । ५२. सा. १०-११३ । ५३. सा. १०-१३२ ।

५४. सा. ९-२९ । ५५. सा. ३-१३ । ५६. सा. १-३३८ । ५७. सा. ५-४ ।

५८. सा. ३-१३ । ५९. सा. ९९८ । ६०. सा. २-२३ । ६१. सा. ९९८ ।

६२. सा. १०-११६ । ६३. सा. ६२० । ६४. सा. १०-५२ । ६५. सा. ११-५५ ।

६६. 'वर्तमान' का प्रचलित नाम 'आसन्न भूतकाल' है—लेखक ।

अ. ई—देवकी-गर्भ भई है कन्या^{६०} ।

आ. ए—जनम-जन्म दहु करम विण हैं^{६१} । को जानि प्रभु कहां चले हैं^{६२} ।
द्वारें ठाढ़े हैं द्विज वामन^{६३} । रघुकुल प्रगटे हैं रघुवीर^{६४} । (हरि) दाहिन हैं
बैठे^{६५} । सब प्रतिबूझ भए हैं^{६६} ।

इ. औ—कह्यो, पुरुष वह ठाढ़ी आह^{६७} ।

ई. न्हे—कहा चरित कीन्हे हैं स्वाम^{६८} ।

उ. न्हौ—तुम दहु पतितनि को दौन्हौ हैं मुखधाम^{६९} ।

ऊ. यौ—मैं आयौ हौं सरन तिहारी^{७०} । कस-बाल उपज्यौ है द्रज में जादव
राई^{७१} । गोकुल... देख्यौ है अरि मन्मथ^{७२} । सूर) द्वार पर्यौ है तेरे^{७३} ।
तू तो विषया-रग रँग्यौ है^{७४} ।

३. सामान्य भूतकाल^{७५}—सामान्य भूतकाल (निश्चयार्थ) के प्रयोग तूर काल्य में
दो प्रकार के मिलते हैं—क्ष. 'होना' क्रिया के विवृत रूपों या इनके योग से बने प्रयोग
और प्र. अन्य क्रियाओं के स्वतंत्र प्रयोग ।

क्ष. 'होना' क्रिया के प्रयोग—सामान्य भूतकाल के 'होना' क्रिया से बने
निश्चयात्मक रूप तीनों पुरुषों में प्रायः एक ही रहते हैं; उनमें केवल लिंग और वचन के
अनुसार परिवर्तन होता है ।

प्र. सामान्य भूत : एकवचन पुल्लिङ्ग—'होना' क्रिया के निम्नलिखित विवृत
रूप इस वर्ग में आते हैं—

अ. भयउ—नृप के मन भयउ कुभाउ^{७६} ।

आ. भाए (आदरापेक्षक)—बैर तूर को तुम निठुर भाए^{७७} ।

इ. भयौ—तहें न भयौ बिगाम^{७८} । सोदत मुद्रित भयौ नपने में^{७९} । बिरद
प्रसिद्ध भयौ जग^{८०} । नरपति एक पुररवा भयौ^{८१} ।

ई. भौ—वह सुख बहुरि न भौ रो^{८२} ।

उ. हुते (आदरापेक्षक)—कोमल कर गोवर्धन धारयी, अब हुते नददुलारे^{८३} । अरजुन
के हरि हुते सारथी^{८४} । हुते बान्ह अबहो मोग बन में^{८५} ।

६७. सा. १०-४ । ६८. सा. १-३२६ । ६९. सा. ८-४ । ७०. सा. ८-१३ ।

७१. सा. ९-१८ । ७२. सा. १-२३ । ७३. सा. ३५४८ । ७४. मा. ९-२ ।

७५. सा. १०-३१६ । ७६. सा. १-१७९ । ७७. सा. १-१७८ । ७८. सा. १०-४ ।

७९. सा. ३३१३ । ८०. सा. १-२०६ । ८१. सा. १-६३ ।

८२. 'सामान्य भूतकाल' को 'भूत निश्चयार्थ' भी कहते हैं—लेखक ।

८३. सा. १-२९० । ८४. सा. १-३३३ । ८५. सा. १-५७ । ८६. सा. १-१४७ ।

८७. सा. १-१९१ । ८८. सा. ९-२ । ८९. सा. ३३७१ । ९०. सा. १-२५ ।

९१. सा. १-२६४ । ९२. सा. १०-८६ ।

ऊ. हुतोऊ—तब कत रास रच्यो वृन्दावन जो पै ज्ञान हुतोऊ^{१३} ।

ए. हुतो—अजामील तो विप्र तिहारो हुतो पुरातन दास^{१४} । हुतो जु मोत आघो^{१५} । हो हुतो आढ्य^{१६} । तहाँ हुतो इक सुक को अंग^{१७} ।

ऐ. हो—कहा सुदामा के धन हो^{१८} । तिहि दिन को हितू हो^{१९} । जहाँ मृतक हो हो^{२०} । पहिले हो हो हो तब एक^{२१} । तब धौ जोग कहाँ हो ऊधो^{२२} ।

ख. सामान्य भूत : एकवचन : स्त्रीलिंग—भइ, भई, ही, हुती आदि रूप इस वर्ग में आते हैं, जिनमें से प्रथम दो का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है, जैसे—

अ. भइ—तीनि पैइ भइ (भुवि) सारी^{२३} । कृत्या भइ ज्वाला भारी^{२४} । नदी भइ भूरपूरि^{२५} । हो बिमुख भइ हरि सौं^{२६} ।

आ. भई—मुरली भई रानी^{२७} । हमहूँ तैं नू चतुर भई^{२८} । प्रीति-काथरी भई पुरानी^{२९} । राधा-माधव भेट भई^{३०} ।

इ. हो—माता कहति, कहाँ ही प्यारी^{३१} । हो न जान्यो री कहाँ ही^{३२} ।

ई. हुती—राज के साज में हुती दीपदी^{३३} । वृक्षति जननि, कहाँ हुती प्यारी^{३४} । जो हुतो निकट मिलन की आसा^{३५} । यहै हुती मन उनकै^{३६} ।

ग. सामान्य भूत : बहुवचन : पुल्लिंग—भए, हुए, हुते, हे आदि रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें प्रथम अर्थात् 'भए' का प्रयोग सूर-काव्य में सबसे अधिक मिलता है; जैसे—

अ. भए—सुत कुवेर के मत्त मगन भए^{३७} । ताके पुत्र-सुता बहु भए^{३८} । नैना ढीठ अतिही भए^{३९} । नैना भए पराए चेरे^{४०} । भए सखि नैन सनाथ हमारे^{४१} ।

आ. हुए—यै तिन हरि-दरसन नहिं हुए^{४२} ।

इ. हुते—द्वारपाल जय-विजय हुते^{४३} । असुर द्वै हुते बलवंत भारी^{४४} । चंद हुते तब सीतल^{४५} ।

ई. हे—जाके जोधा हे सौ भाई^{४६} ।

९३. सा. ३९७५ ।

९४. सा. १-१३२ ।

९५. सा. १-१३९ ।

९६. सा. १-२१६ ।

९७. सा. १-२२६ ।

९८. सा. १-१९ ।

९९. सा. १-७७ ।

१ सा. १-१५१ ।

२. सा. २-३८ ।

३. सा. ३६०१ ।

४. सा. ८-१४ ।

५. सा. ९-५ ।

६ सा. १०-५ ।

७. सा. २९९७ ।

८. सा. १३२९ ।

९. सा. २०१२ ।

१०. सा. ३७१४ ।

११. सा. ४२९१ ।

१२. सा. ६७७ ।

१३. सा. १४०० ।

१४. सा. १-५ ।

१५. सा. ७०८ ।

१६. सा. ३३९८ ।

१७. सा. ३८५२ ।

१८. सा. १-७ ।

१९. सा. ४-१२ ।

२०. सा. २३६३ ।

२१. सा. २३९५ ।

२२. सा. ३०३२ ।

२३. सा. ४-९ ।

२४. सा. ३-११ ।

२५. सा. ८-११ ।

२६. सा. ३७३६ ।

२७. सा. १-२४ ।

घ सामान्य भूत : बहुवचन : स्त्रीलिंग—भई, हुती आदि रूप इस वर्ग के हैं जिनमें से प्रथम का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है, जैसे—

अ भई—दासी सहस प्रगट तहँ भई^{२८} । सिथिल भई ब्रजनारि^{२९} । गँयाँ मोटी भई^{३०} । हम न भई वृ दावन-रेतु । सब चकित भई^{३१} ।

आ हुती—तहाँ हुती पनिहारी^{३२} ।

ब अन्य क्रियाओं के प्रयोग—विभिन्न पुरुषों में 'होना' क्रिया के सामान्य भूतकालिक रूप प्रायः समान रहते हैं, परन्तु अन्य क्रिया रूपों में यह बात नहीं होती । अतएव इनका अध्ययन पुरुष और वचन की दृष्टि से करना आवश्यक है ।

क सामान्यभूत : उत्तमपुरुष : एकवचन—यों तो इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूपों में ई, ए, नौ, न्ह, न्हि, न्हे, न्हौ, न्हौ, यौ, यौ आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं, परन्तु मुख्य रूप से 'ए' और 'यौ' प्रत्यात रूपों का ही अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है, जैसे—

अ. ई—अपने जान में बहुत करी^{३३} ।

आ. ए—जे मैं कर्म करे^{३४} । मैं ... कहे वचन^{३५} । मैं चरन गहे ... पाए सुख^{३६} । मैं सोये सब ठौर^{३७} ।

इ. नौ—मैं अपराध भक्त की कीनौ^{३८} ।

ई. न्ह—(हरि) निसि-भुख वासर दीन्ह...सुफल मनोरथ कीन्ह^{३९} ।

उ. न्हि—मैं न कीन्हि सत्राई^{४०} ।

ऊ. न्हे—(हौं) पाप बहु कीन्हे^{४१} ।

ए. न्हौ—सहस भुजा धरि (मैं) भोजन कीन्हो^{४२} ।

ऐ. न्हो—(हौं) जोग-यज्ञ-जप-तप नहि कीन्हौ^{४३} । तच्छक डसन साप मैं दीन्हौ^{४४} ।

ओ. यौ—मैं पर्यौ मोह की फाँसि^{४५} । (मैं) जीत्यों महभारथ^{४६} ।

औ. यौ—(मैं) बेद विमल नहि भाष्यो...यहै कमार्यो^{४७} । (हौं) कियौ न संत समागम बबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारी^{४८} । मैं पायौ हरि होरा^{४९} । (मैं) बाध्यौ बैर^{५०} ।

२८. सा. ९-३ ।

२९. सा. १०-२८३ ।

३०. सा. ६१३ ।

३१. सा. २८७८ ।

३२. सा. ६९३ ।

३३. सा. १-११५ ।

३४. सा. १-१९८ ।

३५. सा. ११-२ ।

३६. सा. १-१७० ।

३७. सा. १-३२५ ।

३८. सा. ९-५ ।

३९. सा. २५२७ ।

४०. सा. १-२९० ।

४१. सा. १-११६ ।

४२. सा. ८४४ ।

४३. सा. १-१११ ।

४४. सा. १-२९० ।

४५. सा. १-१११ ।

४६. सा. १-२८७ ।

४७. सा. १-१११ ।

४८. सा. १-१५२ ।

४९. सा. १-१३४ ।

५०. सा. १-१७३ ।

ख. सामान्य भूत : उत्तमपुरुष : बहुवचन—ए, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययों से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं : जैसे—

अ. ए—(हम) अस्व खोज कतहों नहि पाए^{५१} ।

आ. न्हौ—राज की काज यह हमहि कीन्हौ^{५२} ।

इ. यौ—हम तो पाप क्रियौ^{५३} ।

ग. सामान्य भूत : मध्यमपुरुष—इस वर्ग के रूप धातु, उसके विकृत रूप या कृदन्त में इसि, ई, ए, औ, नी, न्हों, नौ, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययों से बनाये गये हैं। इनमें से 'ई', 'ए', और 'यौ' से बने रूप सूर-काव्य में सर्वत्र पाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश रूप दोनों वचनों में प्रत्युक्त हुए हैं, जैसे—

अ. इसि—रे मन, (तू) जनम अकारथ खोइसि ... उदर भरे परि सोइसि ...
अहमिति जनम त्रिगोइसि^{५४} ।

आ. ई—(तुम) कंचन सी मम देह वरी^{५५} । कहाँ तू आज गई^{५६} । तिन पर तू
अतिही भहरी^{५७} । (तुम) जन-प्रह्लाद-प्रतिज्ञा पुरई^{५८} ।

इ. ए—कहौ कपि, कैसे उतरे पार^{५९} । द्रौपति के तुम बसन छिनाए^{६०} । बिघन
तुम टारे^{६१} । तुम सब जन तारे^{६२} ।

ई. औ—(तुम) भीर परै भीषम-प्रन राख्यो, अर्जुन की रथ होकी^{६३} ।

उ. नी—(तुम) गर्भ परीच्छित रच्छा कीनी^{६४} । भलो सिच्छा तुम दीनी^{६५} ।

ऊ. न्हौ—(तुम) गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्हौ^{६६} । (तुम) असुर-जोनि ता ऊपर
दीन्हौ^{६७} ।

ऋ. नौ—नर, तैं जन्म पाइ कह कीनीं... प्रभु की नाम न लीनीं... गुरु गोबिंद
नहि चीनीं... मन विषया में दीनीं... फिरि वाही मन दीनीं^{६८} ।

ए. न्हौ—बहुत बुरी तैं कीन्हौ... जो यह साप नृपति कीं दीन्हौ^{६९} । तुम
लीन्हौ जग में अवतार^{७०} ।

ऐ. यौ—तुम कहा न क्रियौ^{७१} । तुम भक्तनि अर्भ दियो... गिरि कर-कमल लियो...
दावानलहि पियौ^{७२} । औसर हार्यौ रे तैं हार्यौ... हरि की भजन बिसार्यौ

५१. सा. ९-९ ।

५२. सा. ५८४ ।

५३. सा. १८२८ ।

५४. सा. १-३३३ ।

५५. सा. १-११६ ।

५६. सा. २०१२ ।

५७. सा. २४३४ ।

५८. सा. १-२६ ।

५९. सा. ९-८९ ।

६०. सा. १-२८४ ।

६१. सा. १-२५ ।

६२. सा. १-१३२ ।

६३. सा. १-११३ ।

६४. सा. १-११३ ।

६५. सा. ३-११ ।

६६. सा. १-२६ ।

६७. सा. १-१०४ ।

६८. सा. १-६५ ।

६९. सा. १-२९० ।

७०. सा. १-४१ ।

७१. सा. १-२६ ।

७२. सा. १-१२१ ।

.. सुन्दर रूप सँचार्यो^{७३} । हरि, तुम बलि की छलि लीन्यो.. कोन सयानप कीन्यो^{७४} ।

घ. सामान्य भूत : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग में बीस के लगभग रूप आते हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क्ष सामान्य प्रत्ययों से बने रूप और न 'नो' से बने रूप ।

क्ष. सामान्य प्रत्ययों से बने रूप—इस वर्ग के रूप आ, इ, इयौ, ई, ए ऐ, औ, यौ आदि प्रत्ययों के षोण से बनाये गये हैं । इनमें से इ, ए और यौ से बने रूपों का सर्वत्र प्रयोग किया गया है, जैसे—

अ. आ हरि दीरघ वचन उचारा^{७५} । गर्व भयो ब्रजनारि को जबही हरि जाना^{७६} ।

आ. इ—इत राजा मन में पछिताइ^{७७}, काम-अध बद्ध रहि न सँभारि^{७८} ।
अमुमान . साठि सहस की क्या सुनाइ^{७९} । इनमें नित . होइ लणइ^{८०} ।

इ. इयौ—मेरो माधैया . जिन चरननि छलियौ बलि राजा^{८१} ।

ई ई—नद धरनि ब्रज-बधू बुलाई^{८२} ।

उ. ई—(ब्रह्मा)मृष्टि तव ओर उपई^{८३} । वकी गई घोषमें^{८४} ।

ऊ. ए—नद-सुवन उत ते न दगो^{८५} । निरसे खम बीच ते नरहरि^{८६} । (ताके पुन-मुता) बिषय-वासना नाना रए^{८७} । हलधर देखि उतहि को सरके^{८८} ।

ए ऐ—मन खन तन तबहि कल हम गति गौ रो^{८९} ।

ऐ. औ—(तुम) ग्वालनि हेत गावर्धन धारौ^{९०} । नृप प्रजा को तब हँकारौ^{९१} ।

ओ. यौ—पिय पूरन काम कर्यौ^{९२} । गज गह्यो ग्राह^{९३} । नारी सग हेत तिन (पुरुरवा) टर्यौ^{९४} । (हरि) वंसो आपदा ते राख्यौ, तोष्यौ, पोष्यौ, त्रिय दयौ ।^{९५} जब लगि मन मिल्यौ नहौ^{९६} । (सकर) सेज छाँडि भू सोर्यौ^{९७} ।

ज. 'नो' से बने रूप—'नो' या इसके रूपांतरों—न, नो, ने, नौ, न्यौ, न्ह, न्हौ, न्है, न्है न्हौ, न्हौ, न्ह्यौ आदि—से भी सूरदास ने इस वर्ग के रूप बनाये हैं । इनमें से नो, ने, नौ आदि का प्रयोग अधिक किया गया है; जैसे—

७३. सा. १-३३६ । ७४. सा. ८-१५ । ७५. सा. १०-४ । ७६. सा. १०८५ ।

७७. सा. १-२९० । ७८. सा. ६-७ । ७९. सा. ९-९ । ८०. सा. ३-९ ।

८१. सा. १०-१३१ । ८२. सा. ८९० । ८३. सा. ३-७ । ८४. सा. १-१२२ ।

८५. सा. १७८१ । ८६. सा. १-१०४ । ८७. सा. ४-१२ । ८८. सा. २८९२ ।

८९. सा. २४५३ । ९०. सा. १-१७२ । ९१. सा. ४-११ । ९२. सा. २८८९ ।

९३. सा. १-७ । ९४. सा. ९-२ । ९५. सा. १-७७ । ९६. सा. १४४३ ।

९७. सा. १-४३ ।

- अ. न—कत बिधना ये कीन^{१८} । रघुबर * जनकमुता मुख दीन^{१९} ।
- आ. नी—(बलि) कीनी चरन जुहारी^१ । कस अस्तुति मुख गानी^२ । तब राधा
महरानी^३ । सिव प्रसन ह्वं आज्ञा दीनी^४ । सांटी देखि ग्वाल पछितानी^५ ।
तिय * बलैया * लीनी^६ । महरि निरखि मुख हिय हुत्सानी^७ ।
- इ. ने—(हरि) गृह आने वसुदेव-देवकी^८ । साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि
तुरत पवित्र^९ । ब्रजलोगनि नद जू दीने बसन^{१०} । (प्रभु) इन्हें पत्याने^{११} ।
भनमोहन मन में मुमुक्ष्याने^{१२} ।
- ई. नौ—कह्यौ, जोग-बल रिपि सब कीनी * मोहिं सुख सरल भाँति को
दीनी^{१३} । परमुराम लीनी अवतारा^{१४} । जनम सिरानी अटक अटके^{१५} ।
- उ. न्यौ—मथुरापति जिय अतिहि डरान्यौ * सिर धुनि-धुनि पछितान्यौ^{१६} ।
- ऊ. न्ह—(नंद) प्रभु-पूजा जिय दीन्ह * काज देव के कीन्ह^{१७} ।
- ऋ. न्हौ—(हरि) बिप्र सुदामा को निधि दीन्हौ^{१८} ।
- ए. न्ही—कपिल-स्तुति तिहि बहु बिधि कीन्ही^{१९} । वाकी जाति नही उन (हरि)
चीन्ही^{२०} । चरन परसत (जमुन) थाह दीन्ही^{२१} । इंद्रजित ली ही तब
सक्ती^{२२} ।
- ऐ. न्हें—(हरि) नृप मुक्त कीन्हें^{२३} ।
- ओ. न्हे—(हरि) जे रंग कीन्हें मोसो^{२४} । पाँच बान मोहि संकर दीन्हें^{२५} ।
- औ. न्हौं—कृष्ण सदाही गोकुल कीन्हौं थानी^{२६} । (सुरपति) एक अंस वृच्छति को
दीन्हौं^{२७} । धर्मपुत्र * द्विजमुख ह्वं पन लीन्हौं^{२८} ।
- अं. न्हौ—सोई प्रह्लादाहि कीन्हें^{२९} । वसुदेव-देवकिहि कंस महादुख दीन्हौं^{३०} ।
तेरी सुत ऊखल चढि सीके को लीन्हें^{३१} ।
- अः न्ह्यौ—पै इन (नृपति) मोको कवहुँ न चीन्ह्यौ * तब दयालु ह्वं दरसन
दीन्ह्यौ^{३२} । हरि गिरि लीन्ह्यौ^{३३} ।

१८. सा. ३२४१ ।	१९. सा. ९-२६ ।	१. सा. ८-१४ ।
२. सा. ५८९ ।	३. सा. १९५९ ।	४. सा. ९-९ ।
५. सा. १०-२८४ ।	६. सा. १०-४६ ।	७. सा. १-१७ ।
८. सा. १०-२७ ।	९. सा. २२५० ।	१०. सा. ६०४ ।
११. सा. ९-१४ ।	१२. सा. १-२९२ ।	१३. सा. १०-६० ।
१४. सा. १-३६ ।	१५. सा. ९-९ ।	१६. सा. १०-२६० ।
१७. सा. ९-१४४ ।	१८. सा. १-१७ ।	१९. सा. १०-५ ।
२०. सा. १-११ ।	२१. सा. ६-५ ।	२२. सा. १-२९ ।
२३. सा. १-१४ ।	२४. सा. १०-३३१ ।	२५. सा. ४-१२ ।
		२६. सा. १-१७ ।

७. सामान्य भूत . अन्यपुरुष : बहुवचन—इ, इयौ, ई, ई, ए, नीं, नी, ने, न्हौ, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययो से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं । इनमें से अधिकांश का प्रयोग पिछले वर्ग में एकवचन आदरार्थक रूप बनाने के लिए भी किया जा चुका है । प्रस्तुत वर्ग के इ, ई, ए और यौ प्रत्यात रूपों का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है, जैसे—

अ इ—तीरथ करत दोउ अलगाइ^{३४} ।

आ. इयौ—लाखा मंदिर कौरव रचियौ^{३५} ।

इ ई—अष्टसिद्धि बहुरी तहँ आई^{३६} । दच्छ के उपजो पुत्री सात^{३७} । चौदह सहस मुन्दरी उमहा^{३८} । धाई सब द्रज नारि^{३९} । चहुरीं सब अति आनद निज गृह गोप-धनी^{४०} । हरपों सखी-सहनरी^{४१} ।

ई ई—उन तौ करी पाछिले की गति^{४२} । (नैननि) लोक-वेद की मर्यादा निदरी^{४३} । जिन हरि प्रीति लगाई^{४४} । तब सबनि बिनती मुनाई^{४५} ।

उ. ए—नाम सुनत असुर सबल पराए^{४६} । इनि तब राज बहुत दुख पाए^{४७} । ब्रह्मादिक हूँ रोए^{४८} । (भिल्लिनि) लूटे सब^{४९} । मोहि दडत घरम-दूत हारे^{५०} ।

ऊ. नीं—स्याम-अंग जुवती निरखि भुलानी^{५१} ।

ऋ. नी—असुर-बुधि इन यह कीनी^{५२} । लटे बगरानी^{५३} । जुवती बिकलानी^{५४} । जुवति लजानी^{५५} ।

ए. ने—भीर देखि (दोउ) अति डराने^{५६} । रवि-द्यवि कौधों निहारि पवज निरसाने^{५७} । ब्रज-जन निरखत हिय टुलसाने^{५८} ।

ऐ. न्हौं—दूतनि दीन्हों मार^{५९} ।

ओ. न्हौं—जय जय घुनि अमरनि नम कीन्हों^{६०} । प्रेम सौं जिन नाम लीन्हों^{६१} ।

औ. यौ—(सब) वीरहि वाग उजार्यौ^{६२} । सुरासुर अमृत दाहरि यिथौ^{६३} । बिन-जिन हो वेसव उर गायौ^{६४} । उन तौ...गुन तोर्यौ बिच धार^{६५} ।

४. अपूर्ण भूतकाल—इस काल के रूप कृदंतों के साथ हों, ही, हुती, हुते, हुतौ, ते, हो आदि के प्रयोग से बनाये गये हैं और इन्हीं के अनुसार उनका लिंग तथा वचन होता है । पुरुष की दृष्टि से इस काल के रूपों में विशेष अंतर नहीं होता, जैसे—

३४. सा. ३-४ । ३५. सा. १-२८२ । ३६. सा. ५-२ । ३७. सा. ४-४ ।
 ३८. सा. ९-१६० । ३९. सा. १०-२४ । ४०. सा. १०-२४ । ४१. सा. १०-४० ।
 ४२. सा. १-१७५ । ४३. सा. २३८६ । ४४. सा. १-३१८ । ४५. सा. ८९ ।
 ४६. सा. १-३४३ । ४७. सा. १-२८४ । ४८. सा. १-५२ । ४९. सा. १-२८६ ।
 ५०. सा. १-१२० । ५१. सा. ६४४ । ५२. सा. ३-११ । ५३. सा. १०५७ ।
 ५४. सा. १०१८ । ५५. सा. १०३७ । ५६. सा. १०-२८९ । ५७. सा. ६४२ ।
 ५८. सा. १०-११७ । ५९. सा. १-३२५ । ६०. सा. ५७६ । ६१. सा. १-१७६ ।
 ६२. सा. ९-१०३ । ६३. सा. ८-९ । ६४. सा. १-१९३ । ६५. सा. १-१७५ ।

अ. हीं—हमें जरत हीं^{६६} ।

आ. ही—जो मन में अभिलाष करति ही सो देखति नैदरानी^{६७} । हीं ही मथत । दही^{६८} ।

इ. हुती—(सो) चितवति हुती^{६९} । आजु सो बात विधाता कीन्ही, मन, जो हुती अति भावति^{७०} ।

ई. हुते—गुरु-गृह पढ़त हुते जहँ बिद्या^{७१} ।

उ. हुतौ—कपि सुग्रीव बालि के भय तँ बसत हुतौ तहँ आई^{७२} ।

ऊ. हे—स्याम धनुष तोरि आवत हे^{७३} । जब हरि ऐसी साज करत हे^{७४} । आजु मोहि बलराम कहत हे^{७५} । देते हे मोहि भोग^{७६} । पाछे नद सुनत हे^{७७} ।

ए. हो—माखन हो उतरात^{७८} । कमल-काज नृप मारत हो^{७९} ।

५. पूर्ण भूतकाल—इस काल के रूप भूतकालिक सामान्य क्रिया के साथ ही, हुती, हुने, हे, हो आदि के प्रयोग से बनाये गये हैं, जैसे—

अ. ही—मैं खेई ही पार कीं^{८०} । तब न विचारी ही यह बात^{८१} ।

आ. हुती—तहाँ उरवसी सखिनि समेत आई हुती^{८२} ।

इ. हुते—हरि गए हुते माखन की चोरी^{८३} । हम पकरे हुते हृदय उर-अतर^{८४} ।

ई. हे—प्रगट कपाट विकट दीन्हे हे बहु जोधा रखवारे^{८५} ।

उ. हो—स्याम वधौ हो आवन^{८६} । (जब) रख्यौ हो जठर महि^{८७} ।

६. सामान्य भविष्यत् काल—इस काल के रूप पुरुष और वचन के अनुसार बदलते रहते हैं । लिंग की दृष्टि से इकारांत और ईकारांत रूप प्रायः स्त्रीलिंग में आते, हैं, शेष पुल्लिंग में ।

क. सामान्य भविष्यत् : उत्तमपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में इहाँ, उँगी, उँगी, ऐहँ, ऐहँ, औँ, औँगी, औँगी, हुँगी, आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं । इनमें से 'इहाँ', 'ऐहँ', 'औँगी' से बने रूपों के प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं ; जैसे—

६६. सा. ३७०३ ।

६७. सा. १०-१२३ ।

६८. सा. ३३९५ ।

६९. सा. ८०८ ।

७०. सा. १०-२३ ।

७१. सा. ३४११ ।

७२. सा. ९-६८ ।

७३. सा. ३१०० ।

७४. सा. २९९७ ।

७५. सा. ३९९ ।

७६. सा. ८५३ ।

७७. सा. १०-२१७ ।

७८. सा. १०-२७० ।

७९. सा. ६०७ ।

८०. सा. ९-४२ ।

८१. सा. ३००१ ।

८२. सा. ९-२ ।

८३. सा. १०-२९८ ।

८४. सा. ३७३४ ।

८५. सा. ९-१०५ ।

८६. सा. ३३६७ ।

८७. सा. १-७७ ।

अ. इहों—कंस को मारिहों, घरनि निरधारिहों, अमर उडारिहों^{८८} । सेवा में करिहों^{८९} । छौंड़िहों नहि बिनु मारे^{९०} । आजु हों एक एक करि टरिहों... अपने भरोसै लरिहों... पतित ह्वै निस्तरिहों^{९१} । हों रहिहों अवशेष^{९२} ।

आ. उँगी—मैं ल्याउँगी तुमकी घरि^{९३} ।

इ. उँगी—जोवन-दान लेउँगी तुमसो^{९४} ।

ई. ऐहें—हमहूँ कृष्ण-घर जैहें^{९५} ।

उ. ऐहों—मैं भक्ति स्याम की कैहें^{९६} । तब लगि हों बैकुण्ठ न जैहों^{९७} । सुनि राधा, अब तोहि न पलैहें... तेरे कठ न नैहों... सो जब तीसों लैहों... तबहीं तो सचु पैहों... नाउं नही मुख लैहों^{९८} ।

ऊ. औं—काल्हि जाहि अस उद्यम करों, तेरे सब भडारनि भरों^{९९} । (मैं) बचन भग भए तै परिहरों^{१००} ।

अ. औंगी—तलन सौं जगरी माड़ौंगी... अधर दसन खाड़ौंगी... कैसे छोड़ौंगी^{१०१} । हों तब सग जरौंगी^{१०२} । मैहूँ डुलावैंगी... सम मेटौंगी^{१०३} । अब मैं याहि जकरि वार्धौंगी^{१०४} । हों तो तुरत मिलौंगी हरि की^{१०५} ।

ए. औंगी—मैं निज प्रान तजौंगी^{१०६} । (हों) चारि टुहौंगी^{१०७} । मैं चद लहौंगी... कैसे कै जु लहौंगी... वरज्यो हों न रहौंगी... बोराएँ न बहौंगी... सत्ति तन दाप दहौंगी^{१०८} ।

ऐ. व—(मैं) भूँजन क्यों यह खेत^{१०९} ।

ओ. हुँगी—मैं दान लेहुँगी^{११०} ।

ख. सामान्य भविष्यन् : उत्तमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विभूत रूप में इहें, ऐंगी, ऐंगे, ऐहें, अ, हिगी, हिगे आदि प्रत्ययो के योग से बनाये गये हैं । इनमें से 'इहें' से बने रूपों का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है: जैसे—

अ. इहें—नंद-नृपति-कुमार कहिहें, अब न कहिहें ग्वाल^{१११} । अब हम तुनहि नैगइहें^{११२} । बरम चतुरदस (हम) भवन न बसिहें^{११३} । हम न बहनिहें^{११४} ।

आ. ऐंगी—हम उनकी देगँगी^{११५} ।

८८. सा. ५५१ । ८९. सा. १-२८४ । ९०. सा. ३-११ । ९१. सा. १-१३४ ।

९२. सा. २-३८ । ९३. सा. ६८१ । ९४. सा. १४६९ । ९५. सा. १०१७ ।

९६. सा. ४-९ । ९७. सा. ७-५ । ९८. सा. १९७५ । ९९. सा. ४-१२ ।

१. सा. ९-२ । २. सा. १९३६ । ३. सा. २-३० । ४. सा. ११४७ ।

५. सा. १०-३३० । ६. सा. ८०८ । ७. सा. ९-१४६ । ८. सा. ६६८ ।

९. सा. १०-१९४ । १०. सा. ९-३९ । ११. सा. १५३८ । १२. सा. ३२२७ ।

१३. सा. २९०३ । १४. सा. ९-४३ । १५. सा. ३६१२ । १६. सा. १७३८ ।

- इ. ऐगी—(हम) काल्हि दुहेंगे^{१७} । (हम) बहुरि मिलेंगे^{१८} ।
- ई. ऐह—हम कैहें...जसोदा सौं^{१९} । कौन ज्वाब हम देहें^{२०} । कहा...लैह हम वज^{२१} ।
- उ. व—हम तेई करव उपाइ^{२२} ।
- ऊ. हिंगी—दाउं हम लेहिंगी...वहै फल देहिंगी^{२३} । हम मानहिंगी उपकार रावरी^{२४} ।
- ए. हिंगे—(हम) देखहिंगे तुम्हरी अधिकार^{२५} । हम (स्याम) कछु मोल लेहिंगे^{२६} ।
- ग. सामान्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष : एकवचन—धातु या उसके विकृत रूपों में इगौ, इहै, इहौ, ऐगी, ऐहै, ऐहौ, औगी, औगे, हुगे, हौ आदि प्रत्यय जोड़कर इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं । इनमें से इहै, इहौ, ऐहै, ऐहौ आदि का प्रयोग अधिक किया गया है; जैसे—
- अ. इगौ—छतकहि मैं (तू)...भस्म होइगौ^{२७} ।
- आ. इहै—तैं हूँ जो हरि-हित तप करिहै^{२८} । (तू) देव-तन धरिहै^{२९} । (तू) मुक्ति-स्थान पाइहै^{३०} । मेरी कह्यो (तू) मानिहै नाही^{३१} ।
- इ. इहौ (आदरार्थक)—कौन गति करिहौ मेरी नाथ^{३२} । जो (तुम) मोहि तारिहौ^{३३} । (जो) सोइ चित्त धरिहौ^{३४} । (तुम) जीवित रहिहौ को लौ भू पर^{३५} । अब रुठाइहौ जो गिरिधारी^{३६} ।
- ई. ऐगी—तू कहा करैगी^{३७} ।
- उ. ऐहै—जब गजेंद्र कौं पग तू गैहै...तू नारायन सुमिरन कैहै^{३८} । जा रानी कौ तू यह देहै^{३९} । (तू) पाछे पछितैहै^{४०} । (तू) संतनि में कुछ पैहै^{४१} । (तू) और वसैहै नैरी^{४२} ।
- ऊ. ऐहौ (आदरार्थक) —भक्ति बिनु (तुम) बल बिराने हौहौ...तब कैसै गुन गैहौ...तऊ न पेट अयैहौ...को लौ धौं भुक्त खैहौ...तब कहें मूढ़ दुरैहौ...जनम गवैहौ^{४३} । जन्नकिएं (तुम) गधबपुर जैहौ^{४४} । (तुम) दैहौ बीरा^{४५} । नाथ, फिरि पछितैहौ^{४६} । (तुम) सकल मनोरथ मन के पैहौ...अजहूँ जो हृदि चित लैहौ^{४७} ।

१७. ६६८ ।

१८. सा. ९-४४ ।

१९. सा. १४८३ ।

२०. सा. १५३३ । २१. सा. १०२१ । २२. सा. ३७१० । २३. सा. २८७७ ।

२४. सा. ७९२ । २५. सा. ६६८ । २६. सा. १५२९ । २७. सा. ५५० ।

२८. सा. ४-९ । २९. सा. ८-२ । ३०. सा. ४-९ । ३१. सा. १६५० ।

३२. सा. १-१२५ । ३३. सा. १-१३२ । ३४. सा. १-१२४ । ३५. सा. १-२८४ ।

३६. सा. २८२८ । ३७. सा. ७११ । ३८. सा. ८-२ । ३९. सा. ६-५ ।

४०. सा. ७११ । ४१. सा. १-८६ । ४२. सा. १०-३२४ । ४३. सा. १-३३१ ।

४४. सा. ९-२ । ४५. सा. १-१३४ । ४६. सा. १-२४८ । ४७. सा. ४-९ ।

कृ. आंगे (आदरार्थक)—स्याम, फिर कहा करोगे^{४८} ।

ए. हुगे (आदरार्थक)—माहि छांडि जो (तुम) बहें जाहुगे^{४९} । पावहुगे (तुम) अपनी कियो^{५०} । (तुम) अपनी विरद संहारहुगे^{५१} ।

ऐ. हौ—(तब जसुदा) नदीहि कहाँ, और कितने दिन जीहौ^{५२} ।

सामान्य भविष्यत् मध्यमपुरुष ऋचचन—इही, ऐही, आंगी, आंगे, हुगी, हुगे आदि प्रत्ययो के याग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं जिनमे से 'इही' से बने रूपों का प्रयोग सबसे अधिक मिलता है . जैसे—

अ. इही—(तुम) सम करिहौ जब मेरी सी बिना कष्ट यह फल पाइहौ^{५३} । तुम सब मरिहौ परसत ही जरिहौ^{५४} । (तुम) जीतिहौ तब असुर को^{५५} । जब (तुम) सुनिहौ करतूति हमारी^{५६} ।

आ. ऐही—नैकु दरस को आस है ताहू तैं (तुम) जैहौ^{५७} । मन-मन तुमही पछितैहौ^{५८} ।

इ. आंगी—कत मानहु (तुम) भव तरौगी^{५९} । तुम अपने जा नम रहौगी^{६०} ।

ई. आंग—सूर स्याम पूछत सब भालनि, खेलौगे किहि ठाहर^{६१} ।

उ. हुगी—(तुम) रिस पावहुगी^{६२} । (तुम, अब रोवहुगी^{६३} । (तुम) सुनहुगी^{६४} ।

ऊ. हुगे—(तुम) आवहुगे जीति भुवाल^{६५} । पावहुगे (तुम) पुनि कियो आपनी^{६६} ।

ड. सामान्य भविष्यत् अन्यपुरुष एकवचन—घातु या उसके विकृत रूप के अंत में इ, इगी, इगी, इहि, इहैं, इहे, ऐंगे, ऐगी, ऐगी, ऐहें, ऐहैं, हिगे, हिगी, हिगी आदि प्रत्यया क जाडने से इस काल-वर्ग के रूप बनाये गये हैं । इनमें से इहैं, ऐहैं, हिगे और ऐंगे से बने रूप आदरार्थक हैं । प्रयोग की दृष्टि से इहैं, इहे, ऐंगे, ऐगी, ऐगी, ऐहैं ऐहैं और हिगे से बने रूप विशेष महत्व के हैं ।

अ. इ—सप्तम दिन तोहि तच्छक खाइ^{६७} । वन में भजन कौन बिधि होइ^{६८} ।

आ. इगी—दूरि कौन सौं (यह) होइगी^{६९} ।

इ. इगी—कैसे तप निरफलाहि जाइगी^{७०} । मन बिचरै तन छार होइगी^{७१} ।

ई. इहि—बाकी ध्वजा बैठि अपि मिलिहि^{७२} । मैं निज प्रात तजौगी मुन कपि, तजिहि जानकी सुनि^{७३} ।

४८. सा. १-२४९ । ४९ सा. ६८१ । ५०. सा ५३७ । ५१ सा. १-१३० ।
५२ सा ५८९ । ५३. सा १३३८ । ५४. सा १३४२ । ५५ सा ८-८ ।
५६ सा १३३२ । ५७ सा १३४३ । ५८ सा १३३२ । ५९. सा १०१६ ।
६० सा १३४४ । ६१ सा १०-२४३ । ६२ सा १३३२ । ६३. सा १४८० ।
६४. सा १५८४ । ६५ सा १५३२ । ६६. सा १५३३ । ६७. सा १-२९० ।
६८ सा. १-२८८ । ६९. सा. १२५२ । ७०. सा. १३४८ । ७१. सा. १-३०२ ।
७२ सा. १-२९ । ७३. सा. ९-१४ ।

च. इहैं (आदरार्थक)—हरि करिहैं कलकि अवतार^{७४} । कहिहैं तुम्हैं मयनैय
आन^{७५} । महर खीभिहैं हमकी^{७६} । रघुवर हतिहैं कुल दैयत-को^{७७} ।
भूमि-भार येई हरिहैं^{७८} ।

ऊ. इहैं—वहै ल्याइहैं सिय-सुधि छिन में अरु आइहैं तुरत^{७९} । को कौरव-दल-सिंधु
मयन करि या दुख पार उतरिहैं^{८०} । अबघों बैसी करिहैं दई^{८१} । काल
मसिहैं^{८२} । तुव सराप तैं मरिहैं सोइ^{८३} ।

ए. ऐगो (आदरार्थक)—हरि आवैगो^{८४} । नंद सुनि मोहि कहा कहैगो^{८५} । नंद-नदन
हमकी देखेगो^{८६} । बाबा नंद बुरी मानैगो^{८७} ।

ऐ. ऐगी—(मुरली) अब वरैगी बाद^{८८} । यह तो क्या चलैगी आग^{८९} । मैया,
कबहि बढैगी चोटी^{९०} । डीठि लगैगी काहु की^{९१} ।

ओ. ऐगौ—तेरो कोऊ कहा करैगौ^{९२} । कब मेरो लाल बात कहैगौ^{९३} । कहा
बढैगौ तेरो^{९४} । सिर पर धरि न चलैगौ कोऊ^{९५} । जम-जाल पसार
परैगौ^{९६} । वह देवता कस मारैगौ^{९७} । कछु धिर न रहैगौ^{९८} । कौन सहैगौ
भीर^{९९} ।

औ. ऐहैं (आदरार्थक)—काके हित श्रीपति ह्यौ ऐहैं^१ । नदहुँ तैं ये बड़े कृहैं...
फेरि यसैहैं यह ब्रजनगरी^२ । राम...ईसहि दससीस चढ़ैहैं^३ । जो जैहैं
बलदेव पहिलै^४ ।

अ ऐहै—खाक उड़ैहै^५ । बास-अकूर जिय (कंस) कहा कैहै^६ । हरि जू ताको आनि
छुटैहै^७ । (नर) जैहैं काहि समीप^८ । कोसिल्या बधू-बधू कहि मोहि बुलैहैं^९ ।

अअ. हिगे (आदरार्थक)—छमा करहिगे श्रीसुन्दरबर^{१०} । (स्याम) कबहि घुटखनि
चलहिगे^{११} । (कृष्ण) तिनके बधन मोचहिगे^{१२} ।

अआ. हिगी—टूटहिगी मोतिनि लर मेरो^{१३} ।

अइ. हिगी—क्यों बिस्वास करहिगी कोरी^{१४} ।

७४. सा. १२-३ ।	७५. सा. ३-४ ।	७६. सा. ६-८१ ।
७७. सा. ९-८४ ।	७८. सा. १०-८५ ।	७९. सा. ९-७४ ।
८०. सा. १-२९ ।	८१. सा. १-२६१ ।	८२. सा. १-३१५ ।
८३. सा. १-२९० ।	८४. सा. ३६८३ ।	८५. सा. ३८७ ।
८६. सा. ७७९ ।	८७. सा. ४४५ ।	८८. सा. १२३४ ।
८९. सा. १-१९२ ।	९०. सा. १०-१७५ ।	९१. सा. ९८७ ।
९२. सा. १४१७ ।	९३. सा. १०-७६ ।	९४. सा. १-२६६ ।
९५. सा. १-३०३ ।	९६. सा. १-३१२ ।	९७. सा. ५३१ ।
९८. सा. १-३०२ ।	९९. सा. ८७४ ।	१००. सा. १-२९ ।
१०१. सा. १०-३१९ ।	१०२. सा. ९-८१ ।	१०३. सा. १०-२२३ ।
१०४. सा. १-८६ ।	१०५. सा. २९२९ ।	१०६. सा. ७-२ ।
१०७. सा. १-२१० ।	१०८. सा. १०-७४ ।	१०९. सा. १६१९ ।
११०. सा. १६७० ।	१११. सा. ११-१ ।	११२. सा. १०-७४ ।

च. सामान्य भविष्यत् : अन्यपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में इहैं, ऐंगे, ऐहैं, हिगी, हिंगे आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं। इनमें से प्रथम तीन प्रत्ययों में बने रूपों का प्रयोग अधिक किया गया है ; जैसे—

अ. इहैं—निक्कत हम (सब) तजिहैं^{१५} । कछु (गाइ) मिलिहैं मग माहि^{१६} । कुशल सदा ये रहिहैं^{१७} । वं सुनिहैं यह बात^{१८} । हंसिहैं सब ग्वाल^{१९} । कलि में नृप होइहैं अन्याई^{२०} ।

आ. ऐंगे—जहाँ-तहाँ तैं सब आवैंगे^{२१} । (वे) कहि, कहा करैंगे^{२२} । ब्रज लोग डरैंगे^{२३} । (ये) काकी सरन रहैंगे^{२४} । बानर-वीर हँमैंगे^{२५} ।

इ. ऐहैं—स्यार-काग-गिध सैहैं^{२६} । पृथुप लेन जैहैं नंद-ढोटा^{२७} । तप कीन्हें सो (गधर्व) दैहैं आग^{२८} । गोपी-गाइ बहुत दुख पैहैं^{२९} । (ब्रजवासी) मेरै मारत काहि मनैहैं^{३०} । कलि में नृप.. कृपी-अन्न लैहैं बरिआई^{३१} ।

ई. हिगी—वे मारहिगी^{३२} ।

उ. हिंगे—जात-पाति के लोग हँसहिंगे^{३३} । ऐसे निठुर होहिंगे तेऊ^{३४} ।

७. संभाव्य भविष्यत्काल—इस काल के रूपों की संख्या भी यद्यपि कम है, फिर भी उक्त संभाव्य वर्तमान और संभाव्य भूतकालों से वह बहुत अधिक है। अतएव अन्य कालों की भांति विभिन्न पुरुषों और वचनों की दृष्टि से इस काल के प्रयोगों पर भी विचार किया जा सकता है।

क. संभाव्य भविष्यत् : उत्तमपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में ऊँ, ऐ, औ, यौ, हँ आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं; जैसे—

अ. ऊँ—अब मैं उनकी जान सुनाऊँ, जिहि तिहि विधि बैराग्य उपाऊँ^{३५} । चूक परो मोतैं मैं जानी मिलै स्याम वरुसाऊँ, सोचन-नीर दहाऊँ, पुनि-पुनि सीस छुवाऊँ, रुचि उपजाऊँ, तपति जनाऊँ, कहि कहि जु सुनाऊँ^{३६} । आहु जो हरिहि न सस्र गहाऊँ^{३७} ।

आ. ऐ—सूरदास बिनती कह बिनवै^{३८} । सोइ बरहु जिहि चरन सैवै सूर^{३९} ।

-
१५. सा. १-३१९ । १६. सा. ४४३ । १७. सा. ८४३ । १८. सा. ५२२ ।
 १९. सा. १०-२२३ । २०. सा. १२-३ । २१. सा. १-१९१ । २२. सा. १६८५ ।
 २३. सा. ५२२ । २४. सा. ९२३ । २५. सा. ९-७५ । २६. सा. १-८६ ।
 २७. सा. ५२२ । २८. सा. ९-२ । २९. सा. ४३८ । ३०. सा. ९०७ ।
 ३१. सा. १२-३ । ३२. सा. ११-२ । ३३. सा. १५५७ । ३४. सा. १२५४ ।
 ३५. सा. १-२८४ । ३६. सा. २१०३ । ३७. सा. १-२७० । ३८. सा. १-१३० ।
 ३९. सा. १-१२६ ।

इ. औं—मैं तुव सुत की रक्षा करौं, अरु तेरी यह दुख परिहरौं^{४०} । छोड़ी नाहि बंदावन रजधानी^{४१} । जोन दिय मैं छूटौ^{४२} । (हौं) काकी सरन तकौ^{४३} । कहा गुन वरनौं स्याम तिहारे^{४४} । काहि भजौं हौं दीन^{४५} ।

ई. यौं—नैकु रही, माखन द्यौं तुमकौ^{४६} ।

उ. हुं—जो मांगौ सो देहु^{४७} ।

ख. संभाव्य भविष्यत् : उत्तर पुरुष : बहुवचन—‘हिं’, ‘हं’ आदि प्रत्ययों से बने इस वर्ग के रूपों का प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है, जैसे—(हम) अधरनि की रस लेहि...लोचन उनके ओजही^{४८} ।

ग. संभाव्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष :—इस वर्ग के रूप दोनों लिंगों और वचनों में प्रायः समान होते हैं । प्रयोग इनका भी बहुत कम पदों में हुआ है, जैसे—(तुम) बचन एक जो वोलौ^{४९} ।

घ. संभाव्य भविष्यत् : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप इस काल के सभी वर्गों से अधिक है और धातु या उसके विकृत रूप में निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर लगाकर बनाये गये हैं—

अ. ई—दीन जन कहा अब करई^{५०} । कौन ऐसी जो मोहित न होई^{५१} ।

आ. उ—बरु मेरी पति जाउ^{५२} ।

इ. ऐ (आदरार्थक)—स्याम जो कबहूँ श्रासैं^{५३} । जो प्रभु मेरे दोष विचारैं^{५४} ।

ई. ऐ—जातैं...जम न चढ़ावै कागर^{५५} । जो अपनी मन हरि सौं राँचै^{५६} । जो गिरिपति, मम कृपा दोष लिखैं^{५७} । स्यामसुन्दर जो सेवै, क्यों होवै गति दीन^{५८} ।

उ. औ—लाज रहौ कि जाउ^{५९} ।

ऊ. वैं—वह अपनी फल भोगवैं^{६०} ।

ए. हिं (आदरार्थक)—बहुत भीर है, हरि न भुलाहि^{६१} ।

ङ. संभाव्य भविष्यत् : अन्य पुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु में उ, ऐ, हिं आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं और इनमें भी अधिक प्रयोग हुआ है ऐ और हिं से बने रूपों का; जैसे—

अ. उ—साँवरे सौं प्रीति बढी लाख लोग रिमाउ^{६२} ।

४०. सा. ४३०७ । ४१. सा. १-८७ । ४२. सा. १-१८५ ।

४३. सा. १-१५१ । ४४. सा. १-२५ । ४५. सा. १-१११ । ४६. सा. १-१६७ ।

४७. सा. ८-१४ । ४८. सा. २९०९ । ४९. सा. १-१३६ । ५०. सा. १-४८

५१. सा. ८-१० । ५२. सा. १-२७४ । ५३. सा. २२६८ । ५४. सा. १-१८३ ।

५५. सा. १-९१ । ५६. सा. १-८१ । ५७. सा. १-१११ । ५८. सा. १-४६ ।

५९. सा. १४५६ । ६०. सा. १३४३ । ६१. सा. ८२७ । ६२. सा. १४५६ ।

आ. ऐं—यात्री कोस अमरैं जे सुत^{६३} । नदभोष नैननि यह देखै . बडे देवता को सुख पेरै^{६४} ।

इ. हिं—अपनी कृत येऊ जो जानहि^{६५} । (गैयाँ) बाहे न दूष देहि^{६६} ।

इ. प्रत्यक्ष त्रिधिकाल^{६७}—इस काल में मुख्य रूप मध्यम और अल्पपुरुष के ही होते हैं, अतएव इन्हीं की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जायगी ।

क. प्रत्यक्षविधि मध्यमपुरुष एकवचन—इस वर्ग के रूपों की संख्या पचास है । घातु या उसके विकृत रूप में जिन प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं उनमें मुख्य ये हैं—

अ. इ—तिहि चित्त आनि^{६८} । करि हरि सौं सनेह मन साचो^{६९} । कहि, कब हरि आवैग^{७०} । नीकै गाइ गुपालहि मन रे^{७१} । इहीं छन भजि पाइ यह समय लाहु लहि^{७२} ।

आ. इए—जागिए गोपाल लाल^{७३} ।

इ. इऐ—कृपा अब कोजिए^{७४} । प्रभु ताज धरिए^{७५} । ताल, मुख धोइये^{७६} । कृपानिधि मम लज्जा निरखहिऐ^{७७} । भजिए नदबुमार^{७८} ।

ई. ईनौ—नृप कै हाथ पत्र यह दीजौ, बिनती कीजौ मोरि मेरी नाम नृपति सौं लीनौ ।^{७९}

उ. इयै—ब्रज आइयै गोपाल^{८०} । अपनी धरियै नाउं^{८१} । रे मन ...जन की वास न सहियै . आइ परे सो सहियै . अठ बार कछु लहियै^{८२} । सुजल सोजियै कृपानिधि^{८३} । कृपानिधान मुदृष्टि हेरियै^{८४} ।

ऊ. ईजै—अब मापै प्रभु कृपा करीजै^{८५} । (तुम) आपुहि चलीनै^{८६} ।

ए. उ—हरि की सरन महे तू आउ^{८७} । जाउ बदरीवन^{८८} । माहि बताउ^{८९} । ताकी तू निज बख वनाउ^{९०} । होउ मन राम-नाम की गाहक^{९१} ।

ओ. ओ—सुनो बिनती मुरछइ^{९२} ।

६३ सा १००४ । ६४ सा ९२५ । ६५ सा ९१५ । ६६ सा ६१३ ।

६७ 'प्रत्यक्ष त्रिधिकाल' के लिए प्रचलित नाम 'विवि' है—लेखक ।

६८ सा १-७७ । ६९ सा १-८३ । ७० सा ३६८३ । ७१ सा १-६६ ।

७२ सा १-६८ । ७३ सा १०-२०५ । ७४ सा १-१२८ । ७५ सा १११० ।

७६ सा ४३९ । ७७ सा १-११२ । ७८ सा १-६८ । ७९ सा ५८३ ।

८० सा ३२२७ । ८१ सा १-१८५ । ८२ सा १-६२ । ८३ सा १-९८ ।

८४ सा १-२०५ । ८५ सा ३१३ । ८६ सा २५७३ । ८७ सा १-३१४ ।

८८ सा ७-२ । ८९ सा १-१४४ । ९० सा ६५ । ९१ सा १-३१० ।

९२ सा १-२२६ ।

औ. औ—बैद बेगि ढोहौ^{१३} । स्याम, अब तजौ निठुरई^{१४} । (पिय, तुम) तहँई पग धारी^{१५} । कछू अचरज मति मानौ^{१६} । मेरी सुधि लीजौ ब्रजराज^{१७} ।

अअ. व—तहँ आव^{१८}

अआ. ह—एक बेर इहि दरसन देह^{१९} ।

अइ. हिं—तू जननी... भूलिहुँ चित चिता नहि आनहि^{२०} ।

अई. हि—रिपि कह्यो, दान-रति देहि, मैं बर देऊँ तोहि सो लेहि^{२१} । सँभारहि रे नर ।^{२२}

अउ. हँ—तुम सुनहुँ जसोदा गोरी^{२३} ।

अऊ. हु—ताहि कहु कैसे कृपानिधि सकत सूर चराइ^{२४} । तुम जाहु^{२५} । सखी रो दिखरावहु वह देस^{२६} । देहु कृपा करि बांह^{२७} ।

ख. प्रत्यक्ष विधि : मव्यमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूपों की संख्या भी बहुत कम है । मुख्य रूप धातु या उसके विकृत रूप में निम्नलिखित प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं—

अ. ऐहौ—तुम कुल बधू^{२८} • ऐसै जनि कह्येहौ^{२९} • तुम जनि हमहि हँसैहौ^{३०} • कुल जनि नाउँ धरैहौ^{३१} ।

आ. औ—सुनौ सब सती^{३२} ।

इ. हू—काजर-रोरी आनहू (मिलि) करौ छठी कौ चार^{३३} ।

१. परोक्ष विधिकाल—इस काल-भेद के प्रयोगों में वचन और लिंग की दृष्टि से प्रायः समानता रहती है । पुरुषों की दृष्टि से उनका वर्गीकरण अवश्य किया जा सकता है, परन्तु वह भी इस कारण अनावश्यक है कि सूर-काव्य में इस काल-भेद के प्रयोग भी अधिक नहीं हैं । जिन प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप सूरदास द्वारा बनाये गये हैं, उनमें मुख्य ये हैं—

अ. इयौ—तब जानियौ किसोर जोर रुपि रहौ जीति करि खेत सब फर^{३४} ।

आ. इयौ—बंधू, करियौ राज सँभारे^{३५} । महरि हमारी बात चलावत, मिलन हमारी कहियौ^{३६} । मेरी सौं तुम याहि मारियौ^{३७} ।

इ. इहौ—पुनि खेलिहौ सकारे^{३८} । तुम अनेक वह एक है, वासों जनि लरिहौ^{३९} ।

ई. नी—मेरी कैंती बिनती करनी^{४०} ।

१३. सा. ३६११ । १४. सा. २५०९ । १५. सा. २४८७ ।

१६. सा. ४२१० । १७. सा. १-२१९ । १८. सा. २८८७ । १९. सा. ९-२

१. सा. ९-४५ । २. सा. १-२२९ । ३. सा. २-२२ ।

४. सा. १०-२८६ । ५. सा. १-५६ । ६. सा. २८७७ । ७. सा. ३२२५ ।

८. सा. ९-५१ । ९. सा. १९२३ । १०. सा. ९-१०५ । ११. सा. १०-४० ।

१२. सा. २४५५ । १३. सा. ९-५४ । १४. सा. ७२७ । १५. सा. १०-३३० ।

१६. सा. १०-२२६ । १७. सा. १३४२ । १८. सा. ९-१०१ ।

उ. चौ—प्रभु हित सूचित कै बेगि प्रगट्यो वंसी^{१९} ।

ऊ. चौ—या ब्रज को ज्योहार सखा तुम, हरि सों सब कहियौ^{२०} ।

ए. चौ—परसन हमहि सदा प्रभु हूज्यौ^{२१} ।

१० सामान्य संकेतार्थमाल^{२२}—इस बाल-भेद के रूप जिन प्रत्ययों के योग से बनाये गये हैं, उनमें मुख्य ये हैं—

अ. चौ—ओरनि सों दुराव जो करती^{२३} । तवाहि हमसों जो कहती^{२४} । जो मेरी अँखियनि रसना होती^{२५} ।

आ. ते—जो प्रभु नर-देही नहि धरते, देव-गर्भ नहीं अवतरते^{२६} । भक्ति बिना जो (तुम) कृपा न करते^{२७} । एक बार 'हरि दरसन देते^{२८} । राजकुमार नारि जो पयते तो कब अग समाते^{२९} । जो मेरे दीनदयाल न होते^{३०} ।

इ. चौ—मेरे गर्भ आनि अवतरतौ ' राजा तोको लेतौ गोद^{३१} । हों आस न करतौ ' हों तिनकी अनुसरतौ ' सुद्ध पथ पग धरतौ ' नहि साप पाप आचरतौ ' मन पिठरी लै भरतौ ' मिन बधु सों लरतौ^{३२} । जो तू राम-नाम धन धरतौ ' भक्त नाम तेरी परतौ ' होती नफा ' कोउ न फँटे पकरतौ ' मूल गाँठि नहि टरतौ^{३३} ।

संयुक्त क्रिया—वाक्य में कभी-कभी दो क्रियाएँ साथ-साथ प्रयुक्त होती हैं—एक, मुख्य रूप में और दूसरी, सहायक रूप में । ऐसे संयुक्त प्रयोगों से प्रायः मुख्य क्रिया के अर्थ में कुछ विशिष्टता या नवीनता आ जाती है । सूरदास ने भी क्रिया के अनेकानेक अर्थों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए क्रियाओं के ऐसे संयुक्त प्रयोग किये हैं । जिन क्रियाओं के योग से उन्होंने इस प्रकार के संयुक्त रूप बनाये हैं उनमें मुख्य हैं—आना, उठना, करना, चाहना, जाना, देना, पडना, पाना, बनना, बैठना, रहना, लगना, लेना, सपना, होना आदि । इनमें से कुछ क्रियाएँ मुख्य और सहायक दोनों रूपों में प्रयुक्त हुई हैं । रूप के अनुसार सूरदास द्वारा प्रयुक्त ऐसी संयुक्त क्रियाओं को आठ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. क्रियार्थक सज्ञा से बने रूप, ख. वर्तमानकालिक वृद्धन्तो से बने रूप, ग. भूतकालिक वृद्धन्तो से बने रूप, घ. पूर्वकालिक वृद्धन्तों से बने रूप, ङ. अपूर्ण क्रियाद्योतक वृद्धन्तो से बने रूप, च. पूर्णक्रियाद्योतक वृद्धन्तो से बने रूप, छ. पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ और ज. तीन क्रियाओं से बने रूप ।

क. क्रियार्थक संज्ञाओं से बने रूप—क्रियार्थक सज्ञा शब्दों से सूरदास ने जो संयुक्त क्रियाएँ बनायी हैं, वही उनमें आवश्यकता और अनुमति सूचित होती है, वही

१९. सा. २८५२ ।

२०. सा. ४०५६ ।

२१. सा. १२१ ।

२२. 'सामान्य संकेतार्थमाल' का प्रचलित नाम 'हेतुहेतुमद्भूतमाल' है—लेखक ।

२३. सा. १७२३ ।

२४. सा. १७३२ ।

२५. सा. १०-१३९ ।

२६. सा. १६०७ ।

२७. सा. १-२०३ ।

२८. सा. ३७८६ ।

२९. सा. ३१५३ ।

३०. सा. १-२५९ ।

३१. सा. ४-९ ।

३२. सा. १-२०३ ।

३३. सा. १-२९७ ।

क्रिया का आरंभ और अवकाश; जैसे—नाहि चितवन देत सुत-तिय नाम-नीकां ओर^{३४} (अनुमति) । गोपी लागी पछतावन^{३५} (आरंभ) । होइ कान्ह की अइवौ^{३६} (आवश्यकता) । इस प्रकार की संयुक्त क्रियाएँ सूर-काव्य में आदि से अत तक मिलती हैं, जैसे—साँझ-सवारि आवन लागी^{३७} । जो कछु करन चाहत^{३८} । पारथ-तिय कुहराज सभा में बोलि करन चहै नंगी^{३९} । पुरवासी नाहिन चाहत जियौ^{४०} । कछु चाहौ कहौ^{४१} । (तुम प्रभु) पावक जठर जरन नहि दीन्हो^{४२} । मधुप कौ प्रेमहि पढ़न पठायौ^{४३} । अपनी बदन विलोकन लागी^{४४} । लागन नहि देत कहूँ समर आँच ताती^{४५} । (स्याम) मथुरा लागे राजन^{४६} । अब लाग्यौ पछितान^{४७} । होन चाहत कहा^{४८} ।

ख. वर्तमानकालिक कृदंतों से बने रूप—वर्तमानकालिक कृदंतों की सहायता से सूरदास ने जो संयुक्त क्रियाएँ बनायी हैं, वे प्रायः नित्यता या निरंतरता-सूचक हैं, जैसे—चितै रहति ज्यौ चद चकोरी^{४९} । कुज-कुज जपत फिरौ तेरी गुन-माला^{५०} । रैन रहौगौ जागत^{५१} । अब दुहत रहौगौ^{५२} ।

ग. भूतकालिक कृदंतों से बने रूप—इस वर्ग के रूपों की संख्या भी सूर-काव्य में पर्याप्त है । ऐसी संयुक्त क्रियाओं से तत्परता, निश्चय, अम्यास आदि की सूचना मिलती है; जैसे—कह्यो, उहाँ अब गर्यो न जाइ^{५३} । जुग-गुग बिरद यहै चलि आयौ^{५४} । नरकपति दीन्है रहत किवार^{५५} । वा रूप-रासि बिनु मधुकर कैसे परत जियौ^{५६} । अब तो पर्यौ रहेगौ दिन दिन तुमको ऐसी काम^{५७} । सबद जोरि बोल्यौ चाहत हैं^{५८} । (हो) अनुचर भयौ रहौ^{५९} । ताकै डर में भाज्यौ चाहत^{६०} ।

घ. पूर्वकालिक कृदंतों से बने रूप—सूरदास द्वारा प्रयुक्त पूर्वकालिक कृदंतों से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ प्रायः कार्य की निश्चयता, आकस्मिकता, सशक्तता, पूर्णता आदि सूचित करती हैं; जैसे ओरो आइ निकसिहैं^{६१} । कामिनि आजुहि आनि रहेगी^{६२} । हरि तहें उठि धाए^{६३} । ज्यै चले दोऊ नैन^{६४} । नृपति जान जो पावर्ह^{६५} । बीचहि बोलि उठे हलधर^{६६} । अंकम भरि पिय प्यारी लीन्ही^{६७} । कर रहि गयो उचायो^{६८} ।

३४. सा. १-९९ ।	३५. सा. ३६६० ।	३६. सा. ३७६६ ।
३७. सा. ७१० ।	३८. सा. १-१६३ ।	३९. सा. १-२१ ।
४०. सा. १-११० ।	४१. सा. १-११६ ।	४२. सा. ३६८२ ।
४३. सा. १०-४ ।	४४. सा. १-२३ ।	४५. सा. ३३०२ ।
४६. सा. १-१०१ ।	४७. सा. १-१०१ ।	४८. सा. ४२० ।
४९. सा. ३०६७ ।	५०. सा. १११७ ।	५१. सा. ४२० ।
५२. सा. ४०० ।	५३. सा. ४-५ ।	५४. सा. १-११ ।
५५. सा. १-१४१ ।	५६. सा. १०-१०२ ।	५७. सा. १-१६१ ।
५८. सा. १-१७ ।	५९. सा. १-१९१ ।	६०. सा. २४५४ ।
६१. सा. १-७ ।	६२. सा. १-७ ।	६३. सा. १-७ ।
६४. सा. ७४९ ।	६५. सा. १४६१ ।	६६. सा. १०-२१४ ।
६७. सा. २५२७ ।		
६८. सा. ९-३ ।		

जन में रह्यो लुगाउ^{६९} । यह इनकी विधिना लिखि रह्यो^{७०} । (हरि) हाथ चक्र से धार्यो^{७१} । रे मन, गोविंद के हौ रहिये^{७२} ।

६. अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतों से बने रूप—इस वर्ग की संयुक्त क्रियाएँ प्रायः याम्यता, विवक्षता, आश्चर्य आदि सूचित करती हैं । इनकी सख्या उक्त रूपों की अपेक्षा कम है । 'घननों' के विवृत रूपों में इन वर्ग के अधिकांश रूप बनाये गये हैं; जैसे—स्नान, कछ करत न बनिह^{७३} । आजु बनेऊ करत धन्यो नाहि^{७४} । छाड़ित धनत नहीं बनेह^{७५} । जात न बने देखि मुक्त हरि को^{७६} । घर तें निकमत धनत नाहो^{७७} ।

७. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतों से बने रूप—यूर-कान्य में प्रयुक्त पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतों से निर्मित संयुक्त क्रियाएँ प्रायः कार्य की निरंतरता या निश्चयता सूचित करती हैं, जैसे—नद को बर गहे ठाड़े^{७८} । (ते) भागे आवत ब्रज हो तन को^{७९} । लोन्हे फिरत परहि के पासन^{८०} ।

८. पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ—क्रिया की निरंतरता, अधिकता आदि को प्रभावोत्पादक रीति से सूचित करने के लिए कभी-कभी क्रियाओं की आवृत्ति की जाती है । ऐसी क्रियाएँ प्रायः सहचर-रूप में प्रयुक्त होती हैं जिनकी कभी तो ध्वनि में समानता रहती है और कभी अर्थ में एकरूपता । गद्य में क्रियाओं की इस प्रकार की आवृत्ति विशेष रूप से होती है । कान्य में ऐसे प्रयोगों को प्रचुर सख्या में सम्मिलित करके सूरदास ने अपनी भाषा को जन-रसि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है । संयुक्त क्रियाओं की पुनरुक्तिवाले उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—आवत-जात चहूँ में लोइ^{८१} । स्यात-खेलत रहै नोक^{८२} । खेलत-धीरत हरि गए रो^{८३} । लँ बाई गृह चूमति-चाटति^{८४} । जान-भुक्ति इन मोहि मुलायो^{८५} । तो अब बहुत देखि-मुनिवै^{८६} । और सकल न देखे-हूँ^{८७} । भांग-मनषी धरति-उठावति^{८८} । फूले-पले तरवर^{८९} । बैठत-उठत केज सोवत मैं बस डरनि अकूलात^{९०} । इहि विधि रहमत-दिलसत दपनि^{९१} । नकु टरत नहि सोमत-जागत^{९२} ।

आवृत्ति की दृष्टि से सूरदास के ये प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं, जो यद्यपि संयुक्त क्रिया, के अन्तर्गत नहीं आ सकते तथापि जिनमें एक ही क्रिया की द्विरुक्ति, कार्य की निरंतरता, अधिकता या अन्य कोई विशेषता सूचित करने के उद्देश्य से की गयी है; जैसे—स्याम कछु कहत-कहत ही बस करि लोन्हे आह निदरिया^{९३} । खेलत-खेलत^{९४} ।

६९. सा. १०-२२१ ।

७०. सा. १३०१ ।

७१. सा. १-१० ।

७२. सा. १-६२ ।

७३. सा. १४७९ ।

७४. सा. ४६१ ।

७५. सा. ७३८ ।

७६. सा. १०४५ ।

७७. सा. १४५३ ।

७८. सा. ८३७ ।

७९. सा. ९३२ ।

८०. सा. ९३४ ।

८१. सा. १२-४ ।

८२. सा. ८२२ ।

८३. सा. १०-२४७ ।

८४. सा. १०-७८ ।

८५. सा. ८५१ ।

८६. सा. ३५१९ ।

८७. सा. १-३२३ ।

८८. सा. ८९४ ।

८९. सा. १०-३४ ।

९०. सा. १०-१२ ।

९१. सा. ७३२ ।

९२. सा. १६३३ ।

९३. सा. १०-२४६ ।

अपि जमुना-जल लीन्ही^{१४} । फिरंत-फिरत बलहीन भयो^{१५} । लै-लै ते हथियार-
आपने चले^{१६} ।

ज. दो से अधिक क्रियाओं से बने रूप—सूर-काव्य में कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमें तीन-तीन या चार-चार क्रियाओं का पूर्ण क्रिया-रूप में प्रयोग किया गया है; जैसे—अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं^{१७} । गगन मंडल तैं गहि ध्यान्यौ है^{१८} । ये अति चपल चल्यौ चाहत हैं^{१९} । सूरजदास जनाइ दियौ है^{२०} । बहुत ढीठी दै रहे हो^{२१} । गर्ग सुनाइ कही जो बानी, सोई प्रगट होती है जात^{२२} । दिन ही दिन वह बढ़त जात है^{२३} । सवनन सुनत रहत है^{२४} ।

क्रिया के विशेष प्रयोग—सूरदास के अनेक पदों में क्रिया शब्दों के चयन की एक यह विशेषता दिखायी देती है कि उन्होंने निवृत्तवर्ती शब्द या शब्दों से अनुप्रास के निर्वाह का प्रयत्न किया है । ऐसे प्रयोग भाषा की सुदरता बढ़ाने में सहायक होते हैं । साथ ही कवि ने अर्थ की उपयुक्तता का भी उचित ध्यान रखा है, जैसे—कछु करौ कलेऊ^{२५} । कदम करारत काग^{२६} । करना करति^{२७} । गुनत गुन^{२८} । जागु जसोदा^{२९} । झरना सी झरत^{३०} । दमकत दसन^{३१} । धरि ध्यान ध्यावहु^{३२} । निसि निघटी^{३३} । पहिरे पीरे पट^{३४} । प्रन प्रतिपारथी^{३५} । बरबीर विराजत^{३६} । विरद वदत^{३७} । विरद बुलावै^{३८} । बैठी बैदेही^{३९} । भए भरम^{४०} । भाजत भाजन भानि^{४१} । रंग रँगो^{४२} । लटकन लटकि रह्यौ^{४३} । लोचन लोलति^{४४} । सखा संग सोहत^{४५} । सुनि सुबात सजनी^{४६} । सुमति सुरूप सँचै^{४७} ।

अव्यय और सूर के प्रयोग—

अव्यय के मुख्य चार भेद होते हैं—१. क्रियाविशेषण,^{४८} २. संबंधसूचक, ३. समुच्चय-बोधक और ४. विस्मयादिबोधक । अतएव 'अव्यय' शीर्षक के अंतर्गत इन्हीं भेदों के प्रयोगों की विवेचना करना है ।

१. क्रियाविशेषण—अर्थ के अनुसार क्रियाविशेषण के भी चार भेद होते हैं—

१४. सा. ५७६ । १५. सा. ९-६ । १६. सा. १-१५१ । १७. सा. १-१३४ ।
१८. सा. १०-१९५ । १९. सा. ९-९२ । २०. सा. ४४५ । २१. सा. २८७६ ।
२२. सा. ९८६ । २३. सा. १०-६० । २४. सा. ३०२० । २५. सा. ६०९ ।
२६. सा. ११२६ । २७. सा. ९-१६० । २८. सा. १०-२०५ । २९. सा. १०-१४ ।
३०. सा. ३५७१ । ३१. सा. १४४६ । ३२. सा. ८३५ । ३३. सा. १०-२३३ ।
३४. सा. १४५२ । ३५. सा. ९-१५९ । ३६. सा. ९-१६७ । ३७. सा. १०-२०५ ।
३८. सा. १-१८३ । ३९. सा. ९-१६१ । ४०. सा. ९-१५८ । ४१. सा. १०-२८० ।
४२. सा. ३५११ । ४३. सा. १०-९३ । ४४. सा. १४३९ । ४५. सा. ६४५ ।
४६. सा. १०-२०१ । ४७. सा. २-१२ ।

२९. 'क्रियाविशेषण' का शाब्दिक अभिप्राय उन शब्दों से है जो क्रिया की विशेषता बताते हों; परन्तु इस शब्द-भेद के अन्तर्गत जितने शब्द-रूप आते हैं, उनमें अनेक

कं. स्थानवाचक, ख. कालवाचक, ग परिमाणवाचक और घ रीतिवाचक। मूर-काव्य में इन सबके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

क. स्थानवाचक क्रियाविशेषण—इसके पुन दो भेद किये जा सकते हैं—ख. स्थिति वाचक और ग दिशावाचक। प्रथम भेद के अतर्गत आनेवाले रूपों को सख्या मूर-काव्य में द्वितीय से अधिक है।

अ. स्थितिवाचक—मूरदास ने जिन स्थितिवाचक क्रियाविशेषणों का प्रयोग अपने काव्य में किया है, उनमें से मुख्य यहाँ संकलित हैं। इनमें से कुछ बलात्मक रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

अनत—मन अनन लगावै^{३०}। यह बालक काढि अनतही दीजै^{३१}।

अन्यत्र - इक छिन रहत न सो अन्यत्र^{३२}।

आगै—आगै है सो लीजै^{३३}।

इहाँ—लैन सो इहाँ सिधारे 'छल करि इहाँ हँवारे^{३४}। इहाँ अटक अनि प्रेम पुरातन^{३५}।

इहाँउ—ओर इहाँउ विवेक-अग्नि के विरह विपाक दहौं^{३६}।

उहाँ—उहाँ जाइ कुरूपति^{३७}। हरि विनु सुख नाहि 'उहाँ^{३८}। वं राजा भए जाइ उहाँ^{३९}।

ऊपर—चरन राखि उर ऊपर^{४०}।

वहँ—तब वहँ मूड दुरँही^{४१}।

कहाँ—पर-हय कहीं बिकाऊँ^{४२}। कुरूपति है वहाँ^{४३}।

कहुँ—सूचत कहुँ न उतारी^{४४}। कहुँ हरि-वया 'कहुँ सतनि की डेरी^{४५}। इक दिन भृग-छोना कहुँ गयो^{४६}।

कहुँवै—शन बिना कहुँवै मुख नाहो^{४७}।

कहुँ—पतित की ठौर कहुँ नहि^{४८}। कहुँ कर न पमारी^{४९}।

ऐसे हैं जिनसे क्रिया की प्रत्यक्ष विशेषता नहीं प्रकट होती। अतएव 'क्रियाविशेषण' के 'विशेषण' अंग का अनिवार्य व्यापक रूप से लेना चाहिए। इसके अनुसार क्रिया के काल, स्थान, परिमाण, ढंग आदि के संबंध में प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत करनेवाले सभी शब्द 'क्रियाविशेषण' माने जाते हैं—लेखक।

३०. सा. ३-९। ३१. सा. १०-९। ३२. सा. ४-१२। ३३. सा. १-१९१।
 ३४. सा. ३०३२। ३५. सा. ३७२१। ३६. सा. ३-२। ३७. सा. १-२८४।
 ३८. सा. २-५। ३९. सा. ३१४६। ४०. सा. १-३। ४१. सा. १-३३१।
 ४२. सा. १-१६४। ४३. सा. १-२८४। ४४. सा. १-२१०। ४५. सा. १-२६६।
 ४६. सा. ५-२। ४७. सा. २६०६। ४८. सा. १-१४७। ४९. सा. १०-३७।

जहँ—जहँ आदर-भाव न पड़्यै^{५१} । जहँ रघुनाथ नहीं^{५२} । जहँ भ्रम-निशा
होति नहि^{५३} ।

जहाँ—जहाँ गयो^{५४} । पांडु-सुत-मंदिर जहाँ^{५५} । जहाँ न प्रेम-वियोग^{५६} ।

ढिग—सिव प्रनाम करि ढिग बैठाए^{५७} । पुनि अंगद कौ बोलि ढिग^{५८} ।

तरै—लोह तरै मधि रूपा लायो^{५९} ।

तहँ—जम तहँ जात डरे^{६०} । तहँ तँ फिरि निज आस्रम गयो^{६१} । दूसरय तहँ
आए^{६२} ।

तहँउ—तेरी प्रानपति तहँउ न छाँड़्यो सग^{६३} ।

तहँई—मन इंद्री तहँई गए^{६४} ।

तहाँ—तहाँ जाइके सुख बहु पैए^{६५} । राञ्छसि एक तहाँ चलि आई^{६६} । बानि-
सुतहुँ तहाँ तँ सिधायो^{६७} ।

तहाँ—काल तहाँ तिहि पकरि निकारयो^{६८} । कोतुक तहाँ-तहाँ^{६९} ।

तीर—रुकमिनि चौर डुलावति तीर^{७०} ।

निकट—सोइ सोइ निकट बुलायो^{७१} । कोऊ निकट न आवै^{७२} । आइ निकट श्री
नाथ निहारे^{७३} ।

नियरै—तीर नाहि नियरै^{७४} ।

नीचै—नाग रहे सिर नीचै नाइ^{७५} ।

नेरे—कोउ न आवै नेरे^{७६} ।

नेरै—तुम तो दोष लगावन को सिर बँठे देखत नेरै^{७७} ।

पाछै—डोलत पाछै लागे^{७८} । सेनापति हरि के पाछै लागे आवत^{७९} ।

विच—कचन को कठूला मनि-मोतिनि विच बधनहो रह्यो पोइ^{८०} ।

भीतर—वृष्णा नाद करत घट भीतर^{८१} ।

मधि—लोह तरै मधि रूपा लायो^{८२} । बिधु मधि मन तारे^{८३} ।

सामुहे—सुमद सामुहँ आए^{८४} ।

५०. सा. १-२३९ । ५१. सा. १-२८३ । ५२. सा. १-३३७ । ५३. सा. १-१०२ ।

५४. सा. १-२८४ । ५५. सा. १-३३७ । ५६. सा. ४-५ । ५७. सा. ९-७१ ।

५८. सा. ७-७ । ५९. सा. १-३५ । ६०. सा. ६-५ । ६१. सा. ९-२४ ।

६२. सा. १-३२५ । ६३. सा. २२५३ । ६४. सा. १-२९० । ६५. सा. ९-५६ ।

६६. सा. ९-१३५ । ६७. सा. ४-१२ । ६८. सा. १०-२४ । ६९. सा. ४२२८ ।

७०. सा. १-१९३ । ७१. सा. १-१९७ । ७२. सा. १-२७४ ।

७३. सा. १-१७५ । ७४. सा. ७-२ । ७५. सा. १-७९ ।

७६. सा. १-२०६ । ७७. सा. १-८ । ७८. सा. ८-४ । ७९. सा. १०-१४८ ।

८०. सा. १-१५३ । ८१. सा. ७-७ । ८२. सा. १०-१३४ । ८३. सा. १-२७४ ।

ह्यौ—इनकों ह्यौ तै देहु निकास^{८४} । यह सुनि ह्यौ तै नरत सिधानी^{८५} । इदने
तजिकं ह्यौ आयो^{८६} ।

ह्यौ—ह्यौ (अटक) निज नेह नए^{८७} ।

उक्त उदाहरणों में एक ही स्थितिवाचक क्रियाविशेषण का प्रयोग किया गया है;
परंतु सूर-काव्य में ऐसे भी अनेक पद हैं जिनमें इनके दोहरे रूप मिलते हैं; जैसे—

अनत कहूँ—हरि-चरनारविंद तजि लागत अनत कहूँ तिनकी भति बांघी^{८८} ।

अनत कहूँ नहि दाउ^{८९} ।

कहूँ अनत—गोविंद सौ पति पाइ कहूँ मन अनत लगावै^{९०} ।

जहँ-तहँ—जहँ-तहँ सुनियत यह बडाई^{९१} । राखहि जहँ-तहँ होत सहाई^{९२} ।

जहँ-तहो—हरि हरि हरि सुमिरी जहँ-तहो^{९३} ।

जहाँ-तहँ—जहाँ-तहँ गए सबही पराई^{९४} ।

जहाँ-तहो—जहाँ तहा उठि धाए^{९५} । जहाँ तहाँ तै सब आवहि^{९६} । हरि के
दूत जहाँ-तहाँ रहै^{९७} ।

जहीं तहीं—रन भरु बन, बिग्रह डर भागै, आवत जहीं-तहीं^{९८} ।

आ. दिशावाचक—इस वर्ग के रूपों की तुल्य सूर-काव्य में स्थितिवाचक क्रिया-
विशेषणों से कुछ कम है। जिन दिशावाचक क्रियाविशेषणों का प्रयोग सूरदास ने
किया है, उनमें प्रमुख ये हैं—

इत—इत पारष कोप्यो हम पर^{९९} । इत तै नद बुलावत है^{१००} ।

उत—उत कोप्यो भीषम भट राउ^{१०१} । उत तै जननि बुलावै रो^{१०२} । नद उतवै
बाए^{१०३} ।

जित—निरालव जित धाई^{१०४} । जित जाउं^{१०५} । जित चलन कही (हो)^{१०६} ।

जित—जित जित मन अरजुन की तिनहि रय चलायो^{१०७} । अपनी रचि जित हो
ऐंचति^{१०८} । जित देखी^{१०९} ।

जित—तिन्हि रय चलायो^{११०} । हौं जितहीं उठि चलत^{१११} । जित देखी मन गरी
लिगहि को^{११२} ।

दाहिन—दाएँ कर बाजि बाग दाहिन हैं बैठे^{११३} ।

दूर—कूर तै दूर दमिये सदा^{११४} ।

८४. सा. ४-५ । ८५. सा. ५-३ । ८६. सा. ६-८ । ८७. सा. ३७-३ ।

८८. सा. १-१८ । ८९. सा. १-१६४ । ९०. सा. २-९ । ९१. सा. १-१४१ ।

९२. सा. ७-२ । ९३. सा. २-५ । ९४. सा. ८-८ । ९५. सा. १-१५८ ।

९६. सा. १-१९१ । ९७. सा. ६-४ । ९८. सा. १-२८३ । ९९. सा. १-२७४ ।

१. सा. १०-९८ । २. सा. १-२७४ । ३. सा. १०-९८ । ४. सा. १०-१८३ ।

५. सा. १-२ । ६. सा. १-१९६ । ७. सा. ९-३३ । ८. सा. १-२३ ।

९. सा. १-९८ । १०. सा. १०-१३९ । ११. सा. १-२३ । १२. सा. १-९८ ।

१३. सा. १०-१३९ । १४. सा. १-२३ । १५. सा. १-२२३ ।

दूरि—दूरि जब लों जरा^{१६} । भव-दुख दूरि नसावत^{१७} ।

पाछे—परत सबनि के पाछे^{१८} ।

स्थितिवाचक रूपों के समान सूरदास ने दोहरे दिशावाचक क्रिया-विशेषणों के भी प्रयोग किये हैं, यद्यपि इनकी संख्या भी अपेक्षाकृत कम है; जैसे—

इत-उत—पग न इत-उत धरन पावत^{१९} । ते इत-उत नहि चाहत^{२०} । इत-इत देखि द्रौपदी टेरी^{२१} ।

जित-तित—जित-तित गोता खात^{२२} । जित-तित हरि पर-धन^{२३} ।

ख. कालवाचक क्रियाविशेषण—इसके तीन भेद होते हैं—क्ष, समयवाचक, अ, अवधिवाचक और ज, पौन पुन्यवाचक । इनमें से प्रथम दो भेदों की संख्या सूर-काव्य में अंतिम से बहुत अधिक हैं ।

अ. समयवाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में तीस से भी अधिक है । इनमें से मुख्य रूप यहां सकलित हैं जिनमें कुछ बलात्मक भी हैं; जैसे—

अगमनै—सो गई अगमनै^{२४} ।

अव—अव लाग्यो पछितान^{२५} । तकै अव सरन तेरी^{२६} । अव बारि तुम्हारी^{२७} ।

अवहीं—कै (प्रभु) अवहीं निस्तारी^{२८} ।

अवै—(जानकी) निसाचर के सग अवै जात हों देखी^{२९} ।

आगै—पाछे भयो न आगै हवंहै^{३०} ।

आज तैं—(यह गाइ) आज तैं आप आगै दई^{३१} ।

आजु—आजु गह्यो हम पापी एक^{३२} ।

आजुही—भावं परी आजुही यह तन^{३३} ।

कव—कव मोसों पतित उधार्यो^{३४} । ऐसी कव करिहो गोपाल^{३५} । भक्ति कव करिहो^{३६} ।

कवहुँ—भवसागर में कवहुँ न झूकै^{३७} । हृदय की कवहुँ न जरनि घटी^{३८} ।

कवहुँक—कवहुँक तून बूड़ पानी में, कवहुँक सिलार तरै^{३९} । कवहुँक भोजन लहों...

कवहुँक भूख सहों .. कवहुँक चढों तुरग....कवहुँक भार बहों^{४०} ।

कवहुँ—समय न कवहुँ पावै^{४१} । कवहुँ...तुष्टि न पावत प्रान^{४२} । कवहुँ नहि आयो^{४३} ।

१६. सा. १-३१५ । १७. सा. २-१७ । १८. सा. १-१३६ । १९. सा. १-९९ ।

२०. सा. १-२१० । २१. सा. १-२५० । २२. सा. १-१७५ । २३. सा. १-२१६ ।

२४. सा. ८०७ । २५. सा. १-१०१ । २६. सा. १-११० । २७. सा. १-११८ ।

२८. सा. १-१३९ । २९. सा. ९-६४ । ३०. सा. १-९६ । ३१. सा. १-५१ ।

३२. सा. ६-४ । ३३. सा. २-३३ । ३४. सा. १-१३२ । ३५. सा. १-१८९ ।

३६. सा. १-३२९ । ३७. सा. १-३६ । ३८. सा. १-९८ । ३९. सा. १-१०५ ।

४०. सा. १-१६१ । ४१. सा. १-४० । ४२. सा. १-१०३ । ४३. सा. १-१०८ ।

जय—जन गज-चरन ग्राह गहि राख्यो^{४४} । जय सुन्यो बिरद यह^{४५} ।

जवहीं—द्रुपद-सुता को मिट्यो महादुख जवहीं सो हरि टेरि पुकार्यो^{४६} ।

जयै—जयै हिरनाकुस मार्यो^{४७} ।

ततकाल—सुमिरत ही ततकाल कृपानिधि बसन प्रवाह बढायो^{४८} । कह दाता जो
द्रव न दीनहि देखि दुखित ततकाल^{४९} ।

ततकालहिं—ततकालहिं तब प्रगट भए हरि^{५०} ।

ततछन—सो ततछन सारिखे सेंवारी^{५१} । हति गज...ततछन सुख उपजाए^{५२} ।

ततछनही—तामैं तैं ततछनही काढ्यो^{५३} ।

तत्र—तत्र धीरज मन आयो^{५४} । तत्र कुतो विनती उच्चारी^{५५} ।

तयै—उचित अपनी कृपा करिहो, तयै तो बन जाइ^{५६} ।

तुरत—सकट परै तुरत उठि धावन^{५७} । नागि पुकार तुरत छुट्कायो^{५८} । सगर के
पुत्र, कीन्हें सुरसरि तुरत पवित्र^{५९} ।

पहिलैं—मन ममता-रुचि सों रखवारी पहिलैं लेहु निवेरि^{६०} ।

पहिलैं ही—मैं तो पहिलैं ही कहि राख्यो^{६१} । सरवस मैं पहिलैं ही वारचां^{६२} ।

पहिलैं—पहिलैं हों ही हो तब एक^{६३} ।

पाछैं—पाछैं भयो न आगे ह्वै^{६४} ।

पुनि—पुनि अघ सिंघु बढत है^{६५} । नैकु चूक तैं यह गति कीनी, पुनि बंकुठ
निवास^{६६} । पुनि जीतो, पुनि मरतो^{६७} ।

पूर्व—कृपा करौ ज्यों पूर्व करी^{६८} ।

प्रथम—जिहि सुत के हित विमुख गोविंद तैं प्रथम तिही मुख जारयो^{६९} ।

फिरि—छ. दस अक फिरि डारै^{७०} । फिरि ओटाए स्वाद जात है^{७१} । पत्ता फिरि
न लागै डारै^{७२} ।

फेरि—तो हों अपनी फेरि सुघारों^{७३} । फेरि परैगी भीर^{७४} । सुमारग फेरि
चलैगी^{७५} ।

४४. सा १-१०९ । ४५. सा. १-१२५ । ४६. सा १-१७२ । ४७. सा. १-१८० ।

४८. सा १-१०९ । ४९. सा. १-१५९ । ५०. सा १-१०९ । ५१. सा १-३० ।

५२. सा. ८-६ । ५३. सा २-३० । ५४. सा. १-१२५ । ५५. सा. १-२८१ ।

५६. सा. १-१२६ । ५७. सा. १-९ । ५८. सा. १-११३ । ५९. सा. ९-९ ।

६०. सा. १-५१ । ६१. सा. ४-५ । ६२. सा १०-९२ । ६३. सा. २-३८ ।

६४. सा. १-९६ । ६५. सा. १-१०७ । ६६. सा. १-१३२ । ६७. सा. १-२०३ ।

६८. सा. १-२६८ । ६९. सा. १-३३६ । ७०. सा. १-६० । ७१. सा. १-६३ ।

७२. सा. १-८८ । ७३. सा. १-१३६ । ७४. सा १-१९१ । ७५. सा. १-१९२ ।

बहुरि—बहुरि वहै सुभाइ^{७६} । बहुरि जगत नहि नाचै^{७७} । बहुरि पुरान अठारहं
किए^{७८} ।

बहुरौ—बहुरौ तिन निज मन मे गुने^{७९} । तू कुमारिका बहुरौ होइ^{८०} । बहुरौ
भयो परीच्छित राजा^{८१} ।

आ. अवधिवाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में समयवाचक क्रिया-
विशेषणों से कुछ अधिक हो है । दोनों में अन्तर यह भी है कि अधिकांश अवधिवाचक
रूपों का निर्माण सूरदास ने प्रायः दो शब्दों से किया है । इनमें 'लगि' और 'लौं' के
योग से बने रूपों की संख्या अधिक है । उनके काव्य में प्रयुक्त मुख्य अवधिवाचक क्रिया-
विशेषण नीचे दिये जाते हैं—

अजहुँ—अवगुन मोर्य अजहुँ न छूटत^{८२} ।

अजहुँ लौं—अजहुँ लौं जीवत जाके ज्याए^{८३} ।

अजहुँ—रे मन, अजहुँ क्यों न सम्हारै^{८४} । अजहुँ करौ सत्संगति^{८५} । अजहुँ
चेति^{८६} ।

अजहुँ लगि—अजहुँ लगि...राज करै^{८७} ।

अजहुँ लौं—अजहुँ लौं मन भगन काम सौं^{८८} ।

अजौ—अजौ अपुनपी धारौ^{८९} ।

आजु-कालिह—आजु-कालिह कोसलपति आवै^{९०} ।

अव तारै—बहुत पच्यौ अव तारै^{९१} ।

अव लौं—अव लौं नान्हे-नून्हे तारे^{९२} ।

अहनिसि—अहनिसि रहत बेहाल^{९३} । अहनिसि भवित तुम्हारी करै^{९४} । रानी
सौ अहनिसि मन लायो^{९५} ।

कव लगि—कव लगि फिरिहौं दीन बहौ^{९६} । प्रान को पहिरो कव लगि देत
रहौ^{९७} ।

कवहिं लौं—अपने पाइनि कवहिं लौं मोहि देखन धारै^{९८} ।

कौ लौं—जीवित रहिहौ कौ लौं भू पर^{९९} । कौ लौं दुख सहियै^{१००} ।

जव लगि—जव लगि सरबस दीजै उनकी^{१०१} । जव लगि जिय धट अंतर मेरै^{१०२} ।

जव लगि काल न पहुँचै आइ^{१०३} ।

७६. सा. १-४५ । ७७. सा. १-८१ । ७८. सा. १-२३७ । ७९. सा. १-२२८ ।

८०. सा. १-२२९ । ८१. सा. १-२६० । ८२. सा. १-१४७ । ८३. सा. १-३२० ।

८४. सा. १-६३ । ८५. सा. १-८६ । ८६. सा. १-२६९ । ८७. सा. १-३७ ।

८८. सा. १-१८७ । ८९. सा. १-१५७ । ९०. सा. ९-८२ । ९१. सा. १-१४७ ।

९२. सा. १-९६ । ९३. सा. १-१२७ । ९४. सा. ३-१३ । ९५. सा. ५-१२ ।

९६. सा. १-१६२ । ९७. सा. ९-९२ । ९८. सा. १०-११२ । ९९. सा. १-२८४ ।

१. सा. ३३९० । २. सा. १-१७७ । ३. सा. १-२७५ । ४. सा. ७-२ ।

जब लौं—दूरि जब लौं जरा^५ । जब लौं तन कुसलान^६ । द्वितीय सिधु—जब लौं मिलै न आइ^७ ।

जौ लगि—जौ लगि आन न आनि पहुँचै^८ ।

जौ लौं—जौ लौं रह घाष मै^९ ।

तब तैं—तब तैं निहि प्रतिपारयो^{१०} ।

तब लगि—तब लगि सेवा करि निश्चय सों^{११} । तब लगि हों बँकुठ न जेहों^{१२} ।

तबहीं लगि—तबहीं लगि यह प्रीति^{१३} ।

तबहुँ—तबहुँ न द्वार छाँडों^{१४} ।

तबहुँ—अमित अध व्याकुल तबहुँ बछु न सँभार्यो^{१५} ।

तौ लगि—तौ लगि बेगि हरी किन पीर^{१६} ।

तौ लौं—चिरजीव तौ लौं दुरजोधन^{१७} ।

दिन-राती—दिन-राती पोषत रह्यो^{१८} ।

नित—तेली के वृष सों नित भरमन^{१९} । नित नीवत द्वार बजावन^{२०} ।

नितहीं—नितहीं नीवन द्वार बजायो^{२१} ।

नित्त—मुख बटु बचन नित्त पर-निदा^{२२} ।

निरंतर—ज्यों मधु माखी संचति निरंतर^{२३} । चरनन चित्त निरंतर अनुरत^{२४} ।

यह प्रताप दीपक नु निरंतर लोक सकल भजनी^{२५} ।

निसिनासर—दुविधा-दुद रहे निमियासर^{२६} । विषयासक्त रहत निसियानर^{२७} ।

खवन करौ निसियासर^{२८} ।

निसिदिन—निसिदिन करत गुलामी^{२९} । निसिदिन रोवै^{३०} । निसिदिन हँव खई^{३१} ।

निसादिन—पर निय रति-अभिलाष निसादिन^{३२} ।

रातदिन—यह व्योहार लिखाइ रातदिन पुनि जीनों पुनि मरती^{३३} ।

लौं—ये देवना खान ही लौं के^{३४} ।

संतत—मंतत दीन महा अपराधी^{३५} । करनामय संतत दीनदयाव^{३६} । लेते राखि ** मंतत तिन सबहो^{३७} ।

५. सा. १-३१५ ।

६. सा. २-२२ ।

७. सा. ९-११० ।

—८ सा. १-१९१ ।

९ सा. ३७६६ ।

१०. सा. १-३३६ ।

११. सा. १-३२२ ।

१२. सा. ७-५ ।

१३. सा. १-१७७ ।

१४. सा. १-१०६ । १५. सा. १-१०२ । १६. सा. १-१९१ । १७. सा. १-२७५ ।

१८. सा. १-३२५ । १९. सा. १-१०२ । २०. सा. १-१४१ । २१. सा. १-२०५ ।

२२. सा. २-१५ । २३. सा. १-५० । २४. सा. १-१८९ । २५. सा. २-२८ ।

२६. सा. १-१४१ । २७. सा. १-३०२ । २८. सा. २-३३ । २९. सा. १-१४८ ।

३०. सा. १-२५९ । ३१. सा. १-२९९ । ३२. सा. १-२०३ । ३३. सा. १-१४८ ।

३४. सा. ९३३ । ३५. सा. १-१७२ । ३६. सा. १-२०१ । ३७. सा. १-२८३ ।

सदा—इहि लाजनि मरिऐ सदा^{३८} । मुद्रिका सदा सुभग^{३९} । सुमिरन-कथा
सदा सुखदायक^{४०} ।

सदाई—सहस मथानी मथति सदाई^{४१} । भक्त-हेतु अवतार सदाई^{४२} । रहत
स्याम आधीन सदाई^{४३} ।

इ. पौनःपुन्यवाचक—इस वर्ग के अंतर्गत वे शब्द आते हैं जिनमें समय-सूचक शब्दों की प्रत्यक्ष आवृत्ति अथवा 'प्रति' के योग से परोक्ष आवृत्ति हो । सूर-काव्य में ऐसे प्रयोगों की संख्या कालवाचक क्रियाविशेषण के उक्त दोनों भेदों से बहुत कम है । उनके प्रमुख प्रयोग यहाँ संकलित हैं—

अनुदिन—ज्यों मृग-नाभि कमल निज अनुदिन निकट रहत नहि जानत^{४४} ।
प्रेम-कथा अनुदिन सुनै^{४५} । सगति रहै साधु की अनुदिन भव-दुख दूरि
नसावत^{४६} ।

छिन-छिन—बढ़ै छिन छिन^{४७} । देह छिन-छिन होति छोनी^{४८} । छिन-छिन
करत प्रवेश^{४९} ।

दिन-दिन—दिन-दिन हीन-छोन भइ काया^{५०} । मन की दिन-दिन उलटी
चाल^{५१} ।

दिनप्रति—पतितनि सौं रति जोरत दिनप्रति^{५२} ।

नित-प्रति—सूरदास प्रभु हरिगुन मोठे नितप्रति सुनियत कान^{५३} । यो ही नित
प्रति आवै जाइ^{५४} ।

पलपल—घटै पलपल^{५५} ।

पुनि पुनि—तदुल पुनि पुनि जांचत^{५६} । पुनि पुनि योही आवै-जावै^{५७} । पुनि पुनि
राव सोचै सोइ^{५८} ।

प्रतिदिन—प्रतिदिन जेन जन कर्म सबासन नाम हुरै जदुराई^{५९} ।

फिरि फिरि—फिरि फिरि ऐसोई है करत^{६०} । एक पौ नाम बिना जग फिरि फिरि
बाजी हारी^{६१} । फिरि फिरि जोनि अनंतनि भरम्यो^{६२} ।

वारंवार—भक्त की महिमा वारंवार बखानी^{६३} । नहि अस जनम वारंवार^{६४} ।

वारंवार सराहि सूर-प्रभु साग बिदुर-घर खाही^{६५} ।

वारंवारी—कहति जो या विधि वारंवारी^{६६} ।

३८. सा. १-४४ । ३९. सा. १-६९ । ४०. सा. १-८२ । ४१. सा. ८११ ।

४२. सा. ८३९ । ४३. सा. १२७४ । ४४. सा. १-४९ । ४५. सा. १-३२५ ।

४६. सा. २-१७ । ४७. सा. १-८८ । ४८. सा. १-३२१ । ४९. सा. ३३९ ।

५०. सा. १-९८ । ५१. सा. १-१२७ । ५२. सा. १-१४९ । ५३. सा. १-१६९ ।

५४. सा. ४-१५ । ५५. सा. १-८८ । ५६. सा. १-३१ । ५७. सा. ३-१३ ।

५८. सा. ४-१२ । ५९. सा. १-९३ । ६०. सा. १-५५ । ६१. सा. १-६० ।

६२. सा. १-१५६ । ६३. सा. १-११ । ६४. सा. १-८८ । ६५. सा. १-२४१ ।

६६. सा. ४-५ ।

बारवार—बारवार * किरत दमों दिसि धाए^{६७} । बारवार यह विनती करें^{६८} ।

ग परिमाणवाचक क्रियाविशेषण—सूरदास द्वारा प्रयुक्त परिमाणवाचक क्रिया विशेषणों की संख्या स्थान और कालवाचक-रूपों से बहुत कम है । परिमाणवाचक वर्ग के जो प्रयोग उनके काव्य में मिलते हैं, स्थूल रूप से उनको निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

अ अधिकताबोधक—निपट, बहुत, बहुतक आदि प्रयोग इस वर्ग में आते हैं, जैसे—

निपट—भव तो जरा निपट नियरानी^{६९} ।

बहुत—अम्मी बहुत लघु घाम बिलोकत^{७०} ।

बहुतक—ता रिस मैं मोहि बहुतक मारयो^{७१} ।

आ. न्यूनतबोधक—बहुक, नेक, नैक आदि प्रयोग इस वर्ग में आते हैं, जैसे—

बहुक—जब आँखों ताधु-सगति बहुक मन ठहराई^{७२} ।

नेक—टरत टारै न नेक^{७३} ।

नैक—पाडु की बधू जस नैक गायो^{७४} । प्रह्लाद न नैक डरै^{७५} ।

इ. तुलनावाचक—अधिक, एतौ आदि प्रयोग तुलनावाचक हैं, जैसे -

अधिक—पवन के गवन तैं अधिक धायो^{७६} ।

एतौ—तोहि एतौ भरमायो^{७७} ।

ई. श्रेणीवाचक—‘क्रम कम’ या ‘क्रम कम करि’, ‘सने सने’-जैसे प्रयोग इस वर्ग में आते हैं—

अ क्रमक्रम करि—क्रम क्रम करि सबकी गति होइ * क्रम क्रम करि * या धरै^{७८} । आभूषन अग जे बनाये, लालहि क्रम क्रम पहिराए^{७९} ।

आ सने सने—सने सने तैं सब निस्तरे^{८०} । दीनो उनहि उरहनां मधुकर सने सने शयुझाइ^{८१} ।

घ. रीतिवाचक क्रियाविशेषण—सूर-काव्य में प्राप्त रीतिवाचक क्रियाविशेषणों की संख्या पर्याप्त है । सुविधा के लिए उनकी मुख्य तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अ. प्रकारवाचक, आ. कारणवाचक और इ. निषेधवाचक ।

अ. प्रकारवाचक—सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रकारवाचक क्रियाविशेषणों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

६७ सा. १-१०० ।

६८ सा. ३-१३ ।

६९ सा. १-१७ ।

७० सा. १-८७ । ७१ सा. १-१५१ । ७२ सा. १-४५ । ७३ सा. १-१०६ ।

७४ सा. १-५ । ७५ सा. १-३७ । ७६ सा. १-५ । ७७ सा. ४२१० ।

७८ सा. ३-१३ । ७९ सा. १०-१८३ । ८० सा. ३-१३ । ८१ सा. ३७४१ ।

अचानक—परं अचानक त्यों रस लंपट^{८२} । आनि अचानक अंसिया मौर्च^{८३} ।

अचानक ही—कबहुं गहत दधि-मटुकी अचानक ही^{८४} । कबहुं गहत ही अचानक ही गगरी^{८५} ।

अनयास—बासर-निसि दोउ करं प्रकासित महा कुमग अनयास^{८६} ।

अनायास—सिसुपाल सुजोधा अनायास लं जाति समोयो^{८७} । अनायास^{८८} अजगर उदर भरै^{८९} । अनायास चारिउं फल पावै^{९०} ।

औचक—धरै भरि अँकवारि औचक^{९१} ।

छरछर—छरछर मारी साँटी^{९२} ।

परस्पर—मोहि देखि सब हँसत परस्पर^{९३} ।

मलिमलि—बस्तर मलिमलि धोए^{९४} । अग मलिमलि न्हाहि^{९५} ।

सूयें—सूयें कहत न बात^{९६} ।

सैंतमेंत—कलुषो अरु मन मलिन बहुत में सैंतमेंत न बिकाउं^{९७} ।

आ. कारणवाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में सीमित है । उसमें प्रयुक्त प्रमुख कारणवाचक क्रियाविशेषण यहाँ संकलित हैं—

कत—जननि बोझ कत भारी^{९८} । कत जड़ जंतु जस्त^{९९} । कत तू सुआ होत छेमर को^{१००} ।

कतहि—कतहि मरत ही रोइ^{१०१} ।

कहा—गरबत कहा गँवार^{१०२} । कहा भयो जुग कोटि जिएँ^{१०३} । तुमरें कहा न होही^{१०४} ।

काहे कौं—रे नर, काहे कौं इतरात^{१०५} ।

काहें—काहें सुधि बिसारी^{१०६} । काहें सूर बिसार्यो^{१०७} ।

किन—वेगि बड़ी किन होइ^{१०८} । तब किन भुईं^{१०९} । धावहु नद गोहारि लगी किन^{११०} ।

कैसेँ—सो कैसेँ बिसरै^{१११} । कैसेँ तुव गुन गावै^{११२} । अब कैसेँ पँथत, सुख मगि^{११३} ।

तातैं—अब सिर परी ठगीरी^{११४} । तातैं विवस भयो^{११५} । कुबिजा भई स्याम-रंग राती, तातैं सोभा पाई^{११६} । तातैं कहत दयाल^{११७} ।

८२. सा. २-२४ ।	८३. सा. २-६९ ।	८४. सा. १-४७ ।	८५. सा. १-९० ।
८६. सा. १-५४ ।	८७. सा. १-१०५ ।	८८. सा. १-२३३ ।	८९. सा. २-७६ ।
९०. सा. ३-७५ ।	९१. सा. १-१७५ ।	९२. सा. १-५२ ।	९३. सा. १-३३८ ।
९४. सा. २-२२ ।	९५. सा. १-१२८ ।	९६. सा. १-३४ ।	९७. सा. १-५५ ।
९८. सा. १-५९ ।	९९. सा. १-२६२ ।	१. सा. १-८४ ।	२. सा. १-८९ ।
३. सा. १-९५ ।	४. सा. २-२२ ।	५. सा. १-१६ ।	६. सा. १-१०१ ।
७. सा. १-७५ ।	८. सा. १-७७ ।	९. सा. १-७७ ।	१०. सा. २-३७ ।
११. सा. १-४२ ।	१२. सा. १-६१ ।	१३. सा. १-४९ ।	१४. सा. १-६३ ।
१५. सा. १-१०१ ।			

यातैं—जुग-जुग बिरद यहै चलि आयौ, टेरि कहत हौं यातैं^{१६} ।

ग निषेधवाचक—इस वर्ग के रूपों की सख्या भी सूर काव्य में प्रकार और कारण-वाचको के समान ही है । सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रमुख निषेधवाचक क्रियाविशेषण इस प्रकार हैं—

जनि—जनम जुआ जनि हारि^{१७} । मेरी नौका जनि चढी^{१८} । बालक करि इनको जनि जानी^{१९} ।

जिनि—लोग बुरी जिनि मानी^{२०} । कपट जिनि समझी^{२१} ।

न—मारि न सकैं जम न चढावैं कागर^{२२} । तेरी गति लखि न परैं^{२३} । रवि की किरन उलूक न मानत^{२४} ।

नहिं हौं अजान नहिं जानी^{२५} । सुख-दुख नहिं मानैं^{२६} । नहिं बस जनम बारवार^{२७} ।

नहीं—हरि बिनु भीत नहीं कोउ^{२८} । जात नहीं बिनु साए^{२९} । मैं निरबल बित-बल नहीं^{३०} ।

ना—ना जानौं करिहो कहा^{३१} । नाकुछ घटे तुम्हारी^{३२} । छिन बल ना^{३३} ।

नाहिं—नर-वपु धारि नाहिं जन हरि को^{३४} । समुझत नाहिं हठी^{३५} । नाहिं काँची वृषानिधि हौं^{३६} ।

नाहिन—काया-नगर बड़ी गुजाइस नाहिन बछु बढयो^{३७} । मारिब की सकुच नाहिन मोहि^{३८} । कबहूँ तुम नाहिन गहर बियो • नाहिन और बियो^{३९} ।

नाहिन—कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रचि आन^{४०} । मन बस होत नाहिनै मेरे^{४१} ।

नाहीं—तहाँ प्रभु नाहीं^{४२} । नाहीं डरत करत अनीति^{४३} । सो पाएहु नाहीं पहिचानत^{४४} ।

मति—(नौका) मति होहि मिलाई^{४५} । मुख मृदु वचन जानि मति जानहु सुद पद पद धरती^{४६} ।

घ. अन्य रीतिवाचक क्रियाविशेषण—सूर-काव्य में कुछ ऐसे रीतिवाचक क्रियाविशेषण मिलते हैं जो उक्त तीनों भेदों—प्रकार, कारण और निषेधवाचक—में नहीं आते ।

१६ सा. १-१३० ।

१७. सा. १-३१ ।

१८. सा. ९-४२ ।

१९. सा. १०-८५ । २०. सा १-६३ । २१ सा ९-८७ । २२ सा १-९१ ।

२३. सा १-१०४ । २४ सा १-११४ । २५ सा. १-११ । २६. सा. १-८१ ।

२७. सा १-८८ । २८. सा १ ८५ । २९. सा. १-१०० । ३०. सा. ९ ४२ ।

३१. सा. १-१३० । ३२. सा. १ २१५ । ३३. सा. १० ५४ । ३४. सा. १ ८६ ।

३५. सा. १-९८ । ३६. सा. १-१०६ । ३७ सा. १-६४ । ३८. सा १-१०६ ।

३९. सा १-१२१ । ४०. सा. १-१०६ । ४१. सा. १-२०३ । ४२ सा १-११ ।

४३. सा. १-१०६ । ४४. सा. १-११४ । ४५. सा ९-४२ । ४६ सा. १-२०३ ।

इनको निश्चयवाचक—जैसे 'निसदेह'— और अवधारणसूचक—जैसे 'तौ'— आदि कहा जा सकता है : जैसे—

तौ (अवधारण०)—तुम तौ तीनि लोक के ठाकुर^{४७} ।

निसंदेह (निश्चय०)—या बिधि जो हरि-पद उर धरिही, निसंदेह सूर तौ तरिहो^{४८} ।

२. संबंधसूचक अव्यय—सज्ञा अथवा उसी के समान प्रयुक्त शब्द के पश्चात् आकर जो अव्यय वाक्य की क्रिया, क्रियार्थक सज्ञा अथवा इसी प्रकार के अन्य शब्द के साथ उसका संबंध जोड़ते हैं, वे 'संबंधसूचक' कहलाते हैं। प्रयोग के अनुसार इसके दो भेद होते हैं—क. संबद्ध संबंधसूचक और ख. अनुबद्ध संबंधसूचक ।

क. संबद्ध संबंधसूचक—ये संबंधसूचक अव्यय सज्ञा अथवा उसी के समान प्रयुक्त शब्द के मूल रूप की विभक्ति—प्रायः संबंधकारकीय विभक्ति—के अनंतर प्रयुक्त होते हैं; कभी कभी इनका विभक्तिरहित प्रयोग भी किया जाता है। सूर-काव्य में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं : जैसे—

अ. विभक्ति के पश्चात् प्रयोग—उलटि भईं सब हरि की घाई^{४९} । रहै हरि के द्विग^{५०} । दूरि गयो दरसन के ताई^{५१} । भ्रमि आयो कपि गुंजा की नाई^{५२} ।

आ. विभक्तिरहित प्रयोग—सूर-काव्य में इस वर्ग के प्रयोगों की संख्या उक्त वर्ग से बहुत अधिक है : जैसे—पधिक जान मधुवन सन^{५३} । गई वन तीर^{५४} । भगवत भजन बिनु^{५५} । कौडी लागि मग की रज छानत^{५६} । याहि लागि को मरै हमारे^{५७} । क्यों नाहीं जनुपति लौ जात^{५८} । सुखथौ सलिल समेत^{५९} । गिरिवर सह ब्रज देहु बहाई^{६०} । कपिध्वज सहित गिराऊँ^{६१} ।

ख. अनुबद्ध संबंधसूचक—ये शब्द सज्ञा अथवा समवर्गीय शब्दों के विकृत रूपों के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं; जैसे—नद-गोप-ग्वालनि के आगै देव कह्यो यह प्रगट सुनाई^{६२} । सबनि तन हेरो^{६३} । भुरनि समेत^{६४} । भक्तनि हित तुम धारी देह^{६५} ।

इ. समुच्चयबोधक अव्यय—इस अव्यय-रूप के दो भेद होते हैं—क. समानाधिकरण और ख. व्यधिकरण । दोनों प्रकार के पर्याप्त प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं ।

क. समानाधिकरण—इस अव्यय-रूप के जो प्रयोग सूरदास ने किये हैं, उनको पुनः चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अ. मयोजक, आ. विभाजक, इ. विरोधसूचक और ई. परिणामसूचक ।

४७. सा. १-२३९ । ४८. सा. १-३४२ । ४९. सा. २८२८ । ५०. सा. ३५२३ ।

५१. सा. १-११५ । ५२. सा. १-१४७ । ५३. सा. ३२९५ । ५४. सा. २६०४ ।

५५. सा. २-३ । ५६. सा. १-११४ । ५७. सा. ३७२४ । ५८. सा. ४२२५ ।

५९. सा. १-३२५ । ६०. सा. ९८३ । ६१. सा. १-२७० । ६२. सा. ८७१ ।

६३. सा. १-२५२ । ६४. सा. ७-२ । ६५. सा. ७-२ ।

ब. संयोजक—इस वर्ग का मुख्य रूप 'अरु' है जिसका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है, जैसे—सुत-कलत्र को अपनी जानें, अरु तिनसों ममत्व बहु ठानें^{६६} । मैं तो एक पुरुष को ध्यायो अरु एकहि सों चित्त लगायो^{६७} । पठियो कहि उपनंद बुलाई अरु आनी बृषभानु लिवाई^{६८} ।

आ. विभाजर—अथवा, कि, विधौ, की, कै, कैधौ, भावै आदि अव्यय इस वर्ग में आते हैं जिनमें से 'की' और 'कै' के प्रयोग सूर-काव्य में विशेष रूप से मिलते हैं; जैसे—

अथवा—जघनि को बदली सम जानें अथवा कनकखभ सम मानें^{६९} ।

कि—हों उन माहें नि वै माहि महियां.. तरु मैं बीजु कि बीज माहि तरु^{७०} ।

विधौ—विधौ वारि-बूंद सीप हृदय हरप पाए । विधौ चक्रवाकि निरखि पनिही रति मानें^{७१} ।

की—रसना-स्रवन नैन की होते की रसना ही इनही दीन्ही^{७२} । स्याम-सखा तुम सांचे, की करि लियो स्वांग बीचाहि तैं^{७३} ।

कै—रख होइ कै रानी^{७४} । भृगु कै दुरवासा...वपिल कै दत्त^{७५} । कै वह भाजि सिंधु मे बूढी, कै उहि तज्यो परान^{७६} ।

कैधौ—धनुष-वान सिरान कैधौ गरुड वाहन खोर.. चक्र बाहु चौरायी, कैधौ भुजनि बल भयो थोर^{७७} । कैधौ नव जल स्वातिचातक मन लाए.. कैधौ मृग-जूय जुरे मुरली-धुनि रीझे^{७८} ।

भावै—भावे परी आजुही यह तन भावै रही अमान^{७९} । असुर होइ भावै सुर होइ^{८०} ।

इ. विरोधसूचक—नतरु, नतरक, नातरु, पै आदि रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से अंतिम दोनों का प्रयोग सूर-काव्य में अधिक मिलता है; जैसे—

नतरु—अजहूँ सिय सौपि नतरु बीस भुज भानें^{८१} ।

नतरक—तजि अभिमान राम कहि बीरे नतरक ज्वाला तचिदौ^{८२} ।

नातरु—गाइ लेउ मेरे गोपालहि नातरु काल-व्याल लेतैं है^{८३} । रामहि-राम कहौ दिन रात, नातरु जन्म अकारथ जात^{८४} । मोको राम रजायसु नाहो, नातरु प्रलय करौ छिन माहो^{८५} ।

पै—सिक्कू ताके पाछे धाए, पै ताकी मारन नहि पाए^{८६} । याही विधि दिलीप तप कीन्हो, पै गंगा जू वर नहि दीन्हो^{८७} । वरस सहस्र भोग नृप किये, पै सताप न आयो हिये^{८८} ।

६६. सा. ३-१३ ।	६७. सा. ४-३ ।	६८. सा. ८८७ ।
६९. सा. ३-१३ ।	७०. सा. १०-१३५ ।	७१. सा. ६४२ ।
७२. सा. १८५८ ।	७३. सा. १८५८ ।	७४. सा. १८५८ ।
७५. सा. ३५१६ ।	७६. सा. १-११ ।	७७. सा. ५-४ ।
७८. सा. १-२५३ ।	७९. सा. ६४२ ।	८०. सा. ७२ ।
८१. सा. ९-१७ ।	८२. सा. १-५९ ।	८३. सा. १-७४ ।
८४. सा. ९-१३२ ।	८५. सा. १-२२६ ।	८६. सा. ९-१ ।
८७. सा. ९-१७४ ।	८८. सा. ९-१७४ ।	

ई. परिणामसूचक—जातैं, तातैं आदि रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से द्वितीय का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है, जैसे—

जातैं—कौन पाप मैं ऐसी कियो जातैं मोकी सूली दियो^{८९} ।

तातैं—कर्म-मोह न मन तै जाइ, तातैं कहियै सुगम उपाइ^{९०} । सिव की लागी हरि पद तारी, तातैं नहि उन आंखि उधारी^{९१} ।

ख. व्यधिकरण—इस वर्ग के अव्यय एक मुख्य वाक्य का सम्बन्ध एक या अधिक वाक्यों से जोड़ते हैं । सूर-काव्य में इनके जो प्रयोग मिलते हैं, उनके तीन भेद किये जा सकते हैं—अ. उद्देश्यसूचक, आ. संकेतसूचक और इ. स्वरूपवाचक ।

अ. उद्देश्यसूचक—जातैं, जौ आदि अव्यय इस वर्ग में आते हैं जिनमें से प्रथम का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है, जैसे—

जातैं—अब तुम नाम गहौ मन नागर, जातैं काल-अग्नि तै बांचो^{९२} । सोई कछु कीजै दीनदयाल, जातैं जन छन चरन न छाँड़ै^{९३} । जातैं रहै छत्रपन मेरो सोइ मत्र कछु कीजै^{९४} ।

जौ—अब तुम मोकों करो अजांची, जौ कहूँ कर न पसारो^{९५} ।

आ. संकेतसूचक—जद्यपि, जद्यपि....तऊ, जद्यपि....पै, जौ, जौ...तउ, जौ....तऊ, जौ...तौ, जौपै, जौपै...तौ, तौ...जौ, तौपै....जौ, यदि...तौ आदि रूप इस वर्ग में आते हैं; जैसे—

जद्यपि—प्रकट खंभ तै दए दिखाई जद्यपि कुल की दानी^{९६} ।

जद्यपि * तऊ—जद्यपि मलय-बृच्छ जड काटे कर कुठार पकरै, तऊ सुभाव न सीतल छाँड़ै^{९७} ।

जद्यपि * पै—जद्यपि रानी बरी अनेक, पै तिनतै सुत भयो न एक^{९८} ।

जौ—जौ तू रामहि दोष लगावै, करौ प्रान की घात^{९९} ।

जौ...तउ—छहौँ रस जौ धरौ आगै तउ न गंध सुहाइ^{१००} ।

जौ * तऊ—जौ गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं * तऊ नही मिति नाथ^{१०१} ।

जौ...तौ—जौ हरि-व्रत निज उर न धरैगौ * तौ को अस वाता जु अपुन करि कर कुठावै पकरैगौ^{१०२} । प्रभु हित कै सुमिरी जौ, तौ आनंद करिकै नाचो^{१०३} ।

जौपै—जौपै रामभक्ति नहि जानी, कह सुमेह सम दान दिए^{१०४} ।

जौपै...तौ—जौपै तुमही बिरद विसारो, तौ कहौ, कहाँ जाइ करुनामय कृपिन करम की मारी^{१०५} । जौपै यही बिचार परी तौ कत कलि-कलमप लूटन की मेरी देह धरी^{१०६} ।

८९. सा. ३-५ ।	९०. सा. ३-१३ ।	९१. सा. ४-५ ।	९२. सा. १-९१ ।
९३. सा. १-१२७ ।	९४. सा. १-२६९ ।	९५. सा. १०-३७ ।	९६. सा. १-११ ।
९७. सा. १-११७ ।	९८. सा. ६-५ ।	९९. सा. ९-७७ ।	१. सा. १-५६ ।
२. सा. १-१११ ।	३. सा. १-७५ ।	४. सा. १-८३ ।	५. सा. १-८९ ।
६. सा. १-१५७ ।	७. सा. १-२११ ।		

तौ-जौ—तौ तुम कोऊ तारघो नाहि, जौ मोसो पतिव न दास्यो^१ । तौ जानौ
जौ मोहि तारिहो^२ ।

तौपै...जौ—तौपै सूर पतिवत सांचो, जौ देखौ रघुराइ^३ ।

(यदि)...जौ—नाय, (यदि) तकी तौ मोहि उधारो^४ ।

इ. स्वरूपवाचक—जो, मनहु, मनु, मनौ, मानौ आदि अव्यय इस वर्ग में आते हैं जिनमें से अन्तिम तीन का प्रयोग सूरदास ने बहुत किया है; जैसे—

जो—मैं निरबल बित-बल नही जो और गटाऊँ^५ ।

मनहुँ—उदन-रज तन स्थान सोभित * मनहुँ अग बिभूति राजति^६ । नुजा दाम
पर कर-छबि लागति * मनहुँ कमल-दल नाल मध्य तैं लप्यो^७ ।

मनु—ललित लट छिटकाति मुख पर * मनु मयकहि अक लीन्ही चिटिका के सून^८ ।
मोलन कर तैं धार चलति, परि मोहनि मुख बतिही छबि बाढी, मनु जलधर
जलधार कृष्टि लघु पुनि-पुनि प्रेम-चंद पर बाढी^९ ।

मनौ—स्वानि-मुठ-माला बिराजत * मनौ गंगा गौरि डर हर लई कठ लगाई^{१०} ।
तनक कटि पर कनक करधनि * मनौ कनक कम्पोटिया पर लोक लो
लपटानि^{११} ।

मानहुँ—कोउ मरम न पावत, मानहुँ सूक मिठाई के गुन कहि न सवत मुख^{१२} ।

मानौ—मुख आँसू अरु मालन कनुका * मानौ सवत सुधानिधि मोठी उडुगन बनति
समेत^{१३} । जान तैं अति चपल गोलक सजल सोभित छोर, मोन मानौ देखि
बसी करत जल झरझोर^{१४} ।

४. विलम्ब्यादिबोधक अव्यय—सूरदास द्वारा प्रयुक्त विलम्ब्यादिबोधक अव्ययों से आश्चर्य, निरस्कार, शोक, हर्ष आदि सूचित होते हैं; जैसे—

अ. आश्चर्य—इद हाथ ऊपर रहि गयो, तिन कह्यो, दुई ! कहा यह नयो^{१५} ।

आ. निरस्कार—धिकू तुम, धिकू या कहिवे ऊपर^{१६} ।

इ. शोक—त्राहि त्राहि द्रोपदी पुकारो^{१७} । त्राहि त्राहि करि ब्रजजन धार^{१८} ।
हा करनामय ! बुजर टेरघो^{१९} । हा जगदीश ! राखि इहि अवसर^{२०} । हा
हा लकुट आस दिखरावति^{२१} ।

ई. हर्ष—जय जय कृपानिधान^{२२} । जय जय जय चित्ताननि स्वामी^{२३} । दलि

८. सा. १-७३ । ९. सा. १-१३२ । १०. सा. ९-७७ । ११. सा. १-१३१ ।
१२. सा. ९-४२ । १३. सा. १०-१६९ । १४. सा. ६८७ । १५. सा. १०-१८४ ।
१६. सा. ७३६ । १७. सा. १०-१७० । १८. सा. १०-१८४ । १९. सा. ६४८ ।
२०. सा. ३४९ । २१. सा. ३५८ । २२. सा. ९-३१ । २३. सा. १-२८४ ।
२४. सा. १-२४९ । २५. सा. १०-४१ । २६. सा. १-११३ । २७. सा. १-२४७ ।
२८. सा. ३५६ । २९. सा. १-९७ । ३०. सा. १-२७४ ।

बलि नंददुलारे^{३१} । बसन-प्रवाह बड़चौ जब जान्यौ, साधु-साधु सबहिनि
मति फेरी^{३२} । साधु-साधु सुरसरी-सुवन तुम^{३३} ।

वाक्य-विन्यास—

वाक्य-विन्यास का अध्ययन मुख्यतः गद्य-रचनाओं को लेकर किया जाता है । कारण यह है कि वाक्य में विभिन्न शब्द-भेदों, वाक्यांशों, उपवाक्यों आदि के क्रम और पारस्परिक संबंध के विषय में जो नियम निर्धारित किये जाते हैं, वे प्रायः गद्य-रचनाओं के आधार पर ही होते हैं और गद्य-लेखक ही उनका उचित निर्वाह भी करते हैं । इसके विपरीत, पद्य-लेखक को तो इस क्रम में अपनी इच्छा या रुचि और छंद की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है । अतएव न तो तत्संबंधी नियम सरलता से बनाये जा सकते हैं और न उनसे विशेष लाभ ही हो सकता है । सभवतः इसी कारण डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'व्रजभाषा-व्याकरण' नामक अपने पुराने और 'व्रज-भाषा' नामक नये ग्रंथ में वाक्य का विवेचन गद्य-रचनाओं के आधार पर ही किया है ।

फिर भी किसी काव्य के वाक्य-विन्यास का अध्ययन दो विषयों - १. वाक्य में शब्दों का क्रम और उनका पारस्परिक संबंध तथा २. सरल और जटिल वाक्य-रचना—की दृष्टि से किया जाय तो निस्संदेह कुछ ऐसी बातें प्रकाश में आयेंगी जिनकी ओर गद्य-रचनाओं का अध्ययन करते समय कम ही ध्यान जाता है । अतएव सूरदास के वाक्य-विन्यास का अध्ययन उक्त शीर्षकों के अंतर्गत इसी दृष्टिकोण से करना है ।

१. वाक्य में शब्दों का क्रम और उनका पारस्परिक संबंध—वाक्य के दो भाग होते हैं—एक, उद्देश्य और दूसरा, विधेय । उद्देश्य के अंतर्गत क्रिया का कर्त्ता और कर्त्ता के विशेषण आते हैं तथा विधेय में क्रिया, उसका कर्म और क्रियाविशेषण । वाक्य में इन्हीं पाँच के क्रम और पारस्परिक संबंध पर विचार करना है ।

क. क्रिया का कर्त्ता या मुख्य उद्देश्य—संज्ञा, सर्वनाम, क्रियार्थक संज्ञा और संज्ञावत् प्रयुक्त कुछ विशेषण शब्द वाक्य में मुख्य उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं । इनका स्थान क्रिया के पूर्व और पश्चात्, प्रभाव की दृष्टि से जहाँ भी उपयुक्त हो, हो सकता है; जैसे—

१. मन हरि लीन्हौ कुँवर कन्हौई^{३४} ।

२. नैना धूँधट में न समात^{३५} ।

पहले वाक्य में 'कुँवर' 'कन्हौई' उद्देश्य है जो क्रिया 'हरि लीन्हौ' के बाद प्रयुक्त हुआ है और दूसरे में 'नैना' उद्देश्य 'समात' क्रिया के पूर्व ही है ।

अर्थ-बोध की दृष्टि से उक्त वाक्यों में एक और बात ध्यान देने की है । पहले में दो संज्ञा शब्द हैं—'मन' और 'कुँवर कन्हौई' । दोनों विभक्तिरहित हैं । इसलिए

गद्य-रचना के वाक्यों का शब्द-क्रम ध्यान में रखनेवाला साधारण पाठक वाक्यांश में प्रयुक्त 'मन' को ही उद्देश्य या कर्त्ता मान सकता है । इस भ्रम का किसी सीमा तक निवारण यह कह कर किया जा सकता है कि चेतन व्यक्ति कुँवर कन्हाई में 'हरण करने' की जितनी क्षमता है, 'मन' में 'हरे जाने' की ही उतनी योग्यता है । अतः यहाँ 'कुँवर कन्हाई' को ही उद्देश्य मानना चाहिए । दूसरे वाक्य में दो सज्ञा शब्द हैं— 'नैना' और 'घूँघट' । इनमें से दूसरा अर्थात् 'घूँघट' अधिकरणकारक में है जिसकी ओर उसकी विभक्ति 'मे' भी संकेत करती है । अतः यहाँ कर्त्ता के संवध में कोई भ्रम नहीं उठता । सूरदास का एक तीसरा वाक्य देखिए—

बहुरि बन बोलन लागे मोर^{३६} ।

यहाँ भी क्रिया का उद्देश्य या कर्त्ता 'मोर' वाक्यान्त में है, यद्यपि क्रिया के पूर्व एक और सज्ञा शब्द 'बन' प्रयुक्त हो चुका है ।

यह ठीक है कि व्रजभाषा में सभी कारकीय विभक्तियों का लोप किया जा सकता है, परन्तु कभी-कभी, विशेषतः उद्देश्य के साथ, विभक्ति न रहने से वाक्य-रचना भ्रमोत्पादक हो जाती है । उक्त उदाहरणों में कर्त्ता के सम्बन्ध में जो भ्रम होता है, उसका यही मुख्य कारण है । इसी प्रकार नीचे के वाक्यों में भी कर्त्ता के संवध में अनिश्चयता के लिए स्थान है—

१. भली बात सुनियत है आज ।

फोऊ कमलनैन पठयो है तन बनाइ अपनो सो साज^{३७} ।

२. सुने ब्रज लोग आवत स्याम^{३८} ।

३. साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि तुरत पवित्र^{३९} ।

पहले वाक्य का अर्थ है 'कमलनैन ने कोऊ को भेजा है'; परन्तु भ्रम से जान पड़ता है 'किसी कमलनैन ने भेजा है' अथवा 'किसी ने कमलनैन को भेजा है' ।

दूसरे में कर्त्ता है 'ब्रजलोग', परन्तु 'स्याम' के भी कर्त्ता होने का भ्रम होता है । तीसरे में कर्त्ता है 'सुरसरि', परन्तु 'पुत्र' की ओर भी भ्रम से संकेत किया जा सकता है ।

कुछ विभक्तियाँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग मूल ने कई कारकों में किया है । वाक्य में ऐसी विभक्ति किसी शब्द के साथ रहने पर भी भ्रम के लिए स्थान रह ही जाता है, जैसे—

जानत है तुम जिनहि पठाए^{४०} ।

यहाँ 'हि' विभक्ति कर्त्ता के साथ प्रयुक्त है जिससे वाक्य का अर्थ है—तुमको जिसने भेजा है ? परन्तु कर्त्ता कारक में 'हि' का प्रयोग बहुत कम होता है, इसलिए भ्रम से यह अर्थ भी निकलता है—तुमने जिसको भेजा है । यह भ्रम होता ही नहीं, यदि 'हि' विभक्ति 'जिन' के साथ न होकर 'तुम' के साथ रहती अथवा 'जिन'

३६. सा. ३२२५ ।

३७. सा. ३४६३ ।

३८. सा. १-१ ।

३९. सा. ३४७६ ।

४०. सा. ३४१० ।

या 'जिनहि' का प्रयोग तुम के पहले किया जाता। इस वाक्य का यह शुद्ध रूप एक अन्य पद में मिलता भी है—

जानो सिद्धि तुम्हारे सिद्धि की जिन तुम इहाँ पठाए^{४१}।

विभक्ति या विभक्तियों का लोप रहने पर भी शब्दों के क्रम से ही इस वाक्य का अर्थ सरलता से निकल आता है—जिन्होंने तुम्हें भेजा है। वास्तव में गद्य हो चाहे पद्य, वाक्य-रचना ऐसी होनी चाहिए कि भ्रम के लिए अवकाश ही न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब वाक्य का प्रथम सज्ञा, सर्वनाम या अन्य समकक्ष प्रयोग, उद्देश्य या कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हो। सूरदास ने अनेक पदों में ऐसा किया भी है : जैसे—

१. कंस नृप अक्रूर व्रज पठाये^{४२}।

२. कहति दूतिका सखिनि बुझाइ^{४३}।

३. मै तो तुम्है हँसतऽरु खेलतहि छाँडि गई^{४४}।

४. लाल उनीदे लोइननि आलस भरि लाए^{४५}।

५. सिखिनि सिखर चढ़ि टेर सुनायौ^{४६}।

इन वाक्यों में 'कंस नृप', 'दूतिका', 'मैं', 'लाल', 'सिखिनि' शब्द क्रियाओं के कर्त्ता हैं और इसका प्रयोग अन्य सज्ञा-सर्वनाम शब्दों से पूर्व होने के कारण वाक्यार्थ-बोध में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती।

वाक्य में प्रयुक्त अन्य शब्दों के बीच से 'कर्त्ता' को चुन लेने में कोई कठिनाई न हो, इसका दूसरा उपाय यह है कि या तो उसी के साथ अथवा अन्य समकक्ष शब्दों के साथ कारकसूचक विभक्तियों का प्रयोग किया जाय। जहाँ-जहाँ सूर ने ऐसा किया है, वहाँ-वहाँ अर्थ की स्पष्टता में कोई बाधा नहीं होती और 'कर्त्ता' को भी सरलता से बताया जा सकता है, जैसे—

१. भीजत कुंजनि मैं दोउ आवत^{४७}।

२. नंदहि कहत हरि^{४८}।

३. कहति सखिनि सौं राधिका^{४९}।

४. सुफलक-सुत के संग तैं हरि होत न न्यारे^{५०}।

५. स्यामहि सुख दे राधिका निज धाम सिधारी^{५१}।

इन वाक्यों में उद्देश्य हैं क्रमशः 'दोउ', 'हरि', 'राधिका', 'हरि' और 'राधिका'। वाक्यारम्भ में न प्रयुक्त होने पर भी इनके पहचाने जाने में कोई भ्रम नहीं उठता, क्योंकि इनके पूर्व प्रयुक्त अन्य समकक्ष शब्दों के साथ कारकीय विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अन्तिम

४१. सा. ३६९३। ४२. सा. २९५६। ४३. सा. २४२५। ४४. सा. २७९१।

४५. सा. २५१२। ४६. सा. ३३२८। ४७. सा. १९९२। ४८. सा. ३१२१।

४९. सा. २६५३। ५०. सा. २९७६। ५१. सा. २६५१।

वाक्य में अवश्य 'सुख' और 'धाम' के साथ कोई विभक्ति नहीं है, परंतु 'सिधारी' क्रिया इनके अनुकूल न होकर 'राधिका' के लिंग वचन के अनुसार है जिससे भ्रम को स्थान नहीं मिलता। ऐसी स्पष्ट वाक्य-रचना सूर काव्य में सर्वत्र मिलती है।

स. विरोध—इस शीर्षक के अन्तर्गत सामान्य विशेषण शब्दों के अतिरिक्त संबध-कारकीय रूप भी आ जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि वाक्यातगत उद्देश्य भाग के 'कर्त्ता' और विधेय भाग के 'कर्म' दोनों के विशेषण रूप में इनका—संबधकारकीय रूपों और सामान्य विशेषण शब्दों का—प्रयोग किया जाता है। वाक्य योजना में विशेष्य या संबधी शब्द के पूर्व भी सूरदास ने इनको स्थान दिया है और उनके परचान् भी, जैसे—

१. दीजें स्याम कांधे को कवर^{५२}।
२. सब खीटे मधुवन के लोग^{५३}।
३. नंद के लाल हरयो मन मोर^{५४}।
४. गोविंद विनु कौन हरै नैननि की जरनि^{५५}।
५. तुम आए लै जोग सिखावन, सुनत महा दुख दीनी^{५६}।

इन वाक्यों में विशेष्य या संबधी शब्द हैं—कवर, लोग, लाल, जरनि और दुख। बड़े टाइप में छपे शब्द इनके विशेषण हैं जो इनके पूर्व प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित वाक्यों में विशेषणों का प्रयोग विशेष्यों के बाद किया गया है—

१. रे मधुकर, लंपट अन्याई, यह सँदेस कत कहैं कन्हाई^{५७}।
२. रहु रहु रे विहग, बनवासी^{५८}।
३. ऊधौ, जननी मेरी को मिलि अरु कुसलात कहौगे^{५९}।
४. तजो सीख सब सास-ससुर की^{६०}।

इन वाक्यों में विशेष्य हैं—मधुकर, विहग, जननी और सीख, जिनके विशेषण या संबधकारकीय रूप—लंपट-अन्याई, बनवासी, मेरी को और सब सास-ससुर की—उनके परचान् प्रयुक्त हुए हैं।

विशेषण शब्द का प्रयोग विशेष्य के पूर्व किया जाय चाहे उसके परचान्, परंतु होना चाहिए वह सर्वथा स्पष्ट हो—उसके विशेष्य के संबध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए। सूरदास का एक वाक्य ऊपर दिया गया है—

साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि तुरत पवित्र^{६१}।

इसमें 'साठ सहस्र' विशेषण का विशेष्य है—'पुत्र', परंतु बीच में 'सगर' शब्द आ जाने से इसी के विशेष्य होने का भ्रम हो सकता है। ऐसे भ्रमोत्पादक विशेषण-प्रयोग

५२. सा. १९९१। ५३. सा. ३५९०। ५४. सा. १८७१। ५५. सा. ३३४४।
 ५६. सा. ३५६३। ५७. सा. ४०४९। ५८. सा. ३३३१। ५९. सा. ३४४०।
 ६०. सा. ३५६६। ६१. सा. ९-९।

सूरकाव्य में बहुत कम है, यद्यपि विशेष्य और विशेषण के बीच में अन्य शब्द अनेक वाक्यों में आये हैं; जैसे—

१. रितु वसंत अरु ग्रीष्म बीते बादर आए स्याम^{६१} ।

.....

तारे गनत गगन के सजनी, बीते चारों जाम^{६२} ।

२. मित्र एक मन वसत हमारे^{६३} ।

इन वाक्यों में विशेषण हैं—स्याम, गगन के और हमारे, एवं विशेष्य हैं—बादर तारे और मन । इनके बीच में 'आए', 'गनत' और 'वसत' के आने पर भी विशेषण-विशेष्य के संबंध में कोई भ्रम नहीं होता ।

ग. क्रिया—वाक्य के विधेयाश का सबसे महत्वपूर्ण अंग है क्रिया । गद्य-रचना में तो वाक्य की पूर्णता इसी अंग पर निर्भर रहती है और 'हां', 'ना'—जैसे एक-दो शब्दों के वाक्यों को छोड़कर, जो प्रायः वार्तालाप में ही प्रयुक्त होते हैं, साधारणतः क्रिया ही वाक्यों को विन्यास की दृष्टि से पूर्ण करती है । काव्य में ऐसा नहीं होता; उसमें विन्यास से बहुत अधिक ध्यान अर्थ पर रहता है और अनेक वाक्यों के अर्थ की सिद्धि क्रिया न रहने पर भी सुगमता से हो जाती है । सूरदास के काव्य में भी अनेक वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनमें क्रिया है ही नहीं । यह बात पद के प्रथम चरण में विशेष रूप से देखने को मिलती है; जैसे—

१. वासुदेव की बड़ी बड़ाई^{६४} ।

२. हरि सौ ठाकुर और न जन कौ^{६५} ।

३. अद्भुत राम-नाम के अक ।

धर्म-अंकुर के पावन द्वे दल मुक्ति-बधू ताटक^{६६} ।

४. दानव वृषपर्वा बल भारी, नाम खमिष्ठा तासु कुमारी ।

तासु देवयानी सौं प्यार.....^{६७} ।

५. सखी री, काके मीत अहीर^{६८} ।

उक्त वाक्यों में कोई क्रिया शब्द प्रयुक्त नहीं है, फिर भी अर्थ की दृष्टि से उनमें कोई कमी नहीं जान पड़ती । इसी प्रकार पद के बीच बीच में भी कभी कभी ऐसे क्रिया-रहित वाक्य मिल जाते हैं, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है; जैसे—

१. हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाही^{६९} ।

६१. सा. ९-९ ।

६२. सा. ३३०९ ।

६३. सा. ३१४९ ।

६४. सा. १-३ ।

६५. सा. १-९ ।

६६. सा. १-९० ।

६७. सा. ९-१७४ ।

६८. सा. ३१५६ । ६९. सा. १-११ ।

२. माता-पिता-बंधु-भुत तौ लगि, जौ लगि जिहि कौ काम ।

आमिष-रुधिर-अस्थि अँग जौ लौं, तौ लौं कोमल चाम^{००} ।

३. राम-राम तौ बहुरि हमारी^{०१} ।

इन वाक्यों में भी, क्रिया न रहने पर, अर्थ की दृष्टि से अपूर्णता नहीं है । इस प्रकार के वाक्यों का अर्थ प्रसंग के साथ बड़ी सरलता से समझ में आ जाता है । परंतु सूरदास केवल छुट-पुट वाक्यों के क्रिया-त्ताप से ही सन्तुष्ट नहीं रहे । उन्होंने पूरे-पूरे पद ऐसे लिख दिये हैं जिनमें कोई क्रिया नहीं है, जैसे—

१. हरि-हर सकर नमो नमो ।

अहिंसायी अहि-अग-विभूषन, अमित-दान, बल-विप-हारी ।

नीलकंठ, वर नील कलेंवर, प्रेमपरस्पर कृतहारी ।

कंठ चूड़, सिखि-चंद्र-सरोरुह, जमुनाप्रिय गंगाधारी ।

सुरभि-रेनु तन, भस्म-विभूषित, वृष-वाहन, वन वृष-चारी ।

अज-अनीह-अविरुद्ध, एकरस, यहै अधिक ये अवतारी ।

सूरदास सम, रूप-नाम-गुन अंतर अनुचर-अनुसारी^{०२} ।

२. गिरिधर, वज्रधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ, पीतांबरधर ।

सख-चक्रधर, गदा-पद्मधर, सीस मुकुटधर, अघर-नुषाधर ।

कब्रु कंठ धर, कीस्तुम मनि धर, वनमाला धर, मुक्त माल धर ।

सूरदास प्रभु गोप वेष धर, काली फन पर चरन कमल धर^{०३} ।

प्रथम पद की प्रारम्भिक पंक्ति में केवल 'नमो नमो' पद क्रिया वर्ग में आता है । इसके अतिरिक्त और कोई सामान्य क्रिया रूप इन पदों में नहीं है । ऐसी क्रियारहित वाक्य-योजना सूरदास की सामान्य पद प्रधान स्तुतियों में विशेष रूप से देखने की मिलती है । इस प्रकार की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि क्रिया न रहने पर भी वाक्य का अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती । भाषा का सामान्य वाच्य, कवि के विचारों का बोध पाठक को सुगमता से करा देना होता है । क्रिया न रहने पर भी सूरदास के वाक्य इस दायित्व का निर्वाह सरलता से कर देते हैं ।

वाक्य में यदि कर्ता या उद्देश्य एक से अधिक हैं और उनमें पहला एववचन में है और दूसरा बहुवचन में, तो सूरदास ने क्रिया द्वितीय या अंतिम के अनुसार रखी है, जैसे—

इक मन अर जानेंद्री पांच, मन कौं सदा नचावै नाच^{०४} ।

इस वाक्य में 'इक मन' और 'जानेंद्री पांच', दोनों सम्मिलित रूप से 'नचावै' क्रिया

कै कर्ता है; परंतु क्रिया को बहुवचन रूप द्वितीय को ध्यान में रखकर ही दिया गया है। इसी प्रकार यदि दो एकवचन कर्ता किसी क्रिया के साथ है, तो भी सूरदास ने इसको बहुवचन कर दिया है, जैसे—

मत्स्य अरु सर्प तिहि ठौर परगट भए^{७५} ।

यहाँ 'मत्स्य' और 'सर्प', दोनों एकवचन में हैं। इन दोनों कर्ताओं के सम्मिलित रूप के अनुसार क्रिया 'परगट भए' बहुवचन में आयी है।

किसी वाक्य में यदि क्रिया द्विकर्मक रूप में प्रयुक्त हुई है तब मुख्य कर्म तो सदैव उसके पूर्व प्रयुक्त हुआ है और गौण कर्म कभी पहले और कभी बाद में, जैसे—

१. ध्रुवहि अमै पद दियो मुरारी^{७६} ।

२. अति दुख में सुख दै पितु-मातुहि सूरज-प्रभु नंद-भवन सिघारे^{७७} ।

३. ललिता को सुख दै गए स्याम^{७८} ।

इन वाक्यों में मुख्य कर्म हैं—'अमै पद', 'सुख' और 'सुख' जो तीनों क्रियाओं—'दियो', 'दै' और 'दै गए' के पूर्व प्रयुक्त हुए हैं तथा गौण कर्म हैं—'ध्रुवहि', 'पितु-मातुहि' और 'ललिता को' जिनमें प्रथम और अन्तिम तो क्रियाओं के पूर्व आये हैं, परन्तु द्वितीय 'पितु-मातुहि' को उसके पश्चात् स्थान मिला है।

विनोदो कवि सूरदास ने यदि कुछ ऐसे पद रच दिये हैं जिनमें कोई क्रिया नहीं है, तो ऐसे पदों की रचना भी उन्होंने की है जिनमें एक ही क्रिया-पद की अनेक बार आवृत्ति है; जैसे—

आँखनि में बसै, जिय में बसै हिय में बसत निसि दिवस प्यारौ ।

तन में बसै, मन में बसै, रसना हू में बसै नदवारौ ।

सुधि में बसै बुधिहू में बसै अंग अंग बसै मुकुटवारौ ।

सूरवन बसै, घरहू मै बसै संग ज्यौ तरंग जलतैं न न्यारौ^{७९} ।

घ. अज्यय—वाक्य में अव्यय-प्रयोगों के सम्बन्ध में एक मुख्य बात यह है कि जब तब, जो तौ, जद्यपि तथापि या तथापि आदि कभी तो साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं और कभी चरण में स्थान न रह जाने पर द्वितीय रूप का लोप भी कर दिया जाता है। सूरदास ने दोनों तरह के प्रयोग किये हैं; जैसे—

१. जब गज गह्यौ ग्राह जल भीतर तब हरि को उर ध्याए (हौ)^{८०} ।

२. जब जब दीननि कठिन परी...तब तब सुगम करी^{८१} ।

३. जहँ जहँ गाढ परी भक्तनि कौं, तहँ तहँ आपु जनायो^{८२} ।

^{७५} सा. ८-१६ । ^{७६} सा. १-२९ । ^{७७} सा. १०-१० । ^{७८} सा. २४७८ ।

^{७९} सा. १९१९ । ^{८०} सा. १-७ । ^{८१} सा. १-१६ । ^{८२} सा. १-२० ।

४. जहँ जहँ जात तहों तहि त्रासत^{८३} ।

५. हमता जहाँ, तहाँ प्रभु नाही^{८४} ।

६. जौ मेरे दीनदयाल न होते ।

तौ मेरी अपत करत कौरव-सुत हीत पाडवनि ओते^{८५} ।

७. ज्यों कपि सीत हतन हित .त्योँ सठ वृथा तजत नहिँ कवहूँ^{८६} ।

जब तब, जब जब तब तब, जहँ जहँ तहँ तहँ, जहँ जहँ तही तहिँ, जौ तौ, ज्यों त्योँ आदि सम्बन्धवाचक अव्ययों का सामान्य प्रयोग तो मूर-काव्य में सर्वत्र मिलता ही है, इनका विलोम रूप भी वही कहीं दिखायी देता है, जैसे—

तब तब रच्छा करी, भगत पर जब जब विपति परी^{८७} ।

तीसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमें एक अव्यय के साथ उसके सामान्य सम्बन्धी शब्द का प्रयोग न करके अन्य रूप का प्रयोग किया गया है, जैसे—

१. जब जब भीर परी सतन कौ, चक्र सुदरसन तहाँ सँभारचौ^{८८} ।

२. जब लगि जिय घट अतर मेरै...चिरजीव तौलों दुरजोधन^{८९} ।

इन वाक्यों में 'जब जब' के साथ 'तब' या 'तब तब' का प्रयोग न करके 'तहाँ' का और 'जब लगि' के साथ 'तब लगि' के स्थान पर 'तौलों' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के और भी अनेक प्रयोग मूर-काव्य में मिलते हैं; जैसे—'जद्यपि' के साथ 'तथापि' या 'तद्यपि' का प्रयोग न करके 'तउ' या 'तऊ' का प्रयोग किया गया है। इसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

चौथे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमें केवल प्रथम रूप का प्रयोग मिलता है और द्वितीय रूप लुप्त रहता है और एक अल्पविराम से उसका काम निकाला गया है; जैसे—

१. द्रुपद-सुता जब प्रगट पुकारी, गहत चीर हरि नाम उबारी^{९०} ।

२. जब लगि डोलत बोलत चितवत, धन-दारा हैं तेरे^{९१} ।

३. जौ तू राम-नाम-धन-धरती ।

अवकीं जन्म, आगिलौ तेरी, दोऊ जन्म सुधरती^{९२} ।

पहले वाक्य में 'तब', दूसरे में 'तब लगि' या 'तौलों' और तीसरे में 'तौ' आदि लुप्त हैं। भाषा-संगठन की दृष्टि से यह अन्तिम रूप अपेक्षाकृत सफल समझना चाहिए।

८३. सा. १-१०३ । ८४. सा. १-११ । ८५. सा. १-२५९ । ८६. सा. १-१०२ ।

८७. सा. १-१६ । ८८. सा. १-१४ । ८९. सा. १-२७५ । ९०. सा. १-२८ ।

९१. सा. १-३१९ । ९२. सा. १-२९७ ।

२. सरल और जटिल वाक्य-रचना—रचना की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सरल वाक्य और जटिल वाक्य । सरल वाक्यों में एक मुख्य क्रिया अपने उद्देश्य या कर्त्ता के साथ अपना स्वतन्त्र परिवार बनाकर बिराजती है जिससे वाक्य छोटा परन्तु सगठित रहता है । जटिल वाक्यों में एक से अधिक मुख्य क्रियाएँ अपने-अपने कर्त्ताओं के साथ सम्मिलित परिवार बनाकर रहती हैं । ऐसे वाक्यों में कभी-कभी एक दो क्रियाओं के कर्त्ता लुप्त भी रहते हैं और उनके छोटे-छोटे उपवाक्यों को परस्पर सम्बन्धित करने के लिए अतिरिक्त अव्ययों की आवश्यकता पड़ती है । काव्य में साधारणतः प्रथम अर्थात् सरल वाक्यों की और गद्य में जटिल वाक्यों की अधिकता रहती है ।

क. सरल वाक्य—सूर-काव्य में भी सर्वत्र सरल वाक्यों की ही अधिकता है । ये वाक्य चार-पाँच शब्दों से लेकर दस-बारह शब्दों तक के हैं, जैसे—

१. नमो नमो हे कृपानिधान^{१३} ।

२. जज्ञ-प्रभु प्रगट दरसन दिखायौ^{१४} ।

३. मन बच-क्रम मन, गोविंद सुधि करि^{१५} ।

४. सूरजदास दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई^{१६} ।

५. आदर सहित बिलोकि स्याम-मुख नद अनदरूप लिए कनियाँ^{१७} ।

६. राहु ससि-सूर के बीच में बैठिके मोहिनी सौं अमृत मांगि लीन्ह्यौ^{१८} ।

ऊपर के सभी वाक्य एक ही चरण में पूर्ण हो जाते हैं । परन्तु सूरकाव्य में कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें एक ही चरण में सूरदास ने कई सरल वाक्य रख दिये हैं । ऐसा वाक्य-विन्यास नेत्रों के सामने विषय का पूरा दृश्य अंकित कर देता है; जैसे—

प्रभु जागे । अर्जुन तन चितयौ । कब आये तुम ? कुसल खरी^{१९} ?

इस चरण में चार सरल वाक्य माने जा सकते हैं । ये सभी वाक्य पूर्ण हैं; यद्यपि द्वितीय में कर्त्ता 'प्रभु' लुप्त है और अंतिम में क्रिया 'है'; परन्तु काव्य में ऐसा लोप अनुचित नहीं होता; क्योंकि कर्त्ता तो पूर्व वाक्य में आ ही चुका है और क्रिया-लुप्त अनेक वाक्य पूर्ण वाक्यवत् सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं । इसी प्रकार नीचे के चार चरणों में से पहले, दूसरे और चौथे से तीन, और तीसरे से चार सरल वाक्य बनाये जा सकते हैं; केवल कर्त्ता जोड़ने की कही-कही आवश्यकता होगी—

जागी महारि । पुत्र-मुख देख्यौ । पुलकि अंग उर मैं न समाई ।

गदगद कंठ । बोल नहि आवै । हरपवंत ह्वै नंद बुलाइ ।

१३. सा. २-३३ । १४. सा. ४-६ । १५. सा. १-३१२ । १६. सा. ९-७ ।

१७. सा. १०-१०६ । १८. सा. ८-८ । १९. सा. १-२६८ ।

आवहु कन्त । देव परसन भये । पुत्र भयो । मुख देखी धाइ ।
दौरि नन्द गये । सुत मुख देख्यो । सो सुख मोपै वरनि न जाइ^१ ।

कुछ सरल वाक्यों की रचना इतने व्यवस्थित ढंग से की गयी है कि गद्य में उनका अन्वय करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, जैसे—

(माइ) मोहन की मुरली में मोहिनी बसत है^२ ।

इस वाक्य में सभी आवश्यक विभक्तियाँ प्रयुक्त हैं, किसी का भी तोप कवि ने नहीं किया है । यही इस वाक्य के गद्यात्मक विन्यास का प्रमुख कारण है ।

इसी प्रकार सूर-काव्य में कुछ पूरे पूरे पद मिलने हैं जिनका वाक्य-विन्यास बिल्कुल सीधा-सादा है और उनमें अधिकांश वाक्य भी सरल ही हैं, जैसे—

चलन कौ कहियत है हरि लाज ।
अवही सखी देखि आई है, करत गवन को साज ।
कोउ इक कस कपट करि पठ्यो, कछु सँदेस दै हाथ ।
तु तौ हमारी लिये जात है सरवस अपने साथ ।
सो यह सूल नाहि तुनि सजनी सहियै धरि जिय लाज ।
धीरज जात, चली अवही मिलि, दूरि गएँ कह काज ।
छाँडौ जग जीवन को आसा अरु गुरुजन की कानि ।
बिनती कमलनयन सौँ करियै, सूर समै पहचानि^३ ।

ख. जटिल वाक्य—सूरदास के जटिल वाक्यों की रचना भी सरल वाक्यों के समान ही सीधी-सादी है । साधारणतः एक या दो चरणों में उनके जटिल वाक्य पूर्ण हो जाते हैं । समस्त सूर-काव्य में बहुत थोड़े वाक्य ऐसे हैं जो एक चरण में समाप्त नहीं होते । पहले स्थल का यह वाक्य तीन चरणों में समाप्त हुआ है ।

लै लै ते हथियार आपने, सान धराए त्यों ।
जिनके दारुन दरस देखि के पतित करत म्यों म्यों ।
दाँत चवात चले जमपुर तै घाम हमारे कौ^४ ।

इस वाक्य में दूसरे चरण का अंश 'जिनके दारुन दरस देखि के पतित करत म्यों-म्यों' विशेषण उपवाक्य है जिसका विशेष्य है 'ते' । इतना जान लेने पर पूरे वाक्य का अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती । जटिल परन्तु सरल वाक्यों का यह अच्छा उदाहरण है । इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है—

१. सा. १०-१३ ।

२. सा. १३६७ ।

३. सा. २९८३ ।

४. सा. १-१५१ ।

जहाँ सनक सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास ।।
 प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुवास ।
 जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
 सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहगम, इहाँ कहा रहि लीजै^५ ।

यह वाक्य चार चरणों में पूरा होता है और इसमें नौ उपवाक्य तक बनाये जा सकते हैं; फिर भी अर्थ स्पष्ट है और विन्यास भी सुन्दर है ।

सूरदास की रचना में अपवादस्वरूप ही ऐसे जटिल वाक्य मिलते हैं जो एक पूरे चरण से आगे बढ़कर दूसरे चरण के मध्य में समाप्त हुए हों । 'सूरसागर' के दूसरे स्कन्ध में इस प्रकार का एक उदाहरण है—

मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान ।
 स्रवन करौ निसि वासर हित सौ, सूर तुम्हारी आन^६ ।

यहाँ दूसरे चरण के अन्त में दिया गया 'सूर तुम्हारी आन' वास्तव में एक स्वतंत्र और सरल वाक्य है । इसको हटा देने पर मुख्य जटिल वाक्य दूसरे चरण के मध्य में 'हित सौ' के बाद ही समाप्त हो जाता है ।

व्याकरण में गद्य-रचना के वाक्य विश्लेषण के उद्देश्य से जटिल वाक्यों को सयुक्त और मिश्रित, दो वर्गों में विभाजित किया जाता है । परन्तु काव्य के जटिल वाक्यों की चर्चा करते समय इन भेदों को ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं है । सामान्य जटिल वाक्य के अन्तर्गत जो उपवाक्य रहते हैं, वे मुख्यतः छः प्रकार के होते हैं—अ. प्रधान उपवाक्य, आ. प्रधान के समानाधिकरण उपवाक्य, इ. सज्ञा उपवाक्य, ई. विशेषण उपवाक्य, उ. क्रियाविशेषण उपवाक्य, और ऊ. संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण उपवाक्यों के समानाधिकरण उपवाक्य । यह आवश्यक नहीं कि 'सूर-काव्य' के प्रत्येक जटिल वाक्य में उक्त छहों प्रकार के उपवाक्य मिल सकें; क्योंकि काव्य में साधारणतः एक ऐसे वाक्य में दो से लेकर तीन चार तक ही उपवाक्यों का प्रयोग सूरदास ने किया है ।

अ. प्रधान उपवाक्य—वाक्य में प्रधान उपवाक्य का स्थान निश्चित नहीं रहता; अन्य उपवाक्यों के पहले अर्थात् वाक्यारम्भ में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और अंत में भी; जैसे—

१. जब जब दुखी भयो, तब तब कृपा करी बलबीर^७ ।

२. तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी ।

जिनकें वस अनिमिष अनेक गन अनुचर आज्ञाकारी^८ ।

पहले वाक्य का प्रधान उपवाक्य, 'तब तब कृपा करी बलबीर' अंत में और दूसरे का 'तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी' आरंभ में रखा गया है ।

आ. प्रधान का समानाधिकरण—सूरदास के जिन जटिल वाक्यों में प्रधान उप-वाक्य के समानाधिकरण मिलते हैं, वे बहुत सरल हैं, जैसे—

१. कर कंपै, कंकन नहि छूटै^१ ।

२. सुरनि हित हरि कछप रुप धर्यौ, मथन करि जलधि अमृत निकार्यौ^{१*} ।

इ सजा उपवाक्य—सूरदास के जटिल वाक्यों में जब सजा उपवाक्य मिलता है, तब भी वाक्य छोटे-छोटे हैं और दो-तीन से अधिक उपवाक्यों को उसमें स्थान देने के पक्ष में कवि नहीं रहा है, जैसे—

१ इद्र कह्यौ, मम करौ सहाइ^{११} ।

२. श्री सुक के सुनि वचन नृप लाग्यौ करन विचार,
झूठे नाते जगत के, सुत-कलत्र-परिवार^{१२} ।

३. देखौ कपिराज, नरत वै आए^{१३} ।

इन वाक्यों में बड़े टाइप में छपे उपवाक्य, सजा उपवाक्य हैं। दोहरे सजा उप-वाक्यों का एक रोचक उदाहरण निम्नलिखित वाक्य में मिलता है—

कठिन पिनाक, कहौ किन तोर्यौ, (परमुराम) क्रोधित वचन सुनाए^{१४} ।

‘परमुराम क्रोधित वचन सुनाए’ हैं प्रधान उपवाक्य, ‘कहौ’ है पहला सजा उप-वाक्य जिसमें कर्ता लुप्त है और ‘कठिन पिनाक किन तोर्यौ’ दूसरा सजा उपवाक्य है प्रधान के आश्रित और दूसरे रूप में ‘कहौ’ वाले उपवाक्य का भी सजा उपवाक्य है। ऐसे उदाहरण भी सूर-काव्य में कम ही हैं।

ई. विशेषण उपवाक्य—सूर-काव्य में सामान्य विशेषण उपवाक्यों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। उनके विशिष्ट प्रयोगों के संबंध में दो बातें महत्व की हैं। पहली तो यह कि दो-चार पदों में ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमें प्रधान उपवाक्य के साथ विशेषण उप-वाक्यों की लड़ी-सी लगा दी गयी है, जैसे—

वदों चरन-सरोज तिहारे ।

सुंदर स्याम कमल-न्दन-लोचन ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे ।

जे पद-पदुम सदा सिव के धन, सिन्धु-मुता उर तें नहि टारे ।

जे पद-पदुम तात रिम वासत, मन बच कम प्रह्लाद सँभारे ।

जे पद-पदुम परस जल पावन सुरसरि दरम बटत अप भारे ।

जे पद-पदुम परस रिपि-पतिनी, बलि, नृग, व्याघ्र, पतित बहुतारे ।

जे पद-पदुम रमत वृन्दावन अहिसिर धरि, अगनित रिपुं मारे ।
 जे पद-पदुम परसि ब्रजभामिनि सरवस दे, सुत-सदन विसारे ।
 जे पद-पदुम रमत पाडव-दल दूत भए, सब काज सँवारे ।
 मूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध ताप दुख-हरन हमारे ।^{१५}

इस पद में 'जे पद पदुम' से आरंभ होनेवाला प्रत्येक चरण एक विशेषण उपवाक्य है जो अंतिम चरण के प्रधान उपवाक्य के आश्रित है। ऐसी वाक्य-योजना सूरदास के बहुत कम पदों में मिलती है। एक दूसरा उदाहरण है—

स्याम कमल-पद नख की सोभा ।

जे नख-चंद्र इंद्र सिर परसे, सिव-विरंचि मन लोभा ।

जे नख-चंद्र सनक मुनि घ्यावत, नहि पावत भरमाही ।

ते नख-चंद्र प्रगट ब्रज-जुबती, निरखि निरखि हरपाही ।

जे नख-चंद्र फनिंद्र हृदय ते एको निमिष न टारत ।

जे नख-चंद्र महा मुनि नारद, पलक न कहूँ विसारत ।

जे नख-चंद्र भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति ।

सूर स्याम नख-चंद्र विमल छवि, गोपीजन मिलि दरसति^{१६} ।

प्रथम पद में केवल दो वाक्य हैं—एक सरल और दूसरा जटिल; परंतु इस दूसरे पद में तीन वाक्य हैं—प्रथम चरण एक सरल वाक्य है, फिर तीन चरणों का एक जटिल वाक्य है और शेष चार चरणों में दूसरा। 'जे नख-चंद्र' से आरंभ होनेवाला प्रत्येक चरण इसमें भी विशेषण उपवाक्य रूप में है। ऐसे पद भक्ति के भावावेश में लिखे जाते हैं, और वैसे स्थिति में कवि अपने आराध्य की महिमा गाता नहीं अघाता।

सूरदास के विशेषण उपवाक्यों के संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि कहीं-कहीं उन्होंने इनके संबंधसूचक शब्द 'जो' आदि लुप्त भी रखे हैं जिससे उपवाक्य एक साधारण वाक्यांश-सा जान पड़ता है; जैसे—

नर-बपु धारि नाहि जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै^{१७} ।

इस वाक्य में 'जन' के पूर्व 'जो' न रहने से यह विशेषण उपवाक्य, वाक्यांश मात्र जान पड़ता है विशेषकर इसलिए कि इसमें क्रिया भी लुप्त है। परंतु 'जो' का संबंधी शब्द 'सो' आगे के उपवाक्य 'जम की मार सो खैहै' में रखा हुआ है; अतएव पूर्ण विशेषण उपवाक्य इस प्रकार होना चाहिए—नर बपु धारि जो जन नाहि हरि को; क्योंकि पूरे वाक्य का अर्थ इसे इसी रूप में स्वीकार करके करना पड़ता है।

उ. क्रियाविशेषण उपवाक्य—विशेषण उपवाक्यों के समान ही क्रियाविशेषण उपवाक्य भी सूर-काव्य में सर्वत्र सामान्य रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश पदों में क्रियाविशेषण उपवाक्य संबंधी शब्द की दृष्टि से पूर्ण है, जैसे—

जौलौ सत सरूप नहिं सूझत ।

तौलो मृग-भद नाभि बिसारे फिरत सकल बन वूझत^{१८} ।

कुछ पदो मे तो ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमे एक क्रियाविशेषण उपवाक्य के साथ काल या स्थान-सूचक कई कई अव्ययो का प्रयोग सूरदास ने किया है; जैसे—

जनम जनम, जब जब, जिहि जिहि जुग, जहां जहां जन जाइ ।

तहां तहां हरि चरन-कमल-रति सो दृढ होइ रहाइ^{१९} ।

इस वाक्य मे प्रथम चरण क्रियाविशेषण उपवाक्य रूप मे है जिसमे बड़े टाइप मे छपे अनेक अव्यय शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं । इस प्रकार के उपवाक्य सूर काव्य मे कम ही हैं, यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से यह रचना अधिक सफल है ।

वही-वही ऐसे वाक्य भी सूरदास ने बनाये हैं जिनमे एक मुख्य उपवाक्य के साथ पांच-छह क्रियाविशेषण उपवाक्यों की योजना है और क्रिया, कर्त्ता आदि की दृष्टि से सभी पूर्ण भी हैं, जैसे—

डोलै गगन सहित सुरपति अरु पुहुमि पलटि जग परई ।

नसै धम मन बचन काय करि, सिधु अचंभौ करई ।

अचला चलै, चलत पुनि थाकै, चिरंजीवि सो मरई ।

श्रीरघुनाथ प्रताप पतिव्रत, सीता-सत नहिं टरई^{२०} ।

इस वाक्य मे प्रधान उपवाक्य अंतिम चरण मे है और प्रथम तीन चरणों मे सात क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं । 'चाहे', 'वह' या इनका पर्यायवाची सबधी शब्द इन सबमे लुप्त है । प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से यह शैली निश्चय ही महत्वपूर्ण है । इसी प्रकार का एक अन्य वाक्य है—

डुलै सुमेरु, शेष-सिर कंपै, पश्चिम उदै करै वासरपति ।

सुनि त्रिजटी, तौहौं नहिं छाँड़ौं मधुर मूर्ति रघुनाथ-गात-रति^{२१} ।

इस वाक्य मे भी प्रथम चरण मे तीन क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं । सबधी शब्द तीनों मे लुप्त है, फिर भी अर्थ स्पष्ट है और ऐसे उपवाक्यों की सम्मिलित योजना ने कथन को बहुत ओजपूर्ण बना दिया है ।

ऊ. समानाधिकरण उपवाक्य—सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण, तीनों प्रकार के उपवाक्यों के समानाधिकरण उपवाक्य भी सूरदास के अनेक वाक्यों मे मिलते हैं । सज्ञा उपवाक्य के समानाधिकरण का उदाहरण—

वह्यो सुक श्री भागवत विचारि ।

हरि की भक्ति जुगै जुग विरधै, आन धर्म दिन चारि^{२२} ।

यहाँ प्रथम चरण प्रधान वाक्य के रूप में है, द्वितीय चरण का पूर्वाद्ध संज्ञा उपवाक्य है और उत्तराद्ध का उपवाक्य इसके समानाधिकरण-रूप में है ।

विशेषण और क्रियाविशेषण उपवाक्यों की चर्चा करते समय पूरे पदों या तीन-चार चरणों के अनेक उद्धरण ऊपर दिये गये हैं । इनमें कई कई विशेषण और क्रिया-विशेषण उपवाक्य साथ - साथ प्रयुक्त हुए हैं । ये सभी परस्पर समानाधिकरण हैं । अतएव इनके अतिरिक्त उदाहरण देना अनावश्यक है ।

सारांश यह कि मूरदास के सरल और जटिल, दोनों तरह के वाक्यों का विन्यास अर्थबोध की दृष्टि से साफ और सुंदर है । उनके काव्य में ऐसे वाक्य बहुत कम हैं जिनके उपवाक्यों के क्रम में अर्थ के लिए उलट-फेर करना पड़े । निम्नलिखित-जैसे वाक्य खोजने पर ही उनके काव्य में मिलते हैं—

तेरी तब तिहि दिन, कौ हितू हो हरि बिन,
सुधि करिकै कृपिन, तिहि चित आनि ।
जब अति दुख सहि, कठिन करम गहि,
राख्यो हो जठर माहि सोनित सौ सानि^{२३} ।

इस वाक्य में तीन उपवाक्य हैं—

क. तेरी तब तिहि दिन को हितू हो हरि बिन—संज्ञा उपवाक्य ।

ख. सुधि करिकै कृपिन तिहि चित आनि—प्रधान उपवाक्य ।

ग. जब अति दुख सहि सोनित सौ सानि—क्रियाविशेषण उपवाक्य ।

अर्थ की स्पष्टता के लिए इन उपवाक्यों का क्रम उलट कर क, ग और ख; या ख, ग और क करना पड़ता है । अन्यत्र लंबे वाक्यों में भी, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, उनकी उपवाक्य योजना सीधी-सादी है ।

गठन की दृष्टि से भी मूर-काव्य में अपवादस्वरूप ही ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनके वाक्य-विन्यास को शिथिल कहा जा सके; जैसे—

संभु सुत को जो बाहन है कुहुकै असल सलावत^{२४} ।

यहाँ 'जो बाहन है' विशेषण उपवाक्य है जिसके बीच में आ जाने से वाक्य शिथिल हो गया है; परंतु इसका कारण दृष्टकूट पद्धति का अपनाया जाना कहा जा सकता है । अतएव अर्थबोध और गठन, दोनों की कसौटी पर उनकी वाक्य-योजना खरी उतरती है और यह भी उनके काव्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण है ।

५ सूर की भाषा का व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष

आत्मानुभूति की मार्मिक व्यञ्जना कविता का आवश्यक गुण है। बाल्यकालीन वातावरण के सस्कार, पूर्ववर्ती साहित्य के अध्ययन, भूतकालिक जीवन में सचराचर विश्व के मनन और सामयिक विचारधारा के प्रभाव में जो अनुभूतियाँ जाग्रत होती हैं, बुद्धितत्व और कल्पनाशक्ति द्वारा पापित करके जो व्यक्ति उन्हें व्यक्त कर सकता है, वही 'कवि' है एवं जो रचना इन प्रकार प्रत्यक्ष होती है, वही 'कविता' है। मानव की स्वभावगत सौंदर्यप्रियता उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि भावों और अनुभूतियों की यह व्यञ्जना अधिक से अधिक रोचक और आकर्षक रूप में हो। भावाभिव्यञ्जन का सर्वश्रेष्ठ साधन है 'भाषा' जिसे सार्थक, सबल और अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयत्न अनादि काल से होता आया है। काव्य के शास्त्रीय पक्ष का संबन्ध इसी प्रयत्न से है। भाषा के मुख्य अंग हैं 'शब्द' और 'अर्थ' जिनके कई भेद और उपभेद हैं। भाषा को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए उसके सभी अंगों-उपांगों को अलङ्कृत करने की आवश्यकता होती है। साहित्यशास्त्रियों ने इनकी विवेचना करके, नियम और लक्षणों के साथ तत्सबधी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कला-पक्ष के शास्त्रीय ग्रन्थों के ये ही प्रतिपाद्य विषय हैं।

काव्यभाषा का दायित्व—भाषा और काव्य के कलापक्ष का संबन्ध एक दृष्टि से और भी महत्व का है। अन्य विषयों में प्रसंग का स्पष्ट रूप से बोध करा देने पर ही भाषा का दायित्व समाप्त हो जाता है, परन्तु काव्य में तो वस्तु-बोध के पश्चात् ही भाषा का वाग, एक प्रकार से आरम्भ होता है। हल्की-गहरी, पूरी-अधूरी प्रत्येक रेखा, चित्र की संपूर्णता में याग देने के साथ-साथ स्वतंत्र रूप में भी जिस प्रकार विशेष संदेश की मार्केनिक बाहिका रहती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ काव्य के शब्द, सामान्य अर्थ-बोध में योग देने के अतिरिक्त विल पाठक के लिए विशिष्टता निर्देशक भी होते हैं। शब्द-विशेष के व्यर्थ में, व्युत्पत्ति के आधार पर, जो ऐतिहासिक मार्केनिकता रहती है, प्रसंग के उप-युक्त समझे जाने के कारण भाव के सूक्ष्म निर्देशन का जो दायित्व उसकी सौंपा जाता है, वक्ता की भाव-भंगिमा की जो छाया उस पर प्रतिबिम्बित होकर पाठक या श्रोता के मानस पटल पर प्रत्यावर्तित होने की क्षमता रखती है और कवि के कठ की जो बल्लता उसमें ध्वनि होती है, जिज्ञानु पाठक का सामान्य अर्थ-बोध के अतिरिक्त, इन सबसे मनीभाँति परिचित कराना भी काव्य-भाषा का ही कार्य है। माराग यह कि कवि के शब्द उसके हृदय और मस्तिष्क के ऐसे संदेशवाहक हैं जो उसके अभीष्ट भाव की तो पूर्णतया हृदयगम किये रहते हैं, परन्तु प्रत्येक श्रोता या पाठक के लिए उतना ही रहस्य उद्घोषित करते हैं जितने की आममान् करने की मानसिक योग्यता उनमें होती है।

वे कवि के भाव-कोष के मुक्क, परन्तु सुचतुर दाता है और पात्रता के अनुसार ही अर्थ-दान दिया करते हैं। उनके पास जाकर कोई खाली हाथ नहीं लौटता; सभी उनकी उदारता से लाभ उठाते और चमत्कृत होते हैं, फिर भी यह कोष रिक्त नहीं होता। इस कोष को अक्षय बनाये रखने का दायित्व भी काव्यभाषा का ही है।

भाषा के व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष—काव्यभाषा के जिन दो कार्यों—सामान्य अर्थ-द्योतन और विशेषार्थ-बोधन की ऊपर चर्चा की गयी है, उनके आधार पर उसके अध्ययन के दो पक्ष हो जाते हैं—प्रथम है व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय है शास्त्रीय पक्ष। प्रथम के अन्तर्गत विषय, पात्र और मनोभावों के विभिन्न रूपों, सामान्य और प्रयासपूर्ण शब्द-योजनाओं, मुहावरों-कहावतों के प्रयोगों आदि का अध्ययन किया जाता है। द्वितीय अर्थात् शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत उन विषयों की चर्चा की जाती है जिनकी विवेचना भाषा के अंगों के रूप में रीति या लक्षण-ग्रन्थों में मिलती है, यथा—शब्दशक्ति वृत्ति, रीति, अलंकार, गुण, दोष और रस-छन्द की दृष्टि से भाषा की उपयुक्तता आदि। सूर की भाषा का अध्ययन इन विषयों के आधार पर भी करना है।

सूर का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण—भाषा के व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान सभी कवियों को योग्यतानुसार रहता है और रचनाभ्यास के साथ-साथ बढ़ता भी जाता है। अतः इस पक्ष का अध्ययन भी सुगमता से किया जा सकता है। परन्तु शास्त्रीय पक्ष का अध्ययन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक होता है कि कवि ने काव्य-शास्त्र का कितना अध्ययन किया था और काव्य-रचना के समय उसका तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या था। इससे भाषा के तद्विषयक अध्ययन में सुगमता होती है। परन्तु सूरदास अन्य विषयों की तरह इस सम्बन्ध में भी मौन है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं इस बात का प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत नहीं किया है कि उन्होंने भाषा के शास्त्रीय या कला पक्ष का कितना और कब अध्ययन किया था। हाँ, 'साहित्यलहरी' के अनेक पदों में नायिकाओं और अलंकारों के नाम अवश्य मिलते हैं, जैसे—

१. सूरस्याम सुजान सुकिया अघट उपमा दाव^{२५}।
२. सूरस्याम कोविदा सुभूषन कर विपरीत बनावे^{२६}।
३. सूरज प्रभु उल्लेख सबन कौ हो परपतनी हेरो^{२७}।
४. सूरज प्रभु पर होहु अनूढ़ा सुमिरन जनि विसरावो^{२८}।
५. सूर छेक ते गुप्त बातहु तोकी सुत्र समुझैहै^{२९}।
६. सूर सरस सख्य गवित दीपिकावृत चाइ^{३०}।
७. सूर प्रस्तुत कर प्रसंसा करत पंडिता नास^{३१}।
८. सूरज प्रभु बिरोध सो भाषत बस परजंक निहार^{३२}।

९ मूर अनसंग तजत तावत अयोपतिका रूप^{३३},

इन वाक्यों में क्रमशः स्वकीया, प्रीडा (कोविदा = पडिता = प्रीडा), परकीया, अनूढा सुरतगुप्ता, रूपगविता, खडिता, वासवसज्जा (वस-परजक = पर्यंक पर वसी या वैठी), आगनपतिका नायिकाओं और पूर्णोपमा (अघट = न घटने वाली = पूर्ण), प्रतीप (विपरीत उल्टा = प्रतीप) उल्लेख, स्मरण, छेकापह्नुति, आवृत्तिदीपक अप्रस्तुत-प्रगसा, विरोधाभास, असंगति (अनसंग = अन्य का संग अलकारों का उल्लेख हुआ है । इनके अतिरिक्त 'साहित्यलहरी' में अनेक पद ऐसे भी हैं जिनमें केवल अलकारों के ही नाम आये हैं, जैसे—

- १ मूरदास अनुराग प्रथम तें विपम विचार विचारो^{३४} ।
- २ मूरस्याम सुजान सम वस भई है रस रीति^{३५} ।
- ३ मूरजदास अधिक का कहियै करौ सनु-सिव साखी^{३६} ।
- ४ अल्प मूर सुजान कासो कहौ मन की पीर^{३७} ।
- ५ उक्तगूढ़ तें भाव उदै सब मूरज स्याम सुजान^{३८} ।

इन वाक्यों में क्रमशः विपम, सम, अधिक, अल्प और गूढोक्ति अलकारों के नाम आये हैं । इसी प्रकार 'साहित्यलहरी' के कुछ पदों में सचारी भावों के साथ-साथ अलकारों का नाम-निर्देश है, जैसे —

१. एक अवल करि रही असूया मूर सुतन वह चाई^{३९} ।
२. भूपन सार मूर त्रम सीकर सोभा उड़त अमल उजियारी^{४०} ।
३. मूरज आलस जयासंख कर वृक्ष सखी कुसलात^{४१} ।
४. कामो वहां समूचे भूपन सुमिरन करत वखानी^{४२} ।
५. अपसमार जहँ मूर सम्हारत बहु विषाद उर पेरों^{४३} ।

इन वाक्यों में एकावलि, मार, यथासत्य, समुच्चय और विषाद अलकारों के साथ-साथ असूया, त्रम, आलस्य, स्मरण और अपस्मार सचारी भावों के नाम आये हैं । इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पद भी 'साहित्यलहरी' में हैं जो रस-विशेष के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किये गये जान पड़ते हैं^{४४} । इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि मूरदास को काव्यांगों का सामान्य ही नहीं, अच्छा ज्ञान था, परन्तु उन्होंने इसका अर्जन कब और किससे किया, यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता । अनुमान यह होना है कि नैतिक रूप से ज्ञान-भक्ति-चर्चा में रत रहनेवाले मूरदास तथा उनके वर्ग के अन्य

३३. सहरी, ३९ । ३४. सहरी ४० । ३५. सहरी ४१ । ३६. सहरी ४३ ।
 ३७. सहरी ४४ । ३८. सहरी ८५ । ३९. सहरी ४९ । ४०. सहरी ५१ ।
 ४१. सहरी ५२ । ४२. सहरी ५५ । ४३. सहरी ६७ ।
 ४४. सहरी ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८ आदि ।

कवियों में नैमित्तिक रूप से काव्यशास्त्र की चर्चा अवश्य होती होगी जिसको हृदयंगम कर लेना आलोच्य कवि के लिए एक सामान्य बात थी। उनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी ही; अतएव वे कूटपदों में विभिन्न अलंकारों और रसों के उदाहरण देने में सहज ही समर्थ हो सके।

काव्यशास्त्र की इस प्रकार की जानकारी रखने और 'साहित्यलहरी' की रचना करके उसका परिचय भी देनेवाले सूरदास ने अपने को न आचार्य समझा और न तद्विषयक उल्लेख ही किया। गोस्वामी तुलसीदास जब अपने को काव्यागों के ज्ञान से सर्वथा शून्य बताते हैं—

कवि न होउ^{४५} नहि वचन प्रवीनू, सकल कला सब विधा हीनू ।
आखर अरथ अलंकृति नाना, छंद-प्रबध अनेक विधाना ।
भाव-भेद रस-भेद अपारा, कवित दोष-गुन विविध प्रकारा ।
कवित बिबेक एक नहि मोरे, सत्य कहउ^{४६} लिखिकामद कोरे ।

भनिति मोर सब गुन-रहित.....^{४७} ।

तब उनकी विनम्रता के प्रति सम्मान-भाव रखते हुए भी, स्थूल रूप से तो यही ज्ञान पड़ता है कि वस्तुतः वे अनेक काव्यागों के ज्ञान में पारंगत होने की ही सूचना देते हैं। और उक्त कथन को उनकी शुद्ध विनयोक्ति के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाय, तब भी इनकी ध्वनि तो उससे निकलती ही है कि वे उन सभी विषयों से परिचित अवश्य थे। सूर-काव्य में इस प्रकार की कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वीकारोक्ति कहीं नहीं मिलती। 'सूरसागर' के कुछ पदों में 'कवि' शब्द का प्रयोग इस ढंग से अवश्य मिलता है कि उसका सकेत सूरदास की ओर ही जान पड़ता है, जैसे—

१. तौ जानिहौ जौ मोहि तारिहौ सूर कूर कवि ढोट^{४८} ।
२. कवि उपमा वरनै कछु छोटी^{४९} ।
३. बारबार जमुहात सूर प्रभु इहि उपमा कवि कहै कहा रो^{५०} ।
४. दामिनि घन पटतर दीजै क्यौ सकुचत कवि लिये नामा^{५१} ।
५. कनक जटित जराइ वीरे, कवि जु उपमा पाइ^{५२} ।
६. वन-विलास ब्रज-वास रास-सुख देखि देखि सुख पावत ।
सूरदास बहुरो वियोग गति कुकवि मिलज हूँ गावत^{५३} ।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'कवि' शब्द का सकेत निश्चय ही 'सूरसागर' के रचयिता की ओर ही है। केवल अंतिम वाक्य में सूरदास ने अपने लिए 'कुकवि' कर रहा है। उसका तात्पर्य तो यह है कि श्रीकृष्ण के ब्रज-विलास की अनेक सुखद लीलाओं का चित्रण करने के

४५. 'मानस', बालकाण्ड, दोहा ९, पृ० १३ ।

४६. सा. १-१३२ । ४७. सा. १०-१६५ । ४८. सा. १०-२८८ । ४९. सा. २१८१ ।

५०. सा. २८३१ । ५१. सा. ४०२६ ।

पश्चात् अब उनके मधुरा चले जाने पर, उनके प्रिय स्वधियों और प्रेमिकाओं के दिवो-
दुख का वर्णन जिसको करना पड़े, निस्तुदेह वह कवि 'अभागा' ही है। अनएव इन वाक्यों
में 'कवि' शब्द के प्रयोग द्वारा वह अपने को स्पष्ट रूप से 'कवि' स्वीकार करता और
एक बड़े दायित्व के निर्वाह की प्रतिज्ञा में बद्ध होता है। इसी तरह के कुछ और भी
वाक्य 'सूरसागर' में मिलते हैं जिनमें प्रयुक्त 'कवि' शब्द का संकेत निम्नपूर्वक दूसरों की
ओर है; जैसे—

१ लाल गोपाल बाल-छवि बरनत करिहै कवि-कुल हास री^{५२} ।

२ लोचन आंजि स्रवन-तरिवन छवि को कवि कहै निवारि^{५३} ।

३ सूरदास प्रभु-प्यारी की छवि प्रिय गावत नित,

पावत कवि उपमा जे ते बढभागे^{५४} ।

४. तुम अँग अँग छवि की पट्टर कौं कविअनि बुद्धि नची^{५५} ।

५. सूरस्याम उर-करज कौं को बरनि सकै कवि^{५६} ।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'कवि' शब्द प्रत्यक्ष रूप से सूरदास की ओर नते ही संकेत न
करता हो, परन्तु उससे यह ध्वनि तो निकलती ही है कि वह अपने को कवि वर्ग में ही
समझता है। अब प्रश्न यह है कि इस शब्द के प्रयोग से, कान्य प्रतिभा के अभिमान में,
सूरदास अपने को 'कवि' घोषित करते हैं अथवा यह सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है ?
इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में 'सूर-काव्य' में प्रयुक्त 'कवि' शब्द में किसी प्रकार
के अभिमान का भाव नहीं है और वह सामान्य स्थिति में ही प्रयुक्त हुआ है। दत्तन-
सम्प्रदाय में प्रवेश के उपरांत, आराध्य की सगुण लीला-गान की प्रतिज्ञा^{५७} कर देने पर
सूरदास का कवि-रूप गौण हो गया और भक्त-रूप प्रधान जिसका समर्पण इन बातों से
भी होता है कि 'कवि-रूप' की घोषणा करनेवाले उक्त वाक्य तो 'सूरसागर' में बहुत थोड़े
हैं, परन्तु भक्त-रूप समस्त सूर-काव्य में व्याप्त है। कवि की प्रसिद्धि की चाह हो सकती
है, परन्तु भक्त का तो उसके लिए भी अवकाश नहीं मिलता। यही कारण है कि कान्य-
ज्ञान के सम्बन्ध में सूरदास ने जानबूझकर कोई उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं
समझी। आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन और आराध्य-गुण की मधुर लीलाओं के वर्णन
का जो प्रिय कार्य वह संपादित कर रहा था, उसमें आंतरिक अनुभूति और अन्मयता की
जितनी आवश्यकता थी, उसकी तुलना में कान्य ज्ञान की अपेक्षा सूरदास को उसके सतत
की भी नहीं थी। यह ठीक है कि ऊपर उद्धृत 'साहित्यलहरी' के उदाहरणों से कवि की
तद्विषयक प्रदर्शन-प्रवृत्ति स्पष्ट होती है, परन्तु उसका सम्बन्ध कवि की विनोदी प्रवृत्ति
से अधिक है, सास्त्रज्ञता का परिचय देकर उस क्षेत्र में कीर्ति-नाम के लोभ में
बहुत कम।

५२. सा. १०-१३९ ।

५३. सा. २०२७ ।

५४. सा. २१७१ ।

५५. सा. २४४८ । ५६. सा. २७३१ ।

५७. सब विधि अगम विचारिह तारुँ सूर सगुन (लीला) पद गावै—सा. १-२ ।

व्यावहारिक पद्य की दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन—

इस शीर्षक के अन्तर्गत सूरदास की भाषा के जिन पक्षों का अध्ययन करना है, उनमें मुख्य हैं—१. विषय के अनुसार भाषा-रूप, २. पात्र के अनुसार भाषा-रूप, ३. मनो-भावों के अनुसार भाषा-रूप, ४. सवादों की भाषा, ५. सूक्तियों की भाषा, ६. मुहावरों के प्रयोग और ७. कहावतों के प्रयोग ।

विषय के अनुसार भाषा-रूप—

विषय की दृष्टि से समस्त सूर-काव्य—‘सूरसागर’, ‘सूरसारावली’ और ‘साहित्य-तहरी’—को स्थूल रूप से ग्यारह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— क. विनयपद और स्तुतियाँ, ख. पौराणिक कथाएँ, ग. बाललीला और माता-पिता की अभिलाषाओं का चित्रण, घ. रूप-वर्णन, ङ. सयोग-वर्णन, च. मुरली के प्रति उपासना, छ. नेत्रों के प्रति उपासना, ज. पर्वोत्सव और ऋतु-चित्रण, झ. वियोग-वर्णन और भ्रमर-गीत, ञ. स्फुट विषय : पारिभाषिक विवेचन और ट. कूट पद । प्रत्येक के अनुसार सूरदास की व्यावहारिक भाषा में क्या परिवर्तन हुआ है, इसी की सोदाहरण व्याख्या यहाँ की जायगी ।

क. विनयपद और स्तुतियों—इस वर्ग में सूर-काव्य का जो अंश आता है, उसको पुनः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम वर्ग में वे सामान्य पद आते हैं जिनमें भक्त का दैन्य-प्रदर्शन है और अपनी अकिंचनता का दीन स्वर में तथा आराध्य की अति महानता और परम उदारता का गद्गद् होकर वह वर्णन करता है । ऐसे पद मुख्य रूप से ‘सूरसागर’ के प्रथम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में संकलित हैं; जैसे—

१. स्याम गरीबनि हूँ के गाहक ।

दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति-निवाहक ।

कहा विदुर की जाति-पाँति-कुल, प्रेम-प्रीति के लाहक ।

कह पांडव के घर ठकुराई ? अरजुन के रथ-वाहक ।

कहा सुदामा के धन हो ? तौ सत्य प्रीति के चाहक ।

सूरदास सठ, तातै हरि भजि आरत के दुख-दाहक^{५८} ।

२. प्रभु तेरी बचन-भरोसौ साँची ।

पोषन-भरन विसंभर साहब, जो कलपै सौ काँची^{५९},

३. बिनती करत मरत हों लाज ।

नख-सिख ली मेरी यह देही है पाप की जहाज ।

और पतित आवत न आंखि तर देखत अपनी साज ।
 तीनों पन भरि ओर निवाह्यो तऊ न आयो बाज ।
 पाछे भयो न आगे ह्वैहै, सब पतितनि-सिरताज ।
 नरको भज्यो नाम सुनि मेरो, पीठि दर्ई जमराज ।
 अवलौ नान्हे-नून्हे तारे, ते सब वृथा अकाज ।
 सांचे विरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज^{६०} ।

४ प्रभु, ही सब पतितनि को टीको ।

और पतित सब दिवस चारि कै, हीं तो जनमत ही को ।
 वधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही को ।
 मोहि छाँडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी को ।
 कोउ न समरथ अथ करिवे को, खँचि कहत हीं लीको ।
 मरियत लाज सूर पतितनि में, मोहूँ ते को नीको^{६१} ।

५ तुम तजि और कौन पै जाउ ?

काको द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर-हथ कहा विवाउ ?
 ऐसी को दाता है समरथ, जाके दिऐ अघाउ ?
 अतकाल तुम्हरे सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं ठाउ^{६२} ।

इन पदों की भाषा में प्रयास नहीं है और अद्वैततत्त्व-तद्भव शब्दों की संख्या तत्त्वम से कुछ अधिक है । बीच-बीच में विदेशी शब्द भी अनायास आ गये हैं । आराध्य की उदारता को नतमस्तक होकर स्वीकार करने और अपनी दीनता दिखाने के लिए आडंबर की तो कभी आवश्यकता होती नहीं, फिर जिस कवि को विश्वास हो कि उसका इष्टदेव भाव का ही भूखा है, भाव में ही बसता है^{६३}, वह भाषा में शब्दों के चयन और सस्कार की भी क्यों चिंता करने लगा ? अतएव सीधी-सादी प्रसादगुण-युक्त भाषा में भक्त सूर अपनी दीनता दिखाता हुआ, इष्टदेव से कृपा-दृष्टि एक बार इधर भी फेरने की प्रार्थना करता है । भगवान यदि कृत्रिमता या सजावट नहीं चाहते तो भक्त भी भाषा को सजाने-सँवारने की आवश्यकता नहीं समझता । अतएव इस प्रकार के विनय-पदों में न अलवारों का चमत्कार है और न लक्षणा-व्यजना की कवित्वपूर्ण मार्मिकता है । इनमें तो दीन प्राणी के हृदय की कष्ट पुकार है जो आत्मानुभूति की तीव्रता के कारण सभी का प्रभावित करती है । अपनी अत्यधिक दीनता दिखाने के लिए इन पदों में सूरदास ने कहीं-कहीं दृष्टान्त, उदाहरण—जैसे अलवारों का सहारा भले ही लिया हा, परन्तु उसका उद्देश्य भी काव्यात्मक चमत्कार-प्रदर्शन नहीं, विषय को सरल करने हुए आत्मनिवेदन की पुष्टि करना मात्र है ।

६०. सा. १-९६ । ६१. सा. १-१३८ । ६२. सा. १-१६४ ।

६३. भाव तो भज, विनु भाव में ये नहीं, भाव ही माहि प्यानिहि बसावै—१००६ ।

उक्त पदों की भाषा कही-कही बड़ी सशक्त हो गयी है। कारण यह है कि भक्त का इह लोक में तिरस्कृत और सुख-सौभाग्य से वंचित हृदय ऊँचे स्वर में अपनी मूर्खता, असार-प्रियता और असफलता की कहानी विश्व के कोने-कोने में फैलाकर, अपनी पाप-मय सुख-लोलुपता का प्रायश्चित्त-सा करके, शीघ्र से शीघ्र इसलिए निर्मल हो जाना चाहता है जिससे भगवान की दयामय उदारता का वह भी पात्र हो सके। उसे न लोक-लाज का ध्यान है, न सामाजिक मर्यादा या शिष्टाचार का। जो अपने को तुच्छतम पापी घोषित और सिद्ध करने पर तुला है, उसे उच्चवर्गीय वस्त्राभूषणों की क्या चिंता ? अतएव अनलकृत और आडवररहित भाषा में रचे सूरदास के ये विनय-पद, दीन-निरीह के करुण स्वर की तीव्रता के समान ही, भक्तजन को आकृष्ट कर लेते हैं।

विनय-पदों के दूसरे वर्ग में वे पद आते हैं जिनमें उक्त विषयों के साथ-साथ माया के प्रपंचों और उसके प्रलोभन में फँस जाने की मूर्खता का वर्णन है, परन्तु जिसके लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयासपूर्ण भाषा का उपयोग किया गया है। ऐसे पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध के उत्तरार्द्ध और द्वितीय स्कंध में विशेष रूप से मिलते हैं; जैसे—

१. अद्भुत राम-नाम के अंक ।

धर्म-अँकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति-बधू ताटक ।
मुनि-मन-हंस पच्छ जुग, जाकै बल उड़ि ऊरध जात ।
जनम-मरन काटन कौं कर्तारि तीछनि बहु विख्यात ।
अधकार-अज्ञान-हरन कौं रवि-ससि जुगल प्रकास ।
वासर-निसि दोउ करै प्रकासित महा कुमग अनयास ।
दुहूँ लोक सुखकरन, हरन दुख, वेद-पुराननि साखि ।
भक्ति-ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेम निरंतर भाखि^{६४} ।

२. ऐसी कव करिहौ गोपाल ।

मनसानाथ, मनोरथ-दाता, ही प्रभु दीनदयाल ।
चरननि चित्त निरंतर अनुरत, रसना चरित रसाल ।
लोचन-सजल, प्रेम-पुलकित तन, गर अंचल, कर माल ।
इहि विधि लखत, झुकाइ रहे जम अपन ही भय भाल ।
सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि जातना कराल^{६५} ।

३. द्वै मैं एकौ तौ न भई ।

न हरि भज्यौ, न गृह-सुख पायौ, बृथा बिहाइ गई ।
ठानी हुती और कुछ मन मैं, औरै आनि ठई ।

अविगत-गति कछु समुझि परत नहि, जो कछु करत दई ।
 सुत-सनेहि-तिय सकल कुटुंब मिलि, निसिदिन होत खई ।
 पद-नख-चद चकोर विमुख मन, खात अंगारमई ।
 विषय-विकार दवानल उपजी, मोह-वयारि लई ।
 भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायां, अजहुँ न टेव गई ।
 होत कहा अवके पछताएँ, बहुत देर वितई ।
 सूरदास सेये न कृपानिधि जो मुख सकल मई^{६६} ।

४. चलि सखि, तिहि सरोवर जाहि ।

जिहि सरोवर कमल-कमला, रवि बिना विकसाहि ।
 हस उज्जल, पख निर्मल, अग मलि-भलि न्हाहि ।
 मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहां, चुनि-चुनि खाहि ।
 अतिहि मगन महा मधुर रस, रसन-मध्य समाहि ।
 पद्म-वास सुगध-सीतल, लेत पाप नसाहि ।
 सदा प्रफुलित रहै, जलबिनु निमिष नहि कुम्हिलाहि ।
 सघन गुजत बैठि उन पर भौरहूँ विरमाहि ।
 देखि नीर जु छिलछिली जग, समुझि कछु मन माहि ।
 सूर क्यों नहि चलै उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहि^{६७} ।

५. भजन बिनु जीवत जैसे प्रेत ।

मलिन मदमति डोलत घर घर, उदर भरन के हेत ।
 मुख कटु वचन, नित पर निंदा, सगति सुजस न लेत ।
 कबहूँ पाप करै पावत धन, गाडि घूरि तिहि देत ।
 गुरु ब्राह्मन अरु सत सुजन के, जात न कबहूँ निकेत ।
 सेवा नहि भगवत-चरन की, भवन नील की खेत ।
 कथा नही, गुन-गीत सुजस हरि, सब काहूँ दुख देत ।
 ताकी कहा कहीं सुनि सूरज, दूडत कुटुंब समेत^{६८} ।

इन पदों की भाषा पूर्वोद्धृत पदों से निश्चय ही अधिक तत्त्वमता-प्रधान है । कारण यह है कि इनकी रचना अपेक्षाकृत कम भावावेदों में और अधिक चिंतन के पदचान् हुई हैं । अपनी अविचनता की चर्चा कवि ने ऐसे पदों में कम की है । वह तो जैसे अपनी जन्म-जन्म की भूलना के ही चिन्तन में और अपने मन के प्रबोधन में लीन है जिससे भावोद्गार कुछ दब-सा गया है । आश्वासन उसे अपने इष्टदेव की दयामुता और उदारता का है ।

वह विश्वस्त है कि मोह-ममता के बंधनों को जब उसने जान लिया है, सांसारिक संबंधों की निस्सारता और दृश्य जगत् की क्षणभंगुरता से जब वह परिचित हो गया है, तब आराध्य की कृपा से उसका उद्धार अवश्य हो जायगा। चिंतन के ऐसे क्षणों में भाषा का भी अपेक्षाकृत तत्समता-प्रधान हो जाना स्वाभाविक ही है।

विनय-पदों के तीसरे वर्ग में स्तुतियाँ आती हैं। इनकी सख्या सूर-काव्य में अधिक नहीं है, फिर भी इनका इस दृष्टि से अधिक महत्व है कि इनकी भाषा उक्त दोनों रूपों की भाषा से कही मिलती-जुलती है और कही भिन्न है; जैसे—

प्रभु तुव मर्म समुज्झि नहि परै ।

जग सिरजत-पालत-संहारत, पुनि क्यो बहुरि करै ।

ज्यों पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहि समाइ ।

त्योही सब जग प्रगटत तुमते, पुनि तुम माहि विलाइ ।

माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहि कोइ ।

नाम-जहाज चढै जो कोऊ, तुव पद पहुँचै सोइ ।

पापी नर लोहै जिमि प्रभु जू, नाही तासु निवाह ।

काठ उतारत पार लौह ज्यो, नाम तुम्हारौ ताह ।

पारस परसि होत ज्यो कंचन, लौहपनौ मिटि जाइ ।

त्यो अज्ञानी जानहि पावत, नाम तुम्हारौ गाइ ।

अमर होत ज्यों संसय नासै, रहत सदा सुख पाइ ।

यातें होत अधिक सुख भगतनि, चरन-कमल चित लाइ ।

थावर-जंगम सब तुम सुमिरत, सनक-सनंदन ताही ।

ब्रह्मा-सिव अस्तुति न सकै करि, मैं वपुरा केहि माही^{११} ।

इस पद में श्रीकृष्ण के प्रति नारद की स्तुति है। इसके पूर्व ऋषि और वेद की स्तुतियाँ भी इसी ढंग की हैं, यद्यपि उनका राग भिन्न है। ये स्तुतियाँ लगभग उसी भाषा में लिखी गयी हैं जो विनय-पदों के प्रथम वर्गीय पदों की है। उद्देश्य-साम्य ही भाषा की समानता का प्रमुख कारण है। कुछ स्तुतियाँ इससे परिष्कृत भाषा में भी सूर-काव्य में मिलती हैं; जैसे—

१. हरि जू की आरती घनी ।

अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।

कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँडी सहसफनी ।

मही सराव, सप्त सागर घृत, वाती सैल घनी ।

रवि-ससि ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी ।
 उडत फूल उडगन नभ-अतर, अजन घटा घनी ।
 नारदादि-सनकादि-प्रजापति-सुर-नर-असुर-अनी ।
 काल-कर्म-गुन ओर अत नहि, प्रभु-इच्छा रचनी ।
 यह प्रताप-दीपक सुनिरतर, लोक सकल भजनी ।
 सूरदास सब प्रगट ध्यान मे, अति विचित्र सजनी^{७०} ।

२ नमो नमो हे कृपानिधान ।

चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारे, मिटि गयो तम अज्ञान ।
 मोह-निसा को लेस रह्यो नहि, भयो विवेक विहान ।
 आत्म-रूप सकल घट दरस्यो, उदय दियो रवि-ज्ञान ।
 मैं-मेरी अब रही न मेरे, छुट्यो देह-अभिमान ।
 भावै परो आजुही यह तन, भावै रहो अमान ।
 मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान् ।
 सवन करौ निसि वासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन^{७१} ।

३ जय जय जय जय माधव बेनी ।

जग हित प्रकट करी करुनामय, अगतिनि कौं गति दैनी ।
 जानि कठिन कलिकाल कुटिल नृप, सग सजी अघ-सैनी ।
 जनु ता लगि तरवारि त्रिविक्रम, धरि करि कोप उपैनी ।
 मेरु मूठि, वरवारि पाल छिति, बहुत वित्त की लैनी ।
 सोभित अग तरंग त्रिसगम, धरो धार अति पैनी ।
 जा परसे जीते जम सैनी, जमन, कपालिक, जैनी ।
 एकै नाम लेत सब भाजे, परि सो भव भय सैनी ।
 जा जल मुद्ध निरखि सम्मुख है, सुन्दरि सरसिज-नैनी ।
 सूर परस्पर करत कुलाहल, गर-सृग पहिरावैनी^{७२} ।

इन तीनों स्तुतियाँ की भाषा प्रथम वर्गीय विनय पदा से अधिक साहित्यिक होने के कारण द्वितीय वर्ग की तत्समता प्रधान भाषा के अधिक निकट है । भावातिरेक के बुद्धि तत्त्व का प्रयोग मूर-काव्य में जहाँ भी हुआ है, भाषा का यही रूप वहाँ देखा जाता है । स्तुतियाँ के तीसरे वर्ग की भाषा इससे भिन्न है । जैसे—

१. हरि हर सकर, नमो नमो ।

अहिसायी, अहि अग विभूषन, अमित दान, बल विप हारी ।

नीलकंठ, वर नील कलेवर, प्रेम परस्पर कृतहारी ।
 कंठ चूड़, सिखि चंद सरोरुह, जमुना प्रिय, गंगाधारी ।
 सुरभि रेनु तन, भस्म विभूषित, वृष-वाहन, बन वृष चारी ।
 अज अनीह अविरुद्ध एकरस, यहै अधिक ये अवतारी ।
 सूरदास सम, रूप-नाम-गुन अंतर अनुचर अनुसारी ७३।

२. जयति नंदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजलाल आनदकारी ।
 कृष्ण कमनीय मुखकमल राजिव सुरभि, मुरलिका मधुर धुनि बन विहारी ।
 स्याम घन दिव्य तन पीत पट दामिनी, इद्र घनु मोर को मुकुट सोहे ।
 सुभग उर-माल मनि कठ चंदन अग, हास्य ईपद जु त्रैलोक्य मोहै ।
 सुरभि मडल मध्य भुज सखा अस दियै, त्रिभंगि सुन्दर लाल अति विराजै ।
 विश्व पूरन काम कमल लोचन खरे, देखि सोभा काम कोटि लाजै ।
 स्रवन कुडल लोल, मधुर मोहन बोल, वेनु धुनि सुनि सजनि चित्त मोदै ।
 कलप तरुवर मूल सुभग जमुना कूल, करत क्रीडा रग सुख बिनोदै ।
 देव, किन्नर, सिद्ध, सेस सुक, सनक, सिव, देखि विधि, व्यास मुनिसुजस गायौ ।
 सूर श्री गोपाल सोइ सुख निधि नाथ, आपुनौ जानि कै सरन आयौ ७४।

इन दोनों स्तुतियों की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग तो दूसरे वर्ग से अधिक हुआ ही है, सामासिक पद भी अनेक आये हैं। पीछे बताया जा चुका है कि सूरदास ने अपने काव्य में छोटे-छोटे सामासिक पदों का अधिक प्रयोग किया है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त होते हैं। उक्त स्तुतियों में जैसे लवे-लवे सामासिक पद आये हैं, वैसे सूर-काव्य में बहुत कम पदों में प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों की सामासिक प्रधानता गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भिक पदों की भाषा से कुछ-कुछ मेल खाती है।

ख, पौराणिक कथाएँ 'सूरसागर' के द्वितीय स्कंध से नवें तक, दशम के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवें-बारहवें स्कंधों में, श्रीभद्रभागवत के ऋष-निर्वाह के उद्देश्य से, उसमें वर्णित अनेक पौराणिक कथाएँ दी गयी हैं अथवा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की उन लीलाओं का वर्णन है जिनका संबंध ब्रजवासियों से किसी रूप में नहीं रहा। भाषा की दृष्टि से सूर-काव्य के इस अंश के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—प्रथम वर्ग में 'सूरसागर' के नवें स्कंध में वर्णित राम-कथा आती है, द्वितीय में दशम को छोड़कर शेष स्कंधों में वर्णित अन्य पौराणिक कथाएँ और तृतीय में श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की लीलाएँ। राम-कथा के प्रति कवि की श्रद्धा और रुचि अन्य पौराणिक कथानकों की अपेक्षा बहुत अधिक है। संभवतः इसी कारण नवम स्कंध में संकलित राम-कथा संबंधी १५७ पदों की भाषा अपेक्षाकृत सुन्दर है। जैसे—

१. घनुही-वान लए कर डोलत ।

चारो वीर सग इक सोभित, वचन मनोहर बोलत ।
लछिमन-भरत-सत्रुहन सुदर, राजिव-लोचन राम ।
अति सुकुमार, परम पुरुषारथ, मुक्ति-धर्म-धन-धाम ।
कटि तट पीत पिछौरी बांधे, काकपच्छ धरै सीत ।
सर-क्रीडा दिन देखन आवत, नारद, नुर तैतीस ।
सिव मन सकुच, इद्र मन आनंद, सुख-दुख विधिहि समान ।
दिति दुर्बल अति, अदिति हृष्टचित्त, देखि सूर सधान ७१ ।

२ कर कपै, ककन नहि छूटै ।

राम-सिया कर परस मगन भए, कौतुक निरखि सखी सुखलूटै ।
गावत नारि गारि सब दै दै, तात-भ्रात की कौन चलावै ।
तव कर-डोरि छुटै रघुपति जू, उव कौसिल्या माता आवै ।
पूंगीफल जुत जल निरमल धरि, आनी भरि कडी जो बनक की ।
खेलत जूप सकल जुवतिनि मे, हारे रघुपति, जिती जनक की ।
घरे निसान अजिर गृह-भगल, विप्र-वेद अभिषेक करायौ ।
सूर अभित आनद जनकपुर, सोइ सुकदेव पुराननि गायौ ७२ ।

३ फिरत प्रभु पूछत वन दुम-बेली ।

अहो वधु, काहूँ अवलोकी इहि मग बधू अकेली ।
अहो विहग, अहो पन्नग नृप, या कदर के राइ ।
अवकै मेरी विपति मिटावौ, जानकि देहु बताइ ।
चपक पुहुप-चरन तन सुदर, मनी चित्र अवरेखे ।
हो रघुनाथ, निसाचर कै सँग अबै जात हौ देखी ।
यह सुनि घावत घरनि चरन की प्रतिमा पथ मे पाई ।
नैन नीर रघुनाथ सानि सो, सिव ज्यी गात चढाई ।
वहुँ हिय हार, वहुँ कर-ककन, वहुँ नूपुर, वहुँ चीर ।
सूरदास वन-वन अवलोकत बिलख वदन रघुवीर ७३ ।

४. मनिमय आसन आनि घरे ।

दधि-मधु-नीर कनक के कोपर आपुन भरत भरे ।
प्रथम भरत बैठाइ वधु कौं, यह कहि पाइ परे ।

हौं पावौं प्रभु-पाईं पखारन, रुचि करि सो पकरे ।
 निज कर चरन पखारि प्रेम-रस आनंद-आंसु ढरे ।
 जनु सीतल सौं तप्त सलिल दै, सुखित समोइ करे ।
 परसत पानि चरन पावन, दुख अँग-अँग सकल हरे ।
 सूर सहित आमोद चरन-जल लै करि सीस धरे^{७८} ।

ये चारो पद राम-कथा के विविध प्रसंगो से सवधित है । इनकी भाषा विनय-पदों के द्वितीय वर्ग की तत्समता-प्रधान भाषा के अधिक निकट है । अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का पर्याप्त प्रयोग होते हुए भी कवि का शृङ्गाव तत्सम शब्दों की ओर कुछ अधिक है । परंतु राम-कथा विषयक पदों में सर्वत्र ऐसा नहीं है । नीचे के पद की भाषा उक्त पदों से भिन्न है—

वैठी जननि करति सगुनौती ।
 लछिमन-राम मिलै अब मोकौं, दोउ अमोलक मोती ।
 इतनी कहत, सुकाग उहाँ तै हरी डार उडि बैठ्यौ ।
 अंचल गांठि दई, दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर पैठ्यौ ।
 जब लौं हौं जीवौ जीवन भर, सदा नाम तव जपिहौ ।
 दधि-ओदन दोना भरि दैहौ, अरु भाइनि मैं थपिहौ ।
 अब कै जो परचौ करि पावौ अरु देखौं भरि आँखि ।
 सूरदास सोने कै पानी मढौ चोच अरु पाँखि^{७९} ।

इस पद में तत्सम से अधिक अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है । यह भाषा विनय-पदों के प्रथम वर्ग की भाषा से मिलती-जुलती है । इसका कारण है माता का पुत्रों और पुत्र-वधू के प्रति उमड़ता हुआ वात्सल्य । पुत्रों की अनुपस्थिति से विकल विधवा माता कौशल्या का हृदय भाषा के संस्कार-परिष्कार की चिंता ही कैसे करता ? उसका बल तो उसका वात्सल्य है । अतएव भाषा की सरलता और स्वाभाविकता ही ऐसे हृदयस्पर्शी प्रसंगों के उपयुक्त होती और उसकी मार्मिकता बढ़ा सकती है ।

अन्य पौराणिक कथाएँ जिस भाषा में लिखी गयी हैं वह बहुत साधारण और विशेषता-रहित है । 'सूरसागर' में इन कथाओं का समावेश 'श्रीमद्भागवत' के केवल क्रम-निर्वाह के उद्देश्य से किया गया था । कवि स्वभावतः इनमें कोई रुचि न ले सका और बड़े चलताऊ ढंग से उसने इनका वर्णन किया है । भाषा भी इन पदों की चलताऊ ही है; जैसे—

१. भारत जुद्ध होइ जब बीता । भयो जुधिष्ठिर अति भयभीता ।
गुरुकुल-हत्या मोतै भई । अब धौं कैसी करिहै दई ।
करो तपस्या, पाप निवारौ । राज-छत्र नाही सिर धारौ ।
लोगनि तिहि बहु विधि समुझायौ । पै तिहि मन सतोष न आयौ^{८०} ।
२. ब्रह्मा यो नारद सौ कह्यो । जब मैं नाभि-कमल मैं रह्यो ।
खोजत नाल कितौ जुग गयौ । तौहूँ मैं कछु मरम न लयौ ।
भई अवासवानी तिहि वार । तू ये चारि स्लोक विचार ।
इन्हें विचारत हैहै ज्ञान । ऐसी भांति कह्यो भगवान^{८१} ।
३. ब्रह्मा रिपि मरीचि निर्मायौ । रिपि मरीचि कस्यप उपजायौ ।
सुर अरु असुर कस्यप के पुत्र । भ्रात-विमात आप मैं सत्रु ।
सुर हरि-भक्त असुर हरि-द्रोही । सुर अति छमी, असुर अति कोही ।
उनमें नित उठि होइ लराई । करे सुरनि की कृप्य सहाई^{८२} ।
४. ब्रह्मा, महादेव, रिपि सारे । इक दिन बैठे सभा मँझारे ।
दच्छ प्रजापति हूँ तहें आए । करि सनमान सबनि बैठाए ।
काहू समाचार कछु पूछे । काहू सौं उनहूँ तब पूछे ।
सिव की लागी हरि-पद तारी । तातै नहि उन आँखि उधारी^{८३} ।
५. रिपमदेव जब वन कौ गए । नव सुत नवौ खंड नृप भए ।
भरत सो भरतखंड कौ राव । करे सदाही घर्मऽरु न्याव ।
पाले प्रजा सुतनि की नाई । पुरजन बसे सदा सुख पाई ।
भरतहु दै पुत्रनि कौ राज । गए वन कौ तजि राज समाज^{८४} ।
६. इंद्र एक दिन सभा मँझारि । बैठ्यो हुतौ सिंहासन डारि ।
सुर, रिपि, सब गधर्व तहें आए । पुनि कुबेरहूँ तहाँ सिंघाए ।
सुर गुरुहूँ तिहि ओसर आयौ । इन्द्र न तिहि उठि सीस नवायौ ।
सुर गुरु, जानि गर्व तिहि भयो । तहें तै फिर निज आन्वम गयो^{८५} ।
७. हिरनकशिप दुस्तह तप कियो । ब्रह्मा आइ दरस तब दियो ।
कह्यो तोहि इच्छा जो होइ । मांगि लेहि हमसौं वर सोइ ।
राति-दिवसनभ-धरनि न मरौ । अस्त्र-सस्त्र परहार न डरौ ।
तेरो सृष्टि जहाँ लगि होइ । मोकौ भारि सकै नहि कोइ^{८६} ।

८. असुर द्वै हुते बलवन्त- भारी । सुद-उपसुन्द स्वेच्छा-विहारी ।
 भगवती तिन्है दीन्हो दिखाई । देखि सुन्दरि रहे दोउ लुभाई ।
 भगवती कह्यो तिनको सुनाई । जुद्ध जीतै सो मोहि वरै आई ।
 तव दुहुनि जुद्ध कीन्हो बनाई । लरि मुए तुरत ही दोउ भाई^{८७} ।
९. एक बार महा परलै भयौ । नारायन आपुहि रहि गयो ।
 नारायन जल में रहे सोइ । जागि कह्यो, बहुरौ जग होइ ।
 नाभि-कमल तै ब्रह्मा भयौ । तिन मन में मरीचि कौ ठयौ ।
 पुनि मरीच कस्यप उपजायौ । कस्यप की तिय सूरज जायौ^{८८} ।
१०. ब्रह्मा हरि-पद ध्यान लगाये । तव हरि हस-रूप धरि आए ।
 सबनि सो रूप देखि सुख पायौ । सबहिनि उठि क मायौ नायौ ।
 सनकादिकन कह्यो या भाइ । हमको दीजै प्रभु समुझाइ ।
 को तुम, क्यों करि इहाँ पधारे । परमहंस तव वचन उचारे^{८९} ।
११. असुर इक समै सुक्र पै जाइ । कह्यो, सुरनि जीतै किहि भाइ ।
 सुक्र कह्यो, तुम जग बिस्तरौ । करिकै जज्ञ सुरनि सौ लरौ ।
 याही विधि तुम्हरी जय होइ । या विनु और उपाइ न कोइ ।
 असुर सुक्र की आज्ञा पाइ । लागे करन जज्ञ बहु भाइ^{९०} ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कवि को न तो ऐसे पौराणिक विषय प्रिय ही थे और न उसने इनकी चर्चा में किसी प्रकार का श्रम ही किया । वर्णन का जो शिथिल ढंग इन पदों में मिलता है, उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है । ऐसी कथाओं के लिए जो छंद अपनाये गये हैं, वे 'सूरसागर' के मार्मिक और कवित्वमय अंशों के छंदों से भिन्न हैं । उनमें उम संगीतात्मकता का भी अभाव है जिसके कारण गीतिकाव्यकारों में सूरदास को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है । इन पदों के द्रुतगामी छंद इतनी गति से विषय को आगे बढ़ाते हैं कि कवि, वर्णित और वर्ण्य विषय के संबंध तक का ध्यान नहीं रख पाता । एक मुख्य बात यह भी है कि ऐसी कथाओं का वर्णन बहुत साधारण ढंग से करने के बाद कवि ने उनकी अपने प्रिय विषयों की तरह विभिन्न दृष्टिकोणों से आवृत्ति भी नहीं की है । इससे स्पष्ट है कि कवि सूर के लिए 'श्रीमद्भागवत' का यह संबंध-निर्वाह एक भार-सा था जिसे दोनों उसे लगा तो बहुत अप्रिय; परंतु उसने किसी प्रकार प्रस्तावक के आदेश की मर्यादा निभा दी ।

रूप की दृष्टि से ऐसे प्रसंगों की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक ही हुआ है; क्योंकि छोटे छंद के शिथिल वाक्यों में कवि को अपने ढंग से पूरी बात कहने का अवकाश ही नहीं मिल पाता । ऊपर के उदाहरणों में जिस प्रकार कुछ शब्द बार-

बार दोहराये गये हैं, उनसे भी भाषा की शिथिलता बड़ी ही है। सारास यह है कि इन प्रसंगों में न कवि सूर की काव्य-प्रतिभा को रमणीयता के दर्शन होते हैं, न भक्त सूर की आत्मानुभूति की तीव्रता-जन्य प्रभावोत्पादकता के और न गायक की संगीतात्मक मधुरिमा के ही।

तीसरे वर्ग में द्वारिकावासी श्रीकृष्ण की लीलाओं की गाथा है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध में इन लीलाओं की चर्चा है। इनमें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-रूप के दर्शन होते हैं। ब्रजवासी जिस प्रकार श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य रूप से तृप्त न हो सके, जान पड़ता है, उसी प्रकार सूरदास की वृत्ति भी उन लीलाओं में बहुत न रम सकी। अधिक से अधिक, इस संवध में, यह कहा जा सकता है कि जितनी श्रद्धा राम-कथा के प्रति उन्होंने दिखायी थी, लगभग उतनी ही श्रद्धा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की इन लीलाओं के प्रति वे दिखा सके। वर्णन भी अधिकांश लीलाओं का उन्होंने गेय पदों में ही किया है। अनएव राम-कथा में भाषा के जो दो रूप दिखायी देते हैं, प्रायः वे ही द्वारिकावासी श्रीकृष्ण की इन लीलाओं में भी मिलते हैं, जैसे—

१. आवहु री मिलि मगल गावहु ।

हरि एकमिनी लिए आवत हैं, यह आनंद जडुकुलहि सुनावहु ।

बाँधहु वदनवार मनोहर, कनक कलस भरि नीर धरावहु ।

दधि-अच्छन-फल-फूल परम रुचि, आँगन चदन चौक पुरावहु ।

कदली-जूथ अनूप किसल दल, सुरँग सुमन लै मडल छावहु ।

हरद-दूब-केसर मग छिरकहु, भेरि-मृदंग-निसान बजावहु ।

जरासध-सिसुपाल नृपति तै, जीते हैं उठि अरघ चढ़ावहु ।

बल समेत तन कुसल सूर प्रभु, आए हैं आरती वनावहु^{११} ।

२. वारुनी बलराम पियारी ।

गौनम-सुता भगीरथ धीवर, सबहिनि तै सुन्दर सुकुमारी ।

ग्रीवा बाहु गलारत गाजत, सुख सजनी सतिभाइ सँवारी ।

सकप्यन कै सदा सुहागिनि, अति अनुराग भाग बहु वारी ।

वसुधातल जुवाम गिरि राजत, भ्राजत सकल लोक सुखकारी ।

प्रथम समागम आनंद आगम, दूलह वर दुलहिनी दुलारी ।

रति-रस रीति प्रीति परगट करि, राम काम पूरन प्रतिपारी ।

सूर सुभाग उदित गोपिनि के हरि मूरति भेटे हलधारी^{१२} ।

प्रथम पद श्रीकृष्ण के विवाह-प्रसंग का है और द्वितीय में बलराम-‘वारुनी’ की प्रेम-चर्चा है। इनकी भाषा राम-कथा के उन पदों की भाषा से मिलती-जुलती है जिनमें तत्सम शब्दों की अधिकता है और तद्भव शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम

हुआ है । दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में इस प्रकार के गेय पद अधिक नहीं हैं; अधिक संख्या तो ऐसे पदों की है जिनमें कथा को वर्णनात्मक ढंग से लिखा गया है । उक्त पदों में भी संस्कृत और परिष्कृत भाषा का प्रयोग संभवतः इस कारण किया गया है कि इनमें कवि के परम आराध्य और उनके प्रिय वधु के शुभ विवाह और प्रेम की चर्चा है जिससे कवि इतने उल्लास से भर जाता है कि प्रथम प्रसंग को लेकर कई लंबे पद रचकर ही उसको सतोष होता है । इनके अनंतर तो कवि प्रायः प्रत्येक पद में नये विषय को आरम्भ करता है और उसके वर्णनात्मक ढंग से जान पड़ता है कि वह अपने काव्य को समाप्त करने की शौघता में है । ऐसे पद प्रायः पौराणिक कथाओं की भाषा-शैली में लिखे गये हैं । तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की मिश्रित योजना की दृष्टि से निम्नलिखित पदों की भाषा ध्यान देने योग्य है—

१. द्विज कहियौ जदुपति सौ बात ।

वेद विरुद्ध होत कुडिनपुर, हस के अस काग नियरात ।
जनि हमरे अपराध बिचारहु, कन्या लिख्यो मेदि गुहतात ।
तन आत्मा समरप्य तुमकों, उपजि परी तात यह बात ।
कृपा करहु उठि बेगि चढ़हु रथ, लगन सम आवहु परभात ।
कृष्ण सिंह बलि धरी तुम्हारी, लैवै कौ जंवुक अकुलात ।
तात मैं द्विज बेगि पठायी, नेम-धरम मरजादा जात ।
सूरदास सिसुपाल पानि गहै पावक रचौं करौं अपघात^{१३} ।

२. चले हरि धर्म-सुवन के देस ।

संतन हित भू-भार उतारन, काटन बदि नरेस ।
जब प्रभु जाइ संख-ध्वनि कीन्ही, होत नगर परबेस ।
सुनि नृप बंधु सहित उठि धाए, जारत पद-रज केस ।
आसन दै भोजन-विधि पूछी, नारद सभा सुदेस ।
तच्छन भीम धनञ्जय माधौ, धर्यो बिप्र कौ भेष ।
पहुँचे जाइ राजगिरि द्वारे, घुरै निसान सुदेस ।
माँझी जुद्धहि जरासिंधु पै, छत्री कुल आवेस ।
जरासंध कौ जुद्ध अर्थ, बल रहत न क्षत्री लेस ।
सूरज प्रभु दिन सात बीस मैं काटे सकल कलेस^{१४} ।

३. ऐसी प्रीति की बलि जाउ ।

सिंहोसन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाउ ।

कर जोरे हरि विप्र जानि कै, हित करि चरन पखारे ।
 अक-माल दै मिले सुदामा, अर्धासन बैठारे ।
 अर्ध गी पूछत मोहन सौं, कैसे हितू तुम्हारे ।
 तन अति छीन मलीन देखियत, पाउं वहाँ ते धारे ।
 सदीपन कै हमऽरु सुदामा, पढे एक चटसार ।
 सूर स्याम की कौन चलावै, भक्तनि कृपा अपार^{१५} ।

प्रथम पद में रुक्मिणी की विनय है और अंतिम में सुदामा पर श्रीकृष्ण की कृपा देखकर कवि का उत्साह जिसके फलस्वरूप दोनों पदा की भाषा सरल और सरस हो गयी है । द्वितीय पद में सामान्य वर्णन है जिसके अनुरूप भाषा भी सामान्य ही है । इन उदाहरणों की भाषा राम-कथा के अन्तर्गत 'बैठी जननि करति सगुनीनी' से आरम्भ होने वाले पद की भाषा के समकन्त कही जा सकती है । पौराणिक कथा-प्रसंगों की भाषा की तुलना में तत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें कहीं कहीं कम हुआ है, परन्तु वाक्य-विन्यास में उतनी शिथिलता नहीं है और न शब्दों की शिथिल आवृत्ति ही यहाँ की गयी है ।

भाषा का जो सामान्य रूप पौराणिक कथाओं में दिखायी देता है, प्रायः वही रूप 'सूरसारावली' के अधिकांश भाग में मिलता है । कारण यह है कि इस काव्य में भी कवि ने विषय का बहुत चलताऊ ढंग से वर्णन किया है जिसमें रुचि और लीनता न्यून है ।
 उदाहरणार्थ—

१. देवहुती कर्दम को दीनी तिन कीन्हो तप भारी ।
 बिंदु सरोवर आये माधव किये गरुड असवारी ।
 दियो वरदान सृष्टि करिवे को अस्तुति करो प्रमान ।
 मेरो अस अवतार होयगो कहि भये अतरध्यान^{१६} ।
२. चार वेद लै गयो सँखासुर जल में रह्यो छपाय ।
 धरि हय-ग्रीव रूप हरि मारेउ लीने वेद छुडाय^{१७} ।
३. हरिनकसिप अति प्रबल दनुज है कीन्हो तप परचड ।
 तब उन वर दीन्हो चतुरानन कीन्हो अमर अखड^{१८} ।

ये तो हुए पौराणिक प्रसंग जिनकी भाषा में तत्सम शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग भले ही किया गया हो, परन्तु वाक्य विन्यास बिल्कुल शिथिल है । यही भाषा 'सारावली' के उन छंदों में भी मिलती है जिनमें श्रीकृष्ण की ब्रज या परवर्ती जीवन की सीलाएँ वर्णित हैं, जैसे—

१. गगंराज मुनिराज महाकृष्ण सो बसुदेव पठायो ।
नामकरन ब्रजराज महरघर अति आनदित आयो^१ ।
नामकरन कीन्हों दोहुन को नारायन सम भाषे ।
तुम्हरे दुःख मिटावन कारन पूरन को अभिलाषे^२ ।
२. राधा सों मिलि अति सुख उपज्यो उन पूछी इक बात ।
कहो जु आज रैन कहँ सोये हम देखे तुम जात^३ ।
तब हरि कहेउ सुनौ मृगनैनी गाय गई इक दौर ।
ताको लेन गयो गोवर्धन सोय रहेउ^४ तेहि ठौर^५ ।
३. कछु हमको उपहार पठायो भाभी तुम्हरे साथ ।
फाटे बसन सकुच अति लागत काढत नाहिन हाथ^६ ।
हरि अपने कर छोरि बसन को तदुल लीन्हे हाथ ।
मुठ्ठी एक प्रथम जब लीन्हे खान लगे जडुनाथ^७ ।
४. पुनि मिथिला यक दिवस पधारे हरि बलदेव गोसाईं ।
गदा युद्ध दुर्योधन सिखयो नाना भेद बताई^८ ।
पुनि द्वारका पधारे निजपुर अति आनंद-सुख बाढ़यो ।
प्रगट ब्रह्म नित वसत द्वारका कलह भूमि को काढयो^९ ।

इन उदाहरणों की भाषा अपेक्षाकृत कम तत्समप्रधान है, परन्तु वाक्य-विन्यास की शिथिलता इनमें भी पूर्ववत् है और एक के बाद दूसरी ही पंक्ति में कुछ शब्दों की आवृत्ति भी स्थान-स्थान पर खटकती है ।

ग. इतिवृत्तात्मक कथा-वर्णन—श्रीकृष्ण की ब्रज-लीला के अनेक प्रसंगों का सुन्दर गेय पदों में वर्णन करने के पश्चात् कवि ने सामान्य छन्दों में उनको पुनः इतिवृत्तात्मक ढंग से लिखा है । यमलार्जुन-उद्धार, चीर-हरण, ब्रह्मा द्वारा बाल-वत्स हरण, कालिय-नाग-दमन, गोवर्धन-धारण, दान-लीला, श्रीकृष्ण-विवाह, रास-लीला, मान-लीला आदि लीलाओं को लेकर इनके विविध अंगों का वर्णन पहले तो कवि सुन्दर पदों में करता है; तदनंतर पद्यबद्ध स्फुट कथा के रूप में भी उनको लिखता है । इन वर्णनात्मक प्रसंगों की भाषा पौराणिक कथानकों की भाषा के निकट होने पर भी उससे सरल और परिष्कृत है; जैसे—

१. भक्त-वद्वल हरि अंतरजामी । सुत कुबेर के ये दोउ नामी ।
इहि अवतार कह्यो इन तारन । इनको दुखअव करों निवारन ।

१९ सारा. वें. ४३०१. । सारा. वें. ४३१ । २ सारा. वें. १११ । ३ सारा. वें. ११२ ।

४ सारा. वें. ८१४ । ५ सारा. वें. ८१५ । ६ सारा. वें. ८३७ । ७ सारा. वें. ८३८ ।

जो जिहि ढंग तिहि ढंग सब लाए । जमला-अर्जुन पै प्रभु आये ।
 वृच्छ जीव ऊखल लै अटक्या । आगे निकसि नैकुगहि झटक्यो ।
 अरअरात दोउ वृच्छ गिरे घर । अति आघात भयो ब्रज भीतर ।
 भए चकित सब ब्रज के वासी । इहि अतरदोउ कुँवर प्रकासी ।
 सख चक्र कर सारंगधारी । भगत हेत प्रगटे वनवारी ।
 देखि दरस मन हरप बढ़ायौ । तुमहि विना प्रभु कौन सहायौ ।

२ हरि लै बालक - वृच्छ ब्रह्म लोकहि पहुँचाए ।
 फिरि आए जो कान्ह, वहुँ कोऊ नहि पाए ।
 प्रभु तबहो जान्यो यहै, विधि लै गयो चोराइ ।
 जो जिहि रंग जिहि रूप को, बालक - वृच्छ बनाइ ।
 ताते कोन और ब्रह्म - हृद नाल उपायो ।
 अपनी कर तिहि जानि कियो ताको मन भायो ।
 उद्धारन मारन छमी, मन हरि कोन्हो ज्ञान ।
 अनजाने विधि यह करी, नए रचे भगवान ।

३ विषधर झटकी पूँछ फटकि सहसौ फन काडो ।
 देख्यो नैन उधारि, तँहाँ बालक इक ठाढो ।
 बार बार फन घात कै विष ज्वाला की झार ।
 सहसौ फन फनि फुकरै, नैकु न तिन्हें विकार ।
 तब काली मन कहत, पूँछ चाँपो इहि पग सौं ।
 अतिहि उठ्यो अकुलाइ, हर्यो हरिवाहन खग सौं ।
 यह बालक धौं कौन को, कोन्हो जुद्ध बनाइ ।
 दाउ - घात बहुत कियो, मरत नही जदुराइ ।

४ भूपन-वसन सब हरि ल्याए । कदम-डार जहँ-तहँ लटकाए ।
 ऐसो नीप वृच्छ विस्तारा । चीर-हार धौं कितक हजारा ।
 सब समाने तरुवर डारा । यह लीला करी नन्द कुमार ।
 हार-चीर मान्यो तरु फूल्यो । निरखि स्याम आपुन अनुकूल्यो ।

५ गोपनि कियो विचार, सकट सबहिन मिलि साजे ।
 बहु विधि लै पकवान, चले संग वाजत बाजे ।
 इक तो वन ही वन चले, एक जमुन-नट भीर ।
 एक न पैडों पावही, उमडे फिरत अहीर ।

इक घर तै उठि चले, एक घर कौं फिर जाही ।
गावत गुन गोपाल म्वाल उमँगे न समाही ।
गोपनि कौ सागर भयो, गिरि भयो मंदर चारु ।
रत्न भई सब गोपिका, कान्ह बिलोवनहार^{१२} ।

६. ब्रज जुवतिन धेरे ब्रजराज । मनहुँ निसाकर किरनि समाज ।
रास-रसिक गुन गाइहो ।
हरिमुख देखत भूले नैन । उर उमँगे कछु कहत न बैन ।
स्यामहिं गावत काम बस ।
हँसत हँसावत करि परिहास । मन मै कहत, करे अव रास ।
अंचल गहि चंचल चली ।
ल्यायी कोमल पुलिन मँझार । नख-सिख-भूषन अंग सँवार ।
पट-भूषन जुवतिनि सजे^{१३} ।

इन तथा ऐसे ही अन्य पदों में वर्ण्य विषय को स्वतंत्र पद्यबद्ध कथा का रूप दिया गया है । अपने परम आराध्य की ब्रज-लीला होने के कारण कवि ने इसमें पूर्ण रुचि ली है और अनेक कथाओं का तो बड़े उत्साह से वर्णन किया है । इसका प्रमाण यह है कि जहाँ पौराणिक प्रसंग, दो-एक—यथा श्री नृसिंह-अवतार^{१४}, राजा-पुरुखा का वैराग्य^{१५} आदि—को छोड़कर शेष प्रायः सभी बहुत संक्षेप में वर्णित हैं, वहाँ ब्रजलीला-संबंधी इतिवृत्तात्मक कथानक बड़े विस्तार से, कोई-कोई तो सात-सात आठ-आठ पृष्ठों तक में, लिखे गये हैं । दूसरी बात यह है कि लंबे पौराणिक प्रसंगों का वर्णन उन्होंने प्रायः 'राग बिलावल' ही में किया है, परंतु ब्रज-लीलाएँ इसके अतिरिक्त, गौरी, जैतश्री, धनाश्री, बिहागरी, मारु, राज्ञी हठीली, सूही आदि अनेक रागों में लिखी गयी है । स्थान स्थान पर सागोपांग चित्रों, मनोहर रूप के हृदयाकर्षक वर्णनों और पात्रों की मानसिक दशाओं के अनुरूप भाषा-प्रयोगों के कारण श्रीकृष्ण की इन लीलाओं के वर्णनात्मक पद बहुत रोचक हो गये हैं । विभिन्न गेय पदों के बीच-बीच में ये सरल कथानक रसमग्न पाठक को प्रकृतिस्थ करके आगे के सुन्दर प्रसंगों का आस्वादन करने को पुनः प्रोत्साहित करते हैं । सरल अलंकारों का प्रयोग भी इन पदों में विषय की स्पष्टता के लिए किया गया है और कथोपकथन का निखरा हुआ रूप भी इनमें कहीं-कहीं दिखायी देता है । सारांश यह है कि इतिवृत्तात्मक होते हुए भी ये पद कई दृष्टियों से महत्व के हैं और इनका सरल भाषा-रूप इनकी रोचकता-वृद्धि में सहायक होता है । सामान्य ब्रजभाषा का मुहावरो से युक्त प्रयोग इनकी भाषा की अन्य विशेषता है ।

घ. बाल-लीला-वर्णन—इन वर्ग में श्रीकृष्ण का जन्म, उनकी बाल लीलाएँ, उन्हें देखकर पुरजन-परिजन का आनंद-विनोद, बालक के संबंध में माता-पिता की वात्सल्यभरी

कल्पनाएँ और अभिलाषाएँ आदि विषय आते हैं। 'सूरसागर' के दशम स्कंध के आरम्भ में इन विषयों की चर्चा है। इन सभी का वर्णन सूरदास ने सामान्यतः मिश्रित भाषा में किया है; जैसे—

१ उठी सखी सब मगल गाइ ।

जागु जसोदा, तेरे बालक उपज्यौ कुँवर कन्हाइ ।
जो तूरच्यौ-सच्यौ या दिन कौं, सो सब देहि मँगाइ ।
देहि दान वदीजन गुनिगन, ब्रज-वासिनि पहिराइ ।
तब हँसि कहति जसोदा ऐसै, महरहि लेहु बुलाइ ।
प्रगट भयौ पूरव तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ ।
आए नद हँसत तिहि आँसर, आनंद उर न समाइ ।
सूरदास ब्रजवासी हरषे, गनत न राजा-राइ ^{१६} ।

२ नान्हरिया गोपाल लाल तू बेगि बड़ी बिन होइ ।
इहि मुख मधुर वचन हँसिकै धौं, जननि कहै सब मोहि ।
यह लालसा अधिक मेरे जिय जौ जगदीस कराहि ।
मो देखत कान्हर इहि आँगन, पग द्वै धरनि धराहि ।
खेलहि हलधर-सग रग-रुचि, नैन निरखि सुख पाजै ।
छिन-छिन छुधित जानि पय कारन, हँसि-हँसि निवट बुलाजै ।
जाकौ सिव विरचि-सनकादिक मुनिजन ध्यान न पाव ।
सूरदास जसुमति ता सुत-हित मन अभिलाष बडाव ^{१७} ।

३. कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की ।
विधि विहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सुजर की ।
रोचन भरि लै देत सीक सौं, स्रवनि निवट अतिही चातुर की ।
कचन के द्वै दुर भँगाइ लिए, कहीं कहा छेदनि आनुर की ।
लोचन भरि भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी ।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियो तुरत नौआ कौ घुरकी ।
हँसत नंद, गोपी सब विहँसी, समकि चली सब भीतर दुरकी ।
सूरदास नंद करत बघाई, अति आनन्द बाल ब्रजपुर की ^{१८} ।

४. आजु सखी मनि खभ निवट हरि, जहँ गोरम कौ गो री ।
निज प्रतिबिंब सिखावत ज्यों सिनु, प्रगट करै जनि चोरी ।

अरध विभाग आजु तैं हम तुम, भली बनी है जोरी ।
 माखन खाहु कतहि डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी ।
 बाँट न लेहु, सब चाहत हौ, यहै बात है थोरी ।
 मीठौ अधिक, परम रुचि लागै, ती भरि देउ कमोरी ।
 प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ, तब प्रगट हँसी मुख मोरी ।
 सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी^{१९} ।

५. चले सब गाइ चरावन ग्वाल ।

हेरी टेर सुनत लरिकनि के, दौरि गए नँदलाल ।
 फिरि इत उत जसुमति जो देखै, दृष्टि न परै कन्हलाई ।
 जान्यौ जात ग्वाल सँग दौरचौ, टेरति जसुमति धाई ।
 जात चल्थौ गैयनि के पाछे, बलदाऊ कहि टेरत ।
 पाछे आवति जननी देखी, फिरि फिरि इत कौं हेरत ।
 बल देख्यौ मोहन कौं आवत, सखा किये सब ठाढ़े ।
 पहुँची आइ जसोदा रिस भरि, दोउ भुज पकरे गाढ़े ।
 हलधर कह्यौ, जान दै मो सँग, आवहि आज सवारे ।
 सूरदास बलसौ कहै जसुमति, देखे रहियौ प्यारे^{२०} ।

श्रीकृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंगों से उद्धृत इन सभी उदाहरणों की भाषा का लगभग एक ही रूप है जिसमें बाल-लीला से संबंधित प्रायः सभी पद रचे गये हैं । जिन तत्सम शब्दों का प्रयोग ऐसे पदों में किया गया है, वे सभी छोटे छोटे और सरलोच्चरित हैं । यदि तत्संबंधी किसी दृश्य या लीला का वर्णन सूरदास ने इससे कुछ भिन्न भाषा में किया है तो उसमें तत्सम शब्दों की संख्या कुछ अधिक हो गयी है; परंतु इतनी नहीं कि उसको साहित्यिक रूप के अंतर्गत माना जा सके । इसी प्रकार जहाँ लालसाओं अथवा मनोभावों का वर्णन है, वहाँ उनकी संख्या कभी कभी कम भी हो गयी है । विनय-पदों के प्रथमवर्गीय पदों की भाषा से यह मिश्रित रूप मिलता-जुलता है ।

६. रूप-वर्णन—सूरदास ने अपने आराध्य का रूप-चित्रण करते हुए भी अनेक पद लिखे हैं । इनको पढ़कर कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि दिव्य चक्षु-संपन्न यह कवि जैसे चित्रकार बन गया है और श्रीकृष्ण की प्रत्येक अवस्था की प्रत्येक मुद्रा के विभिन्न अवसरो, स्थानों और वातावरणों में अनेकानेक चित्र अंकित करते नहीं बघाता । विषय की अतिशय प्रियता के कारण ऐसे पदों की भाषा बालकारिक-सी हो गयी है जो मिश्रित और साहित्यिक रूपों से सर्वथा भिन्न है; जैसे—

१. ललन हौं या छवि ऊपर वारी ।

बाल गोपाल लगौ इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हारी ।

लट लटकनि, मोहन मसि विदुका, तिलक भाल सुखकारी ।
 मनौ कमल-दल सावक पेखत, उडत मधुप छवि न्यारी ।
 लोचन ललित, कपोलनि काजर, छवि उपजति अधिकारी ।
 सुख मे सुख औरे रुचि वाढति, हँसत देत किलकारी ।
 अलप दसन, कलवल करि वालनि, बुधि नहि परत विचारी ।
 विकसित ज्याति अधर विच, मानौ विधु मैं विज्जु ज्यारी ।
 सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी ।
 सूर सिंधु को बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी^{२१} ।

२. हरि के बाल-चरित अनूप ।

निरखि रही ब्रजनारि इकटक अग अग प्रति रूप ।
 विधुरि अलकै रही मुख पर विनहि वपन सुभाइ ।
 देखि कजनि चद के वस मधुप करत सहाइ ।
 सजल लोचन चारु नासा परम रुचिर वनाइ ।
 जुगल खजन करत अविनति, वीन वियो वनराइ ।
 अरुन अधरनि दसन झाई कहीं उपमा थोरि ।
 नील पुट विच मनौ मोती धरे वदन बोरि ।
 सुभग बालमुकुद की छवि वरनि कापै जाइ ।
 भृकुटि पर मसि विदु सोहै सकै मूर न गाइ^{२२} ।

३. सोभा कहत कही नहि आवै ।

अँचवत अति आतुर लोचन पुट, मन न तृप्ति कौ पावै ।
 सजल मेघ घनस्याम सुभग वपु, तडित असन वनमाल ।
 सिखि सिखड, वनधानु विराजत, सुमन सुगंध प्रवाल ।
 कछुक् कुटिल कमनीय सघन अति, गोरज मडित बेस ।
 सोभित मनु अबुज पराग रुचि रजित मधुप सुदेस ।
 कुडल विरनि कपोल लोल छत्रि, नैन कमलन्दल मीन ।
 प्रति प्रति अग जनग कोटि छवि, मुनि सखि परम प्रवीन ।
 अधर मधुर मुमुक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन ।
 मूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तही लवलीन^{२३} ।

४. देखौ माई सुन्दरता का सागर ।

बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर ।

तनु अति स्याम अगाध अबु निधि, कटि पट पीत तरंग ।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति, भँवर परति सब अंग ।
नैन मीन, मकराकृत कुडल, भुज सरि सुभग भुजग ।
मुक्ता भाल मिली मानौ द्वै सुरसरि एकै सग ।
कनक खचित मनिमय आभूषन, मुख, स्रम-कन सुख देत ।
जनु जलनिधि मधि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत ।
देखि सरूप सकल गोपी जन, रही बिचारि बिचारि ।
तदपि सूरतरि सकी न सोभा, रही प्रेम पवि हारि^{२४} ।

५. देखि सखी मोहन मन चोरत ।

नैन कटाच्छ विलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि विबि मोरत ।
चदन खीरि ललाट स्याम कै, निरखत अति सुखदाई ।
मनौ एक सँग गग जमुन नभ, तिरछी धार बहाई ।
मलयज भाल भृकुटि रेखा की, कवि उपमा इक पाई ।
मानहुँ अर्द्धचंद्र तट अहिनी, सुधा चुरावन आई ।
भृकुटि चारु निरखि ब्रज सुन्दरि, यह मन करति बिचार ।
सूरदास प्रभु सोभा सागर, कोउ न पावत पार^{२५} ।

इन पदों में श्रीकृष्ण की विभिन्न अवस्थाओं के वे सुन्दर चित्र हैं जो कवि के मानस-पटल पर अंकित थे और जिनका दर्शन स्वयं वह दिव्य चक्षुओं से सतत किया करता था । साथ ही वह इतना उदार है कि अपने आराध्य के अलौकिक रूप की प्रत्येक शक्ति अपने पाठक के लिए भी अंकित कर देता है जिससे लौकिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने नेत्रों को सार्थकता सिद्ध कर सके । उक्त पदों में श्रीकृष्ण के ऐसे ही पूर्ण चित्र हैं । इनके अतिरिक्त उनके एक एक अंग को लेकर भी सूरदास ने अनेक पद इसी प्रकार की भाषा में लिखे हैं; जैसे—

देखि सखी अधरन की लाली ।

मनि मरकत तै सुभग कलेवर, ऐसे है वनमाली ।
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास ।
ज्यों दामिनि विच दमकि रहत है फहरत पीत सुवास ।
कीधौ तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिब सुपाके ।
नासा कीर आइ मनु वैद्यौ, लेत वनत नहि ताके ।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ ।
मनौ नीलमनि पुट मुकुता-गन, बंदन भरि बगराइ ।

किधौ वज्रकन, लाल नगनि खचि, तापर विद्रुम पांति ।
 किधौ सुभग वधूक कुसुम तर, झलकत जलकन कांति ।
 किधौ अरुन अबुज विच वैठी सुदरताई जाइ ।
 सूर अरुन अधरनि की सोभा बरनत बरनि न जाइ^{२६} ।

पूर्ण और एकांगी रूप-चित्रण विषयक जो पद ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनकी भाषा विनय-पदों की द्वितीय वर्गीय भाषा से भी अधिक तत्समता-प्रधान है जिसका मुख्य कारण है शैली की आलंकारिता । कवि अपने आराध्य के रूप वर्णन के लिए जिस प्रकार उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का बड़ी सावधानी से चयन करता है, उसी प्रकार इन पदों की शब्दावली भी ऐसी रखना चाहता है जिसका प्रयोग अन्य विषयों के वर्णन के लिए न किया गया हो । और यह निस्कोच कहा जा सकता है कि सूरदास को इस प्रयत्न में पूरी सफलता मिली है । यदि किसी अन्य विषय के लिए कवि ने इस भाषा का प्रयोग किया है, तो वह है केवल राधा का रूप-वर्णन । परन्तु सूर-काव्य में राधा के किशोरी रूप के चित्र हैं, बाल-रूप के नहीं, जैसे—

१. कवहुँक केलि करति सुकुमारी ।

अति सूक्ष्म कटि तट आडे जिमि, विसद नितव पयोधर भारी ।
 अचल चचल, फटी कचुकी, विलुलित बर कुच सटी उधारी ।
 मनु नव जलदवध कीनौ विधु, निकसी नभ कसली अनियारी ।
 तिलक तरल, ताटक निकट तट, उभय परस्पर सोम सिंगारी ।
 जलरूह हस मिले मनु नाचत, ब्रज कीतुक वृष-भानु दुलारी ।
 मुक्तावलि को हार लोल गति, तापर लटपटाति लट कारी ।
 तामे सो लर मनौ तरगिनि, निसिनायक तम मोचनहारी ।
 अरु ककन किंकिन नूपुर छवि, निसा पान सम दुति रतनारी ।
 श्री गोपाल लाल उर लाई, बलि बलि सूर मिथुन-कृत भारी^{२७} ।

२. मोहिनी मोहन की प्यारी ।

रूप उदधि मयि कै विधि, हठि पचि रची जुवति यह न्यारी ।
 चपक कनक कलेवर की दुति, ससि न बदन समता री ।
 खजरीट मृग मीन को गुहता, नैननि सबै निवारी ।
 भूकुटी कुटिल सुदेस सोभित अति, मनहुँ मदन धनु धारी ।
 भाल विसाल, कपोल अधिक छवि, नासा द्विज मदगारी ।
 अधर विव वधूक निरादर, दसन बुद अनुहारी ।
 परम रसाल स्याम सुखदायक वचननि सुनि, पिक हारी ।

कवरी अहि जनु हेम खंभ लगी, ग्रीव कपोत विसारी ।
 बाहु मृनाल जु उरज कुभ-गज निम्न नाभि सुभ गारी ।
 मृग-नृप खीन सुभग कटि राजति जघे जुगल रंभा री ।
 अरुन रुचिर जु विडाल-रसन सम चरन-तली ललिता री ।
 जहँ तहँ दृष्टि परति तहँ अरुझति, भरि नहि जाति निहारी ।
 सूरदास-प्रभु रस बस कीन्हे, अग अग सुखकारी^{३८} ।

३. आजु अति राधा नारि बनी ।

प्रति प्रति अंग अनंग जीति, रस-वस त्रैलोक्य धनी ।
 सोभित केस विचित्र भाँति दुति सिपि सिपंड हरनी ।
 रची माँग सम भाग राग-निधि, काम धाम सरनी ।
 अलक तिलक राजत अकलंकित, मृग-मद अंक बनी ।
 खुभिनि जराव फूल दुति यौ, मनु द्वै ध्रुव-गति रजनी ।
 भौह कमान समान बान मनु, हैं जुग नैन अनी ।
 नासा तिल प्रसून, विवाधर, अमल कमल बदनी ।
 चिबुक मध्य मेचक रुचि राजत, बिंदु कुद रदनी ।
 कंबु कठ बिधि लोक बिलोकत, सुदरि एक गनी ।
 बाहु मृनाल, लाल कर पल्लव, मद गज-गति गवती ।
 पति मन मनि कंचन संपुट कुच, रोम राजि तटनी ।
 नाभि भँवर, त्रिवली तरंग गति, पुलिन तुलिन ठटनी ।
 कुस कटि, पृथु नितंब, किकिनि जुत, कदलि खंभ जघनी ।
 रचि आभरन सिंगार, अंग सजि, ज्यौ रति पति सजनी ।
 जीते सूर स्याम गुन कारन, मुख न मुरघौ लजनी^{३९} ।

ये तो हुए व्यक्तिगत रूप-चित्रण की भाषा के उदाहरण । इनके अतिरिक्त 'सूरसागर' में रासलीला-जैसे अवसरों पर सामूहिक रूप से अनेक ब्रज-बालाओं का अपवा उनके साथ बिराजते रसिकवर श्रीकृष्ण का भी रूप-वर्णन लगभग ऐसी ही आलंकारिक भाषा में किया गया है, जैसे—

१. बनी ब्रज नारि सोभा भारि ।

पगनि जेहरि, लाल लहंगा, अंग पँचरंग सारि ।
 किकिनी कटि, कनित कंकन, कर चुरी झनकार ।
 हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिनि हार ।

कंठश्री दुलरो विराजति, चिबुक स्यामल बिंद ।
 सुभग वेसरि ललित नासा, रौक्षि रहे नैद-नद ।
 सवन वर ताटक की छवि, गौर ललित कपोल ।
 सूर प्रभु वस अति भए हैं निरखि लोचन लोल^{३०} ।

२. देखौ माई रूप सरोवर साज्यो ।

व्रज-वनिता वर वारि वृंद मैं, श्री व्रजराज विराज्यो ।
 लोचन जलज, मधुप अलकावलि, कुंडल मीन सलोल ।
 कुच चकवाक बिलोकि बदन-विधु, बिछुरि रहे अनबोल ।
 मुक्ता-माल बाल वग-पगति, करत कुलाहल कूल ।
 सारस हंस मोर सुक सेनी, बैजयति सम तूल ।
 पुरइनि कपित्त निचोल, विविध अंग, बहु रति-रचि उपजावै ।
 सूर स्याम आनदकंद की सोभा कहत न आवै^{३१} ।

आराध्य-प्रिया के नाथ प्रेममयी गोपिकाओं के प्रति कवि की पूर्ण श्रद्धा रहने के कारण ये पद भी प्रायः उसी आलंकारिक भाषा में लिखे गये हैं जिसका दर्शन श्रीकृष्ण के रूप चित्रण वाले पदों में मिलता है । उत्तमता प्रधानता और आलंकारिता की दृष्टि से सूरदास की व्रजभाषा का यह रूप नवोत्कृष्ट है ।

च. संयोग शृंगार वर्णन—दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध का दूसरा महत्वपूर्ण विषय है संयोग शृंगार वर्णन । सगुण ब्रह्म के समीप रहकर नाना केलि-श्रीढाओं में भाग लेना ऐसे परम सौभाग्य की बात है जिसके लिए देवता और उनकी पत्नियाँ भदैव सन्नायित रही हैं और वंसा सौभाग्य न मिलने पर अपना अभाग्य समझतीं और व्रजवासियों का भाग्य सराहती हैं^{३२} । सूरदास-जैसे भक्त कवियों की सारी नायना इन्हीं अपूर्वानंद

३०. सा. १०४३ । ३१. सा. १०४९ ।

३२. अ. सुरगन चड़ि बिमान नन देखत ।

तलना सहित सुमनगन वरपत धन्य जन्म बज्र लेखत—‘सागर’, १०४४ ।

आ हमको विधि ब्रज-बधू न कोन्हो, कहा अमरपुर बात नएँ ।

बार-बार पछिनाति यहै कहि सुख होती हरि सग रहै—‘सागर’, १०४६ ।

इ. सूर अमर तलनागन अबर, विषरी लोक बिमारी—‘सागर’, १०४७ ।

ई. मुरली धुनि बंकुठ गई ।

नारायन कमला मुनि दम्पति, अति रचि हृदय नई ।

..

धनि बन धाम, धन्य बज्र धरनी, उड़ि लागै जो धूरि ।

यह सुख तिहो भुवन में नाहो, जो हरि सग पल एक ।

सूर निरखि नारायन इकटक, नूते नैन निमेष—‘सागर’, १०६४ ।

की प्राप्ति के लिए है। अतएव उन्होंने संयोग शृङ्गार का वर्णन सदैव आनन्द में विभोर रहकर ही किया है। भाषा के मुख्यतः दो रूप इस वर्णन में दिखायी देते हैं—एक, परिष्कृत मिश्रित और दूसरा, साहित्यिक। इनमें से प्रथम का प्रयोग सामान्य संयोग वर्णन के लिए किया गया है; जैसे—

१. गावत स्याम स्यामा रंग ।

सुधर गति नागरि अलापति, सुर भरति पिय संग ।
तान गावति कोकिला मनु, नाद अलि मिलि देत ।
मोर सग चकोर डोलत, आपु अपने हेत ।
भामिनी अँग जोन्हु मानी, जलद स्यामल गात ।
परस्पर दोउ करत क्रीड़ा, मनहि मनहि सिहात ।
कुचनि विच कच परम सोभा, निरखि हँसत गुपाल ।
सूर कंचन-गिरि विचनि मनु, रह्यौ है अँधकाल^{३३} ।

२. मोहन मोहिनी रस भरे ।

भौह मोरनि, नैन फेरनि, तहाँ तै नहि टरे ।
अँग निरखि अनग लज्जित, सकुँ नहि ठहराइ ।
एक की कह चलै, सत सत कोटि रहत लजाइ ।
इते पर हस्तकनि गति छबि, नृत्य भेद अपार ।
उड़त अचल, प्रगटि कुच दोउ, कनकघट रससार ।
दरकि कचुकि, तरकि भाला रही धरनी जाइ ।
सूर प्रभु करी निरखि करुना तुरत लरि उचाइ^{३४} ।

इन पदों की भाषा सामान्य रूप से तो मिश्रित ही है; परन्तु विनय-पदों की मिश्रित भाषा से इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक हुआ है, यद्यपि है वे बहुत सरल ही। रुचिकर विषय के कारण अनुभवी पाठक के लिए इसमें सामान्य मिश्रित रूप से कुछ अधिक सरसता भी है; इसी कारण इसको 'परिष्कृत मिश्रित रूप' कहा गया है। साहित्यिकता की दृष्टि से भाषा का वह रूप इससे भी सुन्दर समझा जायगा जो निम्नलिखित पदों में मिलता है—

१. राजत दोउ निकुज खरे ।

स्यामा नव किसोर, पिय नव रंग, अति अनुराग भरे ।
अति सुकुमारि सुभग चपक तनु, भूषन भृग अरे ।

उ. आजु हरि ऐसी रास रचायो ।

सिव नारद सारदा कहत यों, हम इतने दिन बादि पच्छी — 'सागर', ११३९ ।

ऊ. गन गंधर्व देखि सिहात ।

धन्य ब्रज ललनानि कर तँ, वसु मखन खात — 'सागर', १६०३ ।

मरकत कमल सरीर सुभगहरि, रति पिय बेप करे ।
 चचित्त चारु कमल दल मानौ, पिय के दसन सनात ।
 मुख मयक मधु पियत करनि वसि, ललना तउ न अघात ।
 लाजति बदन दुराइ मधुर, मृदु, मुसुकनि मन हरि लेत ।
 छटौ अलक भुवगिनि कुच तट, पैठी त्रिवलि निवेत ।
 रिस रुचि रग बरह के मुख लौं, आने सोम समेत ।
 प्रेम पियूष पूरि पोछन पिय, इत उत जान न देत ।
 बदन उधारि निहारि निवट करि, पिय के आनि घरे ।
 बिष सका नख रहत मुदित मन मनसिज ताप हरे ।
 जुगल किसोर चरन रज बंदौ, सूरज सरन समाहि ।
 गावत सुनत तवन सुखकारी, विस्वन्दरित टुरि जाहि^{३५} ।

२ जमुना-मुलिन रच्यौ हिंडोर ।

घोष-ललना सग तरुनी, तरुन नद-किसोर ।
 एक सँग लै मचति मोहन, एक देति झुलाइ ।
 एक निरखत अग माधुरि, इक उठति बछु गाइ ।
 स्याम सुंदर गोपिकागन, रही घेरि बनाइ ।
 मनु जलद कौ दामिनीगन, चहत लेन लुकाइ ।
 नारि सँग बनवारी गावत, कोकिला छवि घोर ।
 डुलत झूलत भुकुट तिर पर, मनौ नृत्यत मोर ।
 सुभग मुख दुहुँ पास कुडल, निरखि जुवती भोर ।
 चक्रवाक चकोर लोचन, करि रही हरि भोर ।
 थकित सुर ललना सहित नभ, निरखि स्याम बिहार ।
 हरषि सुमन अपार वरपत, मुखहि जै-जै कार ।
 करत मन-मन यहै बाछा, भए न बन द्रुम-डार ।
 देह धरि प्रभु सूर विलसत ब्रह्म पूरन सार^{३६} ।

३ झूलत नदनदन डोल ।

वनक खभ जराइ पटुली, लगे रतन जमोल ।
 सुभग सरल सुदेत डांडी, रचौ विधना गोल ।
 मनौ सुरपति सुर-सभा तै, पठै दियो हिंडोल ।
 जबहि सपति तबहि वपति, बिहंसि लगति उरोल ।

त्रिदसपति सजि चढि विमाननि, निरखि दै दै ओल ।
 थके मुख कछु कहि न आवै, सकल मप कृत शोल ।
 सखी नवसत साज कीन्है, वदति मधुरे बोल ।
 थक्यो रति-पति देखि यह छवि, भयी बहु भ्रम भोल ।
 सूर यह सुख गोप गोपी, पियत अमृत कलोल^{३७} ।

इन पदों में तत्सम शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग होने से यह भाषा-रूप विनय संबंधी द्वितीय वर्गीय पदों की भाषा के समकक्ष हो जाता है, यद्यपि विषयानुसार सरसता इसमें अधिक है । स्थान-स्थान पर शृंगार के ऐसे पदों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग सयोग लीला का स्पष्ट चित्र पाठक के सामने अंकित कर देता है । आलंकारिक भाषा वाले पदों की, प्रत्येक चरण में सप्रयास अलंकार योजना की अपेक्षा इन पदों में उनका प्रयोग अधिक संयत है ।

छ. मुरली के प्रति उपालंभ—सयोग शृंगार के अंतर्गत ही सूरदास के वे पद भी आते हैं जिनमें मुरली के प्रति गोपियों के उपालंभ हैं । दशम स्कंध में संगृहीत ये पद सूर-काव्य का बहुत महत्वपूर्ण अंश हैं जिनसे कवि की काव्य-कला और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय मिलता है । इन पदों में से कुछ मिश्रित भाषा में लिखे गये हैं और कुछ साहित्यिक में; जैसे—

१. अधर-रस मुरली लूटन लागी ।

जा रस कौ पट रिनु तप कीन्हौ, सो रस पियति सभागी ।
 कहाँ रही, कहँ तै इहँ आई, कोनै याहि बुलाई ।
 चकित भई कहति ब्रज-वासिनि, यह तो भली न आई ।
 सावधान क्यों होति नही तुम, उपजी बुरी बलाई ।
 सूरदास प्रभु हम पर ताकौ, कीन्हौ सौति बजाइ^{३८} ।

२. मुरली कै बस स्याम भए री ।

अधरनि तै नहि करत निनारी, वाकै रंग रए री ।
 रहत सदा तन-सुधि विसराए, कहा करन धौँ चाहति ।
 देखी, सुनी न भई आजु लौं, बाँस बँसुरिया दाहति ।
 स्यामहि निदरि, निदरि हमहूँ कौ, अवही तै यह रूप ।
 सुनहु सूर हरि कौ मुंह पाएँ, बोलति वचन अनूप^{३९} ।

३. सुनहु री मुरली की उत्पत्ति ।

वन में रहति, बाँस कुल याकौ, यह तो याकी जति ।
 जलधर पिता, धरनि है माता, अवगुन कहौ उधारि ।

बनहूँ तैं याकौँ घर न्यारै, निपटाहि जहाँ उजारि ।
 इक तैं एक गुननि हैं पूरे, मातु पिता अरु आपु ।
 नहि जानियै कौन फल प्रगट्यौ, अतिही कृपा प्रताप ।
 बिसवासिन पर-काज न जानै, याके कुल को धर्म ।
 सुनहु सूर मेघनि की करनी अरु धरनी के कर्म ४० ।

१ रिझै लेहु तुमहुँ किन स्यामहि ।

काहे को बकवाद बटावति, सतर होति बिनु कामहि ।
 मैं अपने तप को फल भोगवति, तुमहुँ करि फल लीजौ ।
 तब घाँ वीच बोलिहै कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ ।
 अपनी भाग नही काहूसौ, आपु आपनै पास ।
 जो कछु कही सूर के प्रभु कौँ, सो पर होति उदास ४१ ।

इनमें से प्रथम तीन पदों में गोपियों के वचन हैं और अंतिम में उनके प्रति मुरली का उत्तर है । भाषा चारों पदों की मिश्रित है । मुरली-सबधी अधिकार पद इसी भाषा में लिखे गये हैं । विनय पदों की सामान्य मिश्रित भाषा से इन पदों की भाषा कभी कभी कुछ अधिक तत्समता प्रधान हो जाती है और मुहावरा का प्रयोग भी इसमें उससे अधिक हुआ है । इसके कई कारण हैं । मुरली के प्रति गोपियों के उपालम्भों की नयी सूच में कवि की चमत्कारप्रियता की देन अधिक है, भावावेद की कम । अतः भाषा के सस्वार-परिष्कार की भी उसे कभी-कभी आवश्यकता पड़ जाती है जिससे तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो ही जाता है । और मुहावरों की अधिकता का कारण है इन पदों में गोपियों की उक्तिों की प्रधानता होना । नारियों की ईर्ष्या और व्यग्न प्रधान भाषा में मुहावरों की स्वतः अधिकता हो जाना स्वाभाविक ही समझा जायगा । इस भाषा से कुछ अधिक तत्समता-प्रधान रूप भी मुरली-सबधी कुछ पदों में मिलता है, जैसे—

१ स्याम-मुख मुरली अनुपम राजत ।

सुभग श्रीखंड पीड सिर सोहत, सवननि कूडल आजत ।
 नील जलद पर सुभग चाप सुर मद मद रव बाजत ।
 पीतांबर कटि तडित भाव जनु नारि, विवस मन लाजत ।
 ठाढ़े तरु तमाल तर सुंदर, नदनंदन वन माली ।
 सूर निरखि ब्रजनारि चकित भई, लगी मदन की भाली ४२ ।

२ जो पै मुरली की हित भानौ ।

तौ तुम बार बार ऐसे कहि, मन में दोष न आनौ ।
 वासर याम बिरह अति आसित, हूजत मृतक समान ।

लेति जिवाइ सुभंत्र सुरस कहि, करति न डर अपमान ।
निज सकेत लेखावति अजहूँ, मिलवति सारंगपानि ।
सरद निसा रस रास करायौ, बोलि बोलि मृदु बानि ।
परकृत सील सुकृत उपमा रमी तासौ यौ कत कहियै ।
पर कौ सूरजदास मेटि कृत, न्याइ इतौ दुख सहियै ४३ ।

भाषा का जो साहित्यिक रूप इन पदों में मिलता है वह विनय के द्वितीय वर्गीय पदों से कुछ कम तत्सम शब्दों से युक्त है । वस्तुतः इसे मिश्रित और साहित्यिक भाषा का मध्यवर्ती रूप कहना चाहिए । इन पदों में ग्राम-वासिनी ब्रजवालाओं की उक्तिर्या है जिनकी भाषा संस्कृत और परिष्कृत होने पर अपनी स्वाभाविकता खो बैठती है । अतएव विषय-लौकता की स्थिति में कवि की प्रतिभा पाठक को चमत्कृत करनेवाला कोई नया सूत्र जब पा जाती है तब भाषा के मिश्रित रूप में तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग स्वतः हो जाता है । ऐसी भाषावाले पद मुरली-प्रसंग में पूर्वोद्धृत पदों की अपेक्षा कम है । कभी-कभी अलंकारों की योजना ने भी भाषा को कुछ-कुछ साहित्यिक रूप प्रदान किया है ।

ज. नेत्रों के प्रति उपालंभ — संयोग शृंगार के अंतर्गत अतिम महत्वपूर्ण प्रसंग है गोपियों के अपने नेत्रों के प्रति उपालंभ जो श्रीकृष्ण के दिव्य रूप पर अत्यंत मुग्ध होकर उन्हीं में रम गये हैं । भावों की सुकुमारता और उक्तियों की मार्मिकता की दृष्टि से 'सूरसागर' का यह अंश बहुत सुन्दर है । मुरली-संबंधी पदों के समान ही नेत्रोपालंभ विषयक पद भी मिश्रित और साहित्यिक, दोनों भाषा-रूपों में लिखे गये हैं । इनमें प्रधानता प्रथम प्रकार के रूपों की ही है; जैसे—

१. नैना भए बजाइ गुलाम ।

मन वेंच्यौ लै वस्तु हमारी, सुनहु सखी ये काम ।
प्रथम भेद करि आयौ आपुन, माँगि पठायौ स्याम ।
बेचि दिये निधरक हरि लीन्है, मृदु मुसुकनि दै दाम ।
यह बानी जहँ तहँ परकासी, मोल लए कौ नाम ।
सुनहु सूर यह दोष कौन कौ, यह तुम कहौ न वाम ४४ ।

२. नैना अतिहि लोभ भरे ।

सगहि संग रहत वै जहँ तहँ, बैठत चलत खरे ।
काहू को परतीति न मानत, जानत सबहिनि चोर ।
लूटत रूप अखूट दाम कौ, स्याम बस्य यौ भोर ।
बड़े भागमानी यह जानी, कृपिन न इनत और ।
ऐसी निधि मैं नाउ न कीन्हौ, कहँ लैहँ, कहँ ठौर ।

आपुन लेहि औरहूँ देते, जस लेते ससार ।
सूरदास प्रभु इनहि पत्याने, को कहै वारवार ४० ।

३ नैना हैं री ये बटपारी ।

कपट नेह करि करि इन हमसौ, गुरुजन तैं करी न्यारी ।
स्याम दरस लाडू कर दीन्हो, प्रेम ठगौरी लाइ ।
मुख परसाइ हँसनि माधुरता, डोलत सग लगाइ ।
मन इनसौ मिलि भेद बतायो, विरह-फाँस गर डारी ।
कुल-लज्जा-सपदा हमारी, लूटि लई इन सारी ।
मोह-विपिन मैं परी कराहति नेह-जीव नहि जात ।
सूरदास गुन सुमिरि सुमिरि वै अतरगत पछितात ४१ ।

४ कपटो नैननि तैं कोउ नाही ।

घर कौ भेद और के आगें, क्यों कहिबैं कौ जाही ।
आपु गए निधरक ह्वै हमतैं, वरजि वरजि पचि हारी ।
मनकामना भई परिपूरन, ढरि रीझे गिरिधारी ।
इनहि विना वै, उनहि विना ये, अतर नाही पावत ।
सूरदास यह जुग की महिमा कुटिल तुरत फल भावत ४२ ।

इन पदों की मिश्रित भाषा में तदभव और अद्वैततत्त्वम शब्दों की प्रधानता देखी जा सकती है । यह भाषा सरलहृदया गोपियों की मार्मिक उक्तियों के सर्वथा अनुकूल है । कारण यह है कि इनमें कल्पना और आलंकारिक योजना का उतना चमत्कार नहीं है जितना उक्तियों की मार्मिकता का प्रभाव है । इसके विपरीत, जिन पदों में कवि की कल्पना ने कुछ चमत्कार दिखाया है अथवा अलंकारों की जिनमें योजना है, उनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक हो गयी है, जैसे —

१ लोचन भए पखेरू माई ।

लुब्धे स्याम-रूप-चारा कौं, अलक-फद परे जाई ।
मोर-मुकुट टाटी मानौ, यह बैठनि ललित त्रिभग ।
चितवनि लकुट, लास लटकनि पिय, काँपा अलक तरंग ।
दौरि गहनि मुख मृदु मुसुकावनि, लोभ-पीजरा डारे ।
सूरदास मन-व्याध हमारी, गृह-वन तैं जु विसारे ४३ ।

२ मेरे इन नैननि हते करे ।

मोहन-वदन चकोर-चद ज्यों, इकटक तैं न टरै ।

प्रमुदित मनि अवलोकि उरग ज्यौ, अति आनंद भरे ।
निधिहि पाइ इतराई नीच ज्यौ, त्यौ हमकों निदरे ।
जौ अटके गोचर घूंघट पट, सिसु ज्यौ अरनि अरे ।
धरे न धीर निमेष रुदन जल, सौं हठ करनि परे ।
रहीं ताड़ि, खिझि लाज-लकुट लै, एकहु डर न डरे ।
सूरदास गथ खोटी, काहे पारखि दोष धरे ४९ ।

३. मेरे नैना अटक परे ।

सुन्दर स्याम अंग की सोभा, निरखत भटक परे ।
मोर मुकुट लट घूंघरवारी, तामें लटक परे ।
कुडल तरनि किरनि ते उज्जवल चमकनि चटक परे ।
चपल नैन मृग मीन कज जित, अलि ज्यो लुब्ध परे ।
सूर स्याम मृदु हँसनि लुभाने, हमतै दूरि परे ५० ।

४. नैना नाहिन कछू बिचारत ।

सनमुख समर करत मोहन सौ, जद्यपि हे हठि हारत ।
अवलोकत अलसात नवल छवि, अमित दोष अति आरत ।
तमकि तमकि तरकत मृगपति ज्यो घूंघट पटहि बिदारत ।
बुधि-बल, कुल-अभिमान, रोप-रस जोषत भँवहि निवारत ।
निदरे ब्यूह समूह स्याम अँग, पेलि पलक नहि पारत ।
समित सुभट सकुचत, साहस करि, पुनि पुनि सुखहि सम्हारत ।
सूर स्वरूप मगन झुकि व्याकुल टरत न इकटक टारत ५१ ।

पूर्वोद्धृत उदाहरणों से इन पदों की भाषा निस्संदेह अधिक सत्समता-प्रधान है । ऐसे पदों में कवि की दृष्टि उक्ति की मार्मिकता पर न टिकी रहकर कुछ-कुछ आलंकारिक योजना की ओर झुक गयी है । ऐसी अतद्दृष्टिवाले कवि के लिए यह स्वाभाविक ही कहा जायगा, क्योंकि उसकी जिस नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने नेत्रों की आकर्षण-वृत्ति-जैसे सामान्य प्रकृत विषय को लेकर अनेक हृदयहारी पदों की रचना कर दी, वह केवल एक ही प्रकार की भाषा से सतुष्ट कैसे रह सकती थी ? फिर भी नेत्र-विषयक थोड़े पदों में ही इस साहित्यिक भाषा के दर्शन होते हैं; अधिक सख्या तो भाषा के सामान्य मिश्रित रूप में रचे गये पदों की ही है जिनकी सरलता सहृदय पाठक को सहज ही मुग्ध कर लेती है । परन्तु मुरली सम्बन्धी साहित्यिक भाषा प्रधान पदों से नेत्र-विषयक तत्सम्बन्धी भाषा वाले पदों की सख्या निश्चय ही अधिक है और इसका कारण यह है कि उनमें ईर्ष्या-व्यग्न इतने हल्के स्तर पर व्यजित है कि इन भावों की

अभिव्यक्ति भाषा को अधिक संस्कृत परिष्कृत बनाने में बाधक है; परन्तु नेत्रों के प्रति उपलब्ध वाले पदों में ब्रजवाक्ताओं की, प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति, प्रेमासक्ति की गूढ़ता सम्भीरता से भाषा का साहित्यिक बनाने में अधिक सुयोग दिया है ।

अ. पर्वोत्सव और ऋतु-चित्रण—जीवन-व्यस्तता के लिए उत्सव के आयोजन विग्राम के ऐसे स्थल हैं जो गारोरिक और मानसिक थ्राति को दूर करके नव स्फूर्ति प्रदान करते हैं । जटिल से जटिल परिस्थिति में पड़ा व्यक्ति इस लाभ से वंचित न रह जाय, इस उद्देश्य में सामान्य उत्सवों के साथ धार्मिक पर्वों को भी संबद्ध कर दिया गया है । इसी प्रकार वर्षा^{५२}, शरद्, वसंत आदि ऋतुओं का शुभागमन भी स्वस्थ चित्त को उत्साह से भर देता है । तात्पर्य यह है कि ये सभी विषय उत्साह-प्रदत्तता की दृष्टि से एक ही वर्ग में रखे जा सकते हैं । और सूरदास ने अपने काव्य, विशेषतः 'सूरसागर' के दशम स्कंध, में इन सबका चित्रण बहुत उमंग में भरकर किया भी है । कृष्ण-जन्मोत्सव, दीप-मालिका पर्व, वसंतागमन और होलिकात्सव, सभी के वर्णन में यह बात देखी जा सकती है । भावोल्लास के ऐसे क्षणों में भाषा के संस्कार-परिष्कार की आवश्यकता नहीं होती । अतएव मिश्रित भाषा में ही सूरदास ने पर्वोत्सवों और ऋतुओं का सुन्दर चित्रण किया है, जैसे—

१. ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी ।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक गुनी ।

मुनि घाई सब ब्रजनारि सहज निगार किये ।
तन पहिरे मूतन चीर, बाजर नैन दिये ।

...
ते अपने अपने मेल, निकसी भाँति भली ।
मनु लाल मुनैयनि पाँनि, पिजरा तोरि चली ।
गुन गावत मगल गीत मिलि दस्त-पाँच अली ।
मनु भोर भएँ रवि देखि, फूली कमल कली^{५३} ।

२. हो हो हो हो हो हो होरी ।

खेलत अति सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहि राधिका गोरी ।
बाजत ताल मृदग झाँझ डफ, बीच बीच बाँसुरी धुनि थोरी । हो० ।

५२. ब्रजवासियों की गोवर्द्धन-पूजा से सुख होकर इन्होंने उनके प्रदेश पर जो घोर वर्षा की, वह स्वामात्रिक न थी । अतएव उसका चित्रण सूरदास ने उत्साह से नहीं किया है—लेखक ।

५३. सा १०-२४

गावत द दै गारि परस्पर, उत हरि, इत वृषभानु-किसोरी ।
 मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै मिलै मधि घोरी ।हो०।
 गोपी-ग्वाल गुलाल उड़ावत, मत्त फिरै रति-पति भनु घोरी ।
 भरति रंग रति नागरि राजति, मनहुँ उमँगि बेला बल फोरी ।हो०।
 छटि गई लोक-लाज कुल-सका, गनति न गुरु गोपिनि कौ को रो ।
 जैसे अपने मेर मतै मै, चोर भोर निरवत निसि चोरी ।हो०।
 उन पट पीत किये रँग राते, इत कंचुकी पीत रँग बोरी ।
 रही न मन भरजाद अधिक रचि सहचरि सकति गाँठि गहि जोरी ।हो०।
 बरनि न जाय वचन रचना रचि, वह छवि झकझोरा झकझोरी ।
 सूरदास सारदा सरल मति, सो अवलोकि भूल भई भोरी^{५४} ।हो०।

ऐसे सभी उदाहरणों की रचना आनन्द-विभोर अवस्था में की गयी जान पड़ती है । इसीलिए भाषा का वह स्वाभाविक रूप इनमें मिलता है जिसमें प्रयास का सर्वथा अभाव है । कवि ने ऐसे पदों में न शब्द-चयन की ओर विशेष ध्यान दिया है और न आलंकारिक योजना की ओर ही । इनकी भाषा वित्तल के प्रथम वर्गीय पदों की भाषा के समकक्ष कही जा सकती है, यद्यपि तत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें उससे कुछ अधिक है । इनके अतिरिक्त कुछ पदों में साहित्यिक भाषा का वह रूप भी मिलता है जिसमें तद्भव वर्गीय शब्दों से अधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे -

१. आजु दीपति दिव्य दीपमालिका ।

मनहु कोटि रवि-चंद्र कोटि छवि मिटि जो गई निसि कालिका ।
 गोकुल सकल बिचित्र भनि मंडित सोभित झक झब झालिका ।
 गज मोतिनि के चौक पुराये विच विच लाल प्रवालिका ।
 वर सिंगार बिरचि राधा जू चली सकल ब्रज बालिका ।
 झलमल दीप समीप सौज भरि लेकर कचन थालिका ।
 करी प्रगट मदन मोहन पिय थकित विलोकि विसालिका ।
 गावत हँसत गवाय हँसावत पटकि पटकि करतालिका ।
 नंद-द्वार आनंद बढायो अति देखियत परम रसालिका ।
 सूरदास कुसुमनि सुर वरपत कर संपुट करि मालिका^{५५} ।

२. मानो माई घन-घन अंतर दामिनि ।

घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज-भामिनि ।

जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि ।
 सुदर ससि गुन रूप राग निधि, अग-अग अभिरामिनि ।
 रच्यौ रास मिलि रसिकराइ सौं, मुदित भई गुनग्रामिनि ।
 रूप-निधान स्याम सुदर वर आनंद मन विस्रामिनि ।
 खजन मीन मयूर हस पिक भाइ-भेद गजगामिनि ।
 को गति गनै सूर मोहन संग, काम विमोह्यो वामिनि ५६ ।

३ अद्भुत कौतुक देखि सखी री वृन्दावन नभ. होड परी ।
 उत घन उदित सहित सौदामिनि, इतहि मुदित राधिका हरी ।
 उत बग-पांति, सु इतहि स्वाति-मुत दाम, बिसाल मुदेस खरी ।
 ह्वां घन गरज, इहां मुरली धुनि, जलधर उत, इत अमृत भरी ।
 उतहि इद्र धनु, इत वनमाला, अति विचित्र हरि कठ धरी ।
 मूरदास प्रभु कुंवरि राधिका, गगन की सोभा दूरि करी ५७ ।

इन पदों में क्रमशः दीपावली पर्व, रासनीलोत्सव और वर्षा-सौंदर्य वर्णित है । इनकी भाषा पूर्वोद्धृत पदों से अधिक तत्समता प्रधान है कारण स्पष्ट है द्वितीय पद का विषय भक्तों के जीवन का चरम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि कामल वत्सेवरा गोपिकाओं को वर्ष भर कठोर व्रत-साधन के पश्चात् प्राप्त हो सकी थी समस्त वस्त्राभूषण से अनवृत्त होकर रसिकवर प्रियतम के साथ उन्होंने जा आनंद शरद् की उस शुभ रजनी में अनुभव किया, वह असाधारण था, दिव्य था । स्वयं कवि भी इस अनौपचारिक रस में आकट्य निमग्न है और उसका वर्णन भी सामान्य शब्दावली में करना उसको अनुपयुक्त प्रतीत होता है । इसी प्रकार प्रथम पद में इन्द्र-विजय के पश्चात् के दीपमग्निकात्सव का वर्णन है जिसको व्रजवासी अपने परम मौभाग्य की सराहना करने हुए अत्यंत उत्साह से मनाते हैं और अंतिम पद में ऋतु-सोभा का अद्भुत दृश्य कवि की कल्पना को मज्जा कर देता है । सूर की अतर्दृष्टि ऐसे अवसरों पर अलंकारों की जिस बागवत्पूर्ण योजना में सुलग्न हो जाती है, उससे शब्दावली स्वभावतः अत्यन्त परिष्कृत और साहित्यिक हो गयी है ।

ज. वियोग वर्णन और भ्रमर गीत—मयाग शृंगार के पश्चात् 'मूरना र' के दशम स्वर्ग का सबसे महत्वपूर्ण विषय है गोपिया का वियोग वर्णन जिससे 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध पद भी घनिष्ठ रूप से संबद्ध है । 'मूरनागर' का यह अंग उक्तियों की भाविकता और वाग्विदग्धता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है । मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक, तीनों भाषा रूपों के दर्शन हममें होने हैं, जैसा—

१ बारक जाइयो मिलि माघी ।

की जानै तन दूटि जाइगौ, मूल रहै जिय साघी ।

पहुनहु नन्द बवा के आवहु, देखि लेउँ पल आधौ ।
मिलैही मैं विपरीत करी विधि, होत दरस कौ बाधौ ।
सो सुख सिव सनकादि न पावत, जो सुख गोपिनि लाधौ ।
सूरदास राधा बिलपति है, हरि कौ रूप अगाधौ^{५८} ।

२. ऊधौ, हम है हरि की दासी ।

काहे कौं कटु वचन कहत हो, करत आपनी हाँसी ।
हमारे गुनहिं गाँठि किन बाँधौ, हम कह कियो विगार ।
जैसी तुम कीन्ही सो सबहीं, जानत है संसार ।
जो कुछ मलो बुरी तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहै ।
आपन कियो आपही भुगतहि, दोष न काहू दैहै ।
तुम तो बड़े बड़े कुल जनमे, अह सबके सरदार ।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सौं, कहत लगावन छार^{५९} ।

३. और सकल अंगनि तैं ऊधौ, अँखियाँ अधिक दुखारी ।

अतिहिं पिराति सिराति न कबहू, बहुत जतन करि हारी ।
मग जोवत पलकौ नहि लावति, विरह विकल भई भारी ।
भरि गइ विरह-वयारि दरस बिनु, निसि दिन रहति उधारी ।
ते अलि अब ये ज्ञान-सलाकैं, क्यौ सहि सकति तिहारी ।
सूर सु अजन आँजि रूप-रस, आरति हरहु हमारी^{६०} ।

४. ऊधौ-अब कछु कहत न आवै ।

सिर पर सौति हमारे कुबिजा, चाम के दाम चलावै ।
कछु-इक मग्न करयो चदन में, ताते स्यामहि भावै ।
अपनै ही रंग रंगे साँवरे, सुक ज्यों बैठि पढ़ावै ।
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-वधू कहावै ।
नटिनी लौं कर लिए लकुटिया, कपि ज्यों नाच तचावै ।
दूध्यो नातो या गोकुल कौ, लिखि लिखि जोग पठावै ।
सूरदास प्रभु हमहि निदरि, डाढ़े पर लोन लगावै^{६१} ।

५. (ऊधौ) जी कोउ यह तन फेरि बनावै ।

तौऊ नंदनंदन तजि मधुकर, और न मन में आवै ।

जौ या तन की त्वचा काटि कै, लै करि दुन्दुभि साजै ।
मधुर उतग सप्त सुर निकसै, कान्ह कान्ह करि वाजै ।
निकसै प्रान परे जिहि भाटी, द्रुम लागै तिहि ठाम ।
अव सुनि सूर पत्र-फल-साखा, लेत उठै हरि नाम^{६२} ।

इस प्रकार के पद गोपियों की विरह-दशा से परिचित कराते हैं, इनमें विरहिणी व्रजवालाओं का वरुण ऋदन-सा गूँजता है । प्रियतम से विमुक्त होने पर जिस प्रकार गोपिकाओं को साज-शृंगार नहीं सुहाता, उसी प्रकार कवि ने भी उक्त विषयक अनेक पदों की भाषा को अनलकृत हो रखा है । विनय-पदों की मिश्रित भाषा से विरह-संबंधी पदों की ऐसी भाषा में एक मुख्य विशेषता है मुहावरे-कहावतों के प्रयोग में । एक तो ग्रामीण युवतियाँ की सीधी-सादी भाषा में साधारणतः मुहावरो-कहावतों का प्रयोग खूब रहता है, फिर भग्नहृदय की जो दयनीय स्थिति इन पदों में दर्शायी गयी है, भाषा को उसके अनुरूप बनाने के उद्देश्य से, उसमें जैसा कि उक्त पदों के बड़े टाइप में छपे अक्षरों से स्पष्ट है, मुहावरो और कहावतों का और भी अधिक प्रयोग किया गया है । मोली-भाली प्रेममयी गोपिकाओं की विरह-जन्य कातरता कभी संयोग की पूर्व स्मृतियों से उन्हें पुनर्कृत करती है, कभी अपने अभाग्य को कोसने को विवश करती है और कभी क्षुब्ध स्वर में प्रियतम की निष्ठुरता का वखान करने को प्रेरित करती है । निराशा, उन्माद और प्रलाप की ऐसी स्थितियों में सामान्य भाषा का इस प्रकार मुहावरे और लोकोत्तियों से युक्त हो जाना स्वाभाविक ही कहा जायगा । अस्तु, भाषा के केवल मिश्रित रूप की दृष्टि से यदि देखा जाय तो कहा जा सकता है कि वियोग-वर्णन और भ्रमर-गीत-प्रसंग के पदों में आधे से कम ही इस प्रकार की भाषा में लिखे गये हैं और अधिकांश पदों की भाषा इससे अधिक परिष्कृत और तत्समता-प्रधान है, जैसे —

१. देखियत कालिंदी अति कारी ।

अहौ पथिक, कहियौ उन हरि सौं, भई विरह-जुर जारी ।
गिरि-प्रजंक तै गिरति धरनि घँसि, तरंग-तरफ तन भारी ।
तट-वारू उपचार चूर, जल-धूर-प्रस्वेद पनारी ।
विगलित कच कुस-कांस कूल पर, पक जु काजल सारी ।
भौर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी ।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी ।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी^{६३} ।

२. वरु ए वदरौ वरपन आए ।

अपनी अवधि जानि नंदनदन, गरजि गगन घन छाए ।

कहियत है सुर-लोक बसत सखि, सेवक सदा पराए ।
चातक-पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ ते घाए ।
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिली, दादुर मृतक जिवाए ।
साजे निविड़ नोड़ तून सँचि सँचि, पछितहुँ मन भाए ।
समुझति नही चूक सखि अपनी, बहुते दिन हरि लाए ।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुवन बसि बिसराए^{६४} ।

३. कोउ भाई, बरजै रो या चढ़हि ।

अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि-कुल आनंदहि ।
कहाँ कहीं बरपा रवि तमचुर, कमल बलाहक कारे ।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, बिरहिनि के तन जारे ।
निंदति सैल उदधि पन्नग कौ, श्रीपति कमठ कठोरहि ।
देति असीस जरा देवी कौ, राहु-केतु किन जोरहि ।
ज्यों जल-हीन मीन तन तलफति, ऐसी गति ब्रजवालहि ।
सूरदास अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहि^{६५} ।

४. ऊधौ, क्यों राखौ ये नैन ।

सुमरि सुमरि गुन अधिक तपत है, सुनत तुम्हारे बैन ।
ये जु मनोहर बदन-इंदु के, सारद कुमुद चकोर ।
परम तृषारत सजल स्याम घन-तन के चातक-मोर ।
मधुप-मराल जु पद-पकज के, गति-विलास-जल मीन ।
चक्रवाक दुतिमनि दिनकर के, मृग मुरली आधीन ।
सकल लोक सूनौ लागत है, विनु देखे बर रूप ।
सूरदास प्रभु नंदनंदन के नख-सिख अग अनूप^{६६} ।

५. ऊधौ, अब हम समुझि भई ।

नंदनंदन के अंग अंग प्रति, उपमा न्याय दई ।
कुंतल कुटिल भँवर भामिनि बर, मालति भुरै लई ।
तजत न गहरु कियो तिन कपटी, जानी निरस भई ।
आनन इंदु बिमुख सपुट तजि, करखे ते न नई ।
निमोही नव नेह कुमुदिनी, अतहु हेम हुई ।
तन घन सजल सेइ निसि-बासर, रटि रसना छिजई ।

— सूर बिवेकहीन चातक मुख, बूंदी तो न लई^{६७} ।

सूरदास के ऐसे पद प्रौढावस्था की रचना हैं । इस समय तब इस प्रकार की साहित्यिक भाषा पर उनका इतना अधिकार हो गया था कि उसका वही रूप प्रायः सदैव उनके मुख से निःसृत होता था । सामान्य विषयो पर भी इसी प्रकार की भाषा में रचना करने के वे अभ्यस्त थे । यही कारण है कि वियोग वर्णन और भ्रमरगीत के अधिकांश पदों की भाषा इसी प्रकार परिष्कृत और तत्समता प्रधान है । इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमें सर्वत्र ऐसे ही तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो उच्चारण की दृष्टि से साधारणतया प्रचलित थे, जिसमें वे सामान्य पाठक को नहीं खटवते । मुहावरो-कहावतों का प्रयोग भी ऐसे पदों में कहीं-कहीं किया गया है, यद्यपि उतना नहीं जितना पूर्वोद्धृत पदा में मिलता है । सरल अलकारों की योजना ने भी इन पदों की भाषा को साहित्यिक बनाने में योग दिया है । साहित्यिक शब्दों की इससे कुछ अधिक योजना उन पदा में मिलती है जिनमें कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों के प्रयोग में विशेष रुचि दिखायी है, जैसे—

१ सखी री, इन नैननि तैं धन हारे ।

बिनही रितु वरपत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे ।
ऊरध स्वांस समीर तेज अति, मुख अनेक द्रुम डारे ।
वदन-सदन करि वसे वचन-खग, दुख-भावस के मारे ।
दुरि दुरि बूंद परति कचुकि पर, मिलि अजन सों कारे ।
मानौ परन-कुटी सिव कीन्ही, विवि मूरति धरि न्यारे ।
धुमरि धुमरि वरपत जल छांडत, डर लागत अधियारे ।
बूडत ब्रजहि मूर को राखै विनु गिरिवरधर प्यारे^{६८} ।

२ देखियत चहुँ दिसि तैं धन धोरें ।

मानौ मत्त मदन के हथियनि, बल करि वधन तोरे ।
स्याम सुभग तन चुवत गडमद, वरपत थोरे थोरे ।
रुक्त न पवन महावतहूँ पै, मुरत न अकुस मोरे ।
मानौ निक्सि वग-पक्ति दत, उर-अवधि-सरोवर फोरे ।
विनु बेला बल निक्सि नयन जल, कुच-कचुकि-बूंद बोरे ।
तब तिहि समय आनि ऐरावति, ब्रजपनि सों कर जोरे ।
अब सुनि मूर कान्ह-बेहरि विनु गरत गात जैसं ओरे^{६९} ।

३. नैननि नद-नृदन ध्यान ।

तहाँ यह उपदेस दीजै, जहाँ निरगुन ज्ञान ।

'पानि पल्लव रेख गनि गुन, अवधि विविध विधान ।
 इते पर उन कटुक वचननि, क्यों रहै तन प्रान ।
 चंद कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान ।
 कोटि मन्मथ वारि छवि पर, निरखि दीजत दान ।
 भूकुटि कोटि कोदंड रुचि, अवलोकनी सधान ।
 कोटि बारिज वक्र नैन कटाच्छ कोटिक वान ।
 मनि कंठ-हार, उदार उर, अतिसय वन्यौ निरमान ।
 सख, चक्र, गदा धरे कर पद्म सुधा-निधान ।
 स्याम तनु पट पीत की छवि, करै कौन ब्रखान ।
 मनहु नृत्यत नील घन मै, तडित देती भान ।
 रास रसिक गुपाल मिलि, मधु-अघर करती पान ।
 सूर ऐसे स्याम विनु, को इहाँ रच्छक आन ५ ।

यहाँ उद्धृत प्रथम दोनो पदो की भाषा को आलंकारिक योजना ने और अंतिम को श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन ने अधिक साहित्यिक बना दिया है । इस प्रकार की भाषा के उदाहरण वियोग शृंगार और भ्रमरगीत विषयक पदो मे अधिक नहीं हैं । यह आलंकारिक भाषा कल्पना के विशेष सक्रिय होने पर ही प्रयुक्त होती है, हृदय के सामान्य गति-शील भावो के प्रवाह की तीव्रता का साथ इस भाषा में आये हुए सचित और बोझिल शब्द नहीं दे पाते । वियोग की प्रबलता में जब नेत्रों से निरंतर अश्रु-वर्षा हो रही हो तब मौखिक साज-शृंगार की रक्षा कैसे हो सकती है और उसकी चिंता भी कौन करता है ? यही कारण है कि सामान्य मिश्रित और सरल साहित्यिक भाषा ही, जो कवि की भाषा के प्रकृत और अकृत्रिम रूप है, ऐसे प्रसंगो मे प्रयुक्त होने पर खूब फवती है । इसका आलंकारिक रूप, प्रयास का बोझोलापन लिये हुए, केवल उन स्थलो पर दिखायी देता है, जहाँ भाव अपेक्षाकृत कम तीव्र हैं और उद्धव-जैसे शुष्कहृदय व्यक्ति को सामने पाकर भग्नाश गोपिकाओ को चितन का कुछ अवकाश मिल जाता है ।

ड. स्फुट विषय—इस शीर्षक के अंतर्गत मुख्य रूप से दो विषयों पर विचार करना है—प्रथम है पारिभाषिक विवेचन और द्वितीय, वर्णन-विस्तार-युक्त प्रसंग । पौराणिक कथानकों के साथ साथ 'सूरसागर' के कई स्थलो पर ज्ञान, भक्ति, योग, मुक्ति आदि विषयो का विवेचन मिलता है जो न विषय की स्पष्टता की दृष्टि से महत्व का है और न जिसमें वांछनीय गंभीरता ही है । सूरदास वास्तव में अनन्य भक्त, सगुणोपासक भावुक कवि और सफल गायक थे ऐसे व्यक्तित्ववाने सहृदय मनुष्य के लिए दार्शनिक चिंतन में कोई आकर्षण नहीं रहता और न उसकी दृष्टि ही तात्त्विक विवेचन में रम

सकती है। यही कारण है कि जिन पदों में सूरदास ने पारिभाषिक विवेचना की है, वे कदाचित् किसी भी दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते। भाषा-शैली भी इनकी सामान्य ही है, जैसे—

१. भक्ति पथ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै।
यम, नियमासन प्राणायाम। करि अम्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार धारणा ध्यान। करै जु छ्वाँडि वासना आन।
क्रम क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि^{७०}।
२. माता, भक्ति चारि परकार। सत, रज, तम गुन, सुद्धा सार।
भक्ति एक, पुनि बहु विधि होइ। ज्यों जल रंग मिलि रंग सो होइ।
भक्ति सात्विकी चाहत मुक्ति। रजोगुनि, धन-कुटुबऽनुरक्ति।
तमोगुनी चाहे या भाइ। मम वैरी क्यौहूँ मरि जाइ।
सुद्धा भक्त मोहि कौं चाहे। मुक्तिहूँ कौं सो नहि अवगाहै^{७१}।
३. इड़ा पिगला सुषमन नारी। सुन्य सहज मैं वसत मुरारी।
ब्रह्म भाव करि सब मैं देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौ।
पदमासन इक चित मन त्यावौ। नैन मूँदि अंतरगत घ्यावौ।
हृद कमल मैं ज्योति प्रकासौ। सोइ अच्युत अविगत अविनासी^{७२}।
४. हृदय-कमल तैं जोति विराजै। अनहद नाद निरतर वाजै।
इड़ा पिगला सुषमन नारी। सहज सुन्न मैं वसत मुरारी^{७३}।

उक्त पदों में जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनका सम्यक् ज्ञान सूर-काव्य से नहीं होता। ऐसे विवेचन से केवल इतना लाभ माना जा सकता है कि सूरदास के समय में प्रचलित और उनका ज्ञात पारिभाषिक शब्दों की सूची भले ही बना ली जाय, अन्यथा ये पारिभाषिक व्याख्याएँ अपूर्ण हैं। पौराणिक कथाओं की-सी सामान्य भाषा में ही यह विवेचन मिलता है। अनेकानेक पारिभाषिक शब्दों के कारण कहीं कहीं इस भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है और ऐसा केवल सभी व्याख्या वाले पदों में ही, सो बात भी नहीं है। मिश्रित भाषा में लिखे गये अनेक पदों के कुछ चरणों में भी, पारिभाषिक शब्दों के आ जाने पर, भाषा का यह रूप देखा जा सकता है; जैसे—

१. प्रथम ज्ञान, बिज्ञानक द्वितीय मत, तृतीय भक्ति की भाव।
सूरदास सोई समष्टि करि, व्यष्टि दृष्टि मन लाव^{७४}।
२. सात्त्विकता सामोपता सारूपता, भुज चारि।
इक रही सायुज्यता सो, सिद्ध नहि विनु ज्ञान^{७५}।

३. पट दल, अठ द्वादस दस निरमल अजपा जाप जपाली ।

त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, यो मिलिहै वनमाली ७९ ।

वास्तविकता यह है कि सूरदास अपने भक्त, कवि और गायक-रूपों में ही संतुष्ट थे; दार्शनिक विवेचक और सत्त्वदर्शी चिंतक बनने के लिए न उनके पास अवकाश था और न साधन ही। इसीलिए दार्शनिक व्याख्या-प्रधान स्थलों की अति सामान्य विवेचना में पारिभाषिक शब्दों का संप्रह-मात्र है और इनकी भाषा को उसका स्वतंत्र रूप भी नहीं कहा जा सकता।

अब रही वर्णन-विस्तारयुक्त प्रसंगों की भाषा की बात। इन प्रसंगों से आशय उन पदों से है जिनमें कवि सूर ने वस्तुओं-पदार्थों की लंबी-लंबी सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। ऐसे स्थलों की भाषा बहुत सामान्य और सर्वथा विशेषतारहित है; तथा वाक्य-विन्यास भी बहुत शिथिल और अरोचक है। 'सूरसागर' में भोज्य पदार्थों, वस्त्राभूषणों, वाद्ययंत्रों आदि और 'सारावली' में राग-रागिनियों आदि की सूचियोंवाले पदों में इस प्रकार का वर्णन-विस्तार मिलता है। 'व्याकरणिक अध्ययन' वाले परिच्छेद में विशेषणों की सूची-वाला जो लंबा पद उद्धृत किया गया है, उससे इस प्रकार के विस्तारवाले पदों की भाषा का कुछ अनुमान हो सकता है। स्थानाभाव से अन्य उदाहरण देना अनावश्यक जान पड़ता है।

ठ कूट पद—सूरदास के 'साहित्यलहरी' नामक संप्रह में तो कूट पद मिलते ही हैं, 'सूरसागर' के दशम स्कंध में भी ऐसे अनेक पद संकलित हैं। इन पदों में से कुछ के अंत में शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनकी सौदाहरण चर्चा इस परिच्छेद के आरंभ में की जा चुकी है, शेष पद सामान्य हैं। भाषा-रूप की दृष्टि से दोनों प्रकार के पदों में कोई अंतर नहीं है और दोनों में समान रूप से प्रत्येक चरण में छोटे-बड़े सामासिक पदों का प्रयोग किया गया है। सूर-काव्य की भाषा के जो मुख्य चार रूप विविध विषयों के आधार पर ऊपर बताये गये हैं, यदि उन्हीं को ध्यान में रखकर कूट पदों की भाषा का रूप निश्चित किया जाय तो कह सकते हैं कि मिश्रित भाषा की ही समास-प्रधान बनाकर कवि ने उसमें कूट पद रचे हैं। इनके मुख्य विषय हैं श्याम-श्यामा-प्रेम, सौंदर्य, मान, क्रीड़ा आदि। 'सूरसागर' के साधारण पदों में इन विषयों का जैसा वर्णन है, प्रायः वैसा ही कूट पदों में भी है। अंतर केवल इतना है कि 'सूरसागर' के सामान्य पदों का अर्थ सहज ही समझ में आ जाता है, परंतु कूट पदों के सामासिक शब्दों का अर्थ निकालने में बड़ी माया-पच्ची करनी पड़ती है; इनका ठीक-ठीक अर्थ समझना साधारण पाठक के बल की बात है ही नहीं। इसके लिए तो द्वाविड़ी प्राणायाम-जैसा भीषण मानसिक व्यायाम चाहिए और स्थान-स्थान पर पाठक को पहेलियाँ भी बुझानी पड़ती हैं। इनका ठीक-ठीक तात्पर्य समझने के लिए शब्दों के प्रचलित अर्थ जानने से ही काम नहीं चलता; प्रत्युत शब्द के अनेक अर्थों में से पाठक

को वही अर्थ छाँटना होता है जो कवि को अभीष्ट है। उदाहरण के लिए 'कुती-सुत' का सकेत चार पुत्रों में से किसके लिए है, तभी ज्ञात होगा जब पारस्परिक प्रसंग स्पष्ट हो जाय। नीचे कूट पदों के कुछ वाक्यों के अर्थ दिये जा रहे हैं। इनमें ज्ञात हो जायगा कि 'साहित्यलहरी' की जटिलता और दुरुद्धता किस प्रकार की है और उसकी क्लिष्टता के परिहार के लिए कितना मानसिक व्यायाम अपेक्षित है। जिन-जिन प्रणालियों से सूरदास ने कूट पदों की रचना की है अथवा जिन प्रणालियों से अर्थ-बोध में सहायता मिलती है, उनकी, स्थूल रूप से, छह वर्गों में विभाजित किये जा सकता है—

अ पर्यायवाची प्रणाली कुछ पदों में कवि ने एक पद के भिन्न भिन्न अर्थों और उनके पर्यायवाची शब्दों को लेकर खेल किया है, जैसे —

१. दरभूषन छन छन उठाय कै नीतन हरि घर हेरत ७७ ।

'नीतन' से कवि ने 'नेत्र' का अर्थ इस प्रकार निकाला है—'नीतन' = नीत + न । नीत—१ 'नेत्र' का अपभ्रंश, २ नीति । नीति—नय । नीतन = नय + न = नयन ।

२. दधिसुत-सुत-पतिनी न निकासत ७८ ।

इस वाक्य में 'दधि-सुत सुत-पतिनी' से 'बोली' का अर्थ इस प्रकार निकाला गया है—दधि—उदधि—समुद्र—जल । दधिसुत—जल-सुत—कमल । दधि सुत सुत—कमल-सुत—ब्रह्मा । दधि-सुत-सुत पतिनी—ब्रह्मा की स्त्री—सरस्वती—गिरा—वचन—बोली ।

३. अष्टसुर इनको पठाए कस नृप के पास ७९ ।

'वसुदेव' (कृष्ण के पिता) अर्थ यहाँ 'अष्टसुर' से इस तरह निकाला गया है—अष्टसुर—अष्ट + सुर । अष्ट = आठ = वसु—'वसु' आठ होते हैं, इसलिए 'आठ' शब्द 'वसु' का सकेतार्थ मान लिया गया है । सुर = देव (पर्यायवाची) । अष्टसुर = (वसु + देव) वसुदेव ।

४. दधि-सुत-अरि-भय-सुत-सुभाव चलि तहाँ उताइल आई ८० ।

इस पंक्ति में 'दधिसुत अरि भय-सुत सुभाव'—जैसे बड़े सामासिक पद से कवि ने पर्यायवाची प्रणाली द्वारा 'सखी' अर्थ भी निकाला है—दधि=उदधि । दधि-सुत=उदधि-सुत=चंद्रमा जो समुद्र मंथन से निकले रत्नों में एक है । दधि-सुत-अरि=चंद्रमा का शत्रु=राहु । दधि-सुत-अरि-भय=राहु का भक्षण=मूर्य । दधि-सुत-अरि-भय-सुत=मूर्य का पुत्र=कर्ण । दधि-सुत-अरि भय-सुत-सुभाव=कर्ण का स्वभाव=दान करना= 'दानी' होना—'दानी' को उर्दू में 'सखी' कहते हैं, अतः दानी = सखी, सहेली ।

आ प्रहेलिका प्रणाली—कुछ पदों में कवि ने शब्द के आदि, मध्य अथवा अंत के अक्षरों का लोप करके नया शब्द बनाया है और तब उसका अभीष्ट अर्थ में प्रयोग किया है; जैसे—

कारन-अंत अंत ते घट कर आदि घटत पै जोई ।

मद घटे पर नास कियो है नीतन में मन मोई ।^{८१}

यहाँ उक्त दोनों पक्तियों के प्रारंभिक चौदह शब्दों से एक छोटा सा शब्द 'काजल' इस प्रकार निकाला गया है - कारन अंत = कारण का अंत = काम, काज; 'कारण' का फल 'काज' होता ही है । पै = पय = जल । नास = नाश = काल; 'काल' सबका नाश करता ही है । अब कवि जैसे पहली बुझाता है । वह तीन प्रश्न पूछता है—
१. वह कौन सा शब्द है जिसका 'अंत ते घट कर' अर्थात् अत्यक्षर हटाने पर 'काज' (कारन अंत) बच रहेगा ? २. वह कौन सा शब्द है जिसका 'आदि घटत' अर्थात् आद्य अक्षर हटाने पर 'जल' बच रहेगा ? ३ वह कौन सा शब्द है जिसका 'मद घटे पर' अर्थात् बीच का अक्षर हटाने पर 'काल' बच रहेगा ? तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है — काजल ।

इ. पुनरावृत्ति प्रणाली—कही-कही कवि ने अक्षरों, शब्दांशों अथवा शब्दों की अनेक आवृत्तियाँ करके अभीष्ट अर्थ निकाला है, जैसे—

१. तीन लल बल करे तो सँग कौन भल अलि जान ।

डेढ़ लल कल लेत नाही प्रान प्रीतम आन ।

तीन कीकी रूप रति पति ब्रज न दूजी आन ।^{८२}

'छल', 'तिल', 'छकी' शब्द उक्त पक्तियों के बड़े छप्पे अंशों से कवि ने इस प्रकार निकाले हैं - तीन लल—तीन बार 'लल' कहने से छह 'ल' हुए; अतः छह = छ + ल = छल । डेढ़ लल—डेढ़ बार 'लल' कहने से तीन 'ल' हुए, अतः तीन + ल = ति + ल = तिल । तीन कीकी—तीन बार 'की की' कहने से छह 'की' हुईं; अतः छह + की = छ + की = छकी ।

२. ति पीपी पल मांझ कीनो निपट जीव निरास^{८३} ।

यहाँ 'ति पीपी' से 'गोपी' का अर्थ इस प्रकार निकलता है—ति = तीन बार 'पीपी' कहने से हुआ छह 'पी', अतः छह + पी = छ + पी = छपी = छिपी । अब छिपी = छिपाना = गोपना = 'गोपी'; क्योंकि 'गोपी' का अर्थ भी 'छिपायी', 'छपी' या 'छिपी' होता है ।

ई. गणित प्रणाली—इनमें निश्चित संख्यावाले शब्द का प्रयोग करके, उसका संकेतार्थ केवल उस संख्या को ही मान लिया जाता है, जैसे—

१. ग्रह, नक्षत्र अरु वेद अरध करि को वरज मुहि खात^{८४} ।

हमारे यहाँ ग्रहों की संख्या ९, नक्षत्रों की २७ और वेदों की ४ मानी गयी है । इनका योग ९ + २७ + ४ = ४० हुआ; अतः ग्रह, नक्षत्र अरु वेद = ४० । इनका 'अरध' = आधा; ४० का आधा = २० या बीस (अर्द्धतत्सम रूप) = विष (तत्सम रूप) ।

२. ग्रह, नक्षत्र अरु वेद सवन मिलि तन प्रन करिकै बेचो^{८५} ।

इस पंक्ति के 'ग्रह नक्षत्र अरु वेद' उक्त उदाहरण की तरह ही हैं; परन्तु अर्थ इनसे दूसरा ही निकाला गया है—ग्रह ९, नक्षत्र २७ और वेद ४, इनका योग हुआ ४० । ४० सेर का होता है एक मन, अतः ४० मन = चित्त ।

उ. क्रम प्रणाली—कुछ पदों में कवि ने तीन-तीन चार-चार शब्दों के क्रमानुसार अक्षरों के योग से अभीष्ट अर्थ-द्योतक शब्द बनाया है, जैसे—

चपला ओ बराह रस आखर बाद देख झपटाने^{८६} ।

इस पंक्ति के प्रथम छह शब्दों से नया शब्द 'चकोर' इस प्रकार बनाया गया है—बराह = कोल । अब 'चपला', 'कोल' और 'रस' के प्रथम अक्षर (= आखर बाद) जोड़ने से बनता है— 'चकोर' ।

ऊ. विपर्यय प्रणाली—कुछ पदों में सूरदास ने शब्दों के अक्षरों का क्रम 'उल्टा' करके नया शब्द बनाया है, जैसे—

सारंग पलट पलट छवि दोई लै गौ आइ चुराइ^{८७} ।

यहाँ 'सारंग' के अनेक अर्थों में से कवि को अभीष्ट है 'लवा' पक्षी, फिर इसके अक्षरों का क्रम पलट कर नया शब्द बनाया गया है—लवा = वाल = बाल (ग्वाल-बाल) । इसी प्रकार 'छवि' = छव के अक्षरों का क्रम पलट कर 'वद्य' शब्द बना जो 'वत्स' का अपभ्रंस है । अतः 'सारंग-पलट' का अर्थ हुआ 'ग्वाल-बाल' और 'पलट-छवि' का 'गोवत्स' ।

ए. सम्मिलित प्रणाली—अनेक पदों में कवि ने उक्त छह प्रणालियों में से दो-एक को मिला दिया है अर्थात् अपने अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने के लिए उक्त प्रणालियों में से एक से अधिक का आश्रय लिया है; जैसे—

१. अंत ले कर होन माने तीसरो दो बार^{८८} ।

इस पंक्ति के शब्दों को लेकर कवि ने प्रहेलिका और गणित प्रणाली द्वारा 'कृतकृत्य' अर्थ इस प्रकार निकाला है = तीसरो = तीसरा = कृति का नक्षत्र; क्योंकि इसका स्थान नक्षत्रों में तीसरा माना जाता है । तीसरो दो बार = दो बार कृति का कृति का = कृत का कृत का । अब इन 'कृत का कृत का' को अन से हीन अर्थात् अत्यंशर-रहित करने पर हुआ 'कृत कृत' = कृतकृत्य = धन्य होना = सकल होना, कृतकार्य होना ।

२. ग्रह नक्षत्र है वेद जासु घर ताहि कहा सारंग सम्हारो^{८९} ।

गणित प्रणाली के अनुसार ग्रह, नक्षत्र और वेद की संख्या का योग ४० होता है ।

८५. सहरो ४८ । ८६. सहरो ७२ । ८७. सहरो. ७८ । ८८. सहरो १०१ ।

८९. सहरो. १११ ।

इससे, पूर्वोद्धृत एक पंक्ति में कवि ने 'मन' = चित्त अर्थ निकाला है। अब इस उदाहरण में, पर्यायवाची प्रणाली द्वारा, 'मन' का सकेतार्थ 'मनि' = मणि निकाला गया है।

३. सिंधु-रिपु-हित तामु पतिनी भ्रातृ सिव कर जोन ।

आदि कासों पदो वैरी जान परत न तीन^{१०} ॥

इस उदाहरण में प्रथम दस शब्दों से पर्यायवाची और क्रम प्रणालियों द्वारा कवि ने 'मंत्र' अर्थ इस प्रकार निकाला है—सिंधु-रिपु = समुद्र का शत्रु = अगस्त्य मुनि । अगस्त्य-हित = श्रीराम । तामु पतिनी = श्रीराम की पत्नी = सीता । सीता भ्रातृ = सीता का भाई, मंगल; क्योंकि 'मंगल' की उत्पत्ति भी सीता की तरह पृथ्वी से ही मानी गयी है । सिव कर जोन = शिव जी के हाथ में जो रहता है, त्रिशूल । अब 'मंगल' और 'त्रिशूल' = त्रिशूल का आदि अर्थात् पहला अक्षर मिलाने से बना 'मंत्र' ।

उक्त उदाहरणों से 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर' के कूट पदों की भाषा का अर्थ लगाने की पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, संभव है इसी प्रकार की दो-एक और प्रणालियाँ भी ज्ञात हों, परन्तु मुख्य ये ही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कूट पदों में सूरदास ने एक ही शब्द की अनेक बार आवृत्ति की है। ऐसे शब्द अनेकार्थी होते हैं और प्रायः प्रत्येक आवृत्ति में उनका भिन्नार्थ लगता है। जैसे—

१. बोल न बोलिए ब्रजचंद ।

कीन है सतोष सब मिलि जानि आप अनद ।

कहै सारंग सुत वदन सुनि रही नीचे हेर ।

निरखि सारंग वदन सारंग सुमुख सदर फेर ।

गहत सारंग रिपु सुसारंग दियौ सारंग सीस ।

कियौ भूपन पुत्र सारंग संग सारंग दीस ।

उदै सारंग जान सारंग गयौ अपने देस ।

'सूर' स्याम सुजान सँग ह्वै चली विगत कलेस^{११} ।

इस पद में 'सारंग' शब्द दस बार आया है और क्रमशः इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. समुद्र (सारंग-सुत = समुद्र का सुत, चंद्रमा), २. कृष्ण, ३. कमल, ४. दीपक (सारंग रिपु = दीपक का शत्रु, वस्त्र), ५. कर-कमल, ६. मेघ, पयोधर, स्तन । ७. दीपक (पुत्र सारंग = दीपक का पुत्र, काजल), ८. कृष्ण, ९. सूर्य और १०. चंद्रमा ।

२. सारंग सारंगधरहि मिलावहु ।

सारंग विनय करति सारंग सी, सारंग दुख विसरावहु ।

सारंग समय दहत अति सारंग, सारंगतिनहि दिखावहु ।

सारंगपति^{१२} सारंगधर जे है, सारंग जाइ मनावहु ।

सारंग-चरन सुभग-कर सारंग, सारंग-नाम बुलावहु ।

सूरदास सारंग उपकारिनि, सारंग भरत जियावहु^{१३} ।

इस पद में 'सारंग' शब्द सोलह बार प्रयुक्त हुआ है जिसके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—१. श्रेष्ठ उर या हृदयवाली (सारंग=मयूर, 'मयूर'का पर्याय है 'वहीं'=वरही=वर हिय=श्रेष्ठ हृदयवाली), २ (गिरि सारंगधर=गिरिधर), ३. अनन, असीम (सारंग=आकाश, अनत), ४. विष्णु, ५. ताप, काम-ताप (सारंग=सूर्य, तपन=ताप), ६. रात्रि, ७. कमल, हृदय-कमल, ८. कृष्ण, ९. दीप्ति, १०. दीपक, ११. नेह, स्नेह, १२. कमल, १३. कमल, १४. सखी (सारंग=अलि=सखी), १५. दुर्दशाग्रस्त, पीड़ित (सारंग=मृग=कुरग, फिर कुरग=बुरे रगवाला, कानिहीन, दुर्दशाग्रस्त, पीड़ित), १६. सखी ।

सारांश—सारांश यह है कि विषय के अनुसार सूरदास की भाषा के प्रमुख चार रूप सूर-काव्य में मिलते हैं—सामान्य, मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक । प्रथम रूप में तत्सम शब्द कुछ अधिक मिलते हैं, परन्तु एक तो उसमें मुहावरों-कहावतों का प्रयोग नहीं है और दूसरे, विन्यास भी बहुत अलग और शिथिल है । अतएव भाषा का यह रूप सूरदास की गौरव वृद्धि में बाधक ही है, सहायक नहीं । मिश्रित रूप में तत्सम, अर्द्धतत्सम, और तद्भव रूप प्रायः समान अनुपात में मिलते हैं तथा विदेशी शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग करने में कवि ने सकोच नहीं किया है । साथ ही, स्थान-स्थान पर मुहावरों-कहावतों के प्रयोग ने इस मिश्रित रूप को और भी सजीवता प्रदान की है । तत्कालीन जन-भाषा का परिचय और व्रजभाषा की प्रारम्भिक अवस्था का ज्ञान कराने की दृष्टि से यह भाषा-रूप विशेष महत्व का है ।

अन्तिम दोनों रूपों में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है, अतएव इनमें विदेशी शब्दों का विशेष रूप से और तद्भव-अर्द्धतत्सम शब्दों का सामान्य रूप से, कम प्रयोग किया गया है । इस बात को ध्यान में रखकर यदि साहित्यिक और आलंकारिक भाषा-रूपों का अंतर देखा जाय तो स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि प्रथम में तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव और अर्द्धतत्सम रूप तो मिला ही जाते हैं, प्रचलित विदेशी शब्दों को भी कवि ने रुचि से उसमें स्थान दिया है, परन्तु आलंकारिक रूप में सूरदास ने इनसे, विशेषकर विदेशी शब्दों से, बचने का ही प्रयत्न किया है ।

दूसरा अन्तर अलंकारों के प्रयोग से सबब रखता है । भाषा के सामान्य रूप में इनका प्रयोग नहीं के बराबर किया गया है, मिश्रित रूप में कहीं-कहीं सरल अलंकार मिलते हैं, साहित्यिक में सामान्य अनुप्रासा की तो प्रचुरता है ही, अन्य अलंकारों के साथ साथसाथ रूपक वाले पद भी अनेक हैं, परन्तु अन्तिम रूप में कवि ने अलंकारों की सही सी लगा दी है । जिस पदों की भाषा आलंकारिक है उनके प्रायः प्रत्येक चरण में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा अथवा रूपक में से एक न एक अलंकार अवश्य मिलता है । संक्षेप में, कहा जा सकता है कि व्रजभाषा के सभी रूपों पर सूरदास का पूरा पूरा अधिकार था और विषय के अनुसार भाषा निम्नने में वे प्रायः सर्वत्र सज्जन हुए हैं ।

२. पात्र के अनुसार भाषा-रूप—

सूर-काव्य में जितने पात्र आये हैं, स्थूल रूप से उनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है क. पौराणिक पात्र, ख गोकुल-वृंदावन-वासी पात्र और ग. मथुरा-द्वारिका-वासी पात्र । इन तीनों वर्गों के पात्रों की भाषा में जो अंतर है उसकी भी विवेचना करना आवश्यक है ।

क. पौराणिक-पात्र—जिन पौराणिक पात्रों की सूर काव्य में चर्चा है उनमें मुख्य पुरुष पात्र हैं—अबरीष, अर्जुन, ऋषभदेव, कपिल, जङ्ग भरत, दशरथ, दुर्योधन, धृतराष्ट्र, नारद, परशुराम, परीक्षित, पुरुखा, प्रह्लाद, ब्रह्मा, भग्न, भीष्म, महादेव, मैत्रेय, युधिष्ठिर, राम, रावण, लक्ष्मण, वामन, विदुर, विभीषण, शुकदेव, हनुमान आदि । और मुख्य स्त्री पात्र हैं - कुत्ती, कैंकेयी, कौशल्या, पार्वती, मदोदरी, सीता, सुमित्रा आदि । स्त्री और पुरुष, इन दोनों वर्गों के ये प्रायः सभी पात्र कुलीन, योग्य और विद्वान् हैं । इसलिए सामान्य स्थिति में इन सभी की भाषा प्रायः मिश्रित है । अंतर उसमें जिन कारणों से होता है, उनमें तीन प्रधान हैं । पहला है तात्त्विक विवेचन की स्थिति जिसके फलस्वरूप भाषा में पारिभाषिक शब्द कुछ अधिक आ जाते हैं । इस प्रकार की भाषा के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं । दूसरा कारण है पात्र का भावावेश जिसमें भाषा कभी-कभी साहित्यिक हो जाती है । इसका उदाहरण 'नमो नमो हे करुना-निधान' से आरंभ होनेवाले पद में मिलता है । परीक्षित द्वारा कहे गये इस पद की भाषा शुकदेव के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता के कारण साहित्यिक हो गयी है । तीसरा कारण है कवि की रुचि । जिन व्यक्तियों की कथा में कवि ने विशेष रुचि नहीं ली, उनके काव्यों की भाषा सामान्य श्रेणी की है, परन्तु जिनमें कवि ने रुचि ली है—जैसे राम कथा—उनके वक्तव्य विशेष स्थलों पर साहित्यिक भाषा में भी हुए हैं । इस प्रकार के उदाहरण भी पीछे दिये जा चुके हैं ।

निम्नलिखित पदों की भाषा को इन पौराणिक पात्रों की प्रतिनिधि भाषा कहा जा सकता है—

१. कह्यौ सुक श्री भागवत विचारि ।

हरि को भक्ति जुगै जुग विरधै, आन धर्म दिन चारि ।
चिंता तजौ परीच्छित राजा सुनि सिख साखि हमार ।
कमल नैन की लीला गावत कटत अनेक विकार ।
सतजुग सत, त्रेता तप कीजै द्वापर पूजा चारि ।
सूर भजन कलि केवल कीजै, लज्जा कानि निवारि^{१४} ।

२. ऐसी जिय न धरी रघुराइ ।

तुम सौ प्रभु तजि मो सी दासी, अनत न कहूँ समाइ ।
तुमरो रूप अनूप भानु ज्यों, जब नैननि भरि देखौ ।

ता छिन हृदय-कमल प्रफुलित ह्वै, जनम सफल करि लेखौ ।
तुम्हरे चरन-कमल सुख-सागर, यह व्रत हौं प्रतिपलिहौं ।
सूर सकल सुख छाँडि आपनी, वन-विपदा संग चलिहौं^{१५} ।

३. वै लखि आए राम रजा ।

जल के निक्कट आइ ठाढ़े भए, दीसति विमल ध्वजा ।
सोवत कहा चेत रे रावन, अब क्यों खात दया ।
कहति मदोदरि, सुनु पिय रावन, मेरी बात अगा ।
तुन दसननि लँ मिलि दसकघर, कठनि मेलि पगा ।
सूरदास प्रभु रघुपति आए, दहपट होइ लँका^{१६} ।

ख. गोकुल-वृंदावन-वासियों की भाषा - नद, उपनद, वृषभानु और उनके समव्यस्क अन्य गोप, कृष्ण, बलराम और उनके सखा, गोकुल-वृंदावन के प्रमुख पात्र हैं तथा कीर्ति, यशोदा और उनकी समव्यस्क गोपियाँ, राधा और उसकी सखियाँ-महेलियाँ प्रमुख स्त्री पात्र हैं । इन सभी पात्र पात्रियों की भाषा प्रायः मिश्रित है, परन्तु इसकी सबसे बड़ी विशेषता है मुहावरो-कहावतों का प्रयोग । साधारण वार्तालाप में भी उपयुक्त अवसर पर इनकी भाषा से मुहावरो कहावतों का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया है और भावावेश में तो कवि ने इनकी झड़ी ही लगा दी है । इस द्वितीय प्रकार के भावावेश के कारण परिवर्तित भाषा-रूप के उदाहरण तो आगे दिये जायेंगे, सामान्य स्थिति में इन पात्र-पात्रियों की प्रतिनिधि भाषा निम्नलिखित पदा में मिलती है—

१. बोलि लियो बलरामहि जसुमति ।

लाल, मुनौ हरि के गुन, काल्हहि तँ लँगरई करत अति ।
स्यामहि जान देहि मेरे संग, तू काहँ डर मानति ।
मैं अपने द्विग तँ नहि टारौं जियहि प्रतीति न आनति ।
हँसी महरि बल की बतियाँ सुनि, बलिहारी या मुख की ।
जाहु लिवाइ सूर के प्रभु कौं, कहति वीर के रुख की^{१७} ।

२. दै री मैया, दोहनी, दुहिहों में गैया ।

माखन खाए बल भयो, करौं नद-डुहैया ।
बजरी, धोरी सेदुरी, धूमरि मेरी गैया ।
दुहि ल्याऊँ मैं तुरत ही, तू करि दै घैया ।
ग्वालनि की सरि दुहत हों, बूझहि बल भैया ।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया^{१८} ।

३. सखियनि यहै विचार परचौ ।

राधा कान्ह एक भए दोऊ, हमसौ गोप करचौ ।
 वृंदावन तैं अवहीं आई, अति जिय हरप बढ़ाए ।
 औरै भाव, अंग छवि औरै, स्याम मिले मन भाए ।
 तब वह सखी कहति मैं बूझी, मोतन फिरि हँसि हेरचौ ।
 जबहि कही सखि मिले तोहि हरि, तब रिस करि मुख फेरचौ ।
 औरै बात चलावन लागी, मैं बाकी वहिचानी ।
 सूर स्याम कै मिलत आजुहीं, ऐसी भई सयानी^१ ।

४. तब बोले हरि नंद सौ, मधुरं करि बानी ।
 गर्ग वचन तुमसौ कही, नहि निहचै जानी ।
 मैं आयौ संसार मैं, भुव - भार उतारन ।
 तिनकौ तुम धनि धन्य हौ, कीन्ही प्रतिपारन ।
 मातु-पिता मेरे नही, तुमते अरु कोऊ ।
 एक बेर ब्रज लोग कौ, मिलिहौ सुनौ सोऊ ।
 मिलन-हिलन दिन चारि कौ, तुम तौ सब जानौ ।
 मोकौ तुम अति सुख दियौ, सो कहा बखानौ^२ ।

५. कहिबै जिय न कछु सक राखौ ।

लांवी भेलि दई है तुमकौं, बकत रही दिन आखौ ।
 जाकी बात कही तुम हमकौ, सु धौ कही को कांधी ।
 तेरै कही पवन कौ भुस भयो, वह्यौ जात ज्यौ आंधी ।
 कत लम करत सुनत को ह्याँ है, होत जु बन कौ रोयो ।
 सूर इते पर समुझत नाही, निपट दई कौ खोयी^३ ।

६. गुप्त मते की बात कहाँ, जो कही न काहू आगे ।
 कै हम जाने कै हरि तुमहूँ, इतनी पावहि मागे ।
 एक बेर खेलत वृंदावन, कंटक चुभि गयो पाइ ।
 कंटक सौं कंटक लै काढ़्यौ, अपने हाथ सुभाइ ।
 एक दिवस विरहत बन भीतर, मैं जु सुनाई भूख ।
 पाके फल वै देखि मनोहर, चढ़े कृपा करि रुख ।
 ऐसी प्रीति हमारी उनकी, वसतै गोकुल वास ।
 सूरदास प्रभु सब बिसराई, मधुवन कियो निवास^४ ।

ऊपर के प्रायः सभी पद पात्र-पात्रियों की सामान्य मानसिक स्थिति में कहे गये हैं और प्रायः सभी की भाषा सरल और सादे ग्रामीण जीवन से मेल खाती है। इसमें प्रधानता तो अर्द्धतत्सम और तदभव शब्दों की ही है, परन्तु तत्सम शब्द भी वे ही प्रयुक्त हुए हैं जिनका उच्चारण बहुत सुगम है और जो उनकी भाषा में धुलमिल गये हैं। इस प्रकार की सरलता का निर्वाह सूरदास जैसे सरल और आडंबरहीन जीवन बितानेवाले कवि के ही वश की बात थी और अपनी इस सादगी में भी वे कदाचित् बेजोड़ ही हैं।

(ग) मथुरा-द्वारका-वासियों की भाषा—अकूर, उद्धव, कस और उसके असुर सभासद, वसुदेव और अन्य यदुवशी मथुरा-द्वारकावासी पुरुष पात्रों में प्रमुख हैं एवं देवकी, रुक्मिणी, सत्यभामा तथा अन्य पुरनारियाँ स्त्री पात्रों में। गोकुल-वृन्दावन के नर नारियों से इन नागरिक पात्र पात्रियों की शिक्षा दीक्षा निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और उसका प्रभाव इनकी भाषा पर पड़ना भी स्वाभाविक ही है। अतः मथुरा और द्वारकावासी पात्र-पात्रियों की भाषा-मिश्रित भाषा-रूप की ओर तो कम, साहित्यिक की ओर अधिक झुकी हुई है जैसे—

१. रथ पर देखि हरि-वलिराम ।

निरखि कोमल चारु मूरति, निरखि मुक्ता - दाम ।
मुकुट कुडल पीत पट छवि, अनुज भ्राता स्याम ।
रोहिनी - सुत एक कुडल, गौर तनु सुख - धाम ।
जननि कैसे धर्यो धीरज, कहति सब पुर - वाम ।
बोली पठ्यो कस इनकों, करै धौं कह काम ।
जोरि कर विधि सौ भनावति, आसिष दै दै नाम ।
न्हात बार न खसै इनकों, कुसल पहुँचै धाम ।
कस को निरवस हूँहै, करत इन पर ताम ।
सूर - प्रभु नैद - सुवन दोऊ हस - बाल उषाम^४ ।

२. देखि री आवत वे दोऊ ।

मनि कचन की रासि ललित अति, यह उपमा नहि कोऊ ।
कीधौं प्रात मानसरवर तै, उडि आए दोउ हस ।
इनकों वपट करै मथुरापति, तौ हूँहै निरवस ।
जिनके सुने करत पुरपारथ, तेई हैं की ओर ।
सूर निरखि यह रूप माधुरी, नारि वरति मन डोर^५ ।

ये वाक्य मथुरा की नारियों के हैं जो श्रीकृष्ण के अनोखे कृत्या की कथा सुनकर उन पर पहले ही मुग्ध हो चुकी हैं और जो आज उनके दिव्य रूप का प्रत्यक्ष दर्शन करके

सौभाग्य सराहती हैं। स्पष्ट है कि वह भाषा सामान्य स्थिति की अपेक्षा प्रेम की मुशकिलता में निरुत्त हुई है और श्रीकृष्ण-बलराम के रूप के कारण कुछ अधिक साहित्यिक भी हो गयी है। फिर भी इन पदों में मुहावरों का प्रयोग उनकी भाषा को अन्य पात्रों की भाषा से भिन्न कर देता है।

उद्धव की भाषा के दो रूप 'सूरसागर' में मिलते हैं। जब वे गोपियों को शुष्क ज्ञान का उपदेश देते हैं, तब उनकी भाषा दार्शनिक विवेचन के नीरस, पारिभाषिकता-प्रधान सामान्य भाषा-रूप के निकट पहुँच जाती है। जैसे—

वे हरि सकल ठौर के वासी ।

पूरन ब्रह्म अखडित, मंडित, पंडित मुनिनि बिलासी ।

सप्त पताल ऊरध अध पृथ्वी, तल नभ वरुन वयारी ।

अम्यंतर दृष्टी देखन कौ, कारन-रूप मुरारी ।

मन बुधि चित अहंकार, दसेद्रिय प्रेरक थंभनकारी ।

ताकै काज वियोग बिचारत, ये अबला ब्रजनारी ।

जाकौं जैसौ रूप मन रुचै, सो अपबस करि लीजै ।

आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै ।

पट दल अठ द्वादस दल निरमल, अजपा जाप जफाली ।

त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, यो मिलिहै बनमाली ।

एकादस गीता सुति साखी, जिहि बिधि मुनि समुझाए ।

ते संदेस श्रीमुख गोपिनि कौ, सूर सु मधुप सुनाए^६ ।

इसके विपरीत, जब वे गोपियों के प्रेम से प्रभावित होकर मथुरा लौटते हैं और श्रीकृष्ण से ब्रजवासियों की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन करते हैं, तब भाषा का रूप पूर्णतया बदल जाता है। उसमें न अब प्रयास है, न शुष्कता और ब्रजवासियों की सी मिश्रित शब्दावली में ही वे कहने लगते हैं—

१. सुनियै ब्रज की दसा गुसाईं ।

रथ की धुजा पीत-पट भूपन, देखत ही उठि धाईं ।

जो तुम कही जोग की बातें, सो हम सब बताईं ।

स्रवन मूँदि गुन-कर्म तुम्हारे, प्रेम मगन मन गाईं ।

ओरो कछू संदेस सखी इक, कहत दूरि ली आईं ।

हुतौ कछू हमहूँ सौ नातौ, निपट कहा विसराई ।

सूरदास प्रभु बन विनोद करि, जे तुम गाईं चराईं ।

लै गाईं अब ग्वाल न घेरत, मानौ भई पराईं^७ ।

२. कहाँ लो कहिए ब्रज की बात ।

सुनहु स्याम तुम विन उन लोगनि, जैसे दिव्य विहान ।
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत सब, मलिन वदन कृत गात ।
परम दीन जनु सिसिर हेम हत, अबुजगन विनु पात ।
जो आवत देखि दूरि तै, उठि पूछत कुसलात ।
चलन न देत प्रेम आतुर डर, कर चरननि लपटात ।
पिक चातक वन वसन न पावत, वायस बलि नहि खात ।
सूर स्याम सदेसनि कै डर, पथिक न उहि मग जात^८ ।

रसिकवर श्रीकृष्ण ऊधव के इस हृदय परिवर्तन का लक्ष्य करते हैं और उन्हीं की सी शब्दावली में ब्रजवासियों के प्रति अपनी अविचल प्रीति की सात्वनामय घोषणा करते हैं—

ऊधौ, मोहि ब्रज विसरत नाही ।
हस-मुता की सुन्दर कगरी, अरु कुजन की छाही ।
वै सुरभी वै वच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाही ।
ग्वाल-वाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाही ।
यह मथुरा कचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाही ।
जवहि सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाही ।
अनगत भाँति करी बहु लीला, जसुदा-नद निवाही ।
सूरदास प्रभु रहे मोन ह्वै, यह कहि कहि पछिताही^९ ।

मथुरा आने पर नागरिक वातावरण में पर्याप्त समय बिताने और शिखा ग्रहण करने के फलस्वरूप श्रीकृष्ण की भाषा में अब परिवर्तन हो जाना चाहिए था, परंतु उसका कोई संकेत उक्त पद की भाषा से नहीं मिलता । कारण है श्रीकृष्ण की मानसिक स्थिति । ब्रजवासियों के निर्मल प्रेम के सामने वे जिन प्रकार मथुरा के राजसी वैभव को तुच्छ समझते हैं, उसी प्रकार उनकी स्मृति से पुलकित होने पर भाषा भी नागरिक संस्कार त्याग कर अपने मूल प्राकृतिक रूप में ही सामने आती है ।

मथुरा-द्वारका के अन्य स्त्री-पुरुषों के, सामान्य स्थिति के वक्ष्य 'भूरसागर' में नहीं के बराबर हैं । वे सब तो अब श्रीकृष्ण के परम प्रिय सपक का मुक्त भाग रहे हैं । अतएव उनके हृष्युक्त हृदय से जो उद्गार निकलते हैं, उनकी भाषा मथुरा के नर-नारियों की भाषा से ही मिलती-जुलती है, जिसके उदाहरण आगे दिये जायेंगे ।

इ. मनोभावों के अनुसार भाषा-रूप—

हृष्य-शोक, प्रेम-घृणा, क्रोध ईर्ष्या आदि मनोभाव विविध परिस्थिति में विविध कारणों से सजग होकर जिस प्रकार जीवन का सामान्य क्रम परिवर्तित कर देते हैं, उसी प्रकार

उसकी नियमित गति में भी तीव्रता ला देते हैं। भाव-विशेष की सजगता-जन्य इस परिवर्तन का पात्र-पात्री की भाषा पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। सूरदास ने श्रीकृष्ण की कथा को जिस रूप में अपनाया है उसमें अतिशय सुख के अनेक अवसर हैं। द्रौपदी की लाज-रक्षा नन्द-गृह में पुत्र-जन्म, अनेक आपत्तियों से उसकी रक्षा, कंस-वध के पश्चात् भय और संकट से प्रजा का मुक्त होना, बारह वर्ष से विछुड़े पुत्रों से वसुदेव देवकी को भेंट आदि के साथ साथ प्रिय समागम के अनेक सुखद प्रसंगों की चर्चा सूर-काव्य में मिलती है। सूरदास ने अपनी ओर से तो इन प्रसंगों का वर्णन असाधारण उल्लास से किया ही है, साथ साथ ऐसे अवसरों पर हर्षातिरेक और कृतज्ञता की जो लहर सबधित पात्र-पात्रियों के हृदय-सागर में हिलोरें लेती है, भाषा के माध्यम से वह पाठक को भी आनन्दसिक्त करने में समर्थ है, जैसे—

१. उठी सखी सब मगल गाइ ।

जागु जसोदा, तेरे बालक उपज्यौ, कुँवर कन्हाइ ।
जो तू रच्यौ-सच्यौ या दिन कौ, सो सब देहि मँगाइ ।
देहि दान बंदीजन गुनि-गन, ब्रज-वासिनि पहराइ ।
तब हँसि कहति जसोदा ऐसै, महरहि लेहु बुलाइ ।
प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ^{१०} ।

२. जल तें आए स्याम तब, मिले सखा सब धाइ ।
मातु-पिता दोउ धाइ कै, लीन्हौ कठ लगाइ ।
फेरि जन्म भयौ कान्ह, कहत लोचन भरि आए ।
जहाँ तहाँ ब्रज-नारि गोप आतुर ह्वै धाए ।
अकम भरि भरि मिलत है, मनु निधनी धन पाइ ।
मिली धाइ रोहिनि जननि, चूमति लेति बलाइ ।
सखा दौरि कै मिले, गए हरि हम पर रिसि करि ।
धनि माता, धनि पिता, धन्य सो दिन जिहि अवतरि^{११} ।

३. गोविंद गोकुल जीवन मेरे ।

जाहि लगाइ रही तन-मन-धन, दुख भूलत मुख हेरे ।
जाके गर्व बधौ नहि सुरपति, रह्यौ सात दिन घेरे ।
ब्रज-हित नाथ गोवर्धन धारचौ, सुभग भुजनि नख नेरें ।
जाकी जस रिषि गर्ग बखान्यौ, कहत निगम नित टेरे ।
सोइ अब सूर सहित संकर्षण पाए जतन घनेरे^{१२} ।

४. आजु बजाई मुरली मनोहर, सुधि न रही कछु तन-मन में ।
 मैं जमुना-तट सहज जाति ही, ठाढ़े कान्ह वृंदावन में ।
 नाना राग-रागिनी गावत, धरे अमृत मृदु वैननि में ।
 सूर निरखि हरि अग त्रिभंगी, वा छवि भरि लियो नैननि में^{१३} ।

५. धाइ मिले पितु-मात को यह कहि मैं निजु तात ।
 मधुरे दोउ रोवन लगे, जिन सुनि कस डरात ।

निहचै जननी जानि कठ धरि रोवन लागी ।
 तव बोले बलराम, मातु, तुम तै को भागी ।
 बार-बार देवै कहै, गोद खिलाए नाहि ।
 द्वादस बरस कहाँ रहे, मातु-पिता बलि जाहि^{१४} ।

इस सभी पदों में सूरदास के विभिन्न पान-पानियों के विविध अवसरों पर व्यक्त किये गये हर्षोद्गार हैं । अंतिम पद में माना देवकी प्रिय पुत्र को वारह वर्ष पश्चान् ललक कर कठ लगानी है, परंतु दीर्घकालीन वदी जीवन से मुक्ति, कस के अत्याचारों से मुक्ति, लाल के प्रिय दर्शन का आनंद और उसको गोद में खिलाने से वंचित रहने, बाल फ्रीडा का सुख न देख सकने के पश्चात्ताप, इन सब सम्मिलित भावों के सहसा उदीप्त हो जाने से उसके अश्रु भी तब तक नहीं धमने जब तक श्रीकृष्ण संकट के दिवसों के समाप्त हो जाने और भावी जीवन के सभी प्रकार से सुखमय होने का परम संतोषमय आश्वासन नहीं दे देते—

पुनि पुनि बोलत कृष्ण, लिखी भेटै नहि कोई ।
 जोइ जोइ मन की साध कहीं करिहीं मैं सोई ।
 जे दिन गए सु तो गए अब मुख लूटी मातु ।
 तात नृपति रानी जननि जाके मोसो तात ।
 जो मन इच्छा होइ तुरत देखो मैं करिहीं ।
 गगन धरनि पाताल जात कतहूँ नहि डरिहीं ।
 मातु हृदय की कही तव, मन बाढ्यो आनंद ।
 महर सुवन मैं तो नहीं, मैं बसुदेव की नद ।
 राज करी दिन बहुत जानि कै है अब तुमको ।
 अष्ट सिद्धि नव निद्धि देउँ मथुरा घर-घर को ।

रमा सेवकिनि देउ करि, कर जोरै दिन जाम ।

अव जननी जनि दुख करौ, करौ न पूरन काम^{१५} ।

श्रीकृष्ण के इन परम सतोपदायक वचनों को सुनकर वसुदेव-देवकी ही नहीं, समस्त भक्तजन भी आश्चस्त हो जाते हैं और स्वयं कवि हर्षोत्तिरेक से गा उठता है—

तव वसुदेव हरपित गात ।

स्याम रामहि कठ लाए, हरपि देव मात ।

अमर दिवि दुदुभी दीन्ही, भयौ जैजैकार ।

दुष्ट दलि सुख दियौ सतनि, ये वसुदेव कुमार ।

दुख गयौ वहि हर्ष पूरन, नगर के नर-नारि ।

भयौ पूरव फल संपूरन, लह्यौ सुत दैत्यारि ।

सुरत विप्रनि बोलि पठये, धेनु कोटि मँगाइ ।

सूर के प्रभु ब्रह्म पूरन, पाइ हरषे राइ^{१६} ।

पात्र पात्रियों के हृदय में असाधारण आनंद का जो स्रोत उमड़ता है, उसको व्यक्त करने वाले निजी वक्तव्य सूर काव्य में अधिक नहीं हैं। इसके कई कारण हैं। सुख के ऐसे व्यक्तिगत अवसरों को सूरदास ने बड़ी व्यापक दृष्टि से देखा है और उन्हें समस्त लोक के लिए आनंदकारी समझा है। दूसरी बात यह है कि ऐसे अवसरों पर लोक का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वयं कवि ने बड़े विस्तार से हर्षोद्गार व्यक्त किये हैं जिनमें पात्रों की आंतरिक प्रफुल्लता भी व्यजित है। इसका उदाहरण अंतिम—‘तव वसुदेव हरपित गात’ से आरंभ होनेवाले—पद में मिलता है। इन सभी पदों में भाषा का मिश्रित रूप ही दिखायी देता है। व्यक्ति को अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते समय भाषा का ध्यान रहता ही नहीं। यही कारण है कि सरल और स्वाभाविक भाषा में ही सूरदास ने ऐसे अधिकांश पद लिखे हैं। परन्तु जिन पदों में श्रीकृष्ण के दर्शन से ब्रज अथवा मथुरा-वासियों की प्रसन्नता प्रकट की गयी है अथवा स्वयं उन्हीं के मुख से उनके मोहक रूप के प्रति आसक्ति अभिव्यक्त करायी गयी है और उसकी असाधारणता के संबन्ध में भी कुछ सकेत किये गये हैं, वहाँ भाषा मिश्रित की अपेक्षा साहित्यिक अधिक हो गयी है। श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन पर मथुरा की नारियो ने उनका परिचय देते हुए जो पद पीछे कहे हैं, उनकी भाषा से इस कथन की पुष्टि होती है।

हर्षोद्गारों की अपेक्षा दुःख और वियोग की स्थितियों में प्रकट किये गये विचार वाले पदों की संख्या बहुत अधिक है। सूर-काव्य में उस सगुण ब्रह्म की लीलाएँ गायी गयी हैं जो भू-लोक-वासियों के दुःख से द्रवित होकर अवतार लेता है। अतएव सगुणोपासक भक्त-कवि की रचनाओं में ऐसे पदों की अधिकता होना स्वाभाविक ही था। बाल्यावस्था में श्रीकृष्ण को जब-जब सबटों का सामना करना पड़ा, तब तब माता यशोदा,

पिता नद तथा अन्य ब्रजवासियों के हृदय की विवलता शब्द-रूप में द्रविण होकर बही है । साथ ही मूरदास न प्रिय कृष्ण के मधुरा जान पर उनके साथ अनेकानेक प्रेन लीलाया का सुख भागनेवाली ब्रजललनाया की दयनीय दशा का भी वर्णन बड़े विस्तार से किया है । स्वयं गापियों की तत्त्ववर्षी उत्तियां भी बड़ी मार्मिक हैं । प्रिय पुत्र के वियोग में माता पिता का हृदय किस प्रकार रदन करता है, इसको भी कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से लक्ष्य किया है जैसा कि निम्नलिखित पदों में स्पष्ट होना है —

१ जमुना तोहि बह्यो क्यों भावै ?

तोमैं कृष्ण हेलुवा मेलै सा सुरख्यो नहि आवै ।
तेरो नीर मुची जो अब लौं सार-भनार कहावै ।
हरि-वियोग काउ पाउं न दैहै को तट बेनु बजावै ।
भरि भादों की राति अष्टमी, सा दिन क्यों न जनावै^{१७} ।

२ नद पुकारत रोइ, बुढाइ मैं मोहि छाँड्यो ।
कछु दिन मोह लगाइ जाइ जल-भोतर माँड्यो ।
यह कहि कै घरनी गिरत, ज्यों तरु कटि गिरि जाइ ।
नद-घरनि यह देखि कै, कान्हहि टेरि बुलाइ ।
निठुर भए सुत आजु तात को छोह न आवत ।

X

X

X

कहति उठी बलराम सौं कितहि तज्यो लघु भ्रात ।
कान्ह तुमहि बिनु रहत नहि, तुमसौं क्यों रहि जात ।
अब तुमहें जनि जाहु, मखा इक देहु पठाई ।
कान्हहि त्यावै जाइ, आजु अवसैर कराई ।
छाक पठाऊं जोरि कै, मगन सोक-सर-माँझ ।
प्रात कछू खायो नही, भूखे हूँ गई साँझ ।
कबहुँ कहति बन गए, कबहुँ कहि घरई बतावति ।
कहैं सेस्त हो बाल, टेरि यह कहति बुलावति ।
जागि परे दुख-मोह तैं रोवत देखे लोग ।
जब जान्यो हरि दह गिरयो, उपज्यो बहुरि वियोग ।
धिक-धिक नदहि कह्यो, और किनने दिन जोही ।
मरत नही मोहि मारि, बहुरि ब्रज बसिबो कोही ।
ऐसे दुख सौं मरन मुन, मन करि देखहु जान ।
व्याकुल घरनी गिरि परे, नद भए बिनु प्रात^{१८} ।

३. नंद, घरनि यह कहति पुकारे ।

कोउ बरपत, कोउ अगिनि जरावत, दर्द पर्यौ है खोज हमारे ।

तब गिरिवर कर घरघौ कन्हैया, अब न बाँचिहै मारत जारे ।

जैवन करन चली जब भीतर, छोकि परी ती आजु सवारे ।

ताकौ फल तुरतहि इक पायौ, सो उबरघौ भयौ धर्म सहारे ।

अब सबको संहार होत है, छोकि किए ये काज विगारे ।^{१९}

कैसेहुँ ये बालक दोउ उबरै, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे^{२०} ।

प्रथम दो पद 'कालिय नाग-नाथन' प्रसंग के हैं और अन्तिम है 'दावानल प्रसंग' का । एक विपत्ति से छुटकारा नहीं मिलना कि दूसरी आ घेरती है । ऐसी स्थिति में उस दैव के प्रति भी सदेह हो जाना नितांत स्वाभाविक है, जिसकी कृपा पर सुख के दिनों में पूर्ण विश्वास बना रहता है । अन्तिम पद में इसी बात की ओर सचेत किया गया है । दुख की अधिकता में लवे वाक्य और क्रमबद्ध उद्गार नहीं निकलते । यह बात द्वितीय उदाहरण में देखी जा सकती है । दुखातिरेक से माता यशोदा की स्थिति विक्षिप्त-सी हो जाती है जिसका असंबद्ध प्रलाप भी इस पद में मिलता है । भाषा इन सभी पदों की सीधी-सादी और सामान्य रूप से मिश्रित है । दुख की अत्यधिकता में शरीर और वस्त्रों की तो सुध रहती नहीं, भाषा की चिंता कौन करता है ? यह बात भी इन पदों की सरल और अनलंकृत भाषा के संबन्ध में सर्वथा मत्त है ।

यह तो हुआ श्रीकृष्ण की ब्रजवासकालीन आपत्तियों के कारण माता-पिता की दुःख-मय अवस्था के प्रलापों की भाषा का परिचय; उनके मथुरा-प्रवास पर नंद-यशोदा का विलाप जिस शब्दावली में दिया गया है, उसका कुछ अनुमान इन पदों से हो सकता है—

१. जसोदा बार-बार यों भायै ।

है कोउ ब्रज में हितु हमारी, चलत गुपालहि राखै ।

कहा काज मेरे छगन-मगन कौ, नृप मधुपुरी बुलायौ ।

सुफलक-सुत मेरे प्रान हरन कौ, काल-रूप ह्वै आयौ ।

बरु वह गोघन हरौ कस सब, मोहि बंदि लै मेलौ ।

इतनोई सुख कमल-नयन मेरी अँखियनि आगे खेलौ ।

बासर वदन विलोकत जीवौ, निसि निज अंकम लाऊँ ।

तिहि विधुरत जौ जियौ कर्मवस ती हँसि काहि बुलाऊँ ।

कमलनयन गुन टेरत-टेरत, अघर वदन कुम्हिलानी ।

सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ दुखित नंद जु की रानी^{२१} ।

२. जसुमति अति ही भई विहाल ।

सुफलक-सुत यह तुमहि वृजियत, हरत हमारै बाल ।

ये दोउ भैया जीवन हमरे कहति रोहनी रोई ।
 धरनी गिरति, उठति अति व्याकुल, कहि राखत नहि कोई ।
 निठुर भए जब ते यह आयौ, घरहु आवत नाहि ।
 सूर कहा नृप पास तुम्हारी, हम तुम विनु मरि जाहि २१ ।

३. मोहन नैकु वदन-तन हेरौ ।
 राखौ मोहि नात जननी को, मदन गुपाल लाल मुख फेरो ।
 पाछे चढी विमान मनोहर, बहुरौ ब्रज में होत अंधेरो ।
 विछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखौ घोष जनम की खेरो ।
 समदो सखा स्याम यह कहि कहि, अपने गाइ-ग्वाल सब घेरो ।
 गए न प्रान सूर ता अवसर, नद जतन करि रहे घनेरो २२ ।

४. कहा हौं ऐसे ही मरि जैहों ।
 इहि आंगन गोपाल लाल को, कवहुँ कि कनिया लैहों ।
 कब वह मुख बहुरौ देखौंगी, कहूँ बैसी सचु पैहों ।
 कब मोपै माखन माँगेंगे, कब रोटी धरि दैहों ।
 मिलन आस तन प्रान रहत हैं, दिन दस मारग ज्वैहों ।
 जो न सूर आइहैं इते पर, जाइ जमुन घँसि लैहों २३ ।

प्राण-प्रिय पुत्र का मथुरा प्रवास माता यशोदा के जीवन का सबसे दुःखमय प्रसंग था, परंतु उसमें आशा की एक किरण दीप्त थी। वह यह कि अनेकानेक आपत्तियों से जिस प्रकार श्रीकृष्ण को पहले रक्षा हो चुकी है, उसी प्रकार कस को मार कर पिता नद के साथ वे इस बार भी सबुशल ब्रज लौट आयेंगे। परंतु माता यशोदा की जीवित रखनेवाली यह आशा उस दिन अधकारमयी निराशा में परिणत हो गयी जब उसने पति को अबेले ही घर लौटते देखा। पुत्र के वियोग के अनंत दुःख से अब उसका हृदय फटने लगा जिससे पति पर वह बार-बार खीझती और मुँझलाती है। इस अवसर पर यशोदा की भाषा का परिचय निम्नलिखित पदों से मिलता है -

१. जसुदा कन्ह कान्ह के बूझ ।
 फूटि न गईं तुम्हारी चारों, कैसे मारग सूझ ।
 इक तो जरी जात विनु देखे, अब तुम दीन्हौ फूँकि ।
 यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर विनु, फटि न भई द्वै टूक ।
 धिक तुम धिक ये चरन अहौ पति, अध बोलत उठि घाए ।
 सूर-स्याम-विछुरन की हम पै दन बधाई आए २४ ।

२. कह ल्यायी तजि प्राण जिवन धन ।

राम कृष्ण कहि मुरछिपरी धर, जसुदा देखत ही पुर लोगन ।
विद्यमान हरि-बचन स्रवन सुनि, कैसे गए न प्राण छूटि तन ।
सुनी न कथा राम-दसरथ की, अहौ न लाज भई तेरे मन ।
मंद हीनमति भयी नंद अति, होत कहा पछिताने छन-छन ।
सूर नंद फिरि जाहु मधुपुरी, ल्यावहु सुत करि कोटि जतन धन^{२५} ।

श्रीकृष्ण के व्रजवास-कालीन संकटों से उनके सखाओं और उनकी प्रिय व्रज-बालाओं को अत्यंत दुख होना तो स्वाभाविक था, परंतु उनके तत्संबंधी उद्गारवाले पद मूर-काव्य में बहुत कम हैं । हाँ, प्रेमलीलाओं के अवसर पर प्रियतम के अंतर्धान हो जाने पर उनकी सुकुमार प्रेमिकाएँ जिस वियोग-जन्य दुख का अनुभव करती हैं, उसके द्योतक वक्तव्यों की भाषा का परिचय नीचे लिखे पदों से मिल सकता है—

१. सखी मोहि मोहनलाल मिलावै ।

ज्यों चकोर चंदा को, कोटक भृगी ध्यान लगावै ।
बिनु देखे मोहि कल न परति है, यह कहि सबनि सुनावै ।
बिनु कारन मैं मान कियो री, अपनेहि मन दुख पावै ।
हा-हा करि-करि, पायनि परि-परि, हरि-हरि टेर लगावै ।
सूर स्याम बिनु कोटि करी जी, और नही जिय आवै^{२६} ।

२. अहो कान्ह, तुम्है चहौं, काहै नहि आवहु ।
तुमही तन, तुमहीं धन, तुमहीं मन भावहु ।
कियो चहौं अरस-परस, करौं नही माना ।
सुन्यौ चहौं सवन, मधुर मुरली की ताना ।
कुंज-कुंज जपत फिरीं, तेरी गुन-माला ।
सूरज-प्रभु बेगि मिली, मोहन नंदलाला^{२७} ।

परंतु प्रियतम कृष्ण को मथुरा जाते देखकर कोमल कनेवरा गोपियों का सुकुमार और प्रेमपूर्ण हृदय असह्य वियोग का भार सहन नहीं कर पाता और निम्नलिखित शब्दों में विलस उठता है—

१. चलन कौं कहियत है हरि-आज ।

अबहीं सखी देखि आई है, करत गवन को साज ।
कोउ इक कंस कपट करि पठ्यौ, कछु संदेस दै हाथ ।
सु तो हमारी लिये जात है, सरवस अपने साथ ।

सो यह मूल नाहिं नुनि सजनी, सहियै धरि जिय लाज ।
 भीरज जात, चली अवही मिलि, दूरि गएँ वह व्रज ।
 छाडौं जग जीवन की आत्ता, अरु गुरुजन की कानि ।
 विनती कमल-नयन सौं करियै, सूर समै पहिजानि^{२८} ।

२ पाछे ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पाये ।
 मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाय ।
 पवन न भई, पताका अवर, भई न रथ के अग ।
 धूरि न भई चरन लपटाती, जाती उन्हें लो सग ।
 ठाढी कहा, करौ मेरी सजनी, जिहि विधि मिलहि गुपाल ।
 सूरदास-प्रभु पठे मधुपुरी, मूरति परो ब्रजवाल^{२९} ।

अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण व मथुरा जात समय माता यशोदा के वियोग-दर्शन में ही कवि का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहा है । इसलिए ब्रजवास्तियों के तत्त्वबोध कथन वाले पद इस प्रसंग में अधिक नहीं मिलते । परन्तु आगे चलकर 'भूरसागर' में गोपियों के विरह-वर्णन को कवि ने बहुत विस्तार दिया है और प्रायः प्रत्येक पद में कोई न कोई ऐसी मार्मिक उक्ति पाठक का अवश्य मिन जाती है जिससे वह कवि की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाता है । विद्यागिनी ब्रज-वालाआ के विरह-वर्णन वाले इन पदों को स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— प्रथम में उनके पारस्परिक वचन हैं और द्वितीय में अपनी दयनीय दशा का वर्णन उन्होंने उद्धव से किया है । प्रथम वर्ग के कुछ उदाहरण ये हैं—

१- इहि विरियाँ वन तैं ब्रज आवत ।

दूरहि तैं वह वेनु अधर धरि, बारबार बजावत ।
 बबहुँक वाहूँ भाँति चतुर चित, अति ऊँचे मुर गावन ।
 बबहुँक लै लै नाम मनोहर, धौरो घेनु बुलावत ।
 इहि विधि वचन नुनाइ स्याम धन, मुरछे मदन जगावत ।
 आगम सुख उपचार विरह-जुर, वासर अत नसावत ।
 रचि रुचि प्रेम पियासे नैननि, श्रम श्रम बलहि चटावन ।
 भूर सकल रननिधि मुदरधन, आनंद प्रगट करावन^{३०} ।

२- फिरि ब्रज वसां गोकुलनाथ ।

अब न तुमहि जगाइ पठवै, गोधननि के साथ ।
 वरजै न माखन खात बबहुँ, दह्यो देन लुटाइ ।

अब न देहि उराहनौ, नँद-घरनि आगै जाइ ।
 दौरि दाँवरि देहि नहि, लकुटी जसोदा पानि ।
 चोरो न देहि उघारि कै, औगुन न कहिहै आनि ।
 कहिहै न चरननि देन जावक, गुहन बेनी फूल ।
 कहिहैं न करन सिंगार कवहूँ, वसन जमुना-कूल ।
 करिहैं न कवहूँ मान हम, हठिहै न माँगत दान ।
 कहिहै न मृदु मुरली बजावन, करन तुम सौ गान ।
 देहु दरसन नद-नदन, मिलन की जिय आस ।
 सूर हरि के रूप कारन मरत लोचन प्यास^{३१} ।

३. सखी इन नैननि तें घन हारे ।

बिनही रितु बरसत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे ।
 ऊरघ स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
 बदन सदन करि बसे वचन-खग दुख-पावस के भारे ।
 दुरि-दुरि बूँद परति कचुकि पर, मिलि अजन सौ कारे ।
 मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरत धरि न्यारे ।
 घुमरि घुमरि बरपत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे ।
 बूझत ब्रजहि मूर को राखै, विनु गिरिवरधर प्यारे^{३२} ।

४. अब यह तनहि राखि कह कीजै ।

सुन री सखी, स्यामसुंदर विनु, वाँटि विषम विष पीजै ।
 कै गिरिऐ गिरि चढि सुनि सजनी, सीस सकरहि दीजै ।
 कै दहिऐ दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै ।
 दुसह वियोग विरह माघी के, को दिन ही दिन छीजै ।
 सूर स्याम प्रीतम विनु राधे सोचि सोचि कर मीजै^{३३} ।

इसी प्रकार के लगभग ढाई सौ पदों में गोपियों के हृदयस्पर्शी वचन हैं जो श्रीकृष्ण के वियोग-जन्य दुख से अत्यंत व्यथित होकर उन्होंने परस्पर कहे हैं । इनके पश्चात्, उद्धव के आगमन पर और उनका उपदेश सुनकर वे अपनी अन्य प्रीति की दृढ़ता का परिचय देती हुई असह्य विरह-व्यथा का निवेदन करती हैं—

१. और सकल अंगनि तैं ऊघौ, अँखियाँ अधिक दुखारी ।
 अतिहि पिराति सिराति न कवहूँ, बहुत जतन करि हारी ।
 मग जोवत पलकी नहि लावति, विरह-विकल भई भारी ।
 भरि गई विरह बयारि दरस विनु, निसि दिन रहत उघारी ।

ते अलि अव ये ज्ञान-सलाकै, क्यों सहि सकति तिहारी ।
सूर जु अंजन आंजि रूप रस, आरति हरहु हमारी^{३४} ।

२. बहुत दिन गये ऊधौ, चरन-कमल मुख नही ।
दरस हीन दुखित दीन, छिन-छिन विपदा सही ।
रजनी अति प्रेम पीर, बन गृह मन धरै न धीर ।
बासर मग जोवत उर, सरिता वही नैन-नीर ।
नलिनी जनु हेम घात, कपित तन कदलि पात ।
लोचन जल पावस भयो, रही री कछु समुझि वात ।
जौ लौं रही अवधि आस, दिन गनि घट रही स्वास ।
अव वियोग विरहनि तन तजिहैं कहि सूरदास^{३५} ।

३. ऊधौ, हमहि कहा समुझावहु ।

पसु-पछी सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु ।
बिन न चरत गो, पिवत न सुत पय डूँढत बन-वन डोलै ।
अलि कोकिल दै आदि विहगम, भांति भयानक बोलै ।
जमुना भई स्याम स्यामहि विनु, इदु छीन छय रोगी ।
तरुवर पत्र-वसन न सँभारत, विरह वृच्छ भए जोगी ।
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन ।
सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि-आस में लीन^{३६} ।

४. नंदनंदन सी इतनी कहियो ।

जद्यपि ब्रज अनाय करि डारधौ, तद्यपि सुरति किए चित रहियो ।
तिनका-तोर करहु जनि हमसों, एक बात की लाज निवहियो ।
गुन औगुननि दोष नहि कीजतु, हम दासिनि की इतनी सहियो ।
तुम बिन प्रान कहा हम करिहैं, यह अवलव न सुपनेहु लहियो ।
सूरदास पाती लिखि पठई, जहां प्रीति तहें ओर निवहियो^{३७} ।

५. (ऊधौ) देखत हौ जैसे ब्रजवामी ।

लेत उसांस नैन जल पूरत, सुरिरि सुमिरि अविनासी ।
भूलि न उठति जसोदा जननी, मनो भुवगम डासी ।
छूटत नही प्रान क्यों अटके, कठिन प्रेम को फाँसी ।
आवत नही नंद मंदिर में, भयो फिरत बनवासी ।

परम मलीन धेनु दुर्वल भई, स्याम-विरह की त्रासी ।

गोपी-ग्वाल-सखा बालक सब कहूँ न सुनियत हाँसी^{३८} ।

यह तो हुई श्रीकृष्ण के जीवन से संबंधित व्यक्तियों के वियोग-जन्य दुख की बात जो 'भूरसागर' के दशम स्कंध के मुख्य विषयों में प्रधान है । इसके पूर्व, प्रथम और नवम स्कंधों में भी संकट में पड़े कुछ पात्र-पात्रियों की कथोक्तियाँ बहुत मार्मिक हैं—

१. राखी पति गिरिवर-गिरधारी ।

अब तौ नाथ, रह्यौ कछु नाहिन, उधरत, नाथ अनाथ पुकारी^{३९} ।

२. रघुनाथ पियारे आजु रहौ (हो) ।

चारि जाम बिसाम हमारे, छिन-छिन मीठे वचन कहौ (हो) ।

बृथा होहु बर वचन हमारौ, कैकई जीव कलेस सहौ (हो) ।

आतुर ह्वै अब छाँड़ि अवधपुर, प्रान-जिवन कित चलन कहौ (हो) ।

बिछुरत प्रान पयान करैगे, रहौ आजु पुनि पंथ गहौ (हो) ।

अब सूरज दिन दरसन दुरलभ, कलित कमल कर कंठ गहौ (हो)^{४०} ।

३. फिरत प्रभु पूछत वन-द्रुम बेली ।

अहो बंधु, काहूँ अवलोकी, इहि मग बधू अकेली ?

अहो बिहंग, अहो पन्नग-नृप या कदर के राइ ।

अबकै मेरी विपति मिटावौ, जानकि देहु बताइ^{४१} ।

४. मैं परदेसिनि नारि अकेली ।

बिनु रघुनाथ और नहि कोऊ, मातु-पिता न सहेली ।

रावन भेष धरचौ तपसी कौ, कत मैं भिच्छा मेली ।

अति अज्ञान मूढ-मति मेरी, राम-रेख पग पेली ।

विरह-ताप तन अधिक जरावत, जैसै दब द्रुम बेली ।

सूरदास प्रभु बेगि मिलावौ, प्रान जात है खेली^{४२} ।

दुख, शोक, वियोग और मानसिक क्लेश की स्थिति में कहे गये इन सभी उद्धरणों की भाषा सामान्यतया मिश्रित है । उसमें तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का प्रायः समान प्रयोग किया गया है और विदेशी शब्द भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं । कहावतों का प्रयोग इनमें कम है; परंतु मुहावरों के प्रयोग में उपयुक्तता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है । दुख-शोक का आवेग जब अमह्य हो जाता है और पात्र-पात्री को प्रलाप के आवेश में अपनी स्थिति तक का पता नहीं रहता, तब भाषा में तत्सम शब्दों की कुछ कमी हो

जानी हैं और भाषा का रूप जन-वाली के अधिक निकट जान पड़ता है। इसके विपरीत, पूर्व श्रीडाआ और सयाग-लीलाआ की स्मृति जहाँ सजग हो जाती है, वहाँ तन्मय शब्दों की सस्या मिश्रित रूप में कुछ बढ़ जाती है। इसा प्रकार गापियों ने पूर्व स्मृति के रूप में प्रियतम श्रीकृष्ण के उम मनाहर और दिग्न रूप की जहाँ चर्चा की है, जिस पर आसक्त हावर के हृदय हार बैठी थी और नाक-लाज, कुल-कानि का भी उन्होंने सहर्ष त्याग दिया था, वहाँ भाषा का रूप पूर्णतया साहित्यिक हो जाता है, यद्यपि उसमें अलंकारों की योजना नहा के बराबर है। आलंकारिक भाषा के उदाहरण वियाग में न हा, ऐसा ता नहा है परंतु उनकी सस्या बहुत कम है। गापियाँ के साग रूपकों में इस प्रकार की भाषा मिलती है यद्यपि शुद्ध रूप में उनमें स्व-दुख वर्णन नहीं हैं।

मुख-दुख की सामान्य स्थितियाँ में प्रकट किय गय इन विचारों के अतिरिक्त आश्चर्य, प्राप्ताहन, उपायम, नाघ पश्चानाप, वारावग व्यग्य विनाद आदि वृत्तियों और भावों के उमड़ने पर जिस प्रकार की भाषा विभिन्न पात्र पात्रियाँ के मुख में निकलती है, उसकी भी सूरदास को पूरी जानकारी थी। अतएव प्रत्येक मनोभाव के उपयुक्त शब्दावली का उन्होंने मवत्र प्रयोग किया है।

क आश्चर्यपुक्त स्थलों की भाषा—किसी के असाधारण कृत्य का देखकर सामान्य स्त्री पुरुषों को आश्चर्य होना स्वभाविक है। स्त्रियाँ की भाषा ऐसी स्थिति में सामान्यतया मुहावरेदार हो जाती हैं, परंतु बालका की शब्दावली में उनकी प्रकृति की छाया ही प्रतिबिंबित होती है। यदि व्यक्ति आश्चर्य के अनेक कार्य कर चुका हा, ता उसका नवीन अद्भुत कृत्य देखत ही पूर्व कर्मों का स्मरण भी प्राय हो आता है जिससे हर्ष का अन्य भाव भी सजग हाकर उक्ति को प्रगल्भात्मक बना देता है। ऐसी स्थिति पर भाषा में तत्सम शब्दों की कुछ अधिकता हो जाती है। सूरदास के निम्नलिखित पदा में भाषा के ये तीनों रूप मिलते हैं

१ देखो री जमुमति वीरानी ।

घर घर हाथ दिवावति डोलति, गोद लिए गोपाल विनानी ।
जानत नाहि जगनगुरु भाधौ, इहि आए आपदा नसानी ।
जाको नाउँ सक्ति पुनि जाको, ताको देत मत्र पडि पानी ।
अखिल ब्रह्मड उदरगत जाके, जाकी जोत जल-थलहि समानी ।
सूर सकल साँची मोहि लागति जो कछु कही गर्ग मुख बानी^{४३} ।

२ ब्रज में को उपज्यो यह भैया ।

सग सखा सब कहत परस्पर, इनके गुन अगमैया ।
जब तै ब्रज अवतार घरयो इन, कोउ नहि घात करैया ।
तृनावर्त पूतना पछारी, तब अति रहे नन्दैया ।

। कितिक बात यह वंको बिदारथौ, धनि जसुमति जिन जैया ।
। सूरदास प्रभु की यह लीला, हम कत जिय पछितैया ४४ ।

३. चकित देखि यह कहैं नर-नारी ।

धरनि-अकास बराबरि ज्वाला, झपटति लपटि करारी ।
नहि वरण्यो, नहि छिरक्यौ काहू, कहैं धौ गई बिलाइ ।
अति आघात करति वन-भीतर, कंसै गई बुझाइ ४५ ।

४. ब्रज-बनिता सब कहति परस्पर, नद महर कौ सुत बड़ वीर ।
देखो धौ पुरुषारथ इहिकी अति कोमल है स्याम-सरीर ।
गयो पताल उरगि गहि आन्यौ, ल्यायो तापर कमल लदाइ ।
कमल-काज नृप ब्रज-मारत हो, कोटि जलज तिहि दिए पठाइ ।
दावागिनि नभ-धरनि बराबरि, दसहुँ दिसा ते लीन्ही घेरि ।
नैन मुँदाइ कहा तिहि कीन्ही, कहैं नही जो देखै-हेरि ।
ये उतपात मिटत इनहीं पै, कस कहा बपुरी है-छार ।
सूर-स्याम अवतार बड़ी ब्रज, येई है कर्त्ता संसार ४६ ।

श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्य देखकर ब्रजवासियों को जो आश्चर्य होता है, वही उक्त पदों में अभिव्यक्त है । प्रथम और तृतीय पदों में ब्रज-वालाओं की उक्तियाँ हैं । भाषा की दृष्टि से पहले पद में जहाँ अनेक मुहावरों का प्रयोग है, वहाँ तृतीय की भाषा सीधी-सादी है । दूसरे पद में वातकों का कथन भी इसी प्रकार की सरल भाषा में है । अंतिम पद में हैं तो गोपियों के पारस्परिक वचन; परन्तु, श्रीकृष्ण के आश्चर्यजनक पूर्व कृत्यों की स्मृति ने उनके मानस में हर्ष का ऐसा संचार किया है कि वाक्य प्रशंसात्मक हो गये हैं और भाषा में सत्तम शब्दों का, अन्य पदों की अपेक्षा अधिक प्रयोग हुआ है ।

✕

ख. प्रोत्साहनपुर्वक स्थलों की भाषा—कार्य विशेष में सौत्साह प्रवृत्त करने के लिए कहे गये वाक्य 'सूरकाव्य' में मुख्यतया सयोग लीला प्रसंग में मिलते हैं । राधा किसी कारण से मान करती है और कृष्ण मनाने में जब असफल होते हैं, तब दूती दोनों को मिलाने का दायित्व अपने ऊपर लेती है । प्रिया की मान युक्त उदासीनता से खिन्न कृष्ण को वह अपने वचनों से उत्साहित करती है, राधा से कभी चाटुकारिता प्रदान वचन कहकर उसके रूप-गुण की प्रशंसा करती है, कभी मान करने पर अस्मभाव्य अनिष्ट की ओर से शुभाकांक्षणी बनकर, उसको सचेत करती है और इस प्रकार बड़ी आत्मीयता से उसके मान को अनुचित बताती है । इन प्रोत्साहन वाक्यों की भाषा का अनुमान निम्नलिखित उद्धरणों से हो सकता है—

१ कहा बैठे, चलें बनिहै, आपहूँ नहिँ मानिहौ ।
 तुम कुँवर घर ही के बाड़े, अब कछू जिय जानिहौ ।
 बेगि चलियै अनखिहै तुम इहाँ वह उहँ जरति है ।
 बाके जिय कछू ओर ह्वैहै, कपट करि हठ धरति है ।
 राधिका अति चतुर जानौ जाइ ता डिंग ही रही ।
 कहा जो मुख फेरि बंठी, मधुर-मधुर वचन कहौ ।
 सूर प्रभु अब बनें नाचें, काछू जँसी तुम कछूपौ ।
 कहियै गुननि प्रवीन राधा श्रोध विष काहँ भछपौ^{४७} ।

२ स्याम चतुरई कहाँ गँवाई ।
 अब जाने घर के बाड़े हो, तुम ऐसे कह रहे मुरझाई ।
 बिना जोर अपनी जाँघनि के, कैसे सुख कीन्हौ तुम चाहत ।
 आपुन दहत अचेत भए क्यों, उत मानिनि मन काहँ दाहत ।
 उहँई रहौ कहँगी तुमको, वतहँ जाइ रहे बहुनायक ।
 सूरस्याम मन-भाहन कहियत तुम हौ सब ही गुन के लायक^{४८} ।

३ तू तो प्रान प्रान-वल्लभ कै, वै तुव चरन-उपासी ।
 सुनिहै कोऊ चतुर नारि, वत करति प्रेम की हाँसी ।

X

X

X

इन घोसनि रूसुनौ करति है, करिहै कबहिँ कलोलै ।
 कहा दियो पढि सोस स्याम कै, खींचि अपनी सो तँ ।
 तोहिँ हठ परयो प्रानवल्लभ सौ, छूटत नही छुड़ायो ।
 देखहु मुरछि परघौ मनमोहन, मनहुँ भुअगिनि खायो ।

X

X

X

जानहुगी तव भानहुगी मन, जब तनु काम दहँगी ।
 करिहौ भान मदनमोहन सौ, मानँ हाथ रहँगी^{४९} ।

इन पदों की भाषा तो मिश्रित ही है, परन्तु मुहावरा-कहावतों का, जैसा कि बड़े छपे अंग से स्पष्ट है इनमें अधिक प्रयोग किया गया है । सीधी-सादी भाषा में इतनी अधिक स्पष्टता रहती है कि श्रोता को प्रत्यक्ष अर्थ के आगे सोचने का अवसर कम मिलता है, परन्तु मुहावरो-कहावतों की अभिप्राय-भूचक साकेतिकता, विशेष प्रभावोत्पादक होने के साथ-साथ, श्रोता की चितन-वृत्ति का भी सजग करती है । सामान्य शब्दावली स्मृति में देर तक टिकती भी नहीं, परन्तु लोकाक्तियाँ और मुहावरे अपनी अर्थ-

विषयक विशिष्टता के कारण मस्तिष्क में बहुत समय तक चक्कर काटा करते हैं। ऊपर उद्धृत पदों की भाषा इसी दृष्टि से महत्व की है। प्रश्नवाचक वाक्यों की योजना ने भी कहीं-कहीं इस भाषा को बहुत प्रभावशालिनी बना दिया है।

ग. उपालम्बयुक्त स्थलों की भाषा—बालक कृष्ण की 'अचगरी' और किशोर कृष्ण की छेड़छाड़ जब बहुत बढ़ जाती है, तब ब्रज की गोपियाँ उपालम्ब के लिए माता यशोदा के पास जाती हैं। इस अवसर पर कहे गये उनके वाक्यों में खीझ है, झुंझलाहट है और रोष भी है। वे कभी तो पुत्र के प्रति यशोदा के लाड़-प्यार का उपहास करती हैं, कभी कृष्ण की करतूतों और अपनी हानियों का बखान करती हैं और कभी गाँव छोड़ने की धमकी दे जाती है। ऐसे स्थलों की भाषा निम्नलिखित पदों में देखी जा सकती है—

१. कन्हहि वरजति किन नँदरानी ।

एक गाउँ के बसत कहाँ लौं करै नद की कानी ।
तुम जो कहति हो, मेरी कन्हैया गमा कैसो पानी ।
बाहिर तरुन किशोर बयस बर, बाट-घाट को दानी ।
बचन बिचित्र, कमल-दल-लोचन, कहत सरस बर बानी ।
अचरज महरि तुम्हारे आगे, अब जीभ तुतरानी^{५०} ।

२. सुनि-सुनि सी तैं महरि जसोदा, तैं सुत बड़ो लड़ायो ।
इहि ढोटा लै खाल भवन में, कछु बिचरयो कछु खायो ।
काकै नही अनोखो ढोटा, किहि न कठिन करि जायो ।
मैं हूँ अपने ओरस पूतैं बहुत दिननि मैं पायो^{५१} ।

३. महरि स्याम को वरजति काहें न ।

जैसे हाल किए हरि हमको, भए कहूँ जग आहें न ।
और बात इक सुनौ स्याम की, अतिहि भए हैं ढीठ ।
बसन बिना अस्नान करति हम, आपुन मीडत पीठ ।
आपु कहति मेरी सुत बारी, हियो उधारि दिखाऊँ ।
सुनतहुँ साज कहत नहि आवै, तुमको कहा लजाऊँ^{५२} ।

४. देखौ महरि स्याम के ये गुन, ऐसे हाल करे सबके उन ।
चोली, चीर, हार बिखराए । आपुन भागि इतिहि को आए ।

×

×

×

इनके गुन कैसे कोउ जानै । औरै कहत और धरि वानै ।
देन उरहनी तुमको आई । नीकी पहरावनि हम पाई^{५३} ।

उपालभ की स्थिति साधारणतया खीझ और झुंझलाहट के बहुत बढ जाने-पर आती है। परन्तु गाँपियों के उक्त वाक्यों में सूत्रित खीझ या झुंझलाहट चास्तविक नहीं, कृत्रिम ही है। कारण यह है कि प्रिय कृष्ण के प्रति उनकी प्रीति असौम्य है और-उनके प्रत्येक व्यवहार से उन्हें अपूर्वानन्द ही मिलता है। उपालभों के मिस कभी तो वे उनके दर्शन को जानते हैं और कभी गुरुजन को उँगली उठाने या बुरा-बला कहने का अवसर न देने के लिए उलाहना देती हैं। माता यशोदा से कह गये उनके वाक्यों से यद्यपि इन मनोभावों की स्पष्ट सूचना नहीं मिलती, तथापि व इस बात की समझती अवश्य हैं। अतएव उनकी शब्दावली में झुंझलाहट का सामान्य भवेत् भर है, चुभनेवाले शब्दों का प्रयोग उन्होंने कही नहीं किया है। मृदावरो का प्रयोग उक्त वाक्यों में अवश्य अधिक है, जिनमें से कुछ बहुत जथगर्भित हैं। इनका प्रयोग एक ती ग्रामवासिनी गाँपिया के स्वभावा-नुकूल है और दूसरे, निजनाहट की उस स्थिति के अनुरूप जिसमें भाषा कुछ व्यग्रपूर्ण हो जाती है। ऐसी अवसर पर मूरदास की भाषा की यह विशेषता अवश्य ध्यान देन योग्य है कि गाँपियों का व्यग्र सदैव ही है, वह श्रोता को खिन्नताता भर है, उसको क्रोध से अन्धा नहीं कर देता। तत्समन्तद्भव शब्दों की दृष्टि से उपालभ-प्रसंगों की भाषा प्रायः सर्वत्र मिश्रित है जो पात्र और मनोभाव, दोनों की दृष्टि से उपयुक्त है।

घ.। क्रोधयुक्त स्थलों की भाषा—सूर-वाक्य में प्राप्त क्रोध की व्यञ्जनावाले पदों को, स्थूल रूप से, दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे पद आते हैं जिनमें क्रोध की सामान्य स्थिति अभिव्यक्त है। खीझ, झुंझलाहट आदि हल्के भावों का योग रहने के कारण क्रोध का यह रूप सर्वथा निष्क्रिय ही रहता है। दूसरे रूप में, इसके विपरीत, घृणा या तिरस्कार का भाव इतना प्रबल हो जाता है कि क्रोध का आवेश बहुत बढ जाता है। सहृदय-भाव से प्रयुक्त व्याप्य क्रोध के पहले रूप में साभिप्राय रहने पर भी अधिक तीव्रता नहीं होता, परन्तु दूसरी स्थिति में उसके तीव्रपन की इतनी वृद्धि हो जाती है कि ललित श्रोता तो तिलमिला ही जाता है, पठक को भी क्रोध के सक्रिय हो जाने की सम्भावना दोखने लगती है। क्रोध की सामान्य स्थिति में मूरदास द्वारा प्रयुक्त भाषा का परिचय निम्न पदा से मिलता है —

१. सुन रे ग्वारि, कहीं इक बात ।

मेरी-सौ-तुम-याहि मारियो, जबही पावो घात ।

अब मैं-याहि-जकरि बाँधोंगी, बहुत मोहि खिजायो ।

साटिनि मारि करों पहुनाई, चितवत कान्ह-डरायो^{५४} ।

२. सुनहु बात मेरी बलराम ।

करन देहु इनकी मोहि पूजा, चोरी प्रगटत नाम^{५५} ।

३. कुँवरि सौ कहति वृषभानु-धरनी ।

नेकु नहि घर रहति, तोहि कितनी कहति,

रिसनि मोहि दहति बन भई हरनी ।

लरिकिनी सवनि घर, तोमी नहि कोउ निडर,
चलति नभ चित नहि तकति धरनी ।

बड़ी— करवर टरी, साँप सौ ऊवरी,
वात कै कहत तोहि लगति जरनी^{४६} ।

४. क्रोध करि सुता सौ कहति माता ।

तोहि बरजति मरी, अचगरी सिर परी, गर्व-गंजन नाम है विधाता ।

तोहि केछु दोष नहि, भ्रमति तू जहाँ तहि, नदी, डोंगर बनहि पात-पाता ।

मातु-पितु लोक की कानि मानै नही, निलज भई रहति नहि लाज गाता ।

भली नहि उन करी, सीस तोकौ धरी, जगत मै सुता तू महर ताता ।

वात सुनिहै खवन, भई बिनही भवन, सूर डारै मारि आजु भ्राता^{४७} ।

प्रथम दो उदाहरणों में श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा का क्रोध व्यक्त हुआ है और अन्तिम दो में राधा के प्रति माता कीर्ति का । दोनों के कथन छोटे बच्चों-को सम्बोधित करते हैं; इसलिए बहुत ही सरल शब्दों का प्रयोग इन वाक्यों में हुआ है । वाक्य-विन्यास भी बिल्कुल सीधा-सादा है । भाषा का रूप यद्यपि मिथित है, तथापि उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग समान अनुपात में नहीं है; प्रत्युत अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की ही इनमें प्रधानता है । यशोदा के क्रोध में कृत्रिमता होने से खीझ का भाव बहुत हल्का हो गया है जिससे भाषा को मुहावरेदार बनाने में सहायता मिली है । कीर्ति के प्रथम कथन में पुत्री के प्रति उमड़ता वात्सल्य क्रोध के वेग को कम कर देता है जिससे मुहावरों का प्रयोग स्वतः हो जाता है । परंतु अन्तिम पद में झुंझलाहट का शुद्ध रूप मुहावरों के अधिक प्रयोग में अपेक्षाकृत बाधक हुआ है ।

उक्त वाक्य क्रोध की सामान्य स्थिति में कहे गये हैं । इनसे कुछ अधिक तीव्रता, जो उक्त अन्तिम पद में व्यजित क्रोध से भी अधिक आवेगपूर्ण है, नीचे लिखे उदाहरणों में मिलती है—

१. फँट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा

काहे को तुम रारि बड़ावत, तनक वात कै कामा ।

मेरी गेद लेहु ता बदले, वाँह गहत हो धाई ।

छोटी बड़ी न जानत काहूँ, करत वरावरि आई ।

हम काहे को तुमहि वरावर, बड़े नंद के पूत ।

सूर स्याम दोन्हैं ही बनिहै, बहुत कहावत धूत^{४८} ।

२ तो सौ कहा धुताई करिहीं ।

जहां करो तहें देखी नाहीं, कह तोनों में लरिहीं ।

मुंह सम्हारि तू बोलत नाही, कहति बराबरि बात ।

पावहुगे अपनी कियो अवही, रिसनि कॅपावत गात^{५९} ।

३. झुकि बोली, ह्यां तं ह्वै हाती कौनं सिखै पठाई ।

लै किनि जाहि भवन आपने, ह्यां लरन कौन सौ आई ।

कांपति रिसनि ^{६०} ।

४ बोलि लीन्हों कस मल्ल चानूर कौ कहा रे करत, क्यों विलम्ब कीन्हो ।

बस निरवस करि डारिहीं छिनक में, गारि दै-दै ताहि आस दीन्हो^{६१} ।

इन चारों पदों में से प्रथम दो में श्रीकृष्ण और श्रीदामा के पारम्परिक क्रोधयुक्त वचन हैं, तीसरे में राधा ने दूनों का और चौथे में कंस ने चाणूर को क्रोधयुक्त स्वर में फटकारा है । अंतिम दो पदों में तो उसी स्वर में प्रत्युत्तर के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि दूनों राधा को मनाने आयी थी और चाणूर कंस का अधीनस्थ मल्ल था, परन्तु प्रथम में श्रीदामा की बाल प्रवृत्ति उसे प्रत्युत्तर के लिए प्रेरित करती है और वह चुनता हुआ 'धूत' शब्द कह जाता है । इसी प्रकार अंतिम दो पदों में सन्नियता के लिए भी अवकाश नहीं था, लेकिन प्रथम दो पदों के उत्तर-प्रत्युत्तर के पदवाच्य मार-पीट तक की मौबत आ सकती थी, परन्तु श्रीदामा का 'बड़े नद के पूत' के ध्यान ने उससे विरत किया और श्रीकृष्ण फेंट छुड़ाकर कदम पर चढ़ गये—

रिस करि लीन्हो फेंट छुड़ाइ ।

सखा सब देखत हैं ठाटे, आपुन चढ़े कदम पर घाइ^{६२} ।

क्रोधावेश में मिश्रित या संयुक्त वाक्या का प्रयोग प्रायः नहीं होता । उक्त पदों में सूरदास ने भी छोटे-छोटे वाक्य ही रखे हैं । श्राव की तीव्रता के अनुकूल मुहावरे अवश्य बहुत चुभते हुए प्रयुक्त हुए हैं । इन पदों की भाषा साधारण मिश्रित रूप में है । बालकों के वार्तालाप में तो तत्सम शब्दों की अधिकता हो ही नहीं सकती थी, राधा और कंस की शब्दावली में भी तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों की ही प्रधानता है ।

ड. पदवाचाप-युक्त स्थलों की भाषा—सूर-काव्य में पदवाचाप-युक्त स्थल मुख्यतः दो प्रकार के हैं—प्रथम, क्रोधावेश में किये गये कार्यों पर पदवाचाप और द्वितीय, अज्ञानतावश किये गये कार्यों पर पदवाचाप । दोनों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

१ मैं अभागिनि, बांधि राखे, नद-प्रान-अधार ।

×

×

×

नैन जल भरि ठाढ़ि जसुमति, सुतहि कठ लगाइ ।

जरै रिसि जिहि तुमहि बांध्यां, लगै मोहि बलाइ ।

नंद सुनि मोहि कहा कहैगे, देखि तरु दोउ आइ ।
मैं मरो तुम कुसल रहौ दोउ, स्याम-हलधर भाइ^{६३} ।

२. वरै जेवरी जिहि तुम बाँधे, परं हाथ भहराइ ।
नंद मोहि अतिहो वासत है, बाँध कुँवर कन्हाइ^{६४} ।

३. चूकि परी हरि की सेवकाई ।

यह अपराध कहाँ लौं वरनौ, कहि कहि नद महर पछितार्ई ।
कोमल चरन-कमल कटक कुस, हम उन पै वन गाइ चराई ।
रंचक दधि के काज जसोदा बाँधे कान्ह उलूपल लाई ।
इंद्र-प्रकोप जानि ब्रज राखे, वरुन फाँस तैं मोहि मुकराई ।
अपने तन-धन-लोभ, कस-डर, आगे कै दीन्हें दोउ भाई ।
निकट बसत कवहुँ न मिलि आयौ, इतै मान मेरी निठुराई ।
सूर अजहुँ नातौ मानत है, प्रेम-सहित करं नंद-दुहाई^{६५} ।

प्रथम दो उद्धरणों में माता यशोदा का पश्चात्ताप है और अंतिम में पिता नंद का । यशोदा उन सब उपकरणों के साथ अपने उन अंगों और मनोभावों को कोसती हैं जो प्रिय पुत्र को बाँधने में सहायक हुए थे । इसी प्रकार नंद भी उन सब बातों का स्मरण करते हैं जिन-जिन से अज्ञानतावश, कम से कम उनकी दृष्टि में, श्रीकृष्ण को कष्ट पहुँचा था । प्रथम दोनों पदों में, यशोदा के मस्तिष्क में एक ही बात के घूमते रहने से अनेक शब्दों की आवृत्ति हुई है जिससे भाषा का मिश्रित रूप बहुत सामान्य हो गया है; परंतु नंद की भाषा में, स्मृति के कुरेदन से वही अपेक्षाकृत तत्समता-प्रधान हो जाता है । मुहावरों का प्रयोग ऐसी स्थिति के उपयुक्त नहीं था, इसलिए सूर ने इन पदों की भाषा को उनसे बचाने का ही प्रयत्न किया है ।

च. वीरावेश-युक्त स्थलों की भाषा—सूर-काव्य में वीर-रस-प्रधान स्थल बहुत ही कम हैं । श्रीकृष्ण और बलराम ने अनेकानेक राक्षसों और मरुतों का मान-मर्दन अवश्य किया; परंतु सूरदास की वृत्ति ऐसे प्रसंगों में रम न सकी; वीर-रसोद्भेद के ऐसे स्थलों को उन्होंने एक-दो पंक्तियों में ही प्रायः सर्वत्र समाप्त कर दिया । हाँ, कुछ उदाहरण पौराणिक प्रसंगों में अवश्य मिलते हैं जो वीर-भावावेश की दृष्टि से सुंदर कहे जा सकते हैं; जैसे—

१. आजु जो हरिहि न सस्य गहाऊँ ।

तो लाजौ गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ ।

स्यंदन खंडि महारथि खंडौ, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।

पाडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।

इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहि न पाऊँ ।
सूरदास रनभूमि-विजय विनु, जियन न पीठि दिवाऊँ^{६६} ।

२. रावन-मे गहि कोटिक मारौं ।

जो तुम आज्ञा देहु कृपानिधि, तो यह परिहस सारौं ।
कहौ तो जननि जानकी ल्याऊँ, कहौ तो लक विदारौं ।
कहौ तो अवही पंठि मुभट्ट हनि, अनल सकल पुर जारौं ।
कहौ तो सचिव-नवधु नवल अरि, एकहि एक पछारौं ।
कहौ तो तुव 'प्रताप' धी रघुवर, उदधि पखाननि तारौं ।
कहौ तो दमौ सोम, वीसों भुज, काटि छिनक में डारौं ।
कहौ तो ताकौ तून गहाइ कै, जीवत पाइनि पारौं ।
कहौ तो सैना चारु रचौ कपि, घरनो-व्योम-पतारौ ।
सैल-सिला-द्रुम वरपि, व्योम चटि, सत्रु-समूह संहारौं ।
बार-बार पद परसि कहत हौं, हौं कबहूँ नहि हारौं ।
सूरदास-अभ तम्हरे वचन लगि, सिव-वचननि कौं टारौं^{६७} । -

३. रघुपात, मन सदेह न कोजै ।

मो देखत लछिमन क्यों मरिहैं, मोको आज्ञा दीजै ।
कहौ तो सूरज उगन देउं नहि, दिसि दिसि बाँडै ताम ।
कहौ तो गन समेत असि खाऊँ, जमपुर जाइ न राम ।
कहौ तो कालहि, खड खड करि टूक टूक करि काटौं ।
कहौ तो मृत्युहि मारि डारि कै, खोद पतालहि पाटौं ।
कहौ तो चद्रहि लै अकास तै, लछिमन मुखहि निचोरौं ।
कहौ तो पंठि सुधा के सागर, जल समस्त में घोरी ।
श्री रघुवर, मोसौं जन जाकै ताहि कहा सँकराई ।
सूरदास मिथ्या नहि भाषत, मोहि रघुनाथ दुहाई^{६८} ।

४. दूसरे कर वान न लैहौं ।

सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, एकहि वान असुर सब हैहौं ।
सिव-पूजा जिहि भाँति करी है सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौं ।
दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर-माना सिव-श्रीन चढ़ैहौं ।
मनौ तूल-गन परत अगिनमुख, जारि जडनि जम-भय पठैहौं ।

करिहों नाहि बिलंब कछू अब, उठि रावन सम्मुख ह्वै धैहों ।

इमि दलि दुष्ट देव-द्विज मोचन, लंक बिभीषन, तुमको दैहों ।

लछिमन-सिया समेत सूर कपि सब सुख सहित अजोध्या जैहों^{६९} ।

प्रथम उदाहरण में भीष्म की और अंतिम में श्रीराम की प्रतिज्ञा है । दूसरे और तीसरे पदों में हनुमान की वीरोक्तियाँ हैं । मुहावरो कहावतों का प्रयोग इन पदों में बहुत कम हुआ है; लेकिन भाषा का मिश्रित रूप सामान्य से कुछ अधिक तत्समता-प्रधान है । द्वित्व वर्णों का प्रयोग न होने पर भी इन पदों की भाषा ओज-पूर्ण और बहुत प्रभावोत्पादक है ।

छ व्यंग्य-और विनोद-पूर्ण स्थलों की भाषा—सूर काव्य में व्यंग्य और विनोद के जितने उदाहरण उद्धव गोपी-संवाद में मिलते हैं, उतने अन्यत्र नहीं । प्रेममयी गोपियों को उद्धव का उपदेश है कि श्रीकृष्ण को भूलकर निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त हो । इनका यह मत इतने हठधर्मीपन के साथ सामने रखा जाता है कि गोपियों को वह फूटी आँखों नहीं मुहाता । उनके तर्कों से चिढ़कर कभी वे उनकी हँसी उड़ाती है, कभी उनके सिद्धांतों की; कभी उनके काले-पीले रूप पर व्यंग्य करती है, कभी भ्रमर-जैसी उनकी चंचल प्रवृत्ति पर । गोपियों की इन उक्तियों के मूल में स्वयं कवि की सगुण ब्रह्म के प्रति पूर्ण आस्था है जो उन्हें शुष्क वेदांतियों और इन्द्रिय निग्रही योग-साधकों के तर्कों का विनोद और व्यंग्ययुक्त स्वर में उत्तर देने को प्रेरित करती है । श्रीकृष्ण के परम आनंदमय रूप के प्रति अनन्यता का भाव गोपियों की अनेकानेक उक्तियों में इतनी स्पष्टता से व्यजित है कि अंत में उद्धव-जैसे शुष्कहृदय व्यक्ति भी उससे प्रभावित होकर उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाने लगते हैं । इस दृष्टि में ब्रज बालाओं के निम्नलिखित विनोद और व्यंग्यपूर्ण वाक्य निश्चय ही महत्व के हैं—

१. कोउ माई, मधुवन तैं आयी ।

सखी सिमिट सब सुनौ सयानी, हित करि कान्ह पठायी ।

जो मोहन बिछुरे ते गोकुल, इते दिवस दुख पायौ ।

सो इन कमलनैन करुनामय, हिरदै माँझ बतायौ ।

जाको जोगी जतन करत है, नेकहुँ ध्यान न आयौ ।

सो इन परम उदार मधुप ब्रज-बीथिनि माँझ बहायौ ।

अंति कृपालु आतुर अवलनि कौं, व्यापक अगह गहायौ ।

समुझि सूर सुख होत सवन सुनि, नेति जु निगमनि गायौ^{७०} ।

२. परम हंस बहुतक सुनियत हैं, आवत भिच्छा माँगन^{७१} ।

३. ऊघौ, जाहुतुमहि हम जाने ।

स्याम तुमहि ह्यौ कौं नाहि पठायौ, तुम ही बीच भुलाने^{७२} ।

४ सखी री, मथुरा में द्वै हस ।

वे अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीकँ गस ।
 ये दोउ नीर गँभीर पैरिया इनहि ववायो कस ।
 इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर वस ।
 अब इन कृपा करी ब्रज आये, जानि आपनो अस ।
 सूर सुज्ञान सुनावत अवलनि सुनत होत मति भ्रस^{७३} ।

५ मधुवन सब वृत्तज्ञ धरमोले ।

अति उदार परहित डालत हैं बोलत बचन सुसीले ।
 प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत लै मधुरिपुहि सिधारे ।
 उहाँ कस ह्याँ हम दीननि की दूनो काज सँवारे ।
 हरि को सिखै सिखावत हमको, अब ऊधौ पग धारे ।
 ह्याँ दासी रति की कीरति कै इहाँ जोग विस्तारे^{७४} ।

६ आए जोग सिखावन पाँडे ।

परमारथी पुराननि लादे ज्यों वनजारे टाँडे^{७५} ।

७ ऊधौ, तुम अपनो जतन करो ।

हित की कहत कुहित की लागति, कत बेकाज ररौ ।
 जाइ करौ उपचार आपनो, हम जु कहति है जी की ।
 बछुवै कहत बछक कहि आवत, धुनि दिखियत नहि नीकी ।
 साधु होइ तिहि उत्तर दीजै, तुमसों मानी हारि ।
 यह जिय जानि नद-नदन तुम, इहाँ पठाए टारि ।
 मथुरा राहौ बेगि इनि पाइनि, उपज्यौ है तन रोग ।
 सूर सुबैद बेगि टोहौ किन, भए मरन के जोग^{७६} ।

८ निरगुन कौन देस की वासी ।

मधुकर, कहि समुझाई सोंह दै वृक्षति साँच न हाँसी ।
 को है जनक कौन है जननी, कौन नारि, को दासी ।
 वैसे वरन, भेष है वैंसी, किहि रस में अभिलाषी^{७७} ।

९ सुनि सुनि ऊधौ, आवति हाँसी ।

कहैं वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कस की दासी ।

इंद्रादिक की कौन चलावै, सकर करत खवासी ।
निगम आदि बंदीजन जाके, सेष सीस के वासी ।
जाके रमा रहति चरननि तर, कौन गनं कुविजा सी ।
सूरदास प्रभु दृढ़ करि बांधे, प्रेम-पुज की पासी^{१८} ।

१०. ऊधो, धनि तुम्हरी ब्यौहार ।

धनि वै ठाकुर, धनि तुम सेवक, धनि हम वर्तनहार ।
काटहु अंब बबूर लगावहु, चदन की करि वारि ।
हमको जोग भोग कुविजा कौ, ऐसी समुझि तुम्हारि ।
तुम हरि पढ़े चातुरी विद्या, निपट कपट चटसार ।
पकरो साह चोर को छांडी, चुगलनि को इतवार ।
समुझि न परं तिहारो मधुकर, हस ब्रजनारि गँवार ।
सूरदास ऐसी क्यौ निवहै, अधधु ध सरकार^{१९} ।

११. ऊधो, जोग कहा है कोजतु ।

ओढ़ियत है कि विछैयत है, किधौ खैयत है किधौ पीजत ।
कीधौ कछू खिलोना सुदर, की कछु भूपन नीकौ^{२०} ।

गोवियों के इन वाक्यों की भाषा सामान्यतया मिश्रित है जिसमें तत्सम, तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों का लगभग समान रूप में प्रयोग हुआ है। विनोदपूर्ण उक्तियों की भाषा प्रायः सर्वत्र ऐसी ही है। परंतु श्रीकृष्ण के मनोहर और आकर्षक रूप के सक्षिप्त साकेतिक वर्णन में, पूर्व की मुख्य स्मृतियों की कसकभरी चर्चा में अथवा प्रियतम की असंभावित निष्ठुरता के उल्लेख में जब वे प्रवृत्त होती हैं तब भाषा का रूप कुछ अधिक तत्समता-प्रधान हो जाता है। व्यंग्य की सामान्य स्थिति में कहे गये वाक्यों की भाषा में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। व्यंग्य जब बहुत तीखा हो जाता है, तब तत्सम शब्दों के स्थान पर चुभते हुए मुहावरों का प्रयोग किया गया है जो अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से विशेष प्रभावशाली है। ऐसे वाक्यों में 'उदार', 'धरमीले', 'धन्य', 'परमहंस', 'हंस' आदि जो प्रशंसात्मक शब्द हैं, उनका विपरीतार्थ गोवियों को अभीष्ट है जिसकी व्यंग्यात्मक ध्वनि उक्तियों की तीव्रता को बहुत-कुछ सघट कर देती है। -

भ्रमर-गीत-प्रसंग के अतिरिक्त भी सूर-काव्य के कुछ स्थलों पर व्यंग्य-विनोदपूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं। ऐसे प्रसंगों में दो प्रधान हैं। प्रथम के उदाहरण प्रलय-मेघों के अभियान को देखकर कहे गये भयभीत ब्रजवासियों के वाक्यों में मिलते हैं और द्वितीय के श्रीकृष्ण के संयोग-सबधी वचनों का निर्वाह न करने पर, खिलता की स्थिति में,

पुनः उन्हीं का भावने पाकर कहे गये प्रेमिकाओं के वाक्यों में । प्रथम प्रसंग की उक्तियों में केवल व्यंग्य है, द्वितीय में व्यंग्य और विनोद, दोनों का मिश्रण है ।

इंद्र की परपरागत सेवा में लगे ब्रजवासियों को श्रीकृष्ण ने गिरि गोवर्द्धन का महत्त्व समझाया और उनकी पूजा के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया । गिरि नद, पुत्र के प्रस्ताव में सहमत हो गये तो मोघेन्द्रादे ब्रजवासी भी उनके साथ हो लिये । बड़े उत्साह से पूजन और भाजन की अनार सामग्री एकत्र की गयी । अत्यन्त दर्शन देकर देव-रूप गिरि गोवर्द्धन सहस्र भुजाएँ पसारकर मना भोजन चट कर गया । इंद्र न ब्रजवासियों द्वारा की गयी इस जदजा में अपना धार अपमान समझा और इसके प्रतिकार के लिए मघा का वज्र पर प्रलय-वृष्टि करने की आज्ञा दी । धर्मभीरु ब्रजवासी प्रलयकरी घटाओं का देखकर, अत्यन्त भयभीत होकर व्यंग्य के साथ कहते हैं—

१. बतियाँ कहति हैं ब्रज-नारि ।

घरति सैतति धाम-वासन, नाहि नुरति सन्हारि ।

पूजि आए गिरि गोवरधन, देति पुरूपनि गारि ।

आपनी कुलदेव सुरपति, घरघी ताहि बिसारि ।

दियो फल यह गिरि गोवरधन, लेहु गोद पसारि ।

सूर कौन उबारि लैहै, चडयाँ इंद्र प्रचारि^१ ।

२. सूरदास गोवर्धन-पूजा कीन्है कौ फल लेहु बिहाने^२ ।

३. ब्रज-नर-नारि नद-जनुमति सौ कहत, स्याम ये काज करे ।

कुल-देवता हमारे सुरपति, तिनकोँ सब मिलि मेटि घरे^३ ।

४. ब्रजवासी सब अति अकुलाने । काल्हिहि पूज्यो फन्यो बिहाने ।

वहाँ रहै अब कुँवर बन्हाई । गिरि गोवर्धन लेहि बुलाई ।

जेवन सहस्र भुजा धरि आवै । अब द्वै भुज हमकोँ दिखरावै ।

ये देवता खात ही लों के । पाछे पुनि तुम कौन, कही के^४ ।

इन पदों की भाषा या तो सामान्य रूप से मिश्रित है, परन्तु नय और आकुलता के कारण सत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें कम हुआ है । व्यंग्यात्मक वृत्तिवृत्त मुहुरों का प्रयोग यो तो प्रायः प्रत्येक वाक्य में किया गया है, परन्तु इनका वास्तविक चमत्कार अंतिम पद में देखा जा सकता है । व्यंग्योक्तियों की दृष्टि से ये उदाहरण मूल-वाक्य के आदर्श उदाहरणों में हैं । दूसरी बात यह है कि व्यंग्य और विनोद में से, उक्त सभी वाक्यों में प्रथम की प्रधानता है, भयावह दृश्य-जन्य आकुलता के कारण विनोद-वृत्ति की सजगता के लिए इस प्रसंग में अवकाश ही नहीं था ।

दूसरे वर्ग के व्यंग्य और विनोदपूर्ण उदाहरण सयोग-लीला-प्रसंग में मिलते हैं । रसिकवर श्रीकृष्ण सयोग के लिए उत्कण्ठित समस्त ब्रजवासीओं की प्रेम-प्रदान से तुष्ट

करता चाहते हैं; परन्तु इसमें कभी-कभी वे सामान्य नायक की तरह असफल होते हैं। एक प्रेमिका को वे मिलने के लिए वचन देते हैं, दूसरी उन्हें मार्ग या वन में ही आ घेरती है और उसको आनंद देने के लिए श्रीकृष्ण उसी के साथ चलने को विवश हो जाते हैं। कभी कोई व्रजवाला द्वार से उनको अन्यत्र जाते देख अपने आवास में आमंत्रित कर लेती है। इसी प्रकार अकस्मात् दर्शन हो जाने का लाभ भी कोई-कोई प्रेमिका उठा लेती है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को जब अपने पूर्व प्रदत्त वचनों की याद आती है, तो वे अपराधी रूप में खीझ-भरी बैठी प्रेमिका के सम्मुख उपस्थित होते हैं। अन्यत्र विलास के चिह्न प्रियतम के अंगों और वस्त्रों पर अंकित देखकर जिस प्रकार के व्यस्य-विनोद-युक्त वाक्यों से मानिनी नायिका उनका स्वागत करती है, उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत हैं—

१. वन सन तै आए अति भोर ।

राति रहे कहूँ गाइनि घेरत, आए ही ज्यौ चोर ।
अग अंग उलटे आभूपन, वनहुँ मैं तुम पावत ।
बड़भागी तुम तै नहिँ कोऊ, कृपा करत जहँ आवत^{८५} ।

२. जानति हौं जिहि गुननि भरे हौ ।

काहँ दुराव करत मनमोहन, सोइ कहौ तुम जाहिँ ढरे हौ ।
निसि के जागे नैन अरुन दुति, अरु सम आलस अग भरे हौ ।
बंदन तिलक कपोलनि लाग्यौ काम-केलि उर नख उधरे हौ ।
अब तुम कुटिल किसोर नंद-सुत, कहौ, कौन के चित्त हरे हौ ।
एते पर ये समुझि सूर-प्रभु सौह करन कौ होत खरे हौ^{८६} ।

३. आजु निसि कहाँ हुते हो प्यारे ।

तुम्हरी सौ कछु कहि न जात छवि, अरुन नैन रततारे ।
बोल के साँचे, आए भोर भए प्रगटित काम-कला रे ।
दसन-वसन पर छावि दृगन छवि, दर्ई वृषभानु-मुता रे ।
अरु देखी मुसकाइ इते पर, सर्वस हरत हमारे ।
सूर स्याम चतुरई प्रगट भई, आगे तै होहु न न्यारे^{८७} ।

४. मोहन, काहे कौ लजियात ।

मूँदि कर मुख रहे सन्मुख कहि न आवत बात^{८८} ।

५. काहे कौ पिय भोरही मेरे गृह आए ।

इतने गुन हमपै कहाँ, जे रैन रमाए^{८९} ।

६. कृपा करो उठि भोरही मेरे गृह आए।

जब हम भई बडनागिनी, निशि-चिह्न दिखाए^{१०}।

निश्चित भाषा का तत्त्व-प्रधान जो रूप उद्भव गीत-प्रसंग की व्यञ्जनात्मिका में मिलता है, सामान्य वही इन पदों की भाषा का है। इसका कारण है प्रियतम के सुशोभ-चिह्नपुलक जगो-वस्त्रा के वर्णन की प्रवृत्ति। गायक-प्रसंग के व्यञ्ज-वाक्यों में मुहावरों का जितना अधिक प्रयोग है उतना न हान पर भी गायिकों की इन उक्तियों में उनका संबंध बनाव भी नहीं है। विनाद की प्रवृत्ति ऐसे वाक्या में वही-वही अन्वय दिखाती पड़ती है, परन्तु ईप्सा, खोम और मान के भावा न उनका रूप अधिक निरखने नहीं दिया है।

सारांश यह कि विनिल मतानावा की सजावस्था में जादेगा की तीव्रता-अतीव्रता के अनुसार भाषा-रूप में जो परिवर्तन सामान्यतया होता है उसका भी सूरदान ने अपने काव्य में सर्वत्र ध्यान रखा है। मुहावरों-वहानता की न्यूनता-अधिकता, उद्भव-अद्वैतत्व की अपेक्षा तत्त्वम शब्दों के वम-ज्यादा प्रयोग, विदेशी शब्दों के अजानने में निमकोच, वाक्य-विन्यास की वही सरलता और वही निश्चित या समानाधिकरण वाक्यों की आज्ञा, आदि ने विनिल वाक्य मतानावों और वृत्तियों के आदेश में वही गयी उक्ति का अनुकूल भाषा-रूपों के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है।

४. सवादों की भाषा—सवादों का रूप वस्तुतः-तथ पदों में उतना नहीं निखरता जितना क्रमबद्ध वर्णन में और सूर-काव्य का समस्त श्रेष्ठ वर्ण है तथ पदों के रूप में। जो पौराणिक कथाएँ अथवा श्रीकृष्ण की जीवन-लीलाएँ सामान्य पद्यबद्ध कथाओं के रूप में सूरदान ने लिखी हैं, उनमें भी उन्होंने विशेष रचि नहीं ली और बड़ी द्रुतगति से कथा-भूत को आगे बढ़ाते हुए उन्हें समाप्त किया है। अतएव अनेक अवसर नुत्न रहने पर भी सूर-काव्य में सवादों की संख्या बहुत कम है। वस्तुतः सवादों के अन्तर्गत काव्य के वे ही स्थल लिए जा सकते हैं जिनमें प्रसंग-विशेष के संबंध में छंटे-छंटे क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर हों। उद्भव के एक प्रश्न को लेकर उत्तर में गीतियों के पचीसी पद-बैसे अथवा सवाद नहीं कहला सकते। इस दृष्टि से सूर-काव्य में प्राप्त सवादों में मुख्य हैं—श्रीकृष्ण-दुर्योधन-सवाद, दुर्योधन-भीष्म-सवाद, हिरण्यकगिनु-ब्रह्माद-सवाद, हनुमान राम-सवाद, निशिचरो जानकी सवाद, श्रीकृष्ण नागिनि सवाद, यशोदा राधा-सवाद, कृष्ण गोपी-सवाद, राधा हूँ-सवाद और उद्भव-गीत-सवाद।

क श्रीकृष्ण-दुर्योधन-सवाद—‘सूरभार’ के प्रथम स्कंध के चार-पाँच पदों में यह सवाद मिलता है। इनमें तीन पदों के सवाद मुख्य हैं—

१. “सुनि राजा दुर्योधना, हम तुम पे आए।

पाडव - सुत जीवन मिले, दै कुसल पठाए।

छेम-कुसल अरु दीनता, दंडवत सुनाई ।
 कर जोरे विनती करो, दुरवल-सुखदाई ।
 पाँच गाँउ पाँचौ जननि, किरपा करि दीजै ।
 ये तुम्हरे कुल-वस है, हमरी सुनि लीजै" ।
 "उनकी मोसौं दीनता कोउ कहि न सुनावौ ।
 पांडव-सुत अरु द्रोपदी को मारि गड़ावौ ।
 राजनीति जानौ नही, गो - सुत - चरवारे ।
 पीवौ छाँछ अघाइ कै, कव के रयवारे" ।
 "गाइ-गाँउ के वत्सला मेरे आदि सहाई ।
 इनको लज्जा नहि हमै, तुम राज-बडाई"^{११} ।

२. "हमतै विदुर कहा है नीकौ ?

जाके रुचि सो भोजन कीन्हौ, कहियत सुत दासी को ।"
 "द्वै विधि भोजन कीजै राजा, विपति परे कै प्रीति ।
 तेरे प्रीति न मोहिं आपदा, यहै बड़ी विपरीति ।
 ऊँचे मंदिर कौन काम के, कनक-कलस जो चढ़ाए ।
 भक्त-भवन में हो जु बसत हौं जदपि तृन करि छाए ।
 अंतरजामी नाउ हमारी, हौ अतर की जानी ।
 तदपि सूर में भक्तवद्वल हौं, भक्तनि हाथ विकानो"^{१२} ।

३. 'हरि, तुम क्यों न हमारे आए ?

पट-रस व्यंजन छाँड़ि रसोई, साग विदुर-घर खाए ।
 ताके झुगिया में तुम बैठे, कौन बड़प्पन पायो ।
 जाति-पाँति कुलहूँ तै न्यारी, है दासी को जार्थी ।"
 "मैं तोहिं सत्य कहौं दुरजोधन, सुनि तू बात हमारी ।
 विदुर हमारी प्रान पियारी, तू विषया-अधिकारी ।
 जाँति-पाँति सबकी हो जानी, बाहिर छाक मँगाई ।
 स्वात्तनि के संग भोजन कीन्हौ, कुल कौं लाज लगाई ।
 जहँ अभिमान तहाँ मैं नाही, यह भोजन बिप लागै ।
 सत्य पुरुष सो दीन गहत है, अभिमानी को त्यागै ।
 जहँ जहँ भीर परे भक्तनि को तहाँ तहाँ उठि धाऊँ ।

भक्तनि के हों सग फिरत हों, भक्तनि हाथ त्रिकाजें ।

भक्तवद्वल है विरद हमारी, वेद-मुमृति हूँ गावें^{१३} ।

इन तीनों पदों की भाषा सामान्य रूप में ही है । सवाद भी कला की दृष्टि से बहुत साधारण हैं, परन्तु दोन और साधनहीन भक्तहृदय इनको पढ़कर बहुत आश्चर्य होता है और यही इस सवाद का उद्देश्य है ।

ख. दुर्योधन-भीष्म-सवाद—इस शीर्षक में सवधिन केवल एक ही मुदर पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध में है—

मतो यह पूछन भूतलराइ ।

“सुनौ पितामह भीष्म, मम गुरु, कीजै कौन उपाइ ।

उत अर्जुन अरु भीम, पडु-मुन दोउ वर वीर गँभीर ।

इत भगदत्त, द्रोण, भूरिन्वव, तुम सेनापति धीर ।

जे जे जात, परत ते भूतल, ज्यों ज्वाला-गत चीर ।

कौन सहाइ, जानियत नाही, होत वीर निर्वीर ।”

“जब तोसों समुझाइ कही नृप, तब ते करो न वान ।

पावक जथा दहत सबही दल तूल-समेरु समान ।

अविगत, अविनासी, पुरुषोत्तम, हाँवत रथ कै आन ।

अचरज कहा पार्थ जो वेधै, तीनि लोक इक वान !”

“अब तो हों तुमकों तकि आयौ, सोइ रजायसु दीजै ।

जातै रहै छत्रपन मेरो, सोई मन कछु कीजै ।

जा सहाइ पाडव-दल जीतौ, अर्जुन को रथ लीजै ।

नातरु कुटुंब सकल सह्रि कै, कौन काज अब जीजै ?”

“तेरे काज करौ पुरुषारथ, जथा जीव घट माही ।

यहन कहौ, हों रन चढि जीतौ, मो मति नहि अवगाही ।

अजहूँ चेति, कह्यो करि मेरी, कहत पसारे बाही ।

सूरदास सरवरि को करिहै, प्रभु-पारथ द्वै नाही^{१४} ।

यह सवाद भी पूर्वोक्त की तरह सामान्य ही है, केवल भीष्म पितामह जैसे प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध व्यक्ति के मुख से श्रोत्रुष्ण की महिमा दुर्योधन पर प्रकट कराना इसका उद्देश्य है ।

ग. हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-सवाद—‘सूरसागर’ के सातवें स्कंध में नृसिंह-अवतार की कथा है । उसमें दो सवाद हैं—हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-सवाद और नृसिंह-प्रह्लाद-सवाद ।

द्वितीय, पूर्वोक्त संवादों के ढंग का ही है; इसलिए उसको उद्धृत करना अनावश्यक है। प्रथम संवाद इस प्रकार है—

नृप कह्यो, “मंत्र-जंत्र कछु आहि। कै छल करत कछू तू आहि।
तोको कौन बचावत आइ। सो तू मोकी देहि बताइ”।
“मंत्र-जंत्र मेरे हरि-नाम। घट-घट में जाकी विस्वाम।
जहाँ-तहाँ सोइ करत सहाइ। तासौ तेरौ कछु न बसाइ।”
कह्यो, “कहाँ सो मोहि बताइ। नातर तेरौ जिय अब जाइ।”
“सो सब ठौर”, “खभहूँ होइ”? कह्यो प्रह्लाद, “आहि, तू जोइ^{१५}।”

अोजपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर की दृष्टि से यह संवाद बहुत सुंदर है। बालक से वार्तालाप होने के कारण इसकी भाषा भी सीधी-सादी है जिसमें बहुत सरल तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यों के कारण इस संवाद में स्वाभाविकता है और कथा विकास में इनसे सहायता भी मिलती है।

घ. हनुमान-राम-संवाद—तब स्तब्ध में हनुमान और राम का एक संक्षिप्त संवाद है—

मिले हनु, पूछी प्रभु यह बात।

“महा मधुर प्रिय बानी बोलत, साखामूग, तुम किहि के तात”?

“अंजनि की सुत, केसरि के कुल, पवन-गवन उपजायो गात।

तुम को वीर, नीर भरि लोचन, मीन हीन-जल ज्यों मुरझात”?

“दसरथ-सुत कोसलपुर-वासी, त्रिया हरी ताते अकुलात।

इहि गिरि पर कपिपति मुनियत है, बालि-त्रास कैसे दिन जात”?

“महादीन, बलहीन, विकल अति।”^{१६}

हनुमान और राम का यह प्रथम परिचयात्मक संवाद है, इसमें एक-दूसरे की स्थिति और आकृति को लक्ष्य करके परस्पर परिचय पूछा गया है। ‘महा मधुर प्रिय बानी बोलत’ कहकर जब राम, हनुमान की प्रशंसा करते हैं, तो उन्हीं के अनुकरण पर, उत्तर में उनके वीर वेश को लक्ष्य करके, हनुमान भी ‘वीर’ शब्द से उनको संबोधित करते हैं। यह पारस्परिक शिष्टाचार-निर्वाह इस परिचयात्मक संवाद की एक विशेषता है। भाषा कुछ तत्समता-प्रधान एवं वाक्य छोटे-छोटे और विषयानुकूल हैं।

८-ड. निशिचरी-जानकी-संवाद—दूती के रूप में रावण द्वारा भेजी गयी निशिचरी से अशोकवाटिका में बदिनी सीता का यह संवाद कवि सूरदास की नयी सूक्त का परिचायक जान पड़ता है—

“समुझि अब निरखि जानकी मोहि।

बड़ी भाग गुनि, अगम दसानन, सिव वर दीनी तोहि।

केतिक राम कृष्ण, ताकी पितु-मातु घटाई कानि ।
 तेरो पिता जो जनक जानकी, कीरति कहीं बखानि ।
 विधि सजोग द्रव नहि टारै, वन दुख देख्यो जानि ।
 अब रावन-घर बिलसि सहज सुख, बह्यो हमारी मानि ।”
 इतनी वचन सुनत सिर धुनि कै, बोली मिया रिसाइ ।
 “अहो दोठ, मति-मुग्ध निसिचरो, बैठी सनमुख आइ ।
 तब रावन को बदन देखिहों, दससिर-न्योनित न्हाइ ।
 कै तन देखें मध्य पावक के, कै बिलसै रघुराइ ।”
 “जो पै पतिव्रता-व्रत तेरे, जीवति विद्युरी काइ ?
 तब किन मुई, कही तुम मोसों, भुजा गही जब राइ ?
 अब झूठी अभिमान करति हो, सुकति जो उनके नाउ ।
 सुख ही रहसि मिली रावन की, अपन सहज सुभाउ ।”
 “जो तू रामहि दोष लगावै, करौ प्रान को घात ।
 तुमरे कुल को वेर न लागै, होत भस्म सघात ।
 उनक क्रोध जरै लकापति, तेरे हृदय समाई ।
 तो पै सूर पतिव्रत सांची, जो देखौ रघुराइ” ।

इस संवाद का आरम्भ निशिचरो दूनी के, चाटुकारी के उद्देश्य से कहे गये प्रशंसा-
 त्मक वाक्यों से होता है । इसके पश्चात् सीता की निरस्कारयुक्त भर्त्सना का उत्तर वह
 भी व्यंग्यपूर्ण और चुटीले शब्दों में देती है जिसकी ध्वनि से मुँह चिड़ाने और हाथ
 मटकाने का भाव भी सामने आ जाता है । दूनी का अकाट्य तर्क क्षण भर के लिए
 तो सीता को स्तम्भित कर देता है और उन्हें जैसे कोई उत्तर नहीं सूझता, परन्तु अब
 भी उनके दृढ़ निश्चयात्मक वचन सुनकर दूनी निरन्तर हो जाती है । इस प्रकार क्रमिक
 उत्तर प्रत्युत्तर, अभिनयात्मक दृश्यावन-वला, प्रश्नवाचक वाक्यों की योजना आदि की
 दृष्टि से यह संवाद अच्छा है ।

च नागिनि कृष्ण-संवाद—वस के मँगाये हुए कमल के फूल लाने की मन ही
 मन योजना बनाकर श्रीकृष्ण वालीदेह में कूद गये । नाग आ रहा था । उसकी स्त्री
 कृष्ण के सुंदर वान-स्वरूप पर मुग्ध होकर, पति के जागन के पूर्व ही वहाँ से भाग
 जाने की उनका सलाह देती है । पश्चात्, कृष्ण से उसका इस प्रकार संवाद होता है—

१. (नारि) कह्यो, “कौन को बालक है तू, बार-बार कही भागि न जाई ।
 छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई” ।

X

X

X

“मोकौ कंस पठायौ देखन, तू याको अब देहि जगाई” ।

“कहा कंस दिखरावत इनको, एक फूंक में ही जरि जाई”^{१८} ।

२. “कहा डर करौ इहि फनिग कौ बावरी ?”

“कह्यौ मेरो मानि, छाँड़ि अपनी वानि, टेक परिहै जानि सब रावरी ।

तोहि देखे मया, मोहि अतिही भई, कौन कौ सुवन, तू कहा आयौ ।

मरौ वह कंस, निरखस वाकौ होइ, कर्यौ यह गस तोकौ पठायौ”

“कंस कौ मारिहीं धरनि निरवारिहौ, अमर उद्धारिहौ उरग-धरनी ।”

सूर-प्रभु के वचन सुनत उरगिनि कह्यौ, “जाहि अब क्यों न, मति भई मरनी”^{१९} ।

३. “भागि-भागि सुत कौन कौ, अति कोमल तब गात ।

एक फूंक कौ नाहि तू, बिष ज्वाला अति तात” ॥

तब हरि कह्यौ प्रचारि “नारि, पति देइ जगाई ।

आयौ देखन याहि, कस मोहि दियौ पठाई ।”

“कंस कोटि जरि जाहिगे, बिष की एक फुंकार ।

कही मेरी करि जाहि तू, अति बालक सुकुमार” ।

X

X

X

“बालक-बालक करति कहा, पति क्यों न उठावै ?

कहा कस, कह उरग यह, अवहि दिखाऊँ तोहि ।

दै जगाइ मैं कहत हौं, तू नहि जानति मोहि” ।

“छोटे मुँह बड़ी बात कहत, अबही मरि जैहै ।

जो चितवै करि क्रोध, अरे, इतनेहि जरि जैहै ।

छोह लगत तोहि देखि मोहि, काको बालक आहि ।

खगपति सो सरवरि करी, तू बपुरी को ताहि” ।

“बपुरा मोकौ कहति, तोहि बपुरी करि डारौ ।

एक लात सी चाँपि, नाथ तेरे कौ मारौ ।

सोवत काहु न मारियै, चलि आई यह बात ।

खगपति कौ मैं हो कियो, कहति कहा तू जात” ।

“तुमहि विधाता भए, और करता कोउ नाही ।

अहि मारीगे आपु तनक से, तनक सी बाहीं ।

कहा कही, कहत न वनै, अति कोमल सुकुमार ।

देती अवहि जगाइ कै, जरि-वरि होत्यो छार" ।
 "तू धौं देहि जगाइ, तोहि बछू दूषन नाही ।
 परो कहा तोहि नारि, पाप अपने जरि जाही ।
 हमको बालक कहति है, आपु बडे की नारि ।
 बादति है त्रिनु बाजही, बूधा बटावति रारि ।"
 "तुही न लेत जगाइ, बहुत जो करत टिठाई ।
 पुनि मरिहै पछिताइ, मातु, पितु, तेरे भाई ।
 अजहुँ कहाँ करि, जाहि तू मरि लहे सुख कौन ।
 पांच बरस कै सात को आगे ताकी होन" १ ।

क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा पात्रों की प्रकृति का परिचय और क्या विकास में योग, दोनों दृष्टियाँ में यह बार्तालाप सुंदर है । नारी हृदय की कोमलता और दयालुता ने इस कथोपकथन के छोट छोट वाक्यों को विशेष स्वाभाविक बना दिया है । इसी प्रकार तद्भव और अर्द्धतत्त्वम शब्दों के बीच-बीच में मुहावरों का प्रयोग भी नारी-प्रकृति के अनुरूप ही हुआ है । इस विषय में उरग-नारी की भाषा ब्रजवालाओं की भाषा से मिलती जुलती है । श्रीकृष्ण की बाल प्रकृति के अनुसार उनकी भाषा सरल है और वाक्य-योजना भी, साथ-साथ उसमें वीर भाव के उपयुक्त आज भी है ।

छ. यशोदा-राधा-संवाद—विद्यारी राधिका का अनुपम रूप और श्रीकृष्ण के साथ उसका हल मल देखकर यशोदा का मातृ-हृदय प्रसन्नता में खिल जाता है । पहले यशोदा जी उनका परिचय पूछती हैं, फिर वे उसे विद्वाने के लिए उसके माता-पिता के संबंध में कुछ अनुचित बातें बिनाद के साथ कहती हैं । कुशाग्रबुद्धि राधा इनका उत्तर इस प्रकार देती है कि माता यशोदा हर्षोन्मत्त होकर उसे छाती से लगा लेती हैं—

"नाम कहाँ तेरी रो प्यारी ?
 बेटी कौन महर की है तू, को तेरी महतारी ।
 धन्य कोख जिहि तोकीं राख्यो, धनि घरि जिहि अवतारी ।
 धन्य पिता माता तेरे" छवि निरखति हरि-महतारी ।
 "मैं बेटी वृषभानु महर की, मैया तुमकीं जानति ।
 जमुना-तट बहु बार मिलन भयो, तुम नाहिन पहचानति" ।
 ऐसी कहि, "बाकीं मैं जानति, वह तो बड़ी छिनारि ।
 महर बड़ी लगर सब दिन को" हँसति देति मुख गारि ।
 राधा बोलि उठी "बाबा बछु तुमसों ढीठो कीन्हो ।"
 "ऐसे समरथ कब मैं देखे", हँसि प्यारिहि उर लीन्हो २ ।

इस सरस संलाप की भाषा बहुत सरल है। सात-आठ वर्ष की, गाँव में पली बालिका को अधिक तत्सम शब्दों का ज्ञान नहीं हो सकता। संभवतः इसी कारण यशोदा ने केवल 'माता-पिता' दो तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। 'धन्य' शब्द श्रीकृष्ण के अलौकिक कामों की प्रशंसा में इतने बार ब्रज में प्रयुक्त हो चुका है कि सुख के आवेश में वे उसका प्रयोग भी कर जाती है। राधा केवल एक तत्सम शब्द, 'तट' का प्रयोग यहाँ करती है। इसी प्रकार उक्त कथोपकथन का वाक्य-विन्यास भी सीधा-सादा और स्वाभाविक है।

ज. श्रीकृष्ण-गोपी-संवाद—ब्रज की प्रेममयी गोपियों से श्रीकृष्ण के संवाद अनेक अवसरों पर हुए हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—चीर-हरण-प्रसंग का संवाद, रास-लीला-प्रसंग का संवाद और दान-लीला प्रसंग का संवाद। भिन्न-भिन्न पात्रों और विविध प्रसंगों के जो संवाद ऊपर उद्धृत किये गये हैं, प्रथम अर्थात् चीर-हरण लीला से संबंधित संलाप भी भाषा और वाक्य-योजना की दृष्टि से लगभग वैसा ही है, अतः उसके उदाहरण देना अनावश्यक है। शेष दोनों प्रसंगों में एक मवीनता यह है कि इनमें पूरे छंदों या पदों में एक पात्र बात करता है और दूसरे छंद या पद में उत्तर मिलता है। रास-लीला के अवसर का संवाद संक्षिप्त है; परंतु दान-लीला में संबंधित वार्तालाप कई पदों में विस्तृत है। दोनों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. "गेह-सुत-पति त्यागि आईं, नाहिने जु भली करी ।
पाप-पुन्य न सोच कोन्हौ, कहा तुम जिय यह धरी ।
अजहुँ घर फिरि जाहु कामिनी, काहु सौ जो हम कहैं ।
लोक-वेदनि विदित गावत, पर-पुरुष नहिं धनि लहैं ।"

+

+

+

"तुव दरस की आस पिय ब्रत-नेम दृढ़ यह है धरयो ।
कौन सुत को मातु को पति कौन तिय को किनि करयो ।
कहाँ पठवत, जाहिं काकै, कहाँ कहैं मन मानिहैं ।
यहाँ बरु हम प्रान त्यागै, आईं जहँ सोइ जानिहैं"^३ ।

२. "कौन कान्ह, को तुम, कह मांगत ?

नीकें करि सबकीं हम जानति, बातें कहत अनागत ।
छाँड़ि देहु हमको जनि रोकहु, बृथा बढ़ावति रारि ।
जहँ बात दूरि लौ ऐसी, परिहै बहुरि खँभारि ।
आजुहि दान पहिरि ह्याँ आए, कहा दिखावहु छाप ।
सूर स्याम वसैंहि चलो, ज्यो चलत तुम्हारी बाप"^४ ।

३ कान्हू कहत, 'दधि-दान न देहो ?

लैहो छीन दूध दधि माखन, देखत ही तुम रहो ।

सब दिन को भरि लेउं आजु ही, तत्र छाडौ मैं तुमको ।

उघटति हो तुम मातु-पिता लौ नहि जानति हो हमको" ।

"हम जानति हैं तुमको मोहन लै लै गोद खिलाए ।

सूर स्याम अब भए जगाती, वैं दिन सब विसराए" ।"

४ "गिरिवर धारजौ आपने घर को ।

ताही कै बल दान लेत ही, रोकि रहत तिय-परको ।

अपनेही घर बडे कहावत, मन धरि नद महर को ।

यह जानति तुम गाइ चरावन जात सदा बन वर को ।

मुरली वर काछनि आभूषन मार पखोवा सिंग को ।

सूरदास काँधे कामरिया और लकुटिया वरको" ।"

५ "यह कमरी कमरी करि जानति ।

जाके जितनी बुद्धि हृदय में, सो तितनी अनुमानति ।

या कमरी के एक रोम पर, वारों चोर पटवर ।

सो कमरी तुम निंदति गोपी, जो तिहुँ लोक अडवर ।

कमरी कै बल असुर संहारे, कमरिहि तैं सब भोग ।

जाति-पाति कमरी सब मेरी, मूर सबै यह जोग" ।"

६ "को माता को पिता हमारे ।

कब जनमत हमको तुम देख्यो, हेंसियत वचन तुम्हारे ।

तुम माखन चोरी करि खायो, कब काँधे महतारी ।

दुहत कौन को गैया चारत बात कहो यह भारी ।

तुम जानत मोहि नद-ढुढौना, नद वहाँ तैं आए ।

मैं पूरन अविगत अविनासी, माया सबनि भुलाए" ।"

७ "तुमको नद-महर भरहाए ।

मात-गर्भ नहि तुम उपजे तो वही वहाँ तैं आए ?

घर-घर माखन नही चुरायो ? ऊखल नही बँधाए ?

हा हा करि जसुमति कै आगे, तुमको हमहि छुडाए ?

ग्वलिनि सग-सग वृन्दावन, तुम नहि गाइ चराए ?

सूर-स्याम दस भास गर्भ धरि जननि नही तुम जाए ?"

८. "तुम देखत रहौ, हम जैहै ।

गोरस बेंचि मधुपुरी तें पुनि, याही मारग ऐहैं ।
ऐसे ही सब बैठे रहौ बोलै जवाब न दैहैं ।
घरिलै जैहैं जमुमति पै, हरि तब धौ कैसी कहै ।
काहे कौ मोतिनि लर तोरी, हम पीतांबर लैहै ।
सूर स्याम सतरात इते पर, घर बैठे तब रहैं^{१०} ।"

९. "मेरे हठ क्यों निवहन पैहौ ?

अब तौ रोकि सबनि कौ राख्यौ कैसे करि तुम जैहौ ?
दान लेहुगौ भरि दिन दिन कौ, लेख्यौ करि सब दैहौ ।
सौह करत हौं नद बबा की, मै कहौ तब जैहौ ।
आवति-जाति रहति याही पय, मोसौ बर बढैहौ ।
सुनहु सूर हम सौ हठ माँडति, कौन नफा कर लैहौ^{११} ।"

ऊपर उद्धृत रास-लीला-मन्वधी सवाद बहुत साधारण है, उसमें अपेक्षित सजीवता नहीं है । इसका मुख्य कारण यह है कि वशी की मधुर ध्वनि को प्रियतम का सांकेतिक निमन्त्रण समझकर दौड़ती आती युवतियाँ से कृष्ण ने सहसा जो प्रश्न कर दिये, वे सर्वथा अप्रत्याशित थे और इसलिए वे हतबुद्धि-भी हो जाती है । इसके विपरीत दान-लीला-प्रसंग का वार्तालाप बहुत सजीव और प्रवाहपूर्ण है । उससे गोपियों की चतुरता और तुरतबुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है । श्रीकृष्ण अथवा उनके साथ जिस स्वर में प्रश्न करते हैं, उसी में उन्हें उत्तर भी मिलता है । भावों की कृत्रिमता दोनों पक्षों में है जिसमें क्रोध और व्यंग्ययुक्त उक्तियाँ तीखी होकर उभयपक्षीय श्रोताओं को चुभती नहीं, प्रत्युत सरस विनोद से पुलकित कर देती है । इन सलापों की भाषा मिश्रित है जिसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं है । चुने हुए मुहावरों के प्रयोग ने कहीं-कहीं भाषा को बहुत सरल बना दिया है । वाक्य सभी पदों के सीधे-सादे हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं ।

अ. दूती-राधा-संवाद—सयोग के लिए दिये गये वचन का रसिकप्रवर श्रीकृष्ण को पालन न करते देख राधा जब मान करती है, तब वे इसे मनाने के लिए दूती को भेजते हैं । सारी परिस्थिति से अवगत यह दूती अपने कार्य में बड़ी कुशल होती है और नायिका का मान भंग करने के अनेक उपाय करती है । कभी वह उसका रूप-गुण बखानती है, कभी उसकी प्रशंसा और चाटुकारी करती है, कभी यौवन की अस्थिरता जताकर सुखोपभोग का उपदेश देती है, कभी उसकी अज्ञानता पर शृंखलाकर उसका उपहास करती है और कभी मान से सभाव्य अनिष्ट की बातकर शुभाकांक्षिणी के समान उसे सचेत करती है । इसी प्रकार मान के आवेश में राधा कभी उसकी बात ही नहीं सुनना चाहती, कभी उसको बुरी तरह झिड़क देती है, कभी प्रियतम की रम-लोलुपता पर व्यंग्य कसती है और कभी

उदासीनता के नाथ अयोग प्रपञ्च म भविष्य में न पडने का अपना निश्चय उस सुना देती है, जैसे—

“मानि मनायौ राधा प्यारी ।

दहियत मदन मदन-नायक है, पोर प्रीति की न्यारी ।

तू जु झुक्ति ही औरनि रूमत, अब कहि कैसे रसी ?

बिनुही सिसिर तमकि तामन में तू मुख कमल बिदूषी ।

X

X

X

तू तौ प्रान प्रातवल्लभ कै, वै तुव चरन उपासी ।

सुनिहै कोऊ चतुर नारि, बन करति प्रेम की हांसी ।

X

X

X

जौ गौरी पिय-नेह-गरब तौ लाख कहै किन कोई ।

काहू लियो प्रेम को परचो, चतुर नारि है सोई ।

कत हो रही नारि नीची करि, देवति लोचन झूले ।

मानौ कुमद रुठि उडुपति सौं, सकुचि अधोमुख फूले ।

X

X

X

जोवन-जल वरषा की सरि ज्यों चारि दिना कौ आवै ।

X

+

+

लै चलि भवन भावतेहि भुज गहि, को कहि गारि दिवाई ।”

झुकि बोली, ‘ह्यां तै त्वैं हातो, कौनै मित्रैं पठाई ?

लै किनि जाहि भवन आपनै ह्यां तरन कौन सौं आई ?”

+

+

+

‘जे जे प्रेम छके में देखे निनहि न चातुरताई ।

तेरै मान - सयान सखी तोहि, कैसे कै समुपाई ।

परिहै ओष - चिनगि भांवरि में, बुझिहै नहो बुझाई ।

हौं जु कहति तै वादि वावरी, नून तै आगि उठाई ।”

X

+

+

इन दोसनि रुसनी करति है, करिहै कबहि कलोलै ?

कहा दियो पढि सोस स्याम कै, खोचि आपनी मो लै”^{१२} ।

दूती के वाक्यों की जिन विशेषताओं के सम्बन्ध में ऊपर संकेत किया गया है, वे प्रायः सभी इस पद की उक्तियों में मिलती हैं । राधा का वक्तव्य इसमें अवश्य सुनिश्चित

है । उसका वास्तविक रूप, श्रीकृष्ण की ओर से राधा को मनाने आयी हुई सखियों से होने वाले निम्नलिखित वार्तालाप में मिलता है—

“घायल जिमि मूर्छित गिरिधारी । अमी-वचन अब सीचि पियारी ।
बहुनायक वै तू नहि जानै । तिनसों कहा इतौ दुख मानै ।
बाहँ-गहँ हरि कों ढिग ल्यावै । अब वै निज अपराध छमावै ।”
“गहति बाहँ तुमही किन जाई । मोसौ बाहँ गहावन आई ।
काहिहि सीह मोहि उन दीनी । आजुहि यह करनी पुनि कीनी ।

देखि चुकी उनके गुननि, निज नैननि सुख पाइ ।

तिन्है मिलावति मोहि अब, बाहँ गहावति आइ ।

मिलौ न तिनसों भूलि, अब जौ ली जीवन जियो ।

सहौ विरह को सूल, बरुताको ज्वाला जरौ ।

मैं अब अपने मन यह ठानी । उनके पथ न पीवों पानी ।

कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ । मृग-मद भूलि न अंग चढाऊँ ।

हस्त-बलय पट नील न धारौ । नैननि कारे घन न निहारौ ।

सुनों न सवननि अलि-पिक बानी । नील जलज परसौ नहि पानी ।”

×

×

×

“तुम वै एक न दोइ पियारी । जल ते तरंग होति नहि न्यारी ।

रिस-रुसनों ओस-कन जैसी । सदा न रहे चाहियै तैसी ।

तजि-अभिमानमिलहि पिय प्यारी । मानि राधिका कही हमारी ।”

“चुप न रहति कह कहति मनावन । तुम आई ही बात बनावन ।

बहुत सही घर आई यातै । सुरति दिवावति पिछली बातै ।

मोसों बात कहति ही काकी । जाहु घरनि अब कछु है बाकी ।

को उनकी ह्याँ बात चलावत । है वै अब तुमही को भावत ।

तुम पुनीत अरु वै अति पावन । आई ही सब मोहि मनावन^{१३} ।

मान-प्रसंग के इस वार्तालाप में प्रवाह तो बहुत अधिक नहीं है; परन्तु भाषा का प्रयोग दोनों पक्षों के मनोभावों के अनुकूल हुआ है । दूती अथवा उमका कार्य करने वाली सखियाँ राधा का हित चाहती हैं । वे कहावतों और सूक्तियों का प्रयोग अधिक करती हैं जिससे राधा परिस्थिति को समझकर मान छोड़ दे; परन्तु राधिका की सीझ भरी उक्तियों में स्वाभाविक तीखापन है । उसके वाक्यों को कहीं तो शब्द की व्यंग्यात्मक ध्वनि ने और कहीं चुभते हुए मुहावरों के प्रयोग ने मनोदशा के सर्वथा अनुकूल बना दिया है ।

ॐ उद्धव-गोपी-संवाद—यह प्रसंग सूर-काव्य के ध्येष्ठनम अंशों में है। इसमें उद्धव गोपी का संवाद है अवश्य, परंतु वह प्रामाणिक नहीं है। प्रियतम कृष्ण के वियोग का दुःख बहुत समय तक सहनेवाली गोपियों के पास कहने के लिए इतनी बानें हैं कि उद्धव को एक उक्ति सुनते ही वे पचासों पदों में उसका उत्तर देने को प्रस्तुत हो जाती हैं। यही कारण है कि 'सूरसागर' के भ्रमरगीत प्रसंग में चार-पांच प्रतिशत पद ही उद्धव के हैं, शेष में गोपियों की ही इतनी मार्मिक-मार्मिक उक्तियाँ हैं कि अन्त में उद्धव भी इन्हीं के रंग में रँग जाते हैं। इस प्रसंग के अंतिम भाग में सूरदास ने संक्षेप में उद्धव और गोपियों का क्रमबद्ध वार्तालाप भी दिया है जिसमें क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर के ढंग का निर्वाह किया गया है और जो पीछे उद्धृत दाननीला प्रसंग की पद्धति पर है। भ्रमरगीत के अनेक पद पिछले पृष्ठों में उद्धृत किये जा चुके हैं, अतएव यहाँ केवल क्रमबद्धात्मक कथोपकथन का ही कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है—

१. उद्धव—मैं तुम 'पै' व्रजनाथ पठायी । आत्म-ज्ञान सिखावन आयी ।

+ + +

जोग समाधि ब्रह्म चित लावहु । परमानंद तवहि सुख पावहु ।
गोपी—जोगी होइ सो जोग बखानै । नवधा-भक्ति दास रति मानै ।
भजनानंद हमें अति प्यारी । ब्रह्मानंद सुख कौन विचारौ ।

+ + +

रूप-रासि ग्वारनि की सगी । कब देखै वह ललित त्रिभगी ।
जो तुम हित की बात बतलावहु । मदन गुपालहि कयो न मिलावहु ।
उद्धव—जाके रूप वरन बपु नाही । नैन मूँदि चितवौ मन माही ।
हृदय-कमल ते जोति विराजै । अतहद नाद निरंतर बाजै ।

+ + +

इहि प्रकार भव दुस्तर तरिही । जोग पथ क्रम-क्रम-अनुसरिही ।
गोपी—हम ब्रज-बाल गोपाल उपासी । ब्रह्मज्ञान सुनि आवै हाँसी ।

+ + +

नौरस ज्ञान कहा लै कीजै । जोग-मोट दासी सिर दीजै ।
उद्धव—पारब्रह्म अच्युत अविनासी । त्रिगुन-रहित प्रभु वरै न दासी ।
नहि दासी ठकुराइन कोई । जहँ देखौ तहँ ब्रह्म है सोई ।
उर मैं आनौ ब्रह्महि जानौ । ब्रह्म बिना द्विजौ नहि मानौ ।
गोपी—खरे वरौ अलि जोग सवारौ । भक्ति-विरोधी ज्ञान तुम्हारौ ।

नंदनंदन को देखे जीवै । जोग-पथ पानी नहि पीवै ।

X

X

X

दुसह वचन अलि हमैं न भावैं । जोग कहा ओढे कि विछावैं ।

उद्धव—(ऊधौ कह्यौ) “धन्य ब्रजवाला । जिनके सरवस मदन गुपाला ।

X

X

X

तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारौ । भक्ति सुनाइ जगत निस्तारौ^{१४} ।

२. उद्धव—एकै अलख अपार आदि अविगत है सोई ।

आदि निरजन नाम ताहि रीझै सब कोई ।

नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म को वास ।

अविनासी विनसै नही, सहज जोति परगास ।

गोपी—जौ ली कर-पग नही, कही ऊखल बयौ वाँघ्यौ ।

नैन नासिका मुखन चोरि दधि कौन खाघ्यौ ।

तवै खिलाए गोद लै कहे तोतरे बैन ।

ऊधौ, ताकौ न्याउ यह, जाहि न सूझै नैन ।

उद्धव—माया नित्यहि अंध, ताहि द्वै लोचन जैसे ।

शानी नैन अनंत ताहि सूझत नहि कैसे ।

X

X

X

गोपी—ऊधौ, कहि सति भाइ न्याइ तुम्हरै मुख सांचै ।

जोग प्रेम रस कथा कहौ कंचन की कांचै ।

X

X

X

उद्धव—धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य ये सब ब्रजवासी ।

धनि यह पावन भूमि, जहाँ विलसे अविनासी ।

उपदेसन आयौ हुतौ, मोहि भयो उपदेस^{१५} ।

इन संवादों की भाषा मिश्रित है । ब्रह्म की परिचयात्मक व्याख्या करते समय उद्धव अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं, जिसमें वाक्य-योजना शिथिल हो गयी है । परंतु रसिकिनी गोपियाँ तार्किक वाद-विवाद में न पड़कर हार्दिक भावों को सहज भाषा में स्वाभाविक रूप से व्यक्त करती हैं जिससे उनके वाक्यों में हृदयस्पर्शिता का गुण आ गया है । इन संवादों की एक विशेषता है इनकी क्रमबद्धता; परंतु काव्य-कला की दृष्टि से ये अंश साधारण ही हैं । गोपियों का हृदय तो वस्तुतः उन पदों में है जो उद्धव के मुख से ‘अलख’, ‘निरजन’-जैसे शब्द मुनने ही विविध स्वरों में सुनायी देते हैं । ऐसे कुछ पद पीछे उद्धृत किये जा चुके हैं ।

ट. कृष्ण-उद्धव-वार्ता—ब्रज जाने के पूर्व और वहाँ से लौटने के बाद, दो बार उद्धव म श्रीकृष्ण का सवाद होता है। दासों ही ब्रजवासियों का वार्तानाप क्रमबद्ध न होकर पूरे पूरे पदों में है और कहीं कहीं एक पद के उत्तर में कई-कई पद भी कहे गये हैं। अतः दोनों में यह है कि ब्रज जाने के पूर्व होनेवाले सवाद में उद्धव की शक्तियों का समाधान करने अथवा उन्हें अपने वचन में सहमत करने के लिए श्रीकृष्ण को कई-कई पद एक साथ कहने पड़ने हैं और ब्रज म लौटने के परवान् के वार्तानाप में ब्रजवासियों की उत्कट प्रीति की प्रशंसा करने हुए यही स्थिति उद्धव की हो जाती है, जैसे—

१. “सुनहु उपेंगसुत मोहि न विसरत ब्रजदासी सुखदाई ।
यह चित होत जाउ” मैं अवहीं, इहाँ नहीं मन लागत ।
गोपी भाल गाइ वन चारन, अति दुख पायी त्यागत ।
कहैं माखन-रोटी, कहैं जसुमति, जेवहु कहि-कहि प्रेम”^{१६} ।
२. सुनहु ऊधो, “मोहि ब्रज को मृधि नहीं विसराइ ।
रैन सोवति, दिवस जागत, नाहिने मन आन ।
नद जसुमति, नारि-नर-ब्रज तहाँ मेरी प्रान ।”
कहत हरि सुनि उपेंगसुत यह, “कहत हों रम-रीति ।
सूर चित तैं टरति नाही, राधिका की प्रीति”^{१७} ।
३. “सखा, सुनि मेरी इक बात ।
वह लता-गृह सग गोपिनि, सुधि करत पछितात ।
विधि लिखी नहि टरत क्योंहूँ,” यह कहत जकुलात ।
हैंसि उपेंग-सुत वचन बोले, “कहा करि पछितात ।
सदा हित यह रहत नाही, सकल मिथ्या जात”^{१८} ।
४. “ऊधो, तुम यह निश्चय जानी ।
मन वचन क्रम में तुमहि पठावत, ब्रज की तुरत पक्षानी”^{१९} ।
५. “ऊधो, बेगि ही ब्रज जाहु ।
सुति-सँदेस सुनाइ भेटों बल्लभिनि को दाहु”^{२०} ।
६. “ऊधो, ब्रज को गमन करौ ।
हमहि बिना गोपिका बिरहिनी, तिनके दुख हरौ”^{२१} ।

श्रीकृष्ण और उद्धव का यह वार्तानाप इनके ब्रज जाने के पूर्व का है। ब्रजवासियों की स्मृति में पुलकित होकर जब श्रीकृष्ण लगभग तीन पद कह जाते हैं, तब उद्धव हँसकर उपहास के स्वर में केवल डेढ़ पंक्ति कहने की आवश्यकता समझते हैं। यही क्रम

आगे भी चलता रहता है । परन्तु ब्रज से उद्धव के लौटने के पश्चात् यह कम परिवर्तित हो जाता है । मुख-राशि श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्य भक्ति और परम प्रीति से प्रभावित होकर अब वे लौटे हैं । अतएव कई पदों में जब वे उनके प्रति अपने प्रशंसात्मक उद्गार व्यक्त कर चुकते हैं, तब श्रीकृष्ण को दो-चार पत्कियाँ कहने का अवकाश मिलता है; जैसे—

१. “ब्रज के निकट जाइ फिर आयौ ।

गोपी-नैन-नीर-सरिता ते, पार न पहुँचन पायौ ।
तुम्हरी सीख सुनाव बैठि कै, चाहत पार गयौ ।
ज्ञान ध्यान व्रत नेम जोग कौ, संग परिवार लयौ ।
इहि तट तैं चलि जात नैकु उत, विरह-पवन झकझोरे ।
सुरति बृच्छ सो मारि बाहुवल, टूक टूक करि तोरे ।
हो हूँ बूढ़ि चलयौ वा गहिरै, केतिक बुड़की खाई ।
ना जानौ वह जोग बापुरौ, कहँ घी गयी गुसाई ।
जानत हुतौ थाह वा जल की, ओ तरिवे कौ धीर ।
सूर कथा जु कहा कहौ उनकी, परचौ प्रेम की भीर”^{२२} ।

२. “जब मैं इहाँ ते जु गयौ ।

तब ब्रजराज, सकल गोपीजन आगे होइ लयौ”^{२३} ।

३. “सुनियै ब्रज की दसा गुसाई ।

रथ की घुजा पीत-पट भूपन देखत ही उठि घाई”^{२४} ।

४. “हरि जू, सुनहु बचन सुजान ।

विरह व्याकुल छीन, तन-मन हीन लोचन-कान”^{२५} ।

५. “ऊघौ, भली ज्ञान समुझायौ ।

तुम मोसौं अब कहा कहत हो, मैं कहि कहा पठायौ ।
कहवावत हो बड़े चतुर पै, उहाँ न कछु कहि आयौ”^{२६} ।

६. “मैं समुझायौ अति अपनौ सौ ।

तदपि उन्हें परतीति न उपजी, सबै लख्यौ सपनौ सौ”^{२७} ।

७. “वाते सुनहु तौ स्याम, सुनाऊँ ।

जुवतिनि सौ कहि कथा जोग की, कयी न इती दुख पाऊँ”^{२८} ।

२२. सा. ४०९७ । २३. सा. ४०९८ । २४. सा. ४०९९ । २५. सा. ४१०१ ।

२६. सा. ४१२४ । २७. सा. ४१२५ । २८. सा. ४१२६ ।

कृष्ण और उद्धव के इन दोनों संवादों की भाषा सामान्य मिश्रित है। शब्दों का चुनाव दोनों में एक सा है। पहले संवाद में कृष्ण जिस प्रकार गद्गद् बठ से मार्मिक वाक्य कहते हैं, वही, बल्कि उससे भी अधिक, आर्द्र बठ, दूसरे संवाद में उद्धव का है। मुहावरों का प्रयोग पूर्वोद्धृत संवादों की तुलना में, इन दोनों में बहुत कम है। कारण यह है कि शुद्ध भावातिरेक की स्थिति में कह गये सरल वचन स्वतः प्रभावोत्पादक होते हैं, शाब्दिक या आर्थिक वक्रता इनके लिए अनावश्यक ही होती है। अतएव त्रिक उत्तर-प्रत्युत्तर न होने पर भी ये संवाद मर्मस्पर्शिता के कारण सुन्दर हैं।

संवादों का वास्तविक महत्व वाक्चातुर्य में है और उसके उपयुक्त शब्द-चयन के लिए कौशलपूर्ण सतर्कता अपेक्षित है। इस दृष्टि से सूर काव्य का उद्धव गोपी-संवाद वाला अंश सबसे महत्वपूर्ण है। अनेकानेक पदों में नयी-नयी उक्तियाँ और नये-नये अवाद्य तर्क गोपियों ने उद्धव के सामने प्रस्तुत करके अपने पक्ष का समर्थन किया और उन्हें निरुत्तर कर दिया। वास्तव में श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अनन्य प्रीतिमय भक्ति ने उनकी वाणी को विशेष दृढ़ता प्रदान कर दी थी जिसने उनकी भाषा का भी बहुत सशक्त बना दिया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामूहिक रूप से सूरदास के संवाद चाह अधिक विशेषतायुक्त न भी हों, परन्तु तर्कों की स्पष्टता, विन्यास की सरलता और भाषा की सुबोधता ने उनको विषय, पात्र और परिस्थिति की दृष्टि से स्वाभाविक अवश्य बना दिया है।

५. सूक्तियों की भाषा—

सूर-साहित्य, विशेषतः 'सूरसागर', में सूक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। जीवन के अनेक सारपूर्ण तथ्यों को उन्होंने सूक्ति रूप में इस प्रकार लिखा है कि उनकी सत्यता से परिचित पाठक का चित्त सदैव चमत्कृत हो जाता है। ये सूक्तियाँ एक ओर तो कवि के अनुभव-जन्य ज्ञान का परिचय देती हैं और दूसरी ओर, कथन की प्रभावोत्पादकता-वृद्धि में सहायक होती हैं। सूरदास द्वारा इनके प्रयोग की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने प्रत्येक स्थल पर विषय के अनुरूप सूक्तियों का ही चयन किया है। उनकी कुछ सूक्तियाँ 'सूरसागर' के विभिन्न स्कंधों से यहाँ उद्धृत हैं—

१. दुख, सुख, कीरति भाग आपनै, आइ परै सो गहियै^{२९}।
२. प्रेम के सिधु कौ मर्म जान्यो नही, सूर कहि कहा भयो देह वोरौ^{३०}।
३. ताहि कै हाथ निरमोल नग दीजियै, जोइ नीकै परखि ताहि जानै^{३१}।
४. ससि-सन्मुख जो धूरि उडावै, उलटि ताहि कै मुख परै^{३२}।
५. जो कछु लिखि राखी नंदनदन भेटि सकै नहि कोइ^{३३}।
६. यह जग-प्रीति सुवा-सेमर ज्यौ, चाखत ही उडि जात^{३४}।

२९. सा. १-६२। ३०. सा. ३१-२२२। ३१. सा. १-२२३। ३२. सा. १-२३४।

३३. सा. १-२६२। ३४. सा. १-३१३।

७. सुख-संपत्ति दारा-सुत हय-गय छूट सबै समुदाइ ।
 छनभंगुर यह सबै स्याम विनु अत नाहि संग जाइ^{३५} ।
 ८. जीवन-जन्म अल्प सपनो सी, समुझि देखि मन माही ।
 बादर-छाँह, धूम-धीराहर, जैसे धिर न रहाही^{३६} ।
 ९. झूठे नाते जगत के सुत-कलत्र-परिवार^{३७} ।
 १०. किये नर की स्तुती कौन कारज सरै, करै सो आपनी जन्म हारै^{३८} ।
 ११. विनु जानै कोउ औषधि खाइ । ताको रोग सकल नसि जाइ^{३९} ।
 १२. हारि-जीति नाहि जिय के हाथ । कारन-करता आनहि नाथ^{४०} ।
 १३. नर-सेवा तें जो सुख होइ । छनभंगुर धिर रहै न सोइ^{४१} ।
 १४. नारि के रूप कौ देखि मोहै न जो, सो नहि लोक तिहु माहि जायौ^{४२} ।
 १५. (कह्यौ) विषय सो तृप्ति न होइ । कैतो भोग करौ किन कोइ^{४३} ।
 १६. धनि जननी जो सुभटहि जावै ।

- भीर परै रिषु कौ दल दलि-मलि, कौतुक करि दिखरावै^{४४} ।
 १७. अति रिस ही तें तनु छोर्जे । सुठि कोमल अग पसीजै^{४५} ।
 १८. जहाँ बसे पति नाहि आपनी, तजन कह्यौ सो ठौर^{४६} ।
 १९. सूरदास ऊसर की बरषा, थोरे जल उतरानी^{४७} ।
 २०. सिंहनि की छोना भली, कहा बड़ी गजराज^{४८} ।
 २१. सेवक करै स्वामि सो सरवरि, इन बातनि पति जाई^{४९} ।
 २२. जाको मन जहँ अँटकै जाइ, ता विनु ताकी कछु न सुहाइ ।
 कठिन प्रीति की फंद है^{५०} ।

२३. (जैसे) चोर चोर सों रातें, ठठा ठठा एकै जानि ।
 कुटिल कुटिल मिलि चले, एक ह्वै, दुहुनि बनी पहिचानि^{५१} ।
 २४. धनी धन कबहूँ न पगटै, धरै ताहि छपाइ^{५२} ।
 २५. विष को कीट बिपहि रुचि मानै, कहा सुधा रसही रो^{५३} ।
 २६. जाकी जैसी बानि परो रो ।-

कोऊ कोटि करै नहि छूटै, जो जिहि धरनि धरी रो^{५४} ।

३५. सा. १-३१७ । ३६. सा. १-३१९ । ३७. सा. २-२९ । ३८. सा. ४-११ ।
 ३९. सा. ६-४ । ४०. सा. ६-५ । ४१. सा. ७-२ । ४२. सा. ८-१० ।
 ४३. सा. ९-८ । ४४. सा. ९-१५२ । ४५. सा. १०-१८३ । ४६. सा. १०-३२३ ।
 ४७. सा. १०-३३७ । ४८. सा. ५८९ । ४९. सा. ९५३ । ५०. सा. ११८० ।
 ५१. सा. १२७९ । ५२. सा. १८४३ । ५३. सा. १९२४ । ५४. सा. २३९६ ।

२७. नाहिन कढत और के काढ़े, सूर मदन के वान^{५५} ।
 २८. प्यासे प्राण जाई जो जल विनु पुनि कह कोज सिंधु अमी को^{५६} ।
 २९. जीवन सुफल सूर ताही को, काज पराए आवत^{५७} ।
 ३०. प्रेम प्रेम तै होइ, प्रेम तै पारहि जइये ।
 प्रेम बँध्यो ससार प्रेम परमारय नहियै^{५८} ।

इन सूक्तियों की भाषा सीधी-सादी और अनलट्टन है। जिस उक्ति को अनुभव-मूल्य सत्यता का बल प्राप्त हो, उसकी भाषा को माज-शृंगार की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए सूरदास ने व्याख्यात्मक और निष्कर्षात्मक, दोनों प्रकार की सूक्तियों को मिश्रित भाषा में ही लिखा है और उसको तत्सम शब्दों के अधिक प्रयोग से तो बचाया ही है, मुहावरो-कहावना को भी उसमें बहुत कम स्थान दिया है। यह ठीक है कि कबीर, रहीम, तुलसी आदि की सूक्तियों के समान सूरदास की समवर्गीय उक्तियों का अभी तक विशेष प्रचार नहीं हो सका है, परन्तु इसका प्रधान कारण सूर-साहित्य का सर्वसुलभ न होना ही कहा जा सकता है। अतएव अब 'सूरसागर' के प्रकाशित हो जाने पर यह आशा अवश्य की जा सकती है कि अपने सरल और स्वाभाविक भाषा-रूप के कारण सूरदास की सूक्तियाँ लोकप्रिय हो सकेंगी।

मुहावरों के प्रयोग—

भाषा में मुहावरों के प्रयोग से सजीवता और सशक्तता आती है। रचना को जन-साधारण में प्रिय बनाने में भी मुहावरों का बहुत हाथ रहता है। जिस लेखक की भाषा जनता की बोली के जितना निकट होगी, उसमें सामान्यतया मुहावरों का प्रयोग उतना ही अधिक होना चाहिए। मुहावरेदार भाषा ही वास्तव में उसका स्वाभाविक रूप है। मुहावरों के प्रयोग से कभी-कभी भाषा पर लेखक के अधिकार का भी परिचय मिलता है। साधारणतः जन-मण्डल में अधिक रहनेवाले और विनोदी प्रकृति के व्यक्तियों की भाषा में मुहावरों का प्रयोग खूब मिलता है। सूरदास की भाषा में भी मुहावरों की प्रचुरता के ये ही मुख्य कारण हैं। प्रकृति से वे एकाग्रवासी नहीं थे। स्वभाव से वे विनोदी भी बहुत थे और जनसाधारण की भाषा को ही उन्होंने काव्य-भाषा का रूप देने का सफल प्रयास किया था। ऐसी स्थिति में मुहावरों का प्रेमी होना सूरदास के लिए स्वाभाविक ही जान पड़ता है।

सूरकाव्य में प्रयुक्त मुहावरों की सूची बहुत लंबी है। 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' में इनका प्रयोग अवश्य कम हुआ है, परंतु 'सूरसागर' में इनकी भरमार है और शायद ही कोई भावप्रधान पद उसमें ऐसा मिले जिसमें दो-चार मुहावरों का प्रयोग उन्होंने न किया हो। विषय के अनुसार 'सूरसागर' के जो तीन बड़े विभाग— (१) विनय पद और पौराणिक कथाएँ, प्रथम से नवम स्कंध तक, (२) श्रीकृष्ण

की व्रज-लीला, दशम स्कंध, पूर्वार्द्ध; और (३) श्रीकृष्ण की मथुरा-द्वारका-लीला, दशम स्कंध उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कंध—पीछे किये गये हैं, उनमें से प्रथम और अंतिम में इनका प्रयोग बहुत कम और द्वितीय में बहुत अधिक किया गया है। इसके चार प्रमुख कारण हो सकते हैं—

पहला तो यह कि कवि को श्रीकृष्ण-कथा का यही अंश सर्वाधिक प्रिय है।

दूसरे, इस अंश में ग्रामीण पात्रों की, विशेषतः स्त्रियों की प्रधानता है जिनका स्वभाव ही मुहावरेदार जन-भाषा में बानधीत करने का होता है।

तीसरे, उक्त तीनों विभागों में से प्रथम और अंतिम का अधिकांश स्वयं कवि द्वारा वर्णित है, पात्रों को बोलने का उनमें बहुत कम अवसर मिला है, परन्तु द्वितीय भाग का अधिकांश पात्र-पात्रियों के पारस्परिक वचनों से पूर्ण है।

चौथा प्रमुख कारण यह है कि दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त शेष सभी स्कंधों में हर्ष, शोक, प्रेम, विरह आदि भावों की सामान्य स्थितियाँ ही पाठकों के सामने आती हैं जिनके वर्णन में सामान्य भाषा-रूप से भी काम चल जाता है। परन्तु दशम स्कंध में यदि हर्ष और प्रेम है तो चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ और शोक या विरह की वेदना है तो अपार और निस्सीम। इसके अतिरिक्त अपनी प्रीति की अनन्यता को सिद्ध करने की कड़ी समस्या भी व्रजवालाओं के सामने आती है। इन सबकी व्यंजना सामान्य भाषा में अपेक्षित प्रभावात्मक रूप में हो ही नहीं सकती थी। अतएव उक्तियों की वक्रता और वाणी की विदग्धता के उपयुक्त मुहावरो के चयन और प्रयोग में उनका प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी था।

‘सारावली’ और ‘साहित्यलहरी’ के साथ-साथ ‘सूरसागर’ के उक्त तीनों वर्गों में प्राप्त मुहावरो में से कुछ के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

अ. ‘सारावली’ के मुहावरे— ‘सूरसागर’ के पौराणिक कथा-प्रसंगों की इतिवृत्तात्मक शैली पर ही ‘सारावली’ की रचना भी हुई है। अतएव वाइस सी के लगभग पंक्तियों में चार सी के लगभग में मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से कई तो तीन-चार बार दोहराये भी गये हैं। ‘सारावली’ से दस चुने हुए मुहावरो के प्रयोग इस प्रकार हैं—

१. अब न परत मोकूँ कल छिनहूँ चित में अति अकुलाई^{५९}।

२. गढ़ि गढ़ि छोलत कहा रावरे लूटत हो व्रजवाल^{६०}।

३. मन-क्रम-वचन यहै बर दीजौ मांगत गोद पसारी^{६१}।

४. बालक बह्यौ सिंधु में हमरो सो नितप्रति चित् लाग्यो^{६२}।

५. तरुन रूप धरि गोपिनि के हित सबको चित हरि लीन्हो^{६३}।

५९. सारा. ८७४। ६०. सारा. ८८५। ६१. सारा. २६०। ६२. सारा. ५३९।

६३. सारा. ८७२।

६. तब हरि भिरे मल्ल-क्रीडा करि बहु विधि दाँव दिखाए^{६४} ।
 ७ अति आनद कुलाहल घर घर फूले अग न समात^{६५} ।
 ८ जो तुम राजनीति सब जानत बहुत बनावत बात^{६६} ।
 ९ जसुमति माय धाय उर लीन्हो राई लोन उतारो^{६७} ।
 १० भूपन वसन आदि सब रचि रचि माता लाड लडावै^{६८} ।

आ 'साहित्यलहरी' के मुहावरे—कूट पदों का सक्लन होने के कारण 'साहित्य-लहरी' में मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। क्योंकि गूढ़ार्थ द्योतक सामासिक पदों की रचना में ही कवि का ध्यान अधिक केंद्रित रहा है। अतएव इस काव्य में प्रयुक्त मुहावरा में से केवल पाँच के उदाहरण परिचय के लिए पर्याप्त होंगे—

१. यहै चिता दहै छाती कामघाती वीर^{६९} ।
 २ का सतरात अली बतरावत उतने नाच नचावै^{७०} ।
 ३ निस दिन पथ जोहत जाइ^{७१} ।
 ४ मोहि आन वृषभान बवा की मैया मत्र न लहै^{७२} ।
 ५ मोहन मो मन बसिगो माई^{७३} ।

इ 'सूरसागर' के मुहावरे—'सूरसागर' एक प्रकार से मुहावरों का भी 'सागर' है। एक शब्द से बने हुए अनेक मुहावरों को यदि स्वतंत्र प्रयोग मान लिया जाय तो दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' में लगभग बीस हजार मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से अनेक मुहावरे ऐसे भी जिनका प्रयोग बार बार किया गया है। इस प्रकार केवल इस एक काव्य-कृति के आधार पर ऐसे मुहावरों का एक अच्छा कोश तैयार किया जा सकता है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त हैं। यहाँ 'सूरसागर' के विभिन्न अंशों से अलग-अलग मुहावरों के उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनसे स्पष्ट हो सकता है कि सूरदास भाषा की सजीवता-वृद्धि के लिए इनका प्रयोग आवश्यक समझते थे और इनसे युक्त भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था—

अ प्रथम से नवम स्कंध तक—'सूरसागर' के इन नौ स्कंधों में लगभग ढाई हजार पंक्तियों में मुहावरों का प्रयोग किया गया है जिनमें से चुने हुए केवल पचास प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं—

- १ वान-वरसा लगे करन अति नुद्ध ह्वै, पार्थ-अवसान तब सब मुलाए^{७४} ।
 २ आजु-काल्हि दिन चारि-पाँच में लका होति पराई^{७५} ।

६४ सारा ५२१ ।	६५ सारा ६५० ।	६६ सारा ८२४ ।	६७ सारा ४५७ ।
६८ सारा १८२ ।	६९ लहरी ५३ ।	७० लहरी ८४ ।	
७१ लहरी २२ ।	७२ लहरी १० ।	७३ लहरी ४३ ।	
७४ सा १-२७१ ।	७५ सा ९-११७ ।		

३. और पतित आवत न आँखि-सर देखत अपनौ साज^{७६} ।
 ४. यह तो कथा चलैगी आगे, सब पतितनि मैं हाँसी^{७७} ।
 ५. मंदिर की परछाया बैठ्यो, कर मीजै पछिताइ^{७८} ।
 ६. नृप कह्यो, मैं उत्तर नहि पायो। मेरो कह्यो न मन मै ल्यायो^{७९} ।
 ७. मारि न सकै, विधन नहि ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर^{८०} ।
 ८. सूरदास के प्रभु सो करियै, होइ न कान-कटाई^{८१} ।
 ९. जब तोसों समुझाइ कही नृप, तब तै करी न कान^{८२} ।
 १०. अब तौ परचो रहैगाँ दिन-दिन तुमको ऐसौ काम^{८३} ।
 ११. ताको केस खसै नहि सिर तै जौ जग वैर परै^{८४} ।
 १२. तुमही कहौ कृपानिधि रघुपति । किहि गिनती मैं आऊँ^{८५} ।
 १३. सहसबाहु के सुतनि पुनि राखी घात लगाइ^{८६} ।
 १४. मुवा पढ़ावति जीम लड़ावति, ताहि विमान पठायो^{८७} ।
 १५. लोक तिहुँ माहि कोउ चितु न आयो^{८८} ।
 १६. टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी, टेढ़ै-टेढ़ै धायो^{८९} ।
 १७. कबहुँकि फूलि सभा मैं बैठ्यो, मूँछनि ताव दिखायो^{९०} ।
 १८. भुजा छुड़ाइ, तोरि तून ज्यों हित, कियो प्रभु निठुर हियो^{९१} ।
 १९. दाउँ अबकै परचो पूरो, कुमति पिछली हारि^{९२} ।
 २०. दाँत चबात चले जमपुर तै धाम हमारे को^{९३} ।
 २१. सूर श्री गोविंद-भजन-विनु चले दोउ कर झारि^{९४} ।
 २२. कीजै लाज नाम अपने को, जरासध सो असुर सँभारो^{९५} ।
 २३. गनिका तरी आपनी करनी, नाम मयी प्रभु तेरो^{९६} ।
 २४. दासी बालक मृतक निहारि । परी घरनि पर खाइ पछारि^{९७} ।
 २५. बड़े पतित पासंगहु नाहीं, अजामिलि कौन विचारो^{९८} ।
 २६. प्रभु मैं पीछी लियो तुम्हारी^{९९} ।
 २७. सूरदास ऐसे स्वामी कौं, देहि पोठि सो अभागे^{१००} ।

७६. सा. १-१६ ।

७७. सा. १-११२ ।

७८. सा. १-७५ ।

७९. सा. ५-४ ।

८०. सा. १-९१ ।

८१. सा. १-१८५ ।

८२. सा. १-२६९ । ८३. सा. १-१९१ । ८४. सा. १-३७ । ८५. सा. ९-१७२ ।

८६. सा. ९-१४ । ८७. सा. १-१८८ । ८८. सा. ८-८ । ८९. सा. १-३०१ ।

९०. सा. १-३०१ । ९१. सा. ९-४६ । ९२. सा. १-३०९ । ९३. सा. १-१५१ ।

९४. सा. १-३०९ । ९५. सा. १-१७२ । ९६. सा. १-१३२ । ९७. सा. ६-५ ।

९८. सा. १-१३१ । ९९. सा. १-२१८ । १००. सा. १-८ ।

२८. होडा-होडी मनहि भावते किए पाप नरि पेट^१ ।
 २९ इहि कृति कौ फल तुरत चखैंहों^२ ।
 ३० सूरदास वैकुण्ठ - पैठ मै, कोउ न फंट पकरतों^३ ।
 ३१ परै बज्र या नृपति - सभा पै, कहति प्रजा अकुलानी^४ ।
 ३२ तीनों पन भरि ओर निवाह्यो, तऊ न आयो बाज^५ ।
 ३३ मन विद्युरे तन छार होइगो, कोउ न बात पुछातों^६ ।
 ३४ प्रिया-वियोग फिरत मन मारे परे सिधु-तट आनि^७ ।
 ३५ पटकि पूछ माथो धुनि लोटै, लखी न राघव - नारि^८ ।
 ३६ अष्ट सिद्धि बहुरी तहँ आई । रिपभदेव ते मुँह न लगाई^९ ।
 ३७ निसि दिन फिरत रहत मुँह बाए अहमिति जनम विगोइसि^{१०} ।
 ३८ मिथ्यावाद आप-जस सुनि सुनि मूँछहि पकरि अकरतों^{११} ।
 ३९ अब मेरी-मेरी करि वीरे, बहुरी बीज बयो^{१२} ।
 ४० जिनके दारुन दरस देखि कै, पतित करत म्यों म्यों^{१३} ।
 ४१ परम कुबुद्धि, तुच्छ रस लोभी, कौडी लगि मग को रज दानत^{१४} ।
 ४२ पति अति रोष मारि मनहों मन भीषम दई वचन वेंधि बेरी^{१५} ।
 ४३ लादत जोतत लकुट बाजिहै तब कहें मूँड दुरंहो^{१६} ।
 ४४. कोउ न समरथ अघ वरिवे कौ, खैंचि कहत हों लोको^{१७} ।
 ४५. तिन देखत मेरी पट काढत, लौक लगै तुम लाज^{१८} ।
 ४६ हम कछु लेन न देन मै, ये वीर तिहारे^{१९} ।
 ४७ नगन न होति चकित भयो राजा, सीस धुनै, कर मारें^{२०} ।
 ४८ हों बड, हों बड बहुत कहावत, सूध करत न बात^{२१} ।
 ४९ सूरदास रावन कुल-खोवन सोवत सिंह जगायो^{२२} ।
 ५०. द्विज कुल - पतित अजामिल विषयो, गनिका हाथ बिकायो^{२३} ।

व दशम स्कंध (पूर्वाह्न) — इस शीर्षक के अंतर्गत सभा के 'सूरसागर' में ४१६० पद दिये गये हैं । इनकी लगभग सोलह हजार पक्तियों में सूरदास ने मुहावरों के प्रयोग किये हैं । यह ठीक है कि अनेक पक्तियों में पूर्व प्रयुक्त मुहावरे दोहराये गये हैं, फिर भी

२ सा १-१०६ ।	३ सा ७-५ ।	४ सा १-२९७ ।	५ सा १-९५० ।
६ सा १-९६ ।	७ सा. १-३०२ ।	८ सा ९-८३ ।	९ सा. ९-७५ ।
१० सा ५-२ ।	११ सा १-३३३ ।	१२ सा १-२०३ ।	१३ सा. १-७८ ।
१४ सा १-१५१ ।	१५ सा. १-११४ ।	१६ सा १-२५२ ।	१७ सा. १-३३१ ।
१८ सा. १-१३८ ।	१९ सा १-२५५ ।	२० सा १-२३८ ।	२१ सा. १-२५७ ।
२२ सा. २-२२ ।	२३ सा. ९-८८ ।	२४ सा. १-१०४ ।	

इसमें कोई संदेह नहीं कि सजीवता और साकेतिकता की दृष्टि से इनमें से अधिकांश पदों की भाषा अत्यंत उत्कृष्ट है। दशम स्कंध से यहाँ लगभग सौ मुहावरों के ही उदाहरण दिये जा रहे हैं—

१. जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई^{२५} ।
२. निदरि बैठी सबनि को यह पुलकि अग न समाति^{२६} ।
३. मैं तौ जे हरे है, ते तौ सोवत परे है, ये करे है कौन आन,
अँगुरीनि दंत दै रह्यो^{२७} ।
४. तुम बांधति आकास वात झूठी को सँहै^{२८} ।
५. आस जनि तोरहु स्याम, हमारी^{२९} ।
६. प्रीति के बचन बाँचे, विरह अनल आँचे,
आपनी गरज कौ तुम एक पार्थे नाचे^{३०} ।
७. मुरलिया स्यामहि और कियो^{३१} ।
८. अब तुम मोकों करौ अजाँची, जो कहूँ कर न पसारौ^{३२} ।
९. कान परी सुनियँ नहीं बहु बाजत ताल मृदंग^{३३} ।
१०. सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कोड़ी हू न लहै^{३४} ।
११. बहुत दिवस मैं कोरँ लागी, मेरी घात न आयी^{३५} ।
१२. भानो पून्यो चद्र खेत चढ़ि लरि स्वरभानु सौं घायल आयी^{३६} ।
१३. आपु अपनी घात निरखत खेल जम्यो बनाइ^{३७} ।
१४. कोउ वरपत, कोउ अगिनि जरावत, दर्ई परची है खोज हमारे^{३८} ।
१५. तुम जो कहति हो, मेरी कन्हैया गंगा कँसो पानी^{३९} ।
१६. दधि-माखन गाँठी दै राखति, करत फिरत सुत चोरी^{४०} ।
१७. वह मधवा बलि लेत है नित करि करि गाल^{४१} ।
१८. देखहु जाइ चरित तुम वाके जैसे गाल बजै^{४२} ।
१९. चोरि-चोरि दधि-माखन मेरी, नित प्रति गोधि रहे हो छीकै^{४३} ।
२०. इक तँ एक गुननि हैं पूरे मातु, पिता अरु आपु^{४४} ।
२१. दियो फल यह गिरि गोवरधन, लेहु गोद पसारि^{४५} ।
२२. तुम कुँवर घर हो के बाढ़े अब कछू जिय जानिहो^{४६} ।

२५. सा. ३७०३ । २६. सा. १२९८ । २७. सा. ४८४ । २८. सा. १४९१ ।

२९. सा. १०२९ । ३०. सा. २५४९ । ३१. सा. १२७७ । ३२. सा. १०-३७ ।

३३. सा. २९०७ । ३४. सा. ३१८० । ३५. सा. १०-२८८ । ३६. सा. १६११ ।

३७. सा. १०-२४४ । ३८. सा. ५९५ । ३९. सा. १०-३११ । ४०. सा. १०-३४२ ।

४१. सा. ८२३ । ४२. सा. १७२४ । ४३. सा. १०-२८७ । ४४. सा. १२५६ ।

४५. सा. ८५९ । ४६. सा. २८१० ।

२३. आपुनि गई कमोरो मांगन, हरि पाई ह्यां घात^{४०} ।
 २४. सखा साथ के चमकि गए सब, गह्यो त्याग-कर धाइ^{४१} ।
 २५. चितवत चित तैं चुराइ, सोना बरनी न जाइ^{४२} ।
 २६. सूरदास प्रभु दूत दिनहि दिन, पठवत चरित चुनौती दैन^{४३} ।
 २७. छठ-आठ मोहि बान्ह कुँवर सौं, तिनकी कहति प्रीति तोसों है^{४४} ।
 २८. वह पापिनो दाहि कुल बाई, देखि जरति है छातो^{४५} ।
 २९. बिना जोर अपनी जांघनि के कैसें मुख बौन्ही तुम चाहत^{४६} ।
 ३०. जाहु घरहि तुमकों मैं चीन्ही । तुम्हरो जाति जानि मैं लौन्ही^{४७} ।
 ३१. हाथ नचावति आवति ग्वारनि, जीन करे किन थोरी^{४८} ।
 ३२. अचरज महरि तुम्हारे आगे, अब जीन तुतरानी^{४९} ।
 ३३. ऊँच-नीच जुवती बहु करिहैं, सतएँ राहु परे हैं^{५०} ।
 ३४. सूरदास जनुदा को नदन, जो बधु करे सो थोरी^{५१} ।
 ३५. ज्यों-त्यों करि इन दुहुनि सँघारों, बात नही बधु और^{५२} ।
 ३६. सूर त्याग मैं तुम न डरौहो, जवाब स्वाल को देहो^{५३} ।
 ३७. अतिहि आईं गरब कीन्हे, गई घर सख मारि^{५४} ।
 ३८. ऐसै दूटि परो उन लखर, तुमही कौन्ही बैरी^{५५} ।
 ३९. सूरदास प्रभु कह्यो न मानत, परयो आपनी टेक^{५६} ।
 ४०. जनु हीरा हरि लियो हाथ तै, ढोल बजाइ ठगी^{५७} ।
 ४१. तरिकिनो सबनि घर तोमो नहि कोठ निडर,

चलत नम चितं नहि सकत घरनी^{५८} ।

४२. जननी कहति, दई की घाली, काहें को इतरावि^{५९} ।
 ४३. (माई) नेकहूँ न दरद करति, हिलकिनि हरि रोवै^{६०} ।
 ४४. अचिरज आइ सुनी रो, भूपन देखि न सकत हमारी^{६१} ।
 ४५. सूर परेखी काको कोजै, बाप कियो जिन डूबी^{६२} ।
 ४६. द्वै कोड़ी के कागद-मसि को, लागत है बहु मोल^{६३} ।

४७. सा. १०-२७० ।

४८. सा. १०-३१४ ।

४९. सा. १०-१४६ ।

५०. सा. १७७६ ।

५१. सा. १७१७ ।

५२. सा. १३१२ ।

५३. सा. १८१२ । ५४. सा. ७९९ । ५५. सा. १०-२९३ । ५६. सा. १०-३११ ।

५७. सा. १०-८६ । ५८. सा. १०-२९३ । ५९. सा. २९२६ । ६०. सा. १४०५ ।

६१. सा. १७४१ । ६२. सा. २०८७ । ६३. सा. ४११ । ६४. सा. ३२६५ ।

६५. सा. ६९८ । ६६. सा. १००३ । ६७. सा. ३४८ । ६८. सा. १५४१ ।

६९. सा. ३६५० । ७०. सा. ३२५४ ।

४७. अब ये भवन देखियत सूने, धाइ धाइ हमकों ब्रज खात^{११} ।
 ४८. कीर्धी कहूँ प्यारी कौं, लागी टटकी नजरि^{१२} ।
 ४९. दंडों काम-दंड पर-घर कौ नउँ न लेइ बहोरी^{१३} ।
 ५०. गिरिधर कौ अपनै वस कोन्है, नाना नाच नचावै री^{१४} ।
 ५१. त्रिभुवन में अति नाम जगायौ, फिरत स्माम संगही-संगही^{१५} ।
 ५२. आजु मोहि बलराम कहत है, झूठहि नाम धरति हैं तेरी^{१६} ।
 ५३. करन देहु इनकी मोहि पूजा, चोरी प्रगटत नाम^{१७} ।
 ५४. महादेव की नारी छूटी, अति ह्वै रहे अचेत^{१८} ।
 ५५. गिरिधर बर में नैकु न छाँडी, मिली निसान बजाइ^{१९} ।
 ५६. इनको गुन कैसे कहि आवै, सूर प्यारहि क्षारत^{२०} ।
 ५७. देखौ जाइ आजु बन कौ सुख, कहा परोसि घरचौ है^{२१} ।
 ५८. देन उरहनों तुमको आई । नीकी पहरावनि हम पाई^{२२} ।
 ५९. साटिनि मारि करौ पहुँचाई, चितवत कान्ह डरायौ^{२३} ।
 ६०. पाँच की सात लगायौ, झूठी झूठी कै बनायौ,

साँची जौ तनक होइ, तौली सब सहियै^{२४} ।

६१. असुर कंस दै पान पठाई^{२५} ।
 ६२. जाकों ब्रह्मा पार न पावत, ताहि खिलावत ग्वालिनियाँ^{२६} ।
 ६३. बहियाँ गहत सतराति कौन पर, मग धरि डग कौन पर होति पीरी-कारी^{२७} ।
 ६४. ततछन प्रान पलटि गयो मेरी, तन-मन ह्वै गयो कारौ री^{२८} ।
 ६५. नाच कछुधो तब घूँघट छोरचौ । लोक-लाजि सब फटकि-पछोरचौ^{२९} ।
 ६६. फूली फिरति ग्वालि मन में री^{३०} ।
 ६७. याकै बल हम बढत न काहुँहि, सकल भूमि तून चारचौ^{३१} ।
 ६८. जा कारन तुम यह बन सेयो, सो तिय मदन-भुअगम खाई^{३२} ।
 ६९. हौं तौ न भयो री घर, देखत्यौ तेरो यौ अर,

फोरतौ वासन सब, जानति बलैया^{३३} ।

७०. झूठे ही यह बात उड़ी है, राधा-कान्ह कहत नर-नारी^{३४} ।

७१. सा. ३२५१ । ७२. सा. ७५२ । ७३. सा. १९३८ । ७४. सा. १२३८ ।
 ७५. सा. २२४१ । ७६. सा. ३९९ । ७७. सा. ३७६ । ७८. सा. ११८३ ।
 ७९. सा. १६६३ । ८०. सा. २३०१ । ८१. सा. ४१४ । ८२. सा. ७९९ ।
 ८३. सा. १०-३३० । ८४. सा. १७३४ । ८५. सा. १०-५० । ८६. सा. १०-१३२ ।
 ८७. सा. २५९५ । ८८. सा. १०-१३५ । ८९. सा. १६६१ । ९०. सा. १०-२६६ ।
 ९१. सा. ४३३ । ९२. सा. ७४८ । ९३. सा. ३७२ । ९४. सा. १७१० ।

७१. मेरी बात गई इन आगे, अवहि करति विनु पानी १५ ।
 ७२ को इनकी ह्याँ बात चलावै, इतनी हित है काकै १६ ।
 ७३. बातनि हो उड़ि जाहि और ज्यौ, त्यौ नाही हम काँची १७ ।
 ७४ न्हात बार न खसै इनको, कुसल पहुँचै धाम १८ ।
 ७५. सूर सकल पटदरसन वै, हों बारहखरो पढ़ाऊँ १९ ।
 ७६. यह सुनि नृपति हरष मन कोन्हौ, तुरतहि बोरा दोन्हौ १ ।
 ७७ चतुराई अँग-अँग भरी है, पूरन ज्ञान, न बुधि की मोटी २ ।
 ७८ तिहि कारन मैं आइकै तुव बोल रखायो ३ ।
 ७९ सूर स्याम तजि को मुस फटकै मधुप, तुम्हारे हेति ४ ।
 ८० अघर कप रिस मोह मरोरचो मन ही मन गहरानी ५ ।
 ८१ नैकहूँ नहि मंत्र लागत, समुझि बाहु न जाइ ६ ।
 ८२. सूर सनेह ग्वालि मन अँटक्यो अतर प्रीति जाति नहि तोरी ७ ।
 ८३. जिहि जिहि भाँति ग्वाल सब बोलत, सुनि नवननि मन राखत ८ ।
 ८४. वे सब ढीठ गरव गोरस के, मुख संभारि बोलत नहि बात ९ ।
 ८५ कबहूँ बालक मुंह न दीजियै, मुंह न दीजियै नारी १० ।
 ८६ काहे को मुंह परसन आए, जानति हो चतुराई ११ ।
 ८७ मुंह पावति तबही लौ आवति, औरै लावति मोहि १२ ।
 ८८ भलौ काम है सुतहि पढ़ायौ, वारे ही तें मूढ़ चढ़ायौ १३ ।
 ८९. मन ही मन बलवीर कहत है, ऐसे रंग बनावत १४ ।
 ९०. रसना तारु सौ नहि लावत पीवै-पीव पुकारत १५ ।
 ९१. सूर स्यामसुंदर मुख देखै विनु रो रह्यो न जाइ १६ ।
 ९२ सूर स्याम गाइनि सँग आए मँया लीन्हे रोग १७ ।
 ९३. तुव प्रताप जान्यो नहि प्रभु जू, करै अस्तुति लट छोरे १८ ।
 ९४. लरिकनि के वर करत यह, धरिहँ लाड़ उतारि १९ ।
 ९५ जैसे लोन हमारी मान्यो, कहा कही, कहि काहि सुनाऊँ २० ।

- ९५ सा १७६७ । ९६ सा २७५८ । ९७ सा ३६८६ । ९८ सा. ३०२९ ।
 ९९ सा. ४१२६ । १ सा १०-६१ । २ सा. १९०१ । ३ सा. ७१६ ।
 ४ सा. ३८६१ । ५ सा. २४१४ । ६ सा ७४५ । ७ सा. १०-३०५ ।
 ८ सा. ४९३ । ९ सा. १०-३०८ । १० सा. १५१८ । ११ सा. २५०५ ।
 १२ सा ७२३ । १३ सा ३९१ । १४ सा. १०-१२५ । १५ सा. २३३२ ।
 १६ सा. २३६० । १७ सा. ४९३ । १८ सा ४८८ । १९ सा. १६१८ ।
 २० सा. २२५९ ।

९६. घर-घर कहत बात नर-नारी । हूँ मुन्हीं मो खवन पसारी २१ ।
 ९७. स्वारथ मानि लेत रति करि कै, बोलत हौं जो, हौं जो २२ ।
 ९८. घर-घर हाथ दिवावति डोलनि, बाँधनि गरं बबनियाँ २३ ।
 ९९. सूर स्याम अति करत अचगरी, कैमंहुँ काहू हाथ न आवै २४ ।
 १००. सूर स्याम के हाथ बिकानी अलि अंजुज अतुरागे २५ ।
 १०१. मेरी जोरी है श्रीदामा हाथ मारे जात २६ ।
 १०२. करिहौ मान मदनमोहन मो, मानै हाथ रहैगो २७ ।
 १०३. अबहीं तें यह हाल करत है, दिन-दिन होत प्रकान २८ ।
 १०४. सूर स्याम अब तजो निठुराई, गाँठि हृदय की खोली जू २९ ।

न. दशम (उत्तरार्द्ध), एकादश और द्वादश स्कन्ध—इन स्कन्धों के लगभग १६० पदों में मुहावरों के प्रयोग अधिक नहीं हैं। कारण यह जान पड़ता है कि कुछ तो इनके विषयों में से अनेक में कवि को रुचि ही नहीं थी और कुछ वह व्यय-नमानि की शोभना था। फिर जो मुहावरे इन भाग में प्रयुक्त हो चुके हैं वे बहुत प्रचलित और साधारण ही हैं; जैसे—

१. झूठे नर सौं लेहि अँकोरि । तावें ताँचें नर की खोरि ३० ।
२. सूर हृदय तें टरत न गोकुल, अंग छूतत हौं तेरी ३१ ।
३. मयुरा हूँ तें गए सुनो रो, अब हरि कारे कोसनि ३२ ।
४. जज्ञ छाँड़ि हरि-पद चित लायो ३३ ।
५. ज्यों जुवारि रन-बोधि हारि गय सोचन पटक चितो ३४ ।
६. निरखि सुर-नर सकल मोहें, रहि गए जहें के तहाँ ३५ ।
७. जबजब मोहि धोष-मुषि आवत नैननि बहति पनारी ३६ ।
८. ऐसी प्रीति को बलि जाडें ३७ ।
९. धरिहौ कहा जाड तिय आग, मरि-मरि लेत हियो ३८ ।
१०. नृप, मैं तोहि मागवत मुनायो । अर तुम मुनि हिय माहि बनायो ३९ ।

‘साराबनी’, ‘माहिन्दबहरी’ और ‘सूरमागर’ में जो मुहावरे ऊपर संकलित किये गये हैं, वे सामान्य स्पष्ट विषयों, अंगों आदि से अव्यक्त हैं। यहाँ इनके अनिश्चित

२१. सा. ९२२ । २२. सा. २२५७ । २३. सा. १०-२७ । २४. सा. १४३३ ।
 २५. सा. १००३ । २६. सा. १०-२१३ । २७. सा. २८२६ । २८. सा. १०-६० ।
 २९. सा. २५०९ । ३०. सा. १२-३ । ३१. सा. ४२९५ । ३२. सा. ४२५८ ।
 ३३. सा. १२-५ । ३४. सा. ११-१ । ३५. सा. ४१८६ । ३६. सा. ४२७४ ।
 ३७. सा. ४२३० । ३८. सा. ४२३४ । ३९. सा. १२-४ ।

‘सूर-काव्य’ में प्रयुक्त ‘आँख’-संबंधी कुछ उदाहरण और दिये जाते हैं। कवि सूर नेत्र-ज्यांति-हीन थे। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि नेत्रा का अभाव उन्हें कभी-कभी बहुत विवश कर देता हो। संभवतः इसी कारण-नेत्र संबंधी मुहावरे उनको बहुत प्रिय थे और उन्होंने उनमें से अनेक का प्रयोग अपने काव्य में किया है, जैसे —

- १ तव नारायन आँखि उधारी ४० ।
२. हमरो जौवन-रूप आँखि इनको गड़ि लागत ४१ ।
- ३ और पतित आबत न आँखि तर देखत अपनो साज ४२ ।
४. आँखि दिखावत ही जु कहा तुम करिही कहा रिसाय ४३ ।
- ५ हरि की माया कोउ न जानै आँखि घूरि-सो दोनी ४४ ।
- ६ काहे कौ अव रोष दिखावत, देखत आँखि बरत है मेरी ४५ ।
- ७ यहुरयो भूलि न आँखि लगी ४६ ।
८. अवकै जौ परचो करि पावौ अरु देखौ नरि आँखि ४७ ।
- ९ तिहि जल गाजत महावीर सब तरत आँखि नहि मारत ४८ ।

ऊपर कहा गया है कि सूर-काव्य के आधार पर मुहावरों का एक कोश तैयार किया जा सकता है। ‘आँख’ संबंधी उक्त मुहावरों में इस कथन की पुष्टि होती है। वीररस संबंधी पद सूर काव्य में नहीं है और युद्ध का वर्णन भी उन्होंने एक दो पक्तियों में ही समाप्त कर दिया है। अतएव तद्विषयक मुहावरों का उममें भले ही अभाव हो, परन्तु शृंगार, करुण और शांत रस के उपयुक्त मुहावरे उनके काव्य में बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं और इस दृष्टि से वे हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित कवियों से बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से मुहावरों के प्रयोग के संबंध में एक महत्व की बात यह भी स्पष्ट होती है कि सूरदास कहीं इनकी सप्रयोज्य योजना में प्रवृत्त नहीं हुए। उनकी भाषा के सभी रूपों में मुहावरे सहज रीति से ही प्रयुक्त हुए हैं जिससे अर्थ-व्यञ्जना के साथ-साथ भाषा-सौंदर्य की स्वाभाविक वृद्धि हुई है। साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि अपने समय में प्रचलित अगणित मुहावरों में से सूरदास ने केवल उन्हीं का चयन किया है जिनमें दीर्घायु होने की क्षमता थी। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अधिकांश मुहावरे आज भी प्रचलित और लाजप्रिय हैं। तीसरी बात यह है कि सूरदास ने मुहावरों का रूप बिगाड़ने का प्रयत्न कहीं नहीं किया जिससे भाषा की सुवाधता और स्वच्छता सर्वत्र बनी रहती है। विदेशी शब्दों से बने मुहावरों को अपनाते समय भी उन्होंने इन बातों का बराबर ध्यान रक्खा है।

४०. सा. ११३। ४१. सा. १४६१। ४२. सा. १-९६। ४३. सा. वे. २४४७ (७)।
 ४४. सा. ६९४। ४५. सा. ३५२८। ४६. सा. वे. २७९०। ४७. सा. ९-१६४।
 ४८. सा. ९-११२।

७ कहावतों के प्रयोग — मुहावरों के समान ही कहावतों के प्रयोग से भी भाषा सजीव और सशक्त होती है। मुहावरे, भाषा के सामान्य अर्थ में ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं; परन्तु कहावतों में जीवन के महत्वपूर्ण अनुभवों का सार इस प्रकार संकलित रहता है कि पाठक के सामने प्रसंग-विशेष का एक सागोपाग चित्र-मा अंकित हो जाता है। सूर-काव्य में इनका भी प्रयोग अनेक पदों में हुआ है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध में ही इनकी अधिकता है; उसके अन्य स्कंधों, 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' में इनके प्रयोग बहुत कम हुए हैं। 'सूरसागर' में प्राप्त कहावतों के कुछ प्रयोग यहाँ संकलित हैं—

१. अँगुरी गहत गह्यौ जिहि पहुँचौ कैसें दुरति दुराए ^{४९} ।
२. सूरदास प्रभु आक चचोरत, छाँड़ि ऊख कौ मूढ ^{५०} ।
३. इत कौ भई न उत कौ सजनी, भ्रमत भ्रमत मैं भई अनाथ ^{५१} ।
४. भई रीति हठि उरग - छछूँदरि छाँड़े बनै न खात ^{५२} ।
५. सूरदास ऊसर कौ बरषा थोरे जल उतरानी ^{५३} ।
६. जोइ जोइ आवत वा मथुरा तैं, एक डार के तोरे ^{५४} ।
७. कही मधुप, कैसें समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े ^{५५} ।
८. सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताकौ कहा करै काजी ^{५६} ।
९. सूरदास सुरपति रिस पाई। कीरी तनु ज्यों पंख उपाई ^{५७} ।
१०. कुटिल कुटिल मिलि चलै एक ह्वै ^{५८} ।
११. ज्यों गजराज काज के औरै, औसर दसन दिखावत ^{५९} ।
१२. सूरदास अबला हम भोरी गुर - चींटी ज्यों पाणी ^{६०} ।
१३. जैसे चोर चोर सौं रातें ^{६१} ।
१४. छोटे मुंह बड़ी बात कहत, अवही मरि जैहै ^{६२} ।
१५. ऊधी जौ जिय जानि कै, दैत जरे पर लौन ^{६३} ।
१६. करियै कहा लज मरियै जब अपनी आँघ उघारी ^{६४} ।
१७. जूठी खैयै मीठे कारन, आपुहि खात अड़ावत ^{६५} ।
१८. सूरदास प्रभु आपुहि जैयै, जैसी बयारि तैसी दीजै पीठि ^{६६} ।

४९. सा. १३०५ । ५०. सा. ३७३३ । ५१. सा. २३१७ ।

५२. सा. ३७३९ । ५३. सा. १०-३३७ । ५४. सा. ३५९५ । ५५. सा. ३६०४ ।

५६. सा. ३१४७ । ५७. सा. ९२३ । ५८. सा. १२७९ । ५९. सा. ३६४७ ।

६०. सा. ३९५८ ।

६१. सा. १२७९ । ६२. सा. ५८९ । ६३. सा. ३५२२ । ६४. सा. १-१७३ ।

६५. सा. २३४१ । ६६. सा. २५७१ ।

- १९ जैसो कियो सह्यो फल तैसो हमही दूपन आयो^{१७} ।
 २०. जैसोइ बोझ्यै तैसोइ लुनिए, कर्मन भोग अभागे^{१८} ।
 २१. जौ कोउ पर-हित कूप खनावै परं सु कूपहि माहो^{१९} ।
 २२ ठठा ठठा एकै जानि^{२०} ।
 २३ सूरदास प्रभु दुरत दुराए डुंगरनि ओट सुमेर^{२१} ।
 २४ दाई आगें पेट दुरावति, बाकी बुद्धि आजु मैं जानी^{२२} ।
 २५ हम जातहि वह उघरि परंगो, दूध-दूध पानी सो पानी^{२३} ।
 २६ हम तन हेरि चितै अपनी पट देखि पसारहि लात^{२४} ।
 २७ सूरदास कहूँ सुनी न देखी, पोत सूतरी पोहत^{२५} ।
 २८ बीस बिरियां चोर की तो कबहुँ मिलिहै साधु^{२६} ।
 २९ बोलत बबुर दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे^{२७} ।
 ३० मरे कौ मारत बड़े लोग भाई^{२८} ।
 ३१. सूरदास प्रभु सीख बतावै सहद लाइ कै चाटी^{२९} ।
 ३२. सूधे होत न स्वान पूँछ-ज्यों पचि पचि वैद मरे^{३०} ।

कहावती का प्रयोग साधारणतः वार्तालाप में अधिक होता है और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की इनके प्रति अधिक रुचि रहती है । ऊपर संकलित वाक्यों में से अधिकांश स्त्रियों के ही हैं । सूरदास की भाषा को इन कहावतों के प्रयोग से कहीं कहीं बड़ा बन मिला है— और जब हम देखते हैं कि उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक कहावतें— आज भी ज्यों की त्यों, सामान्य वार्तालाप की भाषा में ही नहीं, काव्यभाषा में भी प्रयुक्त होती हैं तब इस अधः कवि की रचना कुशलता पर हमें गर्वमिश्रित आश्चर्य होता है ।

शास्त्रीय दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

सूरदास को काव्यशास्त्र का विधिवन् अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला था, फिर भी जब उनको हिंदी के सर्वप्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास के समक्ष पद प्रदान किया जाता है, तब शास्त्रीय दृष्टि से उनकी भाषा का अध्ययन करना भी बहुत आवश्यक हो जाता है । इस शीर्षक के अंतर्गत सूरदास की भाषा के, जिन पक्षों का अध्ययन करना है, उनमें मुख्य है—१. सूर के छंद और उनकी भाषा, २ शब्दशक्तियाँ ३. ध्वनि, ४. अलंकार ५ गुण, रीति और वृत्ति, ६ रस और भाषा का संबंध एवं ७. सूर की भाषा के दोष ।

(१) सूर के छंद और उनकी भाषा—अच्छी कविता के लिए जिस प्रकार भाषा का

६७ सा. १०१४ ।	६८. सा. १-६१ ।	६९. सा. ३६८७ ।
७०. सा. १३७९ ।	७१. सा. ४५८ ।	७२. सा. १७२३ ।
७३. सा. १७२३ ।	७४. सा. ३८९३ ।	७५. सा. ३६९० ।
७६. सा. १७४१ ।	७७. सा. १-६१ ।	७८. सा. २३०३ ।
७९. सा. ३९२६ ।	८०. सा. ३७३० ।	

भाव के अनुकूल होना आवश्यक है उसी प्रकार छंदों का चुनाव भी भाव विशेष के ध्यान से किया जाता है। भाषा और छंद, दोनों के भावानुकूल होने पर काव्य का सौंदर्य निखरता है। काव्य की श्री-वृद्धि का यह कार्य भाषा और छंद के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। छोटे छंदों में लिखी गयी कविता तभी सुंदर लगती है जब उसके साथ छोटे-छोटे सरस शब्दों का चुनाव किया गया हो, इसी प्रकार बड़े छंदों के लिए छोटे-बड़े, दोनों प्रकार के शब्दों का मिला-जुला प्रयोग किया जा सकता है। यह तो हुआ भाषा का सहयोग; और छंद का सहयोग भी कम महत्व का नहीं है। छंद तो स्फुट रूप से बिखरे शब्दों को नियमानुसार क्रम में रखने पर उनमें अपूर्व नाद-सौंदर्य की सृष्टि करता है जिससे भाव को हृदयंगम करने में कभी-कभी बहुत सहायता मिलती है। इसीलिए छंद के बंधन से मुक्ति पाने का प्रश्न उठने पर शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा था, 'छंद के बंधन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखायी पड़ता है' ^१। इस कथन के द्वारा वे भी जैसे भाषा और छंद के घनिष्ठ संबंध की आवश्यकता का ही समर्थन करते हैं।

समस्त सूरकाव्य, प्राचीन परंपरा के अनुसार, छंदबद्ध रूप में लिखा गया है। सामान्य काव्य से सूरदास के छंद-प्रयोग में एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने अधिकांश साहित्य को गेय रूप प्रदान किया है। उनके पद सफलतापूर्वक गाये जाते हैं और संगीतज्ञों को उनमें अपार आनंद मिलता है। काव्य-कला की कसौटी पर सामान्य और खरे उतरनेवाले, दोनों प्रकार के पदों में प्रायः यह गुण मिलता है। जिन साधनों से सूर-काव्य को संगीत की दृष्टि से यह सफलता मिल सकी, उनमें भाषा का भी प्रमुख स्थान है। सरल, विषय और भावानुकूल शब्दों की नियमित योजना ने उसमें संगीत की जो मधुरिमा भर दी, वह असाधारण है। उनके प्रायः सभी मर्मस्पर्शी पद बहुत छोटे—अधिक से अधिक आठ चरणों के हैं जिनमें सहज और भावपूर्ण शब्दों की अधिकता है। कवि स्वयः ऐसे पदों की रचना करते समय भावमग्न हो जाता है और वैसी स्थिति में उसकी विनोदी प्रकृति भी रसलीनता का अनुभव करती है जिसके फलस्वरूप भाषा-शैली के साथ खिलवाड़ करने के लोभ का संवरण करने में समर्थ होती है। ऐसे पदों में रूपक सरल हैं, उपमाएँ सुंदर और उत्प्रेक्षाएँ सहृदयता को उल्लसित करनेवाली हैं। इनके साहचर्य से भाषा इस प्रकार खिल उठी है कि संगीतज्ञ भी उस पर लट्ठू हो जाता है। भाषा-संबंधी सूर का यह कौशल उनके समस्त सुंदर पदों में देखा जा सकता है।

वास्तव में गेय पदों की संगीतात्मकता के उपयुक्त शब्दावली का चयन सूरदास के लिए बहुत साधारण बात थी। बाल्यावस्था से ही जिस कवि ने गाने का अभ्यास किया हो, स्व-रचित पदों को जो आरंभ से ही गाता रहा हो और गुणज्ञों को रिझाने में भी समर्थ हुआ हो, उसके लिए संगीत की प्रकृति को समझना और उसके अनुकूल शब्दों का

चयन करना स्वभावः सा सुगम हो जाता है । मूर ऐसे ही व्यक्ति थे । भक्त, कवि और गायक—एक ही व्यक्तित्व में मानव-समाज के तीन प्रमुख वर्गों के सामंजस्य ने उनको ऐसे सभी विषयों से परिचित करा दिया जो धर्मप्राण जनता को मोह सकते हैं, केवल भक्तों और सहृदयों को ही नहीं, भाव भाव को प्रभावित कर सकते हैं और कान्य को संगीत का अत्यन्त सुगंधकारी रूप प्रदान कर सकते हैं । भाषा के प्रयोग इन तीनों क्षेत्रों में वे पचास वर्ष से भी अधिक समय तक करते रहे, फिर व्रजभाषा उनकी मातृभाषा थी और उसी का सस्कार परस्कार थी और संपन्नता वृद्धि उनके जीवन का प्रिय लक्ष्य रहा । अतएव इस प्रवृत्त संगीतज्ञ के काव्य में उपयुक्त भाषा देखकर नहीं, न देखकर अवश्य आश्चर्य हो सकता था, अस्तु ।

मूर-काव्य में प्रयुक्त छंदों का स्थूल रूप सदा वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) छोटे छंद, जैसे उपमान, कुंडल, चौपई चौपाई, चौबोला आदि, और (ख) बड़े छंद, जैसे—लावनी, विष्णुपद, वीर, सरसी, मार, हरिप्रिया आदि । इनमें से प्रत्येक वर्ग के कुछ छंदों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) छोटे छंद—(अ) उपमान—२३ मात्राएँ=१३, १०, अंत में दो गुरु—
मूरदासदपति-दसा, कापै कहि जाई^{८२} ।

(आ) कुंडल—२२ मात्राएँ=१२, १०, अंत में दो गुरु—
चतुरानन-बल सेभारि, मेघनाद आयो^{८३} ।

(इ) चौपई—१५ मात्राएँ, अंत में गुरु-लघु—
बाल-अवस्था में तुम धाड़, उडति भैंसीरी पकरी जाई^{८४} ।

(ई) चौपाई—१६ मात्राएँ, अंत में जगण, तगण या गुरु लघु न हो—
जाति-पाति तिन सब बिसराई । भच्छ जमच्छ सर्व सा खाई^{८५} ।

(उ) चौबोला—१५ मात्राएँ, अंत में गुरु—
बहुरि पुरान अठारह किय । पं तउ साति न आई हिये^{८६} ।

(ख) बड़े छंद—(अ) लावनी—३० मात्राएँ=१६, १४, अन्तिम वर्ग गुरु—
मूरदास तिहिनी ब्रज-वनिता, लवज्ञोरति उर अक भरे^{८७} ।

(आ) विष्णुपद—२६ मात्राएँ=१६, १०; अंत में गुरु—
मूरदास प्रमु प्रिया-प्रेम-वस निज महिमा बिसरी^{८८} ।

(इ) वीर—३१ मात्राएँ=१६, १५, अंत में गुरु-लघु—
मूरदास प्रमु सिमु-नीलारम आवहु देखि नद सुख धाम^{८९} ।

(ई) सरसी—२७ मात्राएँ = १६, ११, अतः में गुरु-लघु—
सूरज-प्रभु पर सकल देवता, वरपन मुमन अपारः

(उ) सार—२८ मात्राएँ = १६, १२, अतः में दो गुरु—
सूरदास प्रभु मधुर वचन कहि, हरपित सर्वाहि बुलाए^{१०} ।

(ऊ) हरिप्रिया—४६ मात्राएँ = १२, १२, १२, १० अतः में दो गुरु—
गावत गुन सूरदास, बढ्यो जस भुव-अकाम नाचन त्रैलोकनाथ, माखन के
काज^{११} ।

इन छंदों के अतिरिक्त यद्यपि चंद्र, तोमर, दोहा, भानु, राधिका, रूपमाला, रोला, शोभन, सर्वैया, सुखदा, हमाल, हरी आदि अनेक छंदों का प्रयोग भी सूर-काव्य में किया गया है; तथापि छंदानुसार भाषा-रूप को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। उनमें से अधिकांश पद के अंतिम चरण हैं जिनसे विभिन्न छंदों के भाषा-रूप के मिलान में विशेष सहायता मिल सकती है। इन उद्धरणों से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि छोटे छंदों में कवि की छाप के अतिरिक्त प्रायः सभी शब्द दांतीन अक्षरों के ही हैं जबकि बड़े छंदों में उनके साथ साथ कहीं-कहीं चार-पाँच अक्षरों वाले शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि हैं ये बहुत कम। दूसरी बात यह है कि चौपई, चौपाई, चौबोला आदि छंदों में प्रयुक्त भाषा में कुछ शिथिलता मिलती है, अन्य छंदों की भाषा अपेक्षाकृत प्रवाहपूर्ण है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि सूरदास ने चौपई-जैसे छंदों में इतिवृत्तात्मक प्रसंग अधिक लिखे हैं और भावात्मक विषयों के लिए अन्य छंदों का प्रयोग किया है।

लय या गति और तुक, छंद के मुख्य अंग हैं जिनका घनिष्ठ संबंध शब्द-योजना से है। गेय काव्य में इन दोनों का महत्व और भी बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप गीति-काव्यकार शब्द-रूप-निर्माण-संबंधी कुछ स्वच्छंदता से भी काम लेता है। सूरदास में यह स्वच्छंदता तीन रूपों में दिखायी देती है—एक, शब्द-चयन में; दूसरे, उनके रूप-निर्माण में और तीसरे, भरती के अनावश्यक शब्दों के प्रयोग में। इनमें से अंतिम दो की सोदाहरण विवेचना काव्य-दोषों के अंतर्गत आने की जायगी। प्रथम के संबंध में एक बात यह ध्यान देने की है कि सूरदास ने एक ही शब्द के तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव रूपों का तो मनमाना प्रयोग किया ही है, अरबी-फारसी और प्राचीन शब्दों को भी निसकोच अपनाया है। तात्पर्य यह है कि छंद की गति या लय के निर्वाह के लिए शब्द के सभी रूपों को उन्होंने समान समझा; केवल उसके तत्सम रूप का ही आग्रह कभी नहीं किया; प्रत्युत जिस रूप से भी छंद की संगीतात्मकता का निर्वाह वे कर सके, उन्होंने उसका स्वच्छंदता से प्रयोग किया। शुद्ध काव्य-भाषा की दृष्टि से, संभव है, किसी को यह बात खटकती हो, परंतु न हो भक्त के लिए शुद्धता का यह प्रश्न उतने महत्व का है और न गायक के लिए ही। भक्त तो केवल आंतरिक अनुभूति

की स्पष्ट अभिव्यक्ति भर चाहता है और गायक के लिए मुख्य बात है ताल, लय और मुर के उपयुक्त आयोजन की। ऊपर कहा जा चुका है कि सूरदास के कवि, भक्त और गायक, तीनों रूप उनके वाक्य में स्पष्ट हैं जिनमें से अंतिम दो तो सर्वत्र व्याप्त हैं। अतएव शब्द-चयन सबधी स्वच्छदता से काम लेने के वे निश्चय ही अधिकारी थे। परंतु यह उनकी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इस स्वच्छदता का उपयोग उन्होंने प्रायः ऐसे ही स्थलों पर अधिक किया है जो सामान्य मिश्रित भाषा में लिखे गये हैं। साहित्यिक और आलंकारिक भाषा युक्त पदों में उन्होंने विशेष समय से काम लिया है और भाषा की शुद्धता के निर्वाह के साथ-साथ ताल मुर का भी पूरा ध्यान रखा है जिससे छंद की लय या गति में लालित्य की वृद्धि ही हुई है।

२ शब्द शक्ति और मुर की भाषा—शब्द की शक्ति ही उसकी सार्थकता की द्योतक होती है और इसके अभाव में वह निरर्थक होता है। वाक्यों में प्रयुक्त होने पर शब्द की शक्ति प्रत्यक्ष होती है और प्रयोग की विशेषता होती है उसकी सुष्ठुता में। सुष्ठु प्रयोग के लिए शब्द और उनके पर्यायों की समानार्थता, एकार्थता, अनेकार्थता, विशेषार्थता आदि का विधिवत् अध्ययन अपेक्षित है। काव्य में अभीप्सित अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि भाषा में शिष्टता, रमणीयता, चमत्कारिता और सवेदनशीलता भी हो। अतएव श्रेष्ठ साहित्य या काव्य में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो रचयिता में तो मुक्त भावों का उदय करें ही, पाठक या श्रोता को भी अनुरचित करते हुए उसमें यथावसर सवेदनशीलता को यहाँ तक उद्बुद्ध करने में समर्थ हो कि वह निष्क्रिय या निश्चेष्ट न रहकर सजग और सक्रिय हो जाय। मुर की भाषा की शक्ति इस लक्ष्य की पूर्ति करने में कहां तक समर्थ हो सकी है, इसी की विवेचना प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत की जायगी।

क अभिधा शक्ति और मुर-काव्य—मुर-काव्य के विनय-पद, पौराणिक कथाएँ, वात्मल्य-वर्णन, सयोग-लीला, रूप-चित्रण, मधुरा-द्वारका लीला के सामान्य इति-वृत्तात्मक अंशों में तो अभिधा शक्ति से द्योतित वाच्यार्थ की प्रधानता स्वभावतया ही है, विशेष भावपूर्ण स्थलों पर भी उसका चमत्कार देखा जा सकता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। भक्तप्रवर मुरदार को अपनी सरलता और मत्तता का ही बल था, आडंबर और कृत्रिमता से उन्हें चिढ़ थी। विनय-पदा में जिस घट-घटवासी आराध्य के प्रति उनका आत्म निवेदन है, उसके सामने छल-कपट या चानुर्थ-प्रदर्शन का संबंध हास्यास्पद समझकर, सीधे-सादे वाच्यार्थयुक्त वाक्य रखने में ही कवि को सतोष होता है। इसी प्रकार स्वस्थ-सुंदर बालक और विशोर कृष्ण के प्रति माता, पिता तथा अन्य मुखजन का उमड़ता हुआ वात्मल्य भी प्रायः अभिधा शक्ति-संपन्न शब्दों में ही वर्णित है। राधा-कृष्ण-रूप-वर्णन करते समय प्रज्ञाचक्षु कवि दिव्य दर्शन में अपार आनंद में मग्न हो जाता है और सयोग-लीला के अवसर पर परम पुलकित। दोनों ही अवस्थाएँ मन्त्रमुग्धवन् आत्म-ममर्पण की हैं जिसके मूल में निश्चल भावना का होना अत्यंत आवश्यक है। सारांश यह है कि मुर-काव्य के उक्त प्रसंग ऐसे हैं जिनमें

सरल भावों की व्यंजना के लिए वाचक शब्दों का ही कवि ने अनेक पदों में प्रयोग किया है; जैसे—

१. जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै ।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं^{१२} ।
२. जिन जिनही केसव उर गायौ ,
तिन तुम पै गोविंद-गुसाईं, सवनि अभै-पद पायौ^{१३} ।
३. पसु जाके द्वारे पर होइ । ताको पोपत अह-निसि सोइ ।
जो प्रभु के सरनागत आवै । ताको प्रभु क्यों करि विसरावै^{१४} ।
४. राजा, इक पंडित पौरि तुम्हारी ।
चारौ बेद पढ़त मुख - आगर, ह्वै वामन - वपुधारी^{१५} ।
५. सकुचनि कहत नही महाराज ।
चौदह वर्ष तुम्हें बन दीन्हौ । मम सुत को निज राज^{१६} ।
६. कहौ कपि, रघुपति को सदेस ।
कुसल बधु लछिमन, बैदेही, श्रीपति सकल नरेस^{१७} ।
७. आजु नंद के द्वारे भीर ।
इक आवत, इक जात बिदा ह्वै, इक ठाढे मंदिर के तीर^{१८} ।
८. आंगन खेलत घुटुरुनि धाए ।
नील जलद अभिराम स्याम तन, निरखि जननि दोउ निकट बुलाए^{१९} ।
९. जागहु हो ब्रजराज हरी ।
तैं मुरली आंगन ह्वै देखौ, दिनमनि उदित भए द्वि धरी^{२०} ।
१०. देखौ री नंद - नदन आवत ।
बृंदावन तैं धेनु - बृद में बेन अधर धरे गावत^{२१} ।
११. पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अग पँच-रँग सारि ।
किंकिनी कटि, कनित ककन, कर चुरी झनकार^{२२} ।

श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर माना-पिता और गोप-गोपियों के विरह का प्रसंग भी अत्यंत भावपूर्ण है। वियोग की तीव्रता में उनके मुख से कुछ ऐसी मार्मिक उक्तियाँ निःसृत होती हैं जिनके अर्थ-बोध में अभिधा शक्ति सहायक होती है। ऐसे वाक्यों का हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है; जैसे —

१२. सा. १-८६ । १३. सा. १-१९३ । १४. सा. २-२० ।
१५. सा. ८-१४ । १६. सा. ९-२२ । १७. सा. ९-१५१ । १८. सा. १०-२५ ।
१९. सा. १०-१०४ । १. सा. ४०४ । २. सा. ६१७ । ३. सा. १०४३ ।

१. बहुत दुख पैयत है इहि वात ।

तुम जु सुनत हो माधो, मधुवन सुफलक-सुत सँग जात * ।

२. नहि कोउ स्यामहि राखै जाइ ।

सुफलक-सुत वैरी भयो मोकों, कहति जसोदा माइ ° ।

३. भोर भयो ब्रज लोगन कौ ।

ग्वाल सखा सब व्याकुल मुनि कै, स्याम चलत हैं मधुवन कौ ५ ।

४. केतिक दूरि गयी रय माई ।

नद - नैदन के चलत सखी हों, हरि सौ मिलन न पाई ° ।

५. ब्रज तजि गए माधव कालि ।

स्याम मुन्दर कमल लोचन, क्यों विमारों आलि ८ ।

सूर-काव्य में वाचक शब्दों की अधिकता का दूसरा कारण यह है कि कवि पाठक या श्रोता को सामान्य अर्थ मानने में अवगति कराने में ही कला की चरम सिद्धि नहीं समझता, प्रत्युत अर्थ-बोध के साथ साथ वर्ण्य विषय का संपूर्ण चित्र भी उसके सामने प्रस्तुत कर देना चाहता है । अर्थ और दृश्य, इन दोनों के बोध में अभिधा शक्ति विशेष सहायक होती है । अतएव सामान्य अर्थ-ज्ञात के साथ-साथ चित्र या दृश्य के चित्रण में भी जब जब कवि प्रवृत्त होता है, तब तब उसे वाचक शब्दों का अधिक प्रयोग करना पड़ता है । सूरदास के निम्नलिखित उदाहरणों में यही बात देखी जा सकती है —

१. तरु दोउ धरनि गिरे भहराइ ।

जर सहित अरराइ कै, आघात सव सुनाइ ।

भए चकित लोग ब्रज के, सकुचि रहे डराइ ।

कोउ रहे आकास देखत, कोउ रहे सिर नाइ १ ।

२. प्रभु हंसि कै गेंदुक दई चलाइ, मुख पट दै राधा गई बचाइ ।

ललिता पट - मोहन गह्यो धाइ, पीतावर मुरली लई छिड़ाइ ।

हो सपथ करों छाँडो न तोहि, स्यामा जू आज्ञा दई मोहि ।

इक निज सहचरि आई वसीठि, सुनि रो ललिता, तू भई ठीठि १° ।

अभिधा शक्ति के मुख्य तीन भेद होते हैं—(क्ष) रुद्धि, (प्र) योग और (ज) योग रुद्धि । सूरदास के निम्नलिखित वाक्यों में प्रयुक्त अधिवादा शब्द 'रुद्धि' शक्ति-संपन्न हैं; क्योंकि उनका व्युत्पत्ति के आधार पर विभाजन नहीं किया जा सकता—

बीरे मन, रहन अटल करि जान्यो ।

धन - दारा - सुत - वधु - कुँटुव - कुल निरखि निरखि बीरान्यो ।

* सा. २९६६ । ५. सा. २९७२ । ६. सा. २९८२ । ७. सा. २९९७ ।

८. सा. ३७६७ । ९. सा. १८६ । १०. सा. २८५६ ।

जीवन-जन्म अल्प सपनौ सौ, समुझि देखि मन माहीं ।
बादर-छाँह, घूम-धौराहर, जैसे थिर न रहाही^{११} ।

सूरदास के नीचे लिखे वाक्यों में प्रयुक्त अनेक शब्द 'योग' वर्ग के उदाहरण हैं; क्योंकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन किया जा सकता है —

१. छाँड़ि कनक-मनि रतन अमोलक काँच की किरच गही^{१२} ।
२. बालापन खेलत ही खोयो, तरुनाई गरबानी^{१३} ।
३. नृपति सुरसरी के तट आइ^{१४} ।
४. भक्त सात्विकी सेवै संत^{१५} ।
५. अस्व पाँच जानेंद्रिय पाँच^{१६} ।
६. देखि सुरूप सकल कृष्णाकृति कीनी चरन जुहारी^{१७} ।

सूरदास के निम्नलिखित वाक्यों में प्रयुक्त इन्द्रजित (इंद्र को जीतनेवाला), घनस्याम (श्याम घन या घन के समान श्याम), चतुरानन (चार मुखवाला), जादौपति (यादवों का स्वामी), दससीस (दस सिर वाला), बीस भुज (बीस भुजाओं वाला), दामोदर (दाम या रस्सी हो पेट या कमर में जिसके, वह), धर्मपुत्र (धर्म का पुत्र) और महादेव (बड़ा देवता)—ये शब्द 'योगरूढ़ि' शक्ति-युक्त हैं; क्योंकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन तो किया जा सकता है, परंतु इस प्रकार प्राप्त कोष्ठक में दिये व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को छोड़कर क्रमशः मेघनाद, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, श्रीकृष्ण, रावण, रावण, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर और शिव के लिए प्रयुक्त हुए हैं—

१. इन्द्रजित चढ़्यो निज सैन सब साजि कै^{१८} ।
२. अंत के दिन कौं है घनस्याम^{१९} ।
३. कृपानिधान दानि दामोदर, सदा सवौरन-काज^{२०} ।
४. अब किहि सरन जाउ जादौपति, राखि लेहु, बलि, वास निवारी^{२१} ।
५. बहुरौ धर्म-पुत्र पै आयौ^{२२} ।
६. कुंभकरन दससीस बीसभुज दानव-दलहि बिदारौ^{२३} ।
७. चतुरानन पग परसि कै लोक गयो सुख पाइ^{२४} ।
८. महादेव कौं भापत साधु^{२५} ।

स. लक्षणा शक्ति और सूर-काव्य—शब्द का अर्थ कभी तो सीधा-सादा

११. सा. १-३१९ । १२. सा. १-३२४ । १३. सा. १-३२९ । १४. सा. १-३४१ ।
१५. सा. ३-१३ । १६. सा. ४-१२ । १७. सा. ८-१४ । १८. सा. ९-१३६ ।
१९. सा. १-७६ । २०. सा. १-१०९ । २१. सा. १-१६० । २२. सा. १-२८४ ।
२३. सा. ९-१३७ । २४. सा. ४९२ । २५. सा. ४-४ ।

और स्पष्ट होता है, कभी नावैतिक और चरित्राङ्ग । प्रथम का उदय अग्निषा शक्ति से रहता है और द्वितीय का लक्षणा अथवा व्यञ्जना से । इसी उदय को व्यञ्जना करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, 'भावोन्मेष, चरित्राङ्गों अनुरजन इत्यादि और जो कुछ भाषा करती है, उसने अर्थ का योग अवश्य रहता है । अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रत्ययानुकूलता अनोखी होगी । जहाँ वाक्य या कथन में यह योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण संबद्धता नहीं दिखायी पड़ती, वहाँ लक्षणा और व्यञ्जना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और वाक्य अथवा प्रकरणसंबद्ध अर्थ प्राप्त किया जाता है । यदि इस अनुष्ठान से भी वाक्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, तो वह वाक्य या कथन प्रस्ताप भाव मान लिया जाता है । अपर्याप्त और अनुपपन्न वाक्यार्थ ही लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा वाक्य और बुद्धिजात मय में परिणित होकर हमारे सामने आता है' २६ ।

वास्तविकता यह है कि मनुष्य की बोद्धिकता उस न साधारण शब्दों से समुष्ट रहने देती है, न अर्थों से और न सामान्य भावान्वितजन प्रणाली से ही । स्व और अपर दोनों की स्थिति एवं ऐतिहासिकता का समन्वय पर अध्ययन करके, उनकी प्रकृति-व्यक्त विशेषताओं तथा नैसर्गिक दृश्यों एवं पदार्थों का जो अनुभव और ज्ञान हमने अर्जन किया है, अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली से प्रभुविष्णुता ज्ञान के लिए वह उसका उपयोग सदा से करता आया है । सुमनों की सुन्दरता का अनुभव करके किसी के कोमल कर्णों को वह 'कमल' बताता है, उनकी स्निग्धता और नृपपूर्ण नरसत्ता देखकर किसी सुंदर मुख की मधुर-मनोहर वाणी को 'फूलों का झडना' या इसकी नन्वरता को 'कोकिल का कूजन' समझता है । इसी प्रकार कलियाँ किली हैं, चांदनी फैली है आदि सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग इन व्यापारों के लिए न करके बरि बहता है—कलियाँ 'मुत्करा' रही हैं, चांदनी 'धिरक' रही है । ऐसे प्रयोगों में वह शब्दों के मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ से होता हुआ तत्संबंधी एक नवीन अर्थ का बोध कराता है जो असाक्षात् होते हुए भी अपरोक्ष, अनुपपन्न या अज्ञात तो होता ही नहीं, ताप साध पाठक या श्रोता के सामने वर्ण विषय, वस्तु या व्यापार का साक्षर या मूर्त-सा चित्र भी उपस्थित करता है जो कभी कल्पना और कभी प्रकृत ज्ञान द्वारा महज ही प्राप्त होता है । वाक्यभाषा की चित्रमयिता नामक विशेषता प्रायः इस लक्षणाशक्ति की ही देव होती है । शुक्ल जी के शब्दों में, 'चित्र-भाषा-शैली या प्रत्येक पद्वति में वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार होता है' २७ जिससे पाठक या श्रोता को विशेष रसगुह्यता होती है । इतना ही नहीं, शब्दों के आधिक विकास या ह्रास की कहानी जुगुप्से में भी यही शक्ति प्रायः अविक समर्थ होती है । मुहावरों और आलंकारिक प्रयोगों के रहस्य का उद्घाटन करने में भी 'लक्षणा' का बहुत हाथ रहता है और जहाँ प्रजा या प्रतीय-विद्वेय में किसी शब्द के मुख्यार्थ से काम नहीं चलता, वहाँ यही अर्थ की सगति भी बैठती है ।

२६. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-सम्मेलन का भाषण', पृ० ७ ।

२७. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृ० ८०७ ।

सूरदास की भाषा में लक्षक प्रयोगों की संख्या भी बहुत अधिक है। ऊपर कहा गया है कि उनके काव्य की लगभग बीस हजार पक्तियों में 'मुहावरो' के प्रयोग मिलते हैं। इनमें से अधिकांश मुहावरो में लक्षणा शक्ति का ही चमत्कार देखने को मिलता है। इस दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' को—समस्त सूरकाव्य को इस कारण नहीं कि 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' में मुहावरो के प्रयोग अधिक नहीं हैं—दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है वाचक शब्दों की प्रधानता वाले विषय आते हैं; यथा विनय पद, पौराणिक कथाएँ, वास्तव्य वर्णन, सयोग-लीला, मथुरा-द्वारका-लीला आदि। इन प्रसंगों के प्रायः प्रत्येक पद में चार-पाँच मुहावरो का प्रयोग किया गया है; परन्तु जिन पदों में भावावेश की स्थिति का चित्रण है अथवा भावोद्रेक-जन्य उक्तियाँ हैं, उनमें लक्षक शब्दों की अधिकता हो गयी है, जैसे—

१. अर्जुन खवत नैन-जल धार । परचौ घरनि पर खाइ पछार^{२८} ।

२. सूर श्री गोपाल की छबि, दृष्टि भरि भरि लेहु^{२९} ।

३. सीत-वात कफ कठ विरोधै, रसना टूटै बात^{३०} ।

४. अंग सुभग सजि, ह्वै मधु-मूरति, नैननि माँह समाऊँ^{३१} ।

५. ततछन प्रान पलटि गयो मेरौ तन मन ह्वै गयो कारौ री ।

देखत आनि सँध्यौ उर अंतर, दै पलकनि को तारौ री^{३२} ।

६. मुरली में जीवन-प्रान बसत अहै मेरौ^{३३} ।

७. सूर सनेह ग्वालि मन अँटक्यौ अंतर प्रीति जाति नहि तोरी^{३४} ।

८. जरै रिसि जिहि तुमहि बाँध्यौ^{३५} ।

९. भलौ काम ते सुतहि पढ़ायौ । वारे ही ते मूड़ चढ़ायौ^{३६} ।

१०. आस जनि तोरहु स्याम हमारी^{३७} ।

उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त 'पछार' खाने योग्य पदार्थ नहीं है, 'छबि' साकार पदार्थ नहीं है जो कही भरा जा सके, और न 'दृष्टि' पात्र है जिसमें या जिससे कुछ भरा जा सके। इसी प्रकार 'बात' के साथ टूटना, 'नैननि' में समाना, 'प्रान' का पलटना, 'तन-मन' का प्रिय-दर्शन से काला होना, प्रिय को 'उर' में सचित्त करना, 'पलको' का ताला लगाना, 'मुरली' में जीवन-प्राण बसना, 'मन' का अटकना, 'प्रीति' का तोड़ा जाना, 'रिसि' का जलना, सुत को 'मूड़' चढ़ाना, 'आस' को तोड़ना आदि प्रयोगों में भी लक्षणा का चमत्कार है जो सहृदयों को मुग्ध कर लेता है।

ये उदाहरण सूरदास के सामान्य प्रयोगों से लिये गये हैं; भावावेश की स्थिति में कही गयी उक्तियों में लाक्षणिक प्रयोगों की संख्या इनसे अधिक है। परन्तु सूर-काव्य में लक्षणा का वास्तविक रूप निखरा है उपासकों और सवादों में। मुरली और स्व-नेत्रों

^{२८} सा. १-२८६ । ^{२९} सा. १-३०७ । ^{३०} सा. १-३१९ । ^{३१} सा. १०-४९ ।

^{३२} सा. १०-१३५ । ^{३३} सा. १०-२८४ । ^{३४} सा. १०-३०५ । ^{३५} सा. ३८७ ।

^{३६} सा. ३९१ । ^{३७} सा. १०२९ ।

के प्रति गोपियों के उपासक, दान और मान-सीला-प्रसंग, विरह-वर्णन, उद्धव-गोपी सवाद आदि विषय ऐसे हैं जिनका वर्णन कवि ने बड़े चाव से किया है और तत्संबंधी पदों में साक्षणिक वचना देखने ही बनती है; जैसे—

१. वह पापिनी दाहि कुल आई देखि जरति है द्धाती^{३८} ।
२. हमरो जोवन-रूप, आंखि इनको, गड़ि लागत^{३९} ।
३. कंचन कलस महारस भारे, हमहूँ तेनक चखावहु^{४०} ।
४. तुम बांधति आकास वात झूठी को संहै^{४१} ।
५. लरिकनि के वर करत यह, धरिहैं लाड उतारि^{४२} ।
६. लोक-लाज सब फटकि पद्योरचो^{४३} ।
७. झूठ ही यह बात उड़ी है, राधा-बान्ह कहत नर नारी^{४४} ।
८. गांस दियो डारि, कहाँ कुँवरि मेरी वारि, मूर-प्रभु-नाम झूठ उड़ायो^{४५} ।
९. नैना भए बजाइ गुलाम^{४६} ।
१०. नैन परे बहु लूटि मैं, नोखें निधि पाई^{४७} ।
११. रोम-रोम ह्वै नन गए रो^{४८} ।
१२. नैना नैननि मांझ समाने^{४९} ।
१३. (नैना) नंदलाल के रंग गए रेंगि, अब नाहिन वस मेरे^{५०} ।
१४. मोर-मुकुट मुरली पीतावर, एक बात की बीस बनाई^{५१} ।
१५. अजन अधर, सुमंत्र लिख्यो रति, दोन्धा लैन गए^{५२} ।
१६. हमारे हिरदं कुलिसहु जोत्यी^{५३} ।
१७. वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखों जे नंदलाल कही^{५४} ।
१८. (ऊधो) सिर पर सांति हमारे कुबिजा, चाम के दाम चलावै^{५५} ।
१९. (ऊधो) काटे ऊपर लौन लगावत, लिखि-लिखि पठवत बीठी^{५६} ।
२०. (मधुकर) जे कच कनक कटोरा भरि-भरि मेलत तेल-फुलेल^{५७} ।

साक्षणिक प्रयोगों में शब्दों के वाच्यार्थ से काम नहीं चलता, प्रत्युत सबधानुसार उनका नया संकेतित अर्थ ही सगत् बँठता है। यही बात ऊपर के सब उद्धरणों में देखी जा सकती है। द्धाती का 'जलना' (दुख होना), जोवन-रूप का आंख में 'गड़ना' (खटकना), आकाश का 'बांधना' (असंभव कार्य-संपादन का निष्फल प्रयत्न करना), लाड का 'उठा-

३८. सा. १३५१ । ३९. सा. १४६१ । ४०. सा. १४६९ । ४१. सा. १४९१ ।
 ४२. सा. १६१८ । ४३. सा. २६६१ । ४४. सा. १७१० । ४५. सा. १७१९ ।
 ४६. सा. २२३९ । ४७. सा. २२४३ । ४८. सा. २२९२ । ४९. सा. २२९७ ।
 ५०. सा. २३९५ । ५१. सा. २६३२ । ५२. सा. २६३४ । ५३. सा. ३३८३ ।
 ५४. ३३९५ । ५५. सा. ३६३९ । ५६. ३६७२ । ५७. सा. ३८१५ ।

रना' (धूँटता का दंड देना), लोक-साज को 'फटकना-पछोरना' (दूर कर देना, छो देना), बात का 'उडना' (चर्चा होना), नाम का 'उडाना' (बदनाम करना), नेत्रों का 'गुलाम होना' (अत्यंत आसक्त होना), 'लूट में पडना' (प्रिय रूप के दर्शन से सुखी होना), 'दूसरों के नेत्रों में समाना' (दूसरे के नेत्रों पर अत्यंत मुग्ध होना), और किसी के 'रंग में रँगना' (वशीभूत होना), एक बात की 'बीस बनाना' (एक असत्य की रक्षा के लिए अनेक असत्य बातें कहना), रति का 'अधरो पर अंजन से सुमन लिखना' (रति-प्रसंग में प्रिया के काजर लगे नेत्रों को चूमना), रति से 'दीक्षा लेने जाना' (कामाधीन होना), हृदय का 'कुलिश को जीतना' (बहुत ही निर्दयी या कठोर होना), बातों का छाती पर 'लिख रखना' (बहुत अच्छी तरह याद रखना), कुब्जा का 'चाम के दाम चलाना' (अघोर करना), किसी प्रेमी का प्रेमिका को पत्र भेजकर 'जले पर नमक लगाना' (असंगत बात कहकर पीड़ित को और भी दुख देना), शृंगार के लिए बालों में 'कटोरा भर भर कर' (बहुत अधिक), तेल-फुल्लेल मेलना'—ये सभी प्रयोग ऐसे हैं जिनमें सामान्य वाच्यार्थ से काम नहीं चलता, इनके स्थान पर कोष्ठकों में दिये गये अथवा^{५८} इनसे मिलते-जुलते अर्थ ही प्रसंग की दृष्टि से सगत बैठते हैं। इसी प्रकार तीसरे उदाहरण में 'कंचन कलस' से आशय उन्नत उरोजों से है, 'सोने के सामान्य कलश' से नहीं।

लाक्षणिक प्रयोगों का अर्थानुसार वर्गीकरण करने पर उनके मुख्य चार भेद हो सकते हैं—(क) लक्षणलक्षणा, (ख) उपादान लक्षणा, (ग) सारोपा लक्षणा और (घ) साध्यवसाना लक्षणा। सबंध के अनुसार लक्षणा के दो भेद और किये जाते हैं—गौणी और शुद्धा। प्रथम का आधार गुण-सादृश्य होता है तो दूसरे का कार्यकारणभाव, तादर्थ्यता आदि अन्य सबंध। उक्त चार भेदों में पहले दो अर्थात् लक्षणलक्षणा और उपादान लक्षणा तो 'शुद्धा' होती हैं, क्योंकि इनका आधार प्रायः गुणसादृश्य नहीं होता^{५९}; परंतु अंतिम दोनों लक्षणा-भेदों—सारोपा और साध्यवसाना—के दो-दो उपभेद और हो सकते हैं। मूर-काव्य में लक्षणा के इन सब भेदों-उपभेदों के उदाहरण भी मिलते हैं। कुछ भेदों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

क. लक्षणलक्षणा—मूरदास के निम्नलिखित प्रयोग इसके उदाहरण हैं—

१. नंद-द्वारें भेंट लै लै उमह्यो गोकुल-ग्राम^{६०} ।

२. यह सुनि दूत गयो लका में, सुनत नगर अकुलान्यो^{६१} ।

३. सबै ब्रज है जमुना के तीर^{६२} ।

५८. श्रीपद्मनारायण आचार्य का 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १६, अंक ४, में प्रकाशित 'साहित्य की आत्मा और शक्ति' शीर्षक लेख का फुटनोट—“लक्षण-लक्षणा और उपादान लक्षणा में सादृश्य सबंध नहीं रहता; वे केवल शुद्धा ही होती हैं”। किसी-किसी के अनुसार उनके भी शुद्धा और गौणी दो-दो भेद होते हैं। (देखिए 'साहित्य-दर्पण' २-९); पर यह भेद व्यावहारिक नहीं होता।

५९. सा. १०-२६ । ६०. सा. ९-१२१ । ६१. सा. ४७५ ।

इन वाक्यों में 'गोकुल ग्राम', 'नगर', 'सबै ब्रज' स्थान और स्थिति सूचक सीधे-सारे अर्थ को छोड़कर अपने निवासियों के बोधक हैं। यही बात नीचे के उदाहरणों में भी देखी जा सकती है—

१. सूर सबै जुवतिनि कै देखत, पूजा करौ बनाइ^{६२}।
- २ जाहु कान्ह महतारी टेरति, बहुत बड़ाई करि हम आई^{६३}।
- ३ नद महर की कानि करत हीं न तु करती मेहमानी^{६४}।
- ४ फँसिहारिनि, चटपारिनि हम भई आपुन भए सुधर्मा भारि^{६५}।

यहाँ 'पूजा करना', 'बड़ाई', 'मेहमानी' और 'सुधर्मा' शब्दों का प्रयोग सामान्य 'पूजन', 'प्रशंसा', 'स्वागत-सत्कार और 'धर्मात्मा' अर्थों में नहीं बल्कि 'झोंटना', 'फटकारना या दड देना', 'बुरा भला कह आना', 'खरी-खोटी सुनाना', 'अधर्मी या अन्यायी' जैसे अर्थों में किया गया है।

स. उपादान लक्षणा—सूरदास के निम्नलिखित उदाहरण 'उपादान लक्षणा' के हैं—

- १ काली उरग रहे जमुना में, तहें तैं कमल मँगावहु।

+

+

+

पुहुष लैन जैहें नैद-डोटा, उरग करै तहें घात^{६६}।

२. कहि-कहि टेरत घौरी कारी।

देखी धन्य भाग गाइन के प्रीति करत बनवारी^{६७}।

३. लिखि नहि पठवत हैं द्वै बोल।

द्वै कौड़ी के कागद-मसि को लागत है बहु मोल^{६८}।

इन वाक्यों में 'उरग' (सर्प), 'घौरी' (घबल, सफेद), 'कारी' (काली) और 'द्वै कौड़ी' का मुख्यार्थ भी सामने रहता है और साथ साथ इनका लक्ष्यार्थ 'कालिय नाग', 'सफेद काली गायें और 'अत्यन्त तुच्छ' भी तत्काल स्पष्ट हो जाता है।

ग. गौणी सारोपा लक्षणा—सूरदास के निम्नलिखित पद में वर्ण्य विषय तो 'कारी रात' है, परन्तु इसके अर्थ पर गुण-सादृश्य के कारण दूसरे का आरोप किया गया है—

पिय विनु नागिनि कारी रात।

जौ कहें जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात^{६९}।

उक्त पद में, 'काली रात' को डमने के समान कष्ट पहुँचानेवाले स्वभाव के कारण, 'नागिनि' कहा गया है। आरोप का आधार या विषय और आरोप्यमाण या विषयी, दोनों

६२. सा. १५४५। ६३. सा. १४२५। ६४. सा. १४७९। ६५. सा. १५८१।

६६. सा. ५२२। ६७. सा. ६१३। ६८. सा. ३२५४। ६९. सा. ३२७२।

का स्पष्ट उल्लेख होने से यह लक्षणा 'सारोपा' और दोनों में गुण अवगुण की समानता बतायी जाने के कारण लक्षणा 'गौणी सारोपा' है ।

घ. गौणी साध्यवसाना लक्षणा—मूरदास के निम्नलिखित पद में उपमेयो (राधा के अंगो) का उपमानो (शरीर, कमल, सिंह, सरवर, गिरिवर, कंज, कपोत, अमृतफल, पुहुप, पल्लव, सुक, पिक, मृग-मद, काग, खजन, धनुष, चंद्रमा, नाग आदि) में अध्यवसान हो जाने के कारण 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' के कई उदाहरण मिल जाते हैं—

अदभुत एक अनूपम बाग ।

जुगल कमल पर गज वर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग ।

हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग ।

रुचिर कपोत वसत ता ऊपर, ताऊपर अमृत फल लाग ।

फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद, काग ।

खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग^{७१} ।

'दान-लीला' प्रसंग के एक अन्य पद में 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' के अनेक सुंदर उदाहरण मिलते हैं । श्रीकृष्ण गोपागनाओं से कहते हैं—

लैहो दान इन्हि कौ तुम सौ ।

मत्त गयंद, हंस हम सौहै, कहा दुरावति हम सौ ।

केहरि, कनक - कलस अमृत के, कैसे दुरे दुरावति ।

बिद्रुम, हेम, बज्र के कनुका, नाहिन हमहि मुनावति ।

खग कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल मृग जानति ।

मनि कंचन के चक्र जरे है, एते पर नहि मानति ।

सायक, चाप, तुरय, वनिजति हौ, लिये सबै तुम जाहु ।

चंदन, चेंबर, सुगंध, जहाँ तहें कैसे होत निवाहु^{७२} ।

इस पद में उन उपमानों की लंबी सूची है जिनमें ब्रजवालाओं के अंगों की उपमा दी गयी है । प्रमुख उपमान है—मत्त गयंद, हम, केहरि, कनक-कलस, बिद्रुम, हेम, ब्रज के कनुका, खग कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल मृग, मनि-कंचन के चक्र, सायक, चाप, तुरय, चंदन, चेंबर, सुगंध । इन उपमानों का गुण-मादृश्य जिन उपमेयों से है, उनकी सूची भी स्वयं श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दी है—

चिकुर चमर, घूंघट हय-वर, वर भ्रुव-सारंग दिखराऊँ ।

वान-कटाच्छ, नैन-खंजन, मृग नासा सुक उपमाऊँ ।

तरिवन चक्र, अधर-बिद्रुम छवि, दसन बज्रकन ठाऊँ ।

घोव-कपोत, कोकिला बानी, कुच घट कनक सुभाऊँ ।

जोवन-मद रस-अमृत् भरे हैं रूप रंग झलकाजें ।
 अंग सुगंध वास पाटेंघर, गनि गनि तुमहि सुनाजें ।
 कटि केहरि, गयंद गति सोभा, हंस सहित इकनाजें ।
 फेरि बिये कैसे निवहति हों, घरहि गए कहें पाजें ।
 सुबहु सूर यह वनिज तुम्हारें, फिरि फिरि तुमहि मनाजें^{७३} ।

उपमेय और उपमानों, दोनों का स्पष्ट उल्लेख इस पद में कर दिया गया है; अतएव उनको पुनः व्याख्या अनावश्यक है ।

ड. शुद्ध साध्यवमाना लक्षणा—निम्नलिखित उदाहरण में 'हम' का आरोप 'प्राण' पर और 'घट' का शरीर पर हुआ है, परन्तु आरोप का एक विषय 'प्राण' लुप्त है । आरोप्यमाग शब्द द्वारा ही यहाँ इस अर्थ का बोध होता है कि एक बार शरीर से प्राण चले जाने पर वापस नहीं लौटने—

विछुर्यो हंस काय घटहू ते फिरि न आव घट माही^{७४} ।

ग. व्यञ्जना शक्ति—कुछ प्रमाण ऐसे होने हैं जिनके द्वारा कुशल कलाकार साधारण अर्थ के अतिरिक्त कुछ विशेषार्थ भी ध्वनित करना चाहता है । साधारण पाठक भले ही ऐसे वाक्यों के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से संतुष्ट हो जाय, परन्तु विज्ञ अध्येता के लिए ऐसे प्रमाणों का आनंद उन ध्वनितार्थ में रहता है, जो अभिधा और लक्षणा के कार्य-विरत हो जाने के पश्चात् व्यञ्जित होता है । मूर-काव्य में व्यम्पार्थ-प्रधान पदों के अनेक सुंदर उदाहरण मुरली और स्व-नेत्रों के प्रति ब्रज ललनाओं के उपालमों, उनके विरह-वर्णन और उद्धव-गापी-सवाद में मिलते हैं । मूरदास का एक पद है—

वरु ए वदरो वरपन आए ।
 अपनी अवधि जानि नंदनदन गरजि गगन घन छाए ।
 कहियत हैं सुर-लोक वसत सखि सेवक सदा पराए ।
 चातक-कुल की प्रीति जानिकै, तेउ तहाँ तै घाए^{७५} ।

इस पद का मुख्यार्थ सीधा-सादा है—वर्षा ऋतु आरंभ हो गयी है । पानी बरसाने का समय जानकर बादल उमड़ने-धूमड़ने लगे हैं । यद्यपि ये दूम्बरो के सेवक हैं और बहुत दूर सुरलोक में वसते हैं, तथापि अपने प्रेमी चातक-कुल की प्रीति का स्मरण करके उन्हें सुख-सात्वना देने दौड़ पड़े हैं ।

इस मुख्यार्थ का बोध कराने के पश्चात् अभिधा शक्ति अपने कार्य से विरत हो जाती है । पश्चात्, सहृदय पाठक के लिए यह विशेषार्थ व्यञ्जित होता है—प्रिय वृष्ण, वर्षा ऋतु आरंभ हो गयी है । इतने दिन तुमने दर्शन न दिया । हमने यह सोचकर तुम्हारा विषाग सहन किया कि तुम्हें यहाँ आने का अवसर न मिला होगा, परन्तु इस उद्दीपन-

कारो ऋतु में तो सयोग-सुख हमें अवश्य मिलना चाहिए । हमारी इस कामना में कोई नवीनता या विचित्रता नहीं समझी जानी चाहिए । प्राकृतिक व्यापार भी इसके पोषक या समर्थक हैं । देखो, परवशता के कारण, सुरलोक जैसे सुदूरवर्ती स्थान में बसनेवाले मेघ भी स्व-प्रिय चातको की प्रीति का स्मरण करके, उन्हें सयोग-सुख देने के लिए दौड़ पड़े हैं । ये जड़ हैं, तुम चेतन हो; ये परवश हैं, तुम स्वतन्त्र हो, ये इतनी दूर बसते हैं, तुम तो हमारे ग्राम के समीप ही हो । अब तक तुम कदाचित् विविध कार्यों में व्यस्त रहे, हमने भी तुम्हारा वियोग सहन किया, अब प्रेमवृत्ति को उद्दीप्त करनेवाली इस वर्षा ऋतु में तो हे प्रियतम, आकर हमें दर्शन दो ।

सूर काव्य में इस प्रकार के व्यंग्यार्थ-प्रधान वाक्य गोपिनी के विरह-वर्णन और भ्रमरगीत प्रसंग में बहुत मिलते हैं । शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे स्थलों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—शाब्दी व्यजना-प्रधान वाक्य और आर्थी व्यजना-प्रधान वाक्य किसी वाक्य के व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में कभी तो अभिधा शक्ति या वाच्यार्थ सहायक होता है, कभी लक्षणा शक्ति या लक्ष्यार्थ और कभी कभी वाक्य का सामान्य व्यंग्यार्थ ही दूसरे व्यंग्यार्थ को ध्वनित करता है । अतएव शाब्दी व्यजना-प्रधान वाक्यों के मुख्य दो भेद होते हैं—(क) अभिधामूला शाब्दी व्यजना और (ख) लक्षणामूला शाब्दी व्यजना । इसी प्रकार आर्थी व्यजना को तीन उपभेदों में विभाजित किया जा सकता है—(ग) वाच्यसभवा आर्थी व्यजना, (घ) लक्ष्यसभवा आर्थी व्यजना और (ङ) व्यंग्यसभवा आर्थी व्यजना ।

क. अभिधामूला शाब्दी व्यजना—एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और अभिधा शक्ति प्रसंग के अनुसार उसके योग्य या उपयुक्त वाच्यार्थ का निर्देश करने में सहायक होती है । इस वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि कोई अन्य ध्वनि कथन या वाक्यार्थ से निकलती है तो इसका कारण 'अभिधामूला शाब्दी व्यजना' होती है, जैसे—

निरखति अंक स्याम सुंदर के वार वार लावति लै छाती ।

लोचन-जल कागद-मसि मिलिकैं हूँ गइ स्याम स्याम जू की पाती^{७६} ।

सूरदास की इस उक्ति में 'अंक' और 'स्याम' (स्याम स्याम जू की पाती) शब्दों के क्रमशः सामान्य अर्थ हैं 'अक्षर' और 'श्याम' या काली । इनके आधार पर पूरे वाक्य का अर्थ हुआ—'श्रीकृष्ण के अक्षरों (पत्र) को देखकर राधा उसे बार-बार छाती से लगाती है और उसके आनन्द-अश्रुओं से भीग जाने के कारण, स्याही के फैलने से श्याम की 'पाती' श्याम या काली (कृष्णमय) हो गयी । अभिधा द्वारा निर्दिष्ट इस मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक बहुत मर्मस्पर्शी ध्वनि इन प्रयोगों से व्यंजित होती है—'श्रीकृष्ण का पत्र पकड़ राधा को ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे उन्होंने दीर्घ वियोग के पश्चात् साक्षात् प्रिय को ही पा लिया हो । इस प्रकार वह पत्र ही साक्षात् प्रियतम का रूप हो गया । श्रीकृष्ण के 'अंक' (गोद, शरीर या आलिंगन) के स्पर्श से पुलकित होकर जिस प्रकार

सयोगावस्था में वे उन्हें 'हृदय में लगाती' वैसे ही बार-बार पद को छत्ती में लगाने लगीं। यह नाभिक व्यञ्जना 'अव' और 'स्थान'—इन दो प्रयोगों से ही बनता है; इनके स्थान पर मनानार्थों पर रख देने से अनिधानूक्त मुरदास को अस्पृष्ट रहेंगे, परन्तु व्यञ्जनानूक्त व्यंग्यार्थ नष्ट हो जायगा।

अनिधानूला शाब्दी व्यञ्जना में सामान्य निदिष्ट अर्थ तब पहुँचने के लिए दिन साधनों में काम लिया जाता है, उनमें मुख्य हैं नयान विमर्श, नाहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अल्पतुल्यदिष्टि, सामर्थ्य, औचित्य और देश। मुरदास के अनिधानूला शाब्दी व्यञ्जना सबको प्रयोगों में भी इन्हीं साधनों का अस्तेय्यता गया है।

(अ) सयोग—प्रतिद्ध सुबध के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

मुरली नहि करत स्याम अधरन न न्यारी ७८ ।

इस वाक्य में 'मुरली' का प्रतिद्ध नयान न्याय शब्द के अनेक अर्थों में से केवल 'श्रीकृष्ण' का बोधक है।

(ब) विमर्श—प्रतिद्ध वस्तु-सुबध के अभाव द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

लम के मूर जाउ प्रनु पासहि नन में भल मनाऊँ ।

नवकिनोर मुख मुरलि बिना इन नैननि कहा दिखालें ७९ ।

इस उदाहरण में प्रतिद्ध सुबधित वस्तु 'मुरली' के अभाव से 'प्रनु' शब्द के अनेक अर्थों में से केवल पति, स्वामी या प्रियतम श्रीकृष्ण का बोध होता है।

(इ) साहचर्य—प्रतिद्ध सहचर की उपस्थिति द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

राधिका, हरि अनिधि तिहारे ८० ।

इस वाक्य में 'राधिका' के साहचर्य से 'हरि' के अनेक अर्थों में से केवल 'श्रीकृष्ण' का बोध होता है।

(ई) विरोध—प्रतिद्ध विरोधी की उपस्थिति के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

रे दत्तकंध, अधमति, तेरो आयु तुलानी जानि ।

मूर राम को करत अवज्ञा, डारे सब भुज भानि ८१ ।

इस उदाहरण में प्रतिद्ध विरोधी 'दत्तकंध' (रावण) की उपस्थिति से 'राम' शब्द से तात्पर्य जानकीपति श्रीरामचन्द्र से ही है, परमुराम, बलराम आदि से नहीं।

(उ) अर्थ—तात्पर्य या प्रयोजन के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

भोषम घरि हरि को उर ध्यान, हरि के देखत तजे परान ८२ ।

हृदय में ध्यान किया जाता है परब्रह्म का। अतः यहाँ इस प्रयोजन के आधार पर

‘हरि’ शब्द का अर्थ ब्रह्मावतार श्रीकृष्ण से है; उसके अन्य अर्थ संगत नहीं हो सकते ।

(ऊ) प्रकरण—प्रसंग या सदर्थ द्वारा अर्थ-विशेष का चोतन —

मधुकर, मधु माधव की बानी^{८३} ।

इस वाक्य में ‘मधु’ का अर्थ प्रसंग या प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थों में से केवल ‘मधुर’ हो सकता है, क्योंकि ‘वाणी’ के विशेषण-रूप में यही संगत है ।

(ऋ) लिंग^{८३}—विशिष्ट गुण, धर्म-चिह्न या लक्षण के आधार पर अर्थ-विशेष का चोतन—

पीन ययोधर सघन उन्नत अति, ता तर रोमावली लसी रो^{८४} ।

यहाँ ‘ययोधर’ का अर्थ ‘यन’ या ‘मेघ’ न होकर, ‘उरोज’ है, क्योंकि ‘पीन’ और ‘उन्नत’ होना इन्हीं का लक्षण है ।

(ए) अन्य सन्निधि — दूसरे शब्द की सन्निधि के द्वारा अर्थ-विशेष का चोतन—

माखन - दधि हरि खात ग्वाल सँग^{८५} ।

इस उदाहरण में ‘हरि’ का अर्थ उसके अनेक अर्थों में से ‘श्रीकृष्ण’ ही होगा, क्योंकि ‘माखन-दधि’ की समीपता इसी की घोषणा करती है; ‘हरि’ शब्द के अन्य अर्थों की संगति निकटवर्ती ‘माखन-दधि’ से नहीं बैठती ।

(ऐ) सामर्थ्य—कार्य या व्यवहार को सिद्ध करने की शक्ति के आधार पर अर्थ-विशेष का चोतन—

इंद्रजीत लीन्ही तव सक्ती देवनि हहा करचौ ।

छूटी बिज्जु-रासि वह मानौ, भूतल बंधु परचौ^{८६} ।

इस उद्धरण में ‘सक्ती’ शब्द अस्त्र-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि ‘बिज्जुरासि’ के समान छूटने और शत्रु को घायल करने या मारने की सामर्थ्य उसी में है ।

(ओ) औचित्य अर्थ-विशेष का चोतन उसकी प्रसंगानुकूल योग्यता के आधार पर करना—

ब्रज-वनिता-बर-बारि वृंद में श्री ब्रजरज बिराज्यौ^{८७} ।

इस काव्य में ‘श्री’ का अर्थ धन-संपत्ति, लक्ष्मी या शोभा आदि संगत नहीं है । अतएव औचित्य के आधार पर यह केवल सम्मानसूचक प्रयोग है ।

औ. देश—अर्थ-विशेष के चोतन में स्थान के संबंध का आश्रय लेना—

८२. सा. ४४५० ।

८३. व्याकरण अथवा साधारण व्यवहार में ‘लिंग’ शब्द जिस अर्थ में आता है, यहाँ उससे भिन्न में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ इसका तात्पर्य द्रव्य, वस्तु या पदार्थ के धर्म, गुण या लक्षण से है जो अन्य वस्तु या पदार्थ से उसकी भिन्नता प्रकट करने में समर्थ हो सके—लेखक ।

८४. सा. २४४७ । ८५. सा. २२१५ । ८६. सा. ९-१४४ । ८७. सा. १०४९ ।

मुरली-धुनि बँकुंठ गई ।

नारायन कमला मुनि दपति अति रुचि हृदय भई^{८८} ।

यहाँ 'कमला' का अर्थ, बँकुंठ के सुवध से 'लक्ष्मी' ही स्पष्ट होता है और 'नारायण' तथा 'दपति' शब्दों से इसकी पुष्टि होती है ।

ख. लक्षणामूला शब्दी व्यजना—कवि या लेखक किसी प्रयोजन या व्यंग्यार्थ को जब ध्वनित या सूचित करना चाहता है, तब उसे व्यजना का आश्रय लेना पड़ता है । ऐसे स्थलों में 'लक्षणा मूला शब्दी व्यजना' ही उसके लाक्षणिक प्रयोगों की अभीष्ट ध्वनि को व्यजित करती है । मूरदास का एक वाक्य है—

तै महानग स्याम पायी, प्रगटि कैम जाइ^{८९} ।

यहाँ 'महानग' का लक्ष्यार्थ है 'नीलम' और वाक्य का व्यंग्यार्थ है कि तू (राधा) बड़ी भाग्यशालिनी ता है ही, बहुत चतुर भी है, क्योंकि मूल्यवान निधि का गुप्त रखने की योग्यता भी तुझमें है ।

ग. वाच्यसन्नवा आर्यो व्यजना—मूरदास की गोपियाँ शंकर जी का पूजन करके ध्यान लगाती हैं और कहती हैं—

बड़े देव तुम ही त्रिपुरारी^{९०} ।

इस वाक्य का वाच्यार्थ स्पष्ट है—देवताओं में तुम सबसे महान हो । इस वाच्यार्थ में निहित व्यंग्यार्थ यह है कि आपकी कृपा से हमारा मनोरथ बहुत सरलता से पूर्ण हो सकता है । यह व्यंग्यार्थ 'बड़े देव' शब्दों पर नहीं, इनके अर्थ पर निर्भर है ।

घ. लक्ष्यसन्नवा आर्यो व्यजना—किसी वाक्य या कथन के लक्ष्यार्थ में यदि व्यंग्यार्थ की ध्वनि रहती है तो वहाँ यह व्यजना होती है । गोपियों की निम्नलिखित उक्ति में इसका चमत्कार देखा जा सकता है—

भूलिहुँ जनि आवहु इहि गोकुल, तपति तरनि ज्यों चंद ।

सुंदर-वदन स्याम कोमल तन, क्यों सहिहँ नैद नद ।

मधुकर मोर प्रबल पिक चातक वन उपवन चटि बोलत ।

मनहुँ सिंह की गरज सुनत गोवच्छ दुखित तन डोलत ।

आसन असन बनल विष अहि-सम, भूपन विविध विहार ।

जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुम प्रति धनुष धरे सत मार^{९१} ।

ब्रजवासीयों ऊधव के द्वारा प्रिय कृष्ण तक यह नदेश पहुँचाना चाहती हैं कि मथुरा में ही रहो, यहाँ मत आओ । कारण यह है कि गोकुल में चन्द्रमा, प्रचण्ड सूर्य के समान तप रहा है, मधुकर मोर, पिक, चातक आदि कर्कश स्वर में बोल रहे हैं, आवास, भोजन और आभूषण आग के समान झुनझुने, विष के समान घातक और सर्प के

समान उसनेवाले हो रहे हैं; एवं कामदेव तो धनुष-बाण लिये वृक्ष-वृक्ष पर घूम रहा है।

श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी गोपियों के इस सदेश का लक्ष्यार्थ यह है कि विरहावस्था में चद्रमा; मनुकर, मोर, पिक और चातक के बोल, आवास, भोजन और आभूषण आदि सुखदायी न रहकर अत्यंत दुखदायी हो गये हैं और कामदेव विरह-व्यथा को और भी उद्दीप्त करके हार्दिक क्लेश दे रहा है।

इस लक्ष्यार्थ के आधार पर यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि सकट के अनेक अवसरों पर तुम हमारी पहने रक्षा कर चुके हो। आज चारों ओर से सकटों ने हमको घेर लिया है। अतएव पूर्व सवक को स्मरण कर, यहाँ आकर हमारी रक्षा करो। हमारी पुकार केवल तुम्हीं तक है और तुम्हीं इन कष्टों से हमें छुटकारा दिला सकते हो। व्यंग्य की यह व्यंजना लक्ष्यार्थ पर आधारित है। ऊपर दिया गया पहला लक्ष्यार्थ शाब्दी व्यंजना द्वारा सिद्ध होता है और दूसरा अन्य अर्थ की ओर संकेत करता है।

ड. व्यंग्यसंभवा आर्थो व्यंजना—गोपियों की निम्नलिखित उक्ति के व्यंग्यार्थ की व्यंजना उसके व्यंग्यार्थ द्वारा ही ध्वनित होती है—

किधौ धन गरजत नहि उन देसनि ।

किधौ हरि हरषि इंद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेपनि ।

किधौं उहि देस बगनि मग छाँड़े, धरनि न बूँद प्रवेसनि ।

चातक मोर कोकिला उहि वन, बधिकनि बधे विसेपनि ।

किधौं उहि देस बाल नहि झूलहि, गावति सखि न सुवेसनि^{१२} ।

इस पद का वाच्यार्थ यह है—'क्या श्रीकृष्ण के देश में बादल नहीं गरजते? स्वयं उन्होंने इंद्र को इसके लिए कहीं रोक तो नहीं दिया है? कहीं सर्पों ने मेढकों को खा तो नहीं डाला है? अथवा बगलों ने वह मार्ग ही छोड़ दिया है? बधिकों ने सारे मोरों, चातकों और कोकिलों को मार डाला है? अथवा उस देश में किशोर-किशोरियाँ सुंदर वेश-भूषा धारण करके झूलती या गाती ही नहीं?'।

इस कथन का व्यंग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आगमन से हमारी प्रेम-भावना विशेष उद्दीप्त हो उठी है और हम प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलने के लिए व्याकुल हो रही हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को भी हमसे मिलने की उत्कठा होनी चाहिए थी; तब उनके यहाँ न आने का कारण क्या है? क्या उनके देश में वर्षा ऋतु का प्रवेश ही नहीं हुआ?

यह व्यंग्य पुनः हमारे व्यंग्य की ओर संकेत करता है—प्रियतम श्रीकृष्ण हमको भूल गये हो अथवा वर्षा ऋतु के इस आगमन से—घन-गर्जन, दादुर-रटन, चातक-मोरों-कोकिला-कूजन आदि सुनकर, किशोर-किशोरियों को झूलते-गाते और आमोद करते देखकर—उनके मन में प्रेम-भावना न जागती हो, उनको हमारी याद न आती हो और वे

हमसे मिलने को उत्कण्ठित होकर यहाँ न आये, इन सब बातों को तो हम मान ही नहीं सकती । इस उन्मादकारी क्रतु का हमारी तरह उन पर भी प्रभाव पड़ेगा, इसका भी हमें पूर्ण विश्वास है ।

यह दूसरा व्यंग्यार्थ गोपियों के वचन के मूल व्यंग्यार्थ पर ही आधारित है । सूरदास के विरह-वर्णन विषयक पदों में इस प्रकार की 'व्यंग्यार्थसम्भवा आर्थो व्यजना-युक्त उक्ति' की प्रधानता है ।

३. ध्वनि—सूरदास के विरह-वर्णन के अनेक पदों में ध्वनि का चमत्कार पाठक को मुग्ध कर लेता है । श्रीकृष्ण के मधुरा जाने पर नद उनके साथ गये, परतु लौटे अकेले । प्रिय पुत्र के लिए माता के तड़पते हुए हृदय को इससे और भी चोट पहुँची और वे स्त्रीश्रवण पति से कहती हैं—

नद, ब्रज लीजै ठोकि बजाइ ।

देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ १३ ।

इस उक्ति के ध्वनि-जन्य चमत्कार के प्रभाव की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है—“ठोकि बजाय’ में कितनी व्यजना है । ‘तुम अपना ब्रज अच्छी तरह संभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है, मैं जाती हूँ’ । एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखायी दे रहा है । एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावों से लदा हुआ है । श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से युक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है । इसे भाव-शवलता कह या भाव-पचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य, ‘नद, ब्रज लीजै ठोकि बजाइ’ में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष, इन तीनों की मिश्र व्यजना—जिसे शवलता ही कहने से सतोष नहीं होता—पायी जाती है” ७ ।

स्पूल रूप से ‘ध्वनि’ के दो मुख्य भेद हैं—एक, लक्षणामूला और दूसरी अमिषामूला । सूर-काव्य में इन दोनों के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

क. लक्षणामूला ध्वनि—वाक्य के वाच्यार्थ से जब वक्ता का आशय स्पष्ट न हो और ध्वनि, लक्षणा पर आधारित हो, तब ‘लक्षणामूला ध्वनि’ होती है । श्रीकृष्ण की प्रीति में पगी गोपियाँ, उद्धव को बार-बार निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते देख, उनके हठधर्मी-पन से स्त्रीश्रवण कहती हैं—

दुसहु वचन अलि, हमें न भावै । जोग कहा, ओढै कि विद्यावै १४ ।

‘ओढै कि विद्यावै’ का लक्षणा में तात्पर्य है, ‘हमारे किसी काम का न होना’ । इस प्रयोग से, लक्षणामूला ध्वनि द्वारा वे स्पष्ट कह देती हैं कि सगुण के प्रति हमारी भक्ति अनन्य है, और तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की कथा हमारे लिए सर्वथा निरर्थक है ।

ख. अमिषामूला ध्वनि—सूरदास का निम्नलिखित पद ‘अमिषामूला ध्वनि’ का सुंदर उदाहरण है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।
 प्रीति पतंग करी पावक सौ आपै प्रान दह्यो ।
 अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौ, सन्मुख बान सह्यो ।
 हम जो प्रीति करो माधव सौ, चलत न कछू कह्यो ।
 सूरदास प्रभु विनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यो ^{१५} ।

इस पद का वाच्यार्थ स्पष्ट है । श्रीकृष्ण के विरह में दुखी गोपियों ने एक सत्य की पुष्टि अपने दृष्टिकोण से अनेक उदाहरण देकर की है और पद के वाच्यार्थ से गोपियों की वियोग-दशा ध्वनित होती है ।

साहित्याचार्यों ने लक्षणामूला अथवा अतिवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद किये हैं—(अ) 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य' और (आ) 'अत्यन्तनिरस्कृतवाच्य' । इसी प्रकार अभिवामूला ध्वनि के भी दो उपभेद हैं—(इ) 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' और (ई) 'संलक्ष्यक्रम ध्वनि' । सूर-काव्य में इन उपभेदों के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

अ. अर्थांतरसंक्रमित वाच्य—अपने नेत्रों के प्रति उपास्य देती हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं—

१. लोचन मेरे भृंग भए री ।
 लोक-लाज बन-घन बेली तजि आतुर ह्वै जु गए री ^{१६} ।

२. मेरे नैन कुरग भए ।
 जोवन-वन तै निकसि चले ये, मुरली-नाद रए ^{१७} ।

इन वाक्यों का वाच्यार्थ वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल नहीं है, प्रत्युत लक्षणा में उसका तात्पर्य है कि ये नेत्रभोरो की तरह रमलोलुप और कुरगों की तरह नाद-प्रेमी हो गये हैं । इस लक्ष्यार्थ से, 'भृंग' और 'कुरग' शब्दों के अर्थांतर में सक्रमण कर जाने से, श्रीकृष्ण के दिव्य रूप के प्रति गोपियों की उत्कट आसक्ति ध्वनित होती है ।

आ. अत्यन्त निरस्कृत वाच्य—लक्षणामूला ध्वनि के इस भेद में मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके, उससे नितात भिन्न नवीन अर्थ लेना कवि को अभीष्ट रहता है । निम्न उदाहरण में 'धनि' (= धन्य, प्रशंसासूचक) शब्द के वाच्यार्थ का अर्थांतर अर्थात् तिरस्कार सूचक 'धिक्कार' अर्थ में सक्रमण होने से अत्यन्त निरस्कृत वाच्य ध्वनि है—

ऊधी धनि तुम्हरी ब्योहार ^{१८} ।

इ. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—किसी किसी उक्ति के व्यंग्यार्थ में ध्वनित रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि की प्रतीति इतनी शीघ्रता से होती है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के मध्य का व्यवधान या क्रम जान ही नहीं पड़ता । जिस तरह बिजली का 'मिन रिवक' दवाते ही सारे घर में प्रकाश इतनी शीघ्रता से हो जाता है कि एक 'धरुव' से दूसरे तक उसके पहुँचने

की क्रमिक गति का ज्ञान हा ही नहीं पाता, अथवा जिस प्रकार फूल की गंध और वायु का व्यवधान रहित सा घनिष्ठतम संबध रहता है उसी प्रकार किसी किसी उक्ति के वाच्याय के साथ ही व्यग्याय की भी प्रतीति इस त्वरा से होती है कि दानो का बोध लगभग साथ साथ ही होता है । मूरदास की निम्न उक्तियां म ऐसी ही ध्वनि का चमत्कार दिखायी देता है ।

१ तुम जानति राधा है छोटी ।

+

+

+

सूरदास-प्रभु वैं अति छोटे, यह उनहूँ तैं अतिहीं छोटी^{११} ।

२ सूरदास सरवस जो दीजै, कारो कृताहि न मानें^१ ।

ये दोनों उक्तियाँ गापिया की हैं । प्रथम राधा को लक्ष्य करके परस्पर कही गयी है और दूसरी श्रीकृष्ण के व्यवहार को लक्ष्य करके उद्भव से । दाना उक्तिया के मूल म आंतरिक विनाद है और दोनों म रति-भाव ध्वनित है । अंतर इनम यह है कि प्रथम वाक्य राधा कृष्ण का प्रेम देखकर पुलकित होती हुई सखी का है और द्वितीय श्रीकृष्ण की निष्ठुरता से कुछ खीझी हुई सखी का ।

ई सलक्ष्यक्रम ध्वनि - कभी-कभी रचना के वाच्याय का बाध हाने के पश्चात् ध्वनित व्यग्याय की प्रतीति तुरत या साथ-साथ न होकर क्रमिक गति से होती है । सूरदास का एक पद है—

निर्गुण कौन देस को दासी ।

मधुकर, कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी ।

को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी ।

कौंसी वरन, भेष है कौंसी, किहि रस में अमितासी^२ ।

साधारण रूप से तो गापियाँ यहाँ उद्भव से 'निर्गुण' की रूप-रेखा बताने को कहती हैं और उसके माता पिता, वेश भूषा, रूप रंग आदि का परिचय पूछती हैं, परंतु इन बातों तक ही अथ सीमित नहीं रहता । इस पद का व्यग्यार्थ है कि जब निर्गुण म रूप, रंग, गुण, आकार कुछ है ही नहा तब उस पर मन टिकाया कैसे जा सकता है ? उनके इस वचन से अत म ध्वनि यह निकलती है निर्गुण हमारे लिए अगम है, अतएव इस पद म निर्गुण भक्ति का खडन हुआ है ।

४ अलंकार—वाक्य को अनकृत करने का अर्थ है बात को कुछ विशेषता के साथ कहना । वाक्यगत इस विशेषता के अनक रूप हात हैं । भाषा के अंग हैं वाक्य, शब्द और वण जिनके सयाग स वक्ता अभिप्राय व्यक्त करता है । रचना को अलकृत करने के उद्देश्य से कवि या लेखक इन सभी म ऐसी विशेषता लाने का प्रयत्न करता है जिससे पाठक या श्राता का मन उसकी उक्ति म रम जाय । प्रसंग का स्पष्ट करने के लिए

अप्रस्तुत विषयों का विधान भी कभी कभी आवश्यक हो जाता है और कल्पना के बिना तो कोई व्यक्ति कभी कवि हो ही नहीं सकता । इन दोनों की योजना में भी अलंकारों के माहचर्य से विशेषता आ जाती है । इस प्रकार भावों और विचारों की स्पष्टता के जितने भी साधन हो सकते हैं, सभी में कुछ न कुछ विशेषता लाकर अपने व्यक्तित्व की छाप उस पर लगाने का प्रयत्न कवि सदैव किया करता है और तभी उसकी रचना अलंकृत समझी जाती है ।

अलंकारों के मुख्य भेद है—शब्दालंकार और अर्थालंकार । इनमें से भाषा को अलंकृत करने में शब्दालंकारों का ही विशेष योग रहता है । अतएव मूर काव्य में प्रयुक्त केवल शब्दालंकारों का सोदाहरण परिचय देता यहाँ अभीष्ट है । मूरदास ने जिन शब्दालंकारों का विशेष रूप से प्रयोग किया है, वे हैं अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश, यमक, वीत्सा और श्लेष ।

क. अनुप्रास—इस अलंकार के पाँच भेद होते हैं—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट । इनमें से अन्तिम में कवि ने कोई रुचि नहीं दिखायी है और पूर्वात्म अर्थात् 'अन्त्य' की कुछ चर्चा 'छंद और तुक' शीर्षक के अंतर्गत पीछे की जा चुकी है । अतएव अनुप्रासालंकार के प्रथम तीन भेदों की चर्चा ही यहाँ की जायगी ।

अ. छेकानुप्रास—शब्दालंकारों में मूरदास का सबसे प्रिय अलंकार है 'छेकानुप्रास' । उनके प्रायः समस्त पदों में इसके अनेक उदाहरण सरलता से मिल सकते हैं, जैसे—

१. माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै^१ ।
२. नाक निरै सुख दुःख सूर नहिं, जिहि की भजन प्रतीति^२ ।
३. अपनी करनी विचारि गुसाई काहे न सूल सहौ^३ ।
४. चरचित चंदन नील कलेवर, बरपत बूंदनि सावन^४ ।
५. चरन परसि पापान उड़त है, कत बेरी उड़ि जात^५ ।
६. धूसर धूरि घुटुखनि रेगनि.....^६ ।
७. धनि ब्रज बास आस यह पूरन कैसे होति हमारी^७ ।
८. अटपटात अलसात पलक पट मूंदत कवहूँ करत उधारे^८ ।
९. रितु वसंत फूली फूलवाई । मंद सुगंध बयार बहाइ^९ ।
१०. यह सुनि असुरनि जतहि त्यागि । दया-धर्म मारग अनुरागि^{१०} ।
११. मोकूँ लाड़ लड़ायो उन जो कहूँ लगि करे बड़ाई^{११} ।
१२. कंद मूल फल दीने गोधन सो निसि कौ मैं खायी^{१२} ।
१३. कासे कहो सभूचै भूपन सुमिरन करत बखानी^{१३} ।
१४. लै कर गँद गये है खेलन लरिकन सग कन्हाई^{१४} ।

३. सा. १-४२ ।	४. सा. २-१२ ।	५. सा. ३-२ ।	६. सा. ८-१३ ।
७. सा. ९-४१ ।	८. सा. १०-१०५ ।	९. सा. १४७ ।	१०. सा. २६८२ ।
११. सा. ११-३ ।	१२. सा. १२-२ ।	१३. सा. ५८७ ।	१४. सा. ९१३ ।
१५. सहरो. ५५ ।	१६. सा. १०२ ।		

१५ हरि नुर भयन बिना विरहाने छीन लई तिन तातें^{१७} ।

अनुप्रास क इत भेद स कवि का इतना प्रेम है कि अनेक विशिष्ट-विशेष और कर्त्तृ-क्रिया रूप इस प्रकार उन्नत रहे हैं कि वाक्य में छेकानुप्रास की याचना हा गयी है ।

वा वृत्तानुप्रास—सूरसार' में छेकानुप्रास की अपेक्षा वृत्तानुप्रास की याचना बहुत कम है 'नारायणी' और 'साहित्यनहरी' में भी इनको याचना अधिक नहीं है । फिर भी लगना एक सहस्र पंक्तियों में इस अलंकार के उदाहरण अवश्य मिलते हैं, जैसे—

१ अ—अकरम अविधि अनान अवजा अनमारग अनरीनि^{१८} ।

२ क—कामी कृपन कुचेल कुदरमन कोन कृपा करि तारयो^{१९} ।
कटक कम कामना कानन को मग दियो दिखाई^{२०} । किरिनो कटि कनिन
ककन कर चुरी झनकार^{२१} । मुकुट कुटन किरनि कगननि किये किरनि
की हान^{२२} ।

३ ग—गरजत गगन गयद गुजरत^{२३} ।

४ च—चत—चितत ही चित में चितामनि चक्र लिए कर धायो^{२४} ।
चमकि चमकि चपला चक्चौधति^{२५} । अति चतुर चितवन चित चुरावति
चलत ध्रुव धोरज हरे^{२६} ।

५ छ—छनहि छन छवि छोर —३६४ । छोर छौटि छन छोरे^{२७} ।

६ ज—जग जानत जडुनाथ जिते जन निज भुज-स्वम सुख पायो^{२८} ।
जल थल जोव जिते जग जीवन निरखि दुखित भए देव^{२९} । जनम जनम जब-
जब जिहि जिहि जुग जहां जहां जन जाइ^{३०} । जोरि जोरि चित जोरि
जुरान्यो जोरयो जोरि न जान्यो^{३१} ।

७ झ—रही झुकि झुकि झांखि^{३२} ।

८ ट—धरनि पग पटकि कर झटकि भौहनि मटकि अटकि मन तहां
रोझ कन्हाई । तब चलत हरि मटकि रही जुवती भटकि लटकि लटकनि
छटकि छवि विचारै^{३३} ।

९ त—ताकत नहीं तरनिजा के तट तरवर महा निरास^{३४} ।

१० द—कह दाता जो द्रवै न दोनहि देखि दुखित ततकाल^{३५} । दामिनि
दुरि-दुरि देति दिखाई^{३६} ।

१७ लहरी उ ४६ । १८ सा १-१२९ । १९ सा १ १०१ । २० सा १ १८७ ।
२१ सा १० ४३ । २२ सा १३७९ । २३ सा ३३०५ । २४ सा ८-३ ।
२५ सा ८७७ । २६ सा ४१८७ । २७ सा ७३२ । २८ सा १-१५ ।
२९ सा १-१५० । ३० सा २ १२ । ३१ सा ३६०१ । ३२ सा ३५८४ ।
३३ सा १०४१ । ३४ लहरी २६ । ३५ सा १ १५९ । ३६ सा ६१६ ।

११. न.—रूप-रहित निरगुन नीरस नित निगमहु परत न जानि^{३७} ।
 १२. प—प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम के बनबास^{३८} ।
 १३. ब—बिपधर बिपम-बिपम-बिप बाँची^{३९} । बनमाली बामन बीठल
 बल, बासुदेव बासी ब्रज भूतल^{४०} । बिरह बिभूति बढी बनिता बपु सीस
 जटा बनवारि है^{४१} । बिटुल बिपुल विनोद बिहारन ब्रज की बसिबी छाजै^{४२} ।
 १४. भ—भद्रा भली भरनि भय हरनी^{४३} ।
 १५. म—मोहन मुखमुरली मन मोहिनि बस करै^{४४} । मधुर माधुरी मुकु-
 लित पल्लव लागत परम सुहायौ^{४५} ।
 १६. र—राजति रोम-राजी रेप^{४६} ।
 १७. ल—लटकति ललित ललाट लटूरी^{४७} । नदलाल ललना ललचि
 ललचावै रो^{४८} ।
 १८. स—सूर सुकृत सेवक सोइ साँची जो स्यामहि सुमिरंगो^{४९} । सदा
 सुभाव सुलभ सुमिरन बस^{५०} । सासु की सौति सुहागिनि सो सखि^{५१} ।
 सूरदास स्वामी सखसागर सुंदर स्याम कन्हारि^{५२} । सुरन सारग के सम्हारत
 सरस सारंग-नैन^{५३} । सहित सैन सुत संग सिधारत सो सब सजे सरूप^{५४} ।
 १९. ह—हारि मानि हहर्यो हरि चरननि हरपि हिये अब हेत करै^{५५} ।
 हेरि हेरि अहेरिया हरि रहौ झुकि झुकि झाँखि^{५६} । हो रही इह विपत
 तेरी विपत होइ सहाइ^{५७} ।

छेकानुप्रास की अपेक्षा वृत्त्यनुप्रास-योजना जहाँ भाषा का सौंदर्य अधिक बढ़ाती है, वहाँ प्रयास के कारण कभी कभी उसमें कृत्रिमता भी आ जाती है। परन्तु सूर-काव्य में वृत्त्यनुप्रास-योजना से भाषा की श्रीवृद्धि तो हुई ही है, साथ ही कृत्रिम आडंबर के दोष से वह मुक्त भी रह सकी और प्रायः सर्वत्र उसमें अपेक्षित प्रवाह मिलता है।

इ. श्रुत्यानुप्रास—स्थान-विशेष से उच्चरित होनेवाले वर्णों की आवृत्ति में भी सूर बहुत कुशल है; जैसे—

१. धन्य नंद जसुदा के नंदन ।

धनि राधिका धन्य सुंदरता धनि मोहन की जोरी^{५८} ।

३७. सा. ३५४१ । ३८. सा. ३८१३ । ३९. सा. १-८३ । ४०. सा. ९८१ ।
 ४१. सा. २११६ । ४२. सा. ३०९६ । ४३. सा. ३८२८ । ४४. सा. ६५२ ।
 ४५. सा. १०४२ । ४६. सा. ६३५ । ४७. सा. १०-११७ । ४८. सा. ६२९ ।
 ४९. सा. १-७५ । ५०. सा. १-१२१ । ५१. सा. ९-४४ । ५२. सा. १०-२१ ।
 ५३. लहरी. ६६ । ५४. लहरी. ७४ । ५५. सा. ९५५ । ५६. सा. ३५८४ ।
 ५७. लहरी. १८ । ५८. सा. १०४७ ।

२. उत कोविलागत करं कुलाहन इत सकल ब्रज-नारियाँ^{५९} ।
३. उरज उर सौं परन की सुख बरनि कायै जाइ^{६०} ।
४. ऐमे हम देवे नैदनंदन ।

स्याम सुभग तनु पीत वसन जनु नील जलद पर तडित सुछदन^{६१} ।

उक्त उदाहरणों में प्रथम और चतुर्थ में दत्त, द्वितीय में कट्टर और तृतीय में बाण्डव वर्णों की अधिकता है ।

ई. ध्वन्यनुप्रास—अनुप्रास के उक्त तीनों नेदों के अतिरिक्त अंगरेजी का एक अलंकार 'ध्वन्यनुप्रास' भी बहुत नाकामिद हो गया है । यह अलंकार उन स्थलों पर माना जाता है जहाँ वर्णों की ध्वनि से अर्थ भी प्रतिध्वनि-सा हो । मूर-काव्य में इस प्रकार के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

१. अलप दत्तन कलबल करि बोलनि^{६२} ।
२. अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ घरनी धरे पैया^{६३} ।
३. बरत बन-पात, भहरात, झहरात, अररात तह महा घरनी गिरायी^{६४} ।
४. घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात भाष नाए^{६५} ।
५. घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, यररात ब्रज लोग डरपे^{६६} ।

इन पंक्तियों की शब्द-योजना इस प्रकार की है कि प्रथम से बालक की 'बल्कुट' ध्वनि और द्वितीय से बच्चे की चाल की 'डगमगाहट'-की सुनायी देती है । इसी प्रकार अंतिम दोना उदाहरणों की शब्दयोजना से वातावरण की भ्रमणकता का सहज ही आभास मिल जाता है ।

अनुप्रास के उक्त उदाहरण विभिन्न पदों से सजलित हैं, परन्तु मूर-काव्य में ऐसे भी कुछ पद मिलते हैं जिनके प्रत्येक चरण में अनुप्रास की योजना है । ऐसे केवल दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

१. जागिए गोपाल लाल, जानैद निधि नन्द-बाल,
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयी प्यारे,
नैन कमलन्दल विसाल, प्रीति-बाषिका-मराल ।
मदन ललित वदन ऊपर कोटि बारि डारे,
उगत अरुन, विगत नवरी, ससाक विरन होन ।
दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे,
मनो ज्ञान-धन-प्रकास, बोलते सब भव-विलास ।

आस-आस-तिमिरि तोप-तरनि-तेज जारे ,
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर होइ प्रतीति सुनौ ।

परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम वारे,
मनौ वेद बदीजन सूत-वृन्द मागधगन ।

बिरद बढत जै जै जै जैति कैंटभारे,
बिकसत कमलावली, चले प्रपुज-चंचरीक ।

गजत कलकोमल धुनि त्यागि कज न्यारे,
मानौ वैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिड़ाइ ।

प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे,
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे असिसय दयाल ।

भागै जजाल-जाल, दुख-कदब टारे,
त्यागे अम-फंद-द्वंद, निरखि कै मुखारविंद^{६७} ।

सूरदास अति-अनद मेटे मद भारे ।

+

+

+

२. स्याम के बचन सुनि, मनहिं मन रह्यौ गुनि,

काठ ज्यों गयो धुनि, तनु भुलानी ।

भयो बेहाल नंदलाल कै खयाल इहि,

उरग तैं बाँचि फिरि ब्रजहिं आयो ।

कह्यौ दावानलहिं देखौ तेरे बलहिं,

भस्म करि ब्रज पतिहिं, कहि पठायो ।

चल्यौ रिस पाइ अतुराइ तव धाइ कै,

ब्रजजननि वन सहित जारि आऊँ ।

नृपति के लै पान, मन कियो अभिमान,

करत अनुमान चहुँ पास धाऊँ^{६८} ।

(ख) पुनरुक्ति प्रकाश—सूरदास ने अनेक पदों में शब्द या शब्दों की इस प्रकार आवृत्ति की है कि उससे अर्थ की सुंदरता बढ़ जाती है । ऐसे स्थलों पर 'पुनरुक्ति-प्रकाश' अलंकार होता है । इसकी योजना सूर-काव्य की लगभग पाँच सौ पक्तियों में मिलती है । उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

१. जनम सिरानौ अटकै अटकै^{६९} ।

२. बालक अवल अजान रह्यो वह, दिन दिन देत आस अधिकाई^{९१} ।
३. मंद-मंद मुसुक्यानि, मनो धन दामिनि दुरि-दुरि देति दिखाई^{९२} ।
४. बार-बार पिय देखि-देखि मुख पुनि-पुनि जुवति लजानी^{९३} ।
५. सुर-ललना पति-गति विसराए, रही निहारि-निहारि^{९४} ।

पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार के उक्त उदाहरण विभिन्न पदों से चुने गये हैं। साथ ही 'सूरसागर' में कुछ पद ऐसे भी मिलने हैं जिनके प्रायः प्रत्येक पद में इसकी योजना है; जैसे—

रे मन, सुमिरि हरि-हरि-हरि ।

सत जज्ञ नाहिन नाम सम, परतीति करि करि करि ।
 हरि-नाम हरिनाकुस विसारचौ, उठचौ वरि वरि वरि ।
 प्रह्लाद-हित जिहि असुर मारचौ, ताहि डरि डरि डरि ।
 गज-गीध-गनिका-व्याध के अघ गए गरि गरि गरि ।
 रस-चरन-अबुज बुद्धि-भाजन, लेहि भरि भरि भरि ।
 द्रौपदी के लाज कारन, दौरि परि परि परि ।
 पाहु-सुत के विघन जेते, गये टरि टरि टरि ।
 करन, दुरजोधन दुसासन, सकुनि अरि वरि अरि ।
 अजामिल सुत-नाम लीन्है, गए तरि तरि तरि ।
 चारि फल के दानि है प्रभु, रहे फरि फरि फरि ।
 सूर श्री गोपाल हिरदै राखि धरि धरि धरि^{९५} ।

(ग) यमक - इस अलंकार की विशेष रूप से योजना 'साहित्यलहरी' में की गयी है जहाँ एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में अनेक बार प्रयोग किया गया है; जैसे—

उदै सारंग जान सारंग गयो अपने देस^{९६} ।

यह पंक्ति पूरे पद का, जिसमें 'सारंग' शब्द दस बार आया है, केवल एक चरण है। इसमें प्रयुक्त पहले 'सारंग' का अर्थ है 'सूर्य' और दूसरे का 'चंद्रमा'। इस प्रकार की योजना में वस्तुतः आलंकारिक चमत्कार नहीं रहता। 'सूरसागर' के कुछ पदों में यमक के सुंदर उदाहरण भी मिलते हैं, यद्यपि इनकी सख्या सौ के आसपास ही होगी, जैसे—

१. ताके कोटि विघन हरि हरि के अभै प्रताप दियो^{९७} ।

२. तं जोवन-मद तै यह कीन्यो^{९८} ।

३. सूरदास मानहुँ करभा कर बारबार डुलावत^{७७} ।
४. बिधि की बिधि मेटि करति अपनी रस-रीति^{७८} ।
५. बीरा खात दोउ बीरा जब, दोउ जननी मुख देखि सिहानी^{७९} ।
६. बार - बार संकरपन भापत, बारन बनि बारन करिन्यारी^{८०} ।
७. छार सुगंध सेज पुहुपावलि, हार छुवै हिय हार जरंगी^{८१} ।
८. ऊधो जोग जोग हम नाही^{८२} ।

(घ) वीप्सा—आंदर, आश्चर्य, उत्साह, धृणा, शोक आदि मानसिक विकारों को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने अनेक पदों में विस्मयादिबोधक अव्ययों की आवृत्ति की है। ऐसे स्थलों पर प्रायः 'वीप्सा' अलंकार के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

१. आहि-आहि कहि, पुत्र-पुत्र कहि, मातु सुमित्रा रोयी^{८३} ।
२. हाय-हाय करि सखनि पुकारचौ^{८४} ।
३. जय जय धुनि अमरनि तभ कीन्हौ^{८५} ।
४. सरन-सरन अब भरत हों, मैं नहि जान्यौ तोहि^{८६} ।
५. साधु-साधु पुनि-पुनि हरषित ह्वं मन ही मन भाप्यौ^{८७} ।
६. धन्य-धन्य दृढ नेम तुम्हारौ^{८८} ।
७. हा हा नाथ अनाथ करौ जिनि, टेरति वाँह पसारि^{८९} ।

(ङ) श्लेष—इस अलंकार के अनेक उदाहरण 'साहित्यलहरी' में ही अधिक मिलते हैं; एक पद ही पर्याप्त होगा—

कत मो सुमन सो लपटात ।

समुझ मधुकर परत नाही मोहि तोरी' बात ।

हेमजुही है न जा सँग रहे दिन पस्चात ।

कुमुदनी सँग जाहु करके केसरी को गात ।

सेवती संतापदाता तुमै सब दिन होत ।

केतकी के अंग संगी रंग बदलत जोत^{९०} ।

इस पद में 'सुमन' = 'मोगरे' [(१) बेला फूल, (२) मेरे गले से], 'मधुकर' [(१) भौंरा, (२) रसिक नायक], 'हेमजुही' = 'सोनजुही' [(१) पुष्प विशेष, (२) सो = वह + न = होन + जु = जो + ही = हृदय], 'कुमुदनी' [(१) पुष्प विशेष, कुँई; (२) बुरी बातों में आनंद लेने-वाली स्त्री], 'सेवती' [(१) पुष्प-विशेष, (२) सेव + ती, तिय = सेवा करने वाली स्त्री], 'केतकी' [(१) पुष्प विशेष, (२) कितनी ही स्त्रियाँ] शब्द द्रिष्ट हैं ।

७७. सा. ६३२ । ७८. सा. ६५३ । ७९. सा. १३९८ । ८०. सा. १०५३ ।
 ८१. सा. ३३६८ । ८२. सा. ३९२४ । ८३. सा. ९-१५१ । ८४. सा. ५४० ।
 ८५. सा. ५७९ । ८६. सा. ५८९ । ८७. सा. १०३२ । ८८. सा. १०३४ ।
 ८९. सा. १०८८ । ९०. लहरी. ७१ ।

५. सूर-काव्य में गुण, वृत्ति और रीति—मानव-प्रकृति गुणों का आदर करती है; सभी वस्तुओं में गुणों की खोज करना उसका स्वभाव है। स्थूल रूप से मानवीय गुण दो प्रकार के होते हैं—एक तो बाह्य शारीरिक गुण, जैसे सुकुमारता, स्निग्धता आदि; और दूसरे, आंतरिक गुण जैसे शूरता, उदारता, त्याग, सहनशीलता आदि। इसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ, दोनों में कुछ गुण माने जाते हैं जो काव्य को सुसोभित करते हैं और जिनके कारण रचना का विशेष आदर होना है। जिस प्रकार समाज में गुणहीन व्यक्ति समादृत नहीं होता, उसी प्रकार गुणहीन काव्य भी सहृदयों को रचिवर नहीं लगता। काव्य विषयक गुणों के तीन मुख्य भेद हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

वृत्ति—किसी मार्मिक और मनोहर प्रसंग का वर्णन करने के लिए कोमल, मधुर और समासरहित शब्दों का तथा सरल विषयों के लिए सुबोध शब्दों का प्रायः व्यवहार होता है। प्रसंग, रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ की इस प्रकार की उचित और उपयुक्त योजना को ही 'वृत्ति' कहते हैं। गुणों के तीन भेदों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—के अनुसार शब्दाश्रित वृत्तियाँ भी तीन मानी गयी हैं—मधुरा या उपनागरिका, परा और प्रौढा या कोमला वृत्ति।

रीति—कवि अपना आशय प्रकट करता है वाक्यों में और काव्य की रचना पद-संघटन पर निर्भर है। विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अभीष्ट अर्थ का बोध कराने की उपयुक्ततम योग्यता किस शब्द में है और वाक्य में किस स्थान पर उसका प्रयोग करने से वह इस दायित्व का अधिकतम निर्वाह कर सकता है, विनिश्चित पद-रचना से अभिप्राय इन्हीं दो विषयों से है। शब्दों का चयन और वाक्य में उनका स्थान विषय, भाव, संस्कार आदि की दृष्टि से निर्धारित होता है। स्पष्टता और रसानुभूति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो कुछ कहना हो, सरल और सीधे ढंग से कहा जाय। स्थूल रूप से 'रीति' के अंतर्गत इन्हीं सब बातों का अध्ययन किया जाता है। संस्कृत शैलियों के आधार पर इसके भी प्रमुख तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौणी और पाचाली।

क. माधुर्यगुण, मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति—भाषा में माधुर्य गुण की योजना के लिए शब्दों के चुनाव का विशेष ध्यान रखा जाता है। सूरदास अपनी भाषा को माधुर्य गुण युक्त बनाने के लिए इस विषय में सदैव सतर्क रहे हैं। इस गुण-युक्त भाषा की विशेष आवश्यकता प्रायः सरस और मार्मिक प्रसंगों के लिए होती है। श्रीकृष्ण की विशेषावस्था की प्रेम लीलाओं के वर्णन में ऐसी भाषा के प्रयोग का सूरदास को बराबर अवसर मिला है। अपने आराध्य-युगल के रूप का वर्णन भी इसी भाषा में करने के कारण ही उन्हें अभिनवनीय सफलता मिली है।

सूरदास ने अपनी भाषा में ट ठ ड ड ढ-आदि कर्णवटु वर्णों का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। समुत्ताक्षर भी उनकी भाषा में बहुत कम मिलते हैं। मधुरता प्रकट करने वाले वर्णों अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा पाँचों पचमाक्षरों—ड, ज, ण, न और म—से निर्मित शब्दों की अधिकता के कारण ऐसी भाषा में 'मधुरा' या 'उपनागरिका वृत्ति' और ललित पद-योजना के कारण 'वैदर्भी' रीति मानी जाती है। माधुर्य

गुण-युक्त भाषा में सूरदास ने प्रायः दो-तीन अक्षरों से बने छोटे शब्दों का ही प्रयोग अधिक किया है। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

बिनु माघौ राधा-तन सजनी सब विपरीत भई ।
 गई छपाइ छपाकर की छवि, रही कलकमई ।
 अलक जु हुती भुवंगम हूँ सी, वट-लट मनहु भई ।
 तनु-तरु लाइ-वियोग लग्यौ जनु, तनुता सकल हई ।
 अँखियाँ हुतीं कमल पँखुरी सी, मुछवि निचोरि लई ।
 आँच लगै च्यौनो सोनो सी यौ तनु धातु धई ।
 कदली दल सी पीठि मनोहर, मानी उलटि ठई ।
 संपति सब हरि हरी सूर-प्रभु बिपदा देह दई^{११} ।

इस पद में केवल तीन बार 'ट' और एक बार 'ठ' का प्रयोग किया गया है और सो भी ऐसे शब्दों में जो बहुत सरल और प्रचलित हैं। 'विपरीत', 'छपाकर', 'भुवंगम' और 'मनो-हर'—केवल चार शब्द ऐसे हैं जो चार अक्षरों से बने हैं। शेष सभी शब्द एक, दो या तीन अक्षरों के हैं और कोमल वर्णों से ही निर्मित हैं। नौ शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग है जिनसे भाषा की मधुरिमा और भी बढ़ गयी है। 'च्यौनों' को छोड़कर और कहीं सयुक्ताक्षर का प्रयोग भी नहीं किया गया है। सूर काव्य में सयोग-वियोग-वर्णन और रूप-चित्रण प्रायः ऐसी ही भाषा में किया गया है।

स. ओज गुण, परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति—जिस रचना को सुनकर चित्त में विशेष स्फूर्ति जान पड़े, मन शौर्य और उत्साह से भर जाय एवं आवेश उमड़ने लगे, वह ओजयुक्त मानी जाती है। सूर-साहित्य में इस प्रकार की रचनाओं की संख्या बहुत कम है। अपने आराध्य की जीवन लीला के जिस विशेष भाग के कीर्तन का भार उन्हें सौंपा गया था, उसका प्रतिपादन ओजपूर्ण भाषा में किया ही नहीं जा सकता था। जो दस पाँच उदाहरण उनके काव्य में ऐसी भाषा के मिलते भी हैं, उनका कारण श्रीमद्भागवत के क्रम या उसकी छाया के अनुकरण का प्रयास कहा जा सकता है। ऐसे स्थानों पर भी कवि की वृत्ति विषय में पूर्णतया लीन नहीं हुई है। अतएव वीर रस के योग्य विषयों का प्रतिपादन भी आदि से अंत तक उन्होंने ओजस्विनी भाषा में नहीं किया है।

ओजपूर्ण भाषा के शब्दों का निर्माण 'परुषा' वृत्ति से सबद्धित ओजस् गुण को प्रकाशित करनेवाले वर्णों अर्थात् टवर्ग के अक्षरों, द्वित्व, सयुक्त वर्णों और र के सयोग से होता है। वाक्य-योजना में भी बड़े सामासिक पदों की प्रधानता के कारण इसमें 'गौड़ी' रीति मानी जाती है। सूर-काव्य में जो इने-गिने उदाहरण ओजपूर्ण भाषा में लिखे मिलते हैं; उनमें भी यह बात विशेष रूप से नहीं मिलती; जैसे—

१. आजु जी हरिहि न सरन गहाऊँ ।

तो लाजौ गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ ।

स्पदन खडि महारथि खडों, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।
पाडवदल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रधिर बहाऊँ ।
इती न करौ सयथ तो हरि की, छत्रिय-गतिहि न पाऊँ ।
सूरदास रनभूमि विजय विनु, जियत न पीठि दिवाऊँ^{१२} ।

२ दूसरे कर वान न लैहो ।

सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, एकहि वान अनुर सब हैहो ।
सिव-पूजा जिहि भाँति करी है सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहो ।
दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर-माला सिव-सीस चटैहो ।
मनो तूल-गन परत अग्नि-मुख, जारि जडनि जम-मथ पठैहो ।
करिहो नाहि विनव कछू अब, उठि रावन सन्मुख ह्वै घैहो ।
इमि दमि दुष्ट देव-द्विज मोचन, लक विभीषन, तुमको दैहो ।
लछिमन सिया समेत सूर कपि, नव सुख सहित अजोध्या जैहो^{१३} ।

पहल पद में भीष्म की ओर दूसरे में राम की प्रतिज्ञा है । दोनों पद बहुत ओजपूर्ण भाषा में लिखे जा सकते थे, परन्तु सूरदास ने इनमें भी सामान्य शब्दावली का ही प्रयोग किया है । इन पदों में कुछ सामासिक शब्दों का प्रयोग सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक किया गया है, परन्तु है ये सरल ही । इसी प्रकार समुक्त वर्णों में युक्त जो शब्द—यथा सस्त्र, स्पदन, कपिध्वज, पद्धति, परतच्छ, प्रहारि, प्रेरित, दुष्ट आदि—इन पदों में प्रयुक्त हुए हैं, वे भी सामान्य ही हैं ।

भाषा को ओजपूर्ण और प्रभावशाली बनाने के लिए कभी कभी प्रदनवाचक वाक्यों का भी प्रयोग किया जाता है । सूरदास ने भी ऐसे प्रदनवाचक वाक्यों की तो नहीं, उनसे मिलते-जुलते वाक्यों की योजना श्रीराम के प्रति हनुमान के इन वचनों में की है

१. कही तो जननि जानकी ल्याऊँ, कही तो लक विदारौ ।

सैल-सिला-द्रुम बरपि, व्योम चडि, सत्रु-समूह-सँहारौ^{१४} ।

२. कही तो सूरज उगन देउ नहि, दिमि दिसि वाढ़ै ताम ।

कही तो गन समेत ग्रसि खाऊँ, जमपुर जाइ न, राम ।

कही तो बालहि खड-खड करि टूक टूक करि काटौ ।

कही तो मृत्युहि मारि डारि कै, नोदि पतालहि पाटौ ।

कही तो चद्रहि लै अकास त, लछिमन मुखहि निचोरौ ।

कही तो पैठि मुधा के नागर, जल समस्त में घोरी^{१५} ।

इन वाक्यों में सामासिक पद और समुक्ताधरो से बने शब्द बहुत कम हैं, केवल 'कही तो' की अनेक बार आवृत्ति में ही भाषा में ओज लाने का सूरदास ने प्रयत्न किया है । इस प्रकार की भी भाषा के उदाहरण सूर-कान्य में अधिक नहीं हैं ।

ग. प्रसाद गुण, कोमला वृत्ति और पांचाली रीति जिस रचना में व्यक्त विचार, वाग्जाल से रहित होने के कारण, पूर्णतः स्पष्ट होते हैं, वह 'प्रसाद' गुण-युक्त कही जाती है। निर्मल जल के तल में पड़ी वस्तु जैसे ऊपर से ही दिखायी दे जाती है उसी प्रकार रचना को सुनते या पढ़ते ही रचयिता के तात्पर्य का बोध करानेवाला गुण 'प्रसाद' है। इसका संबंध 'श्रीद्धा' या 'कोमला' वृत्ति और 'पांचाली' रीति से रहता है। सूर-काव्य में इस गुण-युक्त भाषा की ही प्रधानता है। विनय के पद, श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएँ, माता-पिता-गुरुजन की वात्सल्यमयी कामनाएँ आदि प्रसाद गुण-युक्त भाषा में ही सरल तथा रोचक ढंग से लिखी जा सकती थी। भक्त को आत्मनिवेदन और स्व-दैव्य-प्रदर्शन के लिए कृत्रिमता या प्रयास युक्त शब्द चयन का आश्रय लेने की चाह हो ही नहीं सकती; एवं बालको की सरल क्रियाओं, उनकी भोली भाजी बातों और उनके प्रति वात्सल्य-जनित मनोकामनाओं का वर्णन भी सहज ढंग से होने पर ही हृदयहारी और आनंददायी हो सकता है। अतएव इन सभी विषयों का वर्णन सूरदास ने सरल, सुबोध और अति प्रचलित शब्दों में किया है, जैसे—

१. मो सम कौन कुटिल खल कामी ।

तुम सो कहाँ छिपी करुनामय, सबके अतरजामी ।

जो तन दियो ताहि विसरायो, ऐसौ नोन-हरामी ।

भरि भरि द्रोह बिपै को धावत, जैसें सूकर ग्रामी ।

सुनि सतसग होत जिय आलस, विषयिनि संग विसरामी ।

श्री हरि चरन छाँड़ि विमुखन की निसि-दिन करत गुलामी ।

पापी परम, अधम, अपराधी, सब पतितनि मैं नामी ।

सूरदास-प्रभु अधम उधारन सुनिये श्रीपति स्वामी^{१६} ।

२. हरि अपने आँगन कछु गावत ।

तनक तनक चरननि सों नाचत, मनहीं मनहि रिझावत ।

बाँह उठाइ काजरी-धीरी गैयनि टेरि बुलावत ।

कवहुँक बावा नद पुकारत, कवहुँक घर में आवत ।

माखन तनक आपनै कर लै, तनक वदन में नावत ।

कवहुँक चितै प्रतिबिंब खभ मैं, लोनी लिए खवावत ।

दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरय अनद बढावत ।

सूर स्याम के बाल-चरित नित-नित ही देखत मन भावत^{१७} ।

६. रस और भाषा का संबंध—कवि की सफलता स्वानुभूति के साधारणीकरण में है जिसके लिए भाषा का माध्यम प्रधान सहायक है। साधारणीकरण का तात्पर्य है रचयिता की अनुभूति से सामान्य पाठक की अनुभूति का तादात्म्य। साहित्यकार प्रसंग-

विशेष को जिस दृष्टि से देखता और जिस उद्देश्य से चिन्तित करता है, पाठक या श्रोता भी पढ़ या सुनकर उसी दृष्टि से देखने और उसी उद्देश्यानुभूति का अनुभव करने लगे — स्थूल रूप से इसी को 'भाषा-रसिकता' कहते हैं। इसकी निधि भाषण, उपद्रुत और उपयोगी भाषा अपनाने पर ही सम्भव होती है। मानवीय भावों का विकास उत्तार-सन्नत प्रभावा के कारण यद्यपि विभिन्न दिशाओं में होता है तथापि मूलतः सभी में समान भाव बीज-रूप में छा रहता ही है। कवि की रचना भाषा के माध्यम से साकार होकर इन्हीं समान भावों का कुरेदनी-उकनानी है। भावुक हान के साथ-साथ जिस व्यक्ति का शब्द-साधारण जितना विस्तृत होगा जिसकी भाषा भाव व्यञ्जना में जितनी समर्थ और स्पष्ट होगी, वह उतना ही सकुन कवि या लेखक समझा जायगा। अतएव भाषा का बाधक भावाभिव्यक्ति के लिए तो आवश्यक है ही, उसकी सहायता पाठक या श्रोता के मन में समान रसानुभूति की सजगता के लिए भी अपेक्षित है।

रस-भेद और भाषा रूप—रसा के मुख्य तीन भेद माने गये हैं—शृंगार (+ वात्सल्य) हास्य, करुणा, वीर, अद्भुत, रौद्र, भयानक, वीरमत्त और शांत। भाषा-रूप की दृष्टि से इन रसों के तीन वर्ग बना लिये गये हैं। प्रथम में शृंगार, करुण और शांत, द्वितीय में वीर, रौद्र और वीरमत्त, तथा तृतीय में हास्य अद्भुत और भयानक माने गये हैं। प्रथम वर्ग के रसा के लिए माधुर्य गुण युक्त भाषा आवश्यक होती है और द्वितीय के लिए ओज-गुण-युक्त। प्रसाद गुण-प्रधान भाषा हास्य अद्भुत और भयानक रसों में ही नहीं, प्रथम दानो वर्गों के भी सब रसों के उत्कर्ष में सहायक होती है।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि माधुर्य या ओज गुणों के नियमानुसार वर्ण या शब्द-योजना मात्र से काव्यानन्द प्राप्त हो जाता है। वास्तव में काव्य की आत्मा रस है और इनका आस्वादन अर्थोत्कर्ष द्वारा ही सम्भव है। काव्य में विशिष्ट पद-योजना काव्य-शरीर के आह्लावरण-रूप में रहती है जो अनुकूल होने पर मुरचिबद्धक और मनोहारिणी जान पड़ती एवं रचना के प्रभाव को द्विगुणित कर देती है तथा प्रतिकूल होने पर अर्थोत्कर्ष में ही नहीं, रसास्वादन में भी विरोधिनी सिद्ध होती है। सारांश यह है कि रस-विशेष के परिपाक में जिस गुण-युक्त पद-योजना की अपेक्षा है, उसे अपनाने पर ही कवि का अभीष्ट सिद्ध होता है, क्योंकि तभी रचना में पाठक को रस-भोग करने की क्षमता आती है।

सयोग-विभाग शृंगार (+ वात्सल्य), करुण और शांत—इन तीन रसों के लिए माधुर्य गुण ऊँचर आवश्यक कहा गया है। कारण यह है कि उक्त भावनाओं के आप्रत होने पर प्राणी का एक प्रकारकी मधुरता का अनुभव होता है और मधुर वर्णों की योजना इसकी पोषक एवं बद्धक होती है। सामान्यतः मधुरता की सबसे अधिक विद्यमानता जान पड़ती है सयोग शृंगार में और सबसे कम शांत रस में। परन्तु विमोघ शृंगार वस्तुतः हृदयगत मधुर भाव का रूप निस्तारने में सयोग की अपेक्षा अधिक समर्थ होता है। सयोग-मुक्त प्राप्त करने की लालसा प्राणी-मात्र में रहती है, परन्तु प्रिय वस्तु या पात्र की अनुपस्थिति अथवा अप्राप्ति-काल में तत्सदृशी लालसा इतनी तीव्र हो जाती है कि इस व्यवधान में चित्त बराबर उसी में रमा रहता है। उसकी वसकभरी स्मृति हृदय

को सालनेवाली होने पर भी इतनी प्रिय लगती है कि चित्त उसे भुला नहीं पाता — भुलाना चाहता भी नहीं । ऐसी स्थिति में अतीत की सुप्त स्मृतियाँ बार बार जाग्रत होकर प्राप्ति-लालसा की तीव्रता को बहुत बढ़ा देती हैं और हृदय प्रतिपल अत्यंत विकल रहता है । फलतः वियोग शृंगार में मधुर भाव संयोग की अपेक्षा तीव्रतर रूप में रहता है और यही उसका रूप भी अपेक्षाकृत अधिक निखरता है ।

करुण रस में हृदय की तीव्रता एक प्रकार से विप्रलम्भ शृंगार से भी बढ़कर होती है । कारण, प्रिय वस्तु या पात्र की अनुपस्थिति में तो मिलन की आशा बनी रहती है, परन्तु करुण स्थिति में उसकी ओर से प्राणी सर्वथा निराश हो जाता है और भविष्य उसके लिए सर्वथा अधकारमय हो जाता है । इसके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रकार के पाठकों और श्रोताओं की सहानुभूति भी संयोग सुख और वियोग दुःख भोगनेवाले व्यक्ति से अधिक उस प्राणी के प्रति होती है जिसकी करुण दशा भावुक साहित्यकार को द्रवित कर देती है ।

शांत रस में माधुर्य भाव की उपस्थिति के सम्बन्ध में मतभेद है । फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि सासारिकता से निवृत्ति मिलने पर प्राणी को ऐसा आत्मसंतोष प्राप्त होता है जो उसके लिए निस्संदेह मधुर भाव युक्त होता है । इसी के सन्निवेश के कारण शांत रस में भी माधुर्य भाव की योजना प्रायः कवियों ने की है ।

सूर-काव्य में रस और भाषा का संबन्ध—सूर-काव्य में यों तो 'बीभत्स' को छोड़कर सभी रसों के उदाहरण देखे जा सकते हैं, परन्तु मुख्य रूप से उन्होंने संयोग-वियोग शृंगार और वात्सल्य, करुण तथा शांत रसों का ही वर्णन किया है एवं गौण रूप से अद्भुत और हास्य का । 'बीभत्स' के उदाहरण उनके काव्य में न मिलने का मुख्य कारण यह है कि वे मधुर और सरस भावनाओं के ही कवि हैं और प्रतिपल अपने रसिकप्रवर आराध्य के संपर्क का आनन्ददायी अनुभव करने हैं ।

क. शृंगार, करुण और शांत रसों की भाषा—शृंगार और करुण रसों के लिए तो सूरदास ने सदैव मधुर भाव युक्त शब्दावली का प्रयोग किया है; परन्तु वात्सल्य और शांत में, जैसा पीछे कहा जा चुका है, सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ है । वात्सल्य के जिन पदों में बालक कृष्ण की आनन्ददायिनी लीलाएँ हैं, वे प्रायः प्रसाद गुणयुक्त भाषा में लिखे गये हैं, परन्तु जिनमें माता की ममनामयी कामनाएँ-कल्पनाएँ हैं, उनकी भाषा में माधुर्य गुण प्रधान है । इसी प्रकार शांत-रस सम्बन्धी जिन पदों में कवि ने अपनी दीनता का निश्चल और निष्कपट होकर वर्णन किया है, उनकी भाषा में माधुर्य नहीं, प्रसाद गुण की योजना है । इसके विपरीत, अपने इष्टदेव की महिमा-गान में जब वह लीन होता है, तब भाषा माधुर्य गुण-युक्त हो जाती है । वारम्बार और शांत रसों की प्रसाद गुण-प्रधान भाषा के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं । अतएव यहाँ संयोग-वियोग शृंगार-वात्सल्य, करुण और शांत रसों के माधुर्य गुण-युक्त भाषा वाले पद ही उद्धृत किये जाते हैं—

१. संयोग शृंगार—

नवल नकुंज नवल नवला मिलि नवल निकेतन रचिर बनाए ।

बिलसत बिपिन विलास बिबिध बर बारिज-बदन विकच सचु पाए ।

लागत चद्र मयूख सु तिय तनु, लता-भवन-रधनि मग आए ।
मनहुँ भदन-बल्लो पर हिमकर, सोचत सुधा धार सत नाए ।
सुनि सुनि सुचिन्त सवन जिय सुन्दरि, मोन किये मोदति मन-लाए ।
सूर सखी राधा माधव मिलि मीडत रति रतिपतिहि लजाए^{१८} ।

२. वियोग शृंगार—

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिगे ।
वै जो देखत राते राते, फूलनि फूली डार ।
हरि विनु फूल झरी सी लागत, झरि झरि परत अंगार ।
फूल बिनन नहि जाउँ सखी रो, हरि विनु कैसे बीनी फूल ।
सुनि रो सखी, मोहि राम दुहाई, लागत फूल त्रिमूल ।
जब मैं पनघट जाउँ सखी रो, वा जमुना के तीर ।
भरि भरि जमुना उमडि चलति है, इन नैननि के नीर ।
इन नैननि के नीर सखी रो, सेज भई घरनाउ ।
चाहति हौं ताही पै चढ़ि कै, हरि जू के ढिग जाउँ ।
लाल पियारे प्रान हमारे, रहे अधर पर आइ ।
सूरदास प्रभु कुजविहारी, मिलत नही क्यों धाइ^{१९} ।

३. संयोग वात्सल्य—

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की ।
धूसर धूरि घटुखनि रेंगनि, बोलनि वचन रसाल की ।
छिटकि रही चहुँ दिसि जु लटुरियाँ, लटवन लटकति भाल की ।
मोतिनि सहित नासिका नथुनी, कठ-कमल-दल-माल की ।
कछ्क हाथ, कछ् मुख माखन लै, चितवनि नैन बिसाल की ।
सूरदास प्रभु-प्रेम-भगन भई, ढिग न तजनि ब्रजबाल की^१ ।

४. वियोग वात्सल्य—

मेरे कुँवर कान्ह विनु सब कुछ वैसेहि घरघो रहे ।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेति गहे ।
सूने भवन जसोदा सुत के, गुन गुनि सूल सहे ।
दिन उठि घर घेरत हौं ग्वारिनि, उरहन कोउ न वहे ।
जो ब्रज में आनद हुतौ, मुनि मनसा हू न गहे ।
सूरदास स्वामी विनु गोकुल कौड़ी हू न लहे^२ ।

५. कण रस—

राखि लेहु अब नंदकिसोर ।
 तुम जो इंद्र की मेटी पूजा, बरसत है अति जोर ।
 ब्रजवासी तुम तन चितवत है, ज्यों करि चद चकोर ।
 जनि जिय डरौ, नैन जनि मूँदौ, धरिहौ नख की कोर ।
 करि अभिमान इंद्र झरि लायौ, करत घटा घनघोर^३ ।

६. शांत रस—

माधौ जू, मन माया बस कीन्हौ ।
 लाभ-हानि कछू समुझत नाहीं, ज्यों पतग तन दीन्हौ ।
 गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर ।
 मैं मति-हीन मरम नहि जान्यौ, परचौ अधिक करि दौर ।
 विवस भयौ नलिनी के सुख ज्यौ, बिन गुन मोहि गहचौ ।
 मैं अज्ञान कछू नहि समुझचौ, परि दुख-पुज सहचौ ।
 बहुतक दिवस भए या जग मैं, भ्रमत फिरचौ मति-हीन ।
 सूर स्याम सुंदर जो सेवैं, क्यौ होवैं गति दीन^४ ।

इन सभी पदों का विषय सरस अथवा मार्मिक है जिसके लिए कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पंचमाक्षरो से निर्मित शब्दों का ही अधिकांश में प्रयोग किया गया है । कर्णकटु ट्वर्गीय वर्णों से बने शब्दों की भी इन पदों में बहुत कमी है और जहाँ ऐसे शब्द आये भी हैं, वहाँ या तो मधुर व्यंजनो के बीच में प्रयुक्त होने से वे स्वयं अपनी कटुता त्याग देते हैं या कवि उन्हें मधुर बनाने में प्रयत्नशील रहा है । सयुक्ताक्षर-युक्त शब्दों में भी ऐसे विषयों की भाषा को सूरदास ने बचाया है । बड़े-बड़े सामासिक पदों का भी इसमें अभाव है । अतएव इन उदाहरणों की भाषा सभी दृष्टियों से माधुर्य-गुण-युक्त है ।

ख. वीर, बीभत्स और रौद्र रसों की भाषा—वीर, बीभत्स और रौद्र रसों के परिपाक से चित्त में एक प्रकार के आवेग का उदय होता है जो प्रथम में मधुर, द्वितीय में कुछ तीव्र और तृतीय में अत्यंत उग्र हो जाता है । इन रसों के स्थायी भाव क्रमशः उत्साह, घृणा—विरोध या तिरस्कार की प्रवृत्ति—और क्रोध हैं जिनके जाग्रत होने पर चित्त सहसा दीप्तियुक्त हो जाता है । अतएव इन रसों के उत्कर्ष में ओजगुण-युक्त भाषा विशेष सहायक होती है ।

सूर-काव्य में बीभत्स के उदाहरण तो हैं नहीं, वीर और रौद्र रसात्मक प्रसंगों का वर्णन भी उन्होंने इतना कम किया है कि इनकी योजनावाले पदों की संख्या एक प्रतिशत कठिनाता से ही होगी । इन रसों के लिए सूरदास ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसका अनुमान निम्नलिखित उदाहरणों से हो सकता है—

१. वीररस—

- (अ) गह्यो वर स्याम भुज मल्ल अपने घाड़, झटकि लीन्ही तुरत पटक धरनी ।
 झटकि अति सव्द भयो, खटक नृप के हिये, अटक प्राणनि परचोचटक करनी ।
 लटक निरखन लग्यो, झटक सब भूलि गइ, हटत करि देउं इहें लागी ।
 झटक कुडल निरखि, अटक हँकै गयो, गटक सिरसों रह्यो मोच जागी ।
 (आ) देखि नृप तमकि हरि चमक तहँई गए, धमकि लीन्ही गिरहवाज जैसे ।
 धमकि मारजी पाव, गुमकि हिरदै रह्यो, झमकि गहि केस नै चले ऐसे ।

२. रौद्ररस—

प्रथमहि देउं गिरिहि वहाइ ।
 व्रज-धातनि करौ चुरकुट, देउं धरनि मिलाइ ।
 मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउं दिखाइ ।
 वरसि जल व्रज घोड़ डारौं, लोग देउं वहाइ ।
 खात-खेलत रहे नीक, करी उपाधि बनाइ ।
 वरस दिन मोहि देत पूजा, दई सोउ मिटाइ ।
 रिस सहित सुरराज लीन्हे, प्रलय मेघ बुलाइ ।

साधारणतः वीर और रौद्र रसोत्कर्ष के लिए वर्णकटु टवर्गीय, मयुक्त, द्वित्व आदि वर्णों से निमित्त बड़े सामासिक शब्दों की योजना की जाती है। परन्तु सूरदास के उक्त उदाहरणों में से केवल प्रथम में 'ट' युक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है, शेष दोनों में नहीं। प्रथम दो पदों में 'टक' या 'टकि' और 'मक' या 'मकि' की आवृत्ति अवश्य मिलती है जिससे भाषा में ओज आ गया है। मयुक्त या द्वित्व वर्णों से बने शब्द भी इनमें बहुत सामान्य हैं। सारांश यह है कि वीर और रौद्र रसों के लिए भी सूरदास ने सामान्य शब्दावली से ही काम निकाला है और कृत्रिम शाब्दिक आडंबर के चक्कर में वे कहीं नहीं पड़े हैं।

ग हास्य, अद्भुत और भयानक रसों की भाषा—प्रसाद गुण की विनोदता है उसकी प्रयास और कृत्रिमता रहित सरलता। भावों को स्पष्टतम रूप में दूसरों तक पहुँचाना साहित्य के समस्त रूपों का चरम ध्येय है और प्रसाद गुण इसकी सिद्धि में विशेष सहायक होता है। हास्य, अद्भुत और भयानक रसों के लिए प्रसाद गुण-युक्त भाषा की आवश्यकता बताने का तात्पर्य भी यही है कि सप्रयास माधुर्य अथवा ओजगुण युक्त पद-याचना इन रसों की अनुभूति में बाधक होती है। सूरदास्य में प्राप्त इन रसों के प्रयोग में प्रायः सर्वत्र इस बात का ध्यान रखा गया है, जैसे —

१. हास्य रस—

मेरे आगे महारि जसोदा तोको गारी दीन्ही ।
 बाकी घात सब मैं जानति, वै जैसी मैं चीन्ही ।
 तोको कहि पुनि कह्यो बाबा को बड़ी धूत वृषभान ।
 तब मैं कह्यो, ठग्यो कब तुमको, हँसि लागी लपटान ।
 भली कही तू मेरी बेटी, लयी आपनौ दाउ ।
 जो मोहि कह्यो सब गुन उनके, हँसि हँसि कहत सुभाउ ।
 फेरि फेरि वृझति राधा सौं सुनत हँसति सब नारि ।
 मूरदास वृषभानु-धरनि जसुमति को गावति गारि^८ ।

२. अद्भुत रस—

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत ।
 प्रभु पीढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपने रँग खेलत ।
 सिव सोचत, बिधि बुद्धि विचारत, बट बाढ़्यो सागर जल झेलत ।
 विडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दतीनि सकेलत ।
 मुनि - मन भीत भए, भुव कंपति, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत ।
 उन ब्रज-वासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत^९ ।

३. भयानक रस—

मेघ दल प्रबल ब्रज लोग देखे ।
 चकित जहँ-सहँ भए निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखे ।
 ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंधकाला ।
 चकित भए नंद, सब महार चकित भए, चकित नर नारि हरि करत ख्याला ।
 घटा घनघोर फहरात, अररात, दररात, थररात, बज लोग डरपे ।
 तड़ित आघात तररात उत्प्रात सुनि नर नारि सकुचि तन प्रान अरपे ।
 कहा चाहत होन, भई कबहुँ जीन, कबहुँ आंगन भौन विकल डीले^{१०} ।

ऊपर दिये गये हास्य और अद्भुत रसों के उदाहरणों में तो सूरदास ने सामान्य शब्दावली का प्रयोग किया है; परन्तु अंतिम में वातावरण की भयानकता सूचित करने के लिए ध्वनात्मक शब्दों की योजना और दीर्घ स्वरों की पुनरावृत्ति गयी है। सारांश यह है कि विभिन्न रसों के लिए उपयुक्त शब्द-चयन में कवि सूर सिद्धहस्त है।

७. सूर की भाषा के कुछ दोष—भावाभिव्यंजन की कामना समस्त साहित्य का मूल है। जो बातें इसकी पूर्ति में अधिक से अधिक सहायक होती हैं, वे 'गुण' हैं और

जो विरोधिनी होती हैं, वे दोष हैं। वे दोष तीन प्रकार के होते हैं—पद या शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। भाषा के अध्ययन में पद या शब्द-दोषों की चर्चा ही विशेष रूप से की जाती है। अतएव प्रन्तुन गीर्षक के अन्तर्गत सूरदास की भाषा को लेकर केवल पद-दोषों की सोदाहरण विवेचना करना ही पर्याप्त होगा।

‘वाच्य प्रकाश’ के अनुसार पद-दोष सोलह प्रकार के होते हैं—श्रुतिवट्ट, च्युत-सस्वार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अदलील, सदिग्ध, अप्रतीत, शीघ्र, नैयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट, विषेयाश और विरुद्ध मतिवृत्त^{११}। जिस कवि को स्वयं अपनी कविता लिखने और आगे चलकर उसमें सगोचन-परिवर्द्धन करने का अवसर न मिला हो, उसके वाच्य में यदि इनमें से कुछ दोष मिल जायें तो आश्चर्य की बात नहीं होगी। सूरदास की वाच्यभाषा में भी इनमें से कुछ दोष अवश्य मिलते हैं जिनमें से कुछ के उदाहरण पीछे भी दिये जा चुके हैं, कुछ यहाँ और दिये जाते हैं।

क. श्रुतिवट्ट—मधुर शब्दों के स्थान पर कानों को खटवनेवाले परप या कठोर शब्दों का प्रयोग करने पर ‘श्रुतिवट्ट’ दोष होता है। यह दोष सूर की भाषा में बहुत कम मिलता है। इनके अपवादस्वरूप उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखे जा सकते हैं—

१. राधे कत रित सरसतई।

तिष्ठति जाइ बारवारनि पै होति अनीति नई^{१२}।

२. धनुर्भं जन जन हैत दोतें इन्हें और डर नही सब कहि सेंतोपे^{१३}।

३. विद्वाचारि गुपाल लाल की, सूरदास तजि सर्वस लूट्यो^{१४}।

‘तिष्ठति’-जैसे सस्वन क्रिया-प्रयोग सूरदास के समस्त वाच्य में बहुत कम हैं और ‘धनुर्भं जन’-जैसे विसर्ग-अधि वाले उदाहरण भी अपवादस्वरूप ही मिलते हैं। इसी प्रकार ‘विद्वाचारि’-जैसे प्रयोग भी उनकी सरस और सरल शब्दावली में ‘श्रुतिवट्ट’ दोष के अन्तर्गत आ सकते हैं।

ख. च्युत-सस्वार—वाच्य की भाषा जहाँ व्याकरणमम्मत् न हो और रचना में जहाँ व्याकरण के सामान्य नियमों की अवहेलना की गयी हो, वहाँ यह दोष होता है। इसके अन्तर्गत लिंग, वचन, कारक, समास, संधि आदि सभी प्रकार के दोष आ जाते हैं। सूरदास की वाच्यभाषा में यह दोष कई पदों में मिलता है, जैसे—

अ लिंग-दोष—

१. सुनि मेरी अपराध अधमई, कोऊ निवट न आवे^{१५}।

२. प्रभु, राखि लेहु हम सरन तिहारे^{१६}।

३. माता सेंटिया द्वैक लगाए^{१७}।

११. ‘वाच्य प्रकाश’, सप्तम उल्लास, श्लोक ५०-५१, पृ० १६८।

१२. सा. २८०६। १३. सा. २९६७। १४. सा. २७०२। १५. सा. १-१९७।

१६. सा. ३८५। १७. सा. ३९१।

प्रथम वाक्य में 'मेरी' संबंधकारकीय स्त्रीलिंग सर्वनाम है। इसके आगे 'अपराध' शब्द सम्बन्धी रूप में आया है। 'अपराध-अधमर' युग्म के साथ सम्बन्धकारकीय स्त्रीलिंग विभक्ति या सर्वनाम बोलचाल की भाषा में भले ही प्रयुक्त हो जाय, काव्य-भाषा में इसका प्रयोग दोष ही समझा जायगा। दूसरे वाक्य में 'सरन' स्त्रीलिंग सज्ञा है जिसके साथ पुल्लिंग सम्बन्धकारकीय शब्द 'तिहारे' खाना भी दोष है। तीसरे में 'सैंटिया' स्त्रीलिंग के साथ पुल्लिंग क्रिया 'लगाए' रखने में दोष आ गया है।

आ. वचन-दोष—

१. ललनासहित सुमनगन वरपत, धन्य धन्य ब्रज लेखत^{१८}।

२. निरखि कुसुमगन वरपत सुरगन प्रेम मुदित जस गावै^{१९}।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'सुमन' और 'कुसुम' शब्द प्रायः सर्वत्र बहुवचन में आते हैं। इनके साथ पुनः 'गन' जोड़ना अनावश्यक है।

इ. कारक-दोष—ब्रजभाषा में प्रायः सभी कारकों की विभक्तियों का लोप कर दिया जाता है; परंतु ऐसा करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अर्थ समझने में किसी प्रकार की कठिनाई, अथवा एक से अधिक अर्थ वाक्य विशेष से निकलने की संभावना न हो। सूरदास ने विभक्तियों का लोप ममज्ञ-बूझ कर किया है, फिर भी ऐसे वाक्य कुछ पदों में मिल ही जाते हैं जिनके ठीक अर्थ-बोध में कठिनाई हो सकती है; जैसे—

संकर पारवती उपदेशत तारक मंत्र लिख्यौ स्तुति द्वार^{२०}।

इस वाक्य में न 'संकर' के साथ विभक्ति है और न 'पारवती' के साथ। विज्ञ पाठक तो जानता है कि उपदेश देनेवाले संकर ही हो सकते हैं, परंतु नया पाठक पार्वती को भी उपदेशक मानने की भूल कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि विभक्तिरहित शब्दों में पहला ही कर्त्ताकारक में प्रयुक्त होता है, तब नीचे लिखे वाक्य दोषयुक्त हो जायेंगे—

१. दुरबासा दुरजोधन पठ्यौ पांडव अहित विचारी^{२१}।

२. हिरनकसिप इनही सहारथी^{२२}।

३. भली भई नृप मान्यौ तुमहूँ^{२३}।

४. भली करी, उनि स्याम बँधाए^{२४}।

दूसरे वाक्य में 'इनही' और तीसरे में 'तुमहूँ' के साथ 'ही' और 'हूँ' के योग से इन सर्वनामों को बलात्मक रूप दिया गया है। इस प्रकार ये दोनों शब्द विभक्तिरहित ही हैं। अब सभी वाक्यों में विभक्तिरहित प्रथम रूपों—'दुरबासा', 'हिरनकसिप', 'नृप', 'उनि'—को कर्त्ताकारक में समझा जाय तो सही अर्थ नहीं निकलना। अतएव विभक्ति लोप के कारण इन सभी में कारक-दोष है।

१८. सा. १०४४। १९. सा. १०५५। २०. सा. २-३। २१. सा. १-१२२।

२२. सा. ७-७। २३. सा. १५०७। २४. सा. २२७०।

ई समास दोष—राम-स्याम निधि-पियूष नैननि भरि पीजै^{३५} ।

यहाँ पीयूष निधि सामासिक पद को निधि पियूष लिखना खटकता है, क्योंकि इससे अथ-बाध में कठिनता हानी है । एस उदाहरण सूरकाव्य में बहुत हैं ।

उ सधि-दोष सूर-काव्य में सधिया क कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो बड़े विचित्र जान पड़ते हैं । इनमें वास्तविक दाप भग ही न माना जाय परंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि एस प्रयोग प्रचलित नहीं हैं जैसे—

१ बहुरि सखासुरहि मारि वेदाऽनि दिए^{३६} ।

२ तुमसौ नृप जग में अब नाह^{३७} ।

३ निरखि जदुवस को रहस मन में भयो, देखि अनिरुद्ध को मूरछाई^{३८} ।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'वेदाऽनि' 'नाह' और 'मूरछाई' शब्द क्रमशः 'वेद + अनि', 'न + आह' और 'मूरछा + आइ' की सधि से बनाये गये हैं^{३९} । इस प्रकार के प्रयोग सरल हाते हुए भी काव्यभाषा में खटकते हैं ।

ऊ प्रत्यय दोष—

१ स्याम काम तनु आतुरताई ऐसे स्यामा वस्य भए री^{४०} ।

२ जहाँ तहाँ दधि धर्यौ, वहाँ कह उज्ज्वलताई^{४१} ।

३ कहां तब लहति ही निठुरताई^{४२} ।

'आतुरता', 'उज्ज्वलता' और 'निठुरता' सामान्य भाववाचक सज्ञा रूप हैं । इनमें पुनः भाववाचक प्रत्यय ई जोड़ना दोष है । सूर काव्य में इस प्रकार के प्रयोग सौ से भी अधिक मिलते हैं ।

इ असमय—अथ विनाय का प्रकट करन के लिए जब एस शब्द का प्रयोग किया जाय जिसमें उसका बाध कराने की शक्ति न हो तब यह दाप हाता है । सूरदास के कुछ पदा में यह दाप भी पाया जाता है जैसे—

मेली सजि मुख अबुज भीतर उपजी उपमा मोटी^{४३} ।

यहाँ 'उपमा' के विशेषण रूप में 'मोटी' ठीक ठीक अर्थ का सूचक नहीं करता ।

४ निरर्थक^{४४}—सूर काव्य में सौ से अधिक स्थला पर छंद की पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्दों का निष्प्रयोजन प्रयोग हुआ है, जैसे—

२५ सा ३७०० । २६ सा ८१६ । २७ सा ९-४ । २८ सा ४१९७ ।

२९ विचित्र सधियों के इन उदाहरणों को 'विसधि' नामक वाक्य-दोष के अंतर्गत भी रखा जा सकता है—लेखक ।

३० सा १०९९ । ३१ सा ८४१ । ३२ सा १३६३ । ३३ सा १०-१६४ ।

३४ इस शीघ्र के अंतर्गत दिये गये उदाहरणों में से कुछ को 'यूनपद', अधिकपद' और कथिनपद नामक वाक्य दोषों के अंतर्गत भी दिया जा सकता है—लेखक ।

१. करनी करुनासिंधु की, मुख कहत न आवै^{३५} ।
२. काकैं बल बैर तैं जु राम तैं बढायौ^{३६} ।
३. सूर स्याम मुख निरखि जसोदा मनही मन जु सिहानी^{३७} ।
४. जहाँ तहँ करत अस्तुति मुखनि देव-नर धन्य जैं शब्द तिहुँ भुवन भारी^{३८} ।
५. चढ़ि विमान सुर सुमन जु वरपैं, जैं जैं धुनि नभ पावनौ^{३९} ।

पहले, तीसरे और चौथे वाक्यों में 'मुख' और 'मुखनि' शब्द व्यर्थ है; क्योंकि इनके न होने पर भी अर्थ पूर्ण रहता है। शेष वाक्यों में 'जु' का निरर्थक प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार नीचे लिखे वाक्यों में भी 'जज्ञहु', 'शब्द', 'दोऊ' और 'जुगल' शब्द अनावश्यक हैं।

१. अस्वमेध जज्ञहु जो कीजैं, गया, बनारस अरु केदार^{४०} ।
२. अमर विमान चढ़े सुख देखत जैं धुनि शब्द सुनाई^{४१} ।
३. अंजन दोऊ दूग भरि दीन्हौ^{४२} ।
४. जुगल जंघनि खंभ रभा नाहि समसरि ताहि^{४३} ।

'मेध' का अर्थ ही है जज्ञ; अतएव पुन 'जज्ञहु' लिखना निरर्थक है। 'धुनि' का प्रयोग करने के बाद 'शब्द' भी अनावश्यक ही है। 'दूग' और 'जंघनि' सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं; इनका एकवचन-रूप सूचित करने की तो आवश्यकता होती है और सूर ने अनेक अवसरों पर ऐसा किया भी है, जिसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं; परंतु इनके साथ 'दोऊ' या 'जुगल'-जैसे प्रयोग व्यर्थ ही हैं।

५. ग्राम्य—कुछ पदों में सूरदास ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो सम्य समाज की शालीनता के उग्रयुक्त नहीं जान पड़ते; जैसे —

१. पारथ-तिय कुरराज सभा मैं बोलि करन चहैं नंगी^{४४} ।
२. जैसे जननि जठर अंतरगत सुत अपराध करै ।
- तौऊ जतन करै अरु पोषैं, निकसैं अंक भरै^{४५} ।

'नंगी' और 'निकसैं' शब्दों में गैवारूपन है, साहित्यिक भाषा की गंभीरता नहीं।

६. किलष्टत्व — किसी शब्द या पद की अर्थ-प्रतीति में जब वाधा पड़े और उसका अर्थ-ज्ञान विलंब से हो, तब 'किलष्टत्व' दोष होता है। सूरदास की 'साहित्यलहरी' में तो यह दोष प्रायः प्रत्येक पद में मिलता ही है, 'सूरसागर' में भी ऐसे कुछ पद हैं जिनकी अर्थ-प्रतीति सरलता से नहीं होती^{४६}। 'कूट पदों की भाषा' शीर्षक के

३५. सा. १-४ ।

३६. सा. १-१७ ।

३७. सा. १०-२०८ ।

३८. सा. ६०२ । ३९. सा. २८३२ । ४०. सा. २-३ । ४१. सा. १०-२२ ।

४२. सा. १०-१८३ । ४३. सा. १०-२३४ । ४४. सा. १-२१ । ४५. सा. १-११७ ।

४६. 'सूरसागर', पद संख्या २०८५, २०८६, २४६९, २४९५, २६२४, २६९६ आदि ।

अतर्गत इस प्रकार के अनेक उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। यहाँ एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

गिरजा-पति-पितु-पितु-पितु ही ते मी गुन सो दरसावैं ।

ममि-मुन वेद-पिता की पुत्री आजु कहा चित चावैं^{४७} ।

यहाँ 'गिरजा पति-पितु पितु पितु' और 'ममि-मुन वेद पिता की पुत्री' के अर्थ 'समुद्र' (गिरिजापति = शिव , पितु = ब्रह्मा , ब्रह्मा पितु = कमल , कमल-पितु = जल अर्थात् समुद्र) और 'यमुना' (ममि-मुन = चन्द्रमा का पुत्र = विष्णु , वेद चार हैं, अतः वृष में चौथा ग्रह हुआ शनि , शनि पिता = सूर्य , सूर्य की पुत्री = यमुना नदी) बिना मकेन के समय में नहीं आ सकते। ऐसे उदाहरणों में 'क्लिष्टत्व' दोष है।

७ अनुचितार्थ और विरुद्धमतिवृत्त—दो-एक पदों में सूरदास ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ का बोध कराने हैं , जैसे—

१. अब रघुनाथ मिलाऊँ तुमको सुंदरि, सोव निवारि^{४८} ।

२. वर्ष दिवस की नेम लेइ सब, रुद्रहि सेवहु मन बच कम अब^{४९} ।

पहला वाक्य सीता जी के प्रति हनुमान का है। 'सुंदरि' शब्द रूप प्रशंसावाची होने के कारण यहाँ अभीष्ट अर्थ में प्रतिकूल की प्रतीति कराता है, तभी तो सीता जी इस संबोधन से शक्ति होकर कहती हैं—

भवन भूँदि, मुख आंचर ढाँप्यौ, अरे निशाचर चोर ।

काहे कौं छल करि करि आवत, धर्म-विनासन मोर^{५०} ।

'रुद्र' का तात्पर्य मुख्यतः शिव के उस रूप में है जिसमें 'उन्होंने वामदेव को भस्म किया था और दक्ष के यज्ञ का नाश किया था'^{५१} इसी से 'रुद्र' शब्द बना है। युद्ध-प्रसंग में प्रायः 'रुद्र' का प्रयोग किया जाता है, वर-प्राप्ति प्रसंग में नहीं।

उक्त प्रमुख दोषों के अनिरिक्त सूरदास की वाक्य-रचना में सर्वनाम और क्रिया-शब्दों के कुछ प्रयोग भी खटकते हैं। उनके कुछ संबोधनों में मर्यादोल्लंघन भी हुआ है। वाक्यांशों, उपवाक्यों या वाक्यों की खटकनेवाली आवृत्ति उनके काव्य में कहीं कहीं मिलती है तो कहीं शब्दों का रूप विकृत करने में उन्होंने मनमानी की है। इन बातों के भी उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१ वाक्य-दोष—शिव-पार्वती का वार्तालाप हो रहा है। पति के गले में मुडमाला देखकर पार्वती पूछती हैं—यह मुडमाला कौसी है ?

सिव बोले तव वचन रसाल । उमा, आहि यह सो मुँडमाल ।

जब जब जनम तुम्हारी भयो । तब तब मुडमाल मैं लयी^{५२} ।

४७ लहरी, १५ । ४८ सा. ९-८३ । ४९ सा. ७९९ । ५० सा. ९-८३ ।

५१, देखिए, 'हिंदी शब्द-सागर', चौथा भाग, पृ. २९४८ ।

५२, सा. १-२२६ ।

दूसरा वाक्य पूर्ण है ; परन्तु 'आहि यह सो भुँडमान' उपवाक्य वाक्य-रचना की दृष्टि से अपूर्ण ही रह जाता है ।

२. आवृत्ति दोष—सूरदास ने एक ही विषय को लेकर अनेक पद लिखे हैं । विषय के सीमित होने पर भी दृष्टिकोण की कुछ न कुछ विशेषता या उक्ति की नवीनता प्रायः उनके प्रत्येक पद में मिलती है, साथ ही शब्दावली भी सभी पदों में एक सी नहीं है । नये पद, नयी तुक, नया दृष्टिकोण—इन सब नवीनताओं के कारण विषय की समानता रहने पर भी पाठक का मन नहीं ऊबता । यह ठीक है कि प्रत्येक कवि की शब्द-सूची निश्चित रहती है; किसी भी विषय पर रचना करते समय वह उसी में से शब्द चुनता है और इस प्रकार एक ही शब्द सैकड़ों बार प्रयुक्त होता है, परन्तु नवीन वातावरण में नये शब्दों के साहचर्य से पाठक को उसकी आवृत्ति खटकती नहीं, कभी कभी तो रुचिकर ही प्रतीत होती है । सूरदास ने भी प्रायः सर्वत्र ऐसा ही किया है । फिर भी प्रयत्न करने पर अपवादस्वरूप ऐसे पद उनके काव्य में मिल जाते हैं जिनमें शब्द-विशेष को ही नहीं, तीन तीन चार चार शब्दों के वाक्यांशों या उपवाक्यों को ही कवि ने दोहरा दिया है । उदाहरणार्थ प्रथम स्कन्ध के एक पद में यह पंक्ति मिलती है—

कामी, कृपिन, कुचील, कुदरसन को न कृपा करि तार्यो^{५३} ।

दस पदों के बाद ही इस पंक्ति के तीन विशेषण इसी क्रम से दोहरा दिये गये हैं —

कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन अपराधी मतिहीन^{५४} ।

चौदह पदों के बाद इनमें से तीन विशेषण फिर दोहराये गये हैं—

हौं तो कुटिल, कुचील कुदरसन^{५५} ।

नब्बे पदों के बाद फिर सबकी आवृत्ति है—

कपटी कृपन कुचील कुदरसन दिन उठि विषय वासना दानत^{५६} ।

इस शब्द-समूह की आवृत्ति एक कारण से बहुत खटकती है और वह है विषय की एकता । संभव है अन्य प्रसंग में इसी क्रम में प्रयुक्त होने पर भी ये शब्द इतना न खटकते, क्योंकि नये विषय में दृष्टिकोण भी थोड़ा-बहुत अवश्य भिन्न हो जाता । इसी प्रकार प्रथम स्कन्ध के एक पद में युधिष्ठिर अर्जुन से पूछते हैं—

राजा कह्यौ, कहा भयो तोहि, तू क्यों कहि न सुनाव मोहि^{५७} ।

लगभग इन्हीं शब्दों को शृंगी ऋषि के पिता अपने पुत्र से दोहराने हैं—

सुत सौ कह्यौ, कहा भयो तोहि । क्यों न सुनावत निज दुख मोहि^{५८} ।

कुछ पदों में निम्नलिखित उपवाक्य या वाक्य भी ज्यों के त्यों दोहराये गये हैं—

१. अ. तुम सम द्वितिया और न कोई^{५९} ।

५३. सा. १-१०१ । ५४. सा. १-१११ । ५५. सा. १-१२५ । ५६. सा. १-२१७ ।

५७. सा. १-२८६ । ५८. सा. १-२९० । ५९. सा. २-३५ ।

- आ. ता सम द्वितिया और न कोई^{६०} ।
 इ तातें द्वितिया और न कोई^{६१} ।
 ७ अ सो बातनि की एकं बात^{६२} ।
 आ सो बातनि की एकं बात^{६३} ।
 ८ अ कोउ न आवत नेरे^{६४} ।
 आ कोउ न आवत नेरे^{६५} ।
 अ मेरो कहाँ मानि करि लीजै^{६६} ।
 आ मेरो वचन मानि करि लेहु^{६७} ।

जैसे वाक्य थोड़े-बहुत अंतर क माय वही वही एक ही पद में मिल जाते हैं ।

आवृत्ति-सबषी ऊपर दिय गय अधिकांश उदाहरण पौराणिक प्रसंगा के हैं जिनमें कवि ने विशेष रुचि नहीं ली है । परंतु जो विषय कवि को विशेष प्रिय है उससे संबंधित पदा में ऐसी आवृत्ति न मिलनी हा, सो बात भी नहीं है । नीचे लिखे उदाहरण इस कथन की पुष्टि करते हैं—

- १ अ कापर नैन चटाए डोलति ब्रज में तिनका तोर^{६८} ।
 आ कापर नैन चलावति आवति, जाति न तिनका तोर^{६९} ।
 २ अ मदमद मुसुक्यानि मनौ घन, दामिनि दुरि दुरि देति दिखाई^{७०} ।
 आ विकसत वदन दसन अति चमकत, दामिनि दुरि दुरि देति दिखाई^{७१} ।
 ३ अ चमकि चमकि चपला चकचौधति, स्याम कहत मन धीर^{७२} ।
 आ चपला चमकि चमकि चकचौधति, करति सब्द आघात^{७३} ।

३ त्रिधा दोष—दो-एक वाक्यों में मूरदास के क्रिया-प्रयोग बिलकुल क्यावाचकों के ढंग पर हैं, जैसे—

तव नारद गिरिजा पै गए । तिनसों या विधि पूछत भए^{७४} ।

इस वाक्य का 'पूछत भए' क्रियाद्वय वाक्यभाषा के उपयुक्त नहीं माना जा सकता ।

४ संबोधनों में मर्यादोल्लघन—माता, पिता, सास, स्वसुर, पति आदि गुरुजन का नाम लेना हमारे समाज में अनुचित समझा जाता है । वही वही मूरदास यह बात मुता बँठे हैं, जैसे—

१ रामहिं राखी कोऊ जाइ ।

जब लगि भरत अजोघ्या आवे, कहति कोसिला माइ ।

६० सा ६४ ।	६१ सा ८-२ ।	६२ सा ५-२ ।	६३ सा ७२ ।
६४ सा १-७९ ।	६५ सा. १-८५ ।	६६ सा ४-५ ।	६७ सा ४५ ।
६८ सा १०-३१० ।	६९ सा. १०-३२० ।	७० सा ६१६ ।	७१ सा. ६३९ ।
७२ सा ८७४ ।	७३ सा ८७७ ।	७४ सा. १-२२६ ।	

पठवौ दूत भरत कौ लधावन, वचन कह्यौ बिलखाइ ।

दसरथ बचन राम बन गवने, यह कहियो अस्थाइ^{७५} ।

२. भरत कह्यौ, तैं कैकई कुमंत्र कियौ^{७६} ।

३. लोटति धरनि परी सुनि सीता, समुझति नहि समुझाइ ।

दुरलभ भयौ दरस दसरथ कौ, सो अपराध हमारे^{७७} ।

४. बंधू करियो राज सँभारे ।

कौसल्या, कैकई, सुमित्रा दरसन साँझ सबारे^{७८} ।

५. जननी, हौ रघुनाथ पठायौ ।

रामचंद्र आए कौ तुमकौ देन बधाई आयौ^{७९} ।

इन वाक्यों में कौशल्या, पति 'दसरथ' का; भरत, माता 'कैकेयी' का; सीता, स्वसुर 'दसरथ' का; राम, माता कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा का; और हनुमान, स्वामी 'रामचंद्र' का नाम लेते हैं । ये संबोधन निश्चय ही खटकते हैं ।

५. तुक-दोष—कुछ पदों में सूरदास ने तुक का भी उचित निर्वाह नहीं किया है, यद्यपि ऐसे स्थलों की संख्या है बहुत कम; जैसे—

१. जब लगि भजै न चरन मुरारि । तब लगि होइ न भव जल पार^{८०} ।

२. तून दसननि लै मिलि दसकंधर, कंठनि मेलि पगा ।

सूरदास प्रभु रघुपति आए, दहपट होइ लंका^{८१} ।

३. आवन आवन कहि गए ऊधौ, करि गए हम सी छल ।

हृदय की प्रीति स्याम जू जानत, कितिक दूरि गोकुल^{८२} ।

४. मधुकर देखौ स्याम दसा ।

इती बात तुमसौ कहियत है, जौ तुम स्याम सखा ।

जे कारे ते सबै कुटिल हैं, मृतकनि के जो हता ।

तुम बिरहिनी बिरह दुख जानत, कहियो गूढ़ कथा^{८३} ।

'मुरारि पार', 'पगा-लंका', 'छल-गोकुल', और 'दसा-मखा-हता-कथा' प्रयोगों का तुक दोष वास्तव में खटकता है ।

६. विकृत रूप—शब्दों का रूप विकृत करने की थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता कवियों को रहती है; परन्तु शब्द का विकृत रूप, मूल से इतना भिन्न नहीं हो जाना चाहिए कि

७५. सा. ९-४७ ।

७६. सा. ९-४८ ।

७७. सा. ९-४९ ।

७८. सा. ९-५० । ७९. सा. ९-५१ । ८०. सा. ५-४ । ८१. सा. ९-११४ ।

८२. सा. ३८२९ । ८३. सा. ३९५५ ।

सहज ही पहचाना न जा सके । सूरदास ने यद्यपि इन बात का ध्यान रखा है; फिर भी उनके कुछ विकृत शब्द, मूल रूप से भिन्न हो गये हैं कि दूसरे भिन्नार्थक शब्द का भ्रम हाता है । ऐसे रूप कही तो तुकात के लिए गढ़े गये हैं और कही, चरण के बीच, अनुप्रास की सगति मिलाने अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए ।

ख. तुकात के लिए विकृत रूप—ऐसे रूपों की संख्या सी से भी अधिक है; जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

- १ राजसूय मैं चरन पखारे स्याम लिए कर पानों^{५४} ।
- २ जूठनि की कछु सक न मानी, भच्छ किए सत नाई^{५५} ।
- ३ भयी सुरचि तैं उत्तम क्वार^{५६} ।
- ४ एक गाउँ के बसत कहाँ लौं करै नद की कानो^{५७} ।
५. मयनहारि सब ग्वारि बुलाई भोर भयो उठि मयो दह्यो^{५८} ।
६. सूर स्याम मुख कपट, हृदय रति, जुवतिनि के अति नर्म^{५९} ।
७. सुनि सूरदासहि भयो अनद, पूजी मन की साधिका^{६०} ।

उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त 'पानो' = पानी, 'भाई' = भाव, 'क्वार' = कुमार, 'कानो' = कानि = लज्जा, 'दह्यो' = दही, 'नर्म' = भ्रम, 'साधिका' = साध = कामना शब्द तुकात के लिए विकृत किये गये हैं । इनमें से कुछ रूपों से दूसरे अर्थों यथा पाणि = हाथ, भ्राता, क्वार मास, एक आँख की, जलाया, साधना करनेवाली—का भ्रम होता है । 'नर्म' रूप भी मूल से दूर हो गया है ।

ख. अनुप्रास, पाद-पूर्ति आदि के लिए विकृत रूप—इस वर्ग के रूपों की संख्या भी पर्याप्त है । इनमें से अधिकांश तो स्पष्ट हैं; परंतु दो-चार खटकते भी हैं, जैसे

१. भू भर हरन प्रगट तुम भूतल, गावत सत समाज^{६१} ।
२. बहुरि करि कोप हल अग्र पर नग्र धरि, गंग मैं डारि चाहत डुवायो^{६२} ।
३. सूरदास लछि दई कृपा करि टारी निधि न टरै^{६३} ।

इन वाक्यों में 'भर', 'नग्र' और 'लछि' क्रमशः 'भार', 'नगर' और 'लक्ष्मी' के विकृत रूप हैं । इनके मूल का पता पुरी पक्ति पढ़ने पर लगता है ।

७. अशुद्ध प्रयोग—तुकात-निर्वाह के लिए सूरदास ने व्याकरण के नियमों की भी उपेक्षा की है । ब्रजभाषा काल-रचना में अधिकान्त क्रियाएँ दोनों लिंगों में समान रूप से व्यवहृत होती हैं, परंतु 'तवारात' पुल्लिङ्ग रूप स्त्रीलिङ्ग में 'तिवारात' हो जाते हैं । सूरदास ने इस नियम का निर्वाह प्रायः सर्वत्र किया है; केवल तुकात के लिए दो चार स्थलों पर इसका उल्लंघन किया गया है; जैसे—

८४. सा १११ ।

८५. सा १-१३ ।

८६. सा. ४-९ ।

८७. सा. १०-३११ ।

८८ सा ५२० ।

८९. सा. १०३२ ।

९०. सा. १०७२ ।

९१. सा. १-२१५ ।

९२. सा. ४२०९ ।

९३. सा. ४२४२ ।

जैसे तृपावत जल अँचवत, वह तो पुनि ठहरात ।

यह राधा आतुर छबिले उर धारति नंकु नहीं तृपितात^{१४} ।

इस उदाहरण में राधा स्त्रीलिंग के साथ एक स्थान पर तो सूरदास ने 'धारत' पुल्लिंग क्रिया के स्त्रीलिंग-रूप 'धारति' का प्रयोग किया है; परन्तु चरणांत में 'ठहरात' की तुक निभाने के लिए राधा के लिए ही पुल्लिंग रूप 'तृपितात' ही चलने दिया है। यही बात नीचे के उदाहरण में भी देखने को मिलती है —

भीजत कुंजनि में दोउ नागर नागरि आवत ।

.....

वै हँसि ओट करत पीतावर, ये चूनरी उड़ावत^{१५} ।

यहाँ 'नागरि' के साथ 'उड़ावत' क्रिया पुल्लिंग रूप में प्रयुक्त हुई है; क्योंकि तुक का निर्वाह इसी रूप से हो सकता था ।

सूर-काव्य के भाषा-संबंधी दोषों की जो विवेचना ऊपर की गयी है, उसके संबंध में एक बात यह कही जा सकती है कि कवि, विशेषतः गीतिकार, को इनमें से बहुत सी बातों की स्वतंत्रता रहती है और प्रायः सभी कवियों ने इससे लाभ उठाकर ऐसे प्रयोग किये हैं। दूसरी बात यह है कि कवि को स्वयं सशोधन-परिवर्द्धन का अवसर न मिलने के कारण भी कुछ दोष उसकी भाषा में रह जाना संभव है, अन्यथा उनमें से अधिकांश इतने सामान्य हैं कि उनका सुधार बहुत सरलता से किया जा सकता था। तीसरे, लिपिकारों और संपादकों का सूर की भाषा को दोषयुक्त बनाने में कितना हाथ रहा है, इसके जानने का यद्यपि कोई साधन हमारे पास नहीं है, फिर भी सहस्रों पदों की सुसंगठित और प्रवाहपूर्ण भाषा देखकर यह अनुमान स्वभावतः होता है कि सामान्य दोषों की संख्या बढ़ाने का कुछ न कुछ दायित्व उन पर अवश्य है। जो हो, इन दोषों में से अधिकांश उन प्रसंगों पर लिखे गये पदों में मिलते हैं जिनमें कवि ने विशेष रुचि नहीं ली, जो कला की दृष्टि से सामान्य और शिथिल हैं एवं सूर-काव्य में जिनके रहने से कवि का महत्व घटता ही है, बढ़ना नहीं। काव्य-कला की दृष्टि से सूर-काव्य का जो महत्वपूर्ण अंश है, उसमें ऐसे दोषों की संख्या एक तो अपेक्षाकृत कम है; दूसरे, अन्य विशेषताओं के कारण छटकनेवाली सामान्य बातों की ओर पाठक का ध्यान प्रायः जाता भी नहीं। हिंदी-जगत में कवि की ख्याति का कारण उसके काव्य का यही भाग है। अतएव इसकी काव्यभाषा अपने गुणों के कारण सदैव समादृत रहेगी।

६. सांस्कृतिक दृष्टि से सूर की भाषा का महत्व

सूर और समकालीन समाज—कवि या लेखक समाज से कितना ही उदासीन क्यों न हो, अपने युग की सृष्टि और सामाजिक विचारधारा के सवध में कुछ न कुछ सकेत वह अपनी रचनाओं में कर ही देता है। यह ठीक है कि काव्य में ऐसा सामयिक चित्रण सागोपाग नहीं हो सकता और गीतिकाव्य में तो इसके लिए और भी कम अवकाश रहता है, परन्तु धर्म-प्राण देश की जनता के अत्यन्त प्रिय आराध्य की लाक-लीला को कवि सूर न जब अपनी रचना का विषय बनाया, तब अपने समय की सांस्कृतिक स्थिति का परिचय कराने का अवसर उसको स्वभावतः मिल गया। विभिन्न वर्गों के आचार-विचार, नियम-सिद्धांत, निष्ठा-विश्वास, धर्म और कला-सबधी उनकी मान्यताएँ समाज में प्रचलित रीतियों-नीतियों आदि विषयों से सवधिन सूरदास की शब्दावली का सक्लन करने पर हमें तत्कालीन जन-जीवन का अच्छा परिचय मिल जाता है।

सूरदास ने गोकुल-वृंदावन के ग्राम्य जीवन के चित्रण में जितनी रुचि दिखायी है, उतनी नागरिक जीवन का परिचय देने में नहीं। अयोध्या, मथुरा और द्वारका—प्राचीन भारत के इन तीन प्रमुख नगरों से सबद्ध अपने आराध्य की कथाएँ उमने गौण रूप में अपनायी हैं। इनमें से अयोध्या का तो उसने, एक प्रकार से नाम भर लिया है; मथुरा के राजमार्ग पर अपने इष्टदेव के साथ वह कुछ समय के लिए घूमा है और द्वारका में वासुदेव कृष्ण के ऐश्वर्य-वर्णन में भी उसकी रुचि कम ही रही है। अतएव नागरिक जीवन-सबधी उसके सकेत बहुत सामान्य हैं। हाँ, इन नगरों की वास्तुकला और वैभव-सम्पन्नता का वर्णन अवश्य उसने कुछ विस्तार से किया है।

सूरकाव्य में प्राप्त तत्कालीन सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने-वाली शब्दावली आगे के पृष्ठों में सक्लित है जिससे कवि के तद्विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान हो सके। सुविधा के लिए ऐसे शब्द-समूह को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—वातावरण-परिचायक शब्द, सामान्य जीवन-चर्या-सबधी शब्द और सांस्कृतिक जीवन-चर्या-सबधी शब्द।

क्ष वातावरण-परिचायक शब्द—सूरदास ने श्रीकृष्ण की उन लीलाओं का ही विशेष रूप से वर्णन किया है जो उन्होंने गोकुल और वृंदावन के गोपों गोपिकाओं के बीच में की थी। गो-पालन, गँवों की सेवा करना, वन वन जाकर उनको चराना, उनसे प्राप्त दूध-दही को या उममें बनाया दही-माखन का निवटवर्नी मथुरा नगर में जाकर बचना—ये ही उन गाव गाविया के दैनिक कार्य थे। उनका सारा समय प्रकृति के बीच ही बीतता था। उनका पारिवारिक और सामाजिक जीवन सुखी था। मथुरा

के राजा से उनका संबंध इतना ही था कि वे वर्ष में एक-दो बार जाकर कर दे आते थे । जीवन के इन सब अंगों के परिचायक जो वातावरण-सूचक शब्द सूर-काव्य में मिलते हैं, स्थूल रूप से, उनको चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक ।

क. भौगोलिक वातावरण-परिचायक शब्द—सूरदास ने जिन कीट-पतंगों, छुद्र जंतुओं, जलचरों, पक्षियों, पशुओं, पेड़-पौधों, फलों और फूलों की चर्चा की है, उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—

अ. कीट-पतंग तथा छुद्र जंतु—अलि^{११} (= चवरीक^{१२}, छपद^{१३}, भँवर^{१४}, मधुकर^{१५}, मधुप^{१६}, पटपद^{१७}), अहि^{१८} (= उरग^{१९}, नाग^१, ब्याल^२, भुअंग^३), खद्योत^४, झिली^५, दादुर^६, पिपीलिका^७, भृगी^८ और मूसा^९ ।

आ जलचर—कच्छप^{१०}, कमठ^{११}, ग्राह^{१२}, नक^{१३}, मकर^{१४} या मगर^{१५} और मीन^{१६} ।

इ. पक्षी—उलूक^{१७}, वपोत^{१८} या पारावत^{१९}, काग^{२०} या बायस^{२१}, कीर^{२२}, (= सुक^{२३}, सुवटा^{२४}, सुवा^{२५}), कुलाल^{२६}, केकी^{२७} (= मयूर^{२८}, मोर^{२९}), कोक^{३०} (= चक्रवाक^{३१}, चक्रवा^{३२}), कोकिल^{३३} (= कोकिला^{३४}, पिक^{३५}), खंजन^{३६} या खंजरीट^{३७}, गरुड़^{३८}, गीध^{३९}, चातक^{४०}, (= पपीहरा^{४१}, पपीहा^{४२}), चकोर^{४३}, तमचुर^{४४}, बग^{४५}, भरही^{४६}, मराल^{४७}, हंस^{४८}, लालमुर्नधा^{४९}, सचान^{५०}, सारस^{५१} और सारिका^{५२} ।

११. सा. ३५९९ ।	१२. सा. १०.२०५ ।	१३. सा. ३५९४ ।	१४. सा. २८५३ ।
१५. सा. ३५०३ ।	१६. सा. १०-२०७ ।	१७. सा. ३६०४ ।	१८. सा. ११५८ ।
१९. सा. ५७३ ।	१ सा. ३२६० ।	२. सा. ४१४१ ।	३. सा. ७४३ ।
४. सा. ९५० ।	५. सा. २८५३ ।	६. सा. ३३१३ ।	७. सा. १-१५२ ।
८. सा. १-३३९ ।	९. सा. २-१४ ।	१०. सा. २-५८ ।	११. सा. १-०२२१ ।
१२. सा. १-९९ ।	१३. सा. १-१०९ ।	१४. सा. ६२७ ।	
१५. सा. ९७६ ।	१६. सा. १.३३७ ।	१७. सा. १९२४ ।	
१८. सा. ७३९ ।	१९. सा. ४१६५ ।	२०. सा. ३१५२ ।	
२१. सा. ४२७६ ।	२२. सा. ७३९ ।	२३. सा. १०४९ ।	२४. सा. २-२६ ।
२५. सा. १-३४० ।	२६. सा. २-९ ।	२७. सा. २८५३ ।	२८. सा. ४१०५ ।
२९. सा. ६१५ ।	३०. सा. २८५३ ।	३१. सा. १०-४९ ।	३२. सा. ३३३२ ।
३३. सा. ६२२ ।	३४. सा. २८५३ ।	३५. सा. ६१५ ।	३६. सा. २६६७ ।
३७. सा. ११९७ ।	३८. सा. ५७३ ।	३९. सा. ९-६० ।	४०. सा. १०-२१८ ।
४१. सा. २८३० ।	४२. सा. ६२२ ।	४३. सा. १-२९९ ।	४४. सा. १०-२०२ ।
४५. सा. ३३२४ ।	४६. सा. ४१६९ ।	४७. सा. १०९१ ।	४८. सा. १-३३७ ।
४९. सा. १०-२४ ।	५०. सा. १-९७ ।	५१. सा. १०४९ ।	५२. सा. ३३६४ ।

ई. वसु - अज^{५३}, अजा^{५४}, ऊँट^{५५}, कपि^{५६} (= वानर^{५७}, मरकट^{५८}),
 करिनि^{५९} या गजिनी^{६०}, कुरग^{६१}, मिरग^{६२} (= मृग^{६३}, मृगा^{६४}), हरिनि^{६५}
 कूकर^{६६} या स्वान^{६७}, केहरि^{६८} या सिंह^{६९}, मर^{७०} या गर्दभ^{७१}, बुजर^{७२}
 (= गज^{७३}, गयद^{७४}, गय^{७५}, न.ग^{७६}, हाथी^{७७}, गाय^{७८} (= गो^{७९},
 धेनु^{८०}, गुरभी^{८१}), जबुक^{८२} (= सुगाल^{८३}, मियार^{८४}, स्यार^{८५}), तुरंग^{८६}
 (= तुरग^{८७}, तुरय^{८८}, हय^{८९}), वद्यरा^{९०}, वराह^{९१} (= वाराह^{९२},
 सूकर^{९३}), बसह^{९४}, (= बल^{९५}, वृष^{९६}, वृषभ^{९७}) बिलाव^{९८}, बृक^{९९},
 भैंसी^{१००}, मंजार^{१०१}, महिष^{१०२}, मेढ़ा^{१०३}, रिच्छ^{१०४}, लगूर^{१०५}, ममा^{१०६} ।

उ. पेड़ पीधे असोव^{१०७}, आम^{१०८} या रसान^{१०९}, कदव^{११०}, कदली^{१११}, करवीर^{११२},
 कुद^{११३}, कोविद^{११४}, ढाक^{११५}, तमाल^{११६} ताल^{११७}, तुलसी^{११८}, नीप^{११९},
 नीम^{१२०}, पलास^{१२१}, पीपर^{१२२}, बदरी^{१२३}, बट^{१२४}, मलय^{१२५}, मिवारि^{१२६} या
 सेवार^{१२७}, लवंग लता^{१२८} ।

ऊ. फल - अब^{१२९} (= अबुआ^{१३०}, रमाल^{१३१}, ककरो^{१३२}, खीरा^{१३३},

५३. सा. ४-५ ।	५४. सा १-१६६ ।	५५. सा २-१४ ।	५६. सा ९-१६६ ।
५७. सा ९-७५ ।	५८. सा ४१६९ ।	५९. सा २८६२ ।	६०. सा २९११ ।
६१. सा. २२८० ।	६२. सा १-२२१ ।	६३. सा. १-४९ ।	६४. सा ९-६० ।
६५. सा. ६१५ ।	६६. सा २-१४ ।	६७. सा ३७३० ।	६८. सा ९-६३ ।
६९. सा. १५५१ ।	७०. सा १-३३२ ।	७१. सा १-१६४ ।	
७२. सा १-११३ ।	७३. सा ५८९ ।	७४. सा ६१८ ।	७५. सा. १५५१ ।
७६. सा १-२८६ ।	७७. सा. ३६०४ ।	७८. सा १-५१ ।	७९. सा १०-२०२ ।
८०. सा ६११ ।	८१. सा. ६२० ।	८२. सा. ४१६९ ।	८३. सा ९.१५८ ।
८४. सा. १-४१ ।	८५. सा १-२८६ ।	८६. सा १५५० ।	८७. सा. १-२८६ ।
८८. सा. १५४९ ।	८९. सा. १५५१ ।	९०. सा. ६१९ ।	९१. सा. ६१५ ।
९२. सा १०-२२१ ।	९३. सा. २-१६ ।	९४. सा. ९७६ ।	९५. सा. १-३३१ ।
९६. सा. २-१४ ।	९७. सा १-२८६ ।	९८. सा २-१४ ।	९९. सा १-२०१ ।
१. सा. २-१४ ।	२. सा १६१८ ।	३. सा. ९७६ ।	४. सा ९७६ ।
५. सा. ९-७५ ।	६. सा ९-९६ ।	७. सा ४२०५ ।	८. सा. ९७५ ।
९. सा. ९२४ ।	१०. सा. २८४९ ।	११. सा ७८५ ।	१२. सा. १०९१ ।
१३. सा. १०९१ ।	१४. सा. ३३१४ ।	१५. सा. ३३१४ ।	१६. सा ९-४२ ।
१७. सा ६८८ ।	१८. सा. १०९१ ।	१९. सा १०९१ ।	२०. सा. ७८४ ।
२१. सा. ९२४ ।	२२. सा. २८५३ ।	२३. सा. १४८८ ।	२४. सा. १०९१ ।
२५. सा १०९१ ।	२६. सा १०९१ ।	२७. सा. १-९९ ।	२८. सा. ४१८३ ।
२९. सा. ३३१४ ।	३०. सा. २९१७ ।	३१. सा. २८५४ ।	३२. सा. २८४९ ।
३३. सा. ३२९६ ।	३४. सा. ४०४१ ।		

दाड़िम ३५, निबुआ ३६, श्रीफल ३७ ।

ए. फूल—अंबुज ३८ (= इंदोवर ३९, कज ४०, कमल ४१, कुसेसय ४२, जलज ४३, जलजात ४४, तामरस ४५, पुष्कर ४६, वारिज ४७, राजिव ४८, राजीव ४९, मत्तदल ५०, सरोज ५१), अतिसी ५२, कदंब ५३, कनि-
आरी ५४, कनीर ५५, कनेल ५६, करना ५७, कुद ५८, कुमुद ५९, कुमुदिनि ६०, कूजा ६१, केतकि ६२ या केलकी ६३, केवरा ६४, चंपक ६५, चमेलि ६६ या चमेली ६७, जूही ६८, टेसू ६९, निवारी ७०, पाटल ७१, बधूक ७२, बकुल ७३, बेला ७४, मरुआ ७५ या मरुवी ७६, माधवी ७७, मालती ७८, मोगरी ७९, सेमर ८० और सेवनी ८१ ।

कोट पतंगो, पशु-पक्षियों, पेड़ पौधों और फल-फूलों आदि के साथ साथ इनके प्रमुख अंगों-उपांगों या उनसे संबंधित अन्य पदार्थों की भी चर्चा सूरदास ने यत्र-तत्र की है । सम्मिलित रूप में यह सूची इस प्रकार है—अकुर ८२, अकुम ८३, अडा ८४, किजल्क ८५, केंचुरि ८६, चोच ८७, धन ८८, पख ८९, पराग ९०, मकरद ९१, परिमल ९२, पल्लव ९३, पांखि ९४, पिजरा ९५, भुस ९६, मंजरी ९७, मृनाल ९८, सांकर ९९, सुडि १, मृग २ और सौरभ ३ ।

३५. सा. ९-६३ ।	३६. सा. २९१७ ।	३७. सा. २८५४ ।
३८. सा. ११५९ ।	३९. सा. १८११ ।	४०. सा. १०-२१८ ।
४१. सा. १०-२०२ ।	४२. सा. १८११ ।	४३. सा. १०४९ ।
४४. सा. २७८९ ।	४५. सा. ५५४ ।	४६. सा. २८७५ ।
४७. सा. १८११ ।	४८. सा. १८१३ ।	४९. सा. २८७५ ।
५०. सा. १०९१ ।	५१. सा. १०९५ ।	५२. सा. २९०३ ।
५३. सा. १०९५ ।	५४. सा. १०९१ ।	५५. सा. १०-२०२ ।
५६. सा. १०९५ ।	५७. सा. २९०३ ।	५८. सा. २९१७ ।
५९. सा. १०७६ ।	६०. सा. २९१७ ।	६१. सा. १०९५ ।
६२. सा. २९०३ ।	६३. सा. २९१७ ।	६४. सा. २९११ ।
६५. सा. १०९५ ।	६६. सा. २९१७ ।	६७. सा. १०९५ ।
६८. सा. २८५४ ।	६९. सा. ३३१४ ।	७०. सा. २८४४ ।
७१. सा. १०९१ ।	७२. सा. ३३१४ ।	७३. सा. १०९५ ।
७४. सा. २९०३ ।	७५. सा. १०९१ ।	७६. सा. २९०३ ।
७७. सा. १-१०० ।	७८. सा. १०९५ ।	७९. सा. ३३१४ ।
८०. सा. ४०३७ ।	८१. सा. ४१५९ ।	८२. सा. ११६१ ।
८३. सा. ११५८ ।	८४. सा. ९-१६ ।	८५. सा. १-३३९ ।
८६. सा. ११५९ ।	८७. सा. ९-१६ ।	८८. सा. १-६० ।
८९. सा. ११५९ ।	९०. सा. ११५९ ।	९१. सा. २८५४ ।
९२. सा. १०-२४ ।	९३. सा. १-३३१ ।	९४. सा. २८५३ ।
९५. सा. ११९७ ।	९६. सा. ४०३७ ।	९७. सा. १-३३१ ।
९८. सा. २-२६ ।	९९. सा. २६१० ।	१००. सा. १-३३१ ।

इनके अनिश्चित ज्ञान और नगर के जिन भागों में मनुष्य वास और विचरण करता है, अथवा जिनमें किसी अन्य प्रकार से संबंधित है उनकी सूची भी मूल-शब्दों में मिलती है। ऐसे स्थानों में कुछ मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और कुछ प्रकृति द्वारा, जैसे—

अन्तारा^१, अटा^२ या अटारी^३, अवास^४, आसन^५, उपवन^६, बेंगूरानि^७,
बुज^{११}, बूप^{१२}, कोट^{१३}, छार्दे^{१४} खोह^{१५}, गुफा^{१६}, गुहा^{१७}, घाट^{१८},
छोलर^{१९}, डोंगर^{२०}, दह^{२१}, देहरी^{२२}, नगवति^{२३}, नदी^{२४}, सरिता^{२५},
परवन^{२६}, पुलिन^{२७}, फुलवारी^{२८}, बजार^{२९}, वन^{३०}, बन्ती^{३१},
बाइ^{३२} या बापी^{३३}, बाग^{३४}, बापिका^{३५}, बारी^{३६}, बिरिन^{३७}, बीधी^{३८},
भवन^{३९}, मठ^{४०}, महल^{४१}, मदन^{४२}, सना^{४३}, सरवर^{४४}, सरित्तापति^{४५}
(= उदधि^{४६}, सार^{४७}, निबु^{४८}), सेनु^{४९}, हाट^{५०} ।

स. पारिवारिक वातावरण-परिचायक शब्द—अग्रज^{५१} या दाऊ^{५२}, अर्बंगी^{५३},
(= धरनी^{५४}, निवा^{५५}, निरिवा^{५६}, पिय^{५७}, दारा^{५८}, पत्नी^{५९}, बनिता^{६०},
बान^{६१}, भामिनी^{६२}, अली^{६३} (सखी^{६४}, सजनी^{६५}, सहेलरी^{६६}, सहेली^{६७}),
कत^{६८} (= पति^{६९}, पिय^{७०}) गुरु भगिनी^{७१}, जननी^{७२} (महतारी^{७३} मा^{७४},
माई^{७५}, मातृ^{७६}, माना^{७७}, मानु^{७८}, मैया^{७९}) जमाता^{८०}, जार^{८१}, जेठी^{८२},

४. सा. ९-४ ।	५. सा. ३७८१ ।	६. सा. ९-१०० ।	७. सा. ९-८३ ।
८. सा. १८९३ ।	९. सा. १०-७८ ।	१०. सा. ३०२० ।	११. सा. २८५३ ।
१२. सा. ९-९६ ।	१३. सा. ४२६२ ।	१४. सा. ४२६२ ।	१५. सा. ३५३९ ।
१६. सा. १६१८ ।	१६. सा. ४०७६ ।	१८. सा. २८७४ ।	१९. सा. १-१६६ ।
२०. सा. ९२५ ।	२१. सा. ५३९ ।	२२. सा. १०-१३५ ।	२३. सा. ९-९६ ।
२४. सा. १०-३२ ।	२५. सा. २८३० ।	२६. सा. १०-३२ ।	२७. सा. २८३० ।
२८. सा. २८६४ ।	२९. सा. १० २८ ।	३०. सा. ४१६५ ।	३१. सा. ३५७९ ।
३२. सा. ९-९६ ।	३३. सा. १-१४० ।	३४. सा. ९-९१ ।	३५. सा. १०-२०५ ।
३६. सा. ९-६० ।	३७. सा. २८५३ ।	३८. सा. २८५३ ।	३९. सा. ९-४९ ।
४०. सा. ९-६६ ।	४१. सा. ३०२० ।	४२. सा. ९-५३ ।	४३. सा. ९-१६६ ।
४४. सा. ९-९६ ।	४५. सा. ९-१०४ ।	४६. सा. २८३० ।	४७. सा. १-११६ ।
४८. सा. ५४५ ।	४९. सा. ९-१२४ ।	५०. सा. १०-२८ ।	५१. सा. ३४६५ ।
५२. सा. ७५२ ।	५३. सा. ४२३० ।	५४. सा. ९ ७३ ।	५५. सा. ८०० ।
५६. सा. ३२७३ ।	५७. सा. ५६९ ।	५८. सा. १६१८ ।	५९. सा. ९-१२४ ।
६०. सा. १-५० ।	६१. सा. ९-४० ।	६२. सा. ९-११९ ।	६३. सा. १०-२४ ।
६४. सा. ९-४४ ।	६५. सा. ९-४४ ।	६६. सा. १०-४० ।	६७. सा. ९-९४ ।
६८. सा. २८५१ ।	६९. सा. १८७२ ।	७०. सा. ९-४४ ।	७१. सा. ९-१३७ ।
७२. सा. ९-५३ ।	७३. सा. १०-११ ।	७४. सा. ५९५ ।	७५. सा. ९-८१ ।
७६. सा. १०-२१९ ।	७७. सा. ९-४९ ।	७८. सा. ९-९४ ।	७९. सा. १०-१०१ ।
८०. सा. ९-२७ ।	८१. सा. १६१८ ।	८२. सा. ४२०५ ।	

डिम्ब^{८३}, ढोटा^{८४} (छोहरा^{८५}, पुत्र^{८६}, पूत^{८७}, बालक^{८८}, लरिका^{८९}, सुत^{९०}),
तनया^{९१}, दपति^{९२}, दास^{९३} (= भृत्य^{९४}, सेवक^{९५}), दासी^{९६} या लोडी^{९७},
देवर^{९८}, ननद^{९९} या ननदी^{१००}, ठाकुर^{१०१}, (= नाथ^{१०२}, स्वामी^{१०३}) नानी^{१०४},
परदेसिनि^{१०५}, पास परोसिनि^{१०६}, पाहुनी^{१०७}, पिता^{१०८} (= पितु^{१०९}, बाप^{११०}),
प्योसार^{१११}, वधु^{११२} या वधू^{११३}, भाई^{११४} (= भैया^{११५}, भ्रातृ^{११६}), बधू^{११७},
भगिनी^{११८} या भैनी^{११९}, मेहमान^{१२०}, सतान^{१२१}, सखा^{१२२}, सजन^{१२३}, समधी^{१२४},
ससुर^{१२५}, सहोदर^{१२६}, सास^{१२७} या सासु^{१२८}, सौमि^{१२९}, स्वामिनी^{१३०} ।

इनके अतिरिक्त 'गुसाई' शब्द का प्रयोग 'सूरसागर' के एक पद में पिता के लिए
आदरसूचक संबोधन के रूप में किया गया है—

होहु बिदा घर जाहु गुसाई, माने रहियौ नात ।

धकधकात हिय बहुत सूर उठि चले नद पछितात ।^{३३}

'तात' या 'ताता' का प्रयोग तो सूरदास ने पिता, पुत्र और प्रभु, तीनों अर्थों में
किया है; जैसे—

१. तात (= पिता) वचन रघुनाथ माथ धरि जब वन गौत कियौ^{३४} ।

२. सूनौ भवन सिंहासन सूनौ, नाही दसरथ ताता (= पिता^{३५}) ।

३. चौदह बरप तात (= पिता) की आज्ञा मोपै मेदि न जाई^{३६} ।

४. मिले हनु, पूछी प्रभु यह बात ।

महा मधुर प्रिय बानी बोलत, साखामृग तुम किहि के तात (= पुत्र)^{३७} ।

५. कहत नंद, जसुमति सुनि बात ।

८३. सा. १०-११७ ।

८४. सा. १०-३२ ।

८५. सा. १६१८ ।

८६. सा. ९-१५१ ।

८७. सा. १०-३२ ।

८८. सा. ९-४६ ।

८९. सा. १०-२२० ।

९०. सा. १-५० ।

९१. सा. २८३५ ।

९२. सा. २८५१ । ९३. सा. १०-२१८ । ९४. सा. १०-२०५ । ९५. सा. ३३१४ ।

९६. सा. ९-७९ । ९७. सा. ३६५२ । ९८. सा. ९-५४ । ९९. सा. १९२१ ।

१. सा. १९१६ । २. सा. ९-१५४ । ३. सा. ९-१५१ । ४. सा. १-१४८ ।

५. सा. ३४४२ । ६. सा. ९-७४ । ७. सा. १०-४० । ८. सा. १०-१८२ ।

९. सा. ९-९४ । १०. सा. १-२७५ । ११. सा. ३६५० । १२. सा. ९-१२४ ।

१३. सा. १-३३६ । १४. सा. ९-५४ । १५. सा. ९-५९ । १६. सा. १०-२१७ ।

१७. सा. ९-५२ । १८. सा. ९-८१ । १९. सा. ९-१७३ । २०. सा. १३६० ।

२१. सा. ३५१६ । २२. सा. १-५० । २३. सा. १०-२१९ । २४. सा. १८७२ ।

२५. सा. १-१५१ । २६. सा. ३५६६ । २७. सा. १-३३६ । २८. सा. १०-२७६ ।

२९. सा. १०-१३५ । ३०. सा. ९-४९ । ३१. सा. ९-१५२ । ३२. सा. ३१२४ ।

३३. सा. ९-४६ । ३४. सा. ९-४९ । ३५. सा. ९-५३ । ३६. सा. ९-६९ ।

अब अपने जिय सोच करति वत्त, जाके त्रिभुवन पति से तात (= पुत्र^{३७})
६. जानिहीं अब बाने की बात ।

भोसों पतित उधारो प्रभु जी, तो वदिहीं निज तात (= प्रभु^{३८}) ।

ग. सामाजिक वातावरण-परिचायक शब्द—अहीर^{३९}, अहीरि^{४०}, आभीर^{४१},
कनधार^{४२} (किवट^{४३}, धीवर^{४४}, मल्लाह^{४५}), कपालिक^{४६}, कहार^{४७},
कुलाल^{४८}, गधिनि^{४९}, गटिया^{५०}, गनिका^{५१} या वेस्या^{५२}, गारुडी^{५३},
चोलिनि^{५४}, जगा^{५५}, जमन^{५६}, जरैया^{५७}, जाचक^{५८}, जैनी^{५९}, जोगिनि^{६०},
जोगी^{६१}, ढाडिनि-ढाढी^{६२}, तपसी^{६३}, दरजिनि^{६४}, दरजी^{६५}, दाई^{६६},
दानव^{६७}, नट^{६८}, नाइनि^{६९}, निसाचर^{७०}, पसुपति^{७१}, पारधी^{७२},
बदोजन^{७३}, बटाऊ^{७४}, बडैया^{७५} (= बटई), वारिनि^{७६}, वैद्य^{७७}, ब्रह्म-
चारी^{७८}, भाट^{७९}, भिक्षुक^{८०}, महत^{८१}, महाबत^{८२}, मागध^{८३}, मालिनि^{८४},
माली^{८५}, रंगरेजिनि^{८६}, रजक^{८७}, राकस^{८८}, सनगुरु^{८९}, सुनहार^{९०},
सुनार^{९१}, सुनारि^{९२}, सूत^{९३} ।

घ. राजनीतिक वातावरण परिचायक शब्द—उजीर^{९४}, कटक^{९५} (= चमू^{९६},
दल^{९७}, फौज^{९८}, सेना^{९९} [चतुरंगिनि], सैन^{१००}), खवास^{१०१}, चर^{१०२}
(दून^{१०३}, धावन^{१०४}), छरीदार^{१०५}, जगाती^{१०६}, जमूस^{१०७}, जोधा^{१०८} (= भट^{१०९},

३७. सा. ९८६ ।	३८. सा. १-१७९ ।	३९. सा. ७४० ।	४०. सा. ३५४९ ।
४१. सा. ३७६८ ।	४२. सा. ९-८९ ।	४३. सा. ९-४० ।	४४. सा. ९-४२ ।
४५. सा. ३२९६ ।	४६. सा. ९-११ ।	४७. सा. ५-४ ।	४८. सा. ३७८१ ।
४९. सा. १०७५ ।	५०. सा. १०-४१ ।	५१. सा. २८५३ ।	५२. सा. २९१४ ।
५३. सा. ७४६ ।	५४. सा. १०७५ ।	५५. सा. १०-३९ ।	५६. सा. ९-११ ।
५७. सा. १०-४१ ।	५८. सा. १०-३० ।	५९. सा. ९-११ ।	६०. सा. ९-९१ ।
६१. सा. १-३५ ।	६२. सा. १०-३१ ।	६३. सा. ९-९४ ।	६४. सा. १०७५ ।
६५. सा. ३०४७ ।	६६. सा. १०-१६ ।	६७. सा. ९-१७४ ।	६८. सा. २३८९ ।
६९. सा. १०-४० ।	७०. सा. ९-९५ ।	७१. सा. ९-१६९ ।	७२. सा. १-९७ ।
७३. सा. १०-३५ ।	७४. सा. ३६७० ।	७५. सा. १०-४१ ।	७६. सा. १०-१९ ।
७७. सा. ९-३ ।	७८. सा. ४०९४ ।	७९. सा. १०-२८ ।	८०. सा. १०-३५ ।
८१. सा. ४०४५ ।	८२. सा. ४०३७ ।	८३. सा. १०-२८ ।	८४. सा. १०-३२ ।
८५. सा. ९-१०३ ।	८६. सा. २४८५ ।	८७. सा. ३०४८ ।	८८. सा. ९-७९ ।
८९. सा. ४०३७ ।	९०. सा. १०-४० ।	९१. सा. १०-४१ ।	९२. सा. १७७५ ।
९३. सा. १०-२८ ।	९४. सा. १-६४ ।	९५. सा. ९-१०६ ।	९६. सा. ३७६८ ।
९७. सा. ९-१५५ ।	९८. सा. १-१४४ ।	९९. सा. ३३१३ ।	१. सा. ९-१३६ ।
२. सा. १-१४१ ।	३. सा. २८४७ ।	४. सा. १-१४१ ।	५. सा. ३३२४ ।
६. सा. १-४० ।	७. सा. १५०८ ।	८. सा. ४२६७ ।	९. सा. ९-१०५ ।
१०. सा. ३३१३ ।			

सुभट^{११}, सूर^{१२}, सूरमा^{१३}, द्वारपाल^{१४}, नकीब^{१५}, नरपति^{१६},
(= नृप^{१७}, नृपति^{१८} भुवाल^{१९}, भुवाला^{२०}, भूप^{२१}, भूपति^{२२}, भूपाल^{२३},
महीपती^{२४}), राई^{२५}, राजा^{२६}, रानो^{२७}, परजा^{२८} या प्रजा^{२९}, पहरुआ^{३०},
पाटरानी^{३१}, पायक^{३२}, पौरिया^{३३}, प्रतिहार^{३४}, बन्दी^{३५}, वनैत^{३६} या
वानैत^{३७}, मन्त्री^{३८}, मोदी^{३९}, रखवारे^{४०}, रथी^{४१}, सारथी^{४२} या सूत^{४३}
और सुलतान^{४४} ।

मूरदास के समकालीन भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वाता-
वरण-परिचायक उक्त शब्दों को, मूर-काव्य में इनके प्रयोग की दृष्टि से, स्थूल रूप से
दो वर्गों में रखा जा सकता है । प्रथम वर्ग में भौगोलिक, पारिवारिक और सामाजिक
वातावरण सबधी शब्द आते हैं जो मूर-काव्य में सर्वत्र बिखरे मिलते हैं । द्वितीय वर्ग
में केवल राजनीतिक वातावरण का परिचय देनेवाले शब्द आते हैं जो 'मूरसागर' के
उन पदों में ही मिलते हैं जिनके वर्ण्य विषय की स्पष्टता के लिए साग रूपकों का
आश्रय लिया गया है और जिनकी सख्या बहुत ही कम है । पारिवारिक सबध और
सामाजिक वर्ग यों तो ग्राम और नगर, दोनों में समान रूप से होते हैं ; परन्तु मूरदास
ने इनमें से अधिकांश की चर्चा श्रीकृष्ण की गोकुल-वृंदावन-लीला के साथ ही की
है । यही कारण है कि पारिवारिक सबधों के लिए तत्सम शब्दों का व्यवहार कम
किया गया है और सामाजिक वर्गों में भी धनियो, महाजनों, व्यवसयियों आदि की
चर्चा मूर-काव्य में नहीं की गयी है । तात्पर्य यह है कि उक्त सूचियों से तत्कालीन
ग्राम्य वातावरण का तो मुख्य रूप से और नागरिक वातावरण का केवल गौण रूप से
ही परिचय मिलता है ।

त्र सामान्य जीवनचर्या-संबंधी शब्द—मूरदास की रचनाओं में लगभग एक
सहस्र शब्द ऐसे प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे तत्कालीन जीवन-चर्या का अच्छा परिचय मिलता
है । जन-जीवन के जिन अंगों से इनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सबध है, उनको सात वर्गों में
रखा जा सकता है—क. खानपान, ख. वस्त्र, ग. आभूषण, घ. व्यवहार की अन्य
वस्तुएँ, ङ. मनोविनोद, च. वाणिज्य-व्यवसाय और छ. लोकव्यवहार ।

११. सा. ९-९७ ।	१२. सा. १९४२ ।	१३. सा. २४६१ ।
१४. सा. १-१४१ ।	१५. सा. १-१४१ ।	१६. सा. ४१८३ ।
१८. सा. ४१८५ ।	१९. सा. ९-१०५ ।	२०. सा. १०-४ ।
२२. सा. ४१६२ ।	२३. सा. १६१८ ।	२४. सा. २९१३ ।
२६. सा. १-१४४ ।	२७. सा. १-११ ।	२८. सा. ९-५४ ।
३०. सा. १८५२ ।	३१. सा. ३१५० ।	३२. सा. १-१४१ ।
३४. सा. ४-१२ ।	३५. सा. ३७६८ ।	३६. सा. ४१६२ ।
३८. सा. ९-४६ ।	३९. सा. १-१४१ ।	४०. सा. ९-१०५ ।
४२. सा. ४१८३ ।	४३. सा. १-१४१ ।	४४. सा. १-१४५ ।

६ खानपान—सूर-काव्य में जिन जिन विषयों की सूचियाँ मिलती हैं, उनमें सबसे लंबी सूची भोज्य पदार्थों की है। इसके दो प्रमुख कारण जान पड़ते हैं। मुख्य तो यह है कि छप्पन प्रकार के भोजन तैयार करना जब हमारे यहाँ सामान्य मुहावरा रहा है, तब परम आराध्य के भोग के लिए, अपनी विनीत तथा श्रद्धामयी वृत्तगता प्रकट करते हुए जो पदार्थ उपस्थित किये जाते हैं, उनकी संख्या का पर्याप्त बढ जाना निनात स्वाभाविक ही माना जायगा। पुष्टिमार्गोंव 'सिवा' में भोज्य वस्तुओं की संख्या की बहुत अधिक महत्व दिये जाने के मूल में भी संभवतः उक्त मनावृत्ति ही है।

दूसरा कारण यह है कि प्रति दिन चार बार भगवान् का भोग लगना है और प्रति बार भव नहीं तो कुछ नये व्यजन अवश्य तैयार किये जाते हैं। इसी प्रकार रोज रोज के व्यजना में, स्वाद और पोष्टिकता, दाना दृष्टिसे, कुछ न कुछ नवीनता रखनी ही पड़ती है। तीज-त्याहारा और उत्सवा के अवसर पर तो यह संख्या और भी बढ जाती है।

सूरदास ने चार समय के भोजनों की चर्चा अपने काव्य में की है—कलेऊ, दोपहर का भोजन, छाक और सायकाल का भोजन या 'वियारी'। कलेऊ से तात्पर्य, प्रातः कालीन भोजन से है और 'छाक' दोपहर या तीसरे पहर उन ग्वाल-वालों के लिए भेजी जाती है, जो वन में गाय चराने के लिए जाते हैं। 'छाक' में कौन कौन पदार्थ रहते हैं, इसकी चर्चा सूर-काव्य में विस्तार से नहीं मिलती, शेष तीनों अवसरों से सम्बन्धित व्यजना की सूचियाँ सूरदास ने बड़े मनोबेग से प्रस्तुत की हैं। दही, माखन, मेवा, पकवान, मिठाइयाँ आदि पदार्थ तो प्रायः प्रत्येक समय के भोजन में मिलते हैं, परन्तु तरकारियाँ और फल कलेऊ में अधिक नहीं रहते, दोपहर और सायकाल के भोजनों में इनकी भरमार रहती है।

अ कलेऊ—सूरदास ने कलेऊ का वर्णन यों तो कई पदों में किया है, परन्तु उसके लिए प्रस्तुत भोज्य पदार्थों का पूर्ण ज्ञान केवल चार पदों से हो सकता है। पहले पद^{४५} में जिन पदार्थों की चर्चा है, वे हैं—अँदरसे, खजूरी, तिरलाडू (लोंग लगे), खुरमा, गालमसूरी, गूजा (पूर भरे), घृत-सूरी, घेवर- (घिरत चभोरे), जनेबो, दधि, दधिरा, दहिरीरी, दूध (अघावट), दूधवरा, पचकौरी, प्यूसर (सोठ मिरिच की), मधु, माखन, मालपुआ, मिठाई (खोवामय), मिसिरी, मोनीलाडू, लाडू, सक्करपारे, साढी, सीरा, सेव और हेसमि।

दूसरे पद^{४६} में कुछ व्यजन तो ऊपर दिये हुए ही हैं, नये ये हैं—आम, ऊख रस, केरा, खारिख, खीरा, खुबानी, खोपरा, खोवा, चिउरा, चिरीजी, दाख, पिराक, फेनी, श्रीफल, सफरी, मुहारी।

तीसरे पद^{४७} में उक्त व्यजनों में से कुछ के अतिरिक्त 'पटरस के मिष्टान्न' और

ये पदार्थ हैं—किसमिस, गरी, छुहारे, तरबूजा, पिस्ता, बादाम और रोटी । चौथे पद^{४८} में केवल खाजा और मटरी—दो ही नये पदार्थ हैं । कलेऊ के अन्त में तमोल^{४९} या बीरी^{५०} भी खिलायी गयी है ।

आ. दोपहर का भोजन—सूरदास ने दोपहर के भोजन में जो पदार्थ गिनाये हैं, उनमें से मुख्य ये हैं^{५१}—अगस्त की फरी, अँचार, अँदरसा, अदरख, इँडहर, इमली की खटाई, उभकौरी, ककरी, ककोरा, कचनार, कचरी, कचोर, कचौरी, कढी (खाटी), करवँदा, करील के फूल, करेला, कुनरू, केला, खाँड की खीर, खीचरी, खीरा, खोवा, गालमसूरी (मेवर और कपूर पड़ी), गोझा, घेवर, चने का साग, चिचिडा, चौराई, छाँछ, छुगारी, जलेबी, टेटी, ढरहरी (मूँग की, हींग पड़ी), तोरई, दही (मलाईदार), निबुआ, निमोना, पकौरी, परवर, पाकर की कली, पानोरा, पापर, पूरी, पेठा, फाँगफरी, फेनी (मिथी-दूध में मिली), बघुआ, बरा, (खट्टे, खारे, मीठे), बरी, बेसन-सालन, भाँटा-भरता (खटाई पड़ा), भात (पसाया हुआ, रामभोग भात), माखन (तुलसी पड़ा), मालपुआ, मुँगछी, रतालू, राइता, राम तरोई, रोटी (अजवाइन और सेंधा नमक पड़ी बेसन की रोटी), लाडू, लापसी, लुचई, सरसो (साग), सहिजना के फूल, सिखरन, सींगरी, सुहारी, सूरन, सेम, सेव, सोवा आदि । अन्त में 'पीरे पान पुराने बीरा' दिये जाते हैं ।

इ. बियारी—रात्रि के भोजन के लिए सूरदास ने 'बियारी' शब्द का प्रयोग किया है । 'सूरसागर' के एक पद^{५२} में 'बियारी' में निम्नलिखित व्यंजन गिनाये गये हैं—अँदरसा, अमिरती, इलाचीपाक, उरद की दाल, कढी, काचरी, कूरबरी, केरा, कौरी, खरबूजा (छिला हुआ), खरिफ, खाँड की खीर, खाजा, खूआ, गरी, गिदौरी, गुझा, गुडबरा, (कोरे और भिजे), गोदपाक, घेवर, चने की भाजी और दाल, चिचिडा, चिरोरी, चौराई, जलेबी, झोरी, तिनगरी, दाख, दूध, निमोना (बहुत मिरचदार), पतवरा, पनौ (पना), पापर, पालक, पिंड, पिंडारू, पिंडीक, पिठौरी पूआ (धी चभोरे), पेठापाक, पोई (नीबू निचुडी), पोर, फुलौरी, फेनी, बघुआ, बादाम, बनकौरा, बरी, बाटी, बेसन-दोने (बेसन के बने अनेक पदार्थ), बेसन-पूरी, भात (घृत सुगन्धि में पसाया नीलावती चाँवर), भिंडी, मसूर की दाल, मिथौरि, मूँग की दाल, मूँग पकौरा, मूरा (उज्जवल, चरपरे और मीठे), मेथी, रोटी, लापसी, लाह्ला, लावनि-लाडू, लुचई, लोनिका, सरसो, सीरा, मेव और सोवा । इनके अतिरिक्त 'हींग हरद त्रिच' के साथ तेल में छीके, तथा अदरख, आवरे और आव पड़े हुए कपूर से सुवासित अनेक सालन । अन्त में कपूर-वस्तूरी से सुवासित पान ।

४८. सा. ८१० । ४९. सा. १०-२११ । ५०. सा. १०-१८३ । ५१. सा. १२१३ ।

५२. सा. ३९६ ।

‘बियारी’ का वर्णन ‘सूरमागर’ के दो तीन पदों में और मिलता है । उनमें से एक^{५३} में खजूरी, गालमसूरी, दूधवरा, मोतिलाडू आदि तथा दूसरे^{५४} में अयानी, करोंदा, मैदा की पूरी, सूरन आदि नये व्यजन दिये गये हैं ।

बलेऊ, दोपहर का भोजन और ‘बियारी’ के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले उक्त व्यजनों के अतिरिक्त सूर-वाक्य में कुछ और भोज्य पदार्थों की भी चर्चा यत्र-तत्र की गयी है, जैसे—अन^{५५}, कदुआ^{५६} या कुम्हडा^{५७}, गोरस^{५८}, ज्वारि^{५९}, चिउरा^{६०}, तदुल^{६१}, तिल^{६२}, दधि ओदन^{६३}, धान^{६४}, मूली^{६५}, मोदक^{६६}, लहसुन^{६७} सानू-माग^{६८} ।

यह तो हुआ मनुष्यों का भोजन । राक्षसों के भोजन की चर्चा सूरदास ने नहीं की है । वानरो में हनुमान के भोजन की चर्चा एक स्थान पर अवश्य है । अशोकवाटिका में वे ‘अगणित तरह फल सुगव मृदुल मिष्ट खाटे’^{६९} से तृप्त होते हैं ।

भोजन के लिए प्रयुक्त होनेवाले मसालों में अजवाइन, खटाई, मिरच, सेंधा (नमक), हरद, हींग आदि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है । घनिया^{७०}, राई^{७१} और लोण^{७२} की चर्चा स्वतंत्र पदों में मिलती है । मेघ मसालों की सूची वाणिज्य की वस्तुओं के अन्तर्गत आगे दी जायगी ।

पेय पदार्थों में जल या नीर^{७३} और दूध तो सभी प्राणियों के लिए सामान्य रूप से आवश्यक होते हैं । स्त्री-पुरुष विशेष अवसरों पर, यथा होली में, वारुनी का उपयोग करते हैं, परन्तु निशाचर सदा मद-पान करते हैं^{७४} ।

ख वस्त्र—सूरदास ने वच्चों, स्त्रियों और पुरुषों के लिए जो वस्त्र गिनाये हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है । वच्चों के लिए बाछनी^{७५}, सगा या सगुली^{७६}, पिछोरी^{७७}, बगा^{७८} आदि; पुरुषों के लिए कमरी, कामरि^{७९}, कामरिया^{८०} या कामरी^{८१}, घोती^{८२}, और पित्तवर^{८३} या पीतावर^{८४}; और स्त्रियों के लिए अँगिया^{८५} (= कचुकि^{८६}, कचुकी^{८७}, चोनी^{८८}), अंतरीठा^{८९}, चूतरि^{९०}, चूतरी^{९१} या चूनी^{९२}, निचोल^{९३} निलावर^{९४}, लहंगा^{९५}—दच्छिनचौर

५३. सा. १०-२२७ ।

५४. सा. १०-२४१ ।

५५. सा. १०-३० ।

५६. सा. ८९२ । ५७. सा. ३६०४ । ५८. सा. १०-३३७ । ५९. सा. ३५२९ ।

६०. सा. १०-२१७ । ६१. सा. ४२२८ । ६२. सा. १९२४ । ६३. सा. ९-३६४ ।

६४. सा. ३६०४ । ६५. सा. ३२४१ । ६६. सा. २८६२ । ६७. सा. ३१५२ ।

६८. सा. ४१८० । ६९. सा. ९-९६ । ७०. सा. ३६०४ । ७१. सारा. न. पृ. २७ ।

७२. सा. ३६३९ । ७३. सा. ३९६ । ७४. सा. ९-७५ । ७५. सा. २८२६ ।

७६. सा. १०-३९ । ७७. सा. ९-२० । ७८. सा. १०-३९ । ७९. सा. १६१८ ।

८०. सा. ४५२ । ८१. सा. २८२६ । ८२. सा. ९८३ । ८३. सा. २८७७ ।

८४. सा. ३४४० । ८५. सा. १०५३ । ८६. सा. १६१८ । ८७. सा. २८२६ ।

८८. सा. २०१७ । ८९. सा. १-४४ । ९०. सा. २८३२ । ९१. सा. ७८४ ।

९२. सा. २८३१ । ९३. सा. १०४९ । ९४. सा. १०५५ । ९५. सा. १०४३ ।

तिपाई को लहंगा^{१६}—(पँचरंग) सारि^{१७} या सारी^{१८}, सूथन^{१९} आदि वस्त्रों का सूरदास ने विशेष रूप से उल्लेख किया है। उपरना या उपरैना का उल्लेख स्त्री और पुरुष दोनों के साथ हुआ है, जैसे—

१. (गोपाल) तुम्हारी माया महा प्रबल, जिहि सब जग बस कीन्हो (हो) ।

+

+

+

पहिरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहै हो^१ ।

२. लियो उपरना छीनि, दूरि डारनि अँटकायो^२ ।

३. लकुटी, मुकुट, पीत उपरैना लाल काछनी काछै^३ ।

इनमें से प्रथम उदाहरण में 'माया', दूसरे में 'गोपी' और तीसरे में श्रीकृष्ण को 'उपरना' या 'उपरैना' ओढ़े कहा गया है। अतः यह है कि अन्तिम में उसके साथ 'पीत' विशेषण है जो पीताम्बर की याद दिलाता है।

ऊपर जिन वस्त्रों का उल्लेख हुआ है, वे ग्राम और नगर के प्रायः सभी बच्चों, पुरुषों और स्त्रियों के लिए हैं। विशेष स्थिति में, वनवासी राम 'बलकल वसन' पहने और 'दृढ़ फेंट' बाँधे हैं^४। इसी प्रकार जोगियों के 'कथा पहनने' का उल्लेख 'सूरसागर' में है।

पहनने की अन्य वस्तुओं में, पैरो में पनही^५ या पाँवरि^६, तथा मर पर पगिया^७ और मुकुट^८ का उल्लेख सूरदास ने किया है।

ग. आभूषण—सूर-काव्य में जिन आभूषणों की चर्चा की गयी है, उनमें मुख्य ये हैं—अगद^९ (केपूर^{१०} या बाजूबंद^{११}), अँगूठी^{१२} (= मुदरी^{१३}, मुद्रा^{१४}, मुद्रिका^{१५}), ककन^{१६}, कठथी^{१७} या कठतिरी^{१८}, करन-फूल^{१९}, किकिनी^{२०}, कुडुवा^{२१}, खुठिला^{२२}, खुभि^{२३} या खुभी^{२४}, गजदंती^{२५}, गजमोतिनिहार^{२६}, घुँघरू^{२७} या नूपुर^{२८}, चुरी^{२९} या चूरी^{३०}, चूरा^{३१} या चूरी^{३२}, चीकी^{३३}, छुद्रघटिका^{३४},

१६. सा. २९०१ । १७. सा. १०४३ । १८. सा. १०-२४ । १९. सा. १ ५४ ।

१. सा. १-४४ । २. सा. १६१८ । ३. सा. २८२६ । ४. सा. ९-५८ ।

५. सा. ९-१९ । ६. सा. ९-५३ । ७. सा. २८७५ । ८. सा. २८२६ ।

९. सा. ४५९ । १०. सा. ५१३ । ११. सा. १५४० । १२. सा. ९-८६ ।

१३. सा. ९-८३ । १४. सा. ९-८८ । १५. सा. १०५३ । १६. सा. १०४३ ।

१७. सा. १०४३ । १८. सा. ११८० । १९. सा. १५४० । २०. सा. १०-१५१ ।

२१. सा. ११८० । २२. सा. १४७५ । २३. सा. २८२६ । २४. सा. १०५५ ।

२५. सा. २९०१ । २६. सा. ११८० । २७. सा. १०५६ । २८. सा. १०५५ ।

२९. सा. १०४३ । ३०. सा. ३२३० । ३१. सा. २९०१ । ३२. सा. २८२६ ।

३३. सा. १०४३ । ३४. सा. १५४० ।

छुद्रावलि ३५, मेखला ३६, जेहरि ३७, झुमका ३८, टाड़ ३९ (जराइ की)
 टीकी ४०, तरिवन ४१ या तरौन ४२, ताटक ४३, तिरनी ४४,
 तोकी ४५, दुलरी ४६, नक्वेमरि ४७, नय ४८, नौसरिहार ४९, पदिक ५०,
 पहुँचिया ५१ या पहुँचो ५२, पैजनी ५३, वनय ५४, बहूटा ५५, विछिना ५६,
 वेसरि ५७, भाला ५८, मानिकहार ५९, मुक्तामाल ६०, मोतिनिलर ६१,
 मोतीहार ६२, सीमकून ६३, हमेल ६४, हारावलि ६५ आदि। इन लाभू-
 पणों में से अधिकांश स्त्रियों के हैं। बच्चों के लिए किकिनी, कुडल, घुँघरू,
 छुद्रघटिका (छुद्रावलि या मेखला), पहुँचो, पैजनी, मुक्तामाल आदि के अतिरिक्त
 कटुला ६६ और वधनहा ६७ भी बताये गये हैं। पुरुषों के लाभूपणों में
 अगद या केयूर कुडल, मुद्रिका, मुक्तामाल या मोतीहार मुख्य हैं।

घ. व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ — दैनिक जीवन में उपयोगी जिन वस्तुओं की बर्चा
 सूर-वाच्य में है, स्थूल रूप से, उनका नौ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — अ.
 सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ, आ शासक वर्ग के उपयोग की वस्तुएँ, इ. पात्र,
 ई. धातु, उ रत्न, ऊ रंग, ए सुगन्धित पदार्थ, ऐ वाहन और ओ. अस्त्र शस्त्र।

अ सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ — ईंधन ६८, ऊखल ६९, ऐपन ७०,
 कापरा ७१, किवारा ७२, कुजी ७३, चूल्हा ७४, छरी ७५, झोरी ७६
 या झोली ७७, तारो ७८, तूल ७९, दर्पण ८०, दीप ८१ या दीपक ८२,
 दोना ८३, दोहनि ८४, पटरी ८५, पतिया ८६ या पातो ८७, पनवारे ८८,
 परदा ८९, पलंग ९० या प्रजक ९१, पलिका ९२, पालनी ९३, पावड़े ९४,

३५. सा. ५१२।	३६. सा. ४५१।	३७. सा. १०४३।
३८. सा. १०५७।	३९. सा. ४०६०।	४०. सा. १५४०।
४१. सा. २०२७।	४२. सा. १०-२४।	४३. सा. १०४३।
४४. सा. १५४०।	४५. सा. ५१२।	४६. सा. ३८१५।
४७. सा. १५४०।	४८. सा. ४५१।	४९. सा. ४५१।
५०. सा. १०-१५१।	५१. सा. १४७५।	५२. सा. १५४०।
५३. सा. १०५८।	५४. सा. ११८०।	५५. सा. १४७५।
५६. सा. १०४९।	५७. सा. ४५१।	५८. सा. १४७५।
५९. सा. १४७५।	६०. सा. १४७५।	६१. सा. २८४१।
६२. सा. १४७५।	६३. सा. १०-१५१।	६४. सा. १०-१५१।
६५. सा. ३७८१।	६६. सा. ४०९५।	६७. सा. १०-४०।
६८. सा. १०-४०।	६९. सा. १०-४०।	७०. सा. १०-४०।
७१. सा. ९-७६।	७२. सा. १८७२।	७३. सा. ९९५।
७४. सा. २८२६।	७५. सा. २८२६।	७६. सा. २८७२।
७७. सा. ३३१२।	७८. सा. १८७२।	७९. सा. ९-९७।
८०. सा. २८२६।	८१. सा. ९-१६४।	८२. सा. ६१९।
८३. सा. ३४९५।	८४. सा. ३१९०।	८५. सा. २८४०।
८६. सा. १०-८९।	८७. सा. १७२८।	८८. सा. १-२३९।
८९. सा. १-२३९।	९०. सा. ९-७५।	९१. सा. २६४९।
९२. सा. १०-४१।	९३. सा. ९-१६९।	

पीडा ^{१५}, पूतरी ^{१६}, पीत ^{१७}, प्रतिमा ^{१८}, बहनिया ^{१९}, मथानी ^१,
रेसम ^२, लकुट ^३ या लकुटिया ^४, सन ^५, सौंक ^६, सूत ^७, सूतरी ^८,
सेज ^९, हिंडोरना ^{१०} ।

आ. शासकों के उपयोग की वस्तुएँ—छत्र ^{११}, चमर ^{१२} या चँवर ^{१३}, चमू ^{१४} या
फौज ^{१५}, दरबार ^{१६}, घुजा ^{१७}, पताक ^{१८}, बैरख ^{१९}, सिंहासन ^{२०} आदि ।

इ पात्र—कटोरा ^{२१}, कटोरी ^{२२}, कमोर ^{२३} या कमोरी ^{२४}, कलस ^{२५}, कूंडी ^{२६},
कोपर ^{२७}, गागरि ^{२८}, घट ^{२९}, शारी ^{३०}, थार ^{३१}, थालिका ^{३२}, माट ^{३३},
मटकी ^{३४} ।

ई धातु और खनिज पदार्थ—इंगुर ^{३५}, कचन ^{३६} (= कनक ^{३७}, सोना ^{३८},
हाटक ^{३९}, हेम ^{४०}), काँच ^{४१}, खरि ^{४२}, गेरु ^{४३}, ताँबा ^{४४}, पारा ^{४५}, वदन ^{४६},
(सिंदूर ^{४७} या सेंदूर ^{४८}), रोरी ^{४९}, रूपा ^{५०} आदि ।

उ. रत्न—नीलम ^{५१}, पन्ना ^{५२}, पिरोजा ^{५३}, प्रवाल ^{५४} (= बिद्रुम ^{५५}, मँगा ^{५६}),
फटिक ^{५७} या स्फटिक ^{५८}, वज्र ^{५९} या हीरा ^{६०}, मनि ^{६१}, मरकत ^{६२},
मानिक ^{६३}, मुक्ता ^{६४} या मोती ^{६५}, लाल ^{६६} ।

१५. सा. १०-५० ।	१६. सा. १०-४० ।	१७. सा. ३६९० ।
१८. सा. २८२६ ।	१९. सा. १०-३३७	१. सा. ३६१८ ।
२. सा. १०-४१ ।	३. सा. २८७४ ।	४. सा. २८९५ ।
५. सा. ९-९७ ।	६. सा. १०-२४ ।	७. सा. ९-९७ ।
८. सा. ३६९० ।	९. सा. २६५० ।	१०. सा. २८३० ।
११. सा. ९-१६० ।	१२. सा. १६१८ ।	१३. सा. ३७६८ ।
१४. सा. २७८५ ।	१५. सा. २९०४ ।	१६. सा. ९-१६० ।
१७. सा. २८६२ ।	१८. सा. १-४० ।	१९. सा. ३८१५ ।
२०. सा. २८६६ ।	२१. सा. १५४८ ।	२२. सा. ३९६ ।
२३. सा. २८६६ ।	२४. सा. १५४८ ।	२५. सा. २८२६ ।
२६. सा. ९-१६९ ।	२७. सा. २८९२ ।	२८. सा. ३७८१ ।
२९. सा. १०-१७ ।	३०. सा. १२२ ।	३१. सा. १०-२४ ।
३२. सा. २८५४ ।	३३. सा. १०-४ ।	३४. सा. १०-४२ ।
३५. सा. १०-१५१ ।	३६. सा. १०-२१८ ।	३७. सा. १६१८ ।
३८. सा. ३१५२ ।	३९. सा. ३०९२ ।	४०. सा. ३५७७ ।
४१. सा. ३१५२ ।	४२. सा. २५१९ ।	४३. सा. १०-४० ।
४४. सा. २८३२ ।	४५. सा. ४१८६ ।	४६. सा. १०-८४ ।
४७. सा. २८३२ ।	४८. सा. ३२३५ ।	४९. सा. २८३५ ।
५०. सा. २८४१ ।	५१. सा. १०-४१ ।	५२. सा. २८४१ ।
५३. सा. २८३३ ।	५४. सा. ९-१२४ ।	५५. सा. १०-८४ ।
		५६. सा. १०-८४ ।

ऊ रंग अरुन^{६७} (राता या राती^{६८}, लाल^{६९}, लोहित^{७०}), उज्ज्वल^{७१} या गौर^{७२}, कुसुभी^{७३}, धवल^{७४} (= सिन^{७५}, सेत^{७६}, स्वेत^{७७}), नील^{७८}, पियरी^{७९}, पीत^{८०}, पीरी^{८१}, स्याम^{८२} या स्यामल^{८३}, हरित^{८४} या हरी^{८५} आदि ।

ए. सुगन्धित पदार्थ—अरगज^{८६} या अरगजा^{८७}, कपूर^{८८}, कस्तूरी^{८९} या मृगमद^{९०}, कुमकुम^{९१}, केसर^{९२}, चंदन^{९३}, चोवा^{९४}, फुलेल^{९५} । इन सभी पदार्थों का उल्लेख प्रायः शृंगार-सज्जा के प्रसंग में हुआ है । इनके अतिरिक्त जावक^{९६}, महाउर^{९७} या महावर^{९८} का उल्लेख भी हुआ है यद्यपि विनिष्ट सुगन्धित पदार्थों में उसकी गिनती नहीं है ।

ऐ वाहन—जहाज^{९९}, नाव^{१००} या नौका^{१०१}, विमान^{१०२}, रथ^{१०३} या स्यदन^{१०४} आदि ।

ओ अस्त्र-शस्त्र—असि^{१०५} (= करवार^{१०६}, खड्ग^{१०७}), (लोहजटित) आगर^{१०८}, वमान^{१०९} (= कोदड^{११०}, चाप^{१११}, धनु^{११२}, धनुष^{११३}, पिनाक^{११४}, सरासन^{११५}), कवच^{११६} या सनाह^{११७}, कुत^{११८} या नेजा^{११९}, गदा^{१२०}, गोला^{१२१}, चक्र^{१२२}, धुरी^{१२३}, तूनीर^{१२४} या निपग^{१२५}, दारु^{१२६}, दिव्यवान^{१२७}, पनच^{१२८}, पलीता^{१२९}, वज्र^{१३०}, वरछी^{१३१}, बान^{१३२}, तीर^{१३३} (= सर^{१३४}, सायक^{१३५}),

६७. सा. २८३२ ।	६८. सा. २८७३ ।	६९. सा. २८३१ ।	७०. सा. २८६३ ।
७१. सा. १९१२ ।	७२. सा. २८२२ ।	७३. सा. १९९१ ।	७४. सा. २८४६ ।
७५. सा. २८६९ ।	७६. सा. ७८४ ।	७७. सा. २८३१ ।	७८. सा. २८३१ ।
७९. सा. १०-१५१ ।	८०. सा. २८३२ ।	८१. सा. २८७३ ।	८२. सा. २८३२ ।
८३. सा. २८३३ ।	८४. सा. १९१२ ।	८५. सा. २८३२ ।	
८६. सा. १९०१ ।	८७. सा. २०१० ।	८८. सा. ३१५२ ।	८९. सा. ४२५२ ।
९०. सा. ४१८६ ।	९१. सा. २६४७ ।	९२. सा. ४१८५ ।	९३. सा. १०-४० ।
९४. सा. २८५४ ।	९५. सा. ३८१५ ।	९६. सा. २५२२ ।	९७. सा. २६२४ ।
९८. सा. ११८० ।	९९. सा. ३८१८ ।	१. सा. ९-८९ ।	२. सा. १-९९ ।
३. सा. २८३० ।	४. सा. ९-४६ ।	५. सा. ४१६५ ।	६. सा. २८२६ ।
७. सा. ४२२१ ।	८. सा. १-१४४ ।	९. सा. ९-९६ ।	१०. सा. ४२६७ ।
११. सा. ३०४९ ।	१२. सा. ९-१५८ ।	१३. सा. ९-४४ ।	१४. सा. ९-५८ ।
१५. सा. ९-९१ ।	१६. सा. २८४६ ।	१७. सा. २८४७ ।	१८. सा. ३३१३ ।
१९. सा. ९-७५ ।	२०. सा. १९८६ ।	२१. सा. ४२२१ ।	२२. सा. ४२६७ ।
२३. सा. ९-१५८ ।	२४. सा. ३१८५ ।	२५. सा. ९-४४ ।	२६. सा. २८४७ ।
२७. सा. ४२६७ ।	२८. सा. ९-९६ ।	२९. सा. ३०३९ ।	३०. सा. ४२६७ ।
३१. सा. ४१८३ ।	३२. सा. ४२२१ ।	३३. सा. ४१८३ ।	
३४. सा. २२३९ ।	३५. सा. ९-९१ ।	३६. सा. ९-१५८ ।	

ब्रह्मकांस^{३७}, ब्रह्मवान^{३८}, भुगदर^{३९}, मुसल^{४०}, सक्ति^{४१}, साँग^{४२}, सिर-
स्वान^{४३}, सूल^{४४}, हल^{४५} आदि ।

ड. खेल और व्यायाम - सूरदाम के अनुसार कृष्ण और उनके सखा सबसे पहले 'दौड़' का खेल खेलते हैं । 'तारी' देकर सब सखा भागते हैं और श्याम उन्हें धूने को दौड़ते हैं^{४६} । कभी कभी वे 'आँखमुदाई' खेलते हैं^{४७} । श्रीकृष्ण की आँख मूँद कर माता यशोदा उसके कान में बलराम के छिपने का स्थान बता देती है, परन्तु श्रीकृष्ण अपनी होड़ श्रीदामा से मानकर उसी को दौड़कर पकड़ लेते हैं और उसे 'चोर' बना देते हैं^{४८} । गैया चराने जाने पर मैदान में उन्हें गेंद खेलने की इच्छा होती है और तब श्रीदामा जाकर गेंद ले आता है^{४९} । गेंद खेलने का ढंग भी बिल्कुल सीधा-सादा है । एक भागता है, दूसरा गेंद मारता है तीसरा रोकता और फिर मारता है, इसी तरह खेल चलता रहता है^{५०} । भौरा-चक-डोरी से भी उनका पर्याप्त मनोरंजन होता है^{५१} । बच्चों को पतंग उड़ाने का भी शौक रहता है । सूरदास ने कृष्ण और उनके सखाओं से पतंग तो नहीं उड़वायी है, परन्तु गुड़ी-डोर^{५२} की चर्चा अवश्य की है जिससे स्पष्ट होता है कि उनके समय में मनोरंजन का यह भी एक साधन था ।

ये तो हुए श्रीकृष्ण के बाल्यकाल के खेल । युवावस्था में वे घोड़े पर चढ़कर चींगल खेलते हैं । सभी खिलाड़ी उच्चैःश्रवा-जैसे घोड़ों पर सवार होकर आते हैं । दो दल बटते हैं और कंदुक से खेल शुरू हो जाता है^{५३} ।

इनके अतिरिक्त हेलुआ या जलकेलि की गणना किशोरावस्था और युवावस्था के खेलों में की जा सकती है । सूरदास ने इसका वर्णन अनेक पदों में बड़े विस्तार से किया है । रास के उपरान्त श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ जलक्रीड़ा करती हैं । किसी को जरा भी भय नहीं है^{५४} । वे परस्पर जल छिड़कती हैं^{५५} । कृष्ण और राधा 'वाहीजोरी' खड़े होते हैं; अन्य सखियों में कोई जाँघ तक जल में है, कोई कमर, कोई हृदय और कोई गले तक^{५६} । जलबिहार का विनोदमय सुख सबको पुलकित कर देता है^{५७} ।

यों तो ऊपर के सभी खेलों से मनोरंजन के साथ साथ व्यायाम भी हो जाता है, परन्तु कंस के मल्लों की 'मल्लक्रीड़ा' में व्यायाम का भाव जितना है, उतना मनोरंजन का नहीं । बलराम और कृष्ण जब बड़े बड़े मल्लों को हरा देते हैं तब यह मानना पड़ता है कि उन्होंने भी 'कुश्ती' का अभ्यास किया होगा, यद्यपि सूर ने इसकी चर्चा नहीं की है । और 'सूरसागर' में रावण के योद्धा तो लका में ठीर-ठीर पर 'कुत-असि-वान' का निरंतर अभ्यास करते ही हैं^{५८} ।

३७. सा. ९-१०४। ३८. सा. ९-९७। ३९. सा. ९-१०४। ४०. सा. ४१८३।
४१. सा. ४१६२। ४२. सा. ४१८३। ४३. सा. ९-१५८।
४४. सा. ४१६२। ४५. सा. ४१८३। ४६. सा. १०-२१३। ४७. सा. १०-२३९।
४८. सा. १०-२४८। ४९. सा. ५३२। ५०. सा. ५३३। ५१. सा. ६६९।
५२. सा. २८८१। ५३. सा. ४१६६। ५४. सा. ११५७। ५५. सा. ११५८।
५६. सा. ११६२। ५७. सा. ११६१। ५८. सा. ९-७५।

च वाणिज्य-व्यवसाय—नागरिक जीवन के चित्रण की ओर अधिक ध्यान न देने के कारण सूरदास ने अपने काव्य में तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय की चर्चा नहीं की है। 'दान-लीला' प्रसंग के एक पद ५१ में उन्होंने व्यापार-योग्य ऐसी वस्तुओं की एक सूची दी है जो पसारी के यहाँ मिलती हैं और जिनमें अधिकांश मसाले हैं; यथा—अजवाइन, आलमजीठ, कटजारा, कायफर, कूट, घिरइता, दाख, नारियर, पीपरि, बहेरा, बाइबिडग, मिरिच, लाख, लींग, सुपारी, सेंदुर, सोठि, हरें और हींग ।

माल ६० को मोल लेने के लिए पास में कौड़ी ६१, टका ६२ या दाम ६३ तो चाहिए ही, एक चीज के बदले में दूसरी चीज भी, सूरदास के अनुसार, ली जा सकती है, यदि दोनों समान उपयोग या मूल्य की हों। मूली के पत्तों के बदले मुक्ताहल कोई नहीं दे सकता—

मूली के पातन के बवैना को मुक्ताहल दैहैं ६४ ?

छ सामान्य लोकव्यवहार—या तो भोजन के पहले बनक-यार में हाथ धुलाना ६५—जैसी सामान्य व्यवहार-सवधी अनेक बातें सूर काव्य में बिखरी मिलती हैं, परन्तु इस शीर्षक के अंतर्गत केवल दो मुख्य विषया से सम्बन्धित शब्दों का ही संकलन करना लेखक का अभिष्ट है—अ. शिष्टाचार और आ. स्वागत-सत्कार ।

अ. शिष्टाचार—दूसरा के प्रति शिष्टाचार-प्रदर्शन के उद्देश्य से, सूर-काव्य में जिन नमस्कारात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से जुहारा, दंडवत, नमस्कार, नमस्ते, पालागन, प्रनाम आदि मुख्य हैं, जैसे—

१. सूर आकासवानी भई तबैं तहैं, यहै बँदेहि है, कर जुहारा ६६ ।
२. देखि मुख्य सकल कृष्णाकृति, कीनी चरन जुहारी ६७ ।
३. जामवत सुग्रीव विभीषन करी दंडवत आइ ६८ ।
४. नमस्कार मेरी जदुपति सौं कहियाँ परि के पाई ६९ ।
५. नमो नमस्ते बारवार । मधुसूदन गोविंद पुकार ७० ।
६. लछिमन पालागन कहि पठयाँ, हेत बहुत करि माता ७१ ।
७. ये बसिष्ठ कुल-इष्ट हमारे, पालागन कहि सखनि सिखावत ७२ ।
८. भरत सत्रुहन कियो प्रनाम, रघुवर तिन्ह कठ लगामी ७३ ।
९. तब परनाम कियो अति रुचि सौं, अरु सबहिनि करि जोरे ७४ ।

उक्त सभी शब्द पूज्य व्यक्तियों के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं,

-
५९. सा. १५२८ । ६० सा. १५२६ । ६१. सा. १५४५ । ६२. सा. १९७२ ।
 ६३. सा. १९७२ । ६४. सा. ४२४७ । ६५ सा. ३९६ । ६६. सा. ९-७६ ।
 ६७ सा. ८-१४ । ६८ सा. ९-१६१ । ६९ सा. ४१६० । ७०. सा. ४३०१ ।
 ७१ सा. ९-८७ । ७२ सा. ९-१६७ । ७३. सा. ९-५५ । ७४. सा. ३४८१ ।

परंतु एक पद में पुत्र को मनाती हुई यशोदा 'पालागों' का प्रयोग करती है जिसमें खोजी हुई माता के हृदय का व्यंग्य प्रकट होता है—

(आछे मेरे) लाल हो, ऐसी आरि न कीजै ।

पालागों हठ अधिक करो जनि, अति रिस ते तन छोजै ७५ ।

बड़ो को प्रणाम करने पर उनसे आशीर्वाद भी मिलता है । लक्ष्मण के 'पालागन' के उत्तर में सीता जी 'असीस' देती है—

दई असीस तरनि सन्मुख ह्वै, चिरंजीवी दोउ भ्राता ७६ ।

आ. स्वागत-सत्कार—यो तो सूर-काव्य में अनेक स्थलों पर स्वागत-सत्कार का वर्णन किया गया है, परंतु ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त मामग्री की जानकारी के लिए केवल तीन स्थलों की चर्चा करना पर्याप्त होगा—वनवास के पश्चात् अयोध्या लौटने पर श्रीराम का स्वागत, श्रीकृष्ण का सदेश लेकर आनेवाले उद्धव का गोपियों द्वारा स्वागत, और अकूर द्वारा श्रीकृष्ण का स्वागत ।

श्रीराम के वन से लौटने पर अयोध्या में स्वागत का जो आयोजन किया जाता है वह इस प्रकार है —

जब सुन्यो भरत पुर निकट भूप । तब रची नगर रचना अनूप ।
प्रति प्रति गृह तोरन ध्वजा धूप । सजे सजल कलस अरु कदलि यूप ।
दधि दूध हरद फल फूल पान । कर कनक थार तिय करति गान ।
सुनि भेरि वेद-धुनि संख नाद । सब निरखत पुलकित अति प्रसाद ७७ ।

+

+

+

दधि फूल दूध कनक कोपर भरि, साजत सौज विचित्र बनाई ।
वरन बरन पट परत पाँवड़े, बोलिनि सकुच सुगंध सिंचाई ।
पुलकित रोम हरष गदगद स्वर, जुवतिनि भगलगाथा गाई ।
निज मंदिर में आनि तिलक दै, द्विजगन मुदित असीस सुनाई ७८ ।

उद्धव के व्रज आने पर गोप-गोपियाँ उनके स्वागत का इस प्रकार आयोजन करती हैं—

व्रज घर-घर सब होत बधाइ ।

कंचन कलस दूध दधि रोचन लै वृंदावन आई ।

मिलि व्रजनारि तिलक सिर कीनी, करि प्रदक्षिणा तामु ७९ ।

+

+

+

अर्घ्य आरती साजि तिलक दधि माथे कीन्यौ ।
 कचन कलस भराइ और परिकरमा दीन्यौ ।
 गोप भीर आँगन भई, मिलि बैठी सब जाति ।
 जलझारी आगे धरी, पूछत हरि कुसलाति^१ ।

मुफलक-सुत अमूर को श्रीकृष्ण के शुभागमन की ज्यो ही सूचना मिलती है, वह—
 मिल्यौ सु आइ पाइ सुधि मग मैं बार बार परि पाइ ।
 गयी लिवाइ सुभग मंदिर मैं, प्रेम न बरन्यौ जाइ ।
 चरन पखारि धारि जल सिर पर, पुनि पुनि दृगनि लगाइ ।
 विविध सुगंध चीर आभूषण, आगे धरे बनाइ^२ ।

सारांश यह है कि परम प्रिय या पूज्य व्यक्ति के शुभागमन पर गृह-तीरण सजाना, जलभरे कचन कलस प्रस्तुत करना, कदलि-यूप बनाना, बनक-याल या कोपर में दधि-दूब-रोचन-फल-फूल-पान आदि लेकर युवतियों का मंगलगान करना, वेद-पाठ होना, भेरि-शस्त्र-ध्वनि करना, बरन बरन के पट-पाँवड़े बिछाना, शीथियों को सुगंध से सिंचना आदि आयोजना की चर्चा मूर-काव्य में मिलती है । पश्चात् प्रिय या पूज्य व्यक्ति का दर्शन होने पर उसको अर्घ्य देकर, चरणामृत को सिर और दृगो से लगाकर, आरती करके, दधि का तिलक माथे पर लगाकर, 'प्रदच्छिना' या 'परिकरमा' करने का भी उसमें उल्लेख है । अतः मे शक्ति और श्रद्धा के अनुसार सुगंध-चीर-आभूषण आदि प्रस्तुत किये जाते थे । निस्संदेह स्वागत का ऐसा उत्साहपूर्ण आयोजन उभय पक्षों का हृदय पुलकित करने में समर्थ होता है ।

ज्ञ सांस्कृतिक जीवन-चर्या संबंधी शब्द—मस्त्रुति का संवध मुख्य रूप से समाज की आंतरिक विचारधारा से होता है । स्थूल रूप से इसके अंतर्गत जन साधारण के सामाजिक, पौराणिक, धार्मिक तथा अन्य विश्वास, पर्व-उत्सव योजना, संस्कार संबंधी कृत्य, कला-कौशल आदि विषय आते हैं । इनमें संबंधित, मूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दावली का सफल इस उद्देश्य से यहाँ करना अभीष्ट है जिससे कवि के समकालीन हिंदू समाज की सांस्कृतिक जीवन चर्या का संक्षिप्त स्वरूप, उनकी भाषा के आधार पर, प्रस्तुत की जा सके ।

क. सामाजिक विश्वास—मूरदास ने जो तो समाज-संगठन, वर्ण व्यवस्था या वर्ण-महत्ता आदि के संवध में वही विचार नहीं किया और—

सनु-मित्र हरि गनत न दोइ । जो मुमिरै ताकी गति होइ ।

‘ + + +

राव-रक् हरि गनत न दोइ । जो गावहि ताकी गति होइ^३ ।

जैसे वाक्य लिखकर वर्णों के ऊँच-नीच के भेद को जड़-मूल में ही उड़ा दिया, परन्तु

एक पद में श्रीकृष्ण और कुब्जा के संग की अनुपयुक्तता पर विचार करते करते गोपियों के मुख से उन्होंने कहलाया है— काग-हस, लहसुन-कपूर, काँच-कंचन, गेरू-सिंदुर के मग की तरह तो कुब्जा और कृष्ण की संगति अनुपयुक्त है ही, उनका साथ उस तरह से खटकनेवाला है; जैसे —

भोजन साथ सूद्र वाम्हन के, तैसौ उनको साथ^{८३} ।

कवि और भक्त सूर की उदारता को दर्शानेवाला यह वाक्य ब्राह्मण को श्रेष्ठ और सूद्र को नीच माननेवाली जन-मनोवृत्ति का ही परिचायक है ।

ख. पौराणिक विश्वास—सूरदास ने पौराणिक विश्वास के अनुसार श्रीकृष्ण को पर-ब्रह्म का अवतार माना है और उनके लिए अविगत^{८४}, अविनासी^{८५}, कला-निधान^{८६}, जगतगुरु^{८७}, जगतपिता^{८८}, जगदीश^{८९}, जगन्नाथ^{९०}, जगपाल^{९१}, दीनानाथ^{९२}, पुरु-पोत्तम^{९३}, बिस्वभर^{९४}, मधुसूदन^{९५}, सकल गुण-सागर^{९६}, सुखसागर^{९७}, सुरसाई^{९८}, आदि बड़े व्यापक अर्थवाले शब्दों का प्रयोग किया है। यों तो 'आदि निराकार' के चौबीस अवतारों को गिनाना वे नहीं भूले हैं^{९९}, परंतु श्रीराम और श्रीकृष्ण की एवता की चर्चा उन्होंने बड़े विस्तार से की है—

इंद्रादि देवता स्तुति करते हैं—

जै गोविंद माधव मुकुंद हरि । कृपा-सिंधु कल्याण कंस-अरि ।
प्रणतपाल केसव कमलापति । कृष्ण कमल-लोचन अगतिनि गति ।
रामचंद्र राजीव नैन वर । सरन साधु श्रीपति सारंगधर ।
वनमाली वामन वीठल बल । वामुदेव वासी-नृज-भूतल ।
खर दूखन त्रिसिरासुर खड्ग । चरन-चिन्ह दडक भुव मडन ।
वक्की-दवन बक-बदन विदारन । वरुन विषाद नद निस्तारन ।
रिषि मय ज्ञान ताड़क-तारक । बन बसि तात वचन प्रतिपालक ।
काली दवन केसि कर पातन । अघ अरिष्ट धेनुक अनुघातन ।
रघुपति प्रबल पिनाक-विभंजन^{१००} । जग हित जनकसुता मन रजन ।
गोकुल पति गिरिधर गुणसागर । गोपी रवन रास रति नागर ।
करुणामय कपिकुल हितकारी । बालि विरोधि कपट मृग हारी ।
गुप्त गोप कन्या व्रत पूरन । द्विज नारी दरसन दुख चूरन ।
रावन कुंभकरन मिर छेदन । तरुवर सात एक सर भेदन ।

८३. सा. ३१५२ ।

८४. सा. १-२६९ ।

८५. सा. १-२६९ ।

८६. सा. १-७ ।

८७. सा. १-३ ।

८८. सा. १-३ ।

८९. सा. १-३ ।

९०. सा. १०-१६२ ।

९१. सा. १-१६५ ।

९२. सा. १-२२ । ९३. सा. १-२६९ । ९४. सा. २६५१ । ९५. सा. ४२२६ ।

९६. सा. १-२२१ । ९७. सा. १-२२ । ९८. सा. १-३०७ । ९९. सा. २-३६ ।

संख चड चानूर सेंहारन । सक कहै मम इच्छा कारन ।
उत्तर क्रिया गीध की करी । दरसन दै सवरो उदरो^१ ।

पद के एक चरण में श्रीराम और दूसरे में श्रीकृष्ण की स्तुतिवाले ऐसे उदाहरण समस्त भक्ति-साहित्य में बहुत कम मिलेंगे । दोनों की शक्तियों को भी कवि ने एक ही रूप में देखा है । सीता जी का जिन प्रकार उन्होंने 'जगत जननी'^२ कहा है, उसी प्रकार राधा जी को भी 'सैम महेंस गनेस मुवादिक नारदादि की स्वामिनि, जगदीस-पियारी, जगत-जननि, जगरानी' आदि बताया है^३ ।

इनके अनिरिक्त अनेक पौराणिक प्रसंग भी कवि में लिखे हैं । गोवर्द्धन-प्रसंग में इंद्र की पराजय, बाल-वत्स-हरण प्रसंग में ब्रह्मा का भ्रम, मोहिनी-दमन-प्रसंग में महादेव का माह आदि विषया के द्वारा कवि अपने आराध्य की सर्वश्रेष्ठता इंगित करता है । नारद^४ और वेद^५ उसके आराध्य की स्तुति करके इन पौराणिक विश्वास की पुष्टि करते हैं । कवि उनके विराट् रूप की आरती का वर्णन^६ एवं अनन्य भक्ति की महिमा^७, नाम-साहात्म्य^८ और प्रभु की भक्त-वत्सलता^९ का भी गान करता है । गुर^{१०}, भक्त^{११} और सतसंग-महिमा^{१२} बताने के साथ नाथ गंगा या विष्णु-पादोदक^{१३} और यमुना^{१४} की स्तुतियां वह सुनाता है और भागवन्^{१५}, वाराणसी^{१६}, मथुरा^{१७}, वृन्दावन^{१८}, तथा व्रज^{१९} के साहात्म्य का भी वर्णन करता है ।

इनके अनिरिक्त 'अर्द्धवृच्छ वट'^{२०}, चंद्रमा को राहु का ग्रसना^{२१}, पूर्ण चंद्रमा को देख-कर मागर की तरंगों का बटना^{२२}, चंद्रमा के रथों में मृगी का जुता होता^{२३}, अमृत का देवेंद्र के पास होना और उसकी वृष्टि में मृतकों का जी उठना^{२४} आदि प्रसंग भी प्राचीन आख्यानों से संबंधित हैं जिनमें प्रयुक्त शब्दावली से तत्कालीन हिंदू समाज की, पौराणिक प्रसंगों के प्रति, विश्वासमयी निष्ठा का सहज ही परिचय मिल जाता है । हनुमान को 'जाकाशवाणी'^{२५} और कम को 'जनाहनवाणी'^{२६} सुनायी देना, भी पौराणिक विश्वास का फल कहा जायगा । अष्टसिद्धि^{२७}, उच्चैःस्रवा^{२८}, (धवल वरन) ऐरावत^{२९}, कल्पद्रुम^{३०}, कामधेनु^{३१} या सुरधेनु^{३२}, कौस्तुभ मणि^{३३}, चित्रामणि^{३४}, नव निद्रि^{३५} आदि के

-
१. सा. ९८१ । २. सा. ९-६० । ३. सा. १०५५ ।
४. सा. ४३०२ । ५. सा. ४३०० । ६. सा. २-२८ । ७. सा. २-९ ।
८. सा. १-८९ और १-२३२ । ९. सा. १-२६७ । १०. सा. ६-५ । ११. सा. ३-१३ ।
१२. सा. २१७ । १३. सा. ९-१० और ९-१२ । १४. सा. १-२२२ और १-२२३ ।
१५. सा. १-२२७ और १-२३० । १६. सा. १-३४० । १७. सा. ३०९६ से ९७ ।
१८. सा. २-६ । १९. सा. ४९०-४९२ और ३४१६ । २०. सा. ८५४ ।
२१. सा. ९-७५ । २२. सा. ९-११६ । २३. सा. ३३५७ । २४. सा. ९-१६३ ।
२५. सा. ९-७६ । २६. सा. १०-४ । २७. सा. ३०९२ । २८. सा. ४१६६ ।
२९. सा. ९७६ । ३०. सा. २८३३ । ३१. सा. १-१६४ । ३२. सा. ४८७ ।
३३. सा. ११८० । ३४. सा. १-१६४ । ३५. सा. ३०९२ ।

साय-साथ किन्नर^{३६}, गंधर्व^{३७}, विचाधर^{३८} आदि देवजातियाँ भी पौराणिक हैं। पृथ्वी को कमठ, शेषनाग आदि धारण किये हैं^{३९}, दिशाओं की रक्षा दिग्गज और दिग्पाल करते हैं^{४०}—ये विश्वास भी पौराणिक ही हैं। श्रीकृष्ण की लीला देखने को देवताओं का उपस्थित होना^{४१} और प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य की सिद्धि पर फूल बरसाने लगना^{४२}—ऐसे उल्लेखों के मूल में भी पौराणिक विश्वास ही समझना चाहिए।

ग. धार्मिक विश्वास—धर्मप्राण हिंदू समाज प्रादि से ही अस्तित्व रहा है। ईश्वर के अस्तित्व में ही नहीं, उसकी ऐसी दयालुता-उदारता आदि में भी उसका विश्वास रहा है जिससे प्रेरित होकर वह जीव या प्राणी के बड़े से बड़े पापों को भुलाकर उसको सहर्ष अपना सकता है और उसकी आंतरिक कामना के अनुसार सद्गति दे सकता है। यही नहीं, सारी लौकिक विभूति को, धर्म-भाव रखनेवाला व्यक्ति, अपने आराध्य या कुलदेव की ही देन समझता है। सूरदास ने भारतीय जनता की इस मनोवृत्ति को समझा था। इसलिए उनके सभी पात्र ईश्वर की दयालुता में विश्वास रखते हैं। गोबर्द्धन-पूजा के पूर्व ब्रजवासी सुरपति की ही अपना कुलदेव समझते थे। उनकी पूजा का स्मरण कराती हुई माता यशोदा कहती है कि हमारे यहाँ जो कुछ है, सब कुलदेव की कृपा से ही है—

जाकी कृपा बसत ब्रज भीतर, जाकी दीन्ही भई बड़ाई ।
जाकी कृपा दूध-दधि पूरन, सहस मथानी मथति सदाई ।
जाकी कृपा अन्न-धन मेरे, जाकी कृपा नवौ निधि आई ।
जाकी कृपा पुत्र भए मेरे, कुसल रही बलराम कन्हौई^{४३} ।

किसी भी आशातीत लाभ को हिंदू स्त्रियाँ मानवीय पुरुषार्थ का फल न मानकर, सदैव दैव की दया-प्रेरित देन अथवा अपने पुण्यों का फल समझती हैं। यही भाव यशोदा की प्रकृति में मिलता है जब पुत्र होने पर वह कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करती है—

सत सजम तीरथ-त्रत कीन्है तब यह संपति पाई^{४४} ।

लौकिक विभूतियों का योग भी ईश्वर को अर्पण करके ही भोगने का हमारे यहाँ विधान है। इसका निर्वाह कम से कम भोजन के पूर्व भगवान का भोग लगाने में तो किया ही जाता है। महराने से नंद जी के यहाँ आया हुआ पाँडे तो इष्टदेव का ध्यान करके भोग लगाता ही है —

घृत मिष्टान्न खीर मिस्रित करि परसि कृष्ण हित ध्यान लगायो^{४५} ।

अशोकवाटिका में हनुमान भी फलों का भोजन करने के पूर्व प्रभु को अर्पण कर देते हैं—

३६. सा. ११८० । ३७. सा. ४-५ । ३८. मा. १०-६ । ३९. सा. ९-७६ ।
४०. सा. ५७६ । ४१. सा. ८४१ । ४२. सा. ५७९ और १३९६ ।
४३. सा. ८११ । ४४. सा. १०-१६ । ४५. सा. १०-२४८ ।

मनसा करि प्रभुहि अपि भोजन करि डाटे^{४८} ।

इसी प्रकार दैहिक, दैविक और भौतिक सबटो से उद्धार होने पर भी नद या यशोदा, दाना अपने पुरुषार्थ का गर्व न करके ईश्वर की कृपा या अपने पूर्व जन्म के पुण्यों का ही स्मरण करते हैं । प्रलवासुर के हाथ से जब कृष्ण बचकर आते हैं, तब यशोदा कहती है —

धर्म सहाई होत है जहँ तहँ, सम करि पूरव पुन्य पच्यो रो^{४९} ।

ऐस ही नद जब बरुण के यहां से बचकर आत हैं, तब भी यशोदा कहती है —

अब तो कुसल परी पुन्यनि ते^{५०}

जहाँ ब्रजवासिया का ईश्वर की कृपा पर विश्वास है, वहाँ कुछ भूल चूक हा जाने पर व भयभीत भी हो जाते हैं । यशोदा जब कुल देवता की पूजा भूल जाती है तब उसके काप से डरती है और तुरन्त क्षमा मांग लती है—

क्षमा कीजौ मोहि, हौं प्रभु तुमहि गयो भुलाई^{५१} ।

नद जब हरि पूजा करके भोग लगाते हैं और देवता का खाना न दस वालक कृष्ण, इस पर उपहास सा करता हुआ, पृष्ठ बैठता है—

बहत कान्हु बाबा तुम अरप्यो देव नही कछु खाइ^{५२} ।

तब बालक ने देवता का उपहास किया, इनसे भयभीत होकर वे कृष्ण से कहने हैं—
हाय जोडो, जिससे सकुशल रहो—

सूर त्याम देवनि कर जोरहु, कुसल रहे जिहि गात^{५३} ।

या ता 'सुवन कीरतन सुमिरन पाद-सेवन अरचन ध्यान बदन'^{५४} आदि भक्ति के विविध रूपों की चर्चा सूर-काव्य में है, परन्तु ब्रजवासिया का विश्वास पूजा, व्रत, स्नान, दान, तीर्थयात्रा, तप आदि में विशेष रूप से दिखाया गया है ।

अ पूजा—इंद्र, गोवर्द्धन, शिव, पार्वती, सूर्य और शालग्राम की पूजा की चर्चा सूर काव्य में अनेक पदों में है । इंद्र की पूजा का चरन ब्रज में गोवर्द्धन की पूजा के पूर्व बताया गया है । इसके लिए नन्द के यहाँ विशेष आयोजन होता है । चारों ओर मंगल-गान हा रहा है । प्रातःकाल की पूजा के लिए सांझ से ही भांति-भांति के नैवेद्य करके घर दिय गये हैं । इंद्र की पूजा के लिए यह सारा भोग है, वह अपवित्र न हो जाय, इस डर में उस छुआछूत से बचाया जाता है^{५५} । बच्चों को इतनी समझ नहीं होती, वे भोग को कहीं अपवित्र न कर दें, इसलिए यशोदा सारे नैवेद्य, दयाम से बचाकर, सँतकर रखती है^{५६} ।

४८. सा. ९-९६ । ४७. सा. ६०६ । ४८. सा. ९८५ । ४९. सा. ८१४ ।

५०. सा. १०-२६१ । ५१. सा. १०-२६१ । ५२. सा. ९-५ । ५३. सा. ८९१ ।

५४. सा. ८९३ ।

गोवर्द्धन-पूजा के लिए सभी घरों में नाना प्रकार के भोजन बनते हैं। सबके द्वार पर बघाई बजती है। शकटों में देव-‘बलि’ सजाकर सब गोवर्द्धन के पास ले चलते हैं। दधि-लवणी-मधु-मिठाई-पकवान आदि के इतने प्रकार तैयार किये गये हैं कि कवि उनका वर्णन नहीं कर पाता और नन्द के घर से तो मामग्री में भरे सहस्र शकट चलते हैं^{५५}। नियत स्थान पर पहुँच कर विप्र बुलाये जाते हैं और वे ‘जग्यारभ’ करते हैं^{५६}। द्विज सामवेद का गान करते हैं। सुरपति की पूजा भेटकर गोवर्द्धन को तिलक लगाया जाता है। पश्चात्, उसे दूध से नहलाकर सब ‘देवराज’ कहते और माथ नवाते हैं^{५७}। दूध के अनन्तर गगाजल से भी उनको स्नान कराया जाता है। अन्त में ब्रजवासी उनका भोग लगाते हैं। इसी प्रकार ठौर-ठौर पर वेदी रचकर गोवर्द्धन की बहुविध पूजा की जाती है^{५८}।

पति या सौभाग्य की कामना से स्त्रियाँ शिव का पूजन करती हैं। ब्रजवालाओं के मन में भी जब श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना जन्मती है, तब वे गौरी-पति को पूजती हैं। वे बड़े नेम-धर्म से रहती और अनेक प्रकार से उनकी मनुहारि करती हैं। कमल-पुहुप, मालूर-पत्र-फल तथा नाना सुगन्धित सुमनों से शिव जी की पूजा का आयोजन किया जाता है^{५९}।

‘शिव-सकर’ जब गोपियों की कामना पूरी करते हैं और उनकी तपस्या का फल देते हैं अर्थात् जब कृष्ण उनको पति-रूप में प्राप्त हो जाते हैं, तो वे पुहुप-पान, नाना फल, मेवा, आदि अर्पण करके यह कहती हुई उनके पैरों पड़ती हैं कि त्रिपुरारी ! तुम्हें धन्य है। तुम्हारी पूजा करते ही हमें ‘पूरन’ फल प्राप्त हो गया^{६०}।

पार्वती की पूजा की चर्चा सूरदास ने रुक्मिणी-विवाह के प्रसंग में की है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए रुक्मिणी ‘गौरि मंदिर’ में पूजा करने जाती है और हाथ जोड़कर उन्हें बहु विधि मनाती है^{६१}। साथ की सखियाँ धूप-दीप आदि पूजा सामग्री लेकर आयी हैं। कुँअरि ने गौरी का पूजन करके बिनती की—‘वर देउ जादवराई’ और पूजा का उद्देश्य भी वह बहुत सरल भाव से सुना देती है—मैं पूजा कीन्ही इहि कारन^{६२}। उसकी बात सुनकर गौरी मुमकाती है और रुक्मिणी प्रमाद पाकर अविका-मंदिर से बाहर आती है^{६३}।

बालक कृष्ण को गोद में खिलाने का सुख भी माता यशोदा ‘शिव-गौरि’ की सम्मिलित कृपा से मिला समझती है^{६४}।

सूर्य की पूजा का उल्लेख यों तो ‘सूरसागर’ के कई पदों में है, परन्तु उसकी विधि विस्तार से नहीं दी गयी है। माता यशोदा जब कृष्ण के साथ राधा को पहिली बार देखती हैं, तब इसका सुंदर रूप देखकर सविता से बिनती करती हैं—

५५. सा. ९०१ । ५६. सा. ८४१ । ५७. सा. ९०६ । ५८. सा. ८४१ ।

५९. सा. ७६६ । ६०. सा. ७९८ । ६१. सा. ४१८० । ६२. सा. ४१८९ ।

६३. सा. ४१८१ । ६४. सा. १०-८० ।

सूर महारि सविता सो विनवति, भली स्याम की जोरी^{६५} ।

हरि को 'भरतार' रूप में पाने की कामना रखनेवाली गोपिका भी रवि से विनय करती है^{६६} । जब उनकी कामना पूरी हो जाती है, तब वे पुन हाथ जोड़कर सूर्य को 'पय-अजलि' देती हैं और स्वीकार करती हैं कि तुम्हारे समान फलदाता कोई नहीं है^{६७} । अशोकवाटिका में सीता जी के सामने पहुँचकर हनुमान, लक्ष्मण को 'पालागन' कहते हैं । सीता जी तब 'तरनि सम्मुख' हाकर ही उनको 'असीस' देती हैं^{६८} ।

शालग्राम की पूजा नद जी करते हैं । यमुना में स्नान करके, झारी में यमुना-जल भरकर, कज-सुमन लेकर वे घर आते हैं । पैर धोकर वे मंदिर में जाते हैं । उनका ध्यान प्रभु-पूजा में ही लगा है । वे स्थव्र लीपते, पात्र माँजते-घोते और विधिवत् पूजा करते हैं^{६९} । घटा बजाकर वे देवमूर्ति को नहलाते, चंदन लगाने, पट-अंतर देकर भोग लगाते और आरती करते हैं^{७०} ।

आ, घन — 'चद्रायन' और एकादशी — दो व्रतों की चर्चा सूर ने मुख्य रूप से की है । इनमें से प्रथम का तो केवल नामोल्लेख ही है^{७१}, द्वितीय का वर्णन विस्तार से है । अवरोप की कथा को लेकर सूरदास एकादशी के निराहार व्रत पर अधिक जोर देते हैं^{७२} । नद जी एकादशी का 'विधिवत्, जल-पान विवर्जित निराहार' व्रत करते हैं । अपना मन वे सब ओर से हटाकर केवल नारायण में लगाते हैं । दिन इस प्रकार ध्यान करते बीतता है, रात में वे जागरण करने हैं । देव-मंदिर पाटवर से छाया जाता है, पुहुपमालाओं की 'मडली' बनायी जाती है । चंदन से स्नान लीपकर और चौक पूरकर वे शालग्राम को बैठाते हैं । पश्चात् धूप-दीप-नैवेद्य चडाकर वे आरती करते और माघ नवाते हैं । रात का तीसरा पहर इस प्रकार बिताकर वे महारि से पारण की विधि करने को कहते हैं । तब वे घोड़ी झारी लेकर जमुना-तट जाते हैं । वहाँ वे झारी भरकर 'देह-वृत्त' करते, माटी से कर-चरण पखारते, उत्तम विधि से मुखारी करते और तब स्नान के लिए जल में उतरते हैं^{७३} । आगे नद जी का वरुण के दूतों द्वारा पकड़ा जाना और श्रीकृष्ण द्वारा मुक्त होना वर्णित है । अंत में कवि कहता है —

जो या पद को सुनै सुनावै । एकादसि व्रत को फल पावै^{७४} ।

इ स्नान — शारीरिक स्वच्छता की दृष्टि से स्नान को भी हमारे यहाँ धर्म का एक अंग माना गया है । विशेष स्थानों और अवसरों पर स्नान का विशेष महत्व भी सूरदास ने बताया है । गंगा में स्नान का माहात्म्य बताते हुए कवि कहता है —

गग प्रवाह माहि जो न्हाइ । सो पवित्र हूँ हरिपुर जाइ^{७५} ।

इसी प्रकार सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र-स्नान का महत्व बताते हुए श्रीकृष्ण यादवों से कहते हैं —

६५. सा. ७०२ । ६६. सा. ७६७-६८ । ६७. सा. ७९८ । ६८. सा. ९-८७ ।
६९. सा. १०-२६० । ७०. सा. १०-२६१ । ७१. सा. २-३ । ७२. सा. ९-५ ।
७३. सा. ९८६ । ७४. सा. ९८४ । ७५. सा. ९-९ ।

बड़ी परब रवि ग्रहन कहा कही तासु बड़ाई ।

चली सकल कुरुखेत, तहाँ मिलि न्हैयै जाई^{७६} ।

गंगा, यमुना, सिंधु, सरस्वती, गोदावरी आदि नदियों में स्नान की विशेष महिमा है; परंतु सूरदास की सम्मति में ये सब नदियाँ वहाँ आ जाती हैं, जहाँ हरि-कथा होती है^{७७} ।

ई. दान — दान के विविध रूपों का वर्णन 'सूरसागर' में है । आनंदोत्सवों के दान की चर्चा तो आगे की जायगी, यहाँ विपत्ति से छुटकारा पाने पर वृत्तज्ञता-स्वरूप दिये गये दान का एक उदाहरण दिया जाता है । यमुना में स्नान करते समय नद जी को वरुण के दूत पकड़ ले जाते हैं । श्रीकृष्ण वहाँ से उन्हें छुड़ा लाते हैं । तब यशोदा कहती है—

अब तौ कुसल परी पुन्यनि तै, द्विजनि करौ कछु दान^{७८} ।

उ. तीर्थयात्रा — कुरुक्षेत्र^{७९}, केदार^{८०}, गया^{८१}, तीमसार^{८२}, बनारस^{८३}, बाराणसी^{८४}, बेनी^{८५} आदि तीर्थ स्थानों की चर्चा सूरदास ने की है । और ब्रज को तो परम तीर्थ उन्होंने माना ही है जिसकी परिक्रमा करने का आदेश श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा को दिया है—

ब्रज परिकर्मा करहु देह कौ पाप नसावहु^{८६} ।

परंतु सूरदास की दृष्टि में तीर्थों में स्नान आदि का महत्व गोपाल की लीला का गान करने के सामने कुछ नहीं है—

जो सुख होत गुपालहिं गाएँ

सो सुख होत न जप तप कीन्है, कोटिक तीरथ न्हाए^{८७} ।

इसी प्रकार सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में तीर्थ-यात्रा का जो कुछ भी महत्व हो, भक्त कवि सूरदास की सम्मति में तो जहाँ हरि-कथा हो, वही भव तीर्थ होते हैं—

सर्व तीर्थ कौ वासा तहाँ । सूर हरि कया होवै जहाँ^{८८} ।

ऊ. तप — श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की कामना रखनेवाली गोपियाँ नियमादि की साधना करती और संयमित जीवन बिताती हैं । उनका 'तप' छहो ऋतुओं में चलता रहता है वे न 'सीत से भीति' करती हैं और न उन्हें भूख-प्यास की ही चिंता है । गेह-नेह सबको बिसारकर निरंतर तप में लगे रहने से वे बहुत 'कम' हो जाती हैं^{८९} । छहो ऋतुओं में वे 'त्रिविध काल' स्नान करती हैं, नेम से रहती हैं और 'चतुर्दस निसि' भोग रहित रहकर जागती हैं । मनसा, वाचा और कर्म से वे श्याम का ही ध्यान करती हैं^{९०} ।

७६. सा. ४२७५ ।

७७. सा. १.२२४ ।

७८. सा. ९८५ ।

७९. सा. ४२७५ ।

८०. सा. २-३ ।

८१. सा. २-३ ।

८२. सा. १-२२८ ।

८३. सा. २-३ ।

८४. सा. १-४०३ ।

८५. सा. २-३ ।

८६. सा. ४९२ ।

८७. सा. २-६ ।

८८. सा. १-२२४ ।

८९. सा. ७६७ ।

९०. सा. ७८२ ।

ए अन्य—उक्त विषयों के अतिरिक्त समस्त मंगलकार्यों में कुलदेव अथवा प्रमुख देवी देवताओं का स्मरण भी ब्रजवासियों की धर्म-भावना का ही द्योतक है। यहाँ तक कि 'सोहिला' के प्रथम चरण में ही गौरी, गनस्वर और देवी सारदा में विनती की जाती है^{११}। 'सराप' को भी एक धर्म-कर्म माना गया है जिसके न करने में धर्म की हानि होती है^{१२}।

घ सामान्य विश्वास—जन-मनोवृत्ति के पारखी मूरदाम ने अपने समकालीन समाज के अनक ऐसे विश्वासों का उल्लेख अपने काव्य में किया है जो आज भी माघारणत मान्य हैं। ऐसे विश्वासों को शकुन-अशकुन, स्वप्न, कवि-प्रसिद्धि और अन्य विश्वास—इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अ शकुन-अशकुन—साहित्य में शकुन का वर्णन मुख्यतः शुभ सूचनाओं का पूर्वभास कराने के उद्देश्य से होता है। किसी शुभ सवाद के ज्ञात हान के पूर्व शकुनों में पाठकों की उत्सुकता बढ़ती है। मूर-काव्य में भी शकुन का उल्लेख इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ है। कीए का बोलना, मृगयाना का दाहिनी ओर दिखायी देना, पुरुषों के दाहन् और स्त्रियों के बायें अंग फकड़ना आदि शकुन की चर्चा मूर-काव्य में की गयी है।

'मूरमागर' के नवें स्कंध में अशोकवाटिका में बँठी सीता जी जब पनि और देवर के लिए चिंतित हो रही हैं, तभी उनके 'नयन-उर' फड़कने लगे और 'सगुन जनायो अग'। इससे उन्हें विश्वास हो जाना है—

आज लहौं रघुनाथ-मँदेसों, मिटै विरह-दुख संग^{१३}।

और तभी हनुमान वहाँ प्रकट होकर सीता जी को पनि और देवर का कुशल-समाचार एवं सदेश देने हैं।

वनवास की अवधि समाप्त होने पर याना कोशल्या जब पुत्रों से मिलने के लिए 'सगुनोती' करती हैं, तभी 'सुकाग' उड़कर 'हरी डार' पर चँठ जाता है। माता आदवस्त हा जाती है और अचानक गाँठ देकर प्रसन्न हृदय से कीए को 'दधि-ओदन' देने और उसकी चौच तथा पखा को मान के पानी से मढ़ाने की आज्ञा कहती है^{१४}।

एक विरहणी गोपी के आँगन में कीए का बोलना सुनकर दूसरी उसे सात्वना देती है—

तेरे आवँगे आजु सखी, हरि खेलन कीं फागु री।

सगुन सँदेसो हों सुन्यो, तेरे आँगन बोलै वाग री^{१५}।

कस ने मुफलक मुत अकूर का यह आदेश देकर गोकुल भेजा कि जाकर बलराम और कृष्ण को मथुरा लीवा लाओ। चित्त में बहुत दुखी होते, कस को भरपेट कोसते और दोनों भाइयों की खँर मनाते हुए अकूर गोकुल की ओर चले^{१६}। रय हाँकते ही उन्हें

११. सा. १०-४०। १२ सा १-२९०। १३ सा ९-८३। १४. सा. ९-१६४।

१५ सा. २८५९। १६ सा २९४३।

दाहिनी ओर 'मृगमाला' के दर्शन हुए। इस शुभ शकुन से वे अत्यंत प्रसन्न और पूर्ण आश्वस्त हो गये—

दाहिने देखियत मृग-माल ।

मानौ इहिसकुन अबहि इहि बन आजु, इनहि भुजनि भरि भेटौं गोगोपाल^{१७} ।

श्रीकृष्ण के कहने से ब्रजवासियों को धैर्य देने के लिए उद्धव गोकुल जाते हैं। अभी वे मधुवन से चले ही हैं कि गोपियों को इसका आभास हो जाता है और इसका कारण है दो शकुन। पहला, उनके कान के पास आकर एक भौंरा बार-बार गूँजता या गाना है। दूसरा, छत पर बंठे हुए कौओं को जब वे 'हरि आ रहे हैं?' कहकर उड़ाती हैं, तब तो वे उड़ते नहीं; परन्तु जब 'हरि का समाचार मिलेगा?' कहकर उड़ाती है, तब वे तुरंत उड़ जाते हैं। इससे वे निष्कर्ष निकालती हैं—

सखी परस्पर यह कही बातें, आजु स्याम कै आवत है ।

किधौ सूर कोऊ ब्रज पठयौ, आजु खबरि कै पावत है^{१८} ।

+

+

+

इनि सगुननि कौ यहै भरोसौ, नैननि दरस दिखावै^{१९} ।

+

+

+

आजु कोउ नीकी बात सुनावै ।

कै मधुवन तै नद-लाडिलौ, कैजब दूत कोउ आवै^{२०} ।

कुरुक्षेत्र तीर्थ में ग्रहण-स्नान के लिए पहुँचकर श्रीकृष्ण जब ब्रजवासियों को भी वही बुला लाने को दूत भेजते हैं, तब गोपियों को अनेक शकुन होते हैं, जैसे— वायस का गहगहाकर पूर्व दिशि में बोलना, कुच-भुज-नैन-अधर फड़कना और बिना बान के अचल-ध्वज का डोलना। इन सब शकुनों का फल सुनाती हुई सखी कहती है —

आजु मिलावा होइ स्याम कौ, मानौ सुनि सखी राधिका भोली ।

+

+

+

सोच निवारि करौ मन आनँद, मानौ भाग दसा विधि खोली^{२१} ।

वपों के बिछुड़े मित्र श्रीकृष्ण से मिलने को जाते हुए सुदामा जी मार्ग में चिंतित हैं कि वे मिलेंगे या नहीं और मिलेंगे तो कैसे, तभी भले सुगुन' होने हैं और द्वारका पहुँचते ही वे 'हरि को दरसन' पा लेते हैं^{२२} ।

किसी अनिष्ट की प्रत्यक्ष सूचना मिलने के पूर्व अशकुनो द्वारा उसका आभास कराया जाता है। ऐसा करने से यद्यपि अशुभ सवाद से मिलनेवाला दुख किसी प्रकार कम नहीं होता, तथापि ये अशकुन उसको सहन करने के लिए कुछ कुछ वातावरण

तो तैयार कर ही देने हैं। मूरदाम को अशकुन-योजना का भी यही उद्देश्य निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

काली दह के फूल भेगवाने के लिए वन एक दूत नद जी के पास भेजता है और कहता देता है, 'फूल न भेजने पर व्रज को उजाड़ दूंगा'। स्थिति भयानक है; क्योंकि यह सर्वविदित है कि फूल लेने जानेवाला वहाँ से जीवित नहीं लौट सकता और यदि फूल न भेजे गये तो वन न जाने क्या कुदमा कर डालेगा। इसीलिए दूत के वृंदावन पहुँचने के पूर्व ही नद जी को एक अशकुन द्वारा परोक्ष सूचना मिल जाती है कि कोई भयानक विपत्ति आनेवाली है—

महूर पंछन सदन भीतर, छीक वाईं धार।

मूर नद कहत महुरि सौं, आजु कहा विचार^४।

काली दह के फूलों के लिए पिता का चिन्तन देखकर कृष्ण वहाँ जाने का निश्चय करते हैं और श्रीदामा की गेंद लाने के दहाने दह में भहराकर बूढ़ पड़ते हैं^५। साधारण व्यक्ति उस दह में बचकर नहीं आ सकता, इस चाग्न कृष्ण के जीवन के लिए आशंकित होकर सब सखा हाथ हाथ कर रोने लगते हैं। सभी निम्नलिखित अशकुन माना यमोदा को इस दुपंटना की पूर्व सूचना-ओं दे देते हैं—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छीकी।

ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु ठीकी।

आइ बजिर निक्सी नंदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।

मजारी आगे ह्वै आई, पुनि फिरि आंगन आई।

व्याकुल भई, निक्सि गई बाहिर, कहें धौं गए बन्हाई।

बाएँ काग, दाहिनें खर-स्वर, व्याकुल घर फिरि आई^६।

नद जी इन समय बाहर थे। उन्होंने ज्यों ही घर में पैर रखा त्योंही उन्हें भी अनेक अशकुनो ने चिन्तित कर दिया—

देखे नद चले घर आवत।

पंछत पौरि छीक भई बाएँ, दाहिनें घाह सुनावत।

फटवत खवन स्वान द्वारे पर, गररो करति तराई।

माथे पर ह्वै काग उडान्यो, कुसगुन बहुतक पाई^७।

महाभारत के अंत में द्वारका जाने पर अर्जुन को कृष्ण-सहित समस्त यादवों के शय होने की सूचना मिलती है। यह दारुण समाचार सुनकर वे पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। दारुण के बहुत्र समझाने-बुझाने पर और श्रीकृष्ण का संदेश सुनाने पर अर्जुन अपना साथ अनाथ यादव नरन्तारियों को लेकर लौटते हैं। मार्ग में भीलों से सड़ाई होती

हैं और वे खूब लूट-मार करते हैं। युधिष्ठिर अदि तक ये सब कुसंवाद नहीं पहुँचे हैं, परंतु निम्नलिखित अगकुन किसी अनिष्टकारी दुर्घटना की आशका से उन्हें चिंतित कर देते हैं—

रोवें वृषभ, तुरग अरु नाग । स्यार घाँस, निसि चोलै काग ।

कंपै भुव, वर्षा नहिं होइ । भयौ सोच नृप-चित यह जोइ^९ ।

इ. स्वप्न—सूरदास का समकालीन जन-समाज स्वप्नों को भी सर्वथा असत्य या निरर्थक नहीं समझता। अशोकवाटिका में सीता जी बहुत दुखी हो रही हैं तथा हरण की घड़ी से अब तक पति और देवर की कोई सूचना न मिलने से बहुत चिंतित हैं, तभी त्रिजटा आकर रावण की दुर्दशा के उस दृश्य का वर्णन करती है, जो उसने स्वप्न में देखा था। अतः वह बड़े विश्वास के साथ कहती है—

या सपने की भाव सिया, सुनि कबहुँ विफल नहिं जाइ^{१०} ।

स्वप्न द्वारा भावी कार्यों की सूचना से संबंधित पात्र संकेतित या संभावित घटना के विषय में कुछ देर सोचने के लिए विवश हो जाते हैं। आगे चलकर जब वह दृश्य सत्य या प्रत्यक्ष हो जाता है, तब पात्र-पात्री को पूर्व 'स्वप्न' का तुरंत स्मरण हो आता है। कालीदह में कूदने के पूर्व श्रीकृष्ण सोते से झटक पड़ते हैं और पूछने पर माता से कहते हैं—

सपनें कूदि परचौ जमुना दह, काहुँ दियो गिराइ^{११} ।

दूसरे दिन जब वे सत्य ही कालीदह में कूद पड़ते हैं और रोते-पीटते हुए सखा आकर इसकी सूचना देते हैं, तब माता कहती है—

सपनी परगट कियो कन्हारै ।

सोवत ही निसि आजु डराने, हमसौं कहि यह बात सुनाई^{१२} ।

स्वप्न में यदि कोई देवता कुछ करने का आदेश दे तो साधारणतः धर्मभीरु समाज उसके अनुसार काम अवश्य करता है। इन्द्र की पूजा के आयोजन की सूचना जब सात बरस के बालक कृष्ण को मिलती है, तब वह पिता नंद तथा अन्य उपस्थित गोंपों से स्वप्न में 'गोवर्धनराज' के दर्शन होने और उनकी पूजा का आदेश दिये जाने की बात कहता है। यह सुनकर समस्त गोंपे इन्द्र की पूजा छोड़कर गोवर्धन पूजने को तैयार हो जाते हैं।

सूर-काव्य में उन्हीं स्वप्नों को सत्य होता दिखाया गया है जो अकस्मात् उस व्यक्ति के संबंध में दिखायी देते हैं जिसका उस दिन जरा भी ध्यान न हो। इसके विपरीत, कारण-विशेष से जिस संबंधी या प्रिय व्यक्ति का निरन्तर ध्यान किया जा रहा हो, वह यदि स्वप्न में दिखायी दे, तब संबंधित दृश्य या घटना के सत्य होने की संभावना पर किसी को विश्वास नहीं होता। श्रीकृष्ण के मथूरा चले जाने पर दिन-रात उनका ध्यान

करनेवाली वियोगिनी गापिया को पहले तो नौद ही नहीं आती कि स्वप्न दिखायी दें, पर यदि जरा देर का वे सो जानी हैं और प्रियतम के मिलन का कोई दृश्य उन्हें दिखायी देता है तब कभी तो कोयल बूब कर उन्हें जगा देती है^{१३}, कभी वे स्वप्न चौंकर उठ बैठती है^{१४} और कभी स्वप्न में प्रिय-मयोग-मुख से पुनर्वित होने के कारण जाग जाती है। ऐसे अवसरों पर वियोग-जन्य वास्तविक स्थिति उन्हें और भी विवन्न कर देती है^{१५}।

ई. कवि प्रतिदि—कुछ बातें समाज में ऐसी प्रचलित होती हैं जिनकी सत्यता-असत्यता की परख करने की आवश्यकता न समझकर कवि-वर्ग उनको ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। मूर-काव्य में ऐसी जा कवि प्रतिद्वियाँ मिलती हैं, उनमें चक्का चक्की या चकई का सरोवर या जलाशय के निकट रहना और रात में दोनों का वियोग हो जाना^{१६}, चकोर^{१७} या चकारी^{१८} का चंद्रमा की ओर देखना अर्थात् चद्रिका का पाल करना, चातक या चातकी का वरषा (स्वाती) जल के लिए प्यासा होना^{१९}, हंस का मुक्ताफल-भोगी हाना^{२०} आदि मुख्य हैं। इसी प्रकार युद्ध में वीरता से लड़कर मरने-वाले वीरों का सूर्यलाक हाते हुए स्वर्ग जाना भी कवि-वर्ग में प्रसिद्ध रहा है—

सुभट मरै तो मडल भेदि भानु काँ, सुरपुर जाइ वसावै^{२१}।

उ. कुछ अन्य विश्वास—मूर-काव्य में जन-समाज, विशेषतः स्त्री-समाज, के कुछ ऐसे विश्वासों की भी चर्चा है, जो आज भी सर्वथा लुप्त नहीं हुए हैं। इनमें से मुख्य मुख्य ही यहाँ संक्षिप्त हैं।

बच्चे के ऊपर रुपया, पैसा, गहना आदि निछावर करने के मूल में स्त्रियों का यह विश्वास है कि इससे बच्चे के भावी रोग-योग और कष्ट-संकट दूर हो जाते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण की लृणावर्त से रक्षा होने पर जब गोपियाँ 'अभूषण वारि वारि'^{२२} देती हैं, तब उनके हृदय में उक्त भाव ही हिलोरें लेता है।

बच्चे के ऊपर से 'पानी उतार कर पीने' के मूल में भी ऐसा ही विश्वास है कि इससे उसकी विपत्ति टल जाती है। कभी कभी दैवी एवं मानवीय आपत्तियों से रक्षा होने पर भी ऐसा किया जाता है। लृणावर्त से बालक कृष्ण की रक्षा होने पर 'पीवति मूर वारि सब (= गोपियाँ) पानी'^{२३}।

विशेष अवसरों पर पुत्र के सकट अपने ऊपर ले लेने की कामना रखनेवाली माता भी ऐसा ही करती है। असाधारण सुदरी रुक्मिणी से जब श्रीकृष्ण का विवाह होता है, तब उनकी मनोहर जोड़ी देखकर माता देवकी 'वारकर पानी पीती और अभीस देती' है —

देवकी पियो वारि पानी, दै असीस निहारती^{२४}।

१३. सा. ३२५९। १४. सा. ३२६२ और ३२६५। १५. सा. ३२६०-६१।

१६. सा. १-३३७। १७. सा. १-२९९। १८. सा. १-१६९। १९. सा. ४१८४।

२०. सा. ३५२९। २१. सा. ९-१५२। २२. सा. १०-७८। २३. सा. १०-७८।

-२४. सा. ४१८६।

बच्चा जब कोई असभावित या अद्भुत कार्य कर देता है, तब माता-पिता तथा अन्य गुरुजन आशंकित होकर उस पर किसी अपदेवता की छाया मान लेते हैं और सयानों से 'हाथ दिलाते' घूमते हैं जिससे वह पुन सामान्य स्थिति में आ जाय । बालक कृष्ण के मुख में तीनों लोको को और पुत्र के साथ साथ अपने को भी देखकर माता यशोदा बहुत चकित और आशंकित होकर घर-घर 'हाथ दिनाती' घूमती है—

घर घर हाथ दिवावति डोलति, बाँधति गरें बघनियाँ^{२५} ।

बालक कृष्ण जब कुछ अनमना हो जाता है, तब माता यशोदा यह समझ कर कि कहीं 'नजर' न लग गयी हो, पागल-नी उसे गोद में लिये 'घर घर हाथ दिवावति' डोलती है^{२६} । इसी प्रकार 'नजर' का प्रभाव दूर करने के लिए कभी तो 'राई-लोन' उतारती है^{२७} और कभी 'भत्र पढ़कर' पानी देती है^{२८} । राधा को अनमनी देखकर वृषभानु की घरनी भी 'टटकी नजरि' लगने की शका करती है^{२९} । जब पता लगता है कि राधा को 'काले ने खाया' है, और बड़े बड़े 'गाहड़ी' 'जत्र-मत्र' करके भी उसे जिला नहीं सके, तब कृष्ण एक 'मंत्र' से विपहर का विष दूर करने जाते हैं^{३०} ।

बच्चे को अच्छे वस्त्राभूषण पहनाने पर भी 'राई-लोन' उतार दिया जाता है जिससे उसे किसी की नजर न लग जाय । माता यशोदा भी ऐसा ही करती है—

कबहुँ अंग भूपन बनावति, राइ लोन उतारि^{३१} ।

अच्छे घराने के बच्चे यदि किसी बाहरी व्यक्ति के सामने अच्छा खाते-पीते हो और यह टोंक दे अथवा ललचायी दृष्टि से देख भर ले, तब भी बच्चों को दीठि या नजर लग जाने का डर रहता है । इसीलिए यशोदा कहती है—

बाहर जनि कबहुँ कुछ खैयै, दीठि लगैगी काहु^{३२} ।

ड. पर्वोत्सव—भारतीय जीवन में पर्वोत्सवों की अधिकता इस बात की द्योतक है कि वे केवल परलोक की ही चिन्ता नहीं करते थे, इहलोक के भी सुख भोगना जानते थे । सूरदास के समय में जीवन को आनन्दमय बनाने के उद्देश्य से, भगवान की लीला के बहाने, अनेक प्रकार के उत्सवों की योजना की जाती थी । उनके काव्य में दीपमालिका, होली आदि पर्वों तथा रास, हिंडोरा, फुलमडली, डोल आदि उत्सवों का विशेष रूप से वर्णन हुआ है । यद्यपि रास-लीला जैसे आयोजनों के मूल में आध्यात्मिक भाव भी रहा है, परंतु सामान्य जनता उत्तनी गहराई में न जाकर राम-लीला के ढंग पर 'रास' जैसी कृष्ण-लीलाएँ करके उत्साह के साथ उनमें आज भी भाग लेती है । सूरदास ने इन पर्वोत्सवों के लिए जिन-जिन वस्तुओं को आवश्यक समझा है, उनकी सूची और जिस ढंग से उसका आयोजन किया जाता है, उसकी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट है ।

२५. सा. १०-८३ । २६. सा १०-२५८ । २७. सा. ५४४ । २८. सा. १०-२५८ ।

२९. सा. ७५२ । ३०. सा. ७५८ । ३१. सा. १०-११८ । ३२. सा. ९८७ ।

ज पर्व—‘दीपमानिका’ और ‘होली’, दो पर्वों का वर्णन मूरदास ने विशेष रूप से किया है। दीपमानिका के साथ ‘जलकूट’ या ‘गोवर्द्धन-पूजा’ भी होती है जिसका संक्षिप्त वर्णन पीछे हो चुका है। मुख्य दिवस दीपमानिका का ही होता है जिसकी दीप्ति मूरदास ने ‘कोटि रवि-चंद्र के नभान’ बताया है। नव पर्वों के सरोत्तों आदि में मणि-मुक्ताओं की झालरें लटक रही हैं। गजमोठियों के चौक पुराये गये हैं जिनके बीच-बीच में लाल ‘प्रवालिका’ हैं। बज्र दानिकाओं के साथ राधा जी समस्त शृंगार करके कचन थालियों में झलझल दीप और अन्य सामग्री लेकर, ‘करतालिका’ पटक पटक कर गान्धी-नवात्री, हँसती-हँसाती, नद जी के द्वार पर पहुँचती हैं^{३३}। बलराम और मोहन पिस्ता, दाख बादाम छुहार, खुरमा, खास्ता गुना मटरी आदि मेवा, मिठाई और परधान चिरे बँडे हैं तथा नाम ले लेकर वे प्रत्येक गायी-म्दान को दे रहे हैं^{३४}। ‘सरद कुहू निसा’ के इस पर्व पर नव आनंदिन हैं, घर-घर में पापें दी जा रही हैं और अलनचार हो रहे हैं^{३५}।

होली का उत्सव, मूरदास के अनुसार, सरस वसंत ऋतु की प्रथम पंचमी से ही आरंभ हो जाता है। कुमारी राधिका अपनी सखियों के साथ ‘छरो’ लेकर बलननदन श्रीकृष्ण और उनके सखाओं पर दौड़ती है। ‘चोवा-चदन-अगर-तुनकुमा’ आदि से सुगंधित रंग पिचकारियों में भर भरकर छिड़का जा रहा है, गुलाल अबीर उड़ाया जा रहा है, ‘तान-मृदा-वीना-वांसुरी-डफ़’ आदि बज रहे हैं। झूम-झूमकर युवक-युवतियाँ, सब ‘झूमक’ गा रहे हैं और ‘तरनी वाल सयानी’, सब गालियाँ भी गा रही हैं^{३६}। अबसर पाकर श्याम, राधा पर ‘गेंदुव’ चलाते हैं, परंतु वह मुक्त पर पट देकर बचा जाती है^{३७}। कचन के माट और ‘कमोर’ सुगंधित रंगों से भरकर बनी कृष्ण ‘बूपनानु की पौरि’ जाते हैं^{३८} और कभी ‘बज्र की बीपिनि बीपिनि’ में ‘नील-अरुन-सित-भीत’ वस्त्र पहने, हो हो करते डोलते हैं^{३९}।

होली खेलनेवालों की वारात का वर्णन भी मूरदास ने किया है जिसमें अनेक खिलवाड़ो ‘छरो’ पर भी नवार हैं^{४०}। गुलाल इतना उड़ाया जाता है कि ‘बादर’ लाल हो गये हैं और ‘सिगरे अटा-अटारी’ रंग जाते हैं। गालियाँ भी गायी जाती हैं जिनमें नद महर तक का बखान कर दिया जाता है^{४१}। उत्तर में गोप भी ‘वरसाने’ का नाम लेकर ‘गारी’ देते-दिवाते हैं^{४२}। पाग खेलकर सब ‘फगुआ’ की मांग करते हैं^{४३}। माता यसोदा सब बालाओं को रंग-रंग की ‘पहिरावनि’^{४४} तथा मेवा, मिथी, अनेक रत्न^{४५} आदि देती हैं। श्रीकृष्ण भी अपने सखाओं को उनकी इच्छानुसार ‘फगुआ’ देते हैं^{४६}। अंत में सब यमुना में स्नान करने जाते हैं^{४७}। परचातु, सब ‘सेत-अरुन बोरे

३३. सा. ८०९।
३६. सा. २८५४।
३९. सा. २८६९।
४२. सा. २८९५।
४५. सा. २९१५।

३४. सा. ८१०।
३७. सा. २८५६।
४०. सा. २९१४।
४३. सा. २८९७।
४६. सा. २९१६।

३५. सा. ८४१।
३८. सा. २८६६।
४१. सा. २८७८।
४४. सा. २८९९।
४७. सा. २९०१।

पाटंबर' पहनते और आभूषण धारण करते हैं । द्विजगण दूध-दधि लेकर 'रोचन-रोरी' का तिलक करते हैं और श्याम 'कचन की बोरी' विप्र और बदीजन को देते हैं^{४८} ।

आ. उत्सव—रास, हिंडोरा, फूलमंडली और डोल—इन चार उत्सवों का सूरदास ने विशेष रूप के वर्णन किया है । 'सरद निसि' को वृन्दा विपिन में 'जमुना पुलिन' पर रास आरंभ होना है । 'स्याम स्यामा' तथा अन्य ब्रज-बालाएँ आदि सभी प्रकार के सुन्दर-मुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर नृत्य करते हैं^{४९} । प्रातःकाल 'रास रस में समित' श्रीकृष्ण के साथ समस्त गोपियाँ यमुना में जल-विहार का आनन्द लेती हैं^{५०} ।

'हिंडोरा' वर्षा ऋतु का उत्सव है । बिसकरमा' को बुलाकर हिंडोरना' गढ़ाया जाता है; कचन के खभ हैं, 'महव-मयारि' चाँदी की है^{५१} । हिंडोरने में बिद्रुम मुक्ता आदि लटक रहे हैं^{५२} । बैठने के लिए रत्नजटित पट्टलियाँ हैं जिनमें बीच-बीच में बिद्रुम, हीरा, लाल आदि जड़े हुए हैं । हिंडोरने से मोतियों की झालरें भी लटक रही हैं^{५३} । गोप-बालाएँ सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके झुंड के झुंड झूलने आ जाती हैं^{५४} । सखियों में कोई तो 'झोटा'^{५५} देकर झुलाती है, कोई गाती है, कोई सग 'मचनी' है, कोई 'मचने' को कहती है, कोई डरती और हा हा करके विनय करती है कोई प्रिय की भुजा पकड़कर हिंडोरे से उतार देने को कहती है^{५६} । इसी प्रकार गोपी झुलाती हैं और बनवारी गाते हैं^{५७} ।

'रास' और 'हिंडोरे' का वर्णन तो सूरदास ने विस्तार से किया है, परन्तु 'फूल' या 'फूलमंडली' और 'डोल' का वर्णन बहुत संक्षेप में है । 'फूलमंडली' ग्रीष्म का उत्सव है । फूली हुई फुलवारियों में, सुगंधित पुष्पों के बीच आनंद मनाया जाता है । सूरदास ने भी फूलों के फूले हुए कुजों में, फूलों का महल बनाकर, फूलों को सेज बिछाकर, हों से फूले दपति का 'मगन' होकर विहार करना बताया है^{५८} ।

डोल' का उत्सव वसंत ऋतु में मनाया जाता है । गोकुलनाथ वृषभानुनदिनी के साथ 'डोल' में बिराजते हैं । सबके वस्त्राभूषण आदि वैसे ही हैं जैसे 'हिंडोरे' के उत्सव में वे धारण करते हैं । प्रिय के साथ सब ब्रज-मुंदरियाँ खेलती हैं, हँसती हैं, गाती हैं और परस्पर मीठे स्वर में सलाप करती हैं^{५९} ।

च. संस्कार—सूरदास ने अपने काव्य में मुख्य रूप से नौ संस्कारों—पुत्र-जन्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, कन्येदन, यज्ञोपवीत, विवाह और अन्त्येष्टि—का वर्णन किया है ।

अ. पुत्रजन्म—राम और कृष्ण, दोनों के जन्म-संस्कारों का वर्णन सूरदास ने किया है—प्रथम का संक्षेप में और द्वितीय का विस्तार से । राम के जन्म पर सखियाँ

४८. सा. २९०८ ।

४९. सा. ११४८ ।

५०. सा. ११५७ ।

५१. सा. २८३० ।

५२. सा. २८३१ ।

५३. सा. २८३२ ।

५४. सा. २८३० । ५५. सा. २८३३ । ५६. सा. २८३४ । ५७. सा. २८३५ ।

५८. सा. २४५६ । ५९. सा. २९१९ ।

मगल गाती हैं, ऋषि अभिषेक कराते हैं और आंगन में 'सामवेद-घुनि' छा जाती है। महाराज के यहाँ पुत्र जन्म हुआ है, इसलिए अधीनस्थ शासको के यहाँ से 'टीका' आने का भी उल्लेख मिलता है—

रघुकुल प्रगटे हैं रघुवीर ।

देस देस तै टीकी आयौ, रतन वनक मनि हीर^{६०} ।

अयोध्या के घर घर में मगल-बधाई होती है। 'मगध बदी सून' के लिए 'गो गयद ह्य चीर' लुटाये जाते हैं^{६१}। राजा ने दान देते समय 'महा बडे नग हीर' भी नहीं बचाये अर्थात् सर्वस्व लुटा दिया^{६२}।

कृष्ण का जन्मोत्सव-वर्णन अपेक्षाकृत विस्तार से है। आरम्भ में 'नार' छेदने की चर्चा है। 'मनिमय जटित हार श्रीवा की' लेकर भी 'दाई' झगडा करती है^{६३}। 'कचन के अभरन', 'मोतिनि धार भरे'^{६४} और 'हार-रतन' पाकर ही वह सन्तुष्ट होती है। तब वह 'नार' छेदकर बधाई देती है^{६५}। ताल-मृदंग^{६६}, 'पनव निसान-रुज-मुरज सहनाई'^{६७}, 'डफ झांझ-भेरि-पटह'^{६८} आदि बजते हैं। वारिनि बदनवार बाँधती है^{६९}। कचन कलश सजाये जाते^{७०} हैं। चदक से 'चौक' लीपा जाता है, आरती सँजोकर धरी जाती है। सात सीकों से 'सयिया' बनाया जाता है^{७१}।

ऋषिगण 'अच्छन-दूब' लिये द्वार पर खड़े हैं। गोकुलवासियों में कुछ तो परस्पर 'हरद दही'^{७२} और कुछ 'चोवा-चदन अविर' छिड़कते हैं^{७३}। कुछ सिर पर 'दधि-दूब' धरते हैं^{७४} और 'बृद्ध तदन बाल' सब नाचने हैं। सबने गोरक्ष की कीच मचा रखी है। गोकुल की सारी भूमि लुटाये गये रत्नों से छा गयी है^{७५}। स्त्रियाँ समस्त सुंदर वस्त्राभूषण धारण करके 'कचन थाल' में 'दूब-दधि रोचन' लेकर 'बधाई' गाती हुई नद जी के घर जाती हैं^{७६}। वहाँ दस-पाँच सखियाँ मिलकर 'मगलगीत' गाती और उत्सव मनाती हैं^{७७}।

नदजी स्नान करके 'कुश' हाथ में लेकर^{७८}, सभा के बीच में सिर पर दूब धरकर बैठते हैं^{७९}। 'नादीमुख' श्राद्ध करके वे 'पितरो' को पूजते और सन्तुष्ट करते हैं। फिर चदन में विप्रों का तिलक करते हैं, वस्त्राभूषण पहना कर सबके 'पैर पड़ते' हैं। तब से खुर, चाँदी से पीठ और साने से सोंग मढ़ी हुई अनगिनती गैयाँ उन्होंने ब्राह्मणों को दान में दी हैं। पदचात् इष्ट मित्र-बन्धुओं के माथे पर मृगमद मलयकपूर का उन्होंने तिलक किया; सबको मणि-मालाएँ पहनायीं और वस्त्रादि देकर सन्तुष्ट किया। कुल-

६०. सा ९-१८ ।	६१. सा ९-१८ ।	६२. सा ९-१६ ।
६३. सा १०-१५ ।	६४. सा १०-१६ व १६-१० ।	६५. सा. १०-१८ ।
६६. सा. १०-१९ ।	६७. सा १०-२२ ।	६८. सा. १०-२४ ।
६९. सा. १०-१९ ।	७०. सा १०-२४ ।	७१. सा. १०-१९ ।
७२. सा. १०-२४ ।	७३. सा. १०-२६ ।	७४. सा. १०-१९ ।
७५. सा. १०-२८ ।	७६. सा. १०-२४ ।	७७. सा. १०-२१ ।
७८. सा १०-२२ ।	७९. सा ११-२४ ।	८०. सा १०-२४ ।
८१. सा. १०-३१ ।		

बंघुओ को भी उन्होंने अनेक प्रकार के अबर और साड़ियाँ दी । तदनंतर बदीजन-मागध सूतवृन्द में से जिसने जो मांगा, उसे वही दिया और तब—

आए पूरन आस के सब मिलि देत असीस ।

नदराइ को लाडिली, जीवै कोटि बरीस^{८०} ।

द्वार पर ढाढ़ी और ढाढ़िनि 'हुरके' बजाने और मनचाही वस्तु पाकर मस्तक नवाते हैं^{८१} । नद जी के द्वार पर आज जो याचक बनकर आये थे, वे इतनी धन संपत्ति ले गये कि फिर 'जाचक न कहाये'^{८२} । अपार दान-सामग्री लेकर मार्ग में जाते हुए वे ऐसे जान पड़ते थे जैसे कही के 'भूप' जा रहे हो^{८३} ।

आ. छठी—यह सस्कार 'सोहिती' से आरम्भ होता है । पास परोतिर्नें, सखी-सहेलरी, सब एकत्र हो जाती हैं । मालिनि 'तोरना' बाँधती है अंगन में केले 'रोपे' जाते हैं, सुनार सोने का 'ढोलना' गढ़कर लाता है, ललन की 'आरती' का आयोजन होता है । नाइन महावर लगाती है । 'दाई' को 'लाख टका, शूमका और साडी नेग' में दी जाती है । विश्वकर्मा बड़ई 'ढोलना' गढ़कर लाता है । कोरे कपड़े निकाले जाते हैं । जाति-पाँति के स्त्री-पुरुषों को 'पहरावनों' करके 'काजर-रोसी-ऐपन' से छठी को चार होता है^{८४} ।

इ. नामकरण—ऋषिराज गर्ग नद-भवन में पधारते हैं । नद जी उनके चरण घोंकर चरणोदक लेते और बड़े आदर से 'अरघासन' देते हैं^{८५} । गर्ग जी तब 'लगन सोधकर और जोतिष गनिक' नवजात शिशु के अनेक 'गुन' या 'लक्षण' बताते हैं^{८६} । ब्रज-दासी उनको सुन-समझकर बहुत आनंदित होते हैं^{८७} । विप्र-सुजन-चारन बदीजन आदि भी तब नंद-गृह आते हैं और दान-मान पाकर सुखी होते हैं^{८८} ।

ई. अन्नप्राशन—कुछ दिन कम 'षट' मास के होने पर 'अन्नप्राशन' सस्कार होता है । विप्र बुलाकर 'राशि सोधकर' सुदिन निश्चित किया जाता है । सखियाँ बुलायी जाती हैं जो नद जी का नाम लेकर 'गारी' गाती हैं^{८९} । उनकी 'पाँति' की ब्रज बंघुओ में कोई ज्योनार करती है, कोई घी के पकवान बनाती है और कोई नाना प्रकार के व्यंजन तैयार करती है । अपनी जाति के सब लोगों को नद जी बुलाते हैं और आदर से बैठते हैं । माता यशोदा उबटन लगाकर कान्हू को स्नान कराती और 'षट भूपन' पहनाती है । पुत्र के तन में 'जगुली', सिर पर लाल 'चौतनों' और दोनों हाथ पैरों में 'चूरा' देखकर माता फूली नहीं समाती । नन जी तब बालक को गोद में लेकर मडली के बीच में बैठते और उसका मुँह जुठराते हैं—

षटरस के परकार जहाँ लगि लँ ले अधर छुवावत ।

+ + +
तनक तनक जल अधर पौछि के जसुमति पै पहुँचाए^{९०} ।

८०. सा. १०-२७ । ८१. सा. १०-३१ । ८२. सा. १०-३३ । ८३. सा. १०-३५ ।

८४. सा. १०-४० । ८५. सा. १०-४५ । ८६. सा. १०-४६ । ८७. सा. १०-४७ ।

८८. सा. १०-४७ । ८९. सा. १०-४८ । ९०. सा. १०-४९ ।

इसके उपरांत 'पनवारे परमाये' जाने हैं और सब लोग बड़ी रचि से भोजन करते हैं^{११} ।

उ. वर्षगांठ बालक कृष्ण जब वर्ष भर का होता है, तब प्रथम वर्षगांठ सस्वार किया जाता है। माता यशोदा बच्चे को स्नान कराती, पोंछती और वस्त्रानूपन पहनाती है। गले में 'मणिमाला' और सिर पर 'चाँतनी' पहने माथे पर 'टिठोना' लगाये, आँख में अजन डनाये और गरीर पर 'निचोल' पहने बालक 'कसबल' बोलता है^{१२}। आंगन चदन में लिगाया जाता है, मोतियों में चौक पूरा जाता है और शुभ घड़ी निर्दिष्ट करने के लिए विप्र बुलाया जाता है। 'अच्छत्र-दूव-दल' बँधाकर लान की गाँठ जुड़ायी जाती है^{१३}। ब्रज-नारियाँ मुदर तान से मंगल गानों हैं और माता बालक की छवि पर 'तून तीडती' है^{१४}।

ज. वनछेदन - बान्ह कुँवर का, 'वनछेदन' के पूर्व दहलाने के लिए, हाथ में 'सोहारी और गुड की भेली' दी जाती है। सीक से बानो के पास 'रोचना' का चिह्नना लगाया जाता है। वचन के दा दुर' पहले ही से तैयार करा लिये गये हैं। तब नौआ बहुत शीघ्रता से बान छेद देता है। बालक पर 'मनि-मुकुता' निछावर किये जाते हैं और सारे गोकुल में सुख विधु लहराता है^{१५}।

ए. यज्ञोपवीत—कस-वध के पश्चात् हरि-हलधर का यज्ञोपवीत सस्कार होता है। गर्म जौ से दोनों 'गायत्री' मंत्र सुनते हैं। ब्राह्मणों को अनेक धेनु दान में दी जाती है। नारियाँ मंगलचार गाती हैं^{१६}। लाज-लाज में टीका आता है। 'टोल निशान-सख' बजते हैं और माता देवकी हरि-हलधर पर 'रत्न-पट-सारी' आदि वस्तुएँ निछावर करती है^{१७}।

ऐ. विवाह—राम-जानकी, वसुदेव-देवकी, राधा-कृष्ण और रक्मिणी-कृष्ण—इन चार विवाहों का वर्णन मूरदास ने मुख्य रूप से किया है। राम का विवाह धनुष-भग के पश्चात् होता है। राजा दशरथ जनक के यहाँ 'बरात' सजाकर पहुँचते हैं, मोतियों से 'चौक' पुराये जाते हैं, विप्रगण 'वेद-घुनि' करते हैं, युवतियाँ मंगल गाती हैं। विवाह के पश्चात् राम सखियों के बीच में बैठी जानकी जी का 'ककन' खोलते हैं। 'कनक-बुडो' में पूंगाफन जुन निरमल जल रखा जाता है। इसमें राम जानकी 'बूप' खेलते हैं^{१८}।

देवकी के विवाह का विवरण कवि ने नहीं दिया है। केवल मंगलचार के साथ देवकी के विदा होने और दहेज-रूप में 'हय-गव-रत्न-हेम-पाटवर' दिये जाते मात्र की चर्चा की है^{१९}।

राधा से कृष्ण के गधर्व-विवाह का वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। ज्वटन-स्नान शृंगार के पश्चात् 'कुँवरि' 'चाँरी' में लायी जाती है और हरि मोर-मुकुट का मोर धारण करके वर-रूप में आते हैं। सब गोपियाँ 'निवते' आयी हैं और वे मिलकर

११. सा. १०-८९।

१२. सा. १०-९४।

१३. सा. १०-९५।

१४. सा. १०-९६।

१५. सा. १०-९८।

१६. सा. ३०-९३।

१७. सा. ३०-९४।

१८. सा. ९-२५।

१९. सा. १०-४।

‘मंगल’ गाती हैं। नव फूलों का मंडप छाया जाता है, वेदी बनती है जिसमें श्याम-श्यामा बैठते हैं। ‘गारियाँ’ गायी जाती हैं, ‘पाणिग्रहण’ होता है और तब ‘भाँवरें’ पड़ती हैं^१। इसके उपरांत सखियाँ पहले तो कृष्ण से राधा के ‘कक्कन’ की ‘गाँठ’ खोलने को कहती हैं और तब राधा से^२। कृष्ण का मोर-मुकुट इस समय ‘सेहरे-सा’ बँधा जान पड़ता है^३।

रुक्मिणी से कृष्ण के विवाह का वर्णन भी इसी प्रकार विस्तार से है। वर अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से सज्जित है। उसके सिर पर ‘सेहरा’ है और वह चपल घोड़े पर सवार है। ‘बरात’ के लोग भी खूब सजे-सजाये हैं। ‘सख-भेरि-निसान’ आदि बजते हैं। ‘भाट’ बिरद बोलते हैं, मुहूर्त शोधकर ‘चौरी’ रची जाती है। मुक्ताहल से ‘चौक’ पुराया जाता है।

अब वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके बधू को उसकी सखियाँ मंडप में लाती हैं। वैद-विधि से कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह होता है। विप्रों को अनगिनती गैयाँ दान में मिलती हैं, याचक दान पाकर ‘अजाची’ हो जाते हैं। तब वर-बधू मंदिर में जाते हैं। बहन सुभद्रा आरती उतारती है। माता देवकी ‘बारकर’ पानी पीती और असीस देती है। युवतियाँ तब दोनों को ‘जुआ’ खिलाती और अन्य ‘कुल-व्योहार’ कराती हैं^४।

श्रु. अंत्येष्टि—राजा दशरथ की अंत्येष्टि का वर्णन मूरदास ने किया है। उनके ‘विमान’ के साथ गुरु और पुरजन चलते हैं। श्मशान पर पहुँचकर ‘चंदन-अगर-भुगंध-घृत’ आदि से चित्रा बनायी जाती है। जिस पर राजा का शव रखकर भस्म किया जाता है। इसके बाद ‘तिल-अंजलि’ दी जाती है। दस दिन तक ‘जल-कुंभ’ और ‘दीप-दान’ आदि की क्रिया होती है। ग्यारहवें दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और ‘नाना विधि’ दान दिया जाता है^५। अंत्येष्टि करनेवाले पुत्र भरत ने सर भी मुड़ाया है। उनका ‘मुडित केस-सोस’ देखकर राम बहुत दुखी होते हैं^६।

सीता हरण के अवसर पर, उनका विलाप सुनकर, रावण से युद्ध करनेवाला जटायु जब राम के दर्शन करके और सारा प्रसंग सुनाकर मरता है, तब ये अपने हाथ से उसे जलाते हैं^७। इसी प्रकार शबरी के ‘हरि-नोक’ मिथारने पर भी राम ‘तिल-अंजलि’ देते हैं^८।

छ. कला-कौशल—वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य—ये पाँच मुख्य कला-भेद हैं। इनमें से प्रथम तीन के सौंदर्य का अनुभव हमे नेत्रेंद्रिय द्वारा होता है और अंतिम दो का श्रवणेंद्रिय द्वारा। प्रथम वर्ग में से वास्तुकला से संबंधित शब्दावली सूर-काव्य में अधिक है। और द्वितीय वर्ग में से संगीत कला की। अन्य कलाओं में से ‘पाहन-पूतरी’^९, ‘प्रतिमा’^{१०},

१. सा. १०७२।

२. सा. १०७३।

३. सा. १०७४।

४. सा. ४१८६।

५. सा. ९५०।

६. सा. ९५२।

७. सा. ९६६।

८. सा. ९६७।

९. सा. २७८८।

१०. सा. १००३४०।

आदि में मूर्तिकला का, एवं पर्वो-त्योहारों के शुभ अवसरों पर दीवार या गव पर विशेष रूप से, एवं 'वनमुद्रा घटि कै' ^{११} अगो पर सामान्य रूप से, बनाये गये चित्रों में चित्र-कला का अभ्यास माना जा सकता है। गीति ^{१२}, छंद, पद आदि काव्यकला के सामान्य अंग मान सूर-काव्य में मिलते हैं। नद जी के यहाँ और अयोध्या, मथुरा तथा द्वारका के राजमहलों में कलापूर्ण भवनों का निर्माण एवं उनके झञ्झों ^{१३}, अट्टालिकाओं, झरोखों ^{१४}, कँगूरो ^{१५} आदि पर विद्रुम और स्फटिक की पच्चीकारी का काम, वनक या मणिसम, कांच या वनक के सुंदर गव आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वास्तु-कला से है।

संगीत कला से सम्बन्धित शब्द सूर-काव्य में सबसे अधिक हैं। राग-रागिनियों और वाद्यों के जितने नाम उन्होंने गिनाये हैं, उनमें सभ्यता हिंदी के किसी कवि के काव्य में नहीं मिलेंगे। यों तो मूरदाम ने 'छंद राग, छत्तीस रागिनी', ^{१६} 'तीन ग्राम इक्कीस मूर्छना, कोटि उनचाम तान', ^{१७} सरगम ^{१८} आदि संगीत कला से सम्बन्धित अनेक बातें अपने काव्य में दी हैं, परंतु मुख्य रूप से उन्हान रागों और वाद्यों के नाम ही गिनाये हैं जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं—

अ. प्रमुख रागों के नाम—असावरी ^{१९} या आसावरी ^{२०}, अहोरी ^{२१}, ईमन ^{२२}, करनाटी ^{२३}, कान्हरी ^{२४}, केनकी ^{२५}, केदारी ^{२६}, गुडमलार ^{२७}, गुनवली ^{२८}, गौड मल्हार ^{२९}, गौडी ^{३०}, गोरी ^{३१}, जैजवती ^{३२}, जैतथी ^{३३}, टोडी ^{३४}, देव या देवगधार ^{३५}, देवगिरी, ^{३६} देगाव ^{३७}, नट ^{३८}, नटनारायन ^{३९}, नायकी ^{४०}, पचम ^{४१}, पुवी ^{४२}, प्रभाती ^{४३}, विभास ^{४४}, विहार या बिहाग ^{४५}, बिलावल या बिलावल ^{४६}, भूपाली ^{४७}, भैरव ^{४८}, मलार ^{४९}, मारु ^{५०}, मालकोस ^{५१}, मालवाई ^{५२} मेघमालव ^{५३}, रामकली ^{५४}, ललित ^{५५}, श्री ^{५६}, पट ^{५७}, सारग ^{५८}, सूआ ^{५९}, सोरठी ^{६०} आदि।

११ सा १०-२४।	१२. सा. वें. ३१९२।	१३. सा २९०२।
१४. सा. ८०९।	१५. सा. ४३०७।	१६. सा. १२३८।
१७. सा. १३५३।	१८. सा ११५१।	१९. सा. २८३१।
२०. सारा. १०१६। २१. सा. ३२१७।	२२. सारा. १०१३। २३. सा २१४०।	
२४. सारा १०१३। २५ सारा. १०१७। २६ सा १०-२४२।	२७. सा २८३१।	
२८ सारा १०१७। २९. सारा १०१५। ३०. सा. १२२०।	३१. सा. १२२०।	
३२. सारा. १०१७। ३३. सारा. १०१६। ३४. सा २८३१।	३५. सारा १०१६।	
३६ सारा. १०१६। ३७ सारा. १०१६। ३८ सा. २१४१।	३९. सा. १२२०।	
४० सारा. १०१४। ४१. सारा. १०१२। ४२. सारा १०१६	४३. सा. १०१८।	
४४. सारा १०१५। ४५. सारा १०१४। ४६. सारा १०१५।	४७. सारा. १०१३।	
४८ सा २८३१। ४९. सा २८०८। ५० सा ३७६८।	५१. सारा. १०१२।	
५२ सा. २८३१। ५३. सारा. १०१३। ५४. सारा. १०१७।	५५. सारा. १०१२।	
५६. सारा. १०१६। ५७. सारा. १०१२। ५८. सा. १२२०।	५९. सा. १०१८।	
६०. सा. २८३१।		

आ. बाजे आउज^{६१} या आउझ^{६२}, अमृतकुडली^{६३}, उपग^{६४}, करताल^{६५},
 किन्नरी^{६६}, गिरगिरी^{६७}, गोमुख^{६८}, चग^{६९}, झाँझ^{७०}, झालरी^{७१}, डफ^{७२},
 डिमडिम^{७३}, ढोल^{७४}, तुबुर^{७५}, तूर^{७६}, निसान^{७७} या नीसान^{७८}, पखाउज^{७९},
 पटह^{८०}, वांसुरी^{८१}, (= वेनु^{८२}, मुरलिया^{८३}, पुरली^{८४}), बीना^{८५}, भेरि^{८६},
 महुअरि^{८७}, मिरदग^{८८} या मृदग^{८९}, मुरज^{९०}, रबाब^{९१}, रुज^{९२}, संख^{९३},
 सुरमडल^{९४}, हुरका^{९५} आदि ।

सूर-काव्य से जो सूचियाँ ऊपर दी गयी हैं, उनसे कवि के समकालीन समाज की सांस्कृतिक स्थिति का बहुत-कुछ परिचय सहज ही मिल जाना है । परंतु इस संबंध में इतना ध्यान रखना भी आवश्यक है कि पौराणिक कथा-वार्ता आदि में समय-समय पर सम्मिलित होते रहने से सूरदास ने अनेक वस्तुओं के नाम ऐसे भी दे दिये होंगे जो उनके समय में बहुत लोकप्रिय न होगी । उदाहरण के लिए जितने आभूषण या बाजे सूरदास ने गिनाये हैं, जन-साधारण उन सभी से परिचित रहा हो, यह बहुत आवश्यक नहीं है । फिर भी इसमें कोई सदेह नहीं कि वज की तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान कराने में उक्त शब्दावली से पर्याप्त सहायता मिलती है ।

६१. सा. ९-७५ ।	६२. सा. २८६७ ।	६३. सा. २८८८ ।	६४. सा. ११८० ।
६५. सा. २८६४ ।	६६. सा. २८६७ ।	६७. सा. २९१७ ।	६८. सा. २८८८ ।
६९. सा. २८६६ ।	७०. सा. ९-७५ ।	७१. सा. २८६७ ।	७२. सा. २८६७ ।
७३. सा. २९०६ ।	७४. सा. २९०६ ।	७५. सा. २८८८ ।	७६. सा. १०-४० ।
७७. सा. ११४४ ।	७८. सा. ११८० ।	७९. सा. ९-७५ ।	८०. सा. २८८८ ।
८१. सा. २८६७ ।	८२. सा. ११८० ।	८३. सा. २८८१ ।	८४. सा. ११८० ।
८५. सा. ३३५७ ।	८६. सा. १०-४० ।	८७. सा. २८६० ।	८८. सा. २८२८ ।
८९. सा. ४१८५ ।	९०. सा. ११८० ।	९१. सा. ११८० ।	९२. सा. २८६० ।
९३. सा. ४१८६ ।	९४. सा. २९१६ ।	९५. सा. १०-३१ ।	

७. उपसंहार

समकालीन और परवर्ती ब्रजभाषा-कवियों से सूर की भाषा की तुलना
एक अध्ययन का सारांश

सूर के समकालीन ब्रजभाषा कवि—ब्रजभाषा के जा कवि सूरदास के समकालीन थे, उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में चल्तन-संप्रदाय के कवि और उनमें भी विशेष रूप से अष्टछाप के कवि आते हैं जिनसे सूरदास का नित्य का परिचय था और दूसरे वर्ग में वे कवि हैं जिनसे सूरदास का घनिष्ठ संबंध नहीं था।

क समकालीन अष्टछाप के कवि—अष्टछाप के आठ कवियों में सूरदास के अतिरिक्त कुमनदास (संवत् १५२५-१६३९), परमानंददास (संवत् १५५०-१६४०), कृष्णदास अधि-
कारी (संवत् १५५२ से १६३२ या १६३८ तक किसी समय)^{१६}, नंददास (संवत् १५९०-१६३९), चतुर्भुजदास (संवत् १५९७-१६४२), गोविंद स्वामी (संवत् १५६२-१६४२) और छोट स्वामी (संवत् १५६७-१६४२) हैं। इन सबका देहांत संवत् १६४२ में या इसके पूर्व होना माना गया है। इस प्रकार सूरदास के समकालीन ता थे कवि थे ही, निवास भी बहुत समय तक इन सबका एक ही स्थान पर रहा। अतएव इनकी ब्रजभाषा में एक प्रकार से समानता होनी चाहिए। एक दूसरे से जो अंतर या विशेषता कवि-विशेष की भाषा में मिलती है, उसका मूल कारण उसका अध्ययन या उसकी बहुज्ञता ही मान सकते हैं। भाषा के परिमार्जन में अभ्यास का भी महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु परिमाण में सूरदास की रचना सबसे अधिक होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इन अष्टछाप कवियों में से किसी ने भी काव्य रचना का उनसे अधिक अभ्यास किया था, केवल भाषा-सौंदर्य की दृष्टि से यदि इन कवियों का श्रेणी विभाजन किया जाय तो इनका क्रम, स्थूल रूप से, इस प्रकार होगा—नंददास, परमानंददास, चतुर्भुजदास, छोटस्वामी, गोविंदस्वामी, कुमनदास और कृष्णदास अधिकारी। इनमें से अंतिम पाँच कवियों की भाषा में कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो सूरदास से बढ़कर कही जा सके। परमानंद की भाषा में अवश्य सरसता, सूरदास से कुछ अधिक है, परंतु इसका कारण उनकी रचना का परिमाण में अपेक्षाकृत कम होना ही जान पड़ता है। 'परमानंद-सागर' में लगभग दो हजार पद हैं। विभिन्न स्थानों से प्राप्त, परमानंददास के नाम से प्रचलित, सभी पदों को यदि संकलित कर लिया जाय तो इनकी संख्या लगभग दो हजार तक पहुँच जाती है^{१७}। इतने ही पद यदि सूरदास के चुन लिये जायें तो निश्चय ही भाषा की सरसता में वे परमानंददास के पदों से घटकर नहीं होंगे।

१६. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और चल्तन-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २५४-५५।

१७. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और चल्तन-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ३२०।

नंददास की भाषा कुछ ग्रंथों में अवश्य मूरदास से अधिक साहित्यिक कही जा सकती है जिसमें अनुप्रास का लालित्य एक ओर उसके सौंदर्य की वृद्धि करता है और संस्कृत की कोमलकांत पद-योजना दूसरी ओर उसे मीठव प्रदान करती है। यह ठीक है कि भाषा की दृष्टि से नंददास के सर्वश्रेष्ठ काव्यभाग की समता करनेवाले अनेक पद मूर-साहित्य में भी मिल जायेंगे; परंतु इनके आधार पर व्यापक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि मूरदास इसी भाषा में रचना करना चाहते थे। वास्तव में मूर-साहित्य का आशिक भाग व्रजप्रदेश की उस चलती भाषा में लिखा गया था जो अपने अनलकृत और अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक रूप में वहाँ प्रचलित थी और साहित्यिक दृष्टि से जिसका पूरा-पूरा परिष्कार नहीं हो पाया था। मूरदास ने इसके ठेठ माधुर्य की रक्षा करते हुए उसे साहित्यिक रूप दिया। नंददास ने मूरदास से प्रेरणा ली और व्रजभाषा के चमत्कारों की अधिक चिंता न करके, उसके परिष्कृत रूप को अपनाया और संस्कृत पदावली के साहचर्य से इसे साहित्यिक बनाने का प्रयास किया।

१८. समकालीन अन्य कवि—व्रजभाषा के जिन अन्य कवियों ने मूरदास के समय में रचनाएँ कीं उनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—कृष्ण भक्त, रामभक्त और शेष कवि। प्रथम वर्ग में गदाधर भट्ट (रचनाकाल संवत् १५८०-१६००), हितहरिवंश (रचनाकाल संवत् १६००-१६४०), मीराबाई (संवत् १५५७-१६३०), स्वामी हरिदास (कविताकाल संवत् १६००-१६१७), मूरदास मदनमोहन (संवत् १५९०-१६००), हरीराम व्यास (संवत् १६२० के आसपास) आदि मुख्य हैं। द्वितीय वर्ग में गोस्वामी तुलसीदास (संवत् १५८९-१६८०) और नाभादास (सं० १६५७ में वर्तमान) को ही मूरदास का समकालीन कहा जा सकता है, यद्यपि इनकी मृत्यु के पश्चात् भी बहुत वर्षों तक वे दोनों जीवित रहे थे। अन्य समकालीन कवियों के तृतीय वर्ग में कृपाराम (रचनाकाल संवत् १५९८), नरोत्तमदास (संवत् १६०० में वर्तमान), बीरबल (संवत् १६६० में वर्तमान), गग (संवत् १६४० में वर्तमान), नरहरि (लगभग संवत् १५६२-१६६७) आदि प्रमुख हैं।

उक्त कवियों में से अधिकांश कवियों की भाषा मूरदास की समस्त रचना से तुलना करने पर, संस्कृत पदावली की प्रचुरता की दृष्टि से भले ही, बढ़कर मान ली जाय; परन्तु यदि, गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर किसी भी कवि की रचना के परिमाण में मूरदास के पद चुन लिये जायें, तो किसी भी दृष्टि से उसकी भाषा मूर से बढ़कर नहीं मानी जा सकेगी। तुलसीदास की भाषा अवश्य संस्कृत की पदावली और साहित्यिक परिष्कार की दृष्टि से मूरदास से बढ़कर कही जा सकती है जिसका स्पष्ट कारण यह है कि उनका अध्ययन, साहित्यिक ज्ञान और पांडित्य मूरदास से बड़ा-चड़ा था; परन्तु गोस्वामी जी की व्रजभाषा-रचनाओं में चलती भाषा का वह स्वाभाविक और ठेठ माधुर्य

१८. इन कवियों का समय पं० रामचंद्र शुक्ल के 'इतिहास' के आधार पर दिया गया है—लेखक।

उस उपयुक्त अनुपात में नहीं दिखायी देता जो मूर की उल्लेखनीय विशेषता है। अवधी के प्रथम प्रतिष्ठित कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदास की उम्र भाषा की रचनाओं में जो अन्तर है, एक प्रकार से किसी सीमा तक वही अन्तर सूरदास और गोस्वामीजी की ब्रजभाषा में कहा जा सकता है। जायसी ने सस्वृत पदावली का सहारा लेकर भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न कभी नहीं किया, परन्तु सूरदास की रचनाओं में, इसके विपरीत, पचासो ऐसे पद मिलते हैं, जो तुलसीदास जी की भाषा के समवक्ष निस्सकोच रूप से रखे जा सकते हैं।

सूर के परवर्ती ब्रजभाषा कवि - सूरदास के समकालीन जिन साहित्यकारों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सभी भक्तिकाल के अन्तर्गत आते हैं, यद्यपि सबका विषय भक्तकविया की तरह इष्टदेवों का लीला-गान मात्र नहीं था। इस युग के अनेक कवि ऐसे भी बच जाते हैं जो विषय की दृष्टि से तो भक्ति-परंपरा में ही आते हैं, परन्तु अवस्था में वे सूरदास के परवर्ती थे। अतएव भक्ति-परंपरा के शेष और सूरदास के पश्चान् जानेवाले रीतिकाल के कविों को, सामूहिक रूप से, दो वर्गों में रखा जा सकता है - रीति परंपरा वाले शास्त्रज्ञ कवि और इस शास्त्रीय प्रवृत्ति में सक्रिय रुचि न रखने-वाले भावुक कवि। साहित्य के इतिहासों में इन कवियों की सख्या दो सौ में अधिक है। यहाँ दोनों वर्गों के चुने हुए कवियों की भाषा-संबंधी संक्षिप्त चर्चा ही पर्याप्त होगी।

क रीति परंपरा के कवि^{११}—सूरदास के परवर्ती इस वर्ग के कवियों में केशव-दास (सवत् १६१२-७४), चितामणि त्रिपाठी (जन्म सवत् १६६६ के लगभग), विहारीलाल (१६६० से १७२० तक वर्तमान), मतिराम (जन्म सवत् १६७४ के लगभग), भूपण (जन्म सवत् १६७० के आसपास) देव, (जन्म सवत् १७३०), भिखारीदास (कविताकाल सवत् १७८५ से १८१० तक), पद्माकर (सवत् १८१०-१८९०), प्रतापसाहि (कविताकाल सवत् १८८०-१९१० तक) आदि कवि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध में प्रमुख उल्लेखनीय बात यह है कि ये कवि किसी भी बात को अनलकृत भाषा में कहना ही नहीं चाहते हैं। अनुप्रास की सप्रयास योजना के भार से इनकी भाषा प्रायः सर्वत्र दबी दिखायी देती है और यमक श्लेष का चमत्कार दिखाने का कोई भी अवसर पाने ही उसको अपनाने के लिए ये ललक उठते हैं। ऐसे स्थलों पर न तो व्याकरण के नियमों का पूरा पूरा ध्यान इनको रह जाता है, न शब्द-रूपों की विकृति-अविकृति का ही यथोचित विचार वे रख पाते हैं और न भाषा की विशुद्धता-रक्षा के लिए ही विशेष सतर्क रहते हैं। भाषा सभी प्रकार से सजायी-सँवारी होनी चाहिए—यही इनका आदर्श है जिसके लिए सदैव सावधानी से प्रयास करते रहने के फलस्वरूप सजावट या शृंगार के माथ माथ अनुप्रासमयी कोमल पद योजना की दृष्टि से भी इनकी भाषा सूरदास से बढ़कर ही ठहरती है। परन्तु हिंदी की प्राचीन बोलियों और अरबी-फारसी-जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों का जितना मिश्रण सूरदास की भाषा

११ इन कवियों का समय प० रामचंद्र शुक्ल के 'इतिहास' के आधार पर दिया गया है—लेखक।

में मिलता है उसमें कुछ अधिक ही देशी-विदेशी शब्द इस वर्ग के कवियों की भाषा में मिलते हैं। अतएव, स्थूल रूप से, कहा जा सकता है कि सूरदास की भाषा में यदि ग्रामीण स्वस्थता और सरलता के दर्शन होते हैं तो रीति-परम्परा के इन कवियों की भाषा में नागरिक जीवन की, विविध प्रसाधनों पर आधारित, गर्वीली सुन्दरता के, जो नवयुग की देन होने पर भी अपनी कृत्रिमता में बार बार ऊब उठती है।

ख. अन्य परवर्ती कवि—इस वर्ग में संत, कृष्णभक्ति और राम-भक्ति-परंपरा के प्रमुख कवियों के साथ साथ सूरदास के परवर्ती वे सभी कवि आ जाते हैं जो भक्तियुग या रीतिकाल में व्रजभाषा में काव्य-रचना करके ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इनकी बड़ी लंबी सूची में से केवल रहीम (संवत् १६१०-१६८३), सुंदरदास (संवत् १६५३-१७४६), रसखान (रचनाकाल संवत् १६६५-७५), सेनापति (जन्म संवत् १६४६ के आसपास), लाल कवि (रचनाकाल संवत् १७६०-७०), घनानंद (संवत् १७४६-१७९६), महाराज सावतसिंह 'नागरीदास' (कविताकाल संवत् १७८०-१८२०), चाचा हितवृन्दावनदास (कविताकाल संवत् १८००-४५) आदि प्रतिनिधि कवियों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इस वर्ग के कवियों का आदर्श वस्तुतः सूरदास-जैसे कवियों से मिलता-जुलता था। काव्य के भाव और कला पक्षों में से रीति-परंपरा के कवियों ने द्वितीय की ओर इतना अधिक ध्यान दिया कि प्रथम की स्थान स्थान पर उपेक्षा-सी हो गयी। इसके विपरीत, इस वर्ग के कवि भाव-चित्रण में इतना अधिक तल्लीन हुए कि कला पक्ष का उन्हें जैसे ध्यान ही न रह गया। फिर भी व्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन तथा सत्य अर्थ में कवि होने के कारण भावों की अनुगामीनी होकर भी उनकी भाषा इस प्रकार निखर उठी कि उसके सहज सौंदर्य के सामने रीति-परंपरा के अनेक कवियों की अलंकृत भाषा की आयास-भ्रदत्त आभा भी फीकी सी पड़ गयी। इस वर्ग के कवियों में घनानंद के अतिरिक्त जेय प्रायः सभी कवियों की भाषा, यदि सूर-साहित्य का चुना हुआ भाग सामने हो तो, अधिक से अधिक उसके समकक्ष ही कही जा सकेगी। घनानंद की भाषा अवश्य सूरदास से अधिक सरस है तथा प्रौढ़ता और परिष्कृति में भी सूर की अधिकांश भाषा उसके समकक्ष नहीं कही जा सकती।

उन्नीसवीं शताब्दी के व्रजभाषा-कवियों में प्रतिनिधि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र माने जा सकते हैं। उनके पश्चात् उल्लेखनीय आधुनिक कवियों में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और श्री 'वियोगीहरि' ही ऐसे हैं जिनका व्रजभाषा के प्रति अनन्य प्रेम रहा है। भारतेन्दु जी की व्रजभाषा उतनी मगठिन नहीं कही जा सकती जितनी 'रत्नाकर' और 'वियोगीहरि' जी की भाषा है। सूरदास की अधिकांश रचनाओं में भी वैसी गठन और प्रौढ़ता नहीं दिखाती देती; परंतु वियोगी हरि का तो नहीं, 'रत्नाकर' जी का आदर्श बहुत-कुछ सूरदास के परवर्ती रीतिकालीन ग्रंथकारों में मिलता जुलता रहा है, यद्यपि उनका सा उक्ति-वैचित्र्य और मृदु-मृदु का चमत्कारी कौशल उन कवियों में भी कम ही दिखायी देता है। अतएव 'रत्नाकर' जी की रचनाओं में व्रजभाषा का वह प्रसादगुण मंथन और परिचिन रूप नहीं है जो सूरदास और घनानंद में है। वियोगी

हरि जी की भाषा में प्रसादगुण तो सूरदास के समान ही है; परन्तु मधुरता और सरसता सूर-काव्य की भाषा में ही अधिक है।

समीक्षा का सारांश—यों तो सामान्य भाषा से ही विषय-विशेष के सवध में कवि के विचारा का परिचय मिल जाता है, परन्तु काव्यभाषा, इसके अतिरिक्त, तीव्रतम आवेगों की वंसी ही अनुभूति पाठक को भी कराती है जैसी स्वयं उसके प्रयागवर्त्ता के अस्तित्व में उमड़ती है। जब तक सामान्य भाषा में यह गुण नहीं आता, तब तक वह काव्यभाषा का मान्य पद प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं होती। सूरकाव्य जिस भाषा में रचा गया है, उसमें काव्यभाषा की उक्त विशेषता प्रायः सर्वत्र मिलती है। जिन प्रसंगों का कवि ने चलनाऊ ढंग में लिखा है, पाठक या श्रोता भी उनको बड़े उदासीन भाव से पढ़ता या सुनता है, उसमें उसको रस नहीं मिलता। कारण यह है कि ऐसे स्थलों की भाषा सामान्य ही है, काव्यभाषा नहीं जिसके सामने विशेष दायित्व के निर्वाह का प्रश्न रहता है। परन्तु जिन प्रसंगों में कवि की अंतरात्मा रमी है, जिन विषयों में लीन होकर वह अपने अस्तित्व को ही कुछ समय के लिए भूल गया है और पत्रों की हृदयानुभूति से उसकी भावना का तादात्म्य हो गया है, उसकी भाषा वस्तुतः काव्य भाषा है जो पाठक या श्रोता की भी समान भावानुभूति को सजग करने में पूर्ण समर्थ है।

सूरदास के विनय-पदों को गाते गाते पाठक का स्वर दीन, वरुण और आर्द्र हो जाता है। बाल-लीला-प्रसंग पड़ते पड़ते उसका वात्सल्य उमड़ने लगता है, नद-यशोदा के सुख को अपना सुख समझकर उसका स्वर गद्गद् हो जाता है, सयोग शृंगार के पदों से उसकी प्रेम-वृत्ति सजग हो जाती है और सुखातिरेक में गोपियों के समान वह अपना भाग्य सराहता है, एव श्रीकृष्ण के प्रवास पर अपने परम प्रिय के वियोग का मार्मिक अनुभव करके कभी नद-यशोदा के माथ विसूरता है, कभी प्रेमोन्मादिनी गोपिकाओं के साथ निर्मोही प्रेमी पर खीझता है, कभी दुर्दैव का कोमलता है और कभी अपनी विवशता पर आँसू बहाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन विषयों के पदों में जिस भाषा का उपयोग सूरदास ने किया है वह सर्वत्र प्रसंगावेग की मद और तीव्र गति के अनुकूल है और उसमें पूर्ण भार-बहन की अपेक्षित सामर्थ्य भी है। फल-स्वरूप, ऐसे स्थलों की समर्थ भाषा कवि की भावाकुलता से पाठक को परिचित कराने के साथ साथ आकुलता की वंसी ही तरंगों इसके मानस में भी लहरा देती है।

और उक्त गुण सूरदास की भाषा में आ सका केवल उनकी, आयासहीनता के कारण। कूट पदों में उनकी विनोदी प्रवृत्ति ने भाषा के साथ खिलवाड़ किया है, उसमें जैसे प्रयास की सारी शक्ति उसने समाप्त कर दी है। इन पदों से विज्ञ पाठक चमत्कृत भले ही हो, परन्तु अभीष्ट अर्थ-प्राप्ति के लिए मानसिक व्यायाम और उद्योग करते करते उसका सर दुख जाता है। अतएव अपने काव्य के भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी स्थलों के लिए सूरदास ने जिस भाषा को स्वीकार किया, वह सर्वथा प्रयास-रहित है। वस्तुतः विषय-लीनता की यथार्थ स्थिति में कवि का ध्यान

भाषा की ओर जाता ही नहीं। और यदि कभी वह भाषा को सप्रयासे अलंकृत करने में प्रवृत्त होता है तो समझना चाहिए कि कवि की अनुभूति इतनी प्रबल थी ही नहीं कि उसकी वृत्ति विषय में पूर्णतया रम सकती। रूप-वर्णन वाले पदों में भाषा की आलंकारिकता भी इस बात का सबल प्रमाण है कि सूर की रचना में हृदय और मस्तिष्क, दोनों का योग है—हृदय का योग विषय-निर्वाचन मात्र में और मस्तिष्क का उसके कल्पनाप्रधान चामत्कारिक वर्णन में। भावपूर्ण पदों की रचना में, इसके विपरीत, कवि का हृदय-पक्ष इतना प्रधान हो जाता है कि भानसिक सूक्ष्मज्ञ की उल्लेख-कूद में रुचि लेने अथवा कल्पना का चमत्कार दिखाने की ओर उसका ध्यान जाता ही नहीं। व्यवहार में जिस प्रकार हृदय की मुखता बाह्याकर्षण की अपेक्षा नहीं रखती; उसी प्रकार रुचिकर विषय पाकर कवि के हृदय में उमड़ने-वाले उद्गार भी भाषा के साज-शृंगार की प्रतीक्षा नहीं करते।

भावानिरेक की स्थिति में रचे गये पदों में सूरदास ने भाषा की शुद्धता की भी बहुत अधिक चिन्ता नहीं की है। तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव, देशज, देशी-विदेशी, नये-पुराने, किसी भी शब्द से काम लेने में उन्होंने कभी सकोच नहीं किया है। भाव-व्यञ्जना ही जब कवि का एकमात्र ध्येय होता है, तब किसी प्रकार का प्रतिबन्ध वह अपने ऊपर नहीं लगाना चाहता। उसे तो सार्थक एवं उपयुक्त शब्द चाहिए, वह किसी भी भाषा का क्यों न हो, यद्यपि उसका प्रचलित होना अवश्य आवश्यक है। इस आयासहीनता की स्थिति में भी सूरदास ने इतना ध्यान बराबर रखा कि कोई अनुपयुक्त अथवा अप्रचलित शब्द उनकी रचना में न आ जाय। इसके लिए उन्हें शब्दों के रूप भले ही विकृत करने पड़े हो, नये तद्भव और अर्द्धतत्सम रूप भले ही गढ़ने पड़े हों, परन्तु अममर्थ शब्द का प्रयोग करना उन्हें कभी स्वीकार नहीं हुआ।

विकासोन्मुख भाषा का प्रवाह बेगवती सरिता के समान होता है जिसका मार्ग सर्वथा परिवर्तित कर देने का प्रयास बुद्धिमानी का नहीं समझा जा सकता। सूरदास इस रहस्य से अवगत जान पड़ते हैं। काव्य रचना के लिए उन्हें जो व्रजभाषा प्राप्त हुई थी, उसमें मौखिक या लिखित, जो भी साहित्य रहा हो, थी वह विकास को प्रारम्भिक अवस्था में ही और एक सीमित क्षेत्र की भाषा ही। उसकी स्वाभाविक मधुरता, सरसता, प्राजलना लोच यदि गुणों ने भले ही क्षेत्रीय तथा अन्य कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया हो, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि काव्यभाषा बनने की सम्यक् सामर्थ्य सूरदास के पूर्व तक, उसे नहीं प्राप्त हो सकी थी। गूढ़-गभीर भावों की व्यञ्जना में तो वह असमर्थ थी ही नहीं, उसका न सौंदर्य निखर सका था, और न उसका शब्द-कोश ही भरा-पुरा था। उसका रूप भी अनगढ़, मिश्रित और एक सीमा तक अनिश्चित था।

व्रजभाषा की धी और समृद्धि-वृद्धि के लिए सूरदास ने व्रजभाषा को अपनाकर, उसका रूप निखारा; उसकी मधुरता, मुकुमारता, प्राजलना आदि को प्रत्यक्ष सिद्ध करके क्षेत्र बढ़ाया, उसको लोकप्रिय बनाया और उसको काव्यभाषा के मान्य पद पर प्रतिष्ठित

किया। साथ साथ भाषा का सस्कार-परिष्कार करके विषयानुकूल उसके मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक रूपों के विकास में योग दिया जिसमें उसका सौंदर्य निस्तर आया और वह सभी प्रकार के मनोभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति से संपन्न हो सकी। यही नहीं, संगीत के सहयोग से मूरदास की ब्रजभाषा का नैसर्गिक माधुर्य तो निखरा ही, वह लचीलापन और सौकुमार्य भी उसको प्रदान किया गया जिसके लिए कुछ आधुनिक भारतीय भाषाएँ आज भी लालायित हैं।

समृद्धि वृद्धि के लिए उन्होंने उनके शब्द-भांडार को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। जनवाली, प्रांतीय और देशी-विदेशी भाषाओं के मँकड़ों पदों, मुहावरों और लोकांतियों का अपनाने के साथ साथ अनेक आवश्यक शब्दों का उन्होंने निर्माण भी किया। विदेशी प्रयोगों का स्वयं में उन्होंने निश्चित नीति निर्धारित की कि उनको किस रूप में अपनाया जाय और उनके आधार पर किस प्रकार नवीन रूपों का निर्माण किया जाय जो ब्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुरूप हों। विदेशी शब्दों को निसकोच अपनाकर भी अपनी भाषा पर उनका प्रभाव इतना अधिक उन्होंने नहीं पड़ने दिया कि वह खटकने लगता। तात्पर्य यह है कि अन्य भाषाओं के शब्द-रूपों को ग्रहण करके भी उन्होंने ब्रजभाषा की मूल प्रकृति की रक्षा का मर्दव प्रयत्न किया। अपनी भाषा में अन्य वालिया और विभाषाओं के ऐसे शब्द ही उन्होंने सम्मिलित किये जिन्होंने सर्वथा उसी के अनुशासन में रहना स्वीकार कर लिया, जो उसके व्याकरण से शासित होकर ही विभिन्न रूप रचना के लिए प्रस्तुत हो सकें। ऐसे शब्दों में अधिकांश ब्रजक्षेत्र की जनभाषा में बहुत समय से प्रचलित थे और घुलमिल कर उसी का अंग हो गये थे। इस कारण एक तो उनमें 'बाहरीपन' रह ही नहीं गया था और यदि कुछ था भी तो कवि द्वारा प्रयुक्त होने के पूर्व उसको त्याग देना उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

'सूरसागर' में आदि से अंत तक अनेक प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनका वर्णन कवि ने कई कई पदों में किया है। विषय की समानता रखते हुए सहृदय पाठक इन प्रसंगों से ऊबता नहीं, उसका प्रत्येक पद में कुछ न कुछ नवीनता ही मिलती है। जिन गुणों के कारण ऐसे पदों में यह विशेषता आ सकी, उनमें भाषा का भी प्रमुख स्थान है। वही तो इन पदों का आरम्भ मूरदास ने नयी तुक से किया है, वही भाषा के मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक रूपों में से एक को छुड़ाकर दूसरे अथवा तीसरे को अपनाया है, वही मुहावरों कहावतों के प्रयोग से भाषा को लाक्षणिकता प्रदान की है और सबसे बड़ी बात यह है कि शब्दों की आवृत्ति में वे बराबर नचते रहे हैं। भाषा-मन्त्रियों ये चारों विशेषताएँ सूर-काव्य के प्रायः समस्त भाषिक प्रसंगों में देखने को मिलती हैं। जिस अध कवि को स्व-रचित काव्य सशोधन-परिवर्द्धन के लिए कभी न मिला हो, उसकी स्मरण शक्ति निस्संदेह असाधारण रही होगी, तभी तो वह एक ही प्रसंग को कई कई पदों में लिखकर भी शब्दों और तुकों की आवृत्ति में बचा सका। वाक्यांशों अथवा उपवाक्यों की आवृत्ति के जो दो-चार उदाहरण इन्हीं गिने पदों में देखने को मिलते भी हैं, वे एक तो बहुत सामान्य हैं और दूसरे, उनकी आवृत्ति इतनी बार नहीं हुई है कि सरलता से पाठक

को उनका पता लग सके । इससे स्पष्ट है कि सूरदास का शब्द-कोश अन्नपूर्णा के भांडार की भाँति सदैव पूर्ण रहता था । शब्द-चयन के लिए मस्तिष्क को टटोलने की आवश्यकता तो उन्हें कभी पड़ती ही नहीं थी । अतएव यदि कहा जाय कि भाषा-भांडार की अक्षयता ने मूर-काव्य की रसात्मकता-वृद्धि में सदैव योग दिया, तो कोई आत्युक्ति न होगी ।

आशय यह है कि विषय का प्रतिपादन सूरदास ने सदैव ऐसी भाषा में किया है जो उपयुक्त होने के साथ साथ सभी वर्गों के पाठकों के लिए बोधगम्य है । सामान्य और विज्ञ पाठक क्रमशः उसके वाच्य और लक्ष्यार्थ से सन्तुष्ट हो जाते हैं तो भावुक और सहृदय उसकी वक्तता, और व्यंग्ययुक्त ध्वनि पर मुग्ध होते हैं । मुहावरों-कहावतों के प्रेमियों के लिए मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री उनके काव्य में विद्यमान है, तो विषयानुकूल भाषा के प्रसाद और माधुर्य गुणों की सरस धाराएँ सभी काव्य रसिकों को रमसिक्त करके अभीष्ट वृत्ति प्रदान करती हैं ।

यहाँ एक शका का समाधान करना आवश्यक है । अष्टछाप के अन्य आठ कवि सूरदास के समकालीन थे और सभी ने ब्रजभाषा में उत्कृष्ट रचना की है । ऐसी स्थिति में ब्रजभाषा के प्रारम्भिक विकास, उसकी श्री-समृद्धि-वृद्धि और क्षेत्र-विस्तार का अधिक श्रेय सूरदास को क्यों दिया जाय और क्यों न यह स्वीकार किया जाय कि अष्टछाप के समस्त कवियों के सम्मिलित उद्योग का ही सुफल था ब्रजभाषा का वह संस्कार, परिष्कार और विकास जिसमें उसका प्रसार-व्यापार बढ़ा और रूप भी अत्यंत आकर्षक हो गया ? इस प्रश्न में बल है, इसमें सन्देह नहीं । यह भी ठीक है कि अष्टछाप के सभी कवियों के आराध्य एक है, वर्ण्य विषय प्रायः समान है, दृष्टिकोण में बहुत-कुछ समानता है और शैली भी मिलती-जुलती है; फिर भी अन्य सात कवियों से सूरदास की ब्रजभाषा की देन अधिक महत्वपूर्ण है । स्वयं कवि सूर ही अपने समवर्गियों से कई बातों में भिन्न है । पहली बात है सूरदास की अंधता जिसने कवि के साथ सबसे बड़ा उपकार यह किया कि उसे सासारिकता के सभी बंधनों और आकर्षणों से हटाकर एक ही केंद्रित विषय में लीन कर दिया । सूरदास की चमत्कारपूर्ण और अनूठी उक्तियाँ लीनता की देन हैं जिसके मूल में उनकी अंधता का वरदान मानना चाहिए ।

दूसरी बात है सूरदास की जन्मजात विरक्ति जिसने आरम्भ में ही उसे स्वानुभूत काव्य-रचना की प्रेरणा दी, अपनी अकिंचनता पर गर्व करने का बल दिया और सासारिक वैभव की निस्सारता, जीवन की क्षणभंगुरता जैसे विषयों पर मनन करने की योग्यता भी प्रदान की । अंधता और विरक्ति के सम्मिलित योग में वह अव्ययन से भी वंचित रहा जिससे मस्तिष्क से अधिक उसके हृदय का विकास हो गया; तर्कप्रधान बुद्धि की अपेक्षा हृदय की भावुकता प्रधान हो गयी जिससे सगुण लीलाओं में ही उसकी वृत्ति रम सकी । रचना की अधिकता, विभिन्न विषयों को हृदयगम करने में सहायक ग्राहक वृत्ति, विविध राग-गगनियों का अपार ज्ञान आदि अन्य बातें हैं जिनमें सूरदास अपने समवर्गियों से आगे है । इन सबका सम्मिलित परिणाम यह है कि सूरदास, कवि के नाते जिस प्रकार उनमें बढकर है, उसी प्रकार भाषा-निर्माता के रूप में भी । और यही कारण है कि

व्रजभाषा-विकास में अबेले सूरदास का जितना योग रहा, उतना अष्टछाप के सभी कवि नहीं दे पाये ।

सूरदास की भाषा के सम्बन्ध में प० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—‘सूर में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचारधारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग नहीं देते, केवल पाद पूर्ण्य लादे गये जान पड़ते हैं’^१ । इस सम्बन्ध में निवेदन है कि जो अब कवि साधन-हीनता के कारण स्वयं अपना वाक्य लिख न सका हो, न जिसे दूसरे की लिखी प्रति दोहराने का ही अवसर मिला हो, उसकी रचना में यदि उक्त दोष हो तो किसी सीमा तक क्षम्य ही समझा जायगा । परंतु शुक्ल जी का उक्त कथन, सूरदास के लगभग उन दो सहस्र पदों के सम्बन्ध में, जो कवि की महत्ता के कारण है और स्वयं शुक्ल जी ही जिनकी प्रशंसा करने नहीं पकन, ठीक नहीं कहा जा सकता । शुक्ल जी द्वारा संकेतित उक्त दोष तो वस्तुतः उन पदों में मिलता है जो सूरदास द्वारा सर्वथा अस्वीकृत लिख दिये गये थे । ऐसे पद कवि की रचना का किसी भी रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करते और ‘वर्था-पूर्त्यर्थ’ हान के कारण बहुत साधारण हैं । अतएव सूरदास की भाषा में दिखाये गये उक्त दोष का अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता ।

बाबू श्यामसुंदरदास ने प्रतिभावान् कवियों की भाषा को भावों की नीत दासी’^२ कहा है । इससे तात्पर्य यह है कि भावों के सामने भाषा अनुचरी-सी रहती है और उनकी आवश्यकतानुसार उपयुक्त शब्द अनायास प्रस्तुत हो जाते हैं । वह भावों के संकेत पर ही सेविका की भांति सदैव प्रस्तुत रहती है । ऐतिहासिक अनेक कवियों की भाषा ने अपने में इतनी चमक-दमक पैदा कर ली है कि कभी कभी पाठक का ध्यान भाव की ओर न जाकर भाषा की ओर ही आकृष्ट हो जाता है । सूरदास की भाषा कभी ऐसा दुस्साहस नहीं करती, उसे अपने दायित्व और अपनी मर्यादा का सदैव पूरा पूरा ध्यान रहता है ।

ऐतिहासिक कवियों की भाषा-विषयक विशेषज्ञों की ओर संकेत करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने एक स्थान पर कहा है—‘उसमें ऐसे ऐसे ललित और भाव-व्यंजक शब्द मिलते हैं और ऐसे प्रयोग और मुहावरे कि मन यही चाहता है कि पद को केवल शब्द और मुहावरे के लिए याद कर लिया जाय’^३ । सूरदास में यद्यपि यह विशेषता पचासों पदों में पायी जाती है और उनकी संकड़ी पक्तियाँ अनायास विशिष्ट प्रयोगों के कारण एक बार पढ़ते ही कठस्थ हो जाती हैं, तथापि न तो केवल भाषा-चमत्कार-वृद्धि के लिए सूरदास ने इनका प्रयोग किया है और न केवल भाषा-चमत्कार-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही यह आयोजन किया गया है । सूरदास की वाणी भाव-रूप कृष्ण के लिए गोपियों की सी अनन्यता धारण किये हुए है जिसका सारा सुख उसके निखरने में, सारा शृंगार उसके बोध में और सारा चयनायास उसके उपयुक्त बनने के लिए है । बोरे चमत्कार प्रेमी उद्धवों ने उनका कभी मेल नहीं खाता ।

१. पंडित रामचंद्र शुक्ल, ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’, पृ० १७६ ।

२. साहित्यालोचन’, पृ० ८३ ।

३. डा० भगीरथ मिश्र, ‘हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास’, पृ० ४१२ ।

अतः में विजय भी उसी की होती है और सभी उद्धव भाव-विभोर होकर भाषा की अनन्यता की प्रशंसा करते नहीं अघाते ।

अपने परम प्रिय आराध्य की जन्मभूमि की भाषा की श्री-समृद्धि और व्यजनाशक्ति-वृद्धि के लिए इस अंध कवि ने जो अभिनंदनीय कार्य किया, वह साधारण नहीं था और न सामान्य व्यक्ति के बूते का ही था । अतएव यह देखकर चकित रह जाना पड़ता है कि सर्वप्रमुख प्राकृतिक देन — नैर्घेन्द्रिय—मे वंचित यह अंध कवि अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक किस निष्ठा के साथ काव्य-रचना में रत रहकर उक्त महान् कार्य का संपादन कर सका । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को श्रीकृष्ण के लीला-गान मात्र के लिए उत्साहित किया था । उनकी आज्ञा का सर्वांशतः पालन करने के साथ साथ सूरदास ने श्रीकृष्ण की लीला-भूमि की भाषा को भी अमर कर दिया । अपनी जननी के ऋण से सूरदास किस प्रकार मुक्त हुए, इसका पता तो हमें नहीं है परन्तु इसमें कोई सदेह नहीं कि व्रजभाषा को श्री-स्मृद्धि के साथ अपूर्व गौरव प्रदान करके मातृभाषा के ऋण से वे अवश्य मुक्त हो गये । उनके इस अभिनंदनीय कार्य के सम्बन्ध में, संक्षेप में, यही कहना होता है कि व्रजभाषा को पाकर कवि सूर कृतकृत्य हो गया और व्रजभाषा उसको पाकर धन्य हो गयी ।

परिशिष्ट एक

सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या

किसी कवि के काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या का पता लगाना मुख्यतः दो दृष्टियों से उपयोगी होता है। एक तो इसमें ध्यान-विशेष की भाषा की स्थिति, शक्ति, और प्रकृति का परिचय मिल जाता है और दूसरे, कवि के भाषा ज्ञान और भाषा-सबधी उसके दृष्टिकोण का पता चलता है। इन दोनों प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति कवि विशेष की रचनाओं में प्रयुक्त शब्दों की संख्या-मात्र दे देने से नहीं हो सकती। वस्तुतः इस प्रकार के अध्ययन के तीन प्रमुख पक्ष हैं—प्रथम, कवि द्वारा प्रयुक्त तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव शब्दों, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय शब्द-भेदों की संख्या ज्ञात करना, द्वितीय, विभिन्न विषयों पात्रों और भावों के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूप में तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव देशी विदेशी शब्दों के अनुपात में अंतर ज्ञात करना और तृतीय, यह जानना कि प्रमुख शब्द अथवा उसका विकृत रूप कवि के काव्य में अपवाद-स्वरूप, सामान्य और विशेष अथवा सर्वत्र, किस प्रकार प्रयुक्त हुआ है।

उक्त पक्षों को ध्यान में रख कर किसी कवि की रचना का अध्ययन करना है तो बहुत रोचक और उपयोगी, परंतु यदि प्रामाणिक रचना और सुसंपादित प्रामाणिक पाठ मुलभ न हो तो अध्येता का कार्य बहुत कठिन हो जाता है, मूरदास के संबंध में यह अभाव दोहरा है। पढ़ने तो उनके प्रामाणिक ग्रंथों की संख्या में ही मतभेद है, फिर उनके प्राप्त सस्वरणों का पाठ भी सर्वमान्य नहीं है। नागरी-प्रचारिणी सभा का जो सस्वरण कई वर्षों पूर्व निकला था वह तो अधूरा था ही, जो नया और पूर्ण सस्वरण सभा की ओर से प्रकाशित हुआ है, उसका पाठ भी बंबई, कलकत्ते और लखनऊ के सस्वरणों से भिन्न है। अतएव इसके प्रकाशित होने के पूर्व तक तो, हिंदी के इस सर्वोत्तम गीति काव्य के प्रामाणिक सस्वरण की समस्या थी ही, आज भी उसके क्रम और और पाठ में सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं। उधर 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर-सारावली' की कोई प्राचीन प्रति न मिलने से इनका पाठ तो सर्वथा असंपादित है ही, इनकी प्रामाणिकता भी, कुछ विद्वानों की सम्मति में, सदिग्ध है।

ऐसी स्थिति में, शब्द-संख्या-संबंधी अध्ययन के लिए सुगम मार्ग यही हो सकता है कि नागरी-प्रचारिणी सभा के 'सूरसागर' को, चैकटेस्वर प्रेम से प्रकाशित 'सूरसागर' के आदि में दी गयी 'सूरसागर-सारावली' को और लहरियासराय से प्रकाशित 'साहित्य लहरी' को प्रामाणिक मान लिया जाय। प्रस्तुत प्रबंध के अध्ययन के लिए यही किया गया है, यद्यपि, कई स्थलों पर, विशेष कारणों से, चैकटेस्वर प्रेम से प्रकाशित 'सूरसागर' के अतिरिक्त, नवल किशोर प्रेम के 'सूरसागर' के साथ प्रकाशित 'सारावली' के भी उदाहरण दिये गये हैं।

शब्द-संख्या-अध्ययन के जिन तीन पक्षों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमें से द्वितीय अर्थात् विभिन्न प्रसंगों, पात्रों और भावों के अनुसार तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों के अनुपात के मन्त्र में स्पष्ट संकेत प्रस्तुत प्रबंध के पाँचवें अध्याय में स्थान-स्थान पर किये गये हैं। इसी प्रकार तृतीय अर्थात् किम शब्द का प्रयोग कवि ने विशेष रूप से किया है, किमका सामान्य रूप से, कौन शब्द रूप सूर-काव्य में सर्वत्र पाया जाता है और कौन अषवादस्वरूप आदि बानें तीसरे और चौथे अध्यायों में यथावसर कही गयी है। भाषा के शुद्ध साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से वस्तुतः इसी प्रकार का निर्देशन रोचक और उपयोगी होता है।

अब रह जाता है प्रथम पक्ष अर्थात् सूरदास द्वारा प्रयुक्त शब्दों की संख्या का प्रश्न। इनकी गणना भी दो प्रकार से होती है। प्रथम के अनुसार केवल मूल रूपों की गणना की जाती है और विकृत रूप उसी के अतर्गत समझ लिये जाते हैं। द्वितीय के अनुसार मूल के साथ-साथ समस्त विकृत रूपों की भी गणना होती है। प्रथम अर्थात् मूल रूपों की गणना, भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि में अध्ययन करनेवालों के लिए रोचक होती है और विकृत रूपों का संकलन उस वर्ग के पाठकों के लिए उपयोगी होता है, जो भाषा-विशेष की प्रवृत्ति और उसके व्याकरण के नियमों से परिचित नहीं होने और जिन्हें एक शब्द के लिंग, वचन और काल के अनुसार परिवर्तित विभिन्न रूपों की पहचानने में कठिनाई होती है।

सूर-काव्य में प्रयुक्त मूल और विकृत रूपों की सम्मिलित संख्या तो लगभग पचीस हजार है; परन्तु मूल रूप लगभग आठ हजार हैं। इनमें से आधे के लगभग संज्ञा शब्द हैं। लगभग एक चौथाई में विशेषण और अव्यय शब्द हैं और शेष सर्वनाम और क्रिया शब्द हैं। संज्ञा, विशेषण और अव्यय शब्द इस प्रकार की गणना में उतने महत्व के नहीं होते जितने सर्वनाम और क्रिया-शब्द होते हैं। सूर-काव्य में विभिन्न वारकों में प्रयुक्त विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त मूल और विकृत लगभग सात सौ सर्वनाम^१-रूपों की सूची पीछे दी गयी है। दस पाँच रूप भले ही उसमें छूट गये हों, यो वह सूची पूर्ण है और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सूरदास ने मूल और विकृत विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त लगभग सात सौ सर्वनामरूपों का प्रयोग अपने काव्य में किया है^२।

उक्त गणना के अनुसार सूर काव्य में प्रयुक्त मूल क्रिया-रूपों की संख्या लगभग तेरह सौ और उनके विकृत रूपों की संख्या लगभग पाँच हजार है। यद्यपि चाँचे

१. प्रस्तुत प्रबंध के पृष्ठ १८७, १९३, २०५, २२२-२, २२९, २३५-६, २३९-४, २४५, २४७, २५२, २५४, २५९-६०, २६९ २७३ और २७४।

२. एक ही सर्वनाम-रूप वारक के जितने भेदों में प्रयुक्त हुआ है, उसके उतने ही विकृत रूप मानकर उक्त गणना की गयी है। बलात्मक रूप अवश्य छोड़ दिये गये हैं—लेखक।

परिच्छेद में लिंग, वचन और काल के अनुसार क्रिया के विकृत रूपों के पर्याप्त उदाहरण दिये जा चुके हैं, परन्तु उनसे मूल क्रिया रूपों की गणना में कोई सहायता नहीं मिल सकती। अतएव सुविधा के लिए यहाँ लगभग एक हजार मूल क्रिया-शब्दों की सूची दी जा रही है जिनके विकृत रूप मूल काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। इन क्रियाओं में से अधिकांश रूप अवर्ग हैं। इनमें से बहुत सी क्रियाओं के स्वर्ग और प्रेरणाध्वं रूपों का स्वतन्त्र प्रयोग भी मूल-काव्य में हुआ है, परन्तु उनके भी अवर्ग मूल रूप ही यहाँ दिये गये हैं। जो स्वर्ग रूप यहाँ दिये गये हैं, उनमें अधिकांश ऐसे हैं जिनके अवर्ग रूपों का प्रयोग या तो हुआ ही नहीं है या बहुत कम हुआ है।

अँकुरना, अँगवानना, अँगोद्धना, अँचवना, अँजोरना, अँटवना, अवनना, अववकाना, अकरना, अकर्पना, अकुचना, अकुलाना, अकूतना, अगिमाना, अगोटना, अगोरना, अघाना, अटवना, अटकरना, अटपटाना, अठलाना, अडना, अतुराना, अथवना, अधिवाना, अधीनना, अनखना, अनरना, अनुभवना, अनुमानना, अनुरागना, अनुराधना, अनुमरना, अनुहरना, अनैसना, अन्हाना, अपडरना, अपनाना, अपमानना, अपसोचना, अपमोक्षना, अपहरना, अभिलाषना, अभिसरना, अमातना, अमाना, अरभना, अरगाना, अरधाना, अरपना, अरवराना, अरराना, अरमना, अराधना, अरक्षना, अरनना, अरोगना, अरोहना, अलगाना, अलसाना, अलापना, अवगारना, अवगाहना, अवतरना, अवराधना, अवरेखना, अवलघना, अवलवना, अवलीकना, अवसेरना, असीसना, अहुटना, अहना।

आँवना, आँचना, आँजना, आचरना, आदरना, आनदना, आनना, आना, आपूरना, आराधना, आसना।

इठलाना, इतराना।

उकठना, उकमना, उखरना, उगना, उगलना, उगाहना, उघटना, उघरना, उच्चवना, उच्चटना, उचना, उचरना या उच्चरना, उच्छलना या उद्धलना, उजरना, उझवना, उठना, उडना, उतरना, उदमानना, उदवना, उद्धरना, उघरना, उनवना, उनमानना, उपचारना, उपजना, उपटारना, उपदेसना, उपराजना, उपहासना, उपाटना, उपारना, उपासना, उफनना, उबटना, उवरना, उमँगना, उमचना, उमडना, उमहना, उरक्षना, उरसना, उलघना, उलटना, उलीचना, उवना, उसरना, उमघना।

ऊवना, ऊभना।

ऐँचना, ऐँटना, ऐँडना।

ओद्धना, ओटना, ओडना, ओडना, ओपना।

औधना, औटना।

कँपना, कटना, कढना, कतरना, कथना, कदराना, कमाना, कटना, कर्षना, करारना, कराहना, करुआना, करोना, कल्पना, कलमलाना, कलोलना, कल्हरना, कसवना, कसना, कहना, कहरना, कौधना, काछना, किचकिचाना, किटकिटाना, किलकारना, कीलना,

कुँभिलाना या कुम्हताना, कुढ़ना, कुरवारना, कुँजना, कूकना, कूटना, कूदना, कोपना, कोरना, कोसना, कौधना, क्रीड़ना ।

खंडना, खगना, खचना, खटकना, खटाना, खतियाना, खनना, खरचना, खरभरना, खसना, खाना, खिलना, खिसाना या खिसियाना, खीजना या खीझना, खुदना, खुलना, खूंदना, खूटना, खेना, खेलना, खँचना, खोसना, खोना, खोजना, खोरना, खोलना ।

गँधाना, गँवाना, गँसना, गटकना, गठना, गड़ना, गढ़ना, गनना या गिनना, गमना या गवनना, गरजना, गरना या गलना, गरबना या गरवाना, गरराना, गर्वाना, गहगहाना, गहना, गहरना, गाजना, गाना, गिरना, गिलना, गौधना, गुजना या गुजारना, गुनना, गुमकना, गुहना, गुहराना या गोहराना, गूँथना, गूँदना, गेरना, गोना या गोबना, ग्रसना, ग्रहना ।

घटना, घबराना, घमकना, घसना, घहरना, घालना, घिनाना, घिरना, घिसना, घुनना, घूमडना या घुमरना, घुड़कना या घुरकना, घुरना, घुलना, घुसना, घूटना, धूमना, धेरना, धोरना या धोलना ।

चकचौंधना, चखना, चखीरना, चटकना, चटचटाना, चटपटाना, चटाना, चढ़ना, चपना, चपरना, चमकना, चमचमाना, चरचना, चरना, चलना, चसना, चहना या चाहना, चाँपना, चाटना, चापना, चाबना, चितना, चितवना, चीतना, चीन्हना, चुबना, चुगना, चुचाना, चुचुकारना, चुनना, चुभना, चुराना या चोराना, चुबना, चुसना, चुहचुहाना, चूकना, चूना, चूमना, चूरना, चेतना, चोटना-फोटना, चौकना, चौंधना या चौंधियाना ।

छटना, छकना, छटकना, छतना, छपना या छिपना, छमना, छरना, छलकना, छलना, छहरना, छाँड़ना, छाना, छाजना, छिटकना, छिड़कना या छिरकना, छिदना, छिनना, छिपना, छोटना, छीजना, छीलना, छुटना, छूना, छेकना, छेदना, छोभना, छोडना या छोरना ।

जँचना, जँभाना या जम्हाना, जकड़ना या जकरना, जकना, जगना या जागना, जगमगाना, जटना, जड़ना या जरना, जताना, जनना, जन्मना या जन्मना, जपना, जमना, जरना या जलना, जाँचना, जानना, जाना, जीतना, जीना, जीमना या जैवना, जुटना, जुठारना, जुडना या जुरना, जुडना, जुवना, जूझना, जोवना या जोहना, जोहारना ।

झँलना, झँपना, झकझोरना, झकना, झगड़ना या झगरना, झझकना, झटकना, झनकारना, झरटना, झमकना, झपना, झरना, झरहरना, झलकना, झलमलाना, झहनना, झहरना, झींकना, झिझकारना, झिड़कना या झिरकना, झुझाना या झुझलाना, झुक्ना, झूठवना, झुनकना, झुरना, झूमना, झूना, झूजना, झेरना, झेलना, झोंकना ।

टंकोरना, टकटकाना, टकटोरना या टकटोहना, टकराना, टटोलना, टपकना, टरना या टलना, टूटना, टूठना, टेकना, टेरना, टोकना, टोना, टोरना ।

ठंगना, ठटना, ठठकना या ठिठकना, ठठना, ठयना, ठहरना, ठाढ़ना, ठेलना, ठोकना ।

डगडोलना, डगमगाना, डटना, डबडबाना, डरना या डरपना, डमना, डहकना, डहना, डोंटना, डाढ़ना, डारना या डालना, डसना, डिंगना, डीठना, डुलना या डोलना, डूबना ।

ढँडोरना, ढकना, ढकिलना, ढरकना, ढरना या ढलना, ढरहरना ढहना ढोलना, डुकना, डुरना, ढूँढना, ढोना, ढोरना ।

तकना, तचना, तजना, तडकना या तरकना, तडतडाना या तरतराना तडपना, तनना तपना, तमकना, तमनमाना, तयना, तरजना, तडफडाना या तरफराना, तरसना, तरहरना, तलना, तलफना ताकना, ताडना, तानना, तावा तापना, तिनकना या तिनगना, तुतराना या तुननाना, तुभना, तुलना, तूटना, तूलना, तैरना, तोडना या तारना, तोपना, तोमना, त्यागना, त्रासना, तृपिनाना ।

थकना, थपना, थमना, थरथराना, थरसना, थराना, थहाना, थिरकना, थिरना ।

दंडना, दचना, दरकना, दरपना, दरसना, दलकना, दलना, दहकना, दहना, दहरना या दहलना, दाँकना, दागना, दाधना, दिपना या दीपना, दीखना या दीसना, दुसना, दुतकारना, दुवकना, डुरना, डुलराना या डुलारना, दुहना, दूमना, दृढ़ना, देना, दोषना, दीचना, दीडना या दौरना, दुबना ।

धँसना, धकधकाना या धगधागाना, धडकना या धरकना, धधकना, धपना, धरना, धरहरना, धसकना या धसना, धाना या धावना, धापना, धारना, धिरकना या धिराना, धुँगारना, धुकना, धुनना, धुपना, धुरना, धुलना, धूतना, धोना, धौकना, धौसना, ध्यानना या घ्याना ।

नकाटना या नखोटना, नँचना, नचना या नाचना, नजिवाना, नटवना, नमना या नवना, नसना, नाखना, नाटना या नाठना, नाना या नावना, नापना, नारना, निंदना, निक्कलना या निक्सना, निगवना, निग्रहना, निघटना, निचुडना, निदरना, निपजना, निपटना या निवटना, निपाटना, निवरना, निवहना, निभना, निमज्जना, निरखना, निरधारना, निरखहना, निरवारना या निस्वारना, निर्माना, निवारना, निर्वरना, निस्तरना, निहारना, निहोरना, नुचना, नेवतना, नोवना, नोवना, न्योनना ।

पँवरना, पक्कडना या पकरना, पकना, पखारना, पगना, पधना, पछडना, पछनाना या पछिताना, पछोडना या पछोरना, पजरना, पटकना, पटतरना, पठाना, पडना, पडना, पतिआना, पतीजना या पतीनना, पधारना, पनपना, परखना, परगासना, परचना, परजरना, परतेजना, परबोधना, परमना, परामना, पराना, परिरभना, परिहरना, परेखना, पलटना, पलना, पलाना, पलेडना, पनीटना या पनोवना, पसरना, पसीजना, पहचानना, पहनना, पहुँचना, पाना, पारना, पिघनना, पिछडना, पिटना, पिराना, पिसना, पीना, पीसना, पुकारना, पुचकारना, पुजना, पुरना या पुरवना, पुलकना, पूछना, पेखना, पेरना या पेलना, पँटना, पँरना, पाछना, पानना, पोपना या पोसना, पोहना, पोढ़ना, प्रगटना, प्रचारना, प्रजारना, प्रबाधना, प्रमानना, प्रममना, प्रहारना ।

फँदना, फँसना, फटकना, फटकारना, फटना, फडकना या फरकना, फवना, फेरना या फलना, फरहरना, फहरना, फाँकना, फाँदना, फिरना, फिमलना, फुंकना, फुफकारना, फुरना, फुसलाना, फूटना, फूलना, फेंकना, फेरना, फैलना, फोडना ।

वकना, वकसना, बखानना, बगरना, बचना, बझना, बटना, बड़ना, बनना, बनिजना, बरना, बहकना, बहना, बहराना, बाँछना, बारना, बिकलना, विकसना, बिचरना, बिचलना, बिचारना, बिडरना, बित्ताना, बिथकना, बिथरना, बिदरना, बिधना, बितसना, बिमोचना, बिमोहना, बिरचना, बिरमना, बिराजना, बिस्सना, विलपना, बिलमना, बिलसना, बिलोकना, बिलोना, बिममरना, बिस्तरना, बीधना, बीतना, बुडाना, बेचना, बैठना या बैसना, बोधना, बोलना, ब्यापना, ब्याहना, ब्रीड़ना ।

भंजना, भखना या भच्छना, भजना, भटकना, भडकना, भनना, भभरना, भरना, भरभराना या भरहरना, भरमना, भरहाना, भागना, भानना, भाना, भारना, भाषना, भासना, भिड़ना, भिदना, भोगना या भोजना, भुरकना, भुरचना, भुगतना, भूँकना या भूसना, भूराणा, भूँजना, भूनना, भूलना, भेटना, भेजना, भेदना, भेषना या भेसना, भ्रमना, भ्राजना ।

मँडना, मँडराना, मचकना, मचना, मचलना, मजना या मज्जना, मटकना, मठना, मथना, मनसना, मनुहारना, मरना, मरोडना, मर्दना, मलना, मल्हराना या मल्हाना, मसकना, मसलना, माँगना, माँचना या माचना, माँडना या माडना, माखना, मासना, मानना, माषना, मिटना, मिलना, मीड़ना, मुँदना, मुकरना, मुडना या मुरना, मुरकना, मुरछना, मुरझना, मुसकाना या मुसकराना, मूठना, मेलना, मोकना, मोचना, मोहना ।

रँगना, रजना, रँभाना, रखना, रगड़ना, रचना, रच्छता, रजना, रटना, रताना, रतना, रपटना, रबकना, रमना, रलना, रसना, रहना, रहमना, रीचना, रीधना, रीभना, राचना, राजना, रानना, राहना, रिगाना, रिझाना, रिसाना, रीतना, रँधना, रुकना, रुठना, रुहरना, रुमना, रँगना, रेलना, रोकना, रोना, रोपना, रौरना ।

लधना, लखना, लगना, लचकना, लजना, लटकना, लटना, लटपटाना, लडना, लडना, लपकना, लपटना, लपेटना, लखराना, लरजना, ललकना, ललकारना, ललचना, लसना, लहना, लहराना, लहलहाना, लाधना, लाना, लालना, लावना, लिखना, लीपना, लीलना, लुकना, लुटना, लुडकना, लुडना, लुनना, लुभाना, लुरना, लेखना, लेना, लोकना, लोचना, लोटना, लोपना, लोभना, लोरना, लोलना, लौटना ।

संकोचना, सचरना, संतापना, संतोषना, सधानना, संभवना, मभारना, मँबरना, संहारना, सकना, सकपकाना, सकसकाना, सकाना, सकुचना, सकेलना, संकोषना, सगुनाना, मचना, मचरना, मजना, मटकना, मतराना, सताना, सधना, मनना, यमाना, सरना, सरराना, गरमना, मरापना, मराहना, समकना, सहना, महराना, सहारना, साखना, सापना, सालना, सिगारना, मिधाना या सिधारना, मिमटना, सियराना,

सिरजना, सिराना, सिसवना, सिरहना, सिहाना सीचना सीखना सुघरना,
 सुनना, सुपनाना, सुमिरना, मुरचना सुलगना, सुहाना सूँघना, सूखना, सूझना, सूनना,
 सराना, सोहना सोंपना ।

हँकारना, हटकना, हटना, हठना, हनना, हनाना, ह्यना हरना, हरपना, हरुआना,
 हलराना, हहरना, हाकना, हारना, हालना, हिचकना हिराना हिनकना, हिनाना, हीसना,
 हुलसना, हूँकना, हरना, हाना ।

सूदरास द्वारा प्रयुक्त शब्दों की उक्त गणना, 'व्रजभाषा-भूरकाश' के आधार पर की
 गयी है । इस 'काश' का संपादन प्रस्तुत पत्रिका के लेखक न, लखनऊ विश्वविद्यालय
 के हिंदी विभागाध्यक्ष, डा० दीनदयालु गुप्त के निर्देशन में, आज से दस वर्ष पूर्व आरम्भ
 किया था । अतएव उक्त गणना अनुमान पर आधारित नहीं समझनी चाहिए ।

परिशिष्ट दो

सूर-काव्य और उसकी संपादन-समस्या

हस्तलिखित साहित्य—

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा-साहित्य के उत्थान का स्वर्णयुग रहा। इन तीन सौ वर्षों के जिन कवियों की कृतियाँ हस्तलिखित रूप में आज उपलब्ध हैं, उनकी संख्या ही एक सहस्र के लगभग है, तब वास्तविक संख्या तो वही अधिक रही होगी। मुद्रण-कला का प्रचलन होने के पूर्व किसी हस्तलिखित रचना की प्रतियाँ प्राप्त करने के लिए लिपिकारों का मुँह जोहना पड़ता था। एक तो कुछ लिपिकारों का हस्तलेख बहुत अस्पष्ट और अपठनीय होता था और दूसरे, ब्रजभाषा की सामान्य जानकारी भर इनकी योग्यता थी, प्रतिलिपि का कार्य कितने दायित्व का है, इसका ध्यान भी कम ही लोग रखते थे। उन दिनों भारतीय भाषाओं में संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भाषा की शिक्षा आजकल की तरह समान रूप से सारे देश में नहीं दी जाती थी; शिक्षा की विधि और उसके रूप पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ही। फिर रचना की मूल प्रति का सभी लिपिकारों को सुलभ रहना भी संभव नहीं था। फल यह हुआ कि एक ग्रंथ की प्रतिलिपियाँ समय-समय पर अनेक लिपिकारों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों में की गयीं और उनके पाठ में इतना भेद हो गया कि उसके मूल रूप का पता लगाना एक जटिल समस्या बन गयी। प्रतिष्ठित साहित्यकारों की रचना में अपना भी कुछ भाग मिला देने का चाव कुछ लेखकों और कवियों में इतना बढ़ा कि ऐसे प्रक्षिप्त अंशों को अलग करके ग्रंथकार की मूल रचना प्राप्त कर लेना भी कठिन हो गया। पाठ-संबंधी सबसे अधिक दुर्गति उन रचनाओं की हुई जो गेय काव्य के रूप में प्रचलित रही। सामान्यतः सभी गायक संगीत-शास्त्र में पारंगत नहीं होते और जनसाधारण गेय काव्य का आनंद सदैव लेता रहा है; अतएव सुर-ताल की सुविधानुसार भिन्न-भिन्न रुचि के व्यक्ति गेय काव्य में निस्संकोच और निरंतर परिवर्तन करते रहे। इन सब कारणों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी में मुद्रण-कला का प्रचलन हो जाने के पश्चात् जब प्राचीन कवियों के ग्रंथों को प्रकाशित करने का प्रश्न सामने आया, तब ब्रजभाषा के हस्तलिखित ग्रंथों के अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव सभी साहित्य-प्रेमियों ने किया जिसमें उनके मूल रूप का पता लगाया जा सके और उनके प्रामाणिक संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकें।

प्रामाणिक संस्करण की समस्या—

मुद्रण-कला का प्रचलन हो जाने के अनंतर प्रमुख प्राचीन कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं के शुद्ध संस्करण तैयार करने की ओर हिंदी के विद्वानों का ध्यान गया

तो, परन्तु विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में हिंदी को जब तक स्थान नहीं मिला, तब तक यह कार्य बड़ी शिथिल और अनियमित रीति में चला, क्योंकि इस ओर प्रायः वे ही साहित्य-प्रेमी प्रवृत्त हुए जो साधनहीन होने पर भी स्वातन्त्र्य साहित्य-सेवा किया करते थे और यही जिनका व्यसन था। अन्य विषयों के माय-माय उपाधि-परीक्षा के लिए हिंदी-साहित्य का अध्ययन भी स्वीकृत हो जाने के पश्चात् इस कार्य में कुछ तेजी आयी। कबीर, जायसी, मूर, तुलसी, केशव, रहीम, बिहारी, दस, भूपण, पद्माकर आदि कवियों की संपूर्ण, सक्षिप्त अथवा प्रमुख रचनाओं के सम्स्करण धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगे। इस संबंध में सबसे अधिक सनाप की बात यह थी कि डाक्टर श्याम-सुंदरदाम, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० बेनीप्रसाद, लाला भगवानदीन आदि विश्व-विद्यालयों में संबंधित विद्वानों के अनिरिक्त सर्वश्री मायाशंकर याज्ञिक, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मिश्रब्रधु कृष्णबिहारी मिश्र, विद्योगी हरि, रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक ऐसे साहित्य-प्रेमी भी प्राचीन काव्य-रत्नों का उद्धार करने को प्रवृत्त हुए जो अध्यापन-कार्य द्वारा आजीविका-अर्जन नहीं करते थे। दूसरी बात यह है कि केवल पाठ्यग्रंथ तैयार करना नहीं, प्राचीन कृतियों को प्रामाणिक ढंग में प्रकाशित करना ही इनका प्रमुख उद्देश्य था। इन विद्वानों के सत्प्रयत्न में अधिकार में पड़े अनेक रत्न तो प्रकाश में अवश्य आये, परन्तु कभी यह बनी रही कि इनके प्रकाशित अनेक संस्करणों का पाठ सर्वसम्मत नहीं था, यहाँ तक कि सन् १९३७ में डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने लिखा था कि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा संपादित 'बिहारी-मनमई' को छोड़कर ब्रजभाषा का कदाचिन् कोई भी दूसरा ग्रंथ वैज्ञानिक ढंग में संपादित होकर अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है^१।

संपादकों की कठिनाई—

प्राचीन साहित्य के संपादन में रचि रखनेवालों के सामने आरंभ से ही दो प्रकार की कठिनाइयाँ रही हैं। पहली तो यह कि जिन व्यक्तियों या मस्याओं के पास प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं, उनकी प्रतिलिपि करने की अनुमति देना तो दूर की बात, उनमें से अधिकांश उनको दिखाने को भी तैयार नहीं होते। ऐसी स्थिति में सभी प्रतियों के पाठ संपादकों को मुलभ नहीं हो पाते जिनका परस्पर मिलान करके सभाविक्त मूल पाठ का पता लगाया जा सके। दूसरे, जो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध भी हैं, विविध स्थानों, विभिन्न समयों और भिन्न-भिन्न योग्यतावाले प्रतिलिपिकारों की कृपा से उनके पाठों में इतना अंतर मिलता है कि मूल या सर्वसम्मत पाठ का पता लगा लेना सरल नहीं होता। प्राचीन ब्रजभाषा-काव्य की जो इन्हीं गिनी हस्तलिखित प्रतियाँ अरबी-फारसी या उर्दू में लिखी मिलती हैं, उनकी बात तो जाने दीजिए, एक ग्रंथ की देवनागरी लिपि में लिखी दो प्रतियों में ही पाठ-भ्रमों बहुत अंतर दिखायी देता है। ऐसे भेदों के उदाहरण देते हुए डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है—‘प्रायः ज के स्थान पर घ तथा ख के स्थान पर मिलना

१. 'ब्रजभाषा-व्याकरण' का वक्तव्य, पृ० ३।

है। आवश्यकता पडने पर ष के लिए भी ष ही लिखा मिलता है, यद्यपि उच्चारण की दृष्टि से कदाचित् उसका उच्चारण भी श के समान स हो गया था। अनस्थ य का निर्देश करने के लिए य अक्षर अनेक हस्तलिखित पोथियों में पाया जाता है। श और ष, दोनों के स्थान पर प्रायः स का ही प्रयोग हुआ है। ज के स्थान पर प्रायः उच्चारण के अनुरूप ग्य मिलता है। व और ब का भेद बहुत ही कम किया गया है। कदाचित् दोनों का उच्चारण ब ही होता था। दत्योष्ठ्य व का निर्देश करने के लिए व अक्षर पाया जाता है। इ, ई, ऐ के स्थान पर इि, ईी अँ का प्रयोग भी अनेक प्रतियों में किया गया है। अर्द्धचंद्र और अनुस्वार में यद्यपि साधारण भेद किया गया है, किंतु अवसर नहीं भी किया जाता है। अनुनासिक व्यजन के पूर्व स्वर पर अनुस्वार के प्रयोग में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस स्वर के अनुनासिक उच्चारण की ओर लेखकों का ध्यान उसी समय जा चुका था, जैसे कल्यांन, धाम, स्वाम, ज्ञान। कभी-कभी जहाँ अनुस्वार चाहिए वहाँ भी नहीं लगा मिलता है, जैसे नाँज के स्थान पर नाँजँ। ह्रस्व और दीर्घ ए और ओ के लिए पृथक् लिपि-चिह्न भारत की किसी भी प्राचीन वर्णमाला में नहीं मिलते। ऐ और औ ब्रज में व्यवहृत होनेवाले मूलस्वर तथा साधारण संयुक्त स्वर (अ + इ, अ + उ) दोनों ही के स्थान पर व्यवहृत हुए हैं।^{१२}

इनके अतिरिक्त स्थान या समय के अंतर के कारण शब्दों की वर्तनी में लिपिकारों ने और भी स्वतंत्रता से काम लिया है। एक प्रति में राम, काम, नैक—जैसे शब्द अकारात रूप में लिखे हैं तो दूसरी में उन्हें रामु कामु, नैकु करके उकारात रूप दे दिया गया है। कुछ शब्दों के एकारात और ऐकारात—जैसे नैक-नैक, हैं-हैं, के-कँ आदि—ओकारात और औकारात—जैसे लजानो-लजानी, आयो-आयो, को-कौ आदि—तथा निरनुनासिक और सानुनासिक—जैसे कौ-कौ, नैक-नैक, कँ-कँ आदि—दोनों रूप एक ही प्रति में पाये जाते हैं जिनमें से कौन किस रचना के लिए प्रामाणिक माना जाय, कहना सरल नहीं है। इसी प्रकार एक ही शब्द के विभिन्न रूपों में से किसीको चुना जाय, यह समस्या संपादकों की बराबर उत्पन्न में डाले रहती है। यदि वे शब्दों को एक रूप देने का प्रयत्न करते हैं, जैसा स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-रत्नाकर' और 'सूरसागर' में अथवा डाक्टर श्यामसुंदर ने 'कबीर-ग्रंथावली' का संपादन करने समय किया था, तो भी हिंदी के अनेक विद्वान सहमत नहीं होते; और यदि अन्य संपादकों की तरह शब्दों के विभिन्न रूप रखते हैं तो भी सबको सन्तोष नहीं होता। किसी संस्करण में भाषा का मिथिन रूप तो आपत्ति का कारण होता ही है, परन्तु यदि उसे ठेठ रूप दिया जाय तो भी विद्वानों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि यह आवश्यक नहीं कि कवि-विशेष ने ठेठ रूपों का ही प्रयोग किया हो। ऐसी स्थिति में संपादकों की कठिनाइयों का अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं।

२. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ३९-४०।

३. डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ४१।

भाष-साध आर्थिक कठिनाई भी प्रायः सभी संपादकों के सामने आरम्भ से रही है। हमारा यह दुर्भाग्य है कि न तो हमारे प्रकाशकों की साहित्यिक प्रकाशनों में इतनी रचि है कि वे परिश्रम से शोधित ग्रंथों का उपयुक्त रूप में प्रकाशन करके उचित पारिश्रमिक दे सकें, न हिंदी-भाषी जनता में साहित्य के प्रति इतना प्रेम है कि ऐसे ग्रंथों को सोनाह कल्प कर लें, न हमारी साहित्यिक मस्याओं की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी है कि ऐसे कार्यों में लगे व्यक्तियों की पर्याप्त सहायता कर सकें अथवा उनके लिए अपेक्षित साधन ही जुटा सकें और न हमारा शानक-वर्ग ही इन कार्यों को इनने महत्व का समझता रहा है कि ऐसे प्रयत्नों का सम्मान करे अथवा उनके कर्त्ताओं को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से उचित रूप से पुरस्कृत कर सके। अतएव समय-साध्य, व्यय-साध्य और श्रम-साध्य संपादन-कार्य में प्रायः वे ही विद्वान् सन्तान रह गये जिनमें साहित्य के प्रति सहज अभिरुचि थी, साहित्य सेवा जिनके लिए एक व्यसन था, जो साधन-संपन्न थे और जिनकी संपादन-कार्य में घोषी स्थिति अथवा आर्थिक लाभ का लाभ नहीं था।

संपादकों का दृष्टिकोण और कार्य—

इनमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन ग्रंथों के सभी संपादकों का दृष्टिकोण उसके मूल रूप को प्रकाश में लाना रहा है, परन्तु सफलता इतने-गिने व्यक्तियों को ही मिल सकी है। इसका कारण यह नहीं माना जा सकता कि उनका, ब्रजभाषा और उसके साहित्य का अध्ययन और ज्ञान अधूरा था अथवा उनमें शोध-सबधी लगन का अभाव था; प्रत्युत वास्तविकता यह है कि प्रायः सभी प्रयत्न व्यक्तिगत रूप में किये गये जिनसे प्रत्येक युग की ब्रजभाषा की प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन-सबधी सर्वमान्य निष्पात कभी निश्चित नहीं किये जा सके। दूसरी बात यह कि संपादन-कार्य में लगे हुए व्यक्तियों में से अधिकांश का दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टि से पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं था और उनमें से अनेक तो पाश्चात्य भाषानात्वज्ञों द्वारा निर्धारित नियमों को ही हिंदी भाषा के विभिन्न रूपों में घटित करते तथा उनके उदाहरण ढूंढते रहे। व्यक्तिगत रचि के अनुसार इन विद्वानों ने प्राचीन पाठों में से, बिना विशेष माया-पच्ची किये, एक स्वीकार कर लिया, कभी कभी अर्थ की सगति के लिए अपनी इच्छानुसार उनमें संशोधन भी कर लिये। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो यह पद्धति अनुपयुक्त थी ही, उन स्वर्गीय साहित्य-कारों के प्रति यह कार्य एक असम्य अपराध था और भावी अध्येताओं के लिए इन लोगों ने शोध-कार्य सबधी पथ-प्रदर्शन न करके उनके भागों को और भी जटिल बना दिया।

उचित दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता—

तात्पर्य यह कि हिंदी में प्राचीन साहित्य के उद्धारकों ने यद्यपि संपादन-सबधी ध्येय का आदर्श रूप अपने सामने रखा अवश्य, तथापि अधिकांश के कार्य को वस्तुतः वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। अनेक पाठों में से, अर्थ-सगति की दृष्टि से एक को स्वीकार कर लेना अथवा शब्द-विशेष के वर्तनी सबधी अनेक रूपों में से एक को विमुद्ध

मानकर उसी के अनुसार सभी वैसे शब्दों में एकरूपता लाने के लिए निसकोच परिवर्तन कर देना—अधिकांश हिंदी-संपादकों की यही प्रणाली आरंभ से रही है। वस्तुतः यह 'संपादन करना नहीं, ग्रंथों को अपने मतानुसार शोध देना हुआ'^३। वैज्ञानिक संपादन-कार्य इससे कहीं कठिन है। ग्रंथ-विशेष की अधिक से अधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करके, उनमें से कभी प्राचीनतम को और कभी रचयिता के स्थान में प्राप्त प्रति को आधार मानकर, रचनाकाल की परिस्थिति के अनुसार, भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, 'प्रत्येक सदिग्ध शब्द का तुलनात्मक और ऐतिहासिक ढंग से अध्ययन करके वह पाठ स्थिर करना जो ग्रंथकार ने वास्तव में लिखा होगा, वैज्ञानिक संपादन कहलाता है'^४। स्पष्ट है कि इस कार्य में सफलता पाने के लिए व्यक्ति में विद्वता के साथ साथ अपार धैर्य और लगन तो अपेक्षित है ही, यदि वह पर्याप्त साधन-संपन्न नहीं है तो तद्विषयक विद्वानों का सहयोग और किसी प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था का संरक्षण भी कम से कम इस रूप में आवश्यक हो ही जाता है कि कोरी व्यवसायी मनोवृत्तिवाले प्रकाशकों के अस्वीकार कर देने पर वह संपादित ग्रंथ के प्रकाशन का व्यवस्थित प्रबंध करके संपादक का श्रम सार्थक कर सके। यही कारण है कि व्यक्तिगत रूप से किये गये इने-गिने प्रयत्नों को छोड़कर प्रायः समस्त संपादन-कार्य नागरी-प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिंदुस्तानी अकेडमी आदिके तत्वावधान अथवा विभिन्न विश्वविद्यालयों के संरक्षण में ही संपन्न हो सका है।

सूर-काव्य के पाठ की समस्या—

सूरदास जन्माद्य थे अथवा बाद में अये हुए, इस संबंध में विद्वानों में भले ही मतभेद हो, परन्तु इस विषय में प्रायः सभी एकमत है कि कवि ने स्वयं अपनी रचनाओं की कोई प्रति कभी नहीं लिखी। बल्लभाचार्य जी से भेंट होने पूर्व उन्होंने जो वितय-पद रचे थे, उनको उन्होंने स्वयं लिखा भी था, ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। जो विद्वान यह मानते हैं कि वे जन्माद्य थे^५, वे तो कवि के द्वारा लिखे जाने के पक्ष में ही नहीं सकते, परन्तु जिनका इस विषय में मतभेद है वे भी इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि रचनाकाल की अवस्था में सूर अवश्य अये और कुछ लिखने-पढ़ने में सर्वथा असमर्थ थे^६। अतएव यह सर्वमान्य है कि सूरदास के रचे पद भिन्न या शिष्य सुनते ही लिख लेते थे। एक ही व्यक्ति ने सदैव इन पदों को लिखा नहीं होगा; फलस्वरूप कवि के समय में ही पदों के शब्द रूपों में वर्तनी-संबंधी

३. डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ४१।

४. डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', ध्वतव्य, पृ० ३।

५. (क) महाराज रघुराजसिंह, 'रामरसिकावली', 'सूरदास' शीर्षक प्रसंग।

(ख) 'अष्टछाप', काँकरोली, पृ० ४-५।

६. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २०३।

अंतर हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। स्वयं सूरदास किस रूप को मानते थे अथवा किसके प्रति उनकी रुचि विशेष थी, इसका भी प्रश्न उठाना निरर्थक है, क्योंकि इसके जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। सूरदास के रचे पदों के, मित्रों या शिष्यों द्वारा समय-समय पर लिखे पाठों का धीरे-धीरे प्रचार बढ़ने लगा। कुछ प्रेमी भक्तों ने उनकी प्रतिलिपियाँ कर या करा लीं और कुछ ने केवल कठ करके उनके रस का आस्वादन कर जीवन का सार्थक माना। अनेक गायक भी इन पदों को गा-गाकर आजीविका अर्जन में लग गए। अतएव, संभव है कि मूल-काव्य के दो पाठ उनके जीवन के अन्तिम-काल में ही प्रचलित हो गये हों—एक तो लिखित पाठ और दूसरा, कठस्थ पाठ।

क लिखित पाठ—कवि के मित्रों और शिष्यों द्वारा लिखित सग्रहों की प्रतिलिपियाँ में प्राप्त पाठ। ऐसी अनेक प्रतिलिपियाँ दत्तभक्तप्रदायी मंदिरों में और काव्य-प्रेमियों के पास सुरक्षित रही। भाषा की दृष्टि से ऐसी प्राचीन प्रतियों का पाठ किसी सीमा तक शुद्ध माना जा सकता है।

ख. कठस्थ पाठ—भक्ता और गायकों के कंठों में सुरक्षित पाठ। किसी भी कवि के गये पदों का कठ करनेवाले भक्तों और गायकों के उद्देश्य और दृष्टिकोण में अन्तर रहता है। अतएव इस प्रकार के पाठ भी दो रूपों में मिलते हैं—

अ भक्तों का कठस्थ पाठ—निजी अथवा दूसरों के मनोरंजन के लिए तथा मंदिर की कीर्तन-सेवा और आध्यात्मिक साधना के लिए अनेक साधु और भक्त प्रतिष्ठित कवियों की रचनाएँ कठ कर लेते हैं। इसी प्रकार सूरदास के पद कठस्थ करके इस वर्ग के व्यक्तियों ने अपने साथ-साथ उनको भी उत्तरी भारत के विभिन्न धर्म-स्थानों में पहुँचा दिया। कालान्तर में यह पाठ भी लिपिबद्ध हुआ। इन कठस्थ पदों के पाठ में कुछ परिवर्तन तो उच्चारण-भ्रमों और अर्थ-सुगमता की दृष्टि से अनजान में ही होते रहे और कुछ स्थानीय विभाषाओं और बोलियों के मिश्रण के कारण धीरे-धीरे हाने गये।

आ गायकों का कठस्थ पाठ—गायकों की मंडलियों में सुरक्षित कठस्थ पदों के पाठ में प्रायः स्वर और ताल की दृष्टि से समय-समय पर परिवर्तन किये गये। राग-रागिनियों के संबंध में गायक-गायिकाओं की रुचि में सदैव भिन्नता रहती है और सभी सगीतज्ञ दूसरे रागों के पदों को अपने प्रिय रूप में ढालने का प्रयत्न किया करते हैं। सूरदास के पदों का यह पाठ विभिन्न सगीत-संग्रहों में प्राप्त है।

मूल-काव्य के सभी प्रतिलिपिकारों के दृष्टिकोण और ज्ञान में तो स्वाभाविक अन्तर सदैव रहा ही, समय का व्यवधान भी प्रायः कम नहीं था। सामान्य युग में भी सी, दा सी वगैरह के अन्तर में भाषा का रूप बहुत-बहुत बदल जाता है, फिर सातहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक, मी-सवा मी वगैरह को छोड़कर, बराबर राजनीतिक उथल-पुथल ही रही। अरबी फारसी आदि विदेशी भाषाओं का प्रचलन भी देश में दिन-दिन अधिक

होता गया और अकबर के राजत्वकाल में, फारसी के राजभाषा हो जाने पर, देश की कोई भाषा उसके प्रभाव से न बच सकी। यद्यपि प्रतिलिपिकार का भाषाक्षेत्र-विशेष के इन सब परिवर्तनों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता, क्योंकि उसे तो प्राप्त रचना या ग्रंथ की प्रतिलिपि भर कर देनी होती है, तथापि इस व्यवधान के कारण एक सी प्रकृति न रखने-वाली भाषाओं के पारस्परिक संबंध का कुछ न कुछ प्रभाव शिक्षित समाज पर अवश्य पड़ना है और उसी के अनुसार प्रतिलिपिकारों की भाषा भी परोक्ष रूप में हर पीढ़ी में कुछ न कुछ परिवर्तित होती रहती है। हस्तलिखित ग्रंथों के अधिकांश लेखक प्रायः अपने कार्य का गुरुत्व नहीं समझते और दायित्व के निर्वाह में भी बहुत सावधान नहीं रहते, क्योंकि वे जानते हैं कि मूल पाठ से मिलान करके प्रतिलिपि की शुद्धता-अशुद्धता जाँचने का प्रश्न प्रायः नहीं ही उठना। जिन लेखकों ने स्वयं अपने लिए प्रतिलिपियाँ तैयार की, उन्होंने तो कभी-कभी यहाँ तक स्वतंत्रता से काम लिया कि स्व-रचित अनेक रचनाएँ भी उनमें निसकोच सम्मिलित कर दी। अतएव कुछ तो उक्त कारणों से और कुछ हस्त-लेख के दोषों से समस्त प्राचीन काव्य-साहित्य के समान ही सूर-काव्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियों का पाठ भी बहुत भिन्न और कहीं-कहीं तो अस्पष्ट हो गया है।

सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ—

सूरदास के नाम से लगभग दो दर्जन ग्रंथों का उल्लेख विभिन्न ग्रंथ-विवरणों में हुआ है। अधिकांश विद्वान इन ग्रंथों में से केवल तीन—‘सूरसागर’, ‘सूर सारावली’ और ‘साहित्यलहरी’—को ही अष्टछापों सूरदास की रचनाएँ मानते हैं। ‘सूरसागर’ को जो प्रतियाँ आज तक प्राप्त हुई हैं उनमें से कुछ में लिपिकाल दिया हुआ है और कुछ में नहीं। लिपिकालवाली प्रतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. मरस्वती-भण्डार, उदयपुर की सवत् १६९७ की प्रति। इस प्रति का विवरण राजस्थानी खोज-रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ है^७। इसका लिपिकाल ‘प्राक्कथन’ (पृष्ठ ८) में सवत् १६९५ दिया हुआ है, परन्तु ‘विशेष परिचय’ (पृष्ठ १५८) में १६९७। इस पुस्तकालय की ग्रंथ सूची में ‘सूरसागर’ की एक प्रति का लिपिकाल संवत् १६९७ दिया हुआ है^८। अतः यही ठीक जान पड़ता है। यह प्रति राठौर वंश की मेड़तिया शाखा के महाराज किशनदाम के पठार्थ लिखी गयी थी। इसमें ८१२ चुने हुए पद हैं। अब तक प्राप्त ‘सूरसागर’ की समस्त प्रतियों में कदाचिन् यही सबसे प्राचीन है।

२. सवत् १७३५ की प्रति। खोजरिपोर्ट^९ में इसका संरक्षण-स्थान अज्ञात लिखा है और अब यह प्रति भी प्राप्त नहीं है।

७. ‘राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज’, प्रथम भाग, पृ० १५८।

८. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282.

९. ‘हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज-रिपोर्ट’, सन् १९०६।

३. प० नटवरलाल चतुर्वेदी, कुआँ गली, मयुरा की सवन् १७४५ की प्रति । इसमें दशम, एकादश और द्वादश स्कंध ही हैं । १७४५ इसकी पद सख्या है या लिपि सवत्—यह भी स्पष्ट नहीं होता^{१०} ।

४. बाबू केशवदास शाह, काशी की सवन् १७५३ की प्रति । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सन् १९३४ में प्रकाशित 'सूरसागर' का पाठ जिन प्रतियों से मिलान करके निर्धारित किया गया था, उनमें यह सबसे प्राचीन मानी गयी है^{११} ।

५. सरस्वती-भंडार, उदयपुर^{१२} की सवन् १७६३ की प्रति । इसमें केवल १७० चुने हुए पद हैं । अनएव इसे 'सूरसागर' नहीं कहना चाहिए । परंतु प्राचीन प्रति होने के कारण पाठ सिद्धान्त-निर्णय की दृष्टि से यह कुछ काम की हो सकती है ।

६. ठा० रामप्रताप सिंह, वरौली, भरतपुर की सवन् १७९८ की प्रति । इसमें २०९५ पद हैं । दशम स्कंध के अंतर्गत इसमें केवल १ पद है, परंतु बारहवें में १७४५ पद हैं । जान पड़ता है कि दशम स्कंध के ही पद बारहवें में मिल गये हैं । यदि ऐसा नहीं है और बारहवें स्कंध की पद-सख्या वास्तव में ठीक है, तो यह प्रति बड़े महत्व की है^{१३} और इसमें 'सूरसागर' की पद-सख्या में पर्याप्त वृद्धि हो जाने की आशा है ।

७. वृंदावन की सवन् १८१३ की प्रति । इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था^{१४} ।

८. सवत् १८१६ की प्रति । इसका संरक्षण-स्थान और विवरण अज्ञात है^{१५} ।

९. श्री गणेश विहारी मिश्र, (मिश्र-बघुओं में ज्येष्ठ) जीनपुर की सवन् १८५४ की प्रति । इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था^{१६} ।

१०. श्यामसुंदरदास अग्रवाल, मशकगंज, लखनऊ की सवन् १८६६ की प्रति । इसमें ३९६५ पद हैं^{१७} । आजकल यह प्रति अग्रवाल जी के उत्तराधिकारी लाला मोहन लाल अग्रवाल के पास है । डा० दीनदयालु गुप्त ने यह प्रति दो बार देखी है^{१८} ।

१० खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६ ।

११. 'सचित्र सूरसागर', निवेदन, पृष्ठ २ ।

१२ (क) राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, पृ० २५९ ।

(ख) A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282-83.

१३. खोज रिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६, पृ० २६९ ।

१४. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २ ।

१५. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६ ।

१६. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २ ।

१७. खोज रिपोर्ट, सन् १९०१, पृ० २९ ।

१८. 'अष्टाध्याय और वल्गुम-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० १६८ ।

११. बाबू कृष्णजीवनलाल, वकील, महावन, मथुरा की सवत् १८६७ की प्रति । इसमें 'दशम स्कंध' नहीं है^{१९} । बारहवें स्कंध में १७४५ पद हैं । जान पड़ता है, दशम स्कंध के पद ही बारहवें में सम्मिलित हो गये हैं । यदि ऐसा नहीं है तो डा० रामप्रतापसिंह की तरह यह प्रति भी बहुत महत्वपूर्ण है ।

१२. बिजावरराज-पुस्तकालय की सवत् १८७३ की प्रति । इसका विशेष विवरण अज्ञात है^{२०} ।

१३. श्री मातगध्वजप्रसाद सिंह, बिसवाँ, अलीगढ़ की सवत् १८७६ की प्रति । यह दो भागों में है । प्रथम में १ से ९ स्कंध की कथा ४६२ पदों में है और दूसरे में दशम, एकादश और द्वादश स्कंधों की कथा १३४२ पदों में है । इसमें कुल २८०४ पद हैं^{२१} ।

१४. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की सवत् १८८० की प्रति । इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था^{२२} ।

१५. राय राजेश्वरबली, दरियाबाद की सवत् १८८८ की प्रति । यह फारसी लिपि में है । इसकी लिखावट सुंदर है । अक्षरों के नीचे नुक्ते नहीं दिये गये हैं । 'रत्नाकर' जी ने इसका उपयोग किया था और मतभेद के अवसर पर पाठ-निर्धारण में उन्हें इससे विशेष सहायता मिली थी^{२३} ।

१६. कालाकाँकर, राज-पुस्तकालय की सवत् १८८९ की प्रति । 'रत्नाकर' जी ने इसका उपयोग किया था^{२४} ।

१७. पं० शिवनारायण बाजपेयी, बाजपेयी का पुरवा, मिसैया, बहराइच की संवत् १८९९ की प्रति । विशेष विवरण अज्ञात है^{२५} ।

१८. पं० लालमणि बँद्य, पुवायाँ, सहारनपुर की संवत् १९०० की प्रति । यह तीन भागों में है और उपलब्ध प्रतियों में कदाचित् सबसे बड़ी है^{२६} ।

१९. जानीमल खानचंद, काशी की सवत् १९९२ की प्रति । यह प्रति पुस्तकाकार है^{२७} ।

१९. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४, संख्या १८५ ।

२०. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८ ।

२१. खोज रिपोर्ट, सन् १९१७-१९ ।

२२. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० १ ।

२३. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २ ।

२४. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २ ।

२५. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, पृ० १४३३ ।

२६. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४ ।

२७. (क) 'सचित्र सूरसागर' का निवेदन, पृ० २ ।

(ख) 'सूरसागर' (वेकटेश्वर प्रेस) का निवेदन, पृ० १ ।

२०. नागरी-प्रचारिणी सभा काशी की सन् १९०९ की प्रति । यह राजा सूबा-मिह के पदम के लिए लिखी गयी थी^{२८} ।

२१. काशी की राज-पुस्तकालय की सन् १९१२ की प्रति । यह पुस्तकालय काशी पर लिखी हुई है^{२९} ।

२२. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की सन् १९१६ की प्रति । विशेष विवरण अज्ञात है^{३०} ।

२३. राधाकृष्णदाम काशी की सन् १९२६ की प्रति । यह श्री गद्याप्रसाद वैश्य की पत्नी के लिए प० नाथूगम गोड ने लिखी थी^{३१} ।

‘सूरसागर’ की उक्त २३ प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें लिपिबद्ध दिया हुआ है जिसमें उनकी प्राचीनता का पता लगता है । इनके साथ साथ इस ग्रन्थ की ११ ऐसी प्रतियाँ का भी उल्लेख विविध भाषा विवरणों में है जिनका लिपिकार अज्ञात है । इनका संक्षिप्त ज्ञातव्य परिचय इस प्रकार है —

१. प्राप्तिस्थान—दिल्ली राज-पुस्तकालय । इस पुस्तकालय में ‘सूरसागर’ की दो प्रतियाँ हैं^{३२} ।

२. प्राप्तिस्थान—भारतेंदु बाबू हरिद्वार पुस्तकालय, बाला, काशी । प्रति खंडित है, इसमें केवल दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध है । श्री राधाकृष्णदाम ने इस प्रति का उपयोग किया था^{३३} ।

३. प्राप्तिस्थान—बाबू रामदीन मिह बाँकीपुर, पटना । यह प्रति भी अपूर्ण है । इनमें केवल प्रथम से नवम स्कंध तक के पद ही हैं । बाबू राधाकृष्णदाम ने इसका भी उपयोग किया था^{३४} ।

४. प्राप्तिस्थान - श्री १०८ महाराज काशिराज बहादुर का पुस्तकालय । इसमें दो और तीसरी प्रतियाँ की तरह यह भी खंडित प्रति है । इसमें दशम उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कंधों के ही पद हैं । इसका उपयोग भी बाबू राधाकृष्णदाम ने किया था^{३५} ।

५. प्राप्तिस्थान—प० लालमणि मिश्र, शाहजहाँपुर । इस प्रति में ‘रत्नाकर’ जी की ‘अधिक पद’ लिखने में विशेष सहायता मिली थी^{३६} ।

२८. ‘सचित्र सूरसागर’ का ‘निवेदन’, पृ० २ ।

२९. ‘सचित्र सूरसागर’ का ‘निवेदन’ पृ० २ ।

३०. ‘सचित्र सूरसागर’ का ‘निवेदन’, पृ० २ ।

३१. ‘सचित्र सूरसागर’ का ‘निवेदन’, पृ० २ ।

३२. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६ द ।

३३. ‘सूरसागर’ (बेकटेश्वर प्रेस) का ‘निवेदन’, पृ० १ ।

३४. ‘सूरसागर’ (बेकटेश्वर प्रेस) का निवेदन, पृ० १ ।

३५. ‘सूरसागर’ (बेकटेश्वर प्रेस) का ‘निवेदन’, पृ० १ ।

३६. ‘सचित्र सूरसागर’ का ‘निवेदन’, पृ० १ ।

६. प्राप्तिस्थान—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी । यह प्रति पुस्तकाकार है^{३७} ।

७. प्राप्तिस्थान—बाबू पूर्णचंद नाहर, कलकत्ता । इस पुस्तकाकार प्रति के पाठ अच्छे हैं । 'रत्नाकर' जी को कई अवसरों पर इससे बहुमूल्य सहायता मिली थी । अधर कई प्रकार के होने पर भी प्रति सुपाठ्य है^{३८} ।

८. प्राप्तिस्थान—बाबू श्यामसुंदरदास, काशी । यह प्रति अब नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की संपत्ति है^{३९} ।

९. प्राप्तिस्थान—स्वर्गीय पंडित बदरीनाथ भट्ट, बी० ए० । भट्टजी के पास 'सूरसागर' की दो प्रतियाँ थी, परंतु दोनों में से एक भी पूर्ण नहीं थी^{४०} ।

१०. प्राप्तिस्थान—भिंगाराज पुस्तकालय, बहराइच । इसमें २१२४ पद हैं^{४१} ।

११. प्राप्तिस्थान—सरस्वती-भंडार, उदयपुर । इसका विशेष विवरण अज्ञात है^{४२} ।

सूरदास के सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रंथ 'सूरसागर'^{४३} के अतिरिक्त 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' नामक दो और ग्रंथ उनके बनाये कहे जाने हैं । 'सूरसारावली' जिस रूप में लखनऊ और बंबई के 'सूरसागरों' के साथ प्रकाशित है, वैसी किसी प्रति का पता अभी तक नहीं लगा है और न तत्संबंधी कोई उल्लेख ही किसी खोजरिपोर्ट में हुआ है । सूरदास के इस नाम के एक ग्रंथ का विवरण राजस्थान की खोजरिपोर्ट में अवश्य मिलता है^{४४}, परंतु नाम-साम्य होने पर भी यह ग्रंथ 'सूरसागर' के पदों का ही संग्रह जान पड़ता है, क्योंकि 'ब्रज तैं पावस पै न गयी' से आरम्भ होनेवाला पद इसके अंतिम पद के रूप में उद्धृत किया गया है । सरस्वती-भंडार, उदयपुर की ग्रंथ-भूची में 'सूर-सारावली' नामक जिस काव्य का उल्लेख है^{४५}, संभवतः उसी का विवरण राजस्थानी रिपोर्ट में मिलता है, क्योंकि दोनों का लिपिसंवत् १७७५ ही है ।

३७. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २ ।

३८. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २ ।

३९. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० ३ ।

४०. 'खोजरिपोर्ट', सन् १९२३-२५, पृ० १४३४ ।

४१. 'खोजरिपोर्ट', सन् १९२३-२५, पृ० १४३६-३७ ।

42. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282-83.

४३. 'सूरसागर' की उक्त प्रतियों के अतिरिक्त कुछ और प्रतियों का उल्लेख पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अमिनंदन-ग्रंथ' में प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका स्वरूप" शीर्षक लेख (पृ० १२३-१२९) में किया है—लेखक ।

४४. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित-ग्रंथों की खोज', प्रथम भाग, पृ० १५९ ।

45. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 284-85.

१. 'साहित्यलहरी' की भी किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के प्राप्त होने का उल्लेख किसी खोजरिपोर्ट में नहीं है^{४६}। दो अपूर्ण कूट-पद-संग्रहों की चर्चा कई स्थानों पर अवश्य हुई है और उनके साथ टीका भी मिलती है। दोनों संग्रहों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

'सूरदास जी के दृष्टकूट' अथवा 'सूर-शतक सटीक'—प्राप्तिस्थान—भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र पुस्तकालय, चौमभा, काशी। खोजविवरण के अनुसार यह सटीक संग्रह श्री वल्लभ-संप्रदाय के आचार्य, काशीस्थ श्री गोदान लाल जी के शिष्य बालकृष्ण ने अपने गुरु की आज्ञा से गुजरात माननगर में प्रस्तुत किया था^{४७}। श्री राधाकृष्णदास ने सूरदास जी के सम्बन्ध में भारतेंदु हरिश्चन्द्र जी की एक टिप्पणी उद्धृत की है। उसमें भी दृष्टकूटों की एक टीका का उल्लेख किया गया है^{४८}। इस ग्रंथ की दो सटीक प्रतियाँ काँकरोली विद्याविभाग के पुस्तकालय में और एक प्रति नाथ-द्वार निज पुस्तकालय में होने का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने किया है^{४९}।

२. सूर-पदावली गूढार्थ—इसका प्राप्तिस्थान और इसके टीकाकार का नाम अज्ञात है। डा० पीतावरदत्त बटवाल के अनुसार यह सूरदास के दृष्टकूटों की विद्वत्पूर्ण टीका है जिसमें अनेक पदों के तीन-तीन या चार-चार तक अर्थ दिये गये हैं^{५०}।

उक्त तीन प्रमुख ग्रंथों के अतिरिक्त सूरदास के नाम से प्राप्त २२ ग्रंथों का उल्लेख विविध शोध-विवरणों और अनुसंधानपूर्ण ग्रंथों में समय-समय पर हुआ है जिनमें से कुछ निश्चय ही 'सूरसागर' के कवि रचित नहीं हैं। अवसरक्रम से उनके नाम और संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं—

१. एकादशी माहात्म्य—इस ग्रंथ की सन् १९२३ की लिखी एक प्रति प्राप्त हुई है जिसमें लेखक का नाम सूरजदास दिया हुआ है। इस ग्रंथ में ६३ पद्य हैं। खोजरिपोर्ट में इसका विषय इस प्रकार बनाया गया है—प्रथम बटना, तत्पश्चात् सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र और इनके पुत्र रोहितास की प्रशंसा तथा कथा वार्ता आदि का वर्णन है^{५१}। अवधी भाषा, दोहा-चौपाई-शैली, गणेश, शारदा आदि तैत्तिरीय देवता और माता-पिता की स्तुति के क्रम आदि को देखते हुए यह ग्रंथ सूर कृत नहीं जान पड़ता।

४६. 'साहित्यलहरी' अथवा 'दृष्टकूट पद' की कुछ अन्य प्रतियों का उल्लेख पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'षोडश-अभिनवन-ग्रंथ' में प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका स्वरूप" शीर्षक लेख (पृ० १३०-३१) में किया है—लेखक।

४७. खोजरिपोर्ट, सन् १९००, स० ६, पृ० २०।

४८. 'सूरसागर' (बैकटेश्वर प्रेस) में 'श्री सूरदास जी का जीवन चरित्र', पृ० ४।

४९. 'अष्टाष्टा और वल्लभ संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९४।

50. R-report on the search for Hindi Mss. in the Delhi Province for 1931, pages 14 and 45.

५१. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८७ बी, पृ० ३७४।

२. (सूरदास-कृत) कबीर—इस छोटी-सी पुस्तक में होली के कबीरों की शैली में राधा-रानी के नखशिख का वर्णन है^{५२}। जान पड़ता है कि 'सूरसागर' के ही तत्संबंधी पदों को कबीरों की शैली में राधा-रानी के किसी भक्त ने ढाल लिया है।

३. गोबर्द्धन-लीला—इस प्रति में ३०० पद हैं। खोजरिपोर्ट में इस ग्रंथ के जो उद्धरण दिये हुए हैं^{५३}, वे वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' में २२२ पृष्ठ के कुछ पदों से मिल जाते हैं^{५४}। अतः यह सूरदास का स्वतंत्र ग्रंथ न होकर, उनके स्फुट पदों का संकलन मात्र है।

४. (सूरसागर) दशम स्कंध—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख खोजरिपोर्टों में है। एक की पद-संख्या खोज रिपोर्ट में १९१३ दी गयी है^{५५}, दूसरी प्रति बाबू पद्मनरेश सिंह (लबेदपुर, बहराइच) के पास है जिसमें १०३ पद हैं^{५६}। ये ग्रंथ वस्तुतः 'सूरसागर' के ही 'दशम स्कंध' के संक्षिप्त संस्करण हैं।

५. दशम स्कंध टीका^{५७}—इस ग्रंथ में भी 'सूरसागर' के ही पद संकलित हैं। इसका लिपिकाल अज्ञात है।

६. ननदमपंती^{५८}—बाबू राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' की भूमिका में इस ग्रंथ को सूरदास-कृत लिखा है^{५९}। बाद को मिश्रबधुओं ने भी 'नवरत्न' में इसे उन्ही की रचना कहा है^{६०}। परंतु इधर डाक्टर मोतीचंद के एक लेख के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि इस काव्य के लेखक 'सूरदास' नाम-धारी होने पर भी 'सूरसागर' के कवि से भिन्न हैं और उनका संबंध सूफी संप्रदाय से है^{६१}।

७. नागलीला—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख खोजरिपोर्टों में है। एक का लिपिसंवत् १८८९ है^{६२} और दूसरी का १९३४^{६३}। दोनों प्रतियों में सूरदास जी के

५२. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, द्वितीय भाग, सं० ४१६ सी, पृ० १४३०।

५३. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६, पृ० ३७२।

५४. 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८१।

५५. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४, पृ० ३२४।

५६. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ जे, पृ० १४३७।

५७. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४ डी।

५८. खोजरिपोर्ट, सन् १९०९-११, 'भूमिका', पृ० ८।

५९. 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २६५।

६०. 'नवरत्न', चतुर्थ संस्करण, पृ० २३९।

६१. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ४०, अंक २ में प्रकाशित डा० मोतीचंद एम० ए०, पी-एच० डी० का 'कवि सूरदास-कृत नन-दमपंती काव्य' शीर्षक लेख, पृ० १२१-१३८।

६२. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६, सं० १८७।

६३. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, पृ० ३२४।

कालीय नाग-नाथन-लीला संबंधी पदों का संग्रह है। अतः इस ग्रंथ का भी स्वतंत्र महत्त्व नहीं है।

८. पद-संग्रह—सूरदास के पदों के इस संग्रह की दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—एक जाधपुर के^{६४} और दूसरी दतिया के^{६५} राज-पुस्तकालय में है। केवल 'पद' नाम से सूरदास-कृत पदा का एक संकलन उदयपुर के सरस्वती भंडार नामक पुस्तकालय में है^{६६}। इसी प्रकार इस पुस्तकालय की ग्रंथ-सूची में 'पुटकर पद' नाम से एक और संग्रह का उल्लेख हुआ है^{६७}। इन सबमें 'सूरसागर' के चुने हुए पद हैं।

९ प्राणप्यारी—खोजरिपोर्ट में यह पूरी रचना उद्धृत है। इसमें ३२ पद हैं और विषय 'श्याम-सगाई' है^{६८}। डा० गुप्त ने इसे सूर की सदिग्ध रचना माना है^{६९}।

१० भागवत भाषा—इस नाम में प्राप्त दो प्रतियों का उल्लेख खोज रिपोर्टों में है, एक का लिपिकाल संवत् १७४५ है^{७०} और दूसरी का संवत् १८६७^{७१}। वास्तव में यह स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, 'सूरसागर' का ही व्याख्यात्मक नाम 'भाषा भागवत' समझना चाहिए।

११ भेंवरगीत—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख एक खोजरिपोर्ट में^{७२} और एक अपूर्ण प्रति का सरस्वती-भंडार पुस्तकालय की ग्रंथ-सूची में है^{७३}। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस नाम की जिन प्रतियों की आलोचना की है^{७४}, वे संभवतः वर्तमान युग में संकलित हुई हैं। उक्त तीनों प्राचीन प्रतियों में भी 'सूरसागर' के ही पद संगृहीत हैं।

१२ मानसागर—इस नाम के सूर-कृत ग्रंथ की एक प्रति का उल्लेख सरस्वती

६४ खोजरिपोर्ट, सन् १९०२, स० २९२, पृ० ८२०।

६५ खोजरिपोर्ट, सन् १९०६, स० ३२४।

६६ A Catalogue of Mss in the Library of H H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 224-25.

६७ A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 234-35.

६८ खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६ एफ, पृ० ३७३।

६९ 'अष्टधाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८२।

७० खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, स० १८६ ए।

७१. खोजरिपोर्ट, सन् १९१२-१४, स० १८५ ए, पृ० २३६।

७२ खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, स० ४१६ ए और ४१६ बी, पृ० १४२८-२९।

७३ A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 242-43.

७४ 'अष्टधाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८६।

भंडार पुस्तकालय की सूची में है^{७५} और दूसरी, डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार, नाथद्वार पुस्तकालय में है। कांकरौली के पुस्तकालय में 'मानलीला' नाम से, स्वतंत्र ग्रंथ-रूप में, इसकी कई प्रतियाँ देखने का भी उन्होंने उल्लेख किया है^{७६}। संवत् १९९९ के कार्तिक मास की 'व्रजभारती' में पंडित जवाहरलाल चनुर्वेदी ने संपूर्ण 'मानसागर' प्रकाशित किया था जो बेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' के पृष्ठ ४०९ से १२ तक के पदों से मिलता है। अतएव 'मानलीला' या 'मानसागर', 'सूरसागर' से उद्धृत एक छोटी सी रचना है।

१३. राम-जन्म—इसके कवि का नाम खोजरिपोर्ट में सूरजदास दिया हुआ है^{७७}। अवधी भाषा और दोहे-चौपाई-शैली में होने के कारण यह ग्रंथ 'सूरसागर' के कवि का नहीं हो सकता।

१४. रुक्मिणी विवाह^{७८}—इस संग्रह में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-विवाह-संबंधी पद 'सूरसागर' से उद्धृत कर लिये गये हैं।

१५. विष्णुपद—संवत् १९०४ की लिखी हुई इस पुस्तक की एक अपूर्ण प्रति मिली है जिसमें श्रीकृष्ण-लीला, यशोदा-नंद का श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य, राधा-कृष्ण-प्रेम आदि विषयों से संबंधित पद संकलित हैं^{७९}। 'सूरसागर' से ही इसमें चुने हुए पदों का संग्रह किया गया है।

१६. व्याहृतो—इसमें राधाकृष्ण-विवाह संबंधी २२ पद हैं। खोजरिपोर्ट में आदि, मध्य या अंत के उद्धरण नहीं हैं^{८०}; इसलिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ सूर का है या नहीं। इसी नाम के और भी तीन ग्रंथ खोज में मिले हैं—एक, बिहारिनीदास-कृत^{८१}, दूसरा, हितहरिवंश-संप्रदाय के ध्रुवदास-कृत^{८२} और तीसरा, नारायणदास-कृत^{८३}। सूरदास के नाम से प्राप्त ग्रंथ के उद्धरण न होने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन्हीं तीनों में से किसी को सूरदास-कृत कह दिया गया है अथवा किसी ने उक्त नाम पसंद करके, 'सूरसागर' से तद्विषयक पदों का संकलन करके, उसे ही सूर-कृत प्रसिद्ध कर दिया है।

75. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 246-47.

७६. 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

७७. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८७ ए, पृ० ३७४।

७८. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ ई, पृ० १४३२।

७९. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ डी, पृ० १४३१।

८०. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४ ए, पृ० ३२३।

८१. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २१८ ए।

८२. खोज रिपोर्ट, सन् १९०९-११, सं० ७३ एल।

८३. 'अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८२।

१७ सुदामा चरित्र^{८४}—इस संग्रह में सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता-संबंधी पद 'सूरसागर' से उद्धृत कर दिये गये हैं ।

१८ सूर पञ्चीसी—ज्ञान-सवधी २५ दोहे इसमें संगृहीत हैं^{८५} । यह पद वैकुण्ठेश्वर प्रेम के 'सूरसागर' में पृ० ३१२ पर 'परज' राग के अंतर्गत प्रकाशित है । अतएव यह भी सूरदास का स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है । इसकी एक प्रति उदयपुर के केवलराम दादूपणी के पास है जो 'वाणी-संग्रह' नामक विविध ग्रंथों के एक सक्लन में संगृहीत है^{८६} ।

१९ सूर-पदावली—सूर के पदों के स्फुट संग्रह अथवा 'सूरसागर' के संक्षिप्त संस्करण ही 'सूर-पदावली' के नाम से मिलते हैं । ऐसे बारह सक्लन बीकानेर के अनूप-संस्कृत पुस्तकालय में वर्तमान होने की सूचना श्री अजरचंद नाहटा ने दी है जिनमें से बारह में कृष्ण चरित्र संबंधी पद हैं^{८७} । उदयपुरी सरस्वती-भंडार की ग्रंथ-सूची में भी एक 'पदावली' का उल्लेख है^{८८} । इन सब पदावलियों का महत्व 'पद-ग्रंथों' के समान ही समझना चाहिए ।

२० सूर-सागर-सार—खोज रिपोर्ट के संपादक ने इसे कवि का नया प्रामाणिक ग्रंथ माना है^{८९} , परंतु उद्धरण-रूप में जो पद उन्होंने दिये हैं वे 'सूरसागर' के मूल स्तंभ के ही हैं । इसलिए यह भी स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, कवि के ३७० पदों का संग्रह मात्र है । डा० दीनदयालु गुप्त ने 'सूर-सागर-सार' को 'सूर-सारावली' का ही परिवर्तित नाम कहा है^{९०} , परन्तु 'सूर-सारावली' नाम से भी सूरदास के स्फुट पदों के सक्लन मिलते हैं जिनमें से एक का विवरण पीछे दिया जा चुका है । अतएव 'सूर-सागर-सार' को 'सूर-सागर' के ही पदों का संग्रह मानना उचित जान पड़ता है ।

२१ सेवाफल—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने किया है—एक, नाथद्वार निज पुस्तकालय में है और दूसरी, कांकरीली विद्या विभाग में^{९१} । उनके विवरण के अनुसार इस ग्रंथ में केवल एक लंबा पद है जिसे वे सूर-कृत ही मानते हैं ।

८४. खोज रिपोर्ट सन् १९२३-२५, द्वितीय भाग, स० ४१६ ई पृ० १४३२ ।

८५. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४, स० १८५ बी, पृ० २३२ ।

८६. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० ५८-५९-६० ।

८७. 'व्रजभारती,' वर्ष ९, अंक ३ में प्रकाशित श्री अजरचंद नाहटा का 'सूर-पदावली' की प्राचीन प्रतियाँ' शीर्षक लेख, पृ० १९ ।

88. A Catalogue of Mss in the Library of H H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 282-83

८९. खोज रिपोर्ट, सन् १९०९-११, स० ३१३, पृ० ४२१ ।

९०. 'अष्टधाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३ ।

९१. 'अष्टधाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८ ।

१२. हरिवंश-टीका—सूरदास के नाम से इस ग्रंथ की सूचना 'कैटेलोगस कैटेलोगस' ^{१२} और दक्षिण-कालेज पुस्तकालय, पूना की ग्रंथ-सूची ^{१३} में है। परन्तु संस्कृत में होने के कारण यह ग्रंथ 'सूरसागर' के अथकवि का नहीं हो सकता।

इनके अतिरिक्त 'सूर-रामायण', 'दान-लीला', 'सूर-माठी' आदि सूरदास के कुछ ग्रंथों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है और इनमें से कुछ प्रकाशित भी हुए हैं। वास्तव में इनमें भी 'सूरसागर' के ही तद्विषयक पद उद्धृत कर लिये गये हैं। परन्तु स्वतंत्र रचना न होने के कारण ही इन संकलनों का महत्व समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि कवि के मूल काव्य के संपादन में कभी-कभी इनसे बड़ी सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। इतना तो निश्चित ही है कि 'सूरसागर' के जो पद उक्त संकलनों में दिये हुए हैं, उनमें से अधिकांश काव्य-कला की दृष्टि से सामान्य कोटि के नहीं हो सकेंगे। अतएव इनकी सहायता से 'सूरसागर' के श्रेष्ठ भाग का वैज्ञानिक रीति से संपादन किया जा सकता है और इस कार्य की समाप्ति के साथ साथ पाठ-निर्णय-संबंधी जो सिद्धांत निश्चित किये जायें, उनके आधार पर शेषांश का संपादन-कार्य सफल हो सकता है। बाबू राधाकृष्णदास की तो बात दूर, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी अपने संस्करण के संपादन में इन फुटकर संग्रहों से कोई सहायता नहीं ली थी। इन पत्तियों के लेखक की सम्मति में 'दशम स्कंध', 'भागवतभाषा', 'सूर-सागर-सार', 'सूर-पदावली', 'पद-संग्रह', और 'भमरगीत' जैसे संकलनों से पाठ-निर्धारण में तो सहायता मिलेगी ही, संभव है, इनमें कुछ नये पद भी मिल जायें। अतएव सूर-काव्य-संपादकों के लिए ये ग्रंथ सर्वांगतः उपेक्षणीय नहीं हैं।

सूर-काव्य के प्रकाशित संस्करण—

मुद्रण-कला का आविष्कार हो जाने के पश्चात् सूर-काव्य के स्फुट संग्रहों के प्रकाशन की ओर लोगों का ध्यान गया। प्राचीन काव्यों के प्रतिलिपिकारों की मनोवृत्ति और प्रणाली के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि उन्होंने संपादकों के कार्य को सुगम न करके बहुत कठिन बना दिया था। दूसरी बात यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के संपादक तो वैज्ञानिक संपादन-पद्धति से परिचित थे ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक उनके दृष्टिकोण में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। फिर भी इन सबके प्रयत्न से इतना लाभ तो हुआ ही कि सूर साहित्य किसी न किसी रूप में सर्वसाधारण के लिए ही नहीं, काव्य-प्रेमियों और आलोचकों के लिए भी सुलभ हो गया जिससे प्रामाणिक पाठ-संबंधी चर्चा प्रारंभ होने लगी और सूर-साहित्य की भाषा तथा कला की आलोचना भी संभव हो सकी।

मुद्रित सूर-साहित्य दो रूपों में प्राप्त है। एक तो सूर-काव्य के स्वतंत्र संग्रह के

92.. Catalogus Catalogorum by Theodor Aufrecht, pages 731 & 761.

93. A Catalogue of Sanskrit Mss. in the Library of the Deccan college, page 603..

रूप में और दूसरे, विभिन्न वक्तियों की रचनाओं के साथ पाठ्यग्रथों के रूप में। पाठ्यग्रथों के संपादकों ने प्रायः स्वतंत्र रूप से प्रकाशित संग्रहों में वक्तियों की रचनाओं को ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया और उनके पाठशासन का कोई प्रयत्न नहीं किया। अतएव वैज्ञानिक संपादन की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। स्वतंत्र रूप में प्रकाशित मूल-पद-संग्रह भी दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम तो ऐसे संग्रह जो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किये गये हैं और जिनके संपादकों ने थोड़ा-बहुत पाठ-संशोधन-कार्य भी किया है। दूसरे, वे संग्रह जो प्रथम वर्ग के संपादकों के श्रम से लाभ उठाकर संकलित कर लिये गये हैं और जिनके संग्रहकारों ने पाठ-निर्णय या शोध की कोई आवश्यकता नहीं समझी है।

क सूरसागर—

मूल-साहित्य के संपूर्ण संस्करणों के प्रकाशन का प्रबंध इन संकलनों से पहले ही आरंभ हो गया था और वास्तव में वही महत्व का भी है। सन् १८६४ में लखनऊ के नवल-किशोर प्रेस में 'मूलसागर' का एक संस्करण प्रकाशित हुआ^{१४}। इसके प्रथम पृष्ठ पर यह वक्तव्य है—अयोध्यापुरी के महाराजा मानसिंह कायम जग प्रतापी की अनुमति से मुन्शी नवलकिशोर ने मुन्शी जमुनाप्रसाद को सयुक्त करके ५० कालीचरण से अत्यंत शुद्ध करके छपवाया^{१५}। इस संस्करण के आदि में 'मूल-सारावली' भी प्रकाशित है। इस संस्करण में दो भाग हैं—प्रथम में भिन्न भिन्न रागों के अनुसार बीतन के पद हैं और द्वितीय में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के अंतर्गत तत्संबंधी पद हैं। इस संस्करण में स्कंधों के अनुसार पदों के न दिये जाने का प्रधान कारण समझने यह है कि इसका संकलन मुख्यतः प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'रागसागर' श्रीकृष्णानंद व्यास द्वारा संग्रहीत और वर्गीय साहित्य-परिपक्व, कलकत्ता की ओर से तीन बड़े भागों में प्रकाशित 'राग-कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ में दिये हुए पदों में से किया गया है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, 'राग-कल्पद्रुम' विभिन्न राग-रागिनियों के अनुसार संकलित बृहत् संग्रह है जिसमें मूलदास जी के कुछ ऐसे पद मिलते हैं जो अन्य हस्तलिखित प्रतियों में भी नहीं पाये जाते। इस दृष्टि से यह संस्करण अवश्य महत्व का है।

इसके पश्चात् भारतेन्दु जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने 'मूलसागर' के पद-संकलन का कार्य आरंभ किया। परंतु उनके असामयिक देहावसान से यह महत्वपूर्ण कार्य प्रारंभ होते-होते ही समाप्त हो गया। पश्चात्, उनकी संकलित सामग्री का उपयोग

१४ नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९३४ में राजसंस्करण के रूप में प्रकाशित 'मूलसागर' के प्रथम खंड के आरंभ में सहायक ग्रंथों की एक सूची दी गयी है। इसमें चौदहवें सदस्यक प्रति सन् १८८९ में कलकत्ता और लखनऊ, दोनों स्थानों से प्रकाशित बताया गया है। मेरे पास लखनऊ की १८६४ की प्रकाशित प्रति है। जान पड़ता है, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के पास उसका दूसरा संस्करण रहा होगा—लेखक।

१५. 'मूलसागर', नवलकिशोर प्रेस, प्रथम संस्करण, आवरण का वक्तव्य।

उनके संबंधी बाबू राधाकृष्णदास ने किया और कई वर्षों के परिश्रम के उपरान्त बंबई के बेकटेश्वर प्रेस से 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' का सम्मिलित संस्करण प्रकाशित कराया। बाबू राधाकृष्णदास के इस कार्य का सर्वत्र स्वागत हुआ और सूर की कला काव्यालोचना का प्रिय विषय बन गया।

परंतु प्राचीन व्रजभाषा और सूर की काव्य-भाषा के अध्ययन में रुचि रखनेवाले विद्वानों को उक्त संस्करणों से पूर्ण संतोष न हो सका। इसमें सदेह नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के उस युग में जब वर्तमान माधनों का सर्वथा अभाव था, उक्त दोनों संस्करणों को तैयार करने में पर्याप्त श्रम और व्यय करना पड़ा होगा, परंतु एक तो उस समय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ सुलभ न होने और दूसरे, वैज्ञानिक संपादन-कला प्रणाली का ज्ञान न होने के कारण, वे संस्करण न तो व्रजभाषा-अध्ययन की दृष्टि से प्रामाणिक आधार माने जा सकते हैं और न पाठ की सुद्धता की दृष्टि से ही। बंबई के संस्करण की सामग्री के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि उसमें संगृहीत सभी पद प्रामाणिक रूप से अपट्टछापी मूरदास-वृत्त नहीं कहे जा सकते^{१६}। वास्तव में बाबू राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' की तीन ऐसी अपूर्ण प्रतियों को अपना आधार बनाया था जो कहें तो तीन प्रतियाँ थीं, परंतु वास्तव में बारहों स्कंधों के 'सूरसागर' की एक पूर्ण प्रति ही होती थी जैसा कि उन प्रतियों के विवरण^{१७} से स्पष्ट है—

अ. पूज्यपाद श्री भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र जी के पुस्तकालय में पुस्तकों को उलटते-पलटते एक बस्ते में 'सूरसागर' का केवल दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध हाथ आया।

इ. इसी बीच बाँकीपुर जाने का संयोग हुआ और वहाँ मित्रवर बाबू रामदीनसिंह जी के यहाँ 'सूरसागर' का प्रथम में नवम स्कंध तक देखने में आया।

उ. दशम उत्तरार्द्ध और एकादश-द्वादश स्कंध श्री महाराज काशिराज बहादुर के पुस्तकालय में मँगाया गया।

प्रथम संस्करण के मुद्रित हो जाने के पश्चात् बाबू राधाकृष्णदास को काशी के जानीमल खानचंद की कोठी में एक संपूर्ण प्रति होने की सूचना मिली। कोठी के स्वामी श्री गिरिधरदास की कृपा से उक्त प्रति प्राप्त करके उसके आधार पर पाठ का मिलान करने के बाद प्रथम संस्करण के अंत में बहुत से नये पद और पदों के भाग दे दिये गये। सन् १९३४ में 'सूरसागर' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने पर वे सब उनमें सन्निवेशित कर दिये गये^{१८}। आशय यह कि यह द्वितीय आवृत्ति पहली से बहुत उपयोगी बन गयी। इस आवृत्ति में एक प्रकार से प्राचीन पाठ सुरक्षित है और अन्य 'मोघिन' पाठों की अपेक्षा भाषा-संबंधी अध्ययन के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

१६. 'अपट्टछाप और वस्तुम-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८०।

१७. 'सूरसागर', बेकटेश्वर प्रेस, द्वितीय संस्करण, निवेदन, पृ० १।

१८. 'सूरसागर', बेकटेश्वर प्रेस, द्वितीय संस्करण, 'निवेदन', पृ० १।

सूर-काव्य के उक्त दोनों सस्वरणों^{११} के आधार पर 'सूरसागर' के दो सश्लिष्ट सस्वरण भी प्रकाशित किये गये। एक का संपादन प्रयाग विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग के तत्कालीन प्रोफेसर डा० देवीप्रसाद ने सन् १९२७ में किया जिसके दूसरे सस्वरण का संशोधन डा० धीरेन्द्र वर्मा ने १९२६ में और तीसरे का डा० रामकुमार वर्मा ने १९३३ में किया था। दूसरा सश्लिष्ट सस्वरण श्री विद्योती हरि जी के आराधकत्व में हिंदी-भाषित सम्मेलन द्वारा प्रकाशित किया गया। इन दोनों में मूरदास जी के चुने हुए सुन्दर पद संकलित हैं जिनमें कवि की काव्य-कला के अध्ययन में और विविध विषयों के छोटे-छोटे सग्रहों के प्रकाशन में सहायता मिलती रही है, परन्तु प्राचीन व्रजभाषा-रूप और सामान्य संपादन-सिद्धांत निश्चित न होने के कारण दोनों के पाठों में बहुत अंतर है। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियाँ स पाठ का मिश्रण करने के साधन बढई और लखनऊ के सस्वरणों के प्रकाशन-काल में तो मुलभ नही थे, परन्तु इन सश्लिष्ट सस्वरणों के संपादकों ने भी, सम्बन्ध समयाभाव के कारण, प्राप्त और उपलब्ध सामग्री से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जिससे प्रामाणिक पाठ और भाषा के सर्वसम्मत रूप की समस्या पूर्ववत् बनी रही।

'विहारी-मत्तसई' का श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा संपादित सस्वरण जब प्रकाश में आया तब सभी विद्वानों ने मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की। सम्बन्ध इसी से प्रोत्साहित होकर 'रत्नाकर' जी ने 'सूरसागर' के प्रामाणिक सस्वरण का अभाव दूर करने का निश्चय किया था। 'विहारी-रत्नाकर' के संपादन का प्रयास तो बहुत-कुछ व्यक्तित्व रूप में किया गया था, परन्तु 'सूरसागर' के कार्य में श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने नागरी-प्रचारिणी सभा का सहयोग स्वीकार कर लिया और स्वयं भी 'सूरसागर' की लगभग एक दर्जन हस्तलिखित प्रतियों^१ का संग्रह करने में बहुत धन व्यय किया। कई वर्षों के परिश्रम से मूरदास के सनस्त पदों की अक्षरक्रम से सूची बनाकर विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से उनका पाठ मिलाते हुए 'सूरसागर' के तीन चौथाई अंश का संपादन उन्होंने कर लिया। नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित 'सूरसागर' के निवेदन के अनुसार, 'पाठ-शुद्धि के अन्तर्गत छंदों का संशोधन, चरणों का क्रम-निरूपण तथा

११ लखनऊ और बढई से प्रकाशित सस्वरण के अतिरिक्त प० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका रूप" शीर्षक लेख (पृ० १२९-३०) में आगरा, कलकत्ता काशी, जयपुर और मयुरा से प्रकाशित 'सूरसागर' की कुछ प्रतियों का उल्लेख किया है। उनमें अधिकांश तीसरी की छपी हैं। दिल्ली और मयुरा की प्रतियों का प्रकाशन वर्ष उन्होंने सन् १८६० दिया है। इस प्रकार वे लखनऊ की प्रति से जो पहले की छपी बताये गयी हैं—लेखक।

१. जिन प्रतियों का उपयोग इस सस्वरण के तैयार करने में किया गया था, वे सब अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ही थीं, सत्रहवीं शताब्दी या उससे पहले की नहीं—'व्रजभारती', वर्ष ९, अंक १, पृ० ८।

पद-प्रयोगों की निश्चित पद्धति का अनुसरण आदि संपादन-सम्बन्धी आवश्यक अंग पूरे हो गये थे, परन्तु अभी शेष चतुर्थांश का सकलन करने के अतिरिक्त अनेक पाठों में से सबसे सुन्दर और उपयुक्त पाठ चुनकर रखना तथा संपूर्ण संपादन अंश को अंतिम रूप देना बाकी रह गया था कि कराल काल ने उन्हें कबलित कर लिया^२। सभा को जब यह सारी सामग्री प्राप्त हो गयी तब उसने इसके प्रकाशन का निश्चय किया और इसे समाप्त करने का भार मुशी अजमेरी जी को सौंपा। कुछ समय पश्चात्, उनके कार्य से विरत हो जाने पर सर्वश्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामचंद्र शुक्ल, केशवराम मिश्र, सभा के प्रकाशन मंत्री और नन्ददुलारे वाजपेयी की एक समिति बनायी गयी जिसके तत्वावधान में वाजपेयी जी ने लगभग चार वर्षों में उक्त कार्य को पूरा किया। ऐसे परिश्रम से संपादित ग्रंथ रत्न को नागरी-प्रचारिणी सभा बड़े उत्साह से राज-संस्करण के रूप में सुन्दर और आकर्षक ढंग से प्रकाशित करना चाहती थी; परन्तु आठ खंड छपने के पश्चात् अनेक कारणों से यह योजना स्थगित कर देनी पड़ी और सीधे-सादे ढंग से दो बड़े भागों में संपूर्ण 'सूरसागर' प्रकाशित कर दिया गया। अब तक प्रकाशित इस ग्रंथ के सभी संस्करणों में संपादन की वैज्ञानिक रीति का निर्वाह बहुत अंश में सभा द्वारा प्रकाशित इसी संस्करण में किया गया है, यद्यपि शब्द-रूप-सम्बन्धी जिस निश्चित नीति के आधार पर यह कार्य संपन्न हुआ है, उससे सभी विद्वान पूर्णतः सहमत नहीं हैं।

'रत्नाकर' जी के अतिरिक्त दो-एक अन्य विद्वान भी 'सूरसागर' के संपादन में लगे थे जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं मथुरा के श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी। सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करने के लिए उन्होंने दूर-दूर के स्थानों की कई यात्राएँ की थी और उन्हें 'सूरसागर' की कुछ प्राचीन प्रतियाँ मिली भी थी जिनमें एक कदाचित् सत्रहवीं शताब्दी की भी है। चतुर्वेदी जी ने कार्य तो बहुत ठीक ढंग से आरम्भ किया था, परन्तु बाद में, संभवतः व्यक्तिगत कठिनाइयों और सामूहिक सहयोग के अभाव के कारण, वह असमाप्त रह गया, यद्यपि अब भी वे इसको समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

ख. सूर-सारावली—

यह ग्रंथ लखनऊ और बम्बई के 'सूरसागरों' के आरंभ में प्रकाशित है। लखनऊ के संस्करण में तो कोई भूमिका है नहीं, बम्बई की प्रति में भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि बाबू राधाकृष्णदास ने किन किन प्राचीन प्रतियों के आधार पर उसका संपादन किया था। शोध-कार्य के विवरणों की जो सूची पीछे दी गयी है, उनमें से किसी में भी 'सूर-सारावली' की कोई प्राचीन प्रति मिलने का उल्लेख नहीं है। इधर 'सूरसागर' के साथ-साथ भी 'सारावली' का स्वतंत्र रूप से संपादन किसी आधुनिक विद्वान ने संभवतः अभी तक नहीं किया है^३।

२. 'सूरसागर' (राजसंस्करण), नागरी प्रचारिणी सभा, 'वक्तव्य', पृ० १।

३. प्रस्तुत धर्मियों के लेखक ने लखनऊ और बम्बई के 'सूरसागरों' के आरम्भ में प्रकाशित 'सूरसारावली' के आधार पर इसे स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करा दिया है।

ग. साहित्यलहरी—

इस ग्रंथ का 'साहित्यलहरी' नाम से सर्वप्रथम सवलन-संपादन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था। उनके स्वर्गवास के मात्र-आठ वर्ष पश्चात् सन् १८९२ में उसका प्रकाशन बाँकीपुर (पटना) के बाबू रामदीनसिंह ने किया। इस संस्करण के अंत में सूरदास जी का लंबा जीवनचरित दिया हुआ है, परन्तु उसमें यह उल्लेख नहीं है कि उन्होंने किस प्राचीन प्रति के आधार पर उक्त ग्रंथ का संपादन किया था। उनके संस्करण के मुखपृष्ठ पर लिखा हुआ 'संगृहीत' शब्द इस बात की ओर नकेत करता है कि 'भूरसागर' की विभिन्न प्रतियों से ही उन्होंने इसके पद संकलित किये होंगे। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कारण, भारतेन्दु जी के एक प्रकार में समकालीन सरदार कवि (कविता काल सन् १८४५ से १८८३) की 'नूर के दृष्टबूटा की टीका' उनके सामने अवश्य रही होगी और उसका उन्होंने पूरा-पूरा उपयोग भी किया होगा। 'साहित्यलहरी' के उक्त संस्करण में ११८ पदों की टीका समाप्त करने के पश्चात् लिखा है—'इति श्री कूट पद सूरदास टीका समुक्त संपूर्णम्' ४। इसके पश्चात् ४९ पदों की टीका 'उपसंहार अक्षर स' के अंतर्गत है जिसके आरम्भ में यह वक्तव्य है—'इन टीका के निदाय और भी कुछ भजना का अर्थ सरदार कवि ने लिखा है, वह मूल अर्थ नमो नीचे प्रकाशित किया जाता है' ५। इसके अनंतर 'उपसंहार अक्षर स' के अंतर्गत ४ पद और दिये हुए हैं और इनके आरम्भ में 'बाबू चंडीप्रसादसिंह संगृहीत' ६ लिखा हुआ है जिससे स्पष्ट है कि ये ४ पद सरदार कवि की प्रति में नहीं होंगे। 'साहित्यलहरी' का जो नया संस्करण पुस्तक भंडार, लहरियासराय से प्रकाशित हुआ, उसमें खड्गविलाल प्रेस के ही पद हैं। इसके टीकाकार श्री महादेवप्रसाद ने एक 'ब्रजभाषा टीका' के प्रकाशित होने की बात लिखी है ७; परन्तु उसका विनोद विवरण नहीं दिया है। अनुमान होता है कि उनका आशय सरदार कवि की टीका से ही रहा होगा।

अब प्रश्न यह है कि 'भुनि पुनि रमन के रम लेख' से आरम्भ होनेवाले पद की अंतिम पंक्ति 'नदनदनदाम दिन साहित्यलहरी कीन' ८ के आधार पर अब प्रायः सभी

४. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० ११७।

५. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० ११८।

६. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० १६१।

७. 'साहित्यलहरी', (पुस्तक-भंडार) प्रथम संस्करण, सन् १८३९, 'वक्तव्य', पृ० ९।

८. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पद १०९, पृ० १०१-१०२।

विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि सूरदास के समय में ही 'साहित्यलहरी' के पदों का सकलन हो गया था, तब उसकी कोई प्राचीन संपूर्ण प्रति क्यों नहीं मिलती ? पीछे 'सूरदास जी के दृष्टकूट', 'सूर-शतक सटीक' अथवा 'गूढार्थ पदावली' नाम से सूरदाम-कृत कूटपदों के जो संग्रह मिलते हैं, क्या उनको ही कवि द्वारा संगृहीत 'साहित्यलहरी' का मूल रूप माना जाय ? इन प्रश्नों का निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता और अनुमान यही होता है कि 'साहित्यलहरी' जिस रूप में आज उपलब्ध है वह कवि सूर द्वारा सकलित नहीं हो सकती, अधिक से अधिक उन्होंने केवल ११८ पदों का सकलन किया था कराया होगा जो प्राचीन 'शतको' में मिलते हैं।

सूरदास के प्रामाणिक ग्रंथ—

सूरदास के नाम से प्राप्त प्रकाशित-अप्रकाशित जिन ग्रंथों की चर्चा पीछे की गयी है अथवा जिनका नामोल्लेख भर किया गया है, वे अक्षरक्रम से इस प्रकार हैं —

क्रम संख्या	काव्य का नाम	प्रकाशित-अप्रकाशित
१	एकादशी माहात्म्य	अप्रकाशित
२	कबीर (सूर-कृत)	अप्रकाशित
३	गोवर्द्धन-लीला	अप्रकाशित
४	दशमस्कंध-भाषा	अप्रकाशित
५	दान-लीला	अप्रकाशित
६	नल-दमयंती	अप्रकाशित
७	नाग-लीला	अप्रकाशित
८	पद-संग्रह या पदावली (सूर-कृत)	अप्रकाशित
९	प्राण-प्यारी	अप्रकाशित
१०	भैरवगीत	प्रकाशित
११	भागवतभाषा	अप्रकाशित
१२	मान-लीला या मानसागर	अप्रकाशित
१३	राधा-रस-केलि-कौतुहल	प्रकाशित
१४	राम-जन्म	अप्रकाशित
१५	व्याहलो	अप्रकाशित
१६	साहित्यलहरी	प्रकाशित
१७	सूर-पचीसी	प्रकाशित
१८	सूर-रामायण	प्रकाशित
१९	सूर-साठी	प्रकाशित
२०	सूर-सारावली	प्रकाशित
२१	सूर-शतक	अप्रकाशित
२२	सूर-भागवत	प्रकाशित

२३	सूर-सागर-सार	अप्रकाशित
२४	सेवाफल	अप्रकाशित
२५	हरिवंश-टीका	अप्रकाशित

इनमें से 'गोवर्द्धन-लीला', 'दशमस्कंध भाषा', 'दान-लीला', 'नाय-लीला', 'पद-संग्रह' या 'पदावली', 'भैरवगीत', 'भागवत-भाषा', 'मान-लीला' या 'मानसागर' अथवा 'राधा-रस-केलि-कौतूहल'^१, 'व्याहलो', 'सूर-पचीसी', 'सूर-रामायण', 'सूर-साठो', 'सूर-शतक', 'सूर-सागर-सार', और 'सेवाफल' नामक ग्रंथ 'सूर-सागर' अथवा 'साहित्य-लहरी' से संकलित उनके अंश माने हैं। 'एकादशी-माहात्म्य', 'नन-दमयन्ती', 'राम-जन्म', और 'हरिवंश-टीका' सूर की अप्रामाणिक रचनाएँ हैं^{१०}। 'प्राण-प्यारी' उनकी सदिग्ध-रचना मानी जाती है^{११}। 'सूरसागर' तो उनकी सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है, परन्तु 'साहित्यलहरी' और 'सूर सारावली' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मिश्रबन्धु^{१२}, पं० रामचंद्र शुक्ल^{१३}, डा० दीनदयाल गुप्त^{१४}, और पं० नन्दलाल वाजपेयी^{१५} तथा कुछ अन्य विद्वान^{१६} 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' को सूरदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं, परन्तु डा० ब्रजेश्वर वर्मा इनसे सहमत नहीं हैं^{१७}।

सूर-कृत ग्रंथों के प्रामाणिक-संस्करणों की आवश्यकता अब भी है—

'सूरसागर', 'साहित्यलहरी' और 'सूर-सारावली' के प्रकाशित संस्करणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'सूरसागर' के संपादन में 'रत्नाकर' जी ने विशेष परिश्रम किया था, फिर भी उसके पाठ और तत्संबंधी सिद्धांतों से सभी विद्वान सहमत नहीं हैं। इधर 'सूरसागर' की अनेक पूर्ण-अपूर्ण प्रतियों का और भी पता लगा है जिनका विवरण पीछे दिया गया है। इस सबके आधार पर व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं, ब्रजभाषा-विशेषज्ञों की समिति द्वारा जब 'सूरसागर' का संपादन किया जायगा, तभी उससे सबको संतोष हो सकेगा। इस कार्य के संपादन में तीन प्रकार की—प्रामाणिक ग्रंथ-निर्णय, पाठ-निर्णय

१. डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'मानलीला', 'मानसागर' और 'राधा-रस-केलि-कौतूहल'—एक ही ग्रंथ के तीन नाम हैं—'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

१०. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

११. 'अष्टछाप और 'वल्लभ संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

१२. 'हिंदी-भवरत्न', चतुर्थ संस्करण, पृ० २३२।

१३. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० १९४-९५।

१४. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम-भाग, पृ० २७८ और २९८।

१५. 'महाकवि सूरदास', पृ० ६१-६२।

१६. (क). श्री पारोक्ष और मोतिल, 'सूर-निर्णय', पृ० १४३ और १५२।

(ख) डा० बेनीप्रसाद, 'संक्षिप्त सूरसागर', 'भूमिका', पृ० ९।

१७. 'सूरदास', द्वितीय संस्करण, पृ० ५०।

और क्रम-निर्णय की—कठिनाइयाँ हैं। इनमें से द्वितीय के अंतर्गत पद-संख्या-निर्णय की और तृतीय के अंतर्गत 'सूरसागर' के संग्रहात्मक अथवा द्वादश स्कंधात्मक रूप-निर्णय की समस्याएँ भी आ जाती हैं। प्रामाणिक ग्रंथ-निर्णय में 'सारावली' की प्रामाणिकता का प्रश्न कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण है। इस संबंध में प्रस्तुत पक्तियों के लेखक के विचार स्वतंत्र रूप से प्रकाशित 'सारावली' की भूमिका में देखे जा सकते हैं। पद-संख्या-समस्या के संबंध में यहाँ केवल इतना संकेत करना पर्याप्त जान पड़ता है कि सूरदास ने सहस्रावधि या लक्षाधिक पदों की रचना की, ऐसा कभी-कभी कहा गया है। वस्तुतः इस उल्लेख से सूर के पदों की निश्चित संख्या नहीं समझनी चाहिए, प्रत्युत ये शब्द हजारों या लाखों अथवा 'हजार या लाख से अधिक' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

'सूरसागर' के क्रम-निर्णय का प्रसंग उठाने के पूर्व उसके संपादकों को यह निर्दिष्ट करना है कि उसका संग्रहात्मक रूप प्रामाणिक है अथवा स्कंधात्मक।

नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' संग्रहात्मक है जो नित्य-कीर्तन, बधाई, बाल-लीला, (माटी भक्षण), माखन-चोरी, दामोदर लीला, अघासुर-वध, बत्स-हरण-लीला, राधा-कृष्ण प्रथम मिलन, गोवर्धन लीला, गोचारण-लीला, काली-दमन लीला, दावानल-पान लीला, गोदोहन लीला, स्याम भुवग-डसन लीला, वस्त्रहरण लीला, पनघट-लीला, दान-लीला, अनुराग लीला, मुरली के पद, रामलीला, विनय के पद, मधुरा-गमन-लीला और भ्रमरगीत संबंधी पद आदि मुख्य शीर्षकों से विभाजित है और इनमें से कुछ के पुनः उपशीर्षक दिये गये हैं। इस संस्करण का संपादन अयोध्या के महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की देखरेख में पं० कालीचरण ने किया था। इस संस्करण के संग्रहात्मक होने का मुख्य कारण है श्री कृष्णानंद व्यास के 'रागकल्पद्रुम' की आधार-रूप में स्वीकार किया जाना। बंबई और काशी से प्रकाशित 'सूरसागर' स्कंधात्मक हैं। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ दोनों रूपों की मिलती हैं।

उक्त विवादग्रस्त विषय के संबंध में प्रस्तुत पक्तियों के लेखक का मत है कि 'सूरसागर' अपने मूल रूप में 'संग्रहात्मक' रहा होगा और श्रीकृष्ण-लीला के प्रसंगों को लेकर रचे गये पद एक साथ ही संगृहीत रहे होंगे। यह क्रम बल्लभसंप्रदाय में कवि के प्रवेश के बाद पचीस-तीस वर्षों तक चलता रहा होगा। पश्चात्, सूरदास द्वारा रचित पदों को श्रीमद्भागवत के क्रम से व्यवस्थित करके, छूटे हुए प्रसंगों को उनमें सम्मिलित करने का सुझाव सूरदास के सामने उपस्थित किया होगा। यह सुझाव सभी दृष्टियों से उपयुक्त था और कवि की काव्य-प्रतिभा से परिचित सभी व्यक्तियों ने मुक्तकंठ से उसका समर्थन ही नहीं किया, उसकी उपयुक्तता की प्रशंसा भी की। भक्त कवि सूरदास का तो इसमें दोहरा लाभ था—इष्टदेव के लीला-गाव के माध-माध संप्रदाय में मान्य धर्मग्रंथ की कथाओं की भाषा में रचना का पुण्य भी प्राप्त करना। फलतः उन्होंने सहर्ष ही उक्त सुझाव के अनुसार पद-रचना आरंभ कर दी। इस प्रकार 'सूरसागर' का मूल रूप संग्रहात्मक था और उस रूप में सूरदास के इष्टदेव की लीला के चुने हुए प्रसंगों पर लिखे पद ही थे; यह संग्रहात्मक रूप कवि के रचना-काल के पूर्वार्द्ध की कृति थी।

इस पूर्वाह्न काल के अनन्तर मूरकाव्य की जितनी प्रतिनिधियाँ तैयार की गयीं वे सब, और कालान्तर में उन प्रतियों से पुनः लिखी गयीं सभी प्रतिनिधियाँ सग्रहात्मक हैं।

कवि के जीवन के अंतिम चतुर्थांश में 'मूरसागर' के सग्रहात्मक रूप को श्रीमद्भागवत के अनुमानानुसार रूप दिया गया। यह कार्य मूरदास के मित्रों या शिष्यों द्वारा संपन्न हुआ, कवि का योग इसमें इतना ही था कि छूटे हुए प्रमुख प्रसंगों का वर्णन करने में चलनाऊँटग से करके श्रम का निर्वाह भर कर दिया। मूरकाव्य का यह अंश बहुत साधारण है और उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है कि कवि ने रूचि नहीं, केवल कहने को यह अंश रचा था। 'मूरसागर' का यह रूप स्वभावतः स्वरूप था और इसकी प्रतियाँ उसी रूप में आज प्राप्त हैं।

एक शक यह भी उठाया जा सकती है कि 'मूरसागर' का सग्रहात्मक से स्वभावतः रूप परिवर्तन एक महत्वपूर्ण घटना थी, तब समकालीन साहित्य या वातावरण में उसकी चर्चा क्यों नहीं की गयी है? इसका समाधान करना कठिन नहीं है। बल्लभाचार्य, उनके पुत्र अथवा संप्रदाय के जिन अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की मूरदास के काव्य में रूचि थी, वे नित्य कीर्तन, वपेंलव और नीला गान-सुवधो स्फुट सङ्कलनों में प्राप्त उनके चुने हुए पदों से संतुष्ट रहते होंगे 'मूरसागर' के स्वरूप का प्रश्न मूरदास के अंतरंग मित्रों और शिष्यों के बीच प्रसंगवश उठा होगा जिसे मूरदास ने मान तो लिया, परंतु विशेष महत्व नहीं दिया, अन्यथा वह रचना इतनी साधारण न होती। यही कारण है कि समकालीन साहित्य में तद्विषयक कोई उल्लेख नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि वस्तुतः समकालीन साहित्य में मूरदास की प्रामाणिक जीवनी देने का कहीं प्रयत्न नहीं किया गया है, अन्यथा उनकी 'अधना' आज एक विवादग्रस्त बात न होती। तीसरे, समस्त मूरसाहित्य गेय काव्य के रूप में प्रस्तुत और ग्रहण किया गया था, पारायण-काव्य के रूप में नहीं जिससे उसके श्रम या स्वरूप को विशेष महत्व दिया जाता। वातावरण में भी तत्संबंधी उल्लेख न मिलने का कारण यही है कि उनमें भक्तों की गुण-धर्मा, भक्ति-भट्टिमा आदि की गाथा है, व्यक्तिगत प्रसंगों का संकलन नहीं।

'साहित्यलहरी' के जो दो संस्करण बाँकीपुर और सहारनपुर से प्रकाशित हुए थे, उनमें प्रथम तो अप्राप्य है और दूसरे में पदों का संकलन मात्र है, उनके संपादन का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। अब 'मूरसागर' का एक प्रकार से संपूर्ण संस्करण प्रकाश में आ गया है, अतएव आवश्यकता है कि सभी कूट पदों का उसमें से संग्रह करके, विषयक्रमानुसार उनका वर्गीकरण करने के पश्चात् यह ग्रंथ संपूर्ण कर दिया जाय। इसमें तो प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं कि 'साहित्यलहरी' दृष्टकूट पदों का संकलन है। अतएव मूरदास के सभी कूट-पद एक स्थान पर संकलित कर देने की योजना किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं कही जा सकती, विशेषकर उस स्थिति में जबकि कवि द्वारा संगृहीत इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति आज उपलब्ध नहीं है।

'मूरमारावली' लखनऊ और बंबई से प्रकाशित 'मूरसागरों' के आरम्भ में छपी हुई

है, स्वतंत्र रूप से, जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक को ज्ञात है, इस ग्रंथ का कोई संस्करण प्रकाश में नहीं आया है। इस कार्य की वास्तविक संपन्नता प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की प्राप्ति पर ही निर्भर है। 'साहित्यलहरी' के पद तो 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियों और सूरदास के स्फुट पद-संग्रहों में मिल भी जाते हैं, परंतु 'सारावली' की कोई प्राचीन प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है जिसके कारण ही उसे सूर-कृत मानने में कुछ विद्वानों को आपत्ति है। इन पंक्तियों के लेखक को, इस ग्रंथ की प्राचीन प्रति न मिलने के कारण, अभी निराश होने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। एक तो अभी खोजकार्य ही अल्प हुआ है और दूसरे, 'सारावली' की जो प्रतियाँ दोनों 'सूरसागरों' के साथ मुद्रित हैं, किसी प्राचीन प्रति के आधार पर ही संकलित हुई होंगी जो आज उपलब्ध नहीं है।

सूर-साहित्य-संग्रही कई आलोचनात्मक प्रबंध इधर प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे उस महाकवि के काव्य में विद्वानों की बढ़ती हुई रुचि का पता चलता है। फिर भी, इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में, सूर साहित्य और सूर की काव्य-कला का समुचित अध्ययन अभी नहीं हो सका है। प्रामाणिक संस्करण का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण है। हिंदी के प्राचीन साहित्य के अनुसंधान-प्रेमी अध्येता इस पुनीत कार्य में स्वातंत्र्य सुखाय संलग्न होंगे तभी सूर-काव्य का प्रामाणिक संस्करण प्रकाश में आ सकेगा और तभी उसका सम्यक मूल्यांकन संभव हो सकेगा।

नामानुक्रमणिका

(क) लेखक

अगरचंद नाहटा—३८, ६०६ ।	गजराज ओझा—३८ ।
अजमेरीजी, मुत्ती—६११ ।	गदाधर भट्ट—५६५ ।
अमीर खुसरो ४०, ४१, ४२, ४५, ८२ ।	गारखनाथ बाबा—४१ ।
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'— २०, ८४, ६११ ।	गोविंदस्वामी—५७४ ।
आर० जी भंडारकर, सर—४२ ।	गौरीशंकर हीराचंद ओझा, म० म०— १९, ३९, ४० ।
उदयसिंह भटनागर—४० ।	ग्राउज—३०, ३१ ।
ए० ए० मैकडॉनल—१२३ ।	घनशानंद—५७७ ।
एफ० ई० बे—४० ।	चडोप्रसाद सिंह—६१२ ।
एम० ए० मैकलिफ—४२ ।	चंदवरदायी—३८, ३९ ।
एम० जियाउद्दीन—१८, ३३ ।	चंद्रधर शर्मा गुलेरी—३६ ।
एस० एच० वेल्लिंग—१९ ८१, १३० ।	चनुर्मुजदास—५७४ ।
कबीर—४२, ४३, ४४, ४५, ४७, ५४, ५९२ ।	चितामणि त्रिपाठी—५७६ ।
कामताप्रसाद गुरु—१९, २०, १५५, १३०, १६८, १७३, १७५, २७८ ।	जगनिव—३८, ४० ।
कालीचरण, पंडित—६०८, ६१५ ।	जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—५७७, ५९३, ५९९, ६००, ६०१, ६०७, ६०८ ।
किशोरीदास बाजपेयी—२१, १५९, १६०, १६३ ।	जनार्दन मिश्र, डाक्टर—२४, २५, ४९, ५१ ।
कुभनदास—५७४ ।	जमुनाप्रसाद—६०८ ।
कृपाराम—५७५ ।	जवाहरलाल चतुर्वेदी—५९२, ६०१, ६०२, ६०५, ६१०, ६११, ६१४ ।
कृष्णदास अधिकारी—५६, ५७४ ।	जान बीम्स—१९, ४० ।
कृष्णविहारी मिश्र—५९२ ।	जायसी, मलिक मोहम्मद—५७६, ५९२ ।
कृष्णानंद व्यास 'रागसागर'—६०८, ६१५ ।	जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, सर—१९, २०, २२ ।
केशवदास, केशव—३२, ८३, ५७६, ५०२ ।	जूल ब्लाक—२१ ।
केशवराम मिश्र—६११ ।	जैकब जोशुआ वेटलेयर—१८ ।
गंग—५७५ ।	जैरेट—३३ ।
	छोतस्वामी—५७४ ।
	टर्नर—२२ ।
	डेविड मिलियंस—१८ ।
	तुलसीदास, गोस्वामी (तुलसी)—३२, ८२,

- ११६, ३७५, ४५४, ५७५, ५७६, ५९२ ।
 थियोडर आफ्रेवट—६०७ ।
 दीनदयालु गुप्त, डाक्टर—२३, २४, २६, ३०, ३१, ३३, ४४, ४६, ४८, ५१, ५३, ५७४, ५९०, ५९५, ५०८, ६०२, ६०४, ६०५, ६०६, ६१४ ।
 देव कवि—५७६, ५९२ ।
 देवकीनंदन श्रीवास्तव, डाक्टर—२८ ।
 देवीप्रसाद, मुंशी—३८ ।
 द्वारकादास पारीख—२७, ४५, ११९, ६१४ ।
 धीरेंद्र वर्मा, डाक्टर—१८, १९, २१, २२, २८, ३०, ३१, ३४, ३६, ३६, ४१, ४२, ४५, १३९, १५५, १७३, १७४, १७५, १७६, ३६७, ५९२, ५९३, ५९५, ६१०, १ ।
 ध्रुवदास—६०५ ।
 नंददास - २६, ३२, ५६, ५७४, ५७५ ।
 नंददुलारे वाजपेयी—२३, २७, ५१, ६११, ६१४ ।
 नंदलाल डे—३३ ।
 नरपति नाल्ह—३८, ३९ ।
 नरहरि—५७५ ।
 नरोत्तमदास—५७५ ।
 नरोत्तम स्वामी—३८, ३९ ।
 तलिनीमोहन सान्याल—२५ ।
 नागरीदास (महाराज सावंतसिंह)—५७७ ।
 नानक, गुरु—४३, ४४, ४५ ।
 नाभादास—५०, ५७५ ।
 नामदेव—४२, ४५ ।
 नारायणदास—६०५ ।
 पद्मनारायण, आचार्य—२१ ।
 पद्माकर—५७६, ५९२ ।
 परमानंददास—५६, ११९, १२०, ५७४ ।
 पीतांबरदास बड़वाल, डाक्टर—२७, ३९, ४४, ५१, ६०२ ।
 प्रतापसाहि—५७६ ।
 प्रभुदयालु मीतल—२३, २७, ४५, ११९, ६१४ ।
 प्राणनाथ—५० ।
 प्रेमनारायण टेंडन—२३ ।
 बाबूराम सकसेना, डाक्टर—२०, २१, २८, ७७ ।
 विहारिनीदास—६०५ ।
 विहारीलाल, विहारी—५७६, ५९२ ।
 वीरवल—५७५ ।
 वेणीप्रसाद, डाक्टर—२३, ५१, ५९२, ६१०, ६१४ ।
 भगवानदीन, लाला—२३, २४, ५९२ ।
 भगीरथ मिश्र, डाक्टर—२७, ५८२ ।
 भारतेंदु हरिश्चन्द्र, भारतेंदु—२३, ५७७, ६०२, ६०८, ६०९, ६१२ ।
 भिखारीदास—३२, ३३, ३५, ४७, ५७६ ।
 भूपण—५७६, ५८२ ।
 मतिराम—५७६ ।
 महादेव प्रसाद—६१२ ।
 महीउद्दीन कादरी, सैयद, डाक्टर—४१ ।
 मानसिंह 'द्विजदेव', 'महाराज'—६०८, ६१५ ।
 माया शंकर याज्ञिक—५६२ ।
 मियांसिंह—५१, ५३ ।
 मिर्जा खां—१८, ३३, ३४ ।
 मिलटन—५२ ।
 मिश्रवंशु—३८, ४०, ४४, ५१, ५९२, ६०३, ६१४ ।
 मोराबाई—५७५ ।
 मुंशीराम शर्मा, डाक्टर—२५, ४८, ५१ ।
 मुल्जा दाउद—४४ ।
 मोतीचंद, डाक्टर—६०३ ।

भातीलाल मेनारिया—३९ ।

रघुराज सिंह, महाराज—५१, ५९५ ।

रमाकान्त त्रिपाठी—३९ ।

रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', डाक्टर—२७ ।

रसखान—५७७ ।

रहीम—५७७, ५९२ ।

राधाकृष्ण दास—२४, ६००, ६०२, ६०३,
६०४, ६०९, ६११ ।

रामकुमार वर्मा, डाक्टर—३८, ४१, ४२,
४३, ४६, ६१० ।

रामचन्द्र वर्मा—१२२ ।

रामचंद्र शुक्ल, आचार्य—२३, २४, २५,
३६, ३८, ३९, ४१, ४२, ४५, ४६,
४८, ८४, ४८५, ४९२, ५०४, ५७५,
५७६, ५८२, ५९२, ६११, ६१४ ।

रामदीन सिंह—६०९, ६१२,

रामनरेश त्रिपाठी—५३, ५९२ ।

रामरतन भटनागर, डाक्टर—२६, २७,
५१ ।

राहुल सांकृत्यायन—३७ ।

रुडल्फ हार्नली—१९ ।

लल्लू लाल—१८, १९ ।

लाल कवि—५७७ ।

लालच दास हलवाई—४४ ।

वल्लभाचार्य, महाप्रभु—४५, ४६, ४८, ५४,
५६, ५८, ५९, ६०, ५८३, ५८५,
६१६ ।

वाचस्पति पाठक—२६ ।

वामुदेव दारण अग्रवाल, डाक्टर—३६, ४३ ।

विद्यापति—४१ ।

वियोगी हरि—२३, ५७७, ५७८, ५९२,
६१० ।

विलियम जोन्स, सर—१८ ।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र - २५ ।

वज्ररत्नदास—४० ।

वज्रेश्वर वर्मा, डाक्टर—२६, ५१, ५३,
६१४ ।

शिवरचंद्र जैन—२५ ।

श्याममुन्दर दास, आचार्य, डाक्टर—२०,
२१, ३८, ४०, ४३, ४८, ५८२,
५९०, ५९३ ।

श्रीनाथ पांडेय—२३ ।

श्रीनाथ भट्ट—५० ।

सत्यजीवन वर्मा ३८, ३९ ।

सरदार कवि—६१२ ।

सीताराम—३८ ।

सुन्दरदास—५७७ ।

सुनीति कुमार चटर्जी, डाक्टर—१८, २० ।

सूरदास—प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में ।

सूरदास मदनमोहन—५७५ ।

सेनापति—५७७ ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी आचार्य, डाक्टर—
२६ ।

हरवल्लभलाल, डाक्टर—२७ ।

हरिदास, स्वामी—५७५ ।

हरिराय—४७, ४८, ५३, ५४, ५५,
५८, ६० ।

हरीराम व्यास—५७५ ।

हितचंद्र दावनदास, चाचा—५७७ ।

हितहरिवंश—५७५ ।

(ख) ग्रंथ

अरब और भारत का संबंध—१२२ ।

अष्टाध्याय (वांक्शरीली)—४६, ४८, ४९, ५३,
५५७, ५९५ ।

अष्टाध्याय और वल्लभसंप्रदाय (दो भाग)
—२४, २६, ३०, ३१, ३३, ४४, ४६,
४८, ५१, ५३, ५७४, ५९५, ५९८,

- ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, चोरासी वैष्णवों की वार्ता— ३१, ४५, ४८, ६०९, ६१४ ।
 ५४, ५५ ।
 अष्टसहामृत - ५० ।
 आइने अकबरी—३३ ।
 आल्हासड—३८, ४० ।
 'इडियाज पास्ट'—१२३ ।
 इंदौर सम्मेलन का भाषण (शुक्ल)— ४९२ ।
 'इवोल्यूशन आव अक्वी'—२०, २१, २८, ७७ ।
 उद्देशहपारे, जिल्द अव्वल—४१ ।
 ऋग्वेद संहिता—३० ।
 एकादशी माहात्म्य—६०२, ६१३, ६१४ ।
 'एंग्रैमर आव दि ब्रजभाषा'—१८, ३३ ।
 'एन ग्रैमर आव दि हिंदी लैंग्वेज'—१९, ८१, १३० ।
 'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर'—४० ।
 'ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव दि बंगाली लैंग्वेज'—२० ।
 'कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज आव इडिया'—१९ ।
 कबीर (सूर-कृत)—६०३, ६१३ ।
 कबीर-प्रयावली—४३, ५९३ ।
 'कवायद हिंदी'—१९ ।
 कविता कौमुदी (पहला भाग)—५३ ।
 कविप्रिया—३२, ८३ ।
 काव्य-निर्णय—३२, ३५, ४७ ।
 काव्य प्रकाश—५२४ ।
 काव्य में रहस्यवाद—४८५ ।
 गूढ़ार्थ पदावली—६०२, ६१३ ।
 गोवर्धन लीला—६०३, ६१३, ६१४ ।
 गोरखबानी—३७ ।
 ग्रंथ-माहव—४४ ।
 'ग्रैमर आव दि ईस्टर्न हिंदी'—१९ ।
 चंदावन या चंदावत—४४ ।
 तुलसी की भाषा—२८ ।
 'तुहफतुल हिंद'—१८, २३, ३४ ।
 दशम स्कंध—६०३ ।
 दशम स्कंध भाषा (टीका) ६०३, ६०७, ६१३, ६१४ ।
 दानलीला—६०७, ६१३, ६१४ ।
 'दि ज्योग्रैफिकल डिक्शनरी आव एनशेंट ऐंड मेडियल इडिया'—३३ ।
 'दि निर्गुन स्कूल आव हिंदी फोएट्री'—४४ ।
 'दि सिख रेलिजन'—४२ ।
 दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता—३१ ।
 दोहावली (तुलसी)—३२ ।
 नल-दमयंती—६०३, ६१३, ६१४ ।
 नाग-लीला—६०३, ६१३, ६१४ ।
 नारद-भक्ति-सूत्र—८५ ।
 पद संग्रह (सूर-पदावली)—६०४, ६०६, ६०७, ६१३, ६१४ ।
 परमानंद-सागर—५७४ ।
 पुरातत्त्व-निबंधावली—३७ ।
 पृथ्वीराज-रासो—३८, ३९, ४० ।
 प्राचीन भारतीय लिपिमाला—१९ ।
 प्राचीन वार्ता-रहस्य—४७, ५१, ५५, ५६, ५८, ५९, ६० ।
 प्राणप्यारी—६०४, ६१३, ६१४ ।
 विहारी-रत्नाकर—५९३, ६१० ।
 विहारी-सतसई—५९२, ६१० ।
 बीसलदेव-रासो—३८, ३९ ।
 बुद्ध चरित्—२४, ३१, ८४ ।
 व्याहृतो—६०५, ६१३, ६१४ ।
 ब्रह्म वैवर्तपुराण—८५ ।
 भैरवगीत—६०४, ६०७, ६१३, ६१४ ।
 भक्तविनोद—५१, ५३ ।
 भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास—२५ ।

- भागवत-भाषा—६०६, ६०७, ६१३, ६१४ । ब्रजभाषा-व्याकरण (लन्नुलाल)—१८ ।
 भारतीय साधना और मूर-साहित्य—२५ । ब्रजभाषा का व्याकरण—२१, १६०, १६४ ।
 भाव-प्रकाश (हरिराय)—४७, ४८, ५८, ब्रजभाषा-मूर-कोश—५९० ।
 ५९, ६० । श्रीमद्भगवद्गीता—८५ ।
 भाषा-भागवत (हरिचरित)—४४ । श्रीमद्भागवत—५४, ५५, ५९, ६०, ८५,
 भाषा-रहस्य—२१ । ९३, ३८७, ५१५, ५५४, ६१५, ६१६ ।
 भाषा-विज्ञान (श्यामसुन्दरदास)—२० । श्रीमद्भागवत की सुबोधनी टीका—४८,
 भ्रमरगीत-सार—२३, २४ । ५९ ।
 मयुरा-मेम्बायर (ग्राउज)—३०, ३१ । सक्षिप्त मूरसागर (देवीप्रसाद) २३, ५१ ।
 मसादिरे भाषा—१८ । सक्षिप्त मूरसागर (दियोगी हरि)—२३ ।
 महाकवि मूरदास—२७ । ससृष्ट मणिमाला—५० ।
 मानसीला या मानसागर—६०४, ६०५, सचित्र मूरसागर (सना का राजचंस्करण)—
 ६१३, ६१४ । ५९८, ५९९, ६००, ६०१ ।
 मिथबधु-विनोद—४४, ४५ । साहित्यलहरी (लहरी)—२३, २६, २९, ४८,
 राग-कल्पद्रुम—६०८, ६१५ । ७६, ८७, १०३, १११, ११४, ११५,
 राजपूताने का इतिहास—३९ । १२४, १२६, ३७३, ३७४, ३७५,
 राधा-रस-केलि-कौतुहल—६१३, ६१४ । ३७६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०,
 रामचंद्रिका—३२, ८३ । ४२१, ४७२, ४७३, ४७४, ४८१,
 रामचरितमानस—३२, ८२, ३७५ । ४९३, १०८, ५१३, ५२७, ५८४,
 राम-जन्म—६०४, ६१३, ६१४ । ५६७, ६०१, ६०२, ६१२, ६१३,
 रामरसिकावली—५१, ५९५ । ६१४, ६१६, ६१७ ।
 रान-भंवाध्यायी—३२ । साहित्यलहरी सटीक (भारतेंदु)—६१२ ।
 रविमणी-विवाह—६०५ । साहित्यालोचन—५८२ ।
 'ला ऐंदो एरियन'—२१ । सुदामाचरित—६०६ ।
 'ला लींग ब्रज'—२१, २२, २८ । मूर : एक अध्ययन—२५ ।
 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया'—२० । मूर-दृत गोपीविरह-और भँवरगीत—२३,
 वाणी-संग्रह—६०६ । २४ ।
 विष्णुपद—६०५ । मूर : जीवनी और ग्रंथ—२५ ।
 'वैष्णविज्म, सविज्म ऐंड-अदर-भाइनर' मूर और उनका साहित्य—२७ ।
 रेलिजस सिस्टम्स ऑफ इंडिया—८२ । मूर के दृष्टकूटों की टीका—६१२ ।
 ब्रजभाषा—२२, ३५५ । मूरदास (अनरेजी)—२५, ४९, ५१ ।
 ब्रजभाषा-व्याकरण (वर्मा) १८, १९, २१, मूरदास जी के दृष्टकूट—६०, ६१३ ।
 ३०, ३१, ३६, ३९, ४१, ४२, ४५, मूरदास (बड़धवाल)—२७, ५१ ।
 १३९, १५५, १७४, १७६, ३५७, ५९२ मूरदास (वर्मा)—२६, ५१, ५३, ६१४,
 ५९३ । ६१७ ।

सूरदास (शुक्ल) — २४, १०४ ।
 सूर-निर्णय — २७, ४५, ११९, ६१४ ।
 सूर-पंचरत्न — २३, २४ ।
 सूर-पचीसी — ६०६, ६१३, ६१४ ।
 सूर-प्रभा — २३, २४ ।
 सूर-रामायण — २३, ६०७, ६१३, ६१४ ।
 सूर-विनय पदावली — २३ ।
 सूर-शतक (भारतेन्दु) — २३ ।
 सूर-शतक (श्रीनाथ) — २३ ।
 सूरक-शतक (सटीक) — ६०२, ६१३, ६१४ ।
 सूर-सदर्भ — ५१ ।
 सूर-समीक्षा (भटनागर) २६, २७ ।
 सूर-समीक्षा ('रसाल') — २७ ।
 सूरसागर — लगभग प्रत्येक पृष्ठ में ।
 सूरसागर-सार — ६०६, ६०७, ६१४ ।
 सूरसागर-सारावली (सूर-सारावली, सारा-
 वली, सारा०) — २६, २८, २९, ३०,
 ५४, ८७, १०८, १११, ११४, ११५,
 १५७, ३९०, ३९१, ४१७, ४७२, ४७३,
 ४७४, ४८१, ४९३, ५०८, ५८४, ५६७
 ६०१, ६०६, ६०८, ६०९, ६११, ६१३,
 ६१४, ६१५, ६१६, ६१७ ।
 सूर-साठी — ६०७, ६१३, ६१४ ।
 सूर-साहित्य — २६ ।
 सूर-साहित्य की भूमिका — २६, ५१ ।

सूर-सुपमा — २३ ।
 सूर-सौरभ — २५, ४८, ५१ ।
 सेवाफल — ६०६, ६१४ ।
 'सेविन ग्रैमर्स आव बिहारी लैंग्वेज' — १९ ।
 हरिवंश टीका — ६०७, ६१४ ।
 हरिवंश पुराण — ३० ।
 हिंदी काव्यधारा — ३७ ।
 हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास — ५८२ ।
 हिंदी की प्रादेशिक भाषाएँ — ३३ ।
 हिंदी टाड राजस्थान — ३९ ।
 हिंदी नवरत्न — ५१, ६०३, ६१४ ।
 हिंदी भाषा का इतिहास — २१, ३४, १५५,
 १७३ ।
 हिंदी भाषा और साहित्य — २० ।
 हिंदी भाषा और साहित्य का विकास —
 २०, ४४ ।
 हिंदी व्याकरण (गुरु) — १९, २०, १५६,
 १६८, १७३, १७५, २७८ ।
 हिंदी साहित्य (श्यामसुन्दरदास) — ४८, ५१ ।
 हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
 (वर्मा) — ३८, ४१, ४३, ४६ ।
 हिंदी साहित्य का इतिहास (शुक्ल) —
 ३९, ४१, ४५, ४६, ४९२, ५७४,
 ५७६, ५८२, ६१४ ।
 हिंदुस्तानी व्याकरण — १८ ।

(ग) अमिनंदन-ग्रंथ, कोश, खोज-विवरण, ग्रंथ-सूची और पत्र-पत्रिकाएँ ।

आलोचना (त्रैमासिक) — ३८, ४३ ।
 'ए कैटेलाँग-आव मैनस्क्रिप्ट्स इन दि लाइ-
 ब्रेरी आव हिज हाइनस दि महाराना
 आव उदयपुर (मेवाड़) — ५९७,
 ५९८, ६०१, ६०४, ६०५, ६०६ ।
 'ए कैटेलाँग आव सस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स इन
 दि लाइब्रेरी आव दि डेकिन कालेज' —
 ६०७ ।

एशियाटिक रिसर्च — १८ ।
 कल्पना (मासिक) — ३८, ३९, ।
 कैटेलाँगस कैटेलेग्राम — ६०७ ।
 खोजरिपोर्ट (१९००) — ६०२ ।
 खोजरिपोर्ट (१९०१) — ५९८ ।
 खोजरिपोर्ट (१९०२) — ६०४ ।
 खोजरिपोर्ट (१९०६) — ५९७, ५९८, ६०३ ।
 खोजरिपोर्ट (१९०६-८) — ४४, ५९९,

६००, ६०३, ६०४, ६०५ ।	पोंद्वार-अभिनन्दन ग्रन्थ—६०१, ६०२, ६१० ।
खोजरिपोर्ट (१९०९-११)—६०३, ६०५, ६०६ ।	महावीर स्मृति-ग्रन्थ—३६ ।
खोजरिपोर्ट (१९१२-१४)—५९९, ६०४, ६०६ ।	राजस्थान भारती—४० ।
खोजरिपोर्ट (१९१७-१९)—५९८ ५०९ ६०२, ६०३, ६०४, ६०५ ।	राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग—३९, ५९७, ६०१ ।
खोजरिपोर्ट (१९२३-२५)—५९९, ६०१, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६ ।	राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, तृतीय भाग—४०, ६०६ ।
चांद (मासिक)—३८, ३९ ।	राजस्थानी—३८ ।
'जनरल आव दि बेंगाल एग्जियाटिव नामा इन्गे'—४० ।	'रायल एग्जियाटिव सासाइटी जनरल'—२२ ।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका—३६, ३७ ३८, ४०, ४९५, ६०३ ।	'रिपोर्ट आन दि सर्व फार हिंदी मैनेस्त्रिन्स इन दि डेलही प्रॉविंस फार १९३१'—६०२ ।
	वज्रभारती—१८, १९, ६०५, ६०६, ६१० ।
	हिंदी शब्द सागर (चौथा भाग)—५२८ ।

समाप्त